व्यापारिक तथा औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्ध

(For 1st year T. D. C. Com.)

लेखक

सुरेन्द्रदत्त बहुगुणा, एम० ए०, एम० काम०

वाणिज्य विभाग, महाराणा भूपाल कालेज

उदयपुर (राजस्थान)

संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण

लक्ष्मीनारायण अग्र[वाल]

शिक्षा सम्बन्धी पुस्तक प्रकाश[क]

आगरा

मू० १०)

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक, हास्पिटल रोड, आगरा के हेतु
जिनेन्द्र कुमार जैन के प्रबन्ध में जनता प्रेस, गुदड़ी मसूरखां, आगरा में मुद्रित।

दूसरे संस्करण की बात

जिस सहृदयता के साथ इस पुस्तक को अनेक विश्वविद्यालयों के विद्वान प्राध्यापकों तथा विद्यार्थियों ने अपनाया है, उसके लिये मुझे अपने परिश्रम पर संतोष होता है। पुस्तक को, अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में स्थान मिलना उसके महत्व एवं उपयोगिता की प्रतिस्थापना ही है। पुस्तक के इस प्रकार के स्वागत के लिये मैं प्रारम्भ में ही सब के प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ।

प्रस्तुत संस्करण को और विस्तृत तथा नवीनतम् बनाने का प्रयत्न किया गया है। इसमें विद्यार्थियों की परीक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए कुछ पुराने अध्यायों का विभाजन कर दिया गया है तथा कुछ अध्याय पूर्ण रूप से नवीन तथा कुछ नये सिरे से लिखे गये है। जहाँ तक सम्भव हो सका पुस्तक में नवीनतम् सूचनाओं को देने का प्रयास रहा है। इस में 'राज्य तथा अन्य वित्तीय निगम', 'परिकल्पना', 'पूँजी बाजार या स्कन्ध विनिमय विपणि' तथा परिशिष्ट 'कम्पनी अधिनियम संशोधन बिल' आदि पूर्ण रूप से नवीन हैं। कुछ अध्याय, भारतीय दृष्टि से, प्रायः नये सिरे से लिखे गये हैं।

पुस्तक को इस बार खण्डों में विभक्त कर दिया गया है जिससे विद्यार्थियों को एक विषय की बात एक स्थान पर मिल सके। पुस्तक की पूर्व विशिष्टता उसी प्रकार बनी हुई है।

मुझको पूर्ण आशा है इस संस्करण का पिछले संस्करण से अधिक स्वागत होगा। इस अवसर पर मैं राजस्थान तथा इसके बाहर के अनेक विद्वान मित्रों का आभार प्रदर्शित करना चाहता हूँ जिन्होंने अपने अमूल्य सुझाव भेजकर पुस्तक को अत्यन्त उपयोगी बनाने में सहयोग प्रदान किया है। श्री लक्ष्मीनारायणजी अग्रवाल का भी मैं आभार मानता हूँ जिन्होंने पुस्तक को चित्ताकर्षक ढग से छपवाया है।

—सुरेन्द्रदत्त बहुगुणा

पुस्तक की बात

हमारा देश औद्योगिक आत्मनिर्भरता की ओर तीव्र गति से अग्रसर हो रहा है तथा व्यापारिक क्षेत्र मे हम विश्व के उन्नतशील राष्ट्रों के अनुसरण मे सलग्न हैं। किन्तु इस प्रयास मे हम आधुनिक औद्योगिक तथा व्यापारिक जटिलताओ को टाल नही सकते और उनके बढते हुए आकारो का वैज्ञानिक सगठन एवं प्रबन्ध एक समस्या बना हुआ है। यह देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि इतने विशाल देश में अभी तक व्यापारिक तथा औद्योगिक संगठन की उस सीमा तक प्रगति नही हो पाई है जितनी अपेक्षित थी और आज भी, जब संसार के अन्य देशो मे इस दिशा में अनेक सफल प्रयत्न किये जा रहे हैं, भारतीय विश्वविद्यालयो मे इसको केवल सैद्धान्तिक अध्ययन (Theoretical Study) के लिये ही अपनाया जा सका है। किन्तु लेखक की मान्यता है कि 'वाणिज्य' का अध्ययन तब तक अधूरा है जब तक इसके विद्यार्थियों के लिये व्यावहारिक अध्ययन (Practical Study) के लिये पर्याप्त क्षेत्र नही खुलते। अभी इस दिशा में कार्य करना शेष है। आशा है इस ओर भी हमारे देश के विद्वानो का ध्यान जायगा और निकट भविष्य मे व्यापारिक एवं औद्योगिक सगठन तथा प्रबन्ध के पाठ्यक्रम मे विद्यार्थियो को व्यावहारिक योग्यता-प्राप्ति के लिये यथेष्ट स्थान होगा।

प्रस्तुत पुस्तक आगरा, राजपूताना, लखनऊ, कलकत्ता, सागर, बम्बई आदि विश्वविद्यालयो के बी० कॉम० तथा एम० कॉम० के पाठ्यक्रमों के आधार पर लिखी गई है। साथ ही इस बात का ध्यान रखा गया है कि कोई भी शिक्षित व्यक्ति, जिसको विषय का प्राविधिक अथवा तान्त्रिक ज्ञान न हो, सुगमता से विषय को समझ सके और व्यापार एव उद्योगों मे लगे हुए व्यापारियो को भी इस महत्वपूर्ण विषय की आवश्यक जानकारी प्राप्त हो सके।

पुस्तक को लिखते समय इस बात का हमेशा ध्यान रखा गया है कि विद्यार्थी विषय को भली प्रकार समझ सकें। इसीलिये पुस्तक की भाषा अत्यन्त सरल एवं सुबोध रखी गई है। साथ ही शीर्षक एवं उपशीर्षको के साथ-साथ अंग्रेजी के शब्द एवं वाक्य भी दे दिये गये है और प्रत्येक प्राविधिक शब्द (Technical Word) के लिये उसका अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द भी दे दिया गया है। इसके आधार पर अच्छी हिन्दी न जानने वाले विद्यार्थी भी पुस्तक को आसानी से समझ सकेंगे।

इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि परीक्षाओं में आने वाले

यथासम्भव प्रश्नों का उत्तर प्रायः एक ही स्थान पर दिया गया है और साथ ही विषय की शृङ्खला भी नहीं टूटने पाई है। विवेचन योग्य प्रश्न अध्याय में उनके उत्तर के क्रम से दिये गये हैं। इसलिये अध्याय के साथ-साथ प्रश्नों को देखना हितकर है। परीक्षा-सम्बन्धी सभी बातों का पूरा पूरा ध्यान रखते हुए इसमें नवीनतम् सम्भवतः सभी आवश्यक सूचनायें तथा आंकड़े प्रस्तुत किये गये हैं। इस प्रकार यह पाठ्यपुस्तक के साथ-साथ सहायक तथा आम जानकारी के लिये भी उपयुक्त बन पाई है।

पुस्तक में नवीन कम्पनी अधिनियम के आधार पर छः अध्याय दिये गये हैं, जिससे कम्पनी सम्बन्धी सारी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इन अध्यायों का उपयोग एम० कॉम० के विद्यार्थी "कम्पनी-सचिव-कार्य-पद्धति" विषयक पत्र के लिये भली प्रकार कर सकते हैं। व्यापारिक संगठन के साथ-साथ पुस्तक में औद्योगिक संगठन की भी पूर्ण जानकारी कराई गई है (पाठ्यक्रम की सीमाओं में)। इसलिये प्रस्तुत पुस्तक औद्योगिक संगठन के विद्यार्थियों के लिये भी अत्यन्त उपयोगी बन गई है।

पुस्तक को भारतीय विद्यार्थियों के लिये भारतीय दृष्टिकोण के साथ ही लिखने का प्रयास किया गया है और मेरा विश्वास है कि हमारे विद्यार्थीगण तथा विद्वान अध्यापकगण इसको सुविधापूर्वक अपना सकेंगे। मेरा विश्वास है कि विद्यार्थियों को प्रस्तुत पुस्तक में विस्तृत अध्ययन के लिये निश्चित प्रेरणा प्राप्त होगी।

अन्त में यह स्वीकार करते हुए मैं हर्ष का अनुभव करता हूँ कि पुस्तक को लिखते समय विश्व के अनेक विद्वानों की कृतियों की सहायता ली गई है और साथ ही सरकारी तथा गैर-सरकारी पत्र-पत्रिकाओं, आलेखों, तालिकाओं आदि का प्रचुरता के साथ प्रयोग किया गया है। इसलिये सभी स्रोतों के प्रति आभार प्रदर्शित करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। मैं प्रो० टी० एस० कटियार, एम० ए०, एम० काम० को अपना हार्दिक धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिनके सक्रिय सहयोग से पुस्तक शीघ्र प्रकाश में आ सकी।

—सुरेन्द्रदत्त बहुगुणा

संकेतिका

व्यावसायिक संगठनों के स्वरूप

अध्याय | विषय | पृष्ठ

बीमा संगठन

औद्योगिक क्षमता एवं कुशलता का प्रयत्न

राज्य तथा उद्योग

भाग १

व्यावसायिक संगठनों के स्वरूप

व्यापार संगठन का अर्थ

१

(Meaning of Business Organisation)

व्यापार का अर्थ
(Business defined)

समाज का विकास अनेक प्रकार की कठिनाइयों तथा परिवर्तनों के साथ हुआ है। इस विकास में सबसे बड़ा सहयोग प्रकृति से प्राप्त हुआ है। संसार के समस्त देश अनेक प्रकार की प्राकृतिक सम्पदा से युक्त हैं किन्तु साधारण रूप से इस सम्पदा का असमान वितरण होने के कारण अलग-अलग देशों तथा किसी देश के विभिन्न भागों में उनका विनिमय होना आवश्यक हो गया है। इस वस्तु विनिमय के कारण ही अन्तर-निर्भरता (Inter-dependence) का जन्म हुआ और फलस्वरूप 'व्यापार' का प्रादुर्भाव हुआ। 'व्यापार' शब्द का अर्थ बड़े व्यापक रूप में लिया जाता है। मनुष्य के प्रत्येक कार्य व्यापार कहे जाते हैं, किन्तु वस्तु एवं सेवा विनिमय के अन्तर्गत व्यापार शब्द का अर्थ उसमें की जाने वाली समस्त क्रियाओं के लिये आता है और इसीलिये चाहे कोई उत्पादन का कार्य करता हो, चाहे आयात निर्यात का, चाहे अधिकोषण या यातायात का, चाहे लाभ के लिये साधारण क्रय-विक्रय का, सभी अपने को व्यापारी कहते हैं। व्यापार के साधारण तथा व्यावसायिक अर्थ में एक बड़ा अन्तर यह है कि साधारण स्थिति में वह निःस्वार्थ हो सकता है, किन्तु व्यावसायिक अर्थ में उसमें धनोत्पत्ति उद्देश्य होना आवश्यक है। हेनी के शब्दों में "व्यापार मनुष्य की सम्पत्ति का उपार्जन करने के लिये वस्तु के बेचने तथा खरीदने की क्रिया है।" किन्तु इस परिभाषा से व्यापार शब्द का स्पष्ट बोध नहीं होता और उसके बाहर अनेक क्रियायें रह जाती हैं, जैसे—निर्माण, सेवा, धन्धा आदि। इसलिये व्यापार की उपयुक्त परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—"व्यापार मनुष्य की सम्पत्ति उपार्जन की वे समस्त वैज्ञानिक तथा समाजानुकूल क्रियायें हैं जिनसे वह समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करके अपनी सेवाओं, निर्माण-कार्य, धन्धों आदि के लिए उनसे लाभ के रूप में अतिरिक्त धनोपार्जन करता है।"

इस प्रकार व्यापार एक 'सौदा' करने की क्रिया है जिसमें व्यापारी वस्तुओं का उत्पादन, विनिमय, क्रय-विक्रय कर अतिरिक्त धन उपार्जित करता है जिसको 'लाभ'

कहते हैं। इस लाभ को प्राप्त करने के लिये उसे निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है। इस संघर्ष को हम 'युद्ध' तो नहीं कह सकते, पर खेल के मैदान के संघर्ष से अवश्य इसकी तुलना कर सकते हैं। खेल में जिस प्रकार खिलाड़ी 'रेफ्री' की आँख बचा कर कुछ नियमों को तोड़ कर भी जीतना चाहता है, ठीक उसी प्रकार व्यापारी भी व्यापार के सामान्य नियमों में जो सम्भव कमियाँ हैं उनमें लाभ उठा कर आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार 'फाउल' खेल कर नहीं अपितु निश्चित सामान्य नियमों में वह इस प्रकार से जोड़-तोड़ करेगा जिससे उसे अधिक से अधिक लाभ हो।

व्यापारी की इन क्रियाओं को नियंत्रित करने के लिये नित्य नवीन नियम बनाये जाते हैं जिससे व्यापारी अपनी शक्ति का तो पूरा प्रदर्शन कर सके किन्तु उसमें इस प्रकार का कोई व्यवधान न आ जाय जिससे व्यापारिक वातावरण दूषित हो या उससे सम्बन्ध रखने वालों को किसी प्रकार की असुविधा हो जाय। इसलिये व्यापार में कुशलता, शक्ति तथा समन्वयता लाने के लिये उसका उचित संगठन करना आवश्यक है।

संगठन का अर्थ
(Meaning of Organisation)

'व्यापार' शब्द जितना व्यापक है, 'संगठन' शब्द उतना ही सीमित है। संगठन कुछ क्रियाओं को एक विशिष्ट नियम के अन्तर्गत चलाने को कहते हैं। प्रो० सार्जन्ट फ्लोरेन्स के अनुसार व्यापार संगठन का अर्थ किसी व्यापार के उत्पादन, मूल्य, विनियोग आदि के निर्धारण में एक सामान्य नीति (General Policy) का बनाना है, जिसके अनुरूप उसके काम चलते रहें। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यापार के संगठन तथा नियंत्रण की समस्त क्रियायें संगठन के ही अन्तर्गत हैं। श्री स्टेफन्सन के अनुसार भी व्यापार संगठन का अर्थ साधारण तौर पर व्यापार या उसी प्रकार किसी दूसरे व्यवसाय की गतिविधियों का संचालन तथा नियंत्रण करना है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्यापार की जटिल एवं असीमित क्रियाओं को किसी निश्चित रूप से संगठित करके उनके संचालन को 'व्यापार-संगठन' कहते हैं। यदि हम इसके आधुनिक अर्थ में चलें तो कह सकते हैं कि वाणिज्यशास्त्र के अन्तर्गत आने वाली समस्त क्रियाओं का नियमित रूप से संगठन करना व्यापारिक संगठन कहलायेगा। अर्थशास्त्रीय भाषा में व्यापार-संगठन बहुत कुछ सीमा तक भूमि, पूँजी तथा श्रम का स्वतन्त्र संगठन है जो व्यापारी द्वारा संचालित तथा नियन्त्रित किया जाता है और जिसमें सम्पत्ति का स्वामित्व, लाभ की हिस्सेदारी, सरकार तथा समाज से सम्बन्ध, आपसी व्यापारिक सम्बन्ध, माल का संग्रह, उत्पादन तथा वितरण आदि अनेक समस्यायें सम्मिलित हैं।

संगठन शब्द का शाब्दिक अर्थ इस विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा, संगठन शब्द 'सग' के विधिवत् गठन से बना है, इसलिये उसका अर्थ हुआ कि कुछ निर्धारित नियमों के अनुसार जब किसी समूह को एक निश्चित उपलब्धि के लिये निश्चित आधार पर नियंत्रित तथा सचालित किया जाता है उसको संगठन कहेंगे। दूसरे अर्थों मे संघ मे अलग-अलग इकाइयो के मिलने का अर्थ भी लिया जा सकता है। व्यापार मे उसके अलग अलग अगों के सहकारी रूप मे मिलाने की क्रिया को भी संगठन कह सकते हैं। *क्योंकि यदि उसके किसी भी अग मे शिथिलता आ जाय तो व्यापार का सचालन* सरल नही हो सकेगा। इसलिये केवल यही आवश्यक नही है कि व्यापार को चलाने के हेतु उसके लिये आवश्यक पूँजी, माल, विज्ञापन आदि का संगठन एव प्रबन्ध किया जाय अपितु कार्य तथा कर्मचारियों का मैत्रीपूर्ण सम्पर्क रहना भी आवश्यक है। इसलिये हैने के शब्द कि 'सामान्य उद्देश्य या उनके समूह की अभीष्ट सिद्धि के लिये विशिष्ट अवयवों का मैत्रीपूर्ण समायोजन ही संगठन है' 'व्यापार संगठन' के अर्थ को स्पष्ट कर देते हैं।

व्यापार संगठन की चार श्रेणियाँ बनती है—किसी व्यापारिक संस्था को जन्म देना, उसके लिये आवश्यक पूँजी, भूमि तथा श्रम की व्यवस्था करना, वस्तु उत्पादन करना तथा उत्पादित वस्तुओं को लाभ पर बेचने का प्रयत्न करना। अन्तिम दो *श्रेणियाँ बदल सकती हैं अर्थात् कोई व्यक्ति उत्पादन तथा बिक्री दोनो कर सकता है* और कोई केवल दूसरे की उत्पादित वस्तु को बेच कर ही लाभ कमा सकता है। इस बिक्री तथा लाभ कमाने की क्रिया मे अनेक संस्थाये जैसे बैंक, यातायात, सन्देशवाहक संस्थायें, बीमा कम्पनियाँ, विज्ञापन संस्थायें, मध्यस्थ आदि आती हैं। व्यापार संगठन मे इनकी विशिष्ट जानकारी भी आवश्यक होती है।

व्यापारिक संगठन मे हम सामान्य रूप मे निम्नलिखित अध्ययन करते हैं—

(१) व्यापार का प्रारम्भ तथा उसके अगो की व्यवस्थित सचालन योजना।

(२) व्यापार या उद्योग की दीर्घ, *मध्यम तथा अल्प पूँजीगत आवश्यकतायें* तथा उनको प्राप्त करने के साधन। पूँजी का नियत्रण भी इसका प्रमुख अग है।

(३) कार्यकर्ताओं की नियुक्ति तथा उनका चयन।

(४) श्रम समस्यायें तथा उनको कुशल एव सतुष्ट रखने के उपाय।

(५) प्रबन्ध व्यवस्था की कुशल योजना।

(६) व्यापार के विस्तार की योजना तथा क्रय-विक्रय पद्धति। इसमें विज्ञापन, विनिमय, विपणन, विदेशी देशी व्यापार आदि का अध्ययन भी होता है।

व्यापार तथा व्यवसाय

(Trade and Occupation)

लोगों को प्रायः व्यापार तथा व्यवसाय में विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता किन्तु इसमें व्यापक अन्तर है। यद्यपि व्यापार की परिभाषा करते समय हम कहते हैं कि मनुष्य की वे समस्त क्रियायें जो सम्पत्ति के उत्पादन तथा उसके वितरण के द्वारा लाभोपार्जन के लिये प्रयुक्त की जाती है, व्यापार है, परन्तु व्यापारी, डाक्टर, वकील, उद्योगपति आदि जिनका उद्देश्य लाभोपार्जन है, सभी व्यापार में सम्मिलित नहीं किये जा सकते। यह ठीक है कि डाक्टर या वकील भी व्यापारी के समान ही जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है और उसको भी एक निश्चित जोखिम का सामना करना पड़ता है तथा उसका उद्देश्य भी अपनी सेवाओं के द्वारा धनोपार्जन ही करना है, किन्तु उसको व्यापारी नहीं कहा जा सकता। इसका प्रथम कारण यह है कि उसको उपर्युक्त सभी समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता। वह एक ही विषय में प्रवीण होता है तथा उसका व्यवसाय बहुत बड़ी सीमा तक उसकी स्वयं की योग्यता पर ही निर्भर रहता है। इसके विपरीत व्यापारी को अनेक विषयों की जानकारी तथा उनको संगठित करने की क्षमता रखना आवश्यक है।

व्यवसायी अपनी निपुणता तथा व्यक्तिगत योग्यता द्वारा ही सम्बन्ध स्थापित कर सकता है, किन्तु व्यापारी को व्यक्तिगत निपुणता तथा सम्पर्क की आवश्यकता नहीं होती और वह दूसरों की निपुणता तथा सेवाओं का उपयोग कर अपने व्यापार को सफलता से चला सकता है। व्यवसायी को अपने काम में पूर्ण शक्ति लगा देनी आवश्यक है किन्तु व्यापारी को अपने कार्य के संगठन में अपने मस्तिष्क को लगाना अधिक महत्वपूर्ण है, जिससे उसके व्यापार का कार्यक्रम सुचारु रूप से चलता रहे।

व्यवसायी को अपनी अधिक पूँजी नहीं लगानी पड़ती किन्तु व्यापारी का सबसे बड़ा आश्रय पूँजी ही है। व्यापार में लाभ से पूर्व अर्थ-विनियोग आवश्यक होता है, जबकि व्यवसाय में शक्ति-विनियोग का ही महत्व अधिक है। व्यावसायिक व्यक्ति को लाभ की अपेक्षा 'पारिश्रमिक' प्राप्त होता है और इस प्रकार उसकी हानि का भी वह स्वरूप नहीं होता तो व्यापारी के लिये सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

एक वाक्य में व्यापारी को अपना कार्य व्यवस्थित करना होता है जबकि व्यवसायी आश्रित भी हो सकता है।

लाभ तथा सेवा

(Profit and Service)

इसके साथ-साथ एक अन्य समस्या लाभ तथा सेवा की है। व्यापार का एक मात्र उद्देश्य लाभ कमाना होता है। वह व्यापार इसलिये करता है कि उसमें धन का

उपार्जन करके वह भी अन्य व्यक्तियों के समान अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। इसके लिये उसको पहले दूसरों की आवश्यकताओं की पूर्ति होने के पश्चात् लाभ मिलता है। वह वस्तुओं के विनिमय मे विनियोगकर्ता तथा उपभोक्ता के बीच सम्बन्ध स्थापित करके उनको लाभ देने के साथ-साथ स्वय भी लाभ लेता है। आधुनिक व्यापार व्यवस्था मे कोई भी व्यापारी, चाहे वह कितना ही बडा क्यों न हो, व्यापार को सेवा भाव की दृष्टि से नही करता। उसका उद्देश्य व्यापार को अधिक धनोपार्जन के द्वारा और अधिक बढाना होता है जिससे उसकी आय मे अधिक वृद्धि हो।

इस दृष्टि से व्यापार दो भागो मे बंट जाता है— (१) धनोपार्जन की दृष्टि से तथा (२) समाज सेवा की दृष्टि से। लोगों को आवश्यकता पूर्ति के लिये व्यापारी जब वस्तु अथवा सेवा प्रदान करता है तो उससे उसके कोष मे वृद्धि होती है। दलाली तथा परिकल्पना (Speculation) इस प्रकार की व्यक्तिगत लाभदायक सेवायें है। आगे चलकर जो व्यापारी अधिक लाभ प्राप्त करता है वह उसके व्यापार का एक सफल प्रमाण है। जनता एक निश्चित प्रकार तथा गुण की वस्तु चाहती है और व्यापारी का कर्तव्य है कि वह उसकी पूर्ति करे तथा सर्वदा यह जानने का प्रयत्न करे कि उसकी सेवाओं का पूर्ण उपयोग किया जा रहा है या नहीं। जो व्यक्ति अलाभ सेवा करता है उसकी सेवाओं को हम व्यापार मे नहीं गिन सकते, क्योंकि उसकी सेवायें उसकी व्यक्तिगत तथा सामाजिक या राष्ट्रीय पूँजी मे परोक्ष रूप से अभिवृद्धि करती है। उसमें स्पष्ट प्रत्यक्ष वृद्धि नही हो सकती। जनसेवा जो व्यक्तिगत लाभ मे बदल जाती है वह राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये एक सामूहिक लाभ के रूप मे सिद्ध होती है।

फोर्ड कम्पनी के व्यवस्थापक श्री हैनरी फोर्ड के अनुसार "किसी भी व्यापारी का सर्वप्रथम उद्देश्य सेवा होना चाहिये और दूसरा लाभ।" इसका प्रयोग फोर्ड कम्पनी मे किया गया। फोर्ड कम्पनी की गाडियो पर केवल चार आना प्रति गाडी लाभ रखा गया और साथ मे यह शर्त भी थी कि यदि कोई गाडी खराब हो जाय तो उसका सुधार निशुल्क किया जायेगा। फोर्ड एजेंसियो मे आज भी इस प्रकार की व्यवस्था है इससे गाडी के क्रेताओं मे अटूट विश्वास उत्पन्न हो जाता है और उसकी बिक्री मे किसी प्रकार की शंका नहीं रहती। वहाँ पर अलग खोज विभाग की स्थापना की गई है जिसका कार्य गाडी के नमूनों मे लोगों की रुचि तथा समय के अनुसार परिवर्तन करना है। इस सेवा भाव के कारण ही हेनरी फोर्ड एक छोटे से व्यापारी से आज संसार मे बहुत बडा व्यापारी बन गया है।

जो व्यापारी अपना व्यापार केवल लाभ कमाने की दृष्टि से ही करता है और उसका उद्देश्य जन-सेवा का नहीं रहता, वह थोडे समय तक भले ही कुछ लाभ

कमा ले किन्तु वह लाभ कभी भी चिरस्थायी नही रह सकता है। कुछ लोगो का कथन है कि कोई भी व्यापारी व्यापार मे इसलिये प्रवेश करता है कि वह अन्य व्यक्तियों के समान अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये लाभ कमाए। इसलिये लाभ का उद्देश्य उसके लिये सर्वथा उचित है। यह ठीक है कि हर व्यक्ति अपने जीवन-यापन के लिये धन चाहता है और वह धन उसके व्यापारिक लाभ में ही निहित है किन्तु ग्राहक को अप्रसन्न करके जो धन कमाया जाता है उसमें स्थायित्व नही रहता, क्योंकि ग्राहक उसमे एक बार असन्तुष्ट हो जाने पर दुबारा वहाँ कभी नही जाता और अपने मित्रों को भी न जाने की सलाह देता है। इसका उसके लाभ तथा व्यापार पर विषम प्रभाव पडना सर्वथा स्वाभाविक है।

भारतीय व्यापारियो मे लाभ का ध्येय ही प्रथम है और यही कारण है कि यहाँ पर विदेशो के समान व्यापारिक उन्नति सम्भव नही हो सकी। यहाँ पर व्यापारी ग्राहक से अधिक से अधिक मूल्य लेना चाहते हैं और उनसे व्यवहार भी अच्छा नही रखते जिसका परिणाम यह होता है कि उनके ग्राहक कम हो जाते हैं। आज भारतीय बाजारो मे विदेशी व्यापारियो की सफल प्रतिद्वन्द्विता तथा अधिक बिक्री का एक बहुत बडा कारण यह भी है कि हमारे व्यापारी व्यवहार-कुशल तथा सेवाभावी नही हैं। सही व्यापार का उद्देश्य कम से कम लाभ पर अधिक से अधिक माल विक्रय करना होना चाहिये। जो लाभ ग्राहको को प्रसन्न करके कमाया जाता है वह स्थाई लाभ होता है। इस प्रकार जो व्यापार जन-सेवा की दृष्टि से होता है उसका महत्व प्रत्यक्ष है। प्रारम्भ में यह सम्भव है कि उसमे तात्कालिक लाभ अधिक न हो किन्तु उसका दीर्घकालीन लाभ अधिक और स्थायी होता है और इसीलिये उसको व्यापारिक सफलता का प्रतीक माना गया है।

व्यापारिक सेवाओं का मापदण्ड 'लाभ' न होकर 'सेवा' होना चाहिये। इस नीति को अपना कर कोई भी व्यापारी अपने छोटे से व्यापार को अन्तर्राष्ट्रीय रूप दे सकता है और वह सर्वसाधारण के हित तथा व्यापार के लिये लाभदायक सिद्ध होता है। इसलिये श्री हेनरी के शब्दों को ध्यान मे रख कर ही व्यापार के उद्देश्यों की पूर्ति की जानी चाहिये।

व्यापार संगठन का विकास
(Evolution of Business Organisation)

व्यापारी अथवा संगठनकर्ता के विषय मे जानने से पूर्व संगठन का विकास जान लेना आवश्यक होगा। व्यापार का विकास मनुष्यों की इच्छाओं के विकास से सम्बन्धित है। ऊपर देशो की अन्तर-निर्भरता के विषय मे बताया गया है, इसी ने

आधुनिक व्यापार को जन्म दिया। जिस काल में यातायात, सन्देशवाहक साधनों, अधिकोषणों आदि का अभाव था उस समय मनुष्य की आवश्यकतायें कम थीं और वह प्रायः आत्मनिर्भर ही होता था, किन्तु धीरे धीरे ज्ञान एवं विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ मनुष्य की आवश्यकतायें भी बढ़ने लगीं। इन बढ़ती आवश्यकताओं ने उत्पादन में वृद्धि की, विशिष्टीकरण (Specialisation) को जन्म दिया, वस्तु-विनिमय प्रारम्भ हुआ और मनुष्य की अन्तर-निर्भरता अधिकाधिक बढ़ने लगी। समाज में आवश्यकता और विज्ञान ने नवीन औद्योगिक क्रान्ति को जन्म दिया, नये प्रयोग किये गये, उत्पादन का सगठन जटिल हो गया—एक के स्थान पर अनेक की आवश्यकता होने लगी, उत्पादन की नई समस्यायें उत्पन्न हुईं, वर्ग-भेद होने लगा आदि। इन समस्याओं ने सगठन के नवीन-स्वरूप को जन्म दिया।

औद्योगिक क्रान्ति के बाद वस्तु उत्पादन की इतनी अधिक वृद्धि हुई कि उसकी एक ही बाजार में खपत होना असम्भव हो गया। इसलिए बाजारों का विस्तार बढ़ाया गया, जिससे व्यापार का क्षेत्र राष्ट्रीय बाजार से अन्तर्राष्ट्रीय (International) बाजार पर पहुँचना स्वाभाविक था। क्षेत्र विस्तार ने अन्तर्देशीय प्रतिद्वन्द्विता को जन्म दिया तथा उत्पादक अपने माल के प्रचलन तथा खपत के लिए जी तोड़ प्रयत्न करने लगे, विज्ञापन कला को प्रोत्साहन मिला, विक्री कला में वैज्ञानिकता आने लगी और व्यापारियों का क्षेत्रीय, देशीय तथा अन्तर्देशीय बाजारों में संघर्ष तीव्र से तीव्रतर होता चला गया। इन सब समस्याओं ने व्यापारियों को व्यापारिक सगठन को सुनिर्मित करने की ओर उन्मुख किया। व्यापार विशेषज्ञों, इंजीनियरों, अर्थशास्त्रियों एवं विचारकों ने इस दिशा में अनेक प्रकार की खोजें कीं, उन्होंने अपने देश में 'सोना'' बढ़ाने के अनेक उपाय तथा सिद्धान्त बनाये, उद्योग धन्धों में प्रबन्ध की वैज्ञानिक प्रणाली अपनाई जाने लगी, सरकार की व्यापारिक नीति स्थिर की जाने लगी, अर्थ-व्यवस्था का नियमित प्रबन्ध तथा नियन्त्रण किया जाने लगा। संक्षेप में वे सब कार्य किये जाने लगे जिनसे उत्पादकों तथा व्यापारियों को अधिक योग मिला। व्यापार-विशेषज्ञों ने व्यापार की आन्तरिक तथा बाह्य प्रबन्ध व्यवस्था के विषय में अनेक महत्वपूर्ण प्रयोग करके वृहत व्यापार के संचालन को सम्भव बना दिया। यह सगठन प्रारम्भ में प्रायः एकाधिकार में रहता था इसलिये उस समय वह चाहे जिस प्रकार से भी किया जाय इसमें किसी प्रकार की जटिलता का प्रश्न नहीं उठता था। परन्तु उसकी विशालता के साथ साथ उसमें जनतन्त्रीयता का उदय हो जाने से आधुनिक व्यापार एवं उद्योग का सगठन अत्यन्त जटिल हो गया है। आज के युग में वही व्यापार पनप सकता है जिसका सगठन अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग का हो और उसके प्रत्येक अंग का कार्य बिना किसी अड़चन के सुचारु रूप से चल सके।

संगठन की समस्याएँ
(Problems of Organisation)

व्यापार की जटिलता के साथ-साथ व्यापारिक संगठन में ही अनेक नवीन समस्यायें उत्पन्न हो गई है। इनका वर्णन नीचे किया जाता है—

(१) **बाजार का विस्तार** (Area of the Market)—जैसा पहिले बताया जा चुका है, कि बाजार का विस्तार धीरे-धीरे स्थान से देश और देश से संसार हो गया। इसने व्यापारियों को दूरदर्शी, अन्वेषक तथा उदार बनाया। उनको अपने व्यापार को बढाने के लिये विज्ञापन के नये साधन तथा बिक्री कला की नई शैली अपनानी पड़ी। उनको नये बाजारों का अध्ययन करना, वस्तुओं में नवीन शक्ति के अनुसार परिवर्तन करना तथा सरकारी नियमों, चुगी, करो आदि का अध्ययन करना आवश्यक हो गया।

(२) **वैज्ञानिक अनुसंधानों का प्रभाव** (Effect of the Scientific Inventions)—विज्ञान ने नये आविष्कार किये जिससे नये उद्योग-धन्धो को जन्म मिला। विज्ञान ने मनुष्य को जितना शारीरिक सुख दिया उतना ही अधिक योग्यता प्राप्त करना भी अनिवार्य कर दिया। इसके लिये विशेषज्ञों की आवश्यकता होने लगी और प्रबन्ध भी वैज्ञानिक ढग पर ही चलने लगा। इन सगठनों के झगडे, विरोध या अन्य समस्याये वैज्ञानिक ढग पर ही सुलझाई जाने लगी। इस प्रकार विज्ञान ने व्यापार की 'सामन्ती-पद्धति' को मिटा कर 'सामाजिक-पद्धति' को प्रोत्साहित किया। वैज्ञानिक प्रबन्ध पद्धति मे प्रत्येक रीति या नीति को अपनाने के पूर्व उसका आमूल्यन प्रयोग तथा कृत्रिम प्रयोग आवश्यक हो गया। इससे वैज्ञानिक प्रबन्ध, मनोवैज्ञानिक उद्योग नीति तथा नियन्त्रित व्यापारिक सगठन का जन्म हुआ।

(३) **बड़े व्यापार** (Big Business)—औद्योगिक परिवर्तन ने सगठन का स्वरूप बहुत बड़ी सीमा तक बदल दिया। व्यापार करोड़ो की पूँजी से प्रारम्भ किये जाने लगे। पूंजी, क्रय-विक्रय का सगठन, प्रबन्ध की योग्य व्यवस्था तथा कुशलता के लिये अनुभव, तात्विक ज्ञान, यथेष्ट प्रोत्साहन आदि समस्याये अत्यन्त जटिलता के साथ सामने आई।

(४) **मांग तथा प्रदाय का संतुलन** (Balance in demand and supply)—यह भी आधुनिक युग की देन है। इसके अनुरूप उत्पादन तथा वितरण पर समुचित नियन्त्रण आवश्यक हो गया। विभिन्न प्रकार के व्यापारिक सगठनो का जन्म भी बाजारो मे अपना प्रभाव रखने तथा उनमें प्रदाय को नियन्त्रित करने के लिये हुआ। समय तथा परिस्थितियों के साथ-साथ उनके स्वरूपो मे भी परिवर्तन आये है।

(५) **संयुक्त पूँजी** (Joint stock)—बहुत पूँजी के कलेवर ने सगठन के स्वामित्व तथा प्रबन्ध मे स्पष्ट भेद स्थापित करके आधुनिक सार्वजनिक संयुक्त पूँजी

वाले प्रमण्डलों को जन्म दिया। इन सस्थाओं मे धन लगाने वाले तथा संस्था के सचालन करने वालो मे किसी प्रकार का व्यक्तिगत सम्पर्क तथा सम्बन्ध रहना आवश्यक नहीं रहा। दूसरे शब्दों मे पूँजी लगाने वाले लोगों का सस्था पर सीधा प्रभाव नहीं रहा।

(६) **व्यापारिक जटिलता** (Complicacy of Business)--इसने व्यापार मे होने वाली जरा जरा सी भूलों को भी व्यापार के लिये अत्यन्त घातक सिद्ध कर दिया, परिणामस्वरूप प्रवर्तकों (Promotors) को व्यापारिक योजनायें बनाने मे आवश्यक सतर्कता से काम लेना अनिवार्य सा हो गया। किसी व्यापार की योजना मे जरा सी त्रुटि रह जाने के कारण उनको अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्विन्द्विता मे भयानक सघर्ष का सामना करना स्वाभाविक सा हो गया। इसलिये इस जटिलता मे लाभ कमाने का प्रश्न, पूर्व एकाधिपत्य प्राप्त व्यवसाय के समान न रहकर अत्यन्त सन्देहास्पद होगया।

(७) **श्रमिक संगठन** (Labour Organisation)--व्यापारिक विशालता तथा जटिलता ने श्रमिक आन्दोलन को भी जन्म दिया है। मजदूरों को अपने अधिकारों की रक्षा करने के लिये तथा लाभ का निश्चित भाग प्राप्त करने के लिये सगठित मोर्चे स्थापित करने पडे। अब मजदूर कभी भी व्यापारिक अथवा औद्योगिक प्रगति को अवरुद्ध कर सकते है। इसलिये अपने व्यापार बढाने तथा सुसगठित रखने के लिये कुशल प्रबन्धको को मजदूरो तथा उनके सगठनो का विश्वास प्राप्त करना केवल आवश्यक ही नहीं अपितु उनकी कुशलता, जीवन-स्तर, मनोरंजन आदि के साधनों को बढाना भी आवश्यक हो गया है। आज श्रम-विकास के नये साधनों को अपनाना भी अनिवार्य-सा हो गया है।

(८) **अहस्तक्षेप नीति का अन्त** (End of Laissez Faire Policy)—एक युग के साथ अहस्तक्षेप नीति का भी अन्त हो गया। आधुनिक युग मे प्रत्येक व्यापार को राज्य द्वारा नियन्त्रित करने की नीति को मान्यता दी जा चुकी है। आज प्रायः प्रत्येक देश मे व्यापार एव उद्योग की गतिविधियाँ सरकारी विधेयकों द्वारा नियन्त्रित की जाती है। इसलिये व्यापारी के सामने आज सबसे बडी समस्या यह है कि वह सरकारी अधिनियमों को समझे उनका अनुकरण करे तथा उन पर अपनी निजी राय भी बना सके।

(९) **नेतृत्व की समस्या** (Problem of Leadership)—औद्योगिक जटिलता तथा परिवर्तनों के युग मे उद्योग अथवा व्यवसाय मे यहाँ नेतृत्व की सबसे गम्भीर समस्या है। उसको इतना सुयोग्य, अनुभवी तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला होना चाहिये कि बदली हुई परिस्थितियों को अपने व्यवसाय के अनुकूल बना सके तथा हर स्थिति मे उसकी सस्था का विकास निरन्तर होता रहे।

(१०) **जोखिम की समस्या** (Problem of Risk taking)—आधुनिक

व्यापार एवं व्यवसाय में व्यापार करना इतना अधिक जोखिम का है कि साधारण बुद्धि वाला मनुष्य उसमें कठिनाई से सफलता प्राप्त कर सकता है। उसके लिये बहुत बड़े साहस तथा दूरदर्शिता की आवश्यकता होती है, जो साधारण स्थिति में सम्भव नहीं होती।

व्यापार संगठन एवं प्रबन्ध

(Business Organisation and Administration)

व्यापार संगठन एवं प्रबन्ध को श्री हेनरी फोर्ड के अनुसार पाँच भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) **योजना** (Planning)—व्यापार की योजना बनाते समय पहले उसके परिणाम की ओर ध्यान जाना चाहिए। उसमें एकता, गति, लोच तथा सक्षिप्तता होना आवश्यक है। सही योजना बनाने से पूर्व उसका अन्वेषण, प्रयोग तथा विवेचन करना आवश्यक होता है, जिसके लिये (अ) पहिले उसकी पूरी खोज तथा छानबीन करनी चाहिये। आँकड़ा सकलन सही प्रकार से करके उसका सही विवेचन किया जाना चाहिये। (आ) योजना बनाने में दूरदर्शिता से काम लिया जाना आवश्यक है, जिससे भविष्य में उत्पन्न होने वाली सभी प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष समस्याओं का सरल हल निकाला जा सके। (इ) योजना में एक सुन्दर गति का होना भी आवश्यक है। इसके लिए योग्य तथा अनुभवी कुशल व्यक्तियों की सेवाओं का उपयोग किया जाना चाहिए। (ई) योजना में से 'आश्चर्य' शब्द को हमेशा के लिए हटा देना चाहिए जिससे उसको बनाते समय जल्दबाजी को कोई स्थान न रहे।

(२) **सगठन** (Organisation)—योजना को सफलता के साथ कार्यान्वित करने के लिए अनेक व्यक्तियों के सामूहिक प्रयत्नों की आवश्यकता पड़ती है, इसलिये उनका किसी निश्चित सूत्र में सगठित होना अनिवार्य है। योजना को प्रारम्भ करने के लिए सम्बन्धित व्यक्तियों को सामूहिक रूप में योग देना चाहिए तथा वही कार्य करना चाहिये जो उनके नेता द्वारा बतलाया गया हो। नेता को अत्यन्त स्वस्थ विचारक तथा सहनशील होना चाहिए और सगठन में फूट पड़ने वाली कोई भी बात नहीं करनी चाहिए। यदि नेता को किसी प्रकार की सलाह दी जानी हो तो उसके लिए योग्य सलाहकार होने चाहिए। इन लोगों को राग द्वेष से दूर होना चाहिए।

सगठन में सहकारिता, अधिकारों की परिभाषा, कार्यों का विवरण तथा उत्तरदायित्वों का स्पष्टीकरण किया जाना आवश्यक है, क्योंकि इसको व्यापार का प्रारम्भिक तत्व माना जाता है। इसलिए सगठन में नीचे दी गई बातों का स्पष्टीकरण होना चाहिए—

(१) योजना सही रूप से कार्यान्वित की जा रही है, (२) श्रम तथा माल उद्देश्य की पूर्ति के लिए पर्याप्त है, (३) प्रबन्ध व्यवस्था सही है, (४) अलग-अलग क्रियाओं में पूर्ण सामजस्य है, (५) निर्णय स्पष्ट तथा सूक्ष्म किये गये हैं, (६) कार्य-

कर्ताओं का सही चुनाव किया गया है, (७) कार्यों का सही उल्लेख है, (८) उत्साह एवं कर्तव्य-पालन के लिए समुचित प्रोत्साहन मिल रहा है, (९) उचित कार्यों के लिए उचित पारितोषिक दिया जा रहा है, (१०) अशुद्धियों के लिए उचित दण्ड की व्यवस्था है, (११) अनुशासन की पूर्ण व्यवस्था है, (१२) सामान्य-हित के लिए व्यक्तिगत हित को कोई स्थान नहीं दिया जा रहा है, (१३) आदेशों का सही पालन किया जा रहा है, (१४) माल तथा श्रम का सही क्रम स्थापित है, (१५) हर दिशा में उचित नियन्त्रण किया जा रहा है तथा (१६) प्रत्येक कार्य अनिवार्य रूप से तत्काल किये जा रहे हैं।

(३) **सामंजस्य** (Coordination)—श्री गुलिक के अनुसार "सम-विभाजित तथा उचित व्यवस्थित संगठन मनुष्य की सभ्यता के विकास में 'पदत्राण' का कार्य करते है, जिन पर मनुष्य उठ कर चल सके।" यह सामंजस्य दो प्रकार से किया जा सकता है—(१) उचित संगठन के द्वारा तथा (२) चतुराई, एक लक्ष्य तथा आत्मविश्वास के द्वारा। इसमें प्रत्येक श्रमिक अपनी योग्यता, कुशलता तथा उत्साह के अनुसार अपने कार्यों को सामुदायिक ढंग से कर सकता है। यदि मनुष्य अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए संयुक्त होकर किसी पद्धति को उत्साह के साथ कार्य रूप में लाता है तो उसका परिणाम निश्चित ही सुखद होगा। किन्तु जैसे ही व्यापार का आकार बढ़ता है उसके साथ आपस का परिचय लुप्त होने लगता है और श्रम की श्रेणी में नेकनामी का अभाव होने लगता है। इस स्थिति में यदि प्रबन्धकर्ता व्यावहारिकता को छोड़ कर केवल नियमों की कट्टरता रखता है तो उसके प्रति प्रदर्शित की जाने वाली लोगों की वफादारी लुप्त होने लगती है। इसलिए उनमें श्रद्धा तथा एकता की भावना उत्पन्न करने के लिए संगठनकर्ता को व्यावहारिक, उत्साही एवं सच्चा नेतृत्व करने वाला होना चाहिये।

सही नेतृत्व करने वाला व्यक्ति ही दूसरे के श्रम का सही उपयोग कर सकता है और इसके लिए उसको सही प्रेरणा तथा उत्साह दिलाना चाहिए। जो व्यापारिक नेता अपनी प्रेरणा के द्वारा कार्यकर्ताओं के मस्तिष्क में एक विश्वास जमा लेता है, उसको व्यापारिक क्षेत्र में सफलता मिलना निश्चित है। इस सामंजस्य के लिए पहिले से ही स्वस्थ विचार आवश्यक है, क्योंकि उसके ही द्वारा स्वामिभक्त तथा परिश्रमी कार्यकर्ताओं का विकास होता है और वे हमेशा व्यापार के लिए हर प्रकार का बलिदान करने के लिए तत्पर रहते है।

(४) **निर्देशन** (Direction)—किसी भी संगठन में उचित सामंजस्य रखने के लिए निर्देशक में निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है—

(१) अपने कार्यालय के कार्यकर्ताओं का पूर्ण ज्ञान,

(२) अकुशल व्यक्तियों को सुधारने अथवा अलग कर देने की क्षमता,

(३) कार्यकर्ताओं को दिये गये आश्वासनों तथा समझौतों की पूर्ण जानकारी,

(४) आदर्श प्रस्तुत करने की शक्ति,

(५) अपने प्रबन्ध तथा व्यवस्था की सामयिक पड़ताल तथा अनुसूचियों के प्रबन्ध करने की शक्ति,

(६) प्रबन्धकों तथा अनुभवी सलाहकारों की सहायता से व्यापार के नवीन सिद्धान्तों को अपने व्यापार में समाविष्ट करने की योग्यता,

(७) व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर रहने की क्षमता,

(८) किसी भी कार्य की बारीकियों को समझने की योग्यता,

(९) कार्यकर्ताओं में उत्साह, क्षमता एवं स्वामिभक्ति को बनाये रखने की योग्यता।

यह सब कुछ करने के लिए निर्देशक का प्रभावशाली व्यक्तित्व होना चाहिए। प्रभावशाली व्यक्तित्व का अर्थ यह है कि लोग उसकी स्वयं प्रतिष्ठा करें तथा उसमें दूसरे व्यक्तियों में अपने प्रति विश्वास तथा श्रद्धा पैदा करने की क्षमता हो। उसके निर्णय सर्वप्रिय एवं सर्वमान्य हो। उसमें सहनशीलता, उदारता, दया तथा व्यावहारिकता हो। उसमें इस प्रकार का साहस, मौलिकता एवं शक्ति हो उसकी सेवाओं का उपयोग हमेशा आवश्यक बना रहे।

(५) नियंत्रण (Control)—व्यापार की प्रत्येक शाखा का कार्य व्यवस्थित रूप से, योजना तथा निर्धारित आदेशों के अनुरूप चलाने को नियंत्रण कहते हैं। उसमें नीचे दी गई विशेषतायें होनी चाहिए—

(१) उत्तरदायित्व की भावना प्रमुख रूप से होनी चाहिए और उच्च अधिकारियों को अपने नीचे के लोगों के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए,

(२) जो कोई भी निर्णय दिया जाय वह बिना दोनों विरोधी पक्षों की वार्ता सुने नहीं दिया जाना चाहिए और निर्णय जहाँ तक हो सके स्वतंत्र अदालत को ही देना चाहिए। स्वतंत्र अदालत का अभिप्राय व्यापार में उन निष्पक्ष व्यक्तियों की समिति से है, जो प्रबन्धकों तथा कार्यकर्ताओं से ऊपर हों तथा जिसमें दोनों पक्षों का उचित प्रतिनिधित्व हो,

(३) जो कुछ आँकड़े तथा वृत्त सकलित किये जायें उनको व्यापार के आम ढाँचे के अनुसार होना चाहिए तथा उसमें व्यक्ति विशेष के प्रभाव तथा कार्यों का उल्लेख नहीं होना चाहिए,

(४) वृत्ति में पिछले तथा वर्तमान कार्यों की तुलना होनी चाहिए तथा उनमें होने वाले अन्तर के कारणों को ढूँढ कर स्पष्ट किया जाना चाहिए,

(५) नियन्त्रण का उद्देश्य वर्तमान तथा भविष्य में कार्य-कुशलता बढ़ाने के लिये प्रयत्न करना चाहिए। इसलिए उसकी पूर्ण व्यवस्था करने के लिए उसी प्रकार के आँकड़ों तथा वृत्तों का उचित सकलन किया जाना चाहिए।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 'Business Organisation is an art of establishing cooperation between the various institutions engaged in Business ' Explain the above statement
2 What is Businesss Organisation ? Why has the study of B O increased in importance and interest since the beginning of the present century ?
3 Give the evolution of Business Organisation
4 In what way does a business differ from profession ' What part do profit motive and service motive play in business ?
5 'Service first and profit second should be the aim of a businessman.' Explain with special reference to a typical businessman in India
6 Discuss the importance of business organisation with special reference to India
7 Critically discuss the problems that a businessman is likely to face in organising his business.
8 Explain critically the chief aspects of business organisation and administration.
9 'Business has no conscience, its ambition is profit and its god is money ' Do you agree with the statement ? Explain your view point.

व्यापारिक सफलता २

(Business Success)

व्यापारिक सफलता के गुण

(Requisites for Business Success)

आधुनिक व्यापारिक जटिलता के युग मे व्यापारिक उन्नति तथा प्रतिद्वन्द्विता का सामना करने के लिए व्यापारिक सगठन का समुचित प्रवन्ध किया जाना आवश्यक है। इसके लिए व्यापार मे योग्य व्यक्तियो का होना अनिवार्य है। व्यक्तियो की योग्यता दो प्रकार की हो सकती है—(१) प्राकृतिक देन तथा (२) अध्ययन एवं परिश्रम द्वारा। जिन व्यक्तियो मे ईश्वरीय देन होती है उनका व्यक्तित्व स्वतः प्रभावशाली होने से कारण उनको सम्मान एवं विश्वास आसानी से प्राप्त हो जाता है और उनको व्यापार सचालन मे आदेश पालन तथा अनुसरण करवाने मे किसी प्रकार की कठिनाई नहीं पडती। किन्तु इसके साथ ही साथ उनमे अध्ययन तथा परिश्रम करने की योग्यता का होना भी आवश्यक है, क्योंकि सफलता की कुजी समुचित अध्ययन तथा परिश्रम ही है। एक कुशल व्यापारी बनने के लिए उसको यह जानना चाहिए है कि "व्यापार का उच्च अध्ययन किसी भी व्यक्ति को उस व्यापार के विषय मे अपनी धारणा बनाने के लिए सफल बना देता है। चाहे व्यापार बडा हो अथवा छोटा व्यापारी के कुशल-बुद्धि होने के कारण ही सफलता एव विफलता के बीच की खाई भरी जा सकती है," क्योंकि किसी भी व्यापार मे सफलता तथा विफलता का विभाजन अत्यन्त सूक्ष्म होता है और कार्य मे जरा सी अशुद्धि हो जाने से प्रत्यक्ष सफलता विफलता मे परिणत हो जाती है। इसलिए सफलता एवं विफलता का मूल्यांकन व्यापारी की सगठन शक्ति के अनुसार ही किया जा सकता है।

व्यापार की सफलता तथा उसका सुव्यवस्थित प्रवन्ध व्यापारी के नेतृत्व करने की क्षमता तथा न्यूनात्मक शक्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसलिये व्यापारी नेतृत्व करने की क्षमता तथा न्यूनात्मक शक्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसलिये व्यापारी को प्रभावशाली, व्यवहार-कुशल, स्पष्ट वक्ता, कुशल आलोचक, सत्यप्रिय, परिश्रमी, विवेकशील, अनुशासनप्रिय, साहसी, चरित्रवान, एकताप्रिय आदि गुणों से युक्त होना आवश्यक है। इन गुणो का सूक्ष्म विवरण निम्न प्रकार है—

(१) **प्रभावशाली** (Influencial)—व्यापारी को सफलता प्राप्त करने के लिये अपना व्यक्तित्व इस प्रकार का बनाना चाहिये कि जनता का उसके व्यापार पर

विश्वास तथा उसके प्रति प्रतिष्ठा बनी रहे और उसके अच्छे व्यक्तित्व के कारण उसके नीचे के कार्यकर्ता उत्साह एवं लगन से कार्य कर सकें। अच्छे व्यक्तित्व की विशेषता यह है कि लोग उससे डरने के स्थान पर उसका आदर करें। व्यक्ति का प्रभावशाली व्यक्तित्व उसके जन्म के संस्कारों, वातावरण तथा अनुकूल परिस्थितियों के अनुसार बनता है और इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि कौन सा व्यक्ति किस प्रकार का होगा। यह सब परिस्थितियों पर ही निर्भर रहता है।

(२) **व्यावहारिक** (Social)—अच्छे व्यक्तित्व के साथ साथ यदि वह व्यवहार कुशल भी है तो उसको दूसरों पर अच्छा प्रभाव डालने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। जब तक उसमें दूसरों को समझने की शक्ति तथा उनसे शिष्ट व्यवहार करने का चातुर्य न हो, तब तक उसके व्यापारिक मित्र नहीं बन सकते और न वह व्यापारिक जीवन में सफलता ही प्राप्त कर सकता है। इसलिये उसको सफल वक्ता, मृदुभाषी, वाकपटु आदि होना चाहिये।

(३) **स्पष्टवक्ता** (Frank)—व्यवहार कुशल होने का यह अभिप्राय नहीं है कि वह अपने विचारों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने में संकोच करे। व्यापार में प्रत्येक बात को यदि स्पष्ट नहीं किया जाता तो उसमें सन्दिग्धता तथा अस्पष्टता को प्रोत्साहन मिलता है और व्यापार की प्रगति रुक जाती है। इसलिये व्यापारी को अपने व्यापार के प्रत्येक कार्य में स्पष्ट रहना चाहिये। इससे उसको भविष्य में किसी भी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ेगा। उसकी स्पष्टवादिता से उसके कार्यकर्ता तथा बाहर के लोग सभी सन्तुष्ट रहेंगे और किसी को आलोचना करने का अवसर नहीं मिलेगा।

(४) **कुशल आलोचक** (Able Critic)—व्यापारी अपनी व्यापारिक योजनाओं में तभी सफल हो सकता है जब वह उनकी अच्छाइयों तथा बुराइयों का, उनको कार्य रूप में लाने से पहिले, भली प्रकार से अध्ययन करले और उसके अनुरूप अपनी योजना में परिवर्तन ले आये। यदि कार्य में बाद को किसी प्रकार की कमी दिखाई देगी तो लोग उस पर सन्देह करने लगेंगे और उसकी व्यापारिक प्रतिष्ठा समाप्त हो जायगी। इसलिये उसको सफल आलोचक भी होना चाहिये। किन्तु आलोचना इस प्रकार की होनी चाहिये जिससे ठोस परिणाम निकलें। यदि आलोचना केवल आलोचना के लिए ही हुई तो वह निरर्थक होगी।

(५) **परिश्रमी** (Laborious)—व्यापार की सफलता किसी के कुशल होने पर ही नहीं होती है, परन्तु इसके साथ-साथ उसे कठोर परिश्रमी भी होना चाहिये, क्योंकि व्यापार की सफलता कठोर परिश्रम पर ही निर्भर है। यदि वह कठोर परिश्रम नहीं करेगा तो उसके कर्मचारी भी अधिक परिश्रम नहीं कर सकेंगे जिससे उसकी योजनायें अधूरी ही रह जायेंगी और व्यापारिक उन्नति सम्भव

नहीं हो सकेगी। उसमें काम करने की ऐसी लगन होनी चाहिये कि जिस कार्य को वह एक बार हाथ में ले ले उसको पूर्ण करके ही चैन ले। उसके मस्तिष्क में वह योजना बराबर रहनी चाहिये जिस पर वह कार्य कर रहा है। व्यापार की उन्नति के लिये उसको हमेशा प्रयत्नशील रहना चाहिये।

(६) समय का मूल्य (Value of time) जानने वाला—कहावत है कि व्यापार में समय ही धन (Time is money) है। व्यापारी को उस समय तक सफलता मिलना कठिन है जब तक वह अपने समय के प्रत्येक क्षण का उपयोग नहीं करता। प्रत्येक व्यापारिक कार्य का एक-दूसरे से समन्वय रहता है और उनमें समयानुसार परिवर्तन होते रहते हैं, वस्तुओं के उत्पादन की किस्म बदलती रहती है, उपभोक्ताओं की रुचियाँ बदलती रहती हैं, बाजार में परिवर्तन भी चलते रहते हो हैं। जो व्यक्ति इन बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार निर्माण अथवा व्यापार करता है उसको असफलता मिलने के बहुत कम अवसर रहते हैं। उसको अपने हर क्षण का लाभ उठाना चाहिए। उसको सदैव ध्यान रखना चाहिये कि व्यापारी जगत बदली हुई इच्छाओं का समूह है। जो व्यापारी सही इच्छाओं को सही समय पर जान सकेगा वह व्यापार में अधिक सफलता प्राप्त कर सकता है। इसलिये उसको समय का बहुत अधिक ध्यान रखना चाहिए।

(७) विवेकशील (Rational)—विवेकशीलता प्रत्येक सफलता की कुंजी है, जो व्यापारी किसी कार्य को बिना विचारे करता है उसको सफता मिलना बहुत कठिन है। किसी नई वस्तु का निर्माण करने में, व्यापार विस्तार बढ़ाने में, सरकार से सम्बन्ध स्थापित करने में, कार्यालय की व्यवस्था करने में अथवा व्यापार में किसी प्रतिद्वन्द्वी से सम्बन्ध स्थापित करने व्यापारी को पूर्ण विवेक के साथ काम करना चाहिए। यदि कोई कार्यकर्ता किसी कारणवश अनुशासन भंग करता है अथवा कोई अशुद्धि करता है तो उसके विरुद्ध कोई भी कार्यवाही करने के पूर्व उसकी पूरी तरह से छानबीन की जानी चाहिए ताकि उसके साथ किसी प्रकार का अन्याय न हो सके। पूँजी के विनियोग में तो विवेकशीलता का बहुत ही अधिक महत्व है। इस प्रकार बिना विवेक के व्यापार का कोई भी कार्य करना अपने भविष्य को अंधकार में धकेलना है।

(८) अनुशासनप्रिय (Disciplner)—व्यापारिक संगठन बन जाने के पश्चात् व्यापारी को उसके प्रत्येक कार्य में इस प्रकार के अनुशासन की स्थापना करनी चाहिए जिससे उसका सारा कार्य योजना के अनुसार चले। अनुशासन को प्रयोग में लाने के पूर्व उसको सोचना होगा कि कार्यकर्ता उस अनुशासन का पालन किस सीमा तक कर सकेंगे। इसके लिए उसको स्वयं अपने को उस स्थिति में रख कर सोचना चाहिए जिसमें वह कर्मचारियों को रखना चाहता है। इसमें सन्देह नहीं कि अनुशासन संगठन

का प्राण है किन्तु सठनकर्ता को स्वय भी अनुशासित होना चाहिए। यदि वह स्वय अनुशासन मे है तो उसके नेतृत्व मे किया जाने वाला प्रत्येक कार्य अवश्य अनुशासनयुक्त होगा।

(६) साहसी (Courageous)—मनुष्य अनेक कल्पनाये करता है, उनमे उतार-चढाव सब ही आते है। व्यापार मे आने वाले उतार चढावो का सामना करना भी व्यापरी के लिए आवश्यक होता है। जो व्यक्ति इन और आशा-निराशा का सामना साहस से करता है वही व्यापार मे सफलता प्राप्त कर सकता है। उसमे अपार साहस, धैर्य तथा शक्ति होनी आवश्यक है। शक्ति दोनो ही प्रकार की चाहिये—शारीरिक एवं मानसिक। इनके मेल मे मनुष्य अनेक कठिनाइयो मे भी अपने धैर्य को नही खोता और अपने पथ पर अटूट रूप मे बढने का प्रयत्न करता रहता है।

(१०) चरित्रवान् (Of Sound Character)—व्यापार मे अनुशासन तथा विकास तब तक सम्भव नही है, जब तक व्यापारी का नैतिक चरित्र ऊँचा न हो, क्योंकि यही व्यक्ति मे साहस, उत्साह, योग्यता, स्वामिभक्ति, मितव्ययता तथा प्रबन्ध करने की शक्ति लाता है। चरित्र के लिये व्यापारी मे धार्मिक प्रवृत्ति तथा अपने कार्यो के लिए पूर्ण रूप से जागरूक होना परम आवश्यक है। ऐसा व्यक्ति अपनी स्वस्थ प्रवृत्तियों के द्वारा अपने कार्यकर्ताओ के सामने एक आदर्श उपस्थित कर सकेगा। उसको दो प्रकार की बात करने वाला नही होना चाहिए तथा उसके कार्य स्पष्ट होने चाहिए। ऐसा ही व्यक्ति सच्चे रूप मे व्यापार का सही नेतृत्व कर सकता है।

(११) एकताप्रिय (Unity Lover)—आज के युग मे व्यापारिक स्वरूप बहुत बदल गया है और उसके सुचारु रूप से सचालन के लिए सभी तत्वो के पूर्ण सहयोग की आवश्यकता हो गई है। इसलिए कुशल व्यापारी को व्यापार तथा उसके बाहर के समस्त लोगो से सहयोग करना आवश्यक है। उसमे समझौता करने, ग्रहण करने, अवसर के अनुकूल बदलने तथा दूसरो की आलोचना एव सलाह सुनने तथा अध्ययन करने की शक्ति होनी चाहिए। उसमे मतभेदों को दूर करने की क्षमता भी होनी चाहिए। यदि वह सच्चा सहयोगी है तो अच्छा व्यापारी भी है।

(१२) चतुर तथा चौकन्ना (Intelligent and Alert)—जो व्यापारी व्यापार मे सफलता प्राप्त करना चाहता है उसको अपने तक ही सीमित न रहकर ससार की बातो की जानकारी भी होनी चाहिए। उसको केवल अपने व्यापार की बातो मे कुशल तथा अनुभवी ही नहीं होना चाहिए, अपितु उससे बाहर की बातो की जानकारी भी उसके लिये आवश्यक है। उसमे प्रत्येक बात को समझने की शक्ति होना तो आवश्यक है हो, किन्तु साथ ही उसको ससार मे तथा उस व्यापार मे होने वाली गतिविधियो के प्रति भी सतर्क रहना चाहिए। कुशल व्यापारी वही है जो इन सब बातो की जानकारी प्राप्त करके व्यापार चलाए।

(१३) सत्यनिष्ठ (Honest)—आधुनिक युग मे लोगो को विश्वास सा हो गया है कि व्यापार में सत्य के लिये विशेष स्थान नही है, किन्तु "झूठ बोलकर कुछ व्यक्तियों को हमेशा बहकाया जा सकता है, कुछ को कुछ समय के लिये किन्तु सब को हमेशा के लिये नही बहकाया जा सकता।" व्यापारी झूठ बोलकर जिस व्यक्ति को एक बार ग्राहक बनाता है उसे हमेशा के लिये खो बैठता है। इसलिये अपनी स्थायी प्रतिष्ठा के लिये उसको सत्यनिष्ठा का ही आश्रय लेना चाहिये।

(१४) शिक्षित (Educated)—व्यापारी मे, ऊपर बताई गई समस्त अच्छाईयाँ भी हो किन्तु जब तक वह शिक्षित नहीं है, तब तक वह अपूर्ण ही कहा जायगा। उसको सामान्य तथा व्यावसायिक दोनों प्रकार की ही शिक्षा प्राप्त होनी चाहिये। कभी-कभी उसको यदि सामान्य शिक्षा का उच्चतम लाभ न भी हो तो विशेष कठिनाई नहीं होगी, किन्तु जब उसको अपने व्यापार की तांत्रिक शिक्षा का ज्ञान नहीं होगा तो उसके लिये व्यापार को समुचित रूप से चलाना सम्भव नही होगा। वह व्यक्ति जिसमें उपर्युक्त गुण हो तथा शिक्षित भी हो, निश्चित रूप से एक दिन महान् व्यापारी बनेगा, इसमें लेशमात्र सशय नहीं है।

व्यापार में तांत्रिक प्रशिक्षण
(Technical Training in Business)

प्रारम्भ मे व्यापार की समस्यायें अधिक जटिल न होने के कारण उनके अध्ययन की ओर लोगों का विशेष ध्यान नहीं गया। उस समय से व्यापार पुश्त-दर पुश्त चला आता है और पुत्र को अपने व्यापार की थोडी-बहुत जो भी जानकारी रहती है वह पिता की क्रियाओं से ही हो पाती है। किन्तु उस समय व्यापार मे एकाधिकार होने से यदि व्यापार अकुशल हाथों मे भी चला जाता था तो भी उसका लाभ प्रायः सुरक्षित ही रहता था। आज व्यापारिक विकास मे उत्पन्न हुई व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता, अधिक उत्पादन, नये आविष्कार, व्यापार की सहायता के लिए नये प्रयोग तथा नवीन समस्यायें, नवीन व्यापारिक साधन, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्यापकता आदि ने प्राचीन व्यवस्था को समाप्त कर दिया है और न तो व्यापार अब किसी निश्चित जाति तक ही सीमित है और न किसी जाति का कोई व्यक्ति अब किसी भी व्यापार को करने में ही सकोच अनुभव करता है। इस नवीनता ने लोगों के लिए कार्य का क्षेत्र तो बढ़ा दिया है, किन्तु साथ-साथ नई समस्यायें भी पैदा कर दी है।

जो लोग परम्परागत व्यापार करते हैं उनको थोड़ा-बहुत ज्ञान हो ही जाता है, क्योंकि प्रारम्भ से ही वह उस वातावरण मे पलते हैं और उसका उनके संस्कारो पर बहुत बड़ा प्रभाव पडता है। इसलिए जब व्यापार का भार उनके ऊपर पडता है तब उनको अधिक कठिनाई का सामना नहीं करना पडता। किन्तु नया व्यक्ति जिसने पहले कभी भी व्यापार को नहीं देखा हो, यदि व्यापार करना चाहे तो उसको समस्याओं को

नहीं समझ सकता। यह हो सकता है कि अधिक धन लगाने से उसको प्रारम्भिक सफलता मिल जाय, किन्तु आनुपातिक रूप से उसको हानि ही होगी। व्यापार को सुचारु रूप से चलाने से लिए उसका विशिष्ट ज्ञान होना आवश्यक है। इसलिए व्यापार में प्रवेश करने वाले लोगों को उसका विवरणात्मक अध्ययन कर लेना अति वांछनीय है।

इस अध्ययन की अनेक शाखायें है, जैसे—संगठन एवं प्रबन्ध कला, बहीखाता की जानकारी, सचिव की शिक्षा, बिक्री कला, विज्ञापन कला, अधिकोषण-सम्बन्धी, बीमा, यातायात, अधिनियम आदि। समय के साथ साथ इन सभी शाखाओं में परिवर्तन होते रहते हैं, इसलिए इनका ऐतिहासिक तथा प्रावैधिक अध्ययन करना आवश्यक है। उसको सभी शाखाओं का व्यावहारिक ज्ञान तथा संगठन एवं प्रबन्ध का विशेष ज्ञान होना चाहिए। यदि कोई व्यापारी कपड़े का उत्पादन करना चाहता है तो उसके लिए आवश्यक है कि वह पहले उसके उत्पादन का पूर्ण अध्ययन कर ले। उसे जानना चाहिए कि कपास किन-किन क्षेत्रों में किस प्रकार की और कितने परिमाण में मिल सकती है और उसे मँगवाने की क्या व्यवस्था की जा सकती है जो उद्योग के लिये लाभदायक हो। मजदूरों की समस्यायें तथा उनका हल किस प्रकार से किया जा सकता है, उनके प्रबन्ध तथा संचालन के सिद्धान्त क्या है तथा उनके लिए नियुक्त किये जाने वाले व्यक्तियों की क्या योग्यता होनी चाहिए, बिक्री तथा विज्ञापन की वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किस प्रकार किया जा सकता है तथा उनके कौन-कौन से उपयुक्त साधन हैं आदि। इन सब बातों का पूर्व अध्ययन करने से व्यापारिक कार्यों में आने वाली कठिनाइयाँ सुगमता से हल हो सकेगी। इसके अलावा अलग अलग शाखाओं में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए उसमें काम करने वाले व्यक्तियों को समुचित अनुकूल प्रशिक्षण दिया जाना आवश्यक है जिससे वे अपने कार्य को कुशलता के साथ सम्पन्न कर सकें तथा उसमें नवीनता भी ला सके। यद्यपि इन कार्यों में व्यक्तित्व का विशेष महत्व है किन्तु अनुभव से ज्ञात होता है कि प्रशिक्षित व्यक्ति अधिक कुशलता तथा सफलता से कार्य कर सकता है।

प्रशिक्षण की उपयोगिता अन्य देशों में विशेष रूप से अनुभव की गई है, और इस प्रयोजन से उन देशों में व्यापारियों तथा व्यापार में अभिरुचि रखने वाले व्यक्तियों के लिए अनेक प्रशिक्षणशालायें खोली गई है, जिनमें उनको पूर्ण रूप से प्रशिक्षित किया जाता है। भारतवर्ष में अभी इस ओर सक्रिय कदम नहीं उठाया गया है, फिर भी इसका प्रसार शैक्षणिक ढंग पर बढ़ता जा रहा है किन्तु उसकी सफलता अभी कोसों दूर है। अनुभव से ज्ञात होता है कि बी० कॉम० तथा एम० कॉम० पास करके भी विद्यार्थी यथार्थ व्यापारिक क्षेत्र में असफल ही रहते है। इसका प्रधान कारण यह है कि जो कुछ वे कक्षाओं में पढ़ते हैं उनको कार्यान्वित करने के लिए उनके पास क्षेत्र नहीं रहता।

इसलिए उनका किताबी ज्ञान व्यावहारिक ज्ञान के रूप में नहीं जम पाता और उनको असफलता का सामना करना पड़ता है। इसलिए जब तक विद्यालयों में किताबी ज्ञान के *साथ-साथ व्यावहारिक ज्ञान की व्यवस्था नहीं होती तब तक वाणिज्यशास्त्र का* अध्ययन कोरा अध्ययन-मात्र ही है। ये दोनों प्रकार के ज्ञान दाहिने-बायें पैरों के समान हैं जिनके द्वारा मार्ग पर सुविधा के साथ बढ़ा जा सकता है।

व्यापार संगठन में ध्यान देने योग्य बातें
(Noticeable points in Business Organisation)

किसी भी व्यापारी को व्यापार में सफलता के लिए उसकी सम्भावित त्रुटियों को नोट करके निम्नलिखित बातों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। सर एडवर्ड वैन्योंल ने निम्नलिखित बातों पर विशेष बल दिया है—

(१) अपने मस्तिष्क में कभी भी यह विचार नहीं होना चाहिए कि कोई भी कार्य अस्तव्यस्त रूप से किया जा सकता है। जो भी कार्य हमसे हुआ है वह हमारे पक्ष या विपक्ष में अवश्य पड़ेगा। इसलिए प्रत्येक कार्य को व्यवस्थित रूप में करना अनिवार्य है।

(२) पूँजी उतनी महत्वपूर्ण नहीं जितनी कठिन परिश्रम से कमाई हुई साख है, क्योंकि वह हमेशा साथ रहती है और उसकी क्षति होने का प्रश्न नहीं उठता, इस लिए उसको प्राप्त करने तथा बनाये रखने का प्रयत्न बराबर किया जाना चाहिये।

(३) व्यापार में सोचने की शक्ति बढ़ाना बहुत आवश्यक है। "मस्तिष्क का *व्यायाम करना भी उतना ही आवश्यक है जितना अवयवों का।" मस्तिष्क में* पूरा-पूरा काम लिया जाना चाहिये और इसलिये, शिक्षा का सबसे प्रमुख ध्येय विचार शक्ति को प्रौढ़ बनाना होना है।

(४) किसी भी विचारक को कल्पनाशील होना आवश्यक है किन्तु *उसकी कल्पना इस प्रकार की होनी चाहिए कि कार्य रूप में लाई जा सके।* "स्वप्न देखना एक अच्छी बात है किन्तु काम करना उसकी अपेक्षा कहीं अच्छा है।" मनुष्य ख्याति (नेकनामी) अपने कार्य के आधार पर कमाता है, न कि इस पर कि वह क्या करने वाला है। इसलिए कल्पना के साथ-साथ प्रयत्न किया जाना आवश्यक है।

(५) यद्यपि हमको प्रत्येक समय कार्य करने के लिए तैयार रहना चाहिए किन्तु अवसर की प्रतीक्षा करने की क्षमता का होना भी आवश्यक है। सफलताओं तथा असफलताओं में मनुष्य को अपनी विवेक शक्ति नहीं खोनी चाहिए। इसलिए *अपनी गति हमेशा नियमित रहनी चाहिए, यह सफलता की सबसे बड़ी कुंजी है।*

(६) विचारों में तीव्रता का होना आवश्यक है किन्तु उसमें उतावलापन नहीं होना चाहिए। किसी भी कार्य में सबसे मूल्यवान वस्तु उसके प्रति निर्णय करना है। जब कठिनाइयाँ आती हों उस समय आशावादी होना चाहिए किन्तु सफलताओं के

समय असफलताओं को कभी नहीं भूलना चाहिए। व्यापार में यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

(७) मनुष्य को निरन्तर कार्य में लगा रहना चाहिये किन्तु मशीन की भांति नहीं। काम करते समय भावुकता को स्थान नहीं है। व्यापार में निश्चित किये गये आदर्श ही हमारी सच्ची व सार्थक सम्पत्ति है, उन पर हमेशा स्थिर रहना चाहिये, इसके लिए आत्म विश्वास बनाये रखना चाहिए।

(८) जन साधारण के कार्यों में दिलचस्पी रखना आवश्यक है किन्तु उनके द्वारा में हमेशा सावधान रहना चाहिए। कोई भी कार्य करने के पूर्व उसका पूर्ण रूप से अध्ययन तथा चिन्तन किया जाना आवश्यक है।

(६) अपने साथियों से विश्वासपूर्वक मिलना चाहिए। उदासीनता तथा अविश्वास से लोगों में अशान्ति पैदा होती है और विश्वास से ख्याति मिलती है। सहकारिता तथा विश्वास की भावनायें व्यावहारिक जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण सम्पत्ति है।

(१०) प्रत्येक व्यक्ति को अपना उत्तरदायित्व समझना चाहिए। क्योंकि अन्य किसी भी मूल्यवान वस्तु के समान उत्तरदायित्व की भावना भी मूल्यवान है। उत्तरदायित्व की भावना को समझने वाला व्यक्ति हमेशा सफलता प्राप्त करता है।

व्यापार प्रारम्भ करने के पूर्व विचारणीय बातें

(Prior Considerations in Business Establishment)

मनुष्य की आवश्यकताओं के अनुसार व्यापारिक क्षेत्र भी बढ़ता जाता है और साथ ही व्यापार के नये-नये ढंग सामने आते हैं। व्यापारी को देश, काल तथा परिस्थितियों के अनुसार व्यापार करना चाहिए। नये व्यापार को प्रारम्भ करने के लिए सबसे पहले व्यापारी को नीचे लिखी बातों को ध्यान में रखना चाहिए,—

(१) **विचार तथा योजना** (Idea and Plan)—व्यापार को प्रारम्भ करने के पूर्व किसी भी व्यक्ति के सामने अनेक प्रकार के व्यापार आते हैं और वह आसानी से निश्चय नहीं कर सकता कि कौन व्यापार या व्यवसाय प्रारम्भ किया जाय और कौन उसके व्यक्तित्व के अनुसार है। यद्यपि व्यापार के अनुकूल रुचि पैदा की जा सकती है किन्तु स्वाभाविक रुचि से वह श्रेष्ठ नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए जो व्यक्ति उत्पादन के कार्य में निपुण है, आवश्यक नहीं कि वह बिक्री कला में भी निपुण हो। इसलिए सबसे पहला कार्य यह होना चाहिए कि वह कार्य को अपनी रुचि के अनुसार ही चुने। रुचि के साथ उसके व्यापार का भविष्य, उसके प्रारम्भ करने की परिस्थितियाँ तथा साधनों का ध्यान रखना भी आवश्यक है।

व्यापार या व्यवसाय का चुनाव कर लेने के पश्चात् सबसे पहला कार्य योजना बनाने का होना चाहिए। योजना बनाने में उस व्यापार से सम्बन्धित आँकड़े, वृत्त,

ऐतिहासिक प्रगति आदि की जानकारी कर लेना आवश्यक है। इस सामग्री के साथ व्यापार की सामाजिक स्थिति तथा अपनी आर्थिक स्थिति को दृष्टि में रखते हुए उसकी पूर्ण विवेचना कर नवीन योजना बनाई जानी चाहिये। योजना को बनाने में अनुभवी विशेषज्ञों की सलाह लेना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि अपने निजी ज्ञान पर आवश्यकता से अधिक विश्वास कर लेना हानिकारक सिद्ध होता है। व्यापारी को कभी भी दूसरों से सलाह लेने में संकोच नहीं करना चाहिये।

जब योजना बनाई जा रही हो उस समय अविश्वासी आलोचक के समान उसकी पूर्ण आलोचना की जानी चाहिये और उसमें सम्भवतया जितनी भी बुराइयाँ हों उनको निकाल कर दूर किया जाना चाहिये। यदि योजना की कोई कटु आलोचना करता है, तो न तो उस पर क्रोध किया जाना चाहिये और न उदासीन ही होना चाहिये, अपितु उनके तथ्यों की सहायता से योजना में यथेष्ट सुधार किया जाना चाहिये। जब योजना को पूर्ण रूप से तैयार किया गया हो और उसको कार्यान्वित का अवसर आए तो उसका पालन इस प्रकार से किया जाना चाहिये, जिस प्रकार सिपाही सेनानायक की आज्ञाओं का पालन करता है।

(२) **पूँजी की योजना** (Planning of Capital)—किसी भी योजना को सफल बनाने के लिये पूँजी की सबसे अधिक आवश्यकता होती है, क्योंकि हर प्रकार की सुविधा होने पर भी यदि पर्याप्त पूँजी नहीं हो तो व्यापार चलना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इसलिये व्यापारी को व्यापार चलाने के पूर्व पूँजी का समुचित अनुमान लगा लेना चाहिये और उसकी उचित व्यवस्था करने का प्रबन्ध पहिले ही कर लेना चाहिये।

पूँजी अपने पास से, सम्बन्धियों से, ऋण लेकर अथवा जनता या कभी-कभी सरकार से भी प्राप्त की जा सकती है। बाहर से लिया जाने वाला धन शुद्ध ऋण के रूप में अथवा अंशों (Shares), ऋणपत्रों (Debentures) या प्रतिभूतियों (Securities) के निर्गमन के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जो लोग अंश खरीदते हैं उनका व्यापार पर स्वामित्व तथा लाभांश पर आनुपातिक अधिकार रहता है तथा व्यापार के प्रबन्ध में अपना प्रतिनिधित्व कराने का हक रखते हैं। किन्तु ऋणपत्रों के क्रेताओं को साहूकारों के रूप में केवल कुछ विशेषाधिकार ही प्राप्त होते हैं और उनको निर्धारित ब्याज प्राप्त करने का ही हक होता है। इन लोगों के अलावा सामयिक पूँजी अधिकोषों, विनिमय बाजारों, सरकार अथवा वित्त वितरण संस्थाओं से भी प्राप्त किया जा सकता है। पूँजी चाहे किसी प्रकार की हो किन्तु व्यापारी को यह मानकर चलना चाहिये कि सारी पूँजी व्यापार पर एक ऋण है और उसको सूद सहित चुकाना पड़ेगा अन्तर इतना ही है कि यह साधारण ऋण न होकर स्थाई धन के रूप में होता है।

व्यापारी को इन सब की पूर्ण योजना बनाकर सबसे प्रथम उनको प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये और उसके ही आधार पर व्यापार का आकार निर्धारित करना चाहिये।

(३) स्थान तथा उसका चुनाव (Site and its Selection)—व्यापार चाहे किसी प्रकार का हो उसके लिये उपयुक्त स्थान होना आवश्यक है। स्थान व्यापार अथवा व्यवसाय के अनुरूप चुना जाना चाहिये। स्थान का चुनाव करने में व्यापारी को निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी चाहिये—यातायात की सुविधा, श्रमिकों को प्राप्त करने की सुविधा, कच्चे माल की निकटता, आवश्यक ईंधन की सुविधा तथा समीपता, खपत के लिये उपयुक्त बाजार की निकटता, वहां के उपभोक्ताओं की रुचि आदि। इसके लिये उसको यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि उस वस्तु की माँग स्थानीय, देशीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय है. यदि माँग स्थानीय हो तो जहाँ पर वस्तु का विक्रय केन्द्र है वहीं स्थान चुना जाना चाहिये। यदि थोक व्यापार हो तो उसके लिये विज्ञापन आदि की स्थिति को ध्यान में रखकर स्थान खोजना चाहिये। उसी प्रकार उद्योग के लिये कच्चे माल की प्राप्ति, श्रम तथा यातायात की सुविधा आदि को ध्यान में रखकर स्थान चुना जाना चाहिये।

स्थान ढूंढने में व्यापार का पूर्व प्रारम्भ तथा प्रतिद्वन्द्विता को ध्यान में रखना भी आवश्यक है। जो व्यक्ति पहले किसी व्यापार या व्यवसाय को प्रारम्भ करता है उसको प्रारम्भ में भले ही कठिनाई हो किन्तु धीरे-धीरे वह अपनी साख जमाने में सरलता का अनुभव करता है और उसका बाजार स्थायी बन जाता है। जो लोग बाद को आते हैं उनको पहले से ही प्रतिद्वन्द्विता का सामना करना पड़ता है। यदि किसी स्थान पर पहले से ही बहुत अधिक प्रतिद्वन्द्वी हों तथा उनका व्यापार स्थायित्व प्राप्त कर चुका हो तो व्यापारी को अपने कार्य का स्थापन करने से पूर्व यह देख लेना चाहिये कि वह वहाँ पर किस प्रकार तथा कितना व्यापार कर सकेगा, अर्थात् उसके व्यापार का अनुमानित क्षेत्र कितना हो सकता है तथा उस बाजार में उसका कौन सा स्थान रहेगा? जिस स्थान पर पहले से ही कोई व्यापार चल रहा हो वहाँ पर उसका प्रचार करने में किसी प्रकार की असुविधा नहीं होती, क्योंकि लोगों को पहले से ही उसका पूरा ज्ञान रहता है। इसलिये यदि वह चतुर है और व्यापार अथवा अपनी व्यवसाय कला में प्रवीण है तो उसको अपना कार्य जमाने में किसी प्रकार की असुविधा नहीं होगी और हो सकता है कि वह बहुत जल्दी उन सारे ग्राहकों को अपना बना ले जो किसी कारणवश पहले व्यापारियों से असन्तुष्ट हैं।

(४) विज्ञापन व्यवस्था (Management of Advertisement)—स्थान का निश्चय करके व्यापारी को उसमें अपना कारोबार जमाने के साथ-साथ योजनाबद्ध विज्ञापन प्रारम्भ कर देना चाहिये। कारोबार के लिये निजी अथवा किराये का

मकान हो सकता है। व्यापारी को, वह उस स्थान पर किस प्रकार कारोबार करना चाहता है, उसकी सेवाओं का उपयोग किस प्रकार किया जा सकेगा, उसके माल में क्या विशेषता होगी आदि का विज्ञापन तथा प्रचार सतर्कतापूर्वक पहले ही प्रारम्भ कर देना चाहिये। उसको अपने कार्य के अनुसार विज्ञापन के साधन चुनने होंगे तथा आर्थिक स्थिति का ध्यान रखकर उसका प्रयोग करना होगा।

विज्ञापन व्यापारी के कार्य, उसकी आर्थिक स्थिति, स्थान या समाज आदि के ऊपर निर्भर करता है। यदि व्यापार बड़े पैमाने पर किया जा रहा है और उसकी प्रसिद्धि के लिये यथेष्ट धन रखा जा सकता है तो व्यापारी को उसके लिये एक अलग ही कार्यालय अथवा विभाग की स्थापना करनी होगी, जिसमें विशेषज्ञों के नेतृत्व में विज्ञापन कार्य सम्पन्न किया जा सकेगा। व्यापारी को विज्ञापन के समस्त साधनों का अध्ययन करके अपने उपयुक्त साधनों को अपनाना चाहिये। विज्ञापन करने के लिये उसको वस्तु के गुण तथा प्रकृति, व्यक्तियों के स्तर, विज्ञापन क्षेत्र तथा सीमा का ध्यान रखते हुए उपयुक्त विज्ञापन को अपनाना चाहिये। व्यापारी को सदैव ध्यान रखना चाहिये कि विज्ञापन आधुनिक युग का प्राण है और बिना उसका उचित प्रयोग किये प्रतिस्पर्धा के युग में प्रगति करना कल्पनातीत है। इसलिये उसके सुन्दर तथा सम्भव साधनों का प्रयोग करना व्यापारी के लिये अनिवार्य है।

(५) माल (Goods)---व्यापारी तथा उत्पादक को वस्तु का सग्रह अथवा उत्पादन समय, समाज तथा रीति-रिवाजों के अनुसार करना चाहिये। जिस माल का सग्रह किया जाय वह पूँजी तथा माँग के अनुसार होना चाहिये। अधिक पूँजी *वाला व्यक्ति अधिक माल खरीद सकता है, किन्तु माल खरीदते समय उससे* उसकी माँग में अन्तर लाने वाली बातों का पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ेगा। यदि माल माँग के विरुद्ध या उससे अधिक खरीदा जायगा तो उसकी यथोचित बिक्री न हो सकेगी और इस प्रकार माल तथा पूँजी दोनों ही रुक जायेंगे और व्यापार बढ़ाने में व्यापारी को बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। माल के खरीदने में भी उसको ध्यान रखना चाहिये कि कौनसी वस्तु किस स्थान में सुविधा तथा अच्छे मूल्यों पर मिल सकती है। इसके साथ-साथ उसको माल खरीदने में इस बात को भी सोचना होगा कि कौन विक्रेता माल उपयुक्त समय में तथा विश्वास के साथ दे सकता है तथा किस प्रकार की भुगतान सम्बन्धी सुविधायें दे सकता है। जिस व्यापारी अथवा उत्पादक से हर प्रकार की सुविधा मिल सके उससे ही माल खरीदना चाहिये। माल को खरीदने में उसके मूल्य तथा अन्य सुविधाओं को देखते हुए उसके गुणों की ओर भी ध्यान देना अनिवार्य है। अच्छी वस्तु पर यदि कुछ अधिक धन भी लग जाय तो लोग उसकी चिन्ता नहीं करते।

उत्पादक को भी इस प्रकार उसी माल का उत्पादन करना चाहिए जिसके

लिये उनको हर सामग्री (कच्चा माल, श्रमिक आदि) सुविधा तथा उचित मूल्यों पर मिल सके तथा उनके उत्पादित माल के लिये पर्याप्त माग हो, ताकि उसकी खपत भी की जा सके।

इसी प्रकार माल की बिक्री मे भी व्यापारी को ध्यान रखना चाहिए कि माल के लिये अधिक से अधिक माँग हो सके। मांग बढाने के लिये माल के गुण, मूल्य तथा उपलब्धता की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। मूल्य के निर्धारण मे कम लाभ पर अधिक माल बेचन की भावना होनी चाहिए। इनसे वह हर स्थान पर हर प्रकार के व्यक्तियों के लिए उपलब्ध हो सकेगा और उनसे कुछ लाभ बढेगा।

(६) प्रबन्ध (Management)—व्यापार मे पर्याप्त पूंजी, उपयुक्त स्थान, पर्याप्त माल तथा नवीनतम विज्ञापन होने पर भी व्यापारी तब तक विशेष सफलता प्राप्त नही कर सकता जब तक उसके व्यापार का प्रबन्ध अच्छा न हो। प्रबन्ध दो प्रकार का होता है—(१) आन्तरिक तथा (२) बाह्य। आन्तरिक प्रबन्ध का अभिप्राय व्यापारिक कार्यालय का समुचित प्रबन्ध करना है जिससे व्यापार के प्रत्येक अंग पर पूरा पूरा नियंत्रण रखा जा सके और कार्य स्वत, बिना किसी प्रत्यक्ष नियंत्रण के सुचारु रूप से चलता रहे। बाह्य प्रबन्ध का अर्थ माल की मांग तथा व्यापार की गति को बढाने मे है। माल के क्रय विक्रय का संगठन इस प्रकार का हो कि उसमे मितव्ययता रहे तथा उसका अधिक से अधिक प्रसार किया जा सके।

आन्तरिक प्रबन्ध के लिए व्यापारी का प्रभावशाली व्यक्तित्व, योग्यता और अनुभव व्यापार के प्रत्येक अंग पर नियंत्रण रखने के लिए आवश्यक होते हैं। उसको ध्यान मे रखना चाहिए कि अशुद्धि या अपराध करने पर दंड देने की अपेक्षा कर्मचारी को ऐसा अवसर ही नहीं दिया जाना चाहिये कि वह अपराध या अशुद्धि कर सके। अशुद्धि आदि करने तथा दंड देने की अवस्था मे कर्मचारियों का चरित्र बिगड जाता है और फिर भविष्य मे उनसे विश्वसनीय रहने की आशा नही की जा सकती। व्यापार के प्रत्येक अंग का कार्य आपसी सामजस्य के साथ चलना चाहिये जिससे काम बराबर बढता रहे और किसी एक कारण से व्यापारी को रुकना न पडे। इसी प्रकार बाह्य व्यापार मे भी समुचित प्रबन्ध की आवश्यकता है, इससे व्यापारिक प्रगति मे बाधा नही पडेगी। उसके लिये बाजारो का अध्ययन, विज्ञापन का संगठन, वस्तु की उपलब्धता, प्रतिनिधियों की गतिविधि, बाहरी व्यापारियों से व्यापारिक सम्बन्ध, अधिकोषण, बीमा, सरकारी सम्बन्धित घोषणाओं तथा विधेयकों की जानकारी, विदेशों की प्रतिद्वन्दिता आदि का ध्यान रखते हुए व्यापार का संगठन किया जाना चाहिये।

(७) सरकारी नीति (State Policy)—व्यापार को सुव्यवस्थित करने के लिये तथा उसकी प्रगति मे सम्भव बाधाओं का निवारण करने के लिये व्यापार को प्रारम्भ करने से पूर्व ही व्यापारी को सरकार की व्यापार तथा अर्थनीति का पूरा

पूरा अध्ययन कर लेना चाहिये। अपने व्यापार को ध्यान में रखते हुए उसको सरकार द्वारा दी जाने वाली सुविधा, नियन्त्रण, प्रतिबन्ध आदि का उचित अध्ययन करना चाहिये और यदि कोई सन्दिग्ध बात हो तो उसका स्पष्टीकरण कर लेना चाहिये।

कई बार सरकार की कोई नीति व्यापार की प्रगति मे बाधक होती है उसके लिए व्यापारी को आवश्यक सुझाव देने चाहिये अथवा उसका विरोध करना चाहिये विरोध आदि अत्यन्त स्वस्थ होना चाहिये, क्योंकि अस्वस्थ विरोध मे उसके व्यापार को बहुत बडी हानि हो सकती है, उसको सरकार की नवीन योजनाओं का अध्ययन करके अपने सुझाव भी भेजने चाहिये। इसके लिये प्रायः व्यापारी सघ (Trade Associations) और व्यापार वेश्म (Chamber of Commerce) विशेष रूप से कार्य करते है। अतः उसे अपने विचार इन संघों के द्वारा भी प्रस्तुत करने चाहिये। आजकल व्यापारिक सघ भी अनेक प्रकार के हो गये है इसलिये उसे अपने विचार तथा स्वार्थ के अनुकूल सघ मे ही मिलना चाहिये।

उपर्युक्त बातों को ध्यान मे रखकर यदि कोई व्यक्ति व्यापार प्रारम्भ करता है तथा उसका सचालन करता है तो उसको साधारण असुविधाओं का सामना नही करना पडेगा और व्यापार उन्नति भी कर सकेगा।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 What are the essential requisites for the service of a businessman ? Give your opinion.
2 'Service first and profit second should be the aim of a businessman.' Explain.
3 How far do you consider the theoretical training as necessary and sufficient for success in a practical business career ? What points should a businessman keep in his mind in organising a business ?
4 You are asked to start a new business. What points would you take into consideration in its establishment ? Give reasons.
5 'Honesty is the best policy in business.' Discuss.
6 'It has been said theoretical training is unnecessary and not sufficient for success in a practical business career.' Give your own views on this.

एकाकी व्यापार 3

(Sole Trading)

प्रस्तावना—व्यापार संगठन का सबसे प्रारम्भिक स्वरूप एकाकी व्यापार है। मनुष्य ने जब सर्वप्रथम विनिमय करना प्रारम्भ किया तो वह व्यक्तिगत आधार पर ही हुआ था और धीरे-धीरे मनुष्य ने 'प्रयोग और भूल' के आधार पर ही अपनी बढ़ती हुई जटिल आवश्यकताओं के साथ-साथ इस व्यक्तिगत स्वरूप को सामूहिक स्वरूप दिया जिसे अनेक नामों से पुकारा जाता है, किन्तु इस पर भी बढ़ती हुई जटिलताओं ने सन्तोष नहीं किया और व्यापार का आधार परोक्ष रूप से 'सामूहिक संगठन' हुआ और उन्हें कम्पनी, निगम (Corporation), संयोग (Combinations) आदि नामों से व्यवहृत किया जाने लगा। आगे के कुछ अध्यायों में इन सब का क्रमिक विवेचन किया जायगा। इस अध्याय में हम सर्वप्रथम एकाकी व्यापार का अध्ययन करेंगे।

एकाकी व्यापार का अर्थ

(Meaning of Sole Trading)

एकाकी व्यापार व्यापार का वह स्वरूप है जिसको एक व्यक्ति प्रारम्भ करता है, चलाता है तथा जिसके लाभ और हानि उसके ही द्वारा सहन किये जाते हैं। इस प्रकार एकाकी व्यापारी वह व्यक्ति है जो अपनी जोखिम पर किसी व्यापार को चलाता है और उससे होने वाले सारे लाभ और हानि का अधिकारी होता है। इसीलिये उसको एकाकी व्यापारी (Sole Trader) व्यक्तिगत साहसी (Individual Enterpriser) व्यक्तिगत व्यवस्थापक (Sole Organiser) आदि नाम दिये जाते हैं। श्री चार्ल्स डब्ल्यू० गर्स्टनबर्ग के अनुसार "एकाकी व्यापार वह व्यापार है जो एक व्यक्ति द्वारा ही प्रारम्भ किया जाता है तथा वही व्यक्ति उसका संचालन कर उसके लाभ-हानि का पूर्ण उत्तरदायी होता है।"

उपर्युक्त पारिभाषिक विवेचन से हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि एकाकी व्यापार में पूँजी उसी व्यक्ति को लगानी पड़ती है जो व्यापार प्रारम्भ करता है। उसके संगठन तथा प्रबन्ध का पूर्ण दायित्व उसी पर होता है। उन सेवाओं के प्रतिफल में व्यापार में जो कुछ लाभ होता है उसका अधिकारी भी वह स्वयं ही है। इसके विपरीत उसकी व्यापारिक त्रुटियों के कारण यदि व्यापार में किसी प्रकार का घाटा हो जाय तो समस्त घाटे के लिये वह पूर्ण रूप से (अन्तिम सीमा तक) उत्तरदायी

प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार के ऋण देने वालों का व्यापार की हानि लाभ पर किसी प्रकार का अधिकार नहीं होता और उनको हर अवस्था में एक निश्चित दर पर ब्याज दिया जाता है। इस प्रकार व्यापार में लगी हुई समस्त पूंजी पर प्रायः उसके एकाकी संस्थापक का ही अधिकार होता है।

(३) अपरिमित उत्तरदायित्व (Unlimited Liability)—अपने व्यापार में होने वाली समस्त क्रियाओं के लिये व्यापारी व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होता है। व्यापार में होने वाले समस्त लाभ का अधिकारी होने के साथ-साथ वह उसमें हुई समस्त हानि का भी असीमित सीमा तक उत्तरदायी होता है। साहूकार अपने दिये गये ऋण की वसूली में उसकी व्यापारिक सम्पत्ति के साथ साथ उसकी निजी सम्पत्ति को भी कुड़क कर सकते हैं। अन्य सभी पक्षों के लिये उसका उत्तरदायित्व असीमित होता है।

(४) व्यवसाय की स्वतन्त्रता (Freedom of Occupation)—एकाकी व्यापार में व्यापारी अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी व्यापार को कर सकता है। उसको व्यापार करने के लिये किसी अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं है और न उसको वैधानिक शिष्टाचारों का अनुसरण करना पड़ता है। उसको कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छाओं से बाध्य नहीं कर सकता। किन्तु उसकी स्वतन्त्रता उन व्यापारों को करने की नहीं होती जिन पर सरकार का नियन्त्रण है अथवा जिनको प्रारम्भ करने के पूर्व सरकार की अनुमति लेना आवश्यक हो, क्योंकि विपरीत दशा में उसका कार्य गैरकानूनी माना जायगा। इस प्रकार एकाकी व्यापारी वैधानिक रूप से प्रतिबन्धित व्यापार एवं व्यवसायों के अतिरिक्त सभी प्रकार के व्यापार एवं व्यवसायों को करने में स्वतन्त्र है।

(५) प्रारम्भ तथा अन्त करने की छूट (Easy to Start and Dissolve) —एकाकी व्यापार को प्रारम्भ तथा अन्त करने में संयुक्त पूंजी वाली कम्पनियों के समान किसी भी प्रकार के शिष्टाचारों को निभाने की आवश्यकता नहीं होती, व्यापार को बन्द करने की अवस्था में उसे साहूकारों के साथ समझौता करना आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो उसकी सम्पत्ति से ऋण अदालत द्वारा वसूल किया जा सकता है।

(६) एकाकी प्रबन्ध (Sole Management)—एकाकी व्यापार की प्रबन्ध व्यवस्था में किसी प्रकार के पूर्व निश्चित नियमों तथा उपनियमों का अनुशीलन करना आवश्यक नहीं है। उसका प्रबन्ध किसी निर्वाचित अथवा मनोनीत समिति के द्वारा न किया जाकर अन्तिम रूप से उसके एकाकी स्वामी के ही अधीन रहता है और वह समय के अनुसार अपने प्रबन्ध तथा अन्य व्यापारिक पद्धतियों में हेर-फेर कर सकता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रबन्ध-सम्बन्धी नियमों को लेने

मे इसमे किसी प्रकार की देर नही लगती। एकाकी व्यापारी व्यापारिक निर्णय लेने मे स्वतन्त्र होना है।

(७) **कार्य-क्षेत्र की निर्धारित सीमा (Limited Field for Work)**—बड़ी संस्थाओं के समान एकाकी व्यापार का कार्य-क्षेत्र व्यापारी की स्वय की सीमाओं के कारण प्रायः सीमित रहता है। क्योंकि बडे क्षेत्र मे उसे व्यवस्था करने को कठिनाई का सामना करना पडता है, किन्तु यह हर स्थिति मे आवश्यक नहीं है। लम्ब-प्रबन्ध व्यवस्था (Line Organisation System) के अन्तर्गत बहुत बडे क्षेत्र में भी एकाकी व्यापारी व्यापार करने मे समर्थ हो सकता है।

(८) **एकाकी स्वामित्व (Sole Proprietorship)**—एकाकी व्यापार पर एक ही व्यक्ति का अधिकार होता है और उसके समस्त अंगों के लिये वह स्वयं उत्तरदायी होता है। व्यापार को प्रारम्भ करने पर उसको पूंजी तथा सम्पत्ति की व्यवस्था करनी पडती है और अन्त होने पर उस सबका अधिकारी वह स्वयं होता है।

एकाकी नियंत्रण
(One Man's Control)

यदि कोई व्यक्ति, विद्वान्, अनुभवी, योग्य तथा प्रभावशाली हो तो उसके द्वारा जो भी व्यापार या व्यवसाय नियन्त्रित किया जाय, उसमे सफलता मिलना निश्चित है, क्योंकि उसको अपने कार्य के लिये किसी की ओर ताकने की आवश्यकता नही होती। वह समय और स्थिति को देखकर अपने नियन्त्रण मे अनुकूल परिवर्तन कर सकता है। जिस व्यापार मे अनेक व्यक्तियों का हाथ होता है उसके प्रबन्ध मे शिथिलता तथा अनियमितता का आना कठिन नही होता। इसका कारण यह है कि उसमे अलग अलग लोग अलग-अलग राय देने वाले होते हैं और समय पर कोई निर्णय नही किया जा सकता। उसमे शिष्टाचारों की ओर अधिक ध्यान दिये जाने के कारण विलम्ब होने का भय रहता है।

यदि प्रबन्ध तथा नियन्त्रण मे एक ही व्यक्ति का हाथ होता है तो उसकी समस्त योजनायें गुप्त रखी जा सकती है और प्रतिद्वन्द्वी व्यापार की योजनाओं को जानकारी प्राप्त करके लाभ नही उठा सकते।

प्रबन्ध मे निजी सम्पर्क रहने के कारण वह अपने कार्यकर्ताओं की कठिनाइयों तथा असुविधाओं को भली प्रकार समझ सकता है और साथ ही अशुद्धियों की जानकारी करके उनका सुविधापूर्ण हल निकालने मे समर्थ हो सकता है। वह बाहर के लोगों तथा ग्राहकों के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित करके उनकी आवश्यकताओं के अनुसार अपनी योजनाओं मे उचित परिवर्तन कर सकता है।

प्रबन्ध के एक ही हाथ मे होने से उसकी व्यवस्था मे मितव्ययता आ जाती है क्योंकि हर प्रकार के कार्यों मे उसको व्यक्तिगत रूप से भाग लेना पड़ता है जिससे अनेक व्यक्तियों का खर्च बच जाता है।

संसार में कोई भी व्यक्ति पूर्ण नहीं है और प्रत्येक व्यक्ति की कार्यक्षमता सीमित होती है। इसलिये कोई एक व्यक्ति प्रत्येक कार्य को चतुराई तथा समान कुशलता से नहीं कर सकता। यह सही है कि वह अपनी सहायता के लिये कार्यकर्ताओं को नियुक्त कर सकता है किन्तु वेतन पर रखे गये कर्मचारी संस्था के कार्यों को उस रुचि के साथ नहीं कर सकते जिस प्रकार स्वामी करता है। इसलिये जब कार्यकर्ताओं की संख्या बढ़ जाती है तो उन पर नियन्त्रण रखने की समस्या बड़ी जटिल हो जाती है और विभिन्न अंगों में शिथिलता आ जाने से प्रबन्ध मितव्ययी नहीं रहता। मान लिया जाय कि वह व्यक्ति बहुत बड़े क्षेत्र में खेती का कार्य कर रहा है तो उसे अपनी खेती के प्रत्येक भाग पर नियन्त्रण रखना हमेशा ही कठिन रहेगा।

यदि एकाकी प्रबन्धक को किसी व्यापारिक प्रबन्ध में सफलता मिल जाय तो उसको यह कभी नहीं समझना चाहिये कि वह सब कुछ जानता है तथा उसमें सब कुछ करने की क्षमता है, क्योंकि यथार्थ रूप में उसमें बहुत सारी त्रुटियाँ होती हैं। यदि व्यापार उसके व्यक्तिगत प्रभाव से चलता है तो उसके अलग हो जाने पर व्यापार का चलना सम्भव नहीं होगा। व्यापार में शीघ्रता करने का परिणाम बुरा होता है, उसमें अधिक भूल होने की सम्भावना रहती है। इसलिये "एकाकी नियन्त्रण या अधिकार संसार में सर्वश्रेष्ठ है, यदि वह एक व्यक्ति इतना बड़ा हो कि सब कुछ को भली प्रकार सभाल सके।"

उपर्युक्त कथन एकाकी व्यापार में विशेष रूप से लागू होता है। एकाकी व्यापार की पूँजी, व्यवस्था, प्रबन्ध, सम्पर्क-सम्बन्धी कठिनाइयों का उल्लेख इसमें किया जा सकता है।

साझेदार या नौकर (Partner or Servant) ?—हम ऊपर पढ़ चुके हैं कि व्यापार के विस्तार के साथ एकाकी व्यापारी के प्रबन्ध में शिथिलता आ जाती है, इसलिये उसको अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। इसके लिये या तो वह कार्यकर्ता नियुक्त कर सकता है अथवा किसी साझेदार को रखकर कार्य कर सकता है। इससे पूर्व कि किसी निर्णय पर पहुँचा जाय, हमको साझेदार द्वारा प्राप्त होने वाले लाभ तथा कार्यकर्ता की नियुक्ति से प्राप्त किये जाने वाली सेवाओं का विवेचन कर लेना चाहिये। इनकी विवेचनात्मक तुलना निम्न प्रकार है—

व्यापार संगठन के सफलतापूर्वक सचालन के लिये उसमें सचालक के आदेशों का पूर्ण पालन किया जाना चाहिये। जो व्यक्ति संस्था के नियुक्त कार्यकर्ता होते हैं, उनका सचालक की आज्ञाओं का पालन करना स्वाभाविक होता है, किन्तु साझेदार का अस्तित्व संचालक के समान होने के कारण उसको आदेश देना सम्भव नहीं होता। इसलिये साझेदार के रखने पर आदेशों के पालन करवाने में कठिनाई उठानी पड़ती है।

जहाँ तक स्वतन्त्र निर्णय का प्रश्न रहता है वह भी साझेदार की नियुक्ति

करने के साथ समाप्त हो जाता है, क्योंकि उसको हस्तक्षेप करने का अधिकार होता है तथा उसके विचारों को मान्यता देना आवश्यक होता है। किन्तु व्यापार में कार्य कर्ता की नियुक्ति करने में वह स्वतंत्रता हमेशा बनी रहती है, क्योंकि वह अपनी राय तो दे सकता है किन्तु उसको मनवाने के लिये बाध्य नहीं कर सकता। इसके विपरीत साझेदार अपनी राय को मनवा सकता है जिससे तात्कालिक निर्णयों को देने में बड़ी भारी अड़चन पड़ जाती है और व्यापारी लाभप्रद परिवर्तनों से वंचित रह जाता है। साझेदार का व्यापारिक कार्यों में विशेषज्ञ होना आवश्यक नहीं है, किन्तु वेतन पर अच्छे विशेषज्ञों की नियुक्ति की जा सकती है। इससे व्यापार को प्राविधिक योग निरन्तर मिलता रहता है।

मानव-प्रकृति के अनुसार सबका निजी वस्तु से विशेष मोह रहता है, इसलिए साझेदार की अपेक्षा नौकर कभी भी विशेष चाव नहीं रख सकता और न पूर्ण रुचि से कार्य ही करता है, क्योंकि वह जानता है कि उसके अधिक या कम परिश्रम करने से जो कुछ लाभ या हानि होगी उसका उस पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ सकता, अर्थात् उसके निश्चित वेतन में कमी या अधिकता की सम्भावना नहीं है। इसलिये वह उतना ही कार्य करता है जितना उसके सुपुर्द किया जाता है। वह अपना कार्य निश्चित समय तक करता है तथा उसके अनुरूप व्यापार के लिए सोचता है। बाद में उसको व्यापार के विषय में सोचने की आवश्यकता नहीं है; किन्तु साझेदार को अपने व्यापार के प्रति निरन्तर सोचना आवश्यक होता है, क्योंकि लाभ होने की अवस्था में वह कमायेगा तथा हानि की अवस्था में उसको खोना पड़ेगा। साझेदार का व्यापार में आने का अभिप्राय ही उसके लाभ और हानि में हिस्सा लेना होता है और उसमें उसका धन लगाने का उद्देश्य भी यही है। इस प्रकार दूसरे शब्दों में उसका व्यापार में व्यक्तिगत स्वार्थ होता है, किन्तु नौकर का स्वार्थ उसके वेतन तक ही सीमित रहता है। वह जानता है कि उसको एक निश्चित धन-राशि वेतन के रूप में मिलेगी। उसको कार्य में उसी अनुपात से कुशलता लाने की इच्छा रहती है जितने से उसकी सेवायें व्यापार के लिये अनिवार्य बनी रहें। इसके विपरीत साझेदार जानता है कि यदि वह व्यापार में पूर्ण रुचि से कार्य नहीं करेगा तो हानि होने की दशा में उसकी लगी हुई पूँजी के साथ-साथ उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति पर भी आक्षेप आ सकता है, क्योंकि साझेदारी में उत्तरदायित्व असीमित ही रहता है। इस कारण उसका स्वार्थ नौकर की अपेक्षा अधिक होता है।

जहाँ तक उत्तरदायित्व का प्रश्न है, कार्यकर्ता अपने निर्धारित कार्य तक ही सीमित रहता है और उसके लिये एक निश्चित सीमा तक अपने स्वामी के लिये वह उत्तरदायी रहता है, जब कि साझेदार न केवल सारे व्यापार के लिये एक दूसरे के प्रति उत्तरदायी रहते हैं, अपितु समस्त बाह्य साहूकारों तथा ग्राहकों के लिये भी

उत्तरदायी होते है। साझेदार का उत्तरदायित्व सामूहिक (Joint) तथा व्यक्तिगत (Several) दोनों ही रूपों मे रहता है।

जैसे-जैसे व्यापार बढ़ता है, व्यापारी को अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। उसको वह ऋण के द्वारा अथवा साझेदार से ही प्राप्त कर सकता है। ऋण वाली पूँजी पर एक निश्चित ब्याज प्रत्येक स्थिति मे देना अनिवार्य है किन्तु साझेदार की लगाई गई पूँजी पर केवल लाभ ही दिया जाता है और हानि की दशा मे उसको भी नुकसान सहन करना पड़ता है। संस्था के कार्यकर्ता से यदि पूँजी ली जाती है तो उसको निश्चित रूप मे ऋण माना जायगा। यदि उसको साझेदारी के रूप मे नहीं रखा जाता है तो मनोवैज्ञानिक रूप से वह स्वामी की उपेक्षा करने लगेगा तथा उसके आदेशों का भी भली प्रकार से पालन नहीं करेगा। इससे व्यापार मे नौकर रखने का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है।

जहाँ तक अतिरिक्त व्यय का प्रश्न है, कर्मचारी की नियुक्ति करने के पश्चात् वह निश्चित रूप से बढ़ जाता है और लाभ होने या न होने की दशा में भी देना पड़ता है। इसके विपरीत साझेदार अपने व्यय में व्यापार के लाभानुसार घटा बढ़ी करता रहता है और इससे व्यापार की विषम परिस्थितियों में उस पर अधिक बोझ नहीं पड़ता।

एक बार जब किसी साझेदार को दिया जाता है तो विचारों मे अन्तर होने पर उसको बड़ी कठिनाई के साथ हटाया जा सकता है। जब साझेदार हटाता है तो वैधानिक रूप से व्यापार का अन्त हो जाता है, किन्तु कर्मचारी को, विचारों का अन्तर होने अथवा उसके अनुचित व्यवहार के कारण किसी भी समय उचित सूचना (नोटिस) अथवा कार्यवाही करने पर हटाया जा सकता है और उसका व्यापार के अस्तित्व पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता।

उपर्युक्त वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि व्यापार के बढ़ जाने की अवस्था मे नौकर की अपेक्षा साझेदार को रखना ही उपयुक्त है। किन्तु साझेदार के प्रवेश करते ही एकाकी व्यापार का स्वरूप समाप्त होकर वह साझेदारी हो जाती है। इसलिये जिस स्थिति मे व्यापार का एकाकी स्वरूप बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक न हो, वहाँ पर साझेदार की नियुक्ति ही लाभदायक सिद्ध होगी।

कृषक तथा एकाकी उत्पादक की समस्याओं में एकरूपता
(Similarity in the Problems of a Farmer and Sole Manufacturer)

आधुनिक युग मे किसान का कार्य भी बहुत बड़ी सीमा तक एकाकी व्यापार के ही स्वरूप मे गिना जाता है। एकाकी उत्पादक तथा किसान के उत्पादन संगठन को प्रायः एक ही प्रकार की समस्याये है। किसान अपनी खेती के लिये पूँजी, परिश्रम, औजार तथा साधन स्वयं जुटाता है और उसके उत्पादन का समस्त उत्तरदायित्व

उपर्युक्त अध्ययन से हम दोनों प्रकार की जोखिम लेने वाले व्यक्तियों में निम्नलिखित समानतायें स्थापित कर सकते हैं—

(१) दोनों में व्यक्ति विशेष के कौशल का महत्व है। उनको अपने कार्य में दक्ष होना आवश्यक है। उसका महत्व उनके जीवन काल तक चलना है। खेती में थोडा भेद अवश्य है, क्योंकि उसका जीवन तथा कार्य स्थायी है।

(२) उनकी पूंजी सीमित होती है। थोडा सा धन लगाने पर भी वे अपने व्यवसाय को प्रारम्भ कर सकते हैं।

(३) उनकी वस्तुओं का बाजार प्रायः सीमित होता है और कभी-कभी उत्पादन का उपभोग भी कुछ ही व्यक्तियों तक सीमित रहता है।

(४) अपने व्यापार के संचालन के लिये उनको व्यक्तिगत रूप से ध्यान देना आवश्यक होता है। कभी-कभी तो वह व्यक्तिगत रूप से ही सम्भव हो सकता है।

(५) उनका व्यापार अत्यन्त लोचपूर्ण होता है और उसको बिना किसी कठिनाई के घटाया बढाया जा सकता है।

साधारण शब्दों में हर प्रकार के एकाकी व्यापारियों की प्रायः एक ही प्रकार की समस्यायें होती हैं और उनका हल भी एक ही प्रकार से किया जाता है। चाहे वह फुटकर व्यापार हो चाहे सेवा, उत्पादन, कृषि या अन्य किसी भी प्रकार का व्यापार हो, उन सब की समस्यायें समान ही होती हैं। हां, पद्धति-सम्बन्धी समस्यायें उनकी अलग अलग हो सकती हैं तथा उनकी व्यवस्था में भी स्वभाव के अनुसार थोडा-बहुत अन्तर आ सकता है।

एकाकी व्यापार के लाभ
(Advantages of Sole Trading)

एकाकी व्यापार से व्यापारी, समाज तथा उससे सम्बन्धित व्यक्तियों को अनेक लाभ हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है—

(१) **सुगम प्रारम्भ** (Easy Start)—इस व्यापार को प्रारम्भ करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। उसको बिना वैधानिक शिष्टाचारों के कभी भी प्रारम्भ किया जा सकता है और उसका कभी भी अन्त किया जा सकता है।

(२) **एकाधिकार** (*Sole Proprietorship*)—इसमें स्वामित्व का अधिकार एक ही व्यक्ति को प्राप्त होता है, इसलिये वह व्यापार को अपना समझ कर उसकी उन्नति के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहता है तथा उसकी कार्य करने की शक्ति बढ जाती है।

(३) **स्वतंत्रता** (Freedom)—इसमें व्यापारी को किसी कार्य को करने में किसी से अनुमति नहीं लेनी पड़ती, इसलिये वह व्यापारिक अवसरों का लाभ उठाकर

लाभप्रद व्यापार करने में सफल हो सकता है। इस गुण के कारण व्यापारिक जोखिमें भी कम हो जाती है।

(४) गोपनीयता (Secrecy)—इसमें व्यापार की प्रत्येक गतिविधि अत्यन्त गोपनीय ढंग से रखी जा सकती है। वे सारी योजनायें जिनसे व्यापार में नई प्रगति लानी हो अथवा किसी की प्रतिद्वन्द्विता का सामना करना हो, पूर्ण रूप से गुप्त रखी जा सकती हैं। किसी व्यापार में जितनी गुप्तता होगी, उतनी ही उसमें मौलिकता होगी तथा लोग ओर आकर्षित भी होंगे। यह अन्य व्यापारों में सम्भव नहीं, क्योंकि उनमें तर्क अधिक होता है।

(५) ऋण की सुविधा (Loan Facility)—इसमें व्यापारी साहूकारों से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करके ऋण लेता है। साहूकार उसकी साख तथा सम्बन्धों के अनुकूल ऋण देते हैं। ऋण को वसूल करने में भी कठिनाई नहीं होती, क्योंकि पहले तो व्यक्तिगत सम्बन्ध तथा दूसरे असीमित उत्तरदायित्व उसमें सुगमता ला देते है।

(६) मितव्ययता (Economy)—इसमें धन का दुरुपयोग नहीं होता। एकाकी व्यापारी के पूंजी के साधन सीमित होने के कारण वह उसका पूरा-पूरा उपयोग करता है, क्योंकि वह जानता है कि उसका अनुचित उपयोग करने पर भारी हानि उठानी पड़ेगी। अन्य व्यक्तियों से प्राप्त धन को भी वह चतुरता से खर्च करेगा, क्योंकि उसका भार भी उस पर ही रहता है।

(७) व्यक्तिगत सम्पर्क (Individual Contact)—इसमें व्यापारी अपने ग्राहकों से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित कर सकता है। वह उनकी मांग, इच्छाओं, मनोवृत्ति आदि को जान लेता है और उनके अनुरूप उनकी आवश्यकताओं को बिना किसी विरोध का सामना किये पूरी करने का सफल प्रयत्न करता है। इससे व्यापार की प्रगति होती है।

(८) कार्य सामंजस्यता (Harmony in Work)—इसमें कर्मचारियों के साथ भी सीधा सम्बन्ध सुविधा के साथ स्थापित किया जा सकता है। उनसे सुन्दर व्यावहारिक सम्बन्ध रख कर उनको खुश रखा जा सकता है और कार्य भी अच्छी तरह लिया जा सकता है। आपस के व्यवहार से वे एक दूसरे के विचारों को भली प्रकार समझ लेते है और उसके ही अनुकूल कार्य करते हैं।

(९) व्यापार का चुनाव (Selection of Business)—इसमें व्यापारी अपने व्यवसाय को चुनने में पूर्ण स्वतन्त्र रहता है और अन्य प्रकार के व्यापार संगठनों के समान इसमें उसको अन्य व्यक्तियों की अनुमति लेने के लिए नहीं रुकना पड़ता। वह अपनी इच्छा के अनुसार व्यापार भी बदल सकता है।

(१०) आत्म-विश्वास (Self Confidence)—इस व्यापार में चूँकि

सम्पत्ति के साथ-साथ उसकी निजी सम्पत्ति पर भी अधिकार कर सकते हैं, जिससे वह फिर बडी कठिनाई से पनप सकता है।

(६) **व्यापार का अन्त** (End of Business)—एकाकी व्यापार बहुत बडी सीमा तक व्यापारी की व्यक्तिगत योग्यता पर चलता है। इसलिये उसकी मृत्यु हो जाने पर अथवा कार्य करने में असमर्थ होने पर यह आवश्यक नही कि उसके उत्तराधिकारी भी उतनी ही योग्यता से व्यापार को चला सकें। इसलिये व्यापार प्रायः बिगड़ जाता है अथवा उसका अन्त ही हो जाता है।

सामाजिक उपयोगिता
(Social Utility)

एकाकी व्यापारी का सामाजिक महत्व निम्नांकित बातों से आंका जा सकता है—

(क) यह व्यक्तियो को कार्य प्रदान करता है, अतः बेकारी की समस्या को सुलझाता है, (ख) यह विपणन (Marketing) मे आने वाली कठिनाइयो को दूर करता है, (ग) इससे अपढ व्यक्तियों मे व्यापारिक शिक्षा का प्रचार होता है; तथा (घ) एकाकी व्यापारी के द्वारा वस्तुएँ उचित मूल्य पर प्राप्त हो जाती हैं। आधारभूत (Basic) उद्योगों को छोडकर, मध्यमवर्ग (Medium Scale) तथा गृह अथवा कुटीर उद्योगों के लिए यह प्रारूप अत्यन्त उपयुक्त है। अतः हमारी सरकार को चाहिये कि एकाकी व्यापार को प्रोत्साहन प्रदान करे और उसके सन्मुख कम-से-कम बाधायें उपस्थित करे।

क्या एकाकी व्यापार असभ्यता का अवशेष है ?
(Is Sole Trading a Relic of Barbaric Age ?)

कुछ लोग एकाकी व्यापार की आलोचना करते समय अनेक आधारो पर उसकी उपेक्षा करते है। इन आधारो मे पूँजी, प्रबन्ध, साधनो का उपयोग, व्यापारिक चेतना आदि प्रमुख है। अन्य व्यापारिक सगठनो की अपेक्षा एकाकी व्यापारी के आर्थिक स्रोतो के अत्यन्त सीमित होने के कारण वह व्यापार में उपयुक्त पूंजी नही लगा सकता और उसकी व्यापारिक गोपनीयता तथा बाहरी लोगो के अविश्वास के कारण अतिरिक्त आर्थिक योग मिलना भी कठिन होता है। जहाँ तक प्रबन्ध का प्रश्न है, वह बढते हुए व्यापार के अलग-अलग अंगो पर सुविधाजनक नियन्त्रण नही कर सकता है और सीमित पूंजी के कारण वह नवीन व्यापारिक साधनो का उपयोग करने मे भी असमर्थ रहता है। आलोचकों का कहना है कि एकाकी व्यापारी अपनी प्राचीन परम्पराओं पर ही टिके रहते है और उनको नवीन व्यापारिक पद्धतियो को अपनाने का न तो साहस ही है, और न वे उनमे विश्वास ही रखते हैं।

इस प्रकार की आलोचना भारतवर्ष के व्यापारियों के लिये बहुत बड़ी सीमा

तक उपयुक्त है। यहाँ का अधिकांश एकाकी व्यापार रूढ़िवादिता, पूँजी के अभावों, अन्वेषणात्मक कठिनाइयों आदि के कारण प्रायः उसी प्रकार से चला आता है, जिस प्रकार वह शताब्दियों पूर्व था। किन्तु इसका यह अभिप्राय कभी नहीं कि एकाकी व्यापारी को हम "जंगली युग का प्रतीक" कह कर पुकारें। विदेशों में एकाकी व्यापार का इतिहास अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वहाँ व्यापारियों ने वर्षों तक खोजकर व्यापार के गठन की नई-नई पद्धतियों को निकाल करके समय और परिस्थितियों के अनुसार बदला। भारतवर्ष में आज के एकाकी व्यापार में तथा प्राचीन व्यापार में एक भारी अन्तर है। इस परिवर्तन का कारण आधुनिक व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता, व्यापारिक जटिलता, माँग में परिवर्तन तथा वृद्धि, जीवन के दृष्टिकोण में अन्तर आदि बातें हैं जिन्होंने एकाकी व्यापार प्रणाली को नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिये विवश किया है।

एकाकी व्यापार का अपना एक पृथक क्षेत्र है। इसीलिये इसकी विशेषताओं के कारण इसका अलग अध्ययन किया जाता है। श्री टॉमस के शब्दों में 'ऐसे व्यवसाय में जहाँ बिक्री का क्षेत्र स्थानीय हो, माँग नियमित हो, कम पूँजी की आवश्यकता हो, प्रतियोगिता अधिक न हो, पारस्परिक सम्पर्क की आवश्यकता हो तथा जोखिम अधिक न हो, एकाकी व्यापार का पूर्ण साम्राज्य रहता है।" यह कथन सही है, क्योंकि कुछ अवस्थाओं में एकाकी व्यापार बहुत आवश्यक होता है और उसको अन्य व्यापारिक संगठन नहीं कर सकते। उदाहरण के लिये चित्रकला, डाक्टर का व्यवसाय, नाई का कार्य आदि व्यापार या व्यवसाय जिनमें व्यक्ति की ही विशेषता है, केवल एकाकी व्यापार में ही किये जा सकते हैं। इस प्रकार के कार्य कभी-कभी अन्य प्रकार के बड़े तथा अपरोक्ष संगठनों (Indirect Organisations) में लाभप्रद सिद्ध नहीं होते, क्योंकि इनमें व्यक्तिगत ध्यान देना पड़ता है। यही कारण है कि वर्तमान व्यापारिक जटिलता के युग में भी एकाकी व्यापार दुनिया के प्रत्येक भाग में चल रहा है और चलता रहेगा। कलात्मक तथा व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति के लिये यही व्यापार प्रणाली सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि एकाकी व्यापार असभ्यता के युग का प्रतीक न होकर आधुनिक कलात्मक प्रवृत्तियों का पोषक, सीमित बाजारों का प्राण तथा विशाल संगठनों की त्रुटियों का पूरक है।

भारतीय एकाकी व्यापार की दशा

(Condition of Indian Sole Trading)

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखकर यहाँ पर संक्षेप में भारतवर्ष के एकाकी व्यापार का विवेचन किया जायगा। हमारा देश आज भी कृषि प्रधान है और ७५ प्रतिशत जनता खेती पर निर्भर रहती है। कृषक अपनी असमर्थताओं के कारण

उसके उत्तराधिकारियों को मिल जाता है और यदि उत्तराधिकारी एक से अधिक हैं तो स्वामी द्वारा चलाया गया व्यवसाय उनके हाथ में पड़ कर 'फर्म' के नाम से पुकारा जाता है। यह फर्म पैतृक सम्पत्ति होने से साझेदारी का स्वरूप नहीं लेती। इसके नियम हिन्दू विधि से चलते हैं।

यद्यपि परिवार में सबसे बड़ा व्यक्ति ही फर्म का मुखिया होता है और उसको उस व्यवसाय को चलाने, निर्णय करने, उसके लिये सौदा करने तथा उधार लेने का अधिकार होता है और अन्य व्यक्ति उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते किन्तु उसके दायित्वों के लिये भी वही उत्तरदायी होता है। अन्य लोग संयुक्त सम्पत्ति तक ही उत्तरदायी हो सकते हैं।

दिवाला निकलने की स्थिति में सभी बालिग सदस्य दिवालिया घोषित किये जायेंगे पर नाबालिग केवल परिवार में अपने हिस्से तक ही उत्तरदायी रहेगा।

विवेचन योग्य प्रश्न

1. "Sole trading is that form of business which is started and run by one person who bears profits and losses of it" Expand the above statement and give the chief requisites of such an organisation.
2. What are the advantages and disadvantages of a single entrepreneur business? Discuss the prospects of such a form of business organisation in India.
3. "One man's control is the best control in the world if that man is big enough to manage every thing." Comment.
4. 'It is wrong to assert that the individual proprietorship is a relic of the barbaric age Do you agree to the above statement? Discuss.
5. A sole trader whose business is expanding feels the need of some assistance in his business Should he take a partner or *engage a servant? Give your arguments*
6. How far the problems of a farmer are similar to those of a small scale manufacturer? Explain
7. Why is the single proprietorship not in danger of being entirely eliminated by the large scale business establishment of this age?
8. Write a note on Joint Hindu Family business and compare it with a sole trading and partnership business

(५) व्यापार संचालन सब के द्वारा अथवा सब के लिये एक या अधिक के द्वारा होना चाहिये,

(६) आपस मे अनुबन्ध करने वाले व्यक्तियो को वैधानिक अधिकार होना चाहिये,

(७) उनके द्वारा संचालित साझेदारी का नाम होना चाहिये। वह 'फर्म' कहलायेगी,

(८) साझेदारी में सामूहिक सम्पत्ति होनी चाहिये, (यद्यपि यह परिभाषा मे स्पष्ट नही होता, फिर भी उसकी प्रारम्भिक पंक्तियों मे यह अर्थ स्पष्ट है।)

परिभाषा के अनुसार व्यक्तियों के जिस समूह में उपर्युक्त विशेषतायें होगी उसको साझेदारी कहा जायगा। किन्तु किसी भी समझौते के होने पर यह कहना बडा कठिन है कि अमुक साझेदारी है या नही। समझौता ध्वनित (Implied) या लिखित (Expressed) होता है। जब समझौता ध्वनित होता है, उस समय तब तक तो व्यापार कुशलता से चलता है जब तक व्यापारियो का आपस मे प्रेम तथा विश्वास बना रहे और वे एक दूसरे के कार्यो मे सन्तुष्ट हो, किन्तु आपस के सम्बन्धो मे थोडी सी भी मलिनता आजाने के कारण इस प्रकार के अनुबन्धो को किसी प्रकार की वैधानिक मान्यता प्राप्त नही होती और वह केवल कलह का ही साधन बनता है। लिखित अनुबन्धो मे व्यापार प्रारम्भ होने से पूर्व सारी बाते पहले ही स्पष्ट कर दी जाती है, जिससे मतभेद होने के अवसर पर कोई किसी का शोषण नही कर सकता। इसलिये हमेशा आपस के अनुबन्ध पहिले से ही लिख दिये जाने चाहिये।

साझेदारी की प्रारम्भिक जानकारी

(Basic Knowledge of Partnership)

जो व्यक्ति साझेदारी चलाना चाहते है उनको व्यापार की सम्पूर्ण जानकारी के साथ साथ साझेदारी से सम्बन्धित कानूनो की जानकारी का होना भी आवश्यक है। साझेदारी अधिनियम मे साझेदारो की संख्या निश्चित नहीं है, किन्तु भारतीय प्रमंडल अधिनियम (Indian Companies Act) मे किसी भी अधिकोषण संस्था (Bank) मे दस साझेदारो से अधिक तथा अन्य साधारण संस्थाओ मे बीस से अधिक होने पर साझेदारी को अवैधानिक माना गया है। यदि साझेदारी का अनुबन्ध भारतीय अनुबन्ध अधिनियम (Indian Contract Act) की २३वी धारा के अनुरूप नही होगा तो उसको मान्यता नही मिल सकती। साझेदारी का व्यापार राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय नियमों एवं शिष्टाचार के विरुद्ध नही होना चाहिये। साझेदारी में ऐसे देश के व्यक्ति भी साझेदार के रूप मे नहीं रखे जा सकते जो शत्रु-देश के हो, अन्यथा उसको अवैधानिक माना जायगा।

साझेदारी से यह स्वयं सिद्ध है कि यदि वे सम्मिलित होकर किसी वैधानिक

व्यापार को नही करेंगे तो वह साझेदारी नही कहलायेगी। व्यापार शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक रूप मे किया जाता है और इस प्रकार साझेदार किसी भी न्याय-संगत व्यापार को करने के लिये साझेदारी मे प्रवेश कर सकते है। उनका व्यापार किसी निश्चित व्यापार या व्यवसाय तक, या किसी निश्चित समय तक के लिए सीमित हो सकता है। साझेदारी का व्यापार इच्छित भी हो सकता है, अर्थात् व्यापारी अपनी इच्छा के अनुसार व्यापार को किसी भी समय समाप्त कर सकते है। निश्चित व्यापार मे वे लोग किसी एक प्रकार की वस्तु में व्यापार या व्यवसाय कर सकते हैं। जब साझेदारी किसी निश्चित समय के लिये होती है तो उस अवधि के समाप्त होने ही उसका स्वतः ही अन्त हो जाता है। इच्छित साझेदारी मे सब साझेदारों की इच्छा पर अथवा किसी एक साझेदार के नोटिस देने पर भी साझेदारी का अन्त हो जाता है।

साझेदारी का उद्देश्य अपने लगाये हुए धन अथवा श्रम के द्वारा लाभ कमाने का होता है। इसलिये जो कोई व्यापार परमार्थ की दृष्टि से किया जाता है, उसको साझेदारी नही कहा जा सकता। इसी प्रकार व्यापार मे कार्य करने वाले लोग, जिनको लाभांश दिया जाता है, साझेदार नहीं कहलाये जा सकते। क्योंकि न तो उनको सस्था का स्वामित्व ही प्राप्त होता है और न उनमें सयुक्त स्वार्थ ही होता है।

साझेदारी में साझेदार उसका स्वामी होने के साथ-साथ प्रतिनिधि भी होता है, अर्थात् साझेदार अपने कार्यों के द्वारा दूसरे साझेदारों को बाँध सकता है। विधान के अनुसार किसी एक साझेदार के कार्य के लिये, अन्य पक्ष मे, समस्त साझेदार व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप मे उत्तरदायी होते है। इस प्रकार साझेदारी अधिनियम (Partnership Act) अभिकर्ता अधिनियम (Agency Act) की एक प्रमुख शाखा है और उसी आधार पर साझेदारी का उत्तरदायित्व निर्भर रहता है। साथ ही प्रत्येक साझेदार नियोक्ता भी होता है। थोड़े शब्दों मे साझेदारों के बीच आपसी एजेन्सी होती है, इसलिये किसी एक साझेदार का काम भी 'फर्म का काम' माना जाता है। साझेदारी मे साझेदारों को कोई विशेष कार्य करना आवश्यक नहीं है। कोई भी साझेदार अन्य सब ही साझेदारों के लिये कार्य कर सकता है। दूसरे शब्दो मे सब साझेदार किसी एक साझेदार की ओर से अथवा एक सबकी ओर से कार्य कर सकता है।

साझेदारी मे वही व्यक्ति आ सकते है जो उसके लिये हर प्रकार से उपयुक्त हो। कोई अवयस्क, पागल, या दिवालिया किसी प्रकार के अनुबन्ध करने के योग्य नही होता। इसलिये यदि उनको साझेदारी मे लिया जाता है तो उनके द्वारा किया गया अनुबन्ध उनको ही प्रतिबन्धित नहीं कर सकेगा। इसी प्रकार यदि स्त्री साझेदार व्यापार मे आती है तो उसका दायित्व उसकी निजी सम्पत्ति तक ही सीमित रहता है। अवयस्क साझेदार का दायित्व भी अधिक से अधिक उसकी व्यापार मे लगी हुई

सम्पत्ति या पूँजी तक ही सीमित होता है। अवयस्क व्यापार में होने वाले लाभ का भागी हो सकता है, किन्तु हानि का भाग उस पर नहीं लगाया जा सकता। वयस्क होने की अवस्था में यदि छ माह के अन्दर वह साझेदारी में रहने या न रहने का नोटिस नहीं दे देता, तो उसको साझेदारी की सदस्यता स्वत: प्राप्त हो जाती है।

साझेदारी का उद्देश्य लाभ कमाने का होता है, इसलिये साझेदारों में किसी निश्चित अनुपात में लाभांश विभाजन का समझौता होता है। लाभ का आशय व्यापार में होने वाले खर्चों के बाद बचने वाली उस आय से है, जिसको साझेदारों में बाटा जा सके। प्रायः अनुबन्ध में 'लाभ-हानि का विभाजन साझेदारों में अनुपात होगा," आशय का एक वाक्य लिखा रहता है। व्यवहार में कोई साझेदार जितने लाभ का भागी होता है, उसको उतनी ही हानि भी सहन करनी पड़ती है। किन्तु कुछ अवस्थाओं में कोई साझेदार केवल 'लाभ में ही साझेदार' (Partner in Profit) भी हो सकता है। ऐसी दशा में वह हानि का भागी नहीं होता।

अन्त में जो कोई भी व्यापार साझेदारी द्वारा चलाया जाता है उसका कोई निश्चित नाम होना चाहिये (साझेदारी को विधानानुसार 'फर्म' कहा जाता है और इस प्रकार की फर्म का कोई नाम होना चाहिये)। यद्यपि फर्म (सार्थ) का व्यक्तित्व उसके साझेदारों के ही पीछे है, फिर भी साझेदारी से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति उनसे जो सम्बन्ध स्थापित करते है, वे सारे साझेदारों के नाम से ही होते है और किसी विरोध पर साझेदारों की अपेक्षा 'फर्म' पर ही दावा किया जाता है।

साझेदारी की आवश्यकता
(Need for Partnership)

साझेदारी का व्यापार प्रायः दो प्रमुख कारणों से प्रारम्भ किया जाता है। प्रथम जब एकाकी व्यापारी अपने व्यापार को बढ़ाना चाहता है अथवा उसमें अधिक पूँजी या अधिक कुशलता लाना चाहता है तो उसको अनेक कारणों से अपने व्यापार को साझेदारी में परिणत करना आवश्यक हो जाता है।* एकाकी व्यापारी योग्य हो सकता है तथा उसके अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध भी हो सकते है, किन्तु धन का अभाव होने के कारण वह व्यापार को आगे नहीं बढ़ा सकता। धन को वह ऋण द्वारा भी प्राप्त कर सकता है, किन्तु वह भी अनेक कारणों से विशेष हितकर नहीं, क्योंकि एक तो उसको ऋण पर निश्चित दर से ब्याज देना पड़ता है और दूसरे उसके क्रेता एवं विक्रेता भी उस पर अधिक विश्वास नहीं करते। इसलिये साझेदार के द्वारा लाया हुआ धन ही श्रेयस्कर होता है।

द्वितीय, जिन व्यक्तियों के पास पर्याप्त पूँजी है किन्तु योग्यता नहीं है वे

---

* विशिष्ट वर्णन अध्याय २ मे देखिये।

कुशल विशेषज्ञों तथा प्रबन्धकों की नियुक्ति कर सकते हैं। परन्तु वैतनिक कर्मचारियों से पूर्ण सहयोग प्राप्त करना कठिन होता है और जब कर्मचारी समझ लेते हैं कि व्यापारी में योग्यता नहीं है तो उनका उस पर हावी हो जाना प्रायः स्वाभाविक ही होता है। इसलिये जिस व्यक्ति को वैधानिक स्वामित्व के अधिकार प्राप्त हैं वह व्यापार में अधिक योग्यता, लगन तथा रुचि के साथ काम करता है।

कभी-कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति मिल कर किसी व्यापार को करने की इच्छा करते हैं। वे अपनी-अपनी पूँजी, योग्यता, अनुभव तथा सम्बन्धों का योग करके व्यापार को चलाना चाहते हैं। इसमें उन लोगों को एक संयुक्त शक्ति प्राप्त होती है तथा व्यापार को बढ़ाने में सुविधा हो जाती है। इस प्रकार अलग-अलग व्यक्ति अपनी-अपनी विशेषताओं के अनुसार आदर्श साझेदारी के निर्माण में योग देते हैं।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त साझेदारी में वैधानिक सुविधायें तथा साझेदारों के आपसी सम्बन्धों की अनुकूलता भी उसकी आवश्यकताओं को बढ़ा देते हैं।

आदर्श साझेदारी
(Ideal Partnership)

साझेदारी अधिनियम में साझेदारों को हर प्रकार से समान माना जाता है, किन्तु जहाँ आदर्श साझेदारी का प्रश्न उठता है वहाँ पर इस बात का होना आवश्यक नहीं माना जाता। हर व्यक्ति का समान होना सैद्धान्तिक रूप से भी समान नहीं माना जा सकता। यदि सब लोग समान योग्यता रखते हों, पूर्ण सम्पन्न हों तथा व्यापार में बराबर योग दे सकते हों, तो उनको आशातीत सफलता प्राप्त हो सकती है और उनके द्वारा विश्व का सबसे कठिन कार्य भी आसानी से किया जा सकता है। किन्तु इस प्रकार का होना प्रायः दुष्कर ही नहीं, असम्भव सा प्रतीत होता है। साधारणतया व्यावहारिक जगत में साझेदारों में प्रायः असमानता पाई जाती है, जिनमें उनके आपस के झगड़े आदि चला ही करते हैं। इसलिये साझेदारी का सिद्धान्त यह है कि उनमें समान योग्यता तथा शक्ति नहीं होती। फिर भी व्यापार को सफल एवं आदर्श बनाने के लिये उसमें निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है—

(१) **शक्ति के अनुसार साधन** (Resources according to Might)—व्यापार की सफलता के लिये प्रत्येक साझेदार अपनी शक्ति के अनुसार साधन जुटाता है। साझेदारी में साझेदार अपने अलग-अलग साधनों तथा शक्तियों को लगाते हैं। एक व्यक्ति बहुत बड़ी पूँजी लगा सकता है, दूसरा शक्ति, तीसरा प्रभाव आदि।

(२) **व्यापारिक कुशलता तथा योग्यता** (Business Efficiency and Ability)—व्यापारिक कुशलता एवं योग्यता के कारण साझेदार अपने व्यापार का प्रबन्ध, संचालन एवं संगठन योग्यतापूर्वक कर सकते हैं। एक साझेदार अपने

सामाजिक प्रभाव के कारण व्यापार की वृद्धि कर सकता है, दूसरा अपनी कुशलता तथा विशिष्ट ज्ञान एवं अनुभव के द्वारा उसमें नवीनता ला सकता है, तीसरा अपनी योग्यता के द्वारा व्यापारिक जानकारी तथा सम्बन्धों को उत्तरोत्तर बढा सकता है। इस प्रकार अपनी-अपनी योग्यताओं के अनुसार सगठित होकर वे व्यापार को बडी सफलता के साथ चला सकते हैं।

(३) आपसी विश्वास (Mutual Faith)—साझेदारों का आपस में विश्वास होना बहुत आवश्यक है। यह साझेदारी का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। जिस समय लोग साझेदारी में आते हैं उनके विचार बहुत अच्छे होते हैं, किन्तु बाद में स्वार्थ तथा गलतफहमी के कारण वे आपस का विश्वास खो बैठते हैं और साझेदारी एक भयानक सघर्ष का क्षेत्र बन जाती है। व्यापार में सफलता तभी मिलती है जब साझेदार एक दूसरे की कमी को पूरा करें तथा अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से निभायें। इसलिये साझेदार बनने या बनाने से पूर्व साझेदार की हर प्रकार की प्रवृत्ति की जानकारी कर लेना आवश्यक है। जब लोग साझेदार बनते हैं तो उनकी स्थिति तथा उनके वातावरण की जानकारी आवश्यक है। जो लोग हर प्रकार से योग्य किन्तु स्वतन्त्र प्रकृति के होते हैं तथा दूसरों का हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकते, वे साझेदार होने के योग्य नहीं रहते। जो व्यक्ति भेद को छिपाने वाले होते हैं वे अच्छे शासक भले ही हो सकते हों, किन्तु उनके साथ साझेदारी नहीं की जा सकती। इसका कारण यह है कि उनमें स्पष्टता तथा विश्वास की कमी होने के कारण भविष्य में जटिलतायें उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिये साझेदारी में उन्हीं लोगों को सम्मिलित होना चाहिये जो दूसरे का आदर करें तथा साथ-साथ मिल कर काम कर सकें। जो कर्मचारी उनकी योग्यता तथा महत्व के कारण साझेदार बना दिये जाते हैं, वे कभी-कभी अच्छे सिद्ध नहीं होते। क्योंकि वे अच्छे कार्यकर्ता हो सकते हैं, किन्तु उनका अच्छे साझेदार होना आवश्यक नहीं। कुछ लोग स्वभाव से ही आज्ञा देने वाले होते हैं और कुछ पालन करने वाले। जो कर्मचारी से साझेदार बनते हैं वे प्रायः यह समझने लगते हैं कि उनका काम सरल हो गया है और इसलिये उन में सन्तोषजनक कार्य होना कठिन हो जाता है।

(४) अधिकार निष्पक्षता (Impartiality in Rights)—साझेदार अपने अधिकारों को निष्पक्षता से तय कर लेते हैं। कोई भी साझेदारी लम्बे समय तक तब ही टिक सकती है, जब उसमें प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार स्पष्ट कर दिये जायें। साझेदारों को अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की ओर विशेष ध्यान न देकर सभी के हित की ओर ध्यान देना चाहिये, जिससे व्यापार की प्रगति में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। कानून के अनुसार प्रत्येक साझेदार अपने कार्यों से अन्य साझेदारों को प्रतिबन्धित कर सकता है। जब प्रत्येक साझेदार में साझेदारी के

साझेदारी तथा संयुक्त-हिन्दू परिवार का व्यापार
(Partnership and Joint Hindu Family Business)

साझेदारी तथा संयुक्त-हिन्दू पारिवारिक व्यापार में निम्नलिखित मुख्य अन्तर है—

(१) साझेदारी, साझेदारों के आपस के समझौते के अनुसार बनाई जाती है, किन्तु संयुक्त-हिन्दू परिवार का व्यापार हिन्दू विधान के अनुसार चलता है।

(२) साझेदारी का अन्त किसी साझेदार की मृत्यु तथा छोड कर चले जाने पर हो जाता है, किन्तु संयुक्त हिन्दू पारिवारिक व्यापार का किसी सहभागी की मृत्यु या चले जाने पर अन्त नहीं होता।

(३) साझेदारी से सम्बन्ध विच्छेद करने पर कोई भी साझेदार साझेदारी का हिसाब माँग सकता है, किन्तु संयुक्त हिन्दू-फर्म के अन्दर परिवार से अलग हो जाने पर कोई भी सहभागी पिछले हानि लाभ का हिसाब माँगने का अधिकारी नहीं होता।

(४) साझेदारी में हर साझेदार को उसके व्यापार में सक्रिय भाग लेने का अधिकार है और वे अपने कार्यों से अन्य साझेदारों को उत्तरदायी बना सकते है, किन्तु संयुक्त हिन्दू परिवार में परिवार के अध्यक्ष (कर्ता) को ही सारे अधिकार प्राप्त होते है। अत. सहभागी किसी प्रकार का अनुबन्ध नहीं कर सकते और न कर्ता को उत्तरदायी बना सकते है।

(५) हानि होने तथा ऋण चुकाने की अवस्था में साझेदार सामूहिक तथा व्यक्तिगत रूप से अन्य पक्ष के लिए उत्तरदायी होते है और व्यापार की सम्पत्ति पूरी न होने पर उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति से भी ऋण वसूल किया जा सकता है। किन्तु पारिवारिक व्यापार में 'कर्ता' अपने किये गये प्रत्येक अनुबन्ध के लिये व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होता है और उसके सहभागी केवल परिवार की संयुक्त सम्पत्ति तक ही उत्तरदायी होते है।

(६) साझेदारी में स्त्री तथा पुरुष दोनों ही साझेदार बन सकते है, किन्तु संयुक्त-हिन्दू परिवार में केवल पुरुष ही सहभागी बन सकते है। यह मिताक्षरा अधिनियम के अनुकूल होता है। किन्तु दायभाग अधिनियम के अनुसार कुछ परिस्थितियों में स्त्री और पुरुष पारिवारिक व्यापार में सहभागी हो सकते है।

(७) साझेदारी में कोई व्यक्ति, जो वयस्क न हो, साझेदार नहीं बन सकता और न उसके द्वारा कोई साझेदारी फर्म स्थापित की जा सकती है। कुछ विशेष परिस्थितियों में अवयस्क साझेदार लाभ में शामिल किया जा सकता है, किन्तु पारिवारिक व्यापार में प्रत्येक अवयस्क सहभागी होता है।

(८) अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिये तथा अन्य पक्षों से वैधानिक

सम्बन्ध स्थापित करने के लिये साझेदारी का पंजीयन या रजिस्ट्रेशन कराना आवश्यक होता है, किन्तु पारिवारिक फर्म के लिये उसकी कोई आवश्यकता नही है।

(९) यदि साझेदारों का आपस मे कोई विशेष समझौता न हो, तो हर एक साझेदार का व्यापार की सम्पत्ति तथा लाभ मे समान हित होता है। किन्तु पारिवारिक व्यापार मे कोई भी सहभागी इस प्रकार के हित की अपेक्षा नही कर सकता। परिवार में जन्म होने के कारण उसके हित घट जाते हैं और मृत्यु होने से बढ जाते हैं। जब तक वे परिवार से अलग नही हो जाते, तब तक उनके हितो को निश्चित करना सम्भव नही।

(१०) जब किसी साझेदार की मृत्यु हो जाती है तो उसके उत्तराधिकारी उसकी व्यापार मे लगी हुई सम्पत्ति, प्रतिष्ठा तथा लाभ के अधिकारी होते हैं, किन्तु उनका साझेदारी मे स्थान पाना आवश्यक नही। पारिवारिक व्यापार मे प्रत्येक उत्तराधिकारी को उसका सहभागी होने का अधिकार प्राप्त है।

(११) साझेदारी निजी व्यक्तित्व न होने के कारण किसी अन्य पक्ष के साथ साझेदारी नही कर सकती, किन्तु उसके साझेदार अन्य साझेदारी मे सम्मिलित हो सकते हैं। पारिवारिक व्यापार का कर्ता अपने अधिकार के कारण किसी भी साझेदारी मे शामिल हो सकता है, परन्तु अन्य सहभागियो को इस प्रकार का अधिकार प्राप्त नही।

(१२) भारतीय साझेदारी साझेदारी अधिनियम (१९३२) के अनुसार सचालित होनी है और उसके प्रमुख साझेदार की मृत्यु हो जाने पर साझेदारी समाप्त हो जाती हैं, और उसके अन्य साझेदार अन्य पक्ष के साथ (जिसके साथ प्रमुख साझेदार द्वारा साझेदारी की गई थी) साझेदार नही कहला सकते, और न अन्य पक्ष वाले उनके विरुद्ध मृतक साझेदार के दायित्व के लिये मुकदमा कर सकते हैं। पारिवारिक व्यापार मे परिवार की सम्पत्ति का बँटवारा हो जाने पर कर्त्ता को अन्य पक्षो के साथ की गई साझेदारी की सम्पत्ति को निकाल देना पडेगा, जिससे कि उसको भी सहभागियो के बीच बाँटा जा सके।

साझेदारी तथा संयुक्त-जोखिम
(Partnership and Joint Venture)

सयुक्त-जोखिम किसी सीमित कार्य के लिये कुछ व्यापारियो के बीच ली जाती है। आमतौर पर यह व्यापार साधारण व्यापार न होकर परिकल्पित व्यापार होता है। जिसमे सभी जोखिम लेने वाले कुछ न कुछ पूँजी देते है और वह किसी एक व्यक्ति द्वारा संचालित किया जाता है।

साझेदारी का व्यापार किसी निश्चित एवं स्थायी कार्य के लिये साझेदारो मे

एक समझौते के अनुसार चलता है और उसका एक निश्चित विधान होता है। साझेदारी तथा संयुक्त-जोखिम में निम्नलिखित अन्तर होते हैं—

(१) साझेदारी में जो व्यापार किया जाता है वह निश्चित व्यापार होता है और उसमें स्थायित्व होता है, किन्तु संयुक्त-जोखिम के व्यापार में स्थायित्व की कल्पना नहीं की जा सकती।

(२) संयुक्त-जोखिम में जोखिम लेने वाला एक व्यक्ति इस प्रकार का ऋण नहीं ले सकता, जिसके कारण अन्य व्यक्तियों पर दायित्व हो जाय। विशेष परिस्थितियों में जब उस व्यक्ति को इस प्रकार के अधिकार प्राप्त हों, तो वह संयुक्त-जोखिम के लिए ऋण आदि ले सकता है। साझेदारी में कोई भी साझेदार अपनी व्यापारिक क्रियाओं से समस्त साझेदारों को उत्तरदायी बना सकता है।

(३) संयुक्त-जोखिम में बहुत कम अनुबन्ध लिखे जाते हैं और इसलिये किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों को प्रतिनिधियों के विशेषाधिकार देने की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु साझेदारी में प्रत्येक साझेदार को प्रतिनिधित्व के अधिकार प्राप्त हैं।

(४) संयुक्त-जोखिम वाला व्यापार उस कार्य के समाप्त हो जाने पर बिना किसी शिष्टाचार के समाप्त हो जाता है, किन्तु साझेदारी को समाप्त करने के लिये अनेक शिष्टाचारों को निभाने की आवश्यकता पड़ती है।

(५) साझेदार अपनी किसी असमर्थता के कारण साझेदारी से अलग होने का अधिकार रखता है। किन्तु संयुक्त-जोखिम में किसी व्यक्ति को इस प्रकार का अधिकार प्राप्त नहीं। विशेष परिस्थितियों में संयुक्त-जोखिम में भी कोई व्यक्ति उससे अलग हो सकता है।

(६) संयुक्त-जोखिम में किसी की मृत्यु हो जाने पर अन्य जोखिम को लेने वाले उस काम को पूरा करते हैं और उसमें प्राप्त होने वाले लाभ का हिस्सा उसके उत्तराधिकारियों को दे दिया जाता है। किसी साझेदार की मृत्यु हो जाने पर साझेदारी समाप्त हो जाती है।

(७) साझेदारी अलग-अलग देशों के साझेदारी विधान के अन्तर्गत कार्य करती है, किन्तु संयुक्त-जोखिम वाली संस्थाएँ उन देशों के प्रसंविदा विधान के अन्तर्गत कार्य करती हैं। इसलिये दोनों की कार्य-पद्धति, व्यापारिक अधिकारों तथा कार्य करने की शैली में व्यापक अन्तर रहता है।

सामान्य रूप से साझेदारी तथा संयुक्त-जोखिम में विशेष अन्तर नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उनमें निम्नलिखित समानताएँ हैं—

(१) दोनों में व्यापारी मिलकर एवं संस्था के रूप में कार्य करना चाहते हैं।

(२) दोनों अवस्थाओं में व्यापारी लिखित, ध्वनित अथवा मौखिक समझौते के अनुसार कार्य कर सकते हैं।

कारण साझेदारी की व्यापारिक कुशलता बढ़ जाती है, जिसके कारण एकाकी व्यापार के भावों की पूर्ति आसानी से की जा सकती है।

(५) साझेदारी के संचालन का अधिकार प्रत्येक साझेदार पर होता है। इसलिये संचालन में एक ही व्यक्ति पर विशेष भार नहीं पड़ता और संचालन-कार्य कुशलता से सम्पन्न किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उस कार्य को अपना ही कार्य समझता है।

(६) साझेदारी में जितना अधिक परिश्रम किया जायगा, उतना ही साझेदार को अधिक लाभ होगा अर्थात् कार्य तथा प्रतिफल में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने के कारण साझेदार जी भरकर परिश्रम करते है।

(७) साझेदारों के बीच लाभ तथा हानि का वितरण होने के कारण, यद्यपि लाभ की दशा में साझेदारों को पूर्ण लाभ प्राप्त नहीं होता। किन्तु हानि की दशा में वह कई लोगों पर बँट जाती है, जिससे एक ही व्यक्ति पर विशेष भार नहीं पड़ता।

(८) अलग-अलग व्यक्तियों की योग्यता तथा परिश्रम के कारण व्यापार की प्रतिष्ठा बढ़ती रहती है, उसका अधिक लोगों के साथ सम्पर्क होता है तथा व्यापारिक क्षेत्र भी बढ़ता रहता है।

(९) साझेदारी में अपरिमित दायित्व होने के कारण किसी साझेदार को परिकल्पित सौदे करना कठिन हो जाता है, क्योंकि अन्य साझेदार उसको इस प्रकार का कार्य नहीं करने देते।

(१०) साझेदारी में अल्पमत वाले साझेदारों को वैधानिक संरक्षण मिलता है। उसमें बहुमत के द्वारा अल्पमत को दबाना कठिन होता है।

(११) साझेदारों को यदि व्यापार के विस्तार को बढ़ाना हो अथवा व्यापार में किसी प्रकार का परिवर्तन करना हो तो वह सब साझेदारों की सलाह से सरलता पूर्वक किया जा सकता है।

(१२) साझेदारी में एकाकी व्यापार के सारे गुण होते हैं और अधिक लाभ के लिये जोखिम सुगमतापूर्वक ली जा सकती है।

(१३) साझेदारी में अवयस्क के हितों की रक्षा कानून द्वारा की जाती है और वयस्क होने की अवस्था तक केवल उसकी पूँजी का उपयोग किया जा सकता है। स्त्री भी इसमें सरलता से भाग ले सकती है और उसका दायित्व उसकी निजी सम्पत्ति तक ही सीमित होता है।

साझेदारी की हानियाँ
(Disadvantages of Partnership)

(१) एकाकी व्यापार के समान इसमें व्यापार की गोपनीय बातें विशेष गुप्त नहीं रखी जा सकती, क्योंकि उनका तर्क में आना आवश्यक है और उसके कारण बात फैल सकती है।

(१०) साझेदारी का अस्तित्व साझेदारो के साथ चलता है। इसलिये उसकी अवधि संयुक्त पूंजी वाली कम्पनियों के समान नही रहती।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 What do you understand by partnership? Explain the chief requisites of partnership.

2 'Partnership is an outcome of historical evolution' Do you agree with the above statement? Give an explanatory note to it

3 How can you register a partnership firm? Give its process and advantages.

4 What is the difference between a Joint Hindu Family firm and partnership? Explain.

5 'Sharing of profits is a prima facie but not conclusive evidence of partnership?' Discuss

6 Is partnership beneficial to the businessman, consumers and the society as a whole? Give your arguments for and against the subject.

7 Compare partnership with Joint Venture and explain the nature of both of them.

साझेदारी का संगठन एवं संचालन ५

(Organisation and Management of Partnership)

साझेदारी का समझौता
(Partnership Deed)

साझेदारी का समझौता उसके प्रारम्भ होने के पूर्व उसके होने वाले स्वामियों के बीच उनके अधिकारों की व्याख्या, फर्म के सचालन तथा प्रबन्ध की व्यवस्था, अधिकारियों के कर्तव्यों का स्पष्टीकरण, लाभ-हानि का अनुपात, व्यापार का क्षेत्र तथा जीवन आदि के विषयों में होता है। यह लिखित या व्यनित होता है। यद्यपि समझौता लिखित रूप से होना आवश्यक नहीं होता, किन्तु लिखित होने पर उस पर यथेष्ट मुद्रांकन (Proper stamping) किया जाना चाहिये। यदि समझौता सम्पत्ति आदि के आधार पर होता है तो उसका पंजीकरण (Registration) किया जाना आवश्यक है। उस दशा में जब कि समझौता साझेदारी के प्रत्येक अंग के लिये किया जाता है, उसका विस्तृत होना आवश्यक है। समझौते को इस प्रकार लिखा जाना चाहिये कि वह साझेदारी में उत्पन्न होने वाली प्रत्येक समस्या को छू सके और उसका समुचित निवारण भी कर सके। समझौते में मुख्य रूप से निम्नलिखित बातों का उल्लेख होना चाहिये—

(१) **फर्म का नाम तथा पता** (Name and Address of Firm)—साझेदारी का कोई भी नाम रखा जा सकता है, किन्तु वह नाम स्वतन्त्र होना चाहिये और उसमें यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिये कि वह सरकार द्वारा सुरक्षित नहीं है। उसका नाम किसी अन्य फर्म के नाम से नहीं मिलना चाहिये तथा धारा ५७ (३) के अन्तर्गत उसमें सरकार द्वारा कोई भी सुरक्षित नाम नहीं होना चाहिये। यदि इन नामों को प्रयोग किया जाय तो उसकी सरकार द्वारा पूर्व स्वीकृति प्राप्त की जानी आवश्यक है।

(२) **व्यापार का क्षेत्र तथा स्वरूप** (Scope and Nature of Business)—यह स्पष्ट होना चाहिये कि उसका क्षेत्र स्थानीय देशीय या अन्तर्राष्ट्रीय है। क्षेत्र का निर्धारण व्यापार की प्रकृति के अनुसार किया जाता है। इसलिये यह भी स्पष्ट होना चाहिये कि व्यापार किस प्रकार का होगा, किस वस्तु में किया जायगा तथा उसकी क्या-क्या सीमायें होंगी?

साधारण तौर पर पूंजी पर ब्याज नहीं दिया जाता, किन्तु आहरण पर ब्याज लिया जाता है। जब पूंजी पर ब्याज दिया जाय, तब तो आहरण पर निश्चित रूप से ब्याज लिया जायगा।

(६) खाता तथा उनका सामयिक अंकेक्षण (Maintenance of Accounts and Audit)—समझौते में फर्म के हिसाब-किताब रखने का ढंग, व्यापार के हिसाब-किताब की सामयिक जांच तथा अंतिम आँकड़ों को बनाने का ढंग आदि का पूरा विवरण होना चाहिये।

(१०) अधिकार तथा उन पर नियन्त्रण (Rights and Checks)—साझेदार अपनी योग्यता के अनुसार साझेदारी का कार्य करते हैं, किन्तु वैधानिक दृष्टि से सब के समान अधिकार होते हैं। परन्तु व्यवहार में कार्यों के अनुसार उनके अधिकारों में भी परिवर्तन होते रहते हैं। इसलिये समझौते में अधिकारों का सीमा तथा उन पर नियन्त्रण रखने की विधि का उल्लेख रहना चाहिये, जिससे भविष्य में किसी प्रकार की अड़चन न पड़े।

(११) साझेदारों का कर्तव्य (Responsibilities of Partners)—सामान्य स्थिति में तथा कानून के अनुसार प्रत्येक साझेदार के समान कर्तव्य तथा अधिकार होते हैं, किन्तु विशेष स्थिति में उनके कर्तव्यों तथा अधिकारों में विषमता आना स्वाभाविक है। इसलिये समझौते में इस बात का स्पष्टीकरण कर देना चाहिये कि कौन व्यक्ति व्यापार में कितना समय तथा योग देगा, और व्यापार के समान प्रचलन में उसके क्या कर्तव्य होंगे, तथा उनका पालन करने पर क्या कार्यवाही की जा सकेगी।

(१२) प्रवेश तथा निस्तारण (Admission and Retirement)—व्यापार की आवश्यकता के अनुसार कभी-कभी नये साझेदार को लाना आवश्यक होता है। विधान के अनुसार नये साझेदार का प्रवेश पुराने साझेदारों की सर्वसम्मति से होना चाहिये। यदि इस अधिकार में कोई परिवर्तन हो तो उसका उल्लेख समझौते में किया जाना चाहिये। साथ ही यह निश्चय किया जाना भी आवश्यक होगा कि साझेदार का निस्तारण किन अवस्थाओं में किया जायगा। उसमें अल्पवयस्क, स्त्री आदि साझेदारों के प्रवेश आदि के सम्बन्ध में भी लिखा होना चाहिये।

(१३) साझेदारी का विलोपन (Dissolution of Partnership)—साझेदारी को समाप्त की जाने वाली सारी स्थितियों का उल्लेख समझौते में किया जाना चाहिये, इसके न होने पर फर्म का विलोपन केवल अधिनियम के अन्तर्गत ही किया जा सकता है। आवश्यकता पड़ने पर साझेदारी को किसी दूसरी साझेदारी अथवा प्रमण्डल में मिलाया या विलीन किया जा सकता है, या अलग फर्मों का

संयोग स्थापित किया जा सकता है। इन सभी परिस्थितियों का उल्लेख यदि समझौते में हो, तो अच्छा रहता है।

(१४) व्यापारिक प्रतिष्ठा (Business Goodwill)—व्यापारिक विकास के साथ-साथ व्यापार का नाम, साख तथा प्रतिष्ठा भी बढ़ जाती है और उनके फलस्वरूप व्यापार में बिक्री का बढ़ना स्वाभाविक होता है। नये साझेदार की नियुक्ति अथवा साझेदारी के भंग होने पर इस प्रतिष्ठा से बढ़ी हुई आय का साझेदारों में किस अनुपात से विभाजन किया जायगा, इसका उल्लेख भी समझौते में किया जाना अनिवार्य है।

(१५) साझेदार की मृत्यु तथा उसके उत्तराधिकारी (Death of Partner and His Representatives)—जब किसी साझेदार की मृत्यु हो जाती है तो उसकी व्यापार में लगी हुई सम्पत्ति तथा पूँजी का भुगतान उसके उत्तराधिकारियों को किया जाता है, और वे वैधानिक रूप में उस राशि को सम्पूर्ण अथवा खण्डों में प्राप्त कर सकते हैं। यदि वह राशि व्यापार में ही रखनी हो और उत्तराधिकारी को साझेदारी के अधिकार दिये जाने हों, तो समझौते में पहले ही स्पष्ट किया जाना चाहिये कि ऐसी स्थिति में उसकी नियुक्ति किस स्वत्व की होगी तथा किस प्रकार से की जायगी। यदि उसकी राशि को खण्डों में दिया जाय तो उस पर ब्याज देने की क्या व्यवस्था होगी।

(१६) साझेदारों में प्रव्याजि या बीमे का विभाजन (Distribution of Premium or Insurance Claim)—साझेदारी में बीमा या तो साझेदारी का किया जाता है अथवा साझेदारों का। इसलिये समझौते में स्पष्ट होना चाहिये कि उससे प्राप्त धन का विभाजन किस प्रकार किया जायगा तथा जिसका बीमा कराया गया है, उसका क्या अधिकार होगा।

(१७) साझेदारी से सम्बन्ध विच्छेद (Relinquishment of Partnership Relations)—अपनी स्थिति, साझेदारों में मतभेद या किसी प्रकार के अन्य कारणों से साझेदार साझेदारी से अलग हो सकता है। साझेदार इस अधिकार का प्रयोग किस प्रकार करेगा तथा उसके सम्बन्ध-विच्छेद से साझेदारी पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसका समझौते में स्पष्ट उल्लेख होना चाहिये। वैधानिक रूप से साझेदार के अलग होने अथवा मृत्यु होने पर साझेदारी का स्वतः अन्त हो जाता है।

(१८) साझेदारी के नियमों का उल्लंघन (Revocation of Partnership Rules)—यदि कोई साझेदार अपने अधिकारों का दुरुपयोग या सामान्य समझौते का उल्लंघन करता है तो अन्य साझेदार उसके विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही कर सकते हैं तथा उसको फर्म से हटा सकते हैं। इस प्रकार की कार्यवाही को करने के

लिये उन्हें किसी भी प्रलेख पर हस्ताक्षर करने का अधिकार समझौते में दिया जाना चाहिये।

(१९) मध्यस्थ का निर्वाचन (Appointment of Arbitrator)—जब साझेदारी में किसी प्रकार का मतभेद हो जाता है तो उसको दूर करने के लिये मध्यस्थ की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे अवसर पर मध्यस्थ की नियुक्ति किस प्रकार से की जा सकेगी तथा उसके क्या अधिकार होंगे, या उसको क्या विशेष अधिकार दिये जायेंगे आदि का उल्लेख समझौते में किया जाना चाहिये।

साझेदारी का अस्तित्व

(Existence of Partnership)

यह प्रश्न, कि साझेदारी का अस्तित्व है या नहीं, उस समय उत्पन्न होता है जब व्यापार में आर्थिक संकट पैदा हो और उसके साहूकार उस व्यापार में कार्य करने वाले तथा उसके शुभचिन्तकों को साझेदारों के रूप में न्यायालय में ले जायें। ऐसी अवस्था में यही पर्याप्त नहीं है कि साझेदारी है या नहीं, अपितु उसमें उन व्यक्तियों का क्या स्थान है, इसका भी विवेचन होना चाहिये। इसलिये प्रश्न यह है कि साझेदारी का अस्तित्व है या नहीं, इसके लिये निम्न परीक्षायें हैं—

(१) साझेदारी में लाभ का हिस्सा (Profit Sharing)—यदि कोई व्यक्ति व्यापार के लाभ हानि में हिस्सा लेता है तो वह साझेदार माना जायगा। किन्तु व्यापार में ऐसी भी स्थिति होती है जब कोई व्यक्ति केवल लाभ में हिस्सा लेता है, हानि में नहीं। ऐसी दशा में साझेदारी का अस्तित्व तो है, किन्तु यह पर्याप्त नहीं, क्योंकि कितनी ही ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं जब कि कोई व्यक्ति साझेदारी में न होते हुए भी लाभ का भागी होता है, जैसे—किसी कार्यकर्ता का वेतन लाभ के निश्चित अनुपात पर हो। यह आम तौर पर व्यापार के महत्वपूर्ण स्थानों पर काम करने वाले प्रबन्धकों तथा कर्मचारियों के साथ किया जाता है। उनका एक निश्चित वेतन के साथ साथ लाभ में भी हिस्सा दिया जाता है। दूसरे, किसी ऋण का ब्याज जब लाभ होने की दशा में ही दिया जाय तो हानि की दशा में उसके ब्याज की दरों में परिवर्तन होते रहते हैं किन्तु साहूकार को साझेदार नहीं गिना जा सकता। तीसरे, मृतक साझेदार के उत्तराधिकारी को साझेदारी में धन दिया जाता है, किन्तु उसको साझेदार नहीं माना जाता, आदि।

(२) संगठन की स्वेच्छापूर्णता (Organisational Freedom)—साझेदारी में प्रत्येक साझेदार को अपनी स्वेच्छा से आना चाहिये। यदि कोई अपनी इच्छा से नहीं आता तो उसको साझेदार नहीं कह सकते। यदि व्यापार में किसी अवयस्क की सम्पत्ति लगी हो तो उसको भी साधारण अवस्था में साझेदार नहीं माना जाता। इसी प्रकार यदि कोई अपने पिता, भाई या दूसरे सम्बन्धी को अपना

व्यापार हस्तान्तरित करता है, तो वर्तमान साझेदारों का उन व्यक्तियों से साझेदारी के सम्बन्ध नहीं हो सकते और इस प्रकार वे लोग लाभ के अधिकारी तो होंगे, किन्तु साझेदारी में उनका कोई स्थान नहीं होगा।

(३) **संयुक्त व्यापार** (Joint Business)– इसका अर्थ यह है कि व्यापार में सब को पूंजी लगाकर भाग लेना चाहिये और वे ही लोग साझेदार माने जायेंगे। किन्तु इसमें किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सकते। यदि कोई व्यक्ति किसी की चक्की को उसमें होने वाले लाभ के निश्चित प्रतिदान पर चलाता है, तो उसको साझीदार नहीं माना जायगा, क्योंकि उसने पूंजी नहीं लगाई है। अत: वह संयुक्त स्वामी नहीं है।

(४) **लाभ के लिये व्यापार** (Business for Profit)—बहुत सारी संस्थायें साझेदारी नहीं होते हुए भी लाभ पर चलाई जाती हैं, जैसे—क्लब, धार्मिक संस्थायें, नृत्य एवं संगीत संस्थायें आदि। इस प्रकार की संस्थाओं के सदस्य उनके अधिकारियों द्वारा लिये गये ऋणों तथा दायित्वों के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। उनका उत्तरदायित्व तभी होता है, जब उनके द्वारा इस प्रकार का अधिकार दिया गया हो तथा उन्होंने उत्तरदायित्व को अपने ऊपर लेना स्वीकार किया हो।

(५) **दो अन्य परीक्षायें**—जो ऊपर सम्मिलित नहीं की गई हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) किसी व्यक्ति का ऋणों के प्रति उत्तरदायित्व, (२) एक व्यक्ति द्वारा लिए गये ऋण, जिनके प्रति दूसरे भी उत्तरदायी हों अथवा हानि की दशा में दूसरे भी उत्तरदायी बनाये जा सकें। ये दोनों प्रश्न न्यायालय में सिद्ध नहीं किये जा सकते। ये साझेदार हैं या नहीं, यह उनके बीच हुए अनुबन्धों के द्वारा ही निश्चित किया जायगा।

श्री हैने के द्वारा दिये गये विवेचन के अनुसार 'साझेदारी भिन्न भिन्न व्यक्तियों में जो अनुबन्ध करने के अधिकारी हैं, एक परस्पर प्रतिज्ञा है। जिसके अनुसार वे अपने लाभ के लिये कोई न कोई न्यायपूर्ण व्यवस्था करते हैं।" श्री किम्बल के अनुसार—"साझेदारी दो अथवा दो से अधिक ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जिन्होंने किसी व्यावसायिक उद्देश्य से सामूहिक पूंजी लगाई हो। भारतीय साझेदारी अधिनियम की धारा (४) के अनुसार "साझेदारी उन व्यक्तियों के बीच का पारस्परिक सम्बन्ध है, जो किसी व्यापार को मिलकर या सब की जगह एक ही व्यक्ति या कुछ ही व्यक्तियों द्वारा सचालित करने तथा लाभ विभाजन के लिये सहमत हों।'

साझेदारों के आपसी सम्बन्ध
(Mutual Relations of Partners)

किसी भी साझेदारी में साझेदार अपनी इच्छा के अनुसार आपस में अनुबन्ध करने के लिए स्वतन्त्र हैं। अनुबन्ध लिखित, मौखिक अथवा ध्वनित हो सकता है। किन्तु हर दशा में वह भारतीय अनुबन्ध अधिनियम की २३वीं धारा के अनुरूप

होना चाहिए, अन्यथा वह अवैध माना जायेगा। जब साझेदार आपस में कोई लिखित समझौता नहीं करते तो साझेदारी अधिनियम (१९३२) के अनुसार उनके कर्तव्य तथा अधिकार निश्चित किये जाते हैं और किसी अन्तर, मतभेद तथा झगड़े की अवस्था में उसी के द्वारा उसका निर्णय होता है। साधारण तौर पर साझेदारों के आपसी सम्बन्धों पर निम्नलिखित नियम लागू होते हैं—

(१) प्रत्येक साझेदार को व्यापार के संचालन में भाग लेने का पूर्ण अधिकार है, वह सक्रिय रूप से भाग ले सकता है।

(२) समय-समय पर व्यापारिक योजनाओं तथा कार्यों के लिए जो नियम बनते हैं, उनमें प्रत्येक साझेदार को भाग लेने का अधिकार है तथा उनको बहुमत से स्वीकार किया जाना चाहिए।

(३) साझेदारी के नियमों तथा स्थितियों का स्पष्टीकरण होना आवश्यक है। जब कि कोई भी निर्णय सर्वसम्मति से किया जायेगा, यह नियम किसी नये साझेदार के प्रवेश के समय विशेष रूप से लागू होता है।

(४) जब साझेदार व्यापार के लिए कार्य करता है तो उसको उसके लिए किसी प्रकार का वेतन पाने का इच्छुक नहीं रहना चाहिए।

(५) व्यापार में जो कुछ लाभ हो, साझेदार उसमें बराबर लाभांश पाने का अधिकारी होता है तथा व्यापार में जो कुछ हानि होगी, उसके लिए भी उसको उतनी ही हानि सहनी पड़ती है।

(६) यदि वह अपने भाग से अधिक धन देता है तो ६% प्रति वर्ष की दर से ब्याज का अधिकारी होता है। यह ब्याज उसको केवल लाभ में से ही दिया जायेगा।

(७) यदि साझेदार अपनी पूँजी पर भी ब्याज लेना चाहें तो वह सदैव लाभ में से ही दिया जायेगा।

(८) साझेदार को व्यापार के लेखों तथा हिसाब-किताब की जांच करने का अधिकार है तथा वह उनकी नकल भी कर सकता है। परन्तु उसको इस कार्य के लिए किसी प्रकार का पारिश्रमिक नहीं दिया जायगा।

(९) साझेदारों की आपत्ति न होने पर कोई भी साझेदार हिसाब-किताब की जांच तथा नकल करने के लिये अपने प्रतिनिधि की नियुक्ति कर सकता है।

(१०) साझेदारी की सम्पत्ति का उपयोग केवल उसके ही लिए किया जायेगा। यदि कोई व्यक्ति इसका उपयोग अपने निजी लाभ के लिये करता है तो उसमें होने वाले लाभ पर सब साझेदारों का अधिकार होगा और हानि होने की दशा में उसकी पूर्ति उस व्यक्ति को ही करनी होगी।

(११) यदि साझेदार व्यापार की वृद्धि के लिये बिना किसी कपट के कोई प्रयास करता है, तो उसका सारा व्यय साझेदारों को उठाना पड़ेगा।

(१२) जब कोई साझेदार व्यापार की साधारण अवस्था में किसी प्रकार का दायित्व व्यापार के लिये उठा लेता है अथवा खर्च करता है, तो उसका सारा भार साझेदारी के ऊपर रहेगा। किन्तु अपनी लापरवाही से या इस प्रकार के किसी अन्य कारण से यदि साझेदार का कोई व्यय हो या उसको दायित्व सहन करना पड़े, तो उसका उत्तरदायित्व उसके ही ऊपर होगा और साझेदारी को उससे कोई प्रयोजन नहीं होगा।

(१३) कोई भी साझेदार सार्थ के व्यापार से प्रतिस्पर्द्धा नहीं कर सकता और न गुप्त लाभ ही कमा सकता है। यदि वह इस प्रकार का कोई भी कार्य करेगा तो उसको व्यापार से निकाला जा सकता है और इससे होने वाली हानि को उससे वसूल किया जा सकता है। गुप्त लाभ को सब साझेदारों में बाँट दिया जाना चाहिये।

(१४) प्रतिस्पर्द्धा के कारण हुई हानि प्रतिस्पर्द्धा करने वाले साझेदार को स्वयं सहनी पड़ेगी।

(१५) यदि साझेदारी सावधि है, तो अवधि पूर्ण हो जाने के पश्चात् भी पूर्ववत् चलाने के लिये उनके अधिकार पहले के ही समान रहेंगे।

(१६) किसी साझेदार की मृत्यु हो जाने पर उसकी साझेदारी समाप्त समझी जायेगी, किन्तु जब उसके उत्तराधिकारी को उन्हीं अधिकारों को देकर सम्मिलित किया जाय, तो पूर्व साझेदार उस व्यापार को उसी प्रकार चला सकते है।

(१७) सावधि साझेदारी में कोई भी साझेदार समय से पूर्व, बिना अन्य साझेदारों की राय से अलग नहीं हो सकता।

(१८) व्यापार में किसी प्रकार के परिवर्तन होने के कारण साझेदार के अधिकारों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आयेगा। साझेदारी की चाहे अवधि समाप्त हो गई हो अथवा उसने कोई नया कार्य प्रारम्भ किया हो, साझेदारों के अधिकार पूर्ववत् ही रहेंगे।

(१९) साझेदारों को अधिक से अधिक संयुक्त लाभ के लिये व्यापार चलाना होता है। इनको एक-दूसरे के प्रति न्यायोचित व्यवहार तथा वफादारी करनी चाहिये। उनको साझेदारी की समस्त बातें साझेदार या उसके वैधानिक प्रतिनिधि को बता देनी चाहिये।

(२०) साझेदारी अधिनियम की ४४वीं धारा के अनुसार विशेष परिस्थितियों में साझेदार को साझेदारी के अन्त करने का अधिकार है। उसको यह अधिकार भी प्राप्त है कि फर्म की सम्पत्ति से कर्जा तथा अन्य दायित्वों को चुका कर शेष धन का वितरण साझेदारों में करवा दे।

(३) साल के प्रारम्भ अथवा अन्त में सुधारी गई पूंजी के अनुपात में लाभ बांटना, इसमें साझेदार जो रुपया अनिवार्य अपने निजी खर्च के लिये व्यापार में निकालते है तथा जो कुछ रुपया उनको लाभ के रूप में मिलना है, उसको उनकी पूंजी में लेखा करके जो सुधारी हुई पूंजी रहती है, उसके अनुपात में लाभ बांटा जाता है।

(४) कभी-कभी व्यापार में साझेदारों की पूंजी घटती बढती रहती है और उसमें निश्चित अनुपात निकालना कठिन हो जाता है। इसलिये लाभ के लिये वे पूंजी का साल भर का औसत निकाल लेते है और उसी औसत-पूंजी के अनुपात से लाभ बांट दिया जाता है।

(५) जब साझेदारों को कमीशन या वेतन दिया जाना है तो इस प्रकार के वेतन अथवा कमीशन देने के बाद जो आधिक्य (लाभ अथवा हानि) रहता है, वह उन में बराबर-बराबर या अनुबन्धानुसार बांट दिया जाता है।

(६) जिस दशा में पूंजी पर ब्याज दिया जाता है, इस प्रकार का ब्याज देने के पश्चात् शेष लाभ साझेदारों में उनके समझौते के अनुसार बांटा जायेगा। साधारणतया पूंजी पर ब्याज लाभ होने की दशा में ही दिया जाता है।

(७) साझेदारी के समझौते के अनुसार किसी भी अनुपात पर साझेदारों में लाभ बांटा जा सकता है और उसमें उनकी योग्यता, अनुभव, शक्ति आदि का कोई ध्यान नहीं रखा जाता।

साझेदारी की ख्याति
(Partnership Goodwill)

साझेदारी की ख्याति को साझेदारी अधिनियम में उसकी सम्पत्ति माना गया है। अपने परिश्रम से लोगों में व्यापार के प्रति विश्वास जमाकर साझेदार जिस अतिरिक्त धन का उपार्जन करते है उसको ख्याति कहा जायेगा। नये व्यवसाय में *साझेदारों* को उपभोक्ताओं के बीच से अपने ग्राहकों को ढूंढ निकालना पडता है, किन्तु संस्थापित व्यापार में इस प्रकार के ग्राहक पहले में ही बनाये हुए मिलते है। इसलिये जब साझेदारी में कोई नया साझेदार नियुक्त किया जाता है या कोई साझेदार *साझेदारी से अलग होता है या साझेदारी को बेचा जाता है तो इस प्रकार की सम्पत्ति* का मूल्य निकालना पडता है। वह सम्पत्ति पूर्ण रूप से अमूर्त तथा अदृश्य होती है।

यह मूल्य इसलिये निकाला जाता है कि जिन साझेदारों ने प्रयत्न करके व्यापार की *साख जमा कर उसके स्थाई ग्राहकों को जन्म दिया है* और लाभ में वृद्धि की है उनको उनके इस परिश्रम का प्रतिफल मिलना चाहिये। इस प्रतिफल को निर्धारित करने के लिये कोई विशेष नियम नहीं है और साझेदार आपस में तय करके कोई नीति निर्धारित कर देते हैं। जैसे पिछले तीन-चार वर्षों का औसत लाभ

(७) जब कोई साझेदार व्यापार को छोड़ना चाहता हो, तो अपने हिसाब की जानकारी के लिये वह साझेदारी का हिसाब माँग सकता है।

(८) यदि किसी भागीदार की मृत्यु हो जाती है, तो भागीदार के उत्तराधिकारी साझेदारी का हिसाब माँग सकते है अथवा उसके उत्तराधिकारी को हिसाब देने के लिये कोई भी साझेदारी का हिसाब माँग सकता है।

(९) व्यापार का अन्त होने, या बिकने की अवस्था मे भी साझेदारी का हिसाब बनाया जाना आवश्यक है।

साझेदारों के भेद
(Kinds of Partners)

साझेदारो की भिन्न-भिन्न श्रेणियों की जानकारी की आवश्यकता प्रायः दो कारणो से पड़ती है—(१) जब साझेदारो का आपस मे कोई समझौता हो, जिसके अनुसार व्यापार चलेगा, और (२) जब बाहर का व्यक्ति अथवा फर्म उस साझेदारी से व्यापार करती हो और उसमे वसूली करनी हो। विधान के अनुसार प्रत्येक साझेदार के समान अधिकार तथा उत्तरदायित्व है, किन्तु व्यवहार मे इस प्रकार की स्थिति बहुत कम देखने को मिलती है। देखा जाता है कि साझेदार अपनी-अपनी योग्यता, अनुभव तथा उपयोगिता के अनुसार अलग-अलग प्रकार के अधिकारों तथा उत्तरदायित्वो को लिये होते है। ऐसी दशा मे उनकी जानकारी कर लेना आवश्यक है। दूसरी स्थिति में जब साझेदारो का व्यापार अन्य पक्षो से चल रहा हो तो उस समय तक जब तक उनका लेन-देन सुगमता से चल रहा हो, तथा माल का भुगतान भी ठीक-ठीक किया जा रहा हो, उनको इस बात की आवश्यकता नही होती कि उसमें व्यापार करने वाले साझेदारो की क्या अवस्था है तथा उनकी श्रेणियाँ किस प्रकार की हैं। किन्तु उस दशा मे जब साझेदारी के ऊपर उसका ऋण होता है और उस ऋण का भुगतान नही किया जाता तो उस समय यह जानना आवश्यक होता है कि उसमें कौन-कौन से व्यक्ति है, और उनका साझेदारी मे क्या स्थान है। साहूकार के लिये यह जानना इसलिये आवश्यक है कि उनका असीमित उत्तरदायित्व होता है और ऋण सामूहिक रूप से अथवा किसी एक व्यक्ति से ही वसूल किया जा सकता है। सामान्य रूप से साझेदारो के निम्नलिखित भेद हैं—

(१) **सामान्य या सक्रिय साझेदार** (General, Working or Active Partner)—यह वह व्यक्ति होता है जो व्यापार के प्रबन्ध तथा सचालन मे सक्रिय भाग लेता है और अपना सारा समय उस व्यापार के प्रबन्ध मे ही लगाता है। इस प्रकार के लोगों को साझेदारी के प्रति उनके सम्बन्धो की जानकारी रहती है और वे साझेदारी के सक्रिय सदस्य माने जाते है। इन लोगो का अन्य पक्षो से सीधा

सम्बन्ध रहता है और उसके कारण वे अपने कार्यों से साझेदारी को उत्तरदायी बना सकते हैं।

(२) **गुप्त साझेदार** (Secret Partner)—ये लोग व्यापार के प्रबन्ध मे तो अन्य साझेदारो के समान ही हाथ बटाते है और कभी-कभी सक्रिय रूप से भी भाग लेते हैं, किन्तु बाहर के लोगो को उनके साझेदार होने की जानकारी नही रहती। ऐसे लोगों को गुप्त साझेदार कहते है। कानून की दृष्टि मे ये लोग सामूहिक अथवा व्यक्तिगत रूप से साझेदारी के हर प्रकार के दायित्व के लिये प्रतिबन्धित रहते हैं।

(३) **नाममात्र का साझेदार** (Nominal Partner)—नाममात्र के साझेदार उन व्यक्तियों को कहा जाता है, जिनका नाम व्यापार मे साझेदार के रूप मे चलता है; किन्तु यथार्थ रूप मे वे साझेदार नही होते। ऐसे व्यक्ति अन्य पक्षो के प्रति उत्तरदायी होते है। इनको व्यापार से किसी प्रकार का लाभ नही होता और न यह लोग हानि मे ही साझेदार होते हैं। किन्तु उस अवस्था मे जब फर्म को ऋण चुकाना हो और वह चुका न सकती हो, तो इनको वह ऋण चुकाना होगा।

(४) **निष्क्रिय साझेदार** (Inactive Partner)—उन व्यक्तियों को कहते है, जो फर्म के संचालन मे किसी प्रकार का सक्रिय भाग नही लेते, किन्तु उसके लाभ तथा हानि मे इनका पूरा हिस्सा होता है। इन लोगो को बाहर के लोग भी जानते है कि इनका साझेदारी से साझेदार के रूप में सम्बन्ध है और ये लोग उसके प्रत्येक दायित्व के भागी होते हैं।

(५) **गुप्त अकर्मण्य साझेदार** (Dormant Partner)—यह वे लोग होते है, जिनका व्यापार के प्रबन्ध मे किसी प्रकार का हाथ नही होता और न बाहर के लोगों को ही इनके सम्बन्ध का ज्ञान होता है। इस प्रकार के लोग अक्रियाशील तो होते ही हैं, साथ-साथ गुप्त भी रहते हैं। ये लोग यदि साझेदारी से अपने सम्बन्ध विच्छेद करते हैं तो उनको अन्य साझेदारो के समान आम सूचना का प्रकाशन नही कराना पडता, क्योंकि इससे पूर्व भी ये लोग जनता मे प्रत्यक्ष रूप से नही आये थे। यदि साझेदार उस समय तक फर्म मे हो, जब तक कि किसी वाह्य ऋण का भुगतान सामूहिक अथवा व्यक्तिगत रूप मे किया जाता हो, तो उसको भी इस दायित्व को भुगतना पडेगा।

(६) **सीमित साझेदार** (Limited Partner)—सीमित साझेदार वह होते हैं, जो साझेदारी मे आते है और अपने दायित्व को व्यापार मे लगी हुई पूँजी तक सीमित कर लेते है। हानि होने की दशा मे इन लोगो को व्यापार मे दी गई पूँजी तक ही हानि सहन करनी पडती है। भारतवर्ष मे अभी तक इस प्रकार के साझेदारों के लिए कोई विधान नही है। विदेशो मे सीमित साझेदार होते है और

अपने राष्ट्र के नियमों के अनुसार इनके अधिकार रहते है। सीमित साभेदारी में हर दशा में कम से कम एक साभेदार तो ऐसा होना ही चाहिये, जिसका दायित्व असीमित हो।

(७) **उच्च तथा निम्न साभेदार** (Senior and Junior Partners)—कभी-कभी साभेदारी के समझौते मे अनुभवी तथा वयोवृद्ध लोगों को विशेषाधिकार दे दिये जाते हैं और अन्य लोगों को वे अधिकार प्राप्त नही होते। यह उस अवस्था मे होता है जब कोई व्यक्ति उस व्यापार में बहुत अच्छा अनुभव रखता हो तथा उसमे दक्षता प्राप्त किये हुए हो। उसको समस्त व्यापार का प्रबन्ध तथा सचालन कार्य सौंप देना व्यापारिक दृष्टि से हित कर सिद्ध होता है। ऐसे लोगों को उच्च साभेदार कहा जाता है और जो लोग उन अधिकारो से वंचित रहते हैं, उनको निम्न साभेदार कहा जाता है।

(८) **अवयस्क साभेदार** (Minor Partner)—जब व्यापार चालू हो और पुराने साभेदार व्यापार की वृद्धि के लिये किसी कम अवस्था वाले व्यक्ति; अर्थात् बालक को साभेदार बनाले, तो उसको अवयस्क साभेदार कहते हैं। ऐसा साभेदार बालिग नहीं होता और वह लाभ मे हिस्सेदार होता है, हानि मे नही। इस प्रकार उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति पर साभेदारी के दायित्व का कोई प्रभाव नही पड़ता। इस प्रकार के साभेदार को दिवालिया भी घोषित नही किया जा सकता। किन्तु यदि कोई व्यक्ति अवयस्क साभेदार है और वयस्क होने के छः महीने के अन्दर-अन्दर अपनी व्यापार मे रहने या न रहने की इच्छा की घोषणा न करदे, तो उसके बाद उसको साभेदार मान लिया जायेगा और उस दिन से उस पर भी साभेदारी के सारे के सारे नियम पूर्ण रूप से लागू हो जायेंगे।

(९) **आगंतुक साभेदार** (Incoming Partner)—जो साभेदार अन्य साभेदारो की सम्मति से स्थायी रूप से फर्म मे प्रवेश करता है, उसको आगंतुक साभेदार कहते है। यह व्यक्ति पुराने साभेदारों को कुछ रुपया उनकी बनाई हुई प्रतिष्ठा तथा पुरानी सेवाओं के लिये प्रव्याजि के रूप मे देता है और समभौते के अनुसार पूंजी लगता है तथा हानि-लाभ मे हिस्सेदार होता है। इस प्रकार के साभेदार को अपने आगमन में पूर्व के किसी दायित्व मे बाध्य नहीं किया जा सकता। पूंजी, प्रव्याजि, लाभ हानि का अनुपात, फर्म में सक्रिय भाग लेने का अधिकार आदि पुराने साभेदारो से हुए समभौते के अनुसार ही निश्चित किये जाते है।

(१०) **बहिर्गन्तुक साभेदार** (Outgoing Partner)—चाहे साभेदार सक्रिय हो अथवा नही, जिस समय वह व्यापार में अपने सम्बन्धों का विच्छेदन करके चला जाता है तो उसको बहिर्गन्तुक साभेदार कहते है। इसकी उसको उचित घोषणा करनी पड़ती है, उसके चले जाने के पश्चात् के ऋण आदि का उसमे ऊपर

कोई दायित्व नहीं होता। किन्तु वे कार्य, जिनके लिये उसकी साझेदारी के समय में प्रसंविदा लिखा गया था और उसके जाने के समय तक पूर्ण नहीं हुए हैं, जाने वाले साझेदार को उत्तरदायी रहना पड़ेगा (यह उसके उचित नोटिस देने पर भी लागू रहता है)। बहिर्गन्तुक साझेदार यदि समस्त साहूकारों तथा साझेदारों की अनुमति प्राप्त कर ले, तो वह साझेदारी के तमाम दायित्वों से मुक्त किया जा सकता है।

दर्शनार्थ साझेदार
(Holding out Partner)

साझेदारी के व्यापार में कभी-कभी ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जिनका व्यापार से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु उसके चलाने वालों की सहायता के लिये वह उनको अपने नाम का प्रयोग करने की आज्ञा दे देता है। इसका अर्थ यह हुआ कि दर्शनार्थ साझेदार वह व्यक्ति है, जो न तो उस व्यापार में कुछ पूँजी लगाता है, न उसके व्यापार में सक्रिय भाग ले सकता है और न उसके नाम से ही उसको किसी प्रकार का सम्बन्ध है, किन्तु बाहर के लोगों को यह ज्ञान होता है कि वह व्यक्ति भी फर्म में साझेदार है। इस क्रिया का उद्देश्य नये व्यक्तियों को व्यापार करने का अवसर देना है, जिससे उनकी व्यापारिक प्रतिष्ठा जम सके और व्यापार में निरन्तर उन्नति हो सके। इसलिये इन लोगों को 'अर्द्ध साझेदार' (Quasi Partner) के नाम से भी पुकारा जाता है। मोलो मार्च एण्ड कं० तथा कोर्ट-ऑफ़-वार्ड्स के केस में यह निर्णय किया गया कि "जब कोई व्यक्ति अपना नाम तथा साख किसी फर्म को दे देता है, या फर्म द्वारा अपने नाम के प्रयोग की आज्ञा दे देता है और उसमें 'दिखावटी' (दर्शनार्थ) साझेदार के रूप में रहता है, तो वह इस प्रकार की नियुक्ति अथवा सम्बन्ध के प्रति उत्तरदायी है, चाहे वह उसमें किसी प्रकार का स्वत्व रखता हो अथवा नहीं।" इस प्रकार यदि राम और हरी किसी व्यापार को कर रहे हैं और कृष्ण की व्यापारिक प्रतिष्ठा को देखते हुए उससे अपनी 'साख' दे देने की प्रार्थना करते हैं (जिससे कि कृष्ण को केवल अपने नाम के प्रयोग की आज्ञा दे देनी होगी और उसका फर्म से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहेगा) तो ऐसी दशा में कृष्ण फर्म का साझेदार माना जाता है और बाहर के व्यक्ति उसी नाम के आधार पर उस फर्म से व्यापारिक सम्बन्धों की स्थापना करते हैं।

इतना ही नहीं, यदि कोई साझेदार किसी व्यक्ति को एक अन्य व्यक्ति का उसके साझेदार के रूप में परिचय कराता है और वह व्यक्ति उस समय इसका विरोध नहीं करता, तो वह साझेदार माना जायगा और उस दशा में वह उस फर्म से होने वाली हानि के लिये उत्तरदायी रहेगा। मान लिया जाय 'क' ने 'ख' का परिचय 'ग' को साझेदार के रूप में कराया और 'ख' ने इसका कोई विरोध नहीं किया और उसके

इस प्रकार के भाव से 'ग' को विश्वास हो गया कि वह फर्म मे साझेदार है, तो 'ख' को उसके प्रति प्रत्येक हानि के लिये उत्तरदायी रहना पडेगा। किन्तु यह स्थिति तब ही उत्पन्न होगी जब यह सिद्ध किया जा सके कि उस व्यक्ति ने दूसरो के सामने ऐसा प्रदर्शित किया है कि वह फर्म का साझेदार है।

दर्शनार्थ साझेदार जब व्यापार से अलग हो जाता है और उसका कोई नोटिस नही देता और उसके चले जाने के बाद भी साझेदारी मे उसके नाम का प्रयोग किया जाता है, तो वह साझेदार बाहर के लोगो के प्रति तब तक उत्तरदायी रहेगा, जब तक उसने अपना नाम वापिस नही ले लिया हो। ध्यान रखना चाहिये कि इस प्रकार के साझेदार केवल हानि के ही साझेदार होते है और इनको लाभ मे कोई भाग नहीं मिलता।

यदि दिखावटी साझेदार की मृत्यु के बाद उसका नाम व्यापार मे प्रयोग किया जा रहा हो तो मृतक के उत्तराधिकारियो पर इसका कोई प्रभाव नही पडेगा। अर्थात् मृतक के वैधानिक प्रतिनिधि उसकी सम्पत्ति के स्वामी हो जायेंगे और उसके बाद वह सम्पत्ति साझेदारी के किसी कार्य के लिये देय नही होगी।

दर्शनार्थ साझेदारी के लाभ

दिखावटी साझेदारी मे निम्नलिखित लाभ है—

(१) यदि किसी व्यक्ति को व्यापारिक ख्याति प्राप्त हो और अन्य व्यक्ति जिनको उस व्यापार मे कोई नही जानता, किन्तु उनमे व्यापार करने की योग्यता है तो इस नाम के मिल जाने से वे बाहर अपनी प्रतिष्ठा जमा सकेंगे।

(२) इसकी सहायता से लोग उन पर **विश्वास** करने लगेगे और धीरे-धीरे उनकी साख जम जायगी तथा उनको अपने पैरो पर खडा होने का अवसर मिलेगा।

(३) किसी बडी साख तथा प्रतिष्ठा वाले व्यक्ति का नाम होने से साझेदारी मे रहने वाले लोग उसकी प्रतिष्ठा को रखने के लिये **नेकनामी** से कार्य करते है, जिससे व्यापार सबल होता जाता है।

(४) आर्थिक कठिनाई के अवसर पर ऐसे लोग **साझेदारी** की मदद करते है। जिससे उसका आर्थिक ढाँचा बिगडने से बच जाता है और सकटोपरान्त भागिता-सार्थ विकास की ओर अग्रसर हो सकती है।

(५) इन व्यक्तियो का नाम रहने से बाहर के **साहूकार** बिना किसी चिन्ता अथवा संदेह के फर्म के साथ व्यापारिक तथा आर्थिक लेन-देन रख सकते है।

(६) जो लोग साझेदारी में इस प्रकार से अपना नाम देते है, वे उसकी गति-विधि पर पूर्ण रूप से **नियंत्रण** रखते है और साझेदारो को कपटपूर्ण कार्य करने से रोक लेते है। इस प्रकार की प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

दर्शनार्थ साझेदारी से हानियां

(१) एक व्यक्ति जिसका व्यापार में किसी प्रकार का हित नहीं रहता, जब साझेदारी में अपना नाम दे देता है तो फर्म के साझेदारों में मनोवैज्ञानिक हीनता उत्पन्न हो जाती है और वे स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं कर सकते।

(२) जनता में असली साझेदारों का कोई विशेष विश्वास नहीं जमता, क्योंकि दिखावटी साझेदार की ही प्रसिद्धि की जाती है और असली कार्य करने वाले पीछे रह जाते हैं। अतः दिखावटी साझेदार को तो अधिकाधिक सम्मान मिलता है, किन्तु उसको बढ़ाने वाले लोगों की ओर कोई ध्यान नहीं देता।

(३) उसका नाम होने से अन्य साझेदार निश्चिन्त हो जाते हैं और व्यापार में पूर्ण योग के साथ कार्य नहीं करते, क्योंकि उनको ज्ञान होता है कि उसकी प्रतिष्ठा के कारण उनकी साख तो जमी ही रहेगी। इसका व्यापारिक प्रगति पर विषम प्रभाव पड़ता है।

(४) हानि होने की दशा में वे लोग जिनके कार्यों से हानि हुई है कुछ भी कठिनाई सहन नहीं करेंगे और जिसने उपकार की दृष्टि से अपना नाम व्यापार में दे दिया है, सारी हानि को सहन करेगा।

(५) अविश्वासी तथा कपटपूर्ण व्यक्ति ऐसे साझेदार के नाम का दुरुपयोग करेगा और समाज में उसकी बनी हुई प्रतिष्ठा को भी बिगाड़ देगा।

साझेदारी में अल्पवयस्क भागी

(Minor in Partnership)

साझेदारी आपस के अनुबन्ध पर निर्भर रहती है, इसलिये उसमें भाग लेने वाले लोगों को अनुबन्ध करने के योग्य होना चाहिये। भारतीय अनुबन्ध अधिनियम (Indian Contract Act) के अनुसार अल्पवयस्क के साथ किया हुआ अनुबन्ध वर्जित (Void) होता है, अतः उसको साझेदारी के अधिकार एवं दायित्वों से बाँधा नहीं जा सकता। साझेदारी अधिनियम की धारा ३० के अनुसार अल्पवयस्क साझेदार के लिये निम्नलिखित नियम लागू होंगे—

(१) अल्पवयस्क साझेदार तभी बन सकता है, जब अन्य सभी साझेदार सहमत हों। वह केवल लाभ में ही साझेदार बनाया जा सकता है।

(२) वह साझेदारी में निश्चित किया हुआ ही लाभ पा सकेगा। उसको फर्म की लेखा पुस्तकों को जाँचने तथा प्रतिलिपि प्राप्त करने का अधिकार होगा। किन्तु उसको व्यापार की अन्य गुप्त (Secret) योजनाओं तथा नीतियों की पुस्तकों को देखने का अधिकार नहीं होगा और न वह व्यापार में सक्रिय भाग ही ले सकेगा क्योंकि वह फर्म का प्रतिनिधित्व करने योग्य नहीं है।

(३) कोई अल्पवयस्क फर्म के साझेदारों पर फर्म की सम्पत्ति अथवा लाभ में अपने भाग के हिसाब देखने या चुकाने के लिये दावा नहीं कर सकता। किन्तु जब वह फर्म से अपने सम्बन्ध विच्छेद कर देता है, तो उसको यह अधिकार प्राप्त है। जहाँ तक हानि का प्रश्न है, उसका उत्तरदायित्व फर्म में लगी हुई सम्पत्ति तक ही सीमित रहता है। वह व्यक्तिगत रूप से कभी उत्तरदायी नहीं होता।

(४) बालिग होने की अवधि के छः महीने के अन्दर उसको इस बात की सार्वजनिक सूचना देनी आवश्यक है कि उसने उस फर्म में साझेदार बनना अथवा न बनना स्वीकार कर लिया है। यदि उसके द्वारा ऐसी सूचना नहीं दी जाती है, तो छः मास के बाद वह साझेदार मान लिया जायगा।

(५) जब वह साझेदार बन जाता है, तो उसके उत्तरदायित्व तथा अधिकार पूर्ण रूप से अन्य साझेदारों के समान हो जाते हैं। वह अन्य पक्षों के प्रति उत्तरदायी उसी समय से होता है, जब से उसको साझेदारी में सम्मिलित किया गया है। दूसरे शब्दों में अपने अल्पवयस्क काल से ही वह उत्तरदायी माना जायगा, क्योंकि यह विचार किया जाता है कि बालिग होने पर जब उसने यह स्वीकार कर लिया कि वह फर्म का साझेदार बनना चाहता है, तो उसको फर्म की पूर्ण जानकारी है और वह जान-बूझ कर ही फर्म के दायित्वों को लेने के लिये उद्यत है। दूसरे, अल्पवयस्क काल में वह लाभ का भागी तो बराबर रहा ही है।

(६) वयस्क होने पर उसके लाभ का हिस्सा उतना ही रहेगा, जितना पूर्व था, किन्तु सब की सलाह पर उसको बदला जा सकता है।

(७) यदि वह साझेदारी से सम्बन्ध विच्छेद कर देता है तो उसके अधिकार एवं उत्तरदायित्व नोटिस की तिथि तक वही रहेंगे, जो अल्पवयस्क होने की अवस्था में थे। किन्तु उस तिथि के बाद वह समस्त दायित्वों से मुक्त रहेगा।

बहिर्गन्तुक भागीदार
(Outgoing Partner)

निम्नलिखित अवस्थाओं में कोई भी साझेदार निर्गत या बहिर्गन्तुक साझेदार कहलायेगा—(१) निवृत्ति (Retirement), (२) निष्कासन (Expulsion), (३) दिवालियापन (Insolvency) तथा (४) मृत्यु (Death)।

(१) साझेदार की निवृत्ति (Retirement of Partner)—कोई भी व्यक्ति जब साझेदारों से निवृत्ति लेना चाहता है तो उसको साझेदारी विधान की धारा ३२ (१) के अनुसार (अ) दूसरे साझेदारों से अनुमति माँगनी पड़ेगी, या (आ) उनके बीच हुए किसी समझौते के अनुसार वह व्यापार को छोड़ सकेगा, या (इ) जब साझेदारी इच्छित साझेदारी हो तो निवृत्ति चाहने वाले व्यक्ति को लिखित रूप से, अन्य साझेदारों के पास, अपने छोड़ने का कारण भेजना पड़ेगा। अन्य अवस्थाओं में

जब साझेदार का स्वास्थ्य ठीक नहीं हो और वह व्यापार में सक्रिय भाग नहीं ले सकता हो, तो साझेदारी से निवृत्ति पा सकता है। फिर यदि साझेदार विदेश में जा रहा हो अथवा उसकी स्वतन्त्र व्यापार करने की इच्छा हो तो वह साझेदारी से, अन्य साझेदारों की अनुमति से, अलग हो सकेगा।

इस निवृत्ति के लिये उसको सामान्य सूचना देना आवश्यक है, क्योंकि जिस समय तक वह इस प्रकार की सूचना नहीं दे देता, वह अन्य पक्ष के प्रति उत्तरदायी रहता है। जब समस्त साहूकार तथा साझेदार उसको अनुमति दे देते हैं, तो वह बिना सूचना दिये हुए ही जा सकता है और उसके ऊपर कोई दायित्व नहीं रहता।

(२) साझेदार का निष्कासन (Expulsion of Partner)—धारा ३३ (१) के अनुसार साझेदार तब तक व्यापार से अलग नहीं किया जा सकता, जब तक कि वह समझौते से मिली शक्ति तथा अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करे। यदि कोई भागी कपटपूर्ण व्यवहार करता है तो अन्य भागीदार उसको केवल बहुमत के द्वारा ही निकाल सकते हैं। जो व्यक्ति निकाला जाता है उसके दायित्व उसके निकाले जाने की तिथि तक अन्य साझेदारों के समान ही रहेंगे, किन्तु निकाले जाने की तिथि के बाद के दायित्वों उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। निकाले जाने वाले साझेदार को जन-सूचना देने की भी आवश्यकता नहीं।

(३) साझेदार का दिवालिया होना (Insolvency of Partner)—धारा ४१ के अनुसार यदि कोई साझेदार दिवालिया हो गया हो तो साझेदारी समाप्त मानी जाती है। साझेदारों के आपस के अनुबन्ध के अनुसार तथा साझेदारी कानून की धारा ३४ (१) के अन्तर्गत जब कोई साझेदार दिवालिया घोषित किया जाता है, तो उस समय से वह साझेदार नहीं रह सकता। इसके लिये आवश्यक नहीं कि फर्म को समाप्त ही किया जाय। जब फर्म समाप्त नहीं होती तो उस तिथि के पश्चात् दिवालिया साझेदार की निजी सम्पत्ति पर फर्म के किसी दायित्व का प्रभाव नहीं पड़ता और न उसके दायित्वों का प्रभाव ही फर्म की सम्पत्ति पर पड़ता। इसके लिये किसी प्रकार की जन-सूचना देने की आवश्यकता नहीं होती।

(४) साझेदार की मृत्यु (Death of Partner)—धारा ३५ के अनुसार जब साझेदारी के आपस के अनुबन्ध के कारण किसी फर्म का अन्त नहीं होता तो मृतक साझेदार की सम्पत्ति के ऊपर उस समय से फर्म का कोई दायित्व नहीं रहता, जिस दिन उसकी मृत्यु हुई हो। किन्तु शेष रहने वाले साझेदारों को तुरन्त ही इसकी जन-सूचना दे देनी पड़ती है, नहीं तो वे अन्य पक्षों के लिये तब तक उत्तरदायी रहेंगे, जब तक उन्होंने सूचना नहीं दी। इसका अर्थ यह हुआ कि मृत्यु के बाद किसी साझेदार की सम्पत्ति का चाहे वह व्यापार में हो अथवा निजी हो, साझेदारी के दायित्व से मुक्त हो जाती है।

जाने वाले साझेदारों के अधिकार एवं दायित्व
(Rights and Liabilities of Outgoing Partners)

जाने वाले साझेदारों के निम्नलिखित अधिकार तथा दायित्व होते हैं—

(१) जाने वाले साझेदार को उन समस्त दायित्वों से मुक्त किया जाता है, जो उसमें आने से पूर्व किसी अन्य पक्ष के साथ अनुबन्ध द्वारा किये हो।

(२) व्यापार छोड़ देने के पश्चात् जब तक कोई जाने वाला साझेदार अपने छोड़ने की सूचना जन-साधारण को नहीं दे देता, तब तक वह अन्य पक्षों के प्रति उत्तरदायी रहता है। चाहे सौदा या इस प्रकार का दायित्व उसके चले जाने के पश्चात् हुआ हो और अन्य पक्ष को इसकी सूचना नहीं मिली हो, तो वे बहिर्गन्तुक भागी की सम्पत्ति से वसूल कर सकते हैं। किन्तु उस स्थिति में जब अन्य पक्ष फर्म में बिना यह जाने हुए व्यापार कर रहा हो कि जाने वाला व्यक्ति साझेदार है, तो वह जन-सूचना न दिये जाने पर भी उसकी सम्पत्ति पर आक्षेप नहीं कर सकता।

(३) यदि जाने वाले साझेदार ने अपनी व्यापारिक प्रतिष्ठा नहीं बेची हो, तो वह जाने के पश्चात् उस व्यापार से **प्रतिद्वन्द्विता रखने वाले व्यापार को कर सकता है** और उसका प्रचार भी कर सकता है।

(४) जाने वाले साझेदार को **फर्म का नाम प्रयोग करने का कोई भी अधिकार नहीं है,** और न वह फर्म के पुराने ग्राहकों को तोड़ने के लिये यह कह सकता है कि वह फर्म का ही व्यापार कर रहा है। उसको व्यापार के प्रतिनिधित्व करने का भी कोई अधिकार नहीं होता।

धारा ३६ (२) के अनुसार साझेदार पुराने साझेदारों से यह समझौता कर सकता है कि वह फर्म छोड़ने के बाद उस प्रकार का कोई व्यापार नहीं करेगा, जिससे उनके साथ प्रतिस्पर्द्धा हो। किन्तु इसके लिये **निश्चित क्षेत्र तथा समय होना आवश्यक है।** यदि भारतीय प्रसंविदा अधिनियम की २७वीं धारा के अन्तर्गत सब बातें ठीक हों, तो इस प्रकार का समझौता मान्य होगा।

जब किसी साझेदार की मृत्यु हो जाय या कोई साझेदारों से अलग हो जाय और शेष साझेदार बिना ऐसे व्यक्ति का हिसाब किये हुए ही फर्म की सम्पत्ति द्वारा व्यापार करें, तो साझेदार के उत्तराधिकारी या बहिर्गन्तुक साझेदार अपनी इच्छा के अनुसार साझेदार से **लाभ का हिस्सा** ले सकेगा या उस पर ६% **ब्याज** लेने का अधिकार होगा।

किन्तु उस दशा में जब कि साझेदारों से पहिले ही कोई समझौता किया गया हो और उनको व्यापार में हिस्सा लेने का अधिकार दिया हो, और वह व्यक्ति इस अधिकार का प्रयोग न करना चाहे, तो उसको पूर्व लिखित अधिकार प्राप्त है।

सीमित साझेदारी
(Limited Partnership)

सीमित साझेदारी आंग्ल सीमित साझेदारी अधिनियम (१९०७) के अनुसार वह है, जिसमे एक अथवा एक से अधिक व्यक्ति साधारण साझेदार हों, और उनका उत्तरदायित्व अपरिमित हो तथा एक या एक से अधिक साझेदार इस प्रकार के सदस्य हों, जिनका दायित्व उनके व्यापार मे लगे धन तक ही सीमित हो।

इस प्रकार की साझेदारी उन व्यक्तियों को प्रोत्साहन देने के लिये बनाई जाती है जो असीमित दायित्व नहीं चाहते अथवा जिनको प्रबन्ध मे भाग लेने की आवश्यकता नही है, या जो स्वय सक्रिय भाग लेने की इच्छा नही रखते। इस प्रकार की साझेदारी सामान्य अधिनियमों या उस देश के व्यावहारिक नियमों के अन्तर्गत चलती है।

सर्वप्रथम सीमित साझेदारी सन् ११६० ई० मे इटली के कुछ नगरों मे वैधानिक रूप मे आई। मध्यकालीन भूमध्यसागर का व्यापार इसी प्रकार से चलता था। धीरे-धीरे सीमित साझेदारी इटली से फ्रांस तथा यूरोप के अन्य देशों मे फैली। सन् १८२२ मे इस पद्धति को न्यूयार्क ने अपनाया। आधुनिक युग मे यह पद्धति प्रायः प्रत्येक प्रगतिशील राष्ट्र मे अपनायी जाने लगी है।

सीमित साझेदारी का निर्माण (Formation of Limited Partnership)—सीमित साझेदारी के निर्माण के लिए साझेदारों को लिखित रूप मे उस क्षेत्र के अधिकारी के पास एक आवेदन-पत्र भेजना पड़ता है। जिसमे वे अपने व्यापार का नाम, स्थान, प्रकृति, सीमित तथा असीमित साझेदारों के नाम और पते तथा प्रत्येक साझेदार द्वारा लगाई पूँजी का विवरण देते है। इसके साथ ही साथ उसमे व्यापार की अवधि का देना भी आवश्यक है। आवेदन-पत्र को वैधानिक दृष्टि मे पूर्ण होना चाहिए। जिससे कि उनको सीमित साझेदारी के लाभ प्राप्त हो सकें। यद्यपि कानून की प्रत्येक धारा का पालन करना साझेदारी के लिए आवश्यक नहीं है, फिर भी यदि उसका पालन नहीं किया जाता, तो सारे साझेदारों का दायित्व असीमित हो जाता है।

सीमित साझेदारी की विशेषताएँ
(Requisites of Limited Partnership)

सीमित साझेदारी की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(१) सीमित भागिता-सार्थ मे कम-से-कम एक असीमित दायित्व वाला भागीदार अवश्य होना चाहिये, शेष साझेदार सीमित हो सकते हैं।

(२) सीमित साझेदार साझेदारी मे सक्रिय भाग नहीं ले सकता, क्योंकि ऐसा करने से उसकी गिनती सामान्य भागियों मे की जायगी। वह निष्क्रिय भागी होता है।

(३) सीमित साझेदार को साधारण साझेदार की अपेक्षा अधिक पूँजी लगानी पड़ती है।

(४) सीमित साझेदारी का पंजीयन कराना आवश्यक है। पंजीयन कराते समय सीमित तथा असीमित साझेदारी का स्पष्टीकरण किया जाना चाहिए।

(५) सीमित साझेदारी में सीमित साझेदार की मृत्यु हो जाने अथवा उसके निवर्तन, पागलपन तथा दिवालिया हो जाने पर साझेदारी का विलीयन नहीं होता।

(६) सीमित साझेदार को अपने हिस्से की पूँजी सम्पूर्ण रूप में नकद चुकानी पड़ती है, और वह सविलयन होने तक वापिस नहीं ली जा सकती।

(७) सीमित भागीदार अन्य साझेदारों की अनुमति से, अपना हित दूसरे को स्थानान्तरित कर सकता है।

(८) सीमित साझेदार अपने कार्यों से अन्य साझेदारों को उत्तरदायी नहीं बना सकता, क्योंकि उसे प्रबन्ध-व्यवस्था में कुछ भाग नहीं दिया जाता है।

(९) सस्था के दृष्टिकोण से सामान्य और सीमित साझेदारी में कोई अन्तर नहीं है।

सीमित साझेदारी के लाभ

(Advantages of Limited Partnership)

सीमित साझेदारी के निम्नलिखित लाभ हैं—

(१) साझेदारी का सचालन कुछ ही व्यक्तियों के हाथ में रहने से व्यापार का कार्य सफलता तथा कुशलता के साथ चलता है, क्योंकि व्यापारी उसमें तुरन्त निर्णय ले सकता है।

(२) प्रबन्ध करने वाले साझेदार का असीमित दायित्व होने के कारण वह व्यापार में सोच विचार कर तत्परता से कार्य कर सकता है।

(३) पूँजी के अभाव में कोई भी योग्य व्यक्ति अपनी थोड़ी सी भी पूँजी लगाकर अपने दायित्वों को सीमित कर सकता है। इसके साथ साथ प्रबन्ध में अपनी सक्रिय सलाह देकर व्यापार को सुदृढ़ भी बना सकता है।

(४) सीमित साझेदारी का जीवन दीर्घ होता है, क्योंकि असीमित साझेदार के किसी भी अवस्था के कारण चले जाने पर साझेदारी का अन्त नहीं होता।

(५) जो लोग सचालन में भाग लेना नहीं चाहते अथवा अधिक जोखिम नहीं उठाना चाहते, उनके लिए इस प्रकार की साझेदारी अत्यन्त उपयुक्त है।

(६) सामान्य भागीदार नवीन भागीदार को इच्छानुसार रख सकते हैं।

(७) आकस्मिक पूँजी कम होने का भय नहीं रहता है, क्योंकि सीमित भागीदार सार्थ के संविलयन तक पूँजी वापिस नहीं ले सकता।

(८) सीमित भागीदार, सामान्य भागियों की अनुमति से अपना हित हस्तान्तरित करा सकता है।

सीमित साझेदारी के दोष
(Disadvantages of Limited Partnership)

(१) सीमित साझेदारी का प्रचलन धीरे-धीरे कम होता जा रहा है और इसका स्थान संयुक्त प्रमण्डलों ने ले लिया है, क्योंकि उनमें सीमित साझेदारी के प्रत्येक लाभ विद्यमान हैं।

(२) इस प्रकार की साझेदारी के कारण कभी-कभी ऋणदाताओं को हानि उठानी पड़ती है, क्योंकि यदि असीमित दायित्व वाला साझेदार अपनी सम्पत्ति का दूसरी प्रकार प्रयोग कर दे अथवा उसकी विशेष सम्पत्ति न हो, तो उत्तमर्णों को पूर्ण राशि प्राप्त नहीं हो सकेगी।

(३) सीमित साझेदार के पृथक् हो जाने पर उसको विशेष हानि की सम्भावना रहती है।

(४) यदि असीमित तथा धनिक सीमित साझेदार आपस में मिलकर कपट-पूर्वक व्यवहार करना चाहें, तो सुगमता से कर सकते हैं।

(५) असीमित भागीदार पर लगाए गए प्रतिबन्ध सामान्य भागीदार के लाभ हैं, जैसे—वह प्रबन्ध में भाग नहीं ले सकता; फर्म का संविलयन नहीं करा सकता। नवीन भागीदार के सम्मिलित करने पर उसकी स्वीकृति आवश्यक नहीं, तथा न वह पूँजी ही वापिस माँग सकता है।

(६) सीमित साझेदारी बड़े-बड़े महत्वपूर्ण तथा जोखिम के व्यवसाय के लिए सुविधाजनक नहीं होती।

(७) पंजीयन अनिवार्य होता है, अतः विज्ञापन हो जाने से सामान्य भागीदार कुछ विशेष लाभों से वंचित रह जाते हैं।

साझेदारी का पंजीयन
(Registration of Partnership)

पंजीयन की विधि (Procedure for Registration)—१९३२ के साझेदारी कानून में फर्म के रजिस्ट्रेशन की व्यवस्था भी की गई है। प्रत्येक प्रान्त में एक-एक रजिस्ट्रार नियुक्त किया गया है और उसका कार्य इस प्रकार की संस्थाओं का पंजीयन करना होता है।

जब कोई फर्म अपना रजिस्ट्रेशन कराना चाहती है, तो उसको पंजीयन शुल्क के साथ अपने व्यापार का निम्नलिखित विवरण भेजना पड़ता है—

(१) संस्था का नाम तथा पता, जहाँ प्रमुख कार्यालय हो;

(२) अन्य संस्थाओं के नाम तथा उनकी सम्पूर्ण स्थिति और पता;

(३) अलग-अलग साझेदारियों में सम्मिलित होने की तिथि;

(४) साझेदारो के नाम तथा स्थायी पते;

(५) साझेदारी का जीवन-काल।

धारा ५८ के अनुसार पजीयन के लिये भेजा गया विवरण सभी साझेदारो को अच्छी तरह जाँच लेना चाहिए और उससे सतुष्ट होवे पर प्रत्येक साझेदार को उस पर हस्ताक्षर करने चाहिये। रजिस्ट्रार, प्राप्त आवेदन-पत्र का निरीक्षण करके, उसको पूर्ण विवरण के साथ अपने रजिस्टर मे चढा देता है। इस रजिस्टर को 'साझेदारी का रजिस्टर' कहते है। साझेदारो के द्वारा प्राप्त आवेदन पत्र रजिस्ट्रार के कार्यालय में नत्थी कर दिया जायेगा।

साझेदारी का पंजीयन हो जाने के पश्चात् यथोचित शुल्क देकर साझेदार निम्नलिखित बातों का रजिस्ट्रेशन भी करा सकते है—

(१) व्यापार के प्रमुख स्थान मे परिवर्तन,

(२) व्यापार के नाम मे परिवर्तन,

(३) किसी स्थान में व्यापार चालू करना और किसी स्थान मे व्यापार प्रारम्भ करना, दोनों स्थानो की स्थिति तथा पता,

(४) किसी साझेदार के नाम तथा पते मे परिवर्तन,

(५) साझेदारो के बीच हुए समझौते मे किसी प्रकार का परिवर्तन,

(६) नाबालिग साझेदार का बालिग होने पर साझेदारी मे रहने या न रहने का निर्णय।

६४वी धारा के अनुसार रजिस्ट्रार को (१) अधिकार है कि वह प्रस्तुत किये गये पत्रो के अनुसार यदि रजिस्टर मे किसी प्रकार की अशुद्धि हो तो उसको सुधार सके, (२) साझेदारी के समस्त सदस्यो के हस्ताक्षरो पर पर भेजे गए आवेदन-पत्र के अनुसार यदि वे मूल-पत्रक मे किसी प्रकार का परिवर्तन करना चाहें अथवा किसी अशुद्धि को ठीक करना चाहे तो वह इस प्रकार का परिवर्तन कर सकता है। ६५वी धारा के अनुसार न्यायालय द्वारा भी इस प्रकार का परिवर्तन करवाया जा सकता है।

साझेदारी द्वारा जो पत्रक फर्म के पजीयन के लिये भेजे गये है, कोई भी व्यक्ति उन पत्रकों का तथा साझेदारी पजी का, उचित फीस देकर, निरीक्षण कर सकता है। इसके साथ-साथ यदि कोई व्यक्ति रजिस्टर के किसी अश की प्रतिलिपि चाहे, तो रजिस्ट्रार निश्चित फीस लेकर किसी भी व्यक्ति को प्रमाणित प्रतिलिपि दे सकता है।

साझेदारी के पंजीयन का प्रमाण उसकी प्रमाणित प्रतिलिपि के प्रस्तुत करने मे ही पूर्ण हो जायेगा।

जानी जा सकेगी और अन्य पक्षों को उससे व्यवहार करने में कोई कठिनाई नही होगी।

(३) किसी साझेदार के विरुद्ध यदि कोई साहूकार अभियोग चलाना चाहे, तो वह उस व्यक्ति के विषय में सदस्य-पंजी से मालूम कर सकता है। जिसका नाम रजिस्टर में लिखा होता है, उसको यह इन्कार करने का अधिकार नहीं कि वह साझेदार नहीं है।

(४) साझेदार साझेदारी के विरुद्ध अपने अधिकारों की रक्षा तथा उनको प्रमाणित कराने के लिए न्यायालय में अभियोग चला सकता है।

(५) मृतक अथवा दिवालिया भागी की सम्पत्ति पर तो उसके बाद कोई प्रभाव नही पडता। किन्तु जो व्यक्ति निवृत्ति प्राप्त कर रहा, उसको अपने हितों की रक्षा के लिये अपनी निवृत्ति की सूचना शीघ्र ही रजिस्ट्रार को भेजनी पडेगी। इस सूचना को ही जन-सूचना मान लिया जाता है।

साझेदारी का संविलयन

(Dissolution of Partnership Firm)

कोई भी साझेदारी निम्नलिखित प्रकार से समाप्त की जा सकती है—

(१) **अनुबन्धात्मक विलीयन** (According to Agreement)—धारा ४० के अनुसार साझेदारी का विलियन एक निश्चित समय के बाद हो जायगा। यह समय साझेदार पहिले ही आपस में तय कर लेते हैं। कभी-कभी साझेदार किसी भी समय आपस में समझौता करके साझेदारी का अन्त कर सकते है।

(२) **अनिवार्य विलीयन** (Compulsory Dissolution)—अनिवार्य निम्लिखित अवस्थाओं में होता है—

(अ) जब सब या एक साझेदार को छोडकर अन्य भागी दिवालिया घोषित विलीयन कर दिये गये हो।

(आ) जब किसी घटना के कारण व्यापार अवैधानिक हो जाय, जैसे—किसी साझेदारी में शत्रु-देश का कोई साझेदार हो और दोनों देशों में युद्ध प्रारम्भ हो गया हो।

(३) **कपटपूर्ण व्यवहार के कारण** (By Fraudulent Behaviour)—जब कोई साझेदार अपने अधिकारों का दुरुपयोग करके अन्य साझेदारों को छल या कपट के द्वारा आर्थिक हानि पहुँचाता है, तो कोई भी साझेदार साझेदारी का अन्त करवा सकता है।

(४) **साझेदार की निवृत्ति के कारण** (By Retirement of any Partner)—धारा ३२ के अनुसार कोई भी साझेदार व्यापार से निवृत्ति ले सकता है, ऐसी स्थिति में साझेदार के चले जाने पर यदि साझेदारों में इसके विपरीत कोई अनुबन्ध न हो,

पंजीयन न करवाने का प्रभाव
(Effect of Non-Registration)

साझेदारी की धारा ६९ के अन्तर्गत साझेदारी का पंजीयन न होने पर उस पर क्या प्रभाव पड़ेगा, स्पष्ट रूप में दिया हुआ है। कानून किसी साझेदारी को पजीयन करवाने के लिये बाध्य नहीं करता, और इसके न करने में उसकी वैधानिक शक्ति में ही कोई अन्तर आता है या उनके किये गये समझौतों को व्यर्थ समझा जाता है। किन्तु पजीयन न करने की अवस्था मे निम्नलिखित अयोग्यतायें आ जाती हैं—

(क) कोई भी साझेदार या उसका प्रतिनिधि किसी अन्य साझेदार के विरुद्ध न्यायालय में अपने अधिकारों की रक्षा के लिये नहीं जा सकेगा।

(ख) कोई साझेदार अथवा फर्म अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिये किसी अन्य पक्ष के विरुद्ध न्यायालय में नहीं जा सकेंगे।

(ग) इसी प्रकार साझेदारी अथवा उसके सदस्य अनुबन्ध से पैदा होने वाली किसी प्रकार की छूट या किसी स्वत्व के स्थापित करने कोई कार्यवाही नहीं कर सकते।

(घ) रजिट्रेशन न कराने पर भी साझेदारी के निम्नलिखित स्वत्वों पर कोई प्रभाव नही पड़ता—

(१) अन्य पक्ष फर्म या भागियों के विरुद्ध अभियोग चला सकते है।

(२) किसी भागी का साझेदारी के विलीयन करने के लिये या विलय हुई साझेदारी का हिसाब करने के लिये, या उस अवस्था मे साझेदारी में अपनी सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये अभियोग चल सकता है।

(३) अधिकार प्रापक (Receiver) किसी दिवालिया साझेदार की सम्पत्ति ले सकता है।

(४) कोई भी अभियोग जो १००) से अधिक का न हो, साझियों या साझेदारी द्वारा चलाया जा सकता है।

पंजीयन के लाभ
(Advantages of Registration)

पजीयन से निम्नलिखित लाभ है:—

(१) कोई भी रजिस्टर्ड फर्म साझेदारों अथवा अन्य पक्षों के विरुद्ध न्यायालय में अभियोग चला सकती है और इसी प्रकार अपने अधिकारों के लिये भी न्यायालय की शरण ले सकती है।

(२) कोई भी व्यक्ति साझेदारी का पूर्ण विवरण प्राप्त कर सकता है। इसमें साझेदारी मे कौन-कौन से व्यक्ति हैं तथा साझेदारी की क्या अवस्था है, आसानी से

जानो जा मकेगी और अन्य पक्षो को उसमे व्यवहार करने मे कोई कठिनाई नही होगी ।

(३) किसी साझेदार के विरुद्ध यदि कोई साहूकार अभियोग चलाना चाहे, तो वह उस व्यक्ति के विषय मे सदस्य-पजी से मालूम कर सकता है । जिसका नाम रजिस्टर मे लिखा होता है, उसको यह इन्कार करने का अधिकार नही कि वह साझेदार नही है ।

(४) साझेदार साझेदारी के विरुद्ध अपने अधिकारो की रक्षा तथा उनको प्रमाणित कराने के लिए न्यायालय मे अभियोग चला सकता है ।

(५) मृतक अथवा दिवालिया भागी की सम्पत्ति पर तो उसके बाद कोई प्रभाव नही पडता । किन्तु जो व्यक्ति निवृत्ति प्राप्त कर रहा, उसको अपने हितो की रक्षा के लिये अपनी निवृत्ति की सूचना शीघ्र ही रजिस्ट्रार को भेजनी पडेगी । इस सूचना को ही जन-सूचना मान लिया जाता है ।

साझेदारी का संविलयन

(Dissolution of Partnership Firm)

कोई भी साझेदारी निम्नलिखित प्रकार से समाप्त की जा सकती है—

(१) **अनुबन्धात्मक विलीयन** (According to Agreement)—धारा ४० के अनुसार साझेदारी का विलियन एक निश्चित समय के बाद हो जायगा । यह समय साझेदार पहिले ही आपस में तय कर लेते है । कभी-कभी साझेदार किसी भी समय आपस मे समझौता करके साझेदारी का अन्त कर सकते है ।

(२) **अनिवार्य विलीयन** (Compulsory Dissolution)—अनिवार्य निम्नलिखित अवस्थाओ मे होता है—

(अ) जब सब या एक साझेदार को छोड़कर अन्य भागी दिवालिया घोषित विलीयन कर दिये गये हो ।

(आ) जब किसी घटना के कारण व्यापार अवैधानिक हो जाय, जैसे—किसी साझेदारी मे शत्रु-देश का कोई साझेदार हो और दोनों देशो मे युद्ध प्रारम्भ हो गया हो ।

(३) **कपटपूर्ण व्यवहार के कारण** (By Fraudulent Behaviour)—जब कोई साझेदार अपने अधिकारों का दुरुपयोग करके अन्य साझेदारो को छल या कपट के द्वारा आर्थिक हानि पहुँचाता है, तो कोई भी साझेदार साझेदारी का अन्त करवा सकता है ।

(४) **साझेदार की निवृत्ति के कारण** (By Retirement of any Partner)—धारा ३२ के अनुसार कोई भी साझेदार व्यापार मे निवृत्ति ले सकता है, ऐसी स्थिति मे साझेदार के चले जाने पर यदि साझेदारो मे इसके विपरीत कोई अनुबन्ध न हो,

(घ) अभियोग चलाने वाले साझेदार के अतिरिक्त यदि अन्य साझेदार ने अपना सम्पूर्ण हित बिना अनुमति के किसी तीसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित कर दिया हो।

(ङ) अभियोग चलाने वाले साझेदार के अतिरिक्त यदि अन्य भागीदार जान-बूझ कर बारम्बार प्रबन्ध-सम्बन्धी मलेख के विरुद्ध कार्य करता है।

(च) जब न्यायालय को पूर्ण ज्ञान हो जाय और वह सन्तुष्ट हो जाय कि साझेदारी का व्यापार किसी भी प्रकार लाभ मे नहीं चल सकता, तो वह साझेदारी के विलीयन का आदेश दे देगा।

(छ) जब न्यायालय अन्य किसी कारणवश साझेदारी का विलीयन उचित तथा न्याययुक्त समझता है।

विलीयन के बाद साहूकारो की स्थिति
(Position of Creditors after Dissolution)

साझेदारी का पूर्ण विलीयन उस समय होता है जबकि साझेदारी के साहूकारो (उत्तमर्णों) को सार्थ की सम्पत्ति मे पूर्ण या आंशिक राशि शोधन कर दी गई हो। यदि साझेदारो की वैयक्तिक सम्पत्ति मे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता है, तो उत्तमर्णों को आंशिक राशि से ही सतोष करना पड़ता है। ऋण शोधन के बाद शेष राशि का उचित विभाजन भागीदारो मे होना चाहिए।

साझेदारी की धारा ४६ से ४६ तक साहूकारो के अधिकारो का विवेचन किया गया है। उसके अनुसार साझेदारी के विलीयन के बाद साहूकारो के निम्नलिखित अधिकार होते हैं—

(१) साझेदारी की सम्पत्ति से सर्वप्रथम बाहर के साहूकारो के ऋण चुकाये जायेंगे। इस सम्पत्ति मे वह धन भी शामिल है जो साझेदारो ने ऋण का पूरा शोधन करने के लिये दिया हो।

(२) सम्पत्ति का मूल्याकन करने के लिये व्यापारिक ख्याति का भी मूल्याकन किया जायगा।

(३) जब साझेदारो पर सयुक्त तथा व्यक्तिगत ऋण हो तो साझेदारी की सम्पत्ति सबसे पहले संयुक्त ऋण के लिये दी जायगी तथा शेष सम्पत्ति उनके वैयक्तिक साहूकारो को दी जायगी। साझेदार की व्यक्तिगत सम्पत्ति मे से पहले उसके निजी साहूकारो का भुगतान किया जायगा, और शेष उसके व्यापारिक साहूकारो के लिये होगी।

(४) साझेदारी के विलीयन हो जाने पर भी जब तक उसकी जन-सूचना नहीं दी जाती, साझेदार अन्य पक्ष के लिये उत्तरदायी रहेगे।

(५) विलीयन की जन-सूचना देने के पश्चात् भी साझेदारो का दायित्व उस

दशा मे बना ही रहेगा, जब कि कोई सौदा पूर्ण न हुआ हो या किसी सौदे के पूर्ण करने मे उनकी आवश्यकता है।

विलीयन के बाद साझेदारों की स्थिति
(Position of Partners after Dissolution)

(१) साझेदारो की स्थिति का वर्णन धारा ४६ से ५२ तक किया गया है। विलीयन की जन-सूचना देने के पश्चात् कोई भी साझेदार अन्य पक्ष के दायित्व से मुक्त हो जाता है।

(२) मृतक, दिवालिया या वहिर्गन्तुक साझेदार की सम्पत्ति के ऊपर साझेदारी का कोई दायित्व नही रहेगा।

(३) प्रत्येक साझेदार साझेदारो के दायित्वो के शोधनोपरान्त शेष धन के विभाजन का अधिकार रखते हैं।

(४) वे अपने हिसाब का निपटारा निम्नलिखित ढंग से कर सकते हैं।

(अ) लाभ या पूँजी से पहले हानि का निस्तारण किया जायगा।

(ब) सम्पत्ति मे से पहले साहूकार चुकाये जायेंगे, फिर साझेदारी मे अतिरिक्त दिया हुआ धन और उसके बाद जो कुछ बचेगा, वह उनके लाभ-हानि के अनुपात मे बाँटा जायेगा।

पूँजीगत हानि की दशा मे जो साझेदार दिवालिया नही है उनको उस हानि की पूर्ति करना आवश्यक नही; क्योंकि इसको व्यक्तिगत हानि नहीं माना जाता। जब कोई साझेदार दिवालिया हो जाता है, तो उसकी ओर का भुगतान शेष साझेदार अपनी पूँजी के अनुसार करेंगे।

साझेदारी का समामेलन
(Conversion of a Partnership)

जिस समय साझेदारी किसी समामेलित संस्था मे परिणत की जाती है, साझेदारो को सबसे पहले बाजार भाव के अनुसार साझेदारी की सम्पत्ति का मूल्यांकन करना चाहिए। यदि सम्पत्ति का अधिक मूल्य हो तो अन्तर साझेदारो के लाभ के अनुपात से उनके व्यक्तिगत लेखे मे जमा कर देना चाहिए और हानि की दशा मे उसी अनुपात मे उनके नाम लिख दिया जाना चाहिए। साधारण वैधानिक दृष्टि से साझेदारी की समस्त सम्पत्ति तथा दायित्व समामेलित संस्था को बेच दिये जाते हैं। और साझेदारो को उस संस्था मे साझेदारी का मूल्य अंशो तथा ऋण पत्रों के रूप मे दे दिया जाता है। इसके पश्चात् साझेदार उन पत्रको को अपनी पूँजी के अनुपात मे बाँट लेते हैं।

जब साझेदारी बेच दी जाती है तो कभी-कभी साझेदारो के साहूकारो का भुगतान उनको स्वय ही करना पड़ता है। ऐसी दशा मे व्यापार से प्राप्त मूल्य के द्वारा

सबसे पहले सरकारी कर, न्यायालय की फीस तथा सरकारी अंकेक्षकों की फीस चुकाई जाती है। उसके पश्चात् साभेदारों के साहूकारों को, और फिर जो शेष धन बच जाता है, वह साभेदारों में उनकी समामेलित पूँजी के अनुपात में बाँट दिया जाता है। इस धन को बाँटने से पहले यदि किसी साभेदार ने अतिरिक्त धन दिया हो तो वह उसको ब्याज सहित चुका दिया जाता है। यदि साभेदारी का धन साहूकारों को चुकाने के लिए अपर्याप्त हो, तो सब साभेदारों को अपने लाभ-हानि के अनुपात में उस अन्तर को पूरा करना पड़ेगा। यदि ऋणों को चुकाने के लिए व्यापार की सम्पत्ति का धन पर्याप्त न हो, तो साहूकार किसी एक धनाढ्य साभेदार की सम्पत्ति में से अपना रुपया वसूल कर सकते हैं। साभेदारी के परिवर्तित होने पर 'अवस्था विवरण' (Statement of Affairs) तथा साभेदारों के व्यक्तिगत लेखे बनाये जाते हैं और उत्तमर्णों तथा साभेदारों के लेखे बराबर करके साभेदारी का अन्त कर दिया जाता है।

साभेदारी के तुलनात्मक लाभ
(Comparative Advantages of Partnership)

समामेलित संस्था से तुलना करने पर साभेदारी के निम्नलिखित लाभ हैं—

(१) साभेदारी का सगठन सरल एवं सस्ता है। यदि साभेदार व्यापार प्रारम्भ करना चाहते हैं तो किसी वैधानिक शिष्टाचार में न जाकर, आपस में समझौता करके साभेदारी की स्थापना कर सकते हैं।

(२) साभेदारी की स्वस्थ साख होती है। साथ ही साभेदारों का असीमित दायित्व होने के कारण साभेदारी में ऋण लेने में कोई कठिनाई नहीं होती, इसलिए लोग साभेदारी को ऋण देना पसन्द करते हैं।

(३) साभेदारी में 'कर' (Tax) अधिक नहीं चुकाने पड़ते। साभेदार की सम्पत्ति पर केवल 'सम्पत्ति-कर' लगता है और समामेलित संस्थाओं के समान उसको अनेक प्रकार के कर नहीं चुकाने पड़ते, और न उसको अनेक शिष्टाचारों के ही अन्तर्गत जाना पड़ता है।

(४) साभेदारी का प्रबन्ध लोचदार होता है। उनका प्रबन्ध का कार्य बहुमत से चलता है और वे अपनी इच्छानुसार प्रबन्ध का कार्य कर सकते हैं।

(५) साभेदार को व्यापार के प्रबन्ध में बोलने तथा निर्णय देने का अधिकार होता है। उसके बहुत से ऐसे कार्य होते हैं, जिनमें बहुमत की अथवा सर्वसम्मति की आवश्यकता होती है। इसलिए उसमें प्रत्येक व्यक्ति को पूछा जाना आवश्यक है।

(६) साभेदारी में प्रत्येक साभेदार को भाग लेने की प्रेरणा मिलती है। साभेदारों की संख्या सीमित होने तथा व्यापार में उनका सीधा हस्तक्षेप होने के

कारण वे व्यापार में रुचि से काम करते हैं; और उनको व्यापार के प्रति श्रद्धा रहती है।

साझेदारी के तुलनात्मक दोष
(Comparative Disadvantages of Partnership)

(१) साझेदारी का जीवन सीमित होता है। साझेदारों में परिवर्तन हो जाने के कारण साझेदारी का अन्त हो जाता है।

(२) साझेदारी सम्मिलित संस्था के समान अधिक पूंजी विस्तृत क्षेत्र से एकत्र नहीं कर सकती। इसमें अधिक पूंजी वाले लोग आने से सकोच करते हैं।

(३) साझेदारी में व्यक्तिगत मतभेद तथा अन्तरों का होना स्वाभाविक होता है, क्योंकि इसमें असीमित दायित्व रहता है।

(४) साझेदारी में प्रत्येक साझेदार का प्रतिनिधि होने के कारण उसकी जोखिम बढ़ जाती है, क्योंकि वह कुशलता एवं सच्चाई से कार्य कर सकेगा।

(५) साझेदारी से अपनी लगाई हुई पूंजी वापिस निकालना कठिन होता है। यदि कोई साझेदार अपनी पूंजी प्राप्त करना चाहे, या उसको हस्तान्तरण करना चाहे तो उसके लिये इस प्रकार का व्यक्ति ढूंढना बहुत कठिन होगा, जो व्यापार का साझेदार बन सके। क्योंकि नये साझेदार को बनाने के लिये सभी साझेदारों की अनुमति लेना आवश्यक हो जाता है।

(६) अधिकारों का केन्द्रीयकरण न होने के कारण साझेदारी की प्रगति में बाधायें उत्पन्न हो जाती हैं, क्योंकि जब तक अधिकार न दे दिया जाय, तब तक कोई भी कार्य किसी एक व्यक्ति के द्वारा आसानी से सम्पन्न नहीं किया जा सकता।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 Explain different types of partners in a partnership firm and discuss their legal positions When and how they are responsible to the third party?
2 What important points should be explained in a properly drafted partnership deed? Explain with reasons.
3 What are the mutual rights and duties of partners? Are there some provisions in the Indian Partnership Act to determine their rights and duties in case there is no such mutual agreement?

4 What points would you keep in mind while getting a partnership converted into a Public Limited Company ? How the partners will be benefited ? Explain.

5 Write a detailed process of winding up of a firm under different froms of winding up systems ?

6 What do you know by Limited Partneship ? What is the difference between Limited and Unlimited Partnership ? In case of winding up, how the assets of the firm will be utilised ?

सीमित-लोक-प्रमंडल

(Public Limited Companies)

कम्पनी का अर्थ
(Meaning of Company)

किसी भी संयुक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक व्यक्ति से अधिक द्वारा जो संस्था बनाई जाती है उसको कम्पनी कहा जा सकता है। इस प्रकार सभी प्रकार के एसोसियेशन 'कम्पनी' नाम से सम्बोधित किये जा सकते हैं। किन्तु इनमें भेद करने के लिये राज्य द्वारा अलग प्रकार के अधिनियम बना कर उनकी गतिविधियों को नियन्त्रित किया जाता है जैसे, सहकारी समितियों के लिये सहकारी समिति अधिनियम, ट्रेड यूनियनों के लिये ट्रेड यूनियन अधिनियम, कम्पनियों के लिये अधिनियम आदि।

कम्पनी को अमूर्त सनातन व्यक्तित्व प्रदान करने पर उसको निगम (Corporation) या समामेलित कम्पनी (Incorporated Company) का नाम दिया जाता है। भारतीय अधिनियम १९५६ की धारा ३४ (१) के अनुसार जिस कम्पनी के स्मरण पत्र का संयुक्त स्कंध कम्पनी का रजिस्ट्रार पंजीयन कर देता है उसको 'समामेलित' कम्पनी कहते हैं। हम अपने इस अध्ययन में इस प्रकार के निगमों को कम्पनी के नाम से ही पुकारेंगे।

संयुक्त स्कन्ध या समामेलित कम्पनी का अर्थ
(Meaning of Joint Stock or Incorporated Companies)

संयुक्त स्कन्ध कम्पनियों (Joint Stock Companies) का अर्थ कितने ही प्रकार से लगाया गया है। श्री जेम्स ने कम्पनी की परिभाषा इस प्रकार की है "संयुक्त पूंजी वाली कम्पनी छिन्न-भिन्न व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो किसी निश्चित उद्देश्य के कारण हुआ हो।" इस परिभाषा के अनुसार साझेदारी तथा कम्पनी में कोई भिन्नता नहीं दिखाई देती। कम्पनी में केवल उद्देश्य का ही प्रश्न नहीं रहता, अपितु उसका संगठन भी कुछ निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार किया जाता है और उसमें भाग लेने वाले सदस्यों की स्थिति साझेदारी से पूर्णतया भिन्न होती है। इसीलिये अमेरिका के उच्च न्यायाधीश मार्शल के अनुसार, "कम्पनी एक बनावटी व्यक्ति है जो अदृश्य और अमूर्त होता है, जिसका अस्तित्व वैधानिक होता है और जो विधान द्वारा निर्मित होती है। यह अपने अधिकार से वही सम्पत्ति रख सकती है, जिसका अधिकार उसके निर्माण आज्ञा-पत्र में होता है, अथवा जो उसके अस्तित्व के लिये आवश्यक

है, जो उसको निश्चित या सयोगिक रूप से प्राप्त हुई हो। इसके मुख्य लक्षणो मे अमरता और अव्यक्तित्वता तथा वे सम्पत्तियाँ हैं, जिनका अस्तित्व, अनेक मनुष्यो को हस्तातरित होने पर भी बना रहता है, और यह एक व्यक्ति के रूप मे कार्य कर सकती है।" इस प्रकार यह ऐसी सस्था है जिसका जीवन तथा अस्तित्व उसमे रहने वाले सदस्यो पर निर्भर न रहकर उसके आज्ञा-पत्र पर आधिन रहता है, और जिसका जन्म 'सामान्य नाम मुद्रा' (Common Seal) के द्वारा, तथा विधान के अनुरूप होकर अनिश्चित काल के लिये माना जाता है। इसके व्यक्तित्व को केवल 'विधान की आँखो' मे ही देखा जा सकता है। इस प्रकार इसका अस्तित्व तभी तक स्थिर रहता है, जब तक उसको वैधानिक मान्यता प्राप्त हो। इस दिशा मे 'लॉर्ड जस्टिस लिंडले' ने बडी सुन्दर एवं साधारण परिभाषा दी है। उनके कथनानुसार, "कम्पनी से एक ऐसे सगठन का अभिप्राय है, जिसमें मनुष्य सामूहिक रूप से मुद्रा को उसके मूल्य के अनुसार एक सामूहिक स्कन्ध मे किसी सामूहिक कार्य तथा उद्देश्य के लिये लगाते है। सामूहिक स्कन्ध, धन के रूप मे लगाया जाता है और उसको कम्पनी की पूँजी कहते है। जो व्यक्ति इसमें योग देते है उन्हे सदस्य कहा जाता है, और पूँजी के किस भाग का अधिकारी सदस्य है, उसको अश (Share) कहते हैं।" कम्पनी अधिनियम १९५६, की धारा ३ मे 'कम्पनी' की परिभाषा विस्तृत रूप मे नहीं दी गई है। उसमें केवल इतना ही है कि, "कम्पनी का अर्थ उस कम्पनी से है जिसका पजीयन तथा निर्माण इस अधिनियम के द्वारा हुआ है।" [३ (१)]

उपर्युक्त अर्थ से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि कम्पनी वह सस्था है जिसमें अधिक से अधिक व्यक्ति मिलकर अपनी सीमित पूँजी को सीमित दायित्व के साथ सामूहिक लाभ के लिये कोई वैधानिक व्यापार करते है, और उनमे परिवर्तन होने पर भी कम्पनी के अस्तित्व पर किसी प्रकार का प्रभाव नही पडता, और वह तब तक निरन्तर चलती रहती है, जब तक उसका समापन न हो जाय। कम्पनी कानून मे लोक-प्रमडलो को *Public Companies* कहा गया है, जो वैयक्तिक (निजी या अलोक) प्रमडलो (Private Companies) से भिन्न हों, और जिनको अनेक वैधानिक शिष्टाचारो का पालन करना पडता हो।

प्रमंडल के लक्षण
(Characteristics of Company)

पूर्व विवेचित परिभाषाओं के अनुसार कम्पनी के निम्नलिखित लक्षण स्पष्ट है—

(१) अप्राकृतिक व्यक्तित्व (Impersonal Person)—यह सस्था एक अप्राकृतिक व्यक्ति के समान कार्य करती है और उसका अस्तित्व उसके निर्माताओं से बिलकुल भिन्न होता है। इसका निर्माण तथा सगठन केवल विधान के द्वारा ही किया जा सकता है। इस प्रकार इसके सदस्यो मे परिवर्तन हो जाने पर भी इसका

अस्तित्व नहीं मिटता। यह ऋण लेने या देने का कार्य कर सकती है तथा इस पर दावा किया जा सकता है और यह स्वयं भी किसी पर दावा कर सकती है।

(२) स्थायी अस्तित्व (Perpetual Existence)—कम्पनी का अस्तित्व स्थायी होता है और सदस्यों मे परिवर्तन हो जाने पर भी इसके स्थायित्व मे किसी प्रकार का आक्षेप नहीं आता। इस प्रकार यह अन्य प्रकार की संस्थाओं से सर्वथा भिन्न है।

(३) सम्पत्ति का स्वामित्व (Proprietorship on Property)—कम्पनी की सारी सम्पत्ति उसके ही नाम पर रहती है, इसका उल्लेख या तो कम्पनी के विधान मे रहता है अथवा निर्माण आज्ञा-पत्र के आधार पर किया जाता है।

(४) संचालन प्रबन्ध (Management)—कम्पनी के कार्य-संचालन मे प्रतिनिधि-शासन-पद्धति को अपनाया जाता है। क्योंकि एक तो कम्पनियों के सदस्यों की संख्या अधिक होती है, दूसरे उनमे किसी प्रकार का सम्बन्ध होना भी आवश्यक नहीं, इसलिये कम्पनी का प्रबन्ध उनके प्रतिनिधि संचालकों के द्वारा ही किया जाता है। संचालकों के अधिकार तथा दायित्व कम्पनी के पार्षद-अन्तर्नियमों (Articles of Association) तथा पार्षद-सीमा-नियम (Memorandum of Association) के द्वारा निश्चित किये जाते है।

(५) सामान्य-नाम-मुद्रा (Common Seal)—अपने अस्तित्व को स्थिर एवं सुरक्षित रखने के लिये कम्पनी अपनी सामान्य-नाम मुद्रा का प्रयोग करती है। इसके लग जाने पर ही कम्पनी के समस्त प्रलेख तथा पत्रक कम्पनी को उत्तरदायी बना सकते हैं। जिन प्रलेखों को कम्पनी के लिये लिखा गया हो, किन्तु उन पर इसका प्रयोग नहीं किया गया हो तो उनसे कम्पनी प्रतिबन्धित नहीं होती, बल्कि उनको लिखने वाला व्यक्ति ही व्यक्तिगत रूप मे उत्तरदायी माना जाता है।

(६) सीमित दायित्व (Limited Liability)—कम्पनी के सदस्यों का दयित्व कम्पनी मे लगी हुई उनकी पूँजी तक ही सीमित रहता है। हानि होने की दशा मे कम्पनी के साहूकार साझेदारों के समान उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति पर किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकते।

(७) प्रमंडल की मुक्तता (Independence of Company)—कम्पनी के सदस्य कम्पनी के स्वामी अवश्य होते हैं, किन्तु उनको कम्पनी के किसी भी कार्य मे हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होता। इसका कारण यह है कि प्रबन्ध और स्वामित्व मे अन्तर रहता है, और किसी सदस्य के किसी भी कार्य से कम्पनी को प्रतिबन्धित अथवा उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता।

(८) अंश हस्तान्तरण (Share Transfer)—कम्पनी के अंशधारी (Share Holders) अपनी इच्छानुसार (यदि पूर्व प्रतिबन्ध न हो) किसी भी समय अपने अंशों (Shares) का अधिकार किसी अन्य व्यक्ति को देकर कम्पनी से अपने सम्बन्ध समाप्त

कर सकते है। जिस व्यक्ति को अश हस्तान्तरित किये जाते है, उसको भी कम्पनी मे वही अधिकार प्राप्त होते हैं, जो अंश हस्तान्तरणकर्ता को थे।

(९) संगठन-सम्बन्धी परिवर्तन (Changes in the Organisation)— प्रमण्डल के किसी भी मूल परिवर्तन के लिये कम्पनी के मूल पत्रको मे आवश्यक सशोधन करना पड़ता है और उसको पूर्व अनुमति सरकार से ली जानी आवश्यक है। साधारण अवस्था मे कोई भी प्रमडल अपने पार्षद-सीमा-नियम तथा अन्तर्नियम एव प्रमण्डल अधिनियम के बाहर कोई भी कार्य नही कर सकता।

भारतवर्ष में लोक-प्रमडल

(Public Limited Companies in India)

भारतवर्ष मे कम्पनियों का जन्म अग्रेजो के आने के पश्चात् हुआ है। वैधानिक रूप से कम्पनियों का प्रादुर्भाव सन् १८५० के कम्पनी अधिनियम के आधार पर हुआ। यह अधिनियम अँग्रेजी अधिनियम (English Act) सन् १८४४ के आधार पर बनाया गया था। इसके अनुसार कम्पनियो का पजीयन (Registration) किया जाना अनिवार्य समझा गया और अंशधारियो के अधिकार तथा प्रवन्ध के लिए विधान बनाये गये। इसके बाद बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता के सर्वोच्च न्यायालयो को प्रमंडल के पजीयन का अधिकार प्राप्त हुआ। सन् १८५७ मे *सयुक्त-स्कन्ध प्रमन्डल अधिनियम* (Joint Stock Companies Act of 1857) के अनुसार पहली बार सीमित दायित्व का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। इसके अन्तर्गत सन् १८५० से ५७ तक बंगाल में केवल १४ प्रमंडलों की स्थापना हुई। इनमें सर्वप्रथम प्रमडल 'न्यू ओरियंटल जीवन बीमा कम्पनी' था। सन् १८५७ के विधान के बाद सर्वप्रथम प्रमडल 'कलकत्ता नीलाम कम्पनी लिमिटेड' बनी। सन् १८६० के विधान मे, जो कि अंग्रेजी कानून १८५६ पर आधारित था, सीमित दायित्व की सीमा अधिकोषण सस्थाओं (Banks) तक बढा दी गई और इसके अनुसार सबसे पहला बैंक 'पिपुल्स बैंक ऑफ इन्डिया' निर्माण हुआ। इसके पश्चात् भारतवर्ष में सन् १८६६, १८८० तथा १८८२, मे इस अधिनियम मे परिवर्तन हुए, जिनसे कम्पनी की व्यवस्था मे भी अनेक परिवर्तन प्रकट हुए। सन् १८९५ मे *प्रमडल-पार्षद-सीमा-नियम-विधान* (Companies Memorandum of Association Act) तथा सन् १९०० मे प्रमडल-शाखा-पूंजी अधिनियम (Companies Branch Register Act) तथा सन् १९१० मे कम्पनी-सशोधन-अधिनियम (*Companies Amendment Act*) पास किये गये। यह सब कानून सन् १८८२ के विधान के पूरक थे। किन्तु इन अधिनियमो को पर्याप्त नहीं समझा गया और सन् १९१३ मे अग्रेजी कानून १९०८ के आधार पर 'भारतीय कम्पनी-कानून' मे आमूल परिवर्तन किया गया। फिर सन् १९३६ मे 'भारतीय-कम्पनी (संशोधन) अधिनियम (Indian Companies (Amendment) Act) पास किया

गया। जिसके अनुसार संचालकों तथा प्रबन्ध अभिकर्ताओं के कार्यों में अनेक संशोधन किये गये। इसके बाद इंगलैंड में "कोहने कमेटी" ने वहाँ की कम्पनियों की स्थिति की जाँच करके सन् १९४८ के अधिनियम को जन्म दिया और इसी के आधार पर भारतवर्ष में भी सन् १९५० में श्री सी० एच० भाभा की अध्यक्षता में 'कम्पनी-लॉ-कमेटी' की नियुक्ति की गई, और उसने अपनी वृत्ति (Report) सन् १९५२ में सरकार को प्रस्तुत की। इसी बीच सन् १९५१ में भी कम्पनी के प्रबन्ध में सरकारी नियंत्रण को लाने के लिए कानून में संशोधन किये गये। सन् १९५४ में पुनः इसका पूर्ण संशोधित बिल कम्पनी के सामने प्रस्तुत हुआ, किन्तु विधान के रूप में वह सन् १९५६ में ही आ सका। कम्पनी अधिनियम में समय-समय पर संशोधन होते रहे हैं और शास्त्री कमेटी ने तो संशोधनों के साथ उसके आकार को ही बदलने की सिफारिश की है।

भारतीय प्रमण्डलों की प्रगति को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) सन् १९०० से १९१४, (२) १९१४ से १९२४, (३) १९२४ से १९३२; (४) १९३४ से १९४७, तथा (५) स्वतन्त्रता के बाद। पहले १४ वर्षों में भारतवर्ष में कुल १३७८ कम्पनियों का निर्माण हुआ, जिनकी चुकाई हुई पूंजी ४०२८ लाख रुपये थी। उसके बाद स्वदेशी आन्दोलन ने कम्पनियों की पूंजी में प्रगति की और औसत से प्रतिवर्ष ४६१ लाख रुपया प्रतिवर्ष बढ़ने लगी। फिर भी पूंजी का अनुपात २·७ लाख रुपया ही रहा।

सन् १९१४–१५ में प्रथम विश्वयुद्ध हुआ। बेंकों की प्रगति रुकने के कारण कम्पनियों की प्रगति में बहुत अधिक रुकावट आ गई, किन्तु जो कम्पनियाँ सुचारु रूप से चल रही थी उनके अंशों की प्रव्याजि अवश्य बढ़ी। युद्ध की सामग्री बनाने वाली कुछ कम्पनियों तथा उद्योगों में अवश्य विकास हुआ, किन्तु युद्ध के समाप्त होते ही उनकी अवस्था बिगड़ गई। युद्ध के पश्चात् कुछ कम्पनियों के विकास में प्रगति हुई और अनेक कम्पनियों का अभ्युदय भारतवर्ष में देखा गया। इस विकास में सन् १९२१–२२ तक कम्पनियों की कुल पूंजी २२४१० करोड़ रुपया हो गई। इस काल में विदेशी पूंजी भी भारत में खूब आई। सन् १९०८–१० में वह पूंजी कुल १४·७ मिलियन पौंड थी, किन्तु सन् १९२२ में ३६ मिलियन पौंड हो गई।

परन्तु यह प्रगति अधिक दिन नहीं चली और सन् १९२४–२५ में इसमें एक विराम आ गया। इस समय पूंजी में औसत कमी ५·०६ से ३·२८ आ गई। इसका मुख्य कारण यह था कि कम्पनियों का पुनर्संगठन किया गया और उनकी समस्त पूंजी को रोक लिया गया।

सन् १९३० के बाद आर्थिक संरक्षण तथा नियन्त्रण ने इस दिशा में कुछ और

कठिनाइयाँ पैदा करदी। इसी बीच 'चीनी उद्योग' रक्षित हो गया और सन् १६३३ के बाद अहमदाबाद तथा दक्षिणी भारत में कपड़े के उद्योग ने प्रगति की, किन्तु फिर भी सन् १६३६ तक कम्पनियों का विलीयन पर्याप्त मात्रा में रहा और औसत पूंजी करीब-करीब उतनी ही चलती गई, जितनी कम्पनियों के प्रारम्भ में थी।

सन् १६४२ के पश्चात् कम्पनियों के निर्माण ने फिर जोर पकड़ा। क्योंकि द्वितीय युद्ध-काल में मुद्रा-स्फीति, मुद्रा प्रचलन में वृद्धि तथा वस्तु-प्रदाय में कमी आदि ने लाभ को बढ़ा दिया और लोगों में नये उद्योग तथा प्रमण्डलों को खोलने की लालसा हुई; फलतः देश में बहुत अधिक कम्पनियों का निर्माण हुआ और देश में कम्पनियों का जाल सा बिछा गया। द्वितीय युद्ध काल (१६३६ से १६४५ तक) में प्रमंडलों की संख्या बढ़ कर १५ हजार हो गई तथा दत्त-पूंजी ४०० करोड़ तक बढ़ गई। सन् १६४५–४६ तथा ४६–४७ में अत्यधिक प्रगति हुई। इन वर्षों में प्रतिवर्ष ३००० से ५००० तक के लगभग कम्पनियाँ बढ़ी, और उसी प्रकार ३५ करोड़ से ५६ करोड़ के बीच में दत्त-पूंजी बढ़ी, देश के विभाजन से लगभग दो हजार कम्पनियों तथा १८ करोड़ रुपये की पूंजी की कमी हुई। फिर भी मार्च १६४८ तक भारतवर्ष में कम्पनियों की संख्या २३ हजार तथा प्रदत्त-पूंजी करीब ६०० करोड़ रुपया हो गई।

स्वतन्त्रता के प्रारम्भिक काल में कम्पनियों की प्रगति में कुछ बाधा आई, किन्तु कोरिया के युद्ध तथा सरकार की आर्थिक नीति ने व्यापार में सुदृढ़ता ला दी। फलतः मार्च १६५५ तक ७००० से अधिक प्रमंडल बने। फिर भी कम्पनियों के पंजीयन में गिरावट का अनुभव हुआ। सन् १६४० से १६४८ तक भारतवर्ष में ११८२ कम्पनियों का पंजीयन हुआ तथा उनमें से ६६२ का विलीयन हुआ। पिछले आठ-नौ वर्षों में हमारी दत्त-पूंजी में करीब ७ करोड़ रुपये की ही वृद्धि हुई है।

औद्योगिक कम्पनियों में भी इस शताब्दी के प्रारम्भ से कुछ विशेष प्रगति रही। विगत द्वितीय विश्वयुद्ध में भारत के उद्योग केवल कपड़ा तथा उपभोग की वस्तुएँ ही निर्माण कर रहे थे, किन्तु उसके बाद धीरे धीरे भारी उद्योगों (Heavy Industries) को भी प्रारम्भ किया जाने लगा। इसका कारण यह था कि भारतीय उद्योगों में भारतीय पूंजी अधिक आने लगी और सरकार की औद्योगिक नीति में भी पर्याप्त परिवर्तन हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध ने प्रमंडलों को विशेष प्रोत्साहन दिया और देश में बिजली, यातायात का सामान, मशीन, औजार, रासायनिक पदार्थ आदि के उत्पादन के लिये अनेक कम्पनियाँ खोली गईं।

इसी प्रकार सन् १६०० से १६३६ तक अधिकोषण कम्पनियाँ (Banking Companies) ४७७ से बढ़कर २०४५ तक हो गई थीं, किन्तु सन् १६४८ से १६५५ तक करीब ३०० अधिकोष बन्द हो गये।

सन् १६५२ से १६५५ तक करीब ३० नई कम्पनियों को एक करोड़ रुपये

की पूँजी के साथ रजिस्ट्री हुई। इनमें कम्पनियों की पूँजी प्रायः एक लाख रुपये से साढ़े सात लाख रुपये तक थी। जिन कम्पनियों की पूँजी एक करोड़ या उससे ऊपर थी, उनमें से मुख्य 'सिंदरी फर्टिलाइजर एन्ड केमीकल्स', 'हिन्दुस्तान शिपयार्ड्स'; 'वर्मा शैल रिफाइनरीज', 'हिन्दुस्तान मशीन टूल्स', 'हिन्दुस्तान स्टील' आदि हैं। इनकी अधिकृत पूँजी १० करोड़ रुपया है। वर्मा शैल रिफाइनरीज के अतिरिक्त शेष सभी सरकारी प्रमंडल हैं। सन् १९५४–५५ में २५३८ कम्पनियों ने अपनी पूँजी में परिवर्तन की रजिस्ट्री करवाई और करीब २४ कम्पनियों की पूँजी में एक लाख रुपये की कमी हो गई।

सन् १९५३ से १९५९ तक कम्पनियों की प्रगति इस प्रकार रही—

वर्ष	कम्पनियों की संख्या	प्रदत्त-पूँजी
१९५३	२९,३१२	८९७·६ करोड़ रुपये
१९५४	२९,४९२	९४१·२ ,,
१९५५	२९,६२५	९९९·६ ,,
१९५६	२९,८७५	१०२४·२ ,,
१९५७	२९,३५७	१०७७·२ ,,
१९५८	२९,२८३	१३००·१ ,,
१९५९	२९,४७९	१५०९·८ ,,

इससे कम्पनियों के विकास का अनुमान सुविधा से लगाया जा सकता है।

नए कम्पनी अधिनियम के प्रभाव से यह प्रतीत होता है कि निजी क्षेत्र (Private Sector) में कम्पनियों का अधिक पंजीयन नहीं हो सकेगा, क्योंकि उसमें प्रबन्ध पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना-काल में करोड़ों रुपये व्यय किये जायेंगे और नये-नये काम-धन्धे खुलेंगे, जिससे उद्योग तथा व्यापार को प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक है। इसलिये निकट भविष्य में नई कम्पनियों के खुलने की आशा है।

संयुक्त-स्कन्ध-प्रमंडल के लाभ
(Advantages of Joint Stock Company)

(१) संयुक्त-स्कन्ध-प्रमंडल का एक विशिष्ट लाभ यह दिखलाई देता है कि इसकी स्थापना से बड़े-बड़े व्यापार तथा उत्पादन कार्यों का विकसित होना सम्भव हो सका है। इसमें लोग अपनी छोटी-छोटी पूँजी लगाते हैं, जिससे वे स्वयं न तो कोई व्यापार ही कर सकते हैं, और न उनको उस पर किसी प्रकार की आय की ही आशा रहती है। किन्तु कम्पनी के अंश खरीदकर उनको बिना विशेष जोखिम लिये लाभ की आशा हो जाती है। कितने ही अंशधारी अपनी सीमित पूँजी को लगा कर कम्पनी के लिये एक विशाल पूँजी सम्भव कर देते हैं, जिससे वह बड़े व्यापार तथा

कारखानो की स्थापना कर सकती है। यथार्थ मे सयुक्त-स्कन्ध-प्रमंडल ही एक ऐसी संस्था है, जो आवश्यकतानुसार विशाल धन-राशि इकट्ठा कर सकती है।

(२) प्रमडल से एक वडा लाभ यह है कि व्यापार या व्यवसाय को चलाने तथा उसके दायित्वों का भार उठाने का दायित्व एक ही व्यक्ति के ऊपर न पड कर अनेक व्यक्तियो मे विभाजित हो जाता है। जिससे हानि की दशा मे एक ही व्यक्ति को हानि नही उठानी पडती और उसके बँट जाने से कोई भी अकेला आर्थिक कठिनाई का सामना नही करता। सीमित दायित्व ही इसका सर्वश्रेष्ठ गुण है। विनियोक्ता का उत्तरदायित्व प्रमडल मे लगाई हुई अश-पूँजी तक ही रहता है।

(३) इसका प्रबन्ध पूर्ण रूप मे जनतन्त्री है। अशधारी अपने विश्वास तथा अनुभव के साथ स्वतन्त्र रूप मे कम्पनी के सचालन के लिए सचालको का चुनाव कर सकते है और इनको सचालन के अधिकार देते हैं। इस प्रकार सचालकगण अश धारियो की आम-सभा के अधीन रहते है और वे प्रमडल की प्रगति-वृत्ति (Progress Report) प्रतिवर्ष सामान्य सभा मे प्रस्तुत करते हैं। यदि व्यापार की व्यवस्था मे किसी प्रकार का परिवर्तन किया जाना सम्भव हो, तो वह अशधारियो के आदेश तथा विधेयक के अन्तर्गत ही हो सकता है। अशधारियों को यह अधिकार है कि वे किसी भी सचालक के कार्यो से असन्तुष्ट होने पर उसको हटाकर किसी दूसरे को नियुक्त कर दे। सचालकों के अतिरिक्त उन्हे अभिकर्त्ताओ को हटाने का भी पूर्ण अधिकार है। इस प्रकार यद्यपि प्रत्यक्ष रूप मे तो नही, परोक्ष रूप मे कम्पनी का सचालन तथा नियत्रण अशधारियो के ही हाथो मे रहता है।

(४) इसमे वडे तथा छोटो को अपनी-अपनी पूँजी के अनुसार अधिकार रहते हैं और प्रत्येक व्यक्ति को कम्पनी के मामलो में बोलने का अधिकार रहता है, जिससे कुछ ही व्यक्ति अपनी मनमानी नही कर सकते। चाहे कोई छोटा व्यक्ति क्यो न हो, परन्तु यदि उसकी बात सही है, तो वह अपना बहुमत बनाकर अपनी बात को कार्यान्वित करा सकता है, इस प्रकार कम पूँजी होने पर भी योग्य तथा अनुभवी व्यक्ति अपनी योजनाओ को कार्यान्वित करवा सकता है।

(५) प्रमडलो के कार्य-सचालन के लिए सुयोग्य व्यक्तियो का चुनना सम्भव हो सकता है। इसका कारण यह है कि कम्पनियों में अंशधारियों की सख्या सामान्य रूप से अधिक होती है और उसमे योग्य व्यक्तियो का मिलना कठिन नही होता। इस प्रकार न्यून राशि वाले किन्तु कुशल एवं अनुभवी लोगों को चुन कर उनके हाथ मे कार्यभार को देना बडा सुगम हो जाता है। फिर कार्यकर्ताओं के परिवर्तन का अधिकार रहने से कार्यकर्ता सर्वदा तत्परता से कार्य करते हैं। इसलिए कम्पनी का सचालन अन्य व्यापारिक प्रणालियों की अपेक्षा अधिक कुशल रहता है।

(६) कम्पनियो का जीवन स्थायी रहता है और ये शताब्दियों तक कार्य कर सकती हैं। अंशधारियो अथवा प्रबन्धको या सचालको मे परिवर्तन हो जाने पर भी इनके स्थायित्व पर किसी प्रकार का प्रभाव नही पडता, और न उनके चले जाने पर इस प्रकार के कोई झगडे ही उपस्थित हो सकते है, जैसा कि साझेदारी मे देखा जाता है। साथ ही इनमें व्यक्तिगत या अलोक प्रमण्डलों के समान कठिनाइयाँ भी उपस्थित नही होती हैं।

(७) इन कम्पनियो मे पर्याप्त पूँजी, सीमित दायित्व तथा स्थायित्व के कारण कम्पनियाँ प्रयोगात्मक व्यवसायो को भी भली प्रकार संचालित कर सकती है। संचालकगण इन दीर्घकालीन योजनाओं को सफलता पूर्वक चला सकते हैं और उनके लिये अन्य पक्षो से अनुबन्ध भी कर सकते है। इनके स्थायित्व मे विश्वास होने के कारण अन्य पक्षों को इनसे इस प्रकार के अनुबन्ध करने मे किसी प्रकार की अडचन नहीं होती। इस प्रकार उनको अपने प्रयोगों मे सफलता मिलना सम्भव हो जाता है और और उससे कम्पनी को प्रायः लाभ ही होता है।

(८) प्रमडल अपने प्रबन्धको, विशेषज्ञों, प्रबन्ध सचालकों आदि को सुविधा-पूर्वक उच्च वेतन दे सकते है, क्योंकि कम्पनी मे ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति से व्यापार का लाभ अत्यधिक बढ जाता है और उससे अंशधारियों को हमेशा अधिक ही लाभ प्राप्त होता है। किन्तु साधारण व्यापार मे इस प्रकार की व्यवस्था नही की जा सकती, क्योंकि यह सम्पूर्ण भार एक ही व्यक्ति पर पडता है और उसके व्यापार का विस्तार भी इतना सीमित रहता है कि वह दीर्घकालीन योजनाओं मे लाभ नही कमा सकता।

(९) प्रमडल हमेशा बहुत बडे पैमाने पर उत्पादन करता है। वृहत् उत्पादन के कारण उनका प्रति इकाई उत्पादन व्यय हमेशा कम हो जाता है, जिससे वे अपना माल कम मूल्य पर बेच सकते है। इसीलिये हाथ का बुना हुआ कपडा, कम्पनी के उत्पादित कपडे की तुलना मे कम टिकाऊ तथा महँगा होता है। कम्पनियों द्वारा निर्मित माल उपभोक्ताओं के लिये हमेशा सस्ता और लाभदायक होता है।

(१०) प्रमडलो मे अधिक पूंजी, उपयुक्त साधन तथा सुयोग्य व्यक्तियों के होने के कारण वे उत्पादन के नये से नये सहायक साधनों का उपयोग कर सकते हैं और उसके द्वारा उत्पादन की कुशलता तथा कार्यक्षमता भी बढा सकते है। सीमित पूंजी या अल्प साधन वाले व्यापार मे इस प्रकार का लाभप्रद प्रयोग सम्भव नही हो सकता।

(११) प्रमंडलो से समाज को एक बड़ा लाभ यह भी है कि इसमें विनियोग करने वाले व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपने लाभ को देखते हुए विनियोग कर सकते

हैं कोई भी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में लगा सकता है। जिससे यदि उसको अधिक लाभ न भी हो, तो भी हानि की सम्भावना कदापि नहीं रहती। इसके अतिरिक्त वह यह देखता है कि यदि उसको किसी संस्था में हानि होगी तो वह सुगमता से अपने अंशों को हस्तान्तरित करके अपनी लगी हुई पूँजी को वापिस लेकर, किसी लाभ वाले व्यवसाय में लगा सकता है। इस प्रकार व्यवसाय संचालन में अकुशल व्यक्ति भी अपनी पूँजी को लगाकर लाभ कमा सकता है।

(१२) संयुक्त-स्कन्ध-प्रमंडलों ने ही **आधुनिक वृहत् उद्योगों को सम्भव बनाया** है। यदि ये संस्थायें नहीं होतीं तो आज अरबों रुपये की पूँजी वाले कारखाने विश्व में नहीं दिखाई देते।

लोक प्रमंडलों की हानियाँ

(Disadvantages of Public Companies)

आज हम दुनिया में जो व्यापारिक प्रगति देख रहे हैं, उसका मूल कारण संयुक्त-स्कन्ध-प्रमंडलों की स्थापना है, और इन्हीं कारणों से कम्पनियाँ अब दिनों दिन प्रगति कर रही हैं। भारतवर्ष के सम्बन्ध में यह कहना सर्वथा उचित होगा कि यहाँ कम्पनियों का अभ्युदय ही हुआ है, किन्तु विश्व में पूँजीवादी व्यवस्था को प्रोत्साहन देने में इन प्रमण्डलों का व्यापक स्थान है। अमेरिका, इंगलैंड आदि देश इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। परन्तु इन समस्त लाभों तथा प्रगति के होते हुए भी प्रमंडल अनेक दोषों से पूर्ण हैं। इन दोषों का विवेचन नीचे किया जाता है—

(१) व्यावहारिक जीवन में देखा गया है कि कम्पनियों के **संचालक अपने प्रभाव के कारण निर्वाचित हो जाते हैं।** ये लोग प्रायः स्वार्थी होते हैं और अपने वैयक्तिक लाभ के लिये वे प्रमंडल का अहित करने में भी संकोच नहीं करते। इससे साधारण अंशधारियों को कभी-कभी बड़ी हानि उठानी पड़ती है। संचालकों को कार्य-संचालन के लिये विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं और वे व्यापार की पूँजी को अलाभदायक कार्यों में अपने निजी लाभ के लिये लगा देते हैं। इसके साथ-साथ वह कम्पनी के कार्यों में भी विशेष रुचि नहीं रखते। उनको अपना वेतन लेने तथा कम्पनी के संचालक का पद प्राप्त करने की ही लालसा रहती है। यह सारी बातें कम्पनी के सर्वसाधारण अंशधारियों के लिये सर्वदा हानिप्रद सिद्ध होती हैं।

(२) प्रमंडलों का प्रारम्भ करने वाले **प्रवर्तक प्रायः इसी उद्देश्य से** कम्पनी को चलाने की कठिनाइयों को अपने ऊपर लेते हैं कि भविष्य में उन पर उनका अधिकार रहेगा। इसलिये वे प्रायः अपने ही लोगों को संचालक बनाते हैं। जो लोग कम्पनी के प्रारम्भ में संचालक बन जाते हैं, वे अधिकतर अपना पद स्थिर रखने के लिये बहुमत बनाने की चिन्ता में रहते हैं और अनेक उपायों से बहुमत

को अपनी ओर कर ही लेते हैं। इस प्रकार इनका व्यापार की ओर उतना ध्यान नहीं रहता, जितना अपने पद की ओर। प्रवर्तक इस प्रकार कम्पनी में अपना आधिपत्य हमेशा के लिये स्थिर कर देता है। यह स्थिति हमारे देश में विशेष रूप में पाई जाती है। विदेशों में तो प्रवर्तकों की संस्थायें होती हैं, जिनका कार्य केवल कम्पनियों का सचालन ही होता है; और जैसे ही उनको सचालन का प्रमाण-पत्र मिल जाता है, वे उससे अपना सम्बन्ध तोड देते हैं। इसके विपरीत भारतवर्ष में प्रवर्तक कम्पनी की स्थापना के पश्चात् उसके अभिकर्ताओं के रूप में कार्य करने लगते हैं। इसलिये उनकी स्थिति इस प्रकार की हो जाती है कि न तो उनको हटाया ही जा सकता है, और न उनकी आय में ही कमी की जा सकती है।

(३) सिद्धान्ततः सयुक्त-स्कन्ध-प्रमडल एक प्रजातांत्रिक संस्था है जिसमें सब अंशधारियों को बोलने तथा कम्पनी के संचालन की योजना बनाने का अधिकार है। किन्तु यथार्थ रूप में यह देखा गया है कि कम्पनी का प्रबन्ध अभिकर्ताओं, संचालकों तथा प्रबन्धकों के हाथ में ही सीमित रहता है, और उसके वास्तविक स्वामियों (अंशधारियों) को उसमें कुछ भी बोलने का अवसर नहीं मिलता। इसके कई कारण हैं। प्रथम, उनको वर्ष में एक बार ही बोलने और सुनने का अवसर मिलता है। द्वितीय, जो लोग सक्रिय व्यापार में भाग लेते हैं, उनकी पूंजी भी अधिक होती है तथा मत (Vote) देने के अधिकार भी अधिक होते हैं। अतः उन्हीं का बोलबाला रहता है। तृतीय, कम्पनी की वार्षिक बैठक में आने पर उनका जितना व्यय होता है, उतना उनको लाभ नहीं मिलता। इसलिये बहुत से लोग वार्षिक बैठक में सम्मिलित ही नहीं होते। चतुर्थ, वे स्वयं उपस्थित न होने पर अपने वोट का अधिकार प्रायः अभिकर्ता या किसी सचालक को दे देते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि इने-गिने लोग ही प्रमंडल पर अपना आधिपत्य जमाये रहते हैं।

(४) कम्पनी के प्रवर्तक कभी-कभी जनता को धोखा भी दे सकते हैं। कुछ धन आ जाने के पश्चात् वे उसको हड़प कर कम्पनी को समापन कर देते हैं। द्वितीय युद्धकाल में भारतवर्ष में इस प्रकार के अनेक प्रमडल खोले गये जिनमें भारतीय पूंजी का अत्यधिक दुरुपयोग हुआ है। नवीन विधान में अब कम्पनियों के निर्माण के लिये कठोर नियम बना दिये गये हैं।

(५) कम्पनियों के निर्माण में बहुत अधिक व्यय तथा कठिनाई होती है। उसके निर्माण के लिये अनेक वैधानिक शिष्टाचारों का पालन करना पड़ता है और तभी उसको स्थापना करने का अधिकार प्राप्त होता है। प्रारम्भिक व्यय भी आवश्यकता से अधिक हो जाते हैं, जिसमें पूंजी का बहुत बड़ा भाग यों ही चला जाता है। निर्माण-कार्य एक ही व्यक्ति के हाथ में न होने के कारण प्रायः निर्णय करने में बहुत समय लग जाता है।

(६) प्रमंडलों का कार्य-क्षेत्र उनके सीमानियमों तथा अन्तर्नियमों के द्वारा निर्धारित होने के कारण, उनके **सचालक समय के अनुसार कार्य नहीं कर सकते** जिससे उनके व्यापारिक कार्य में बडी भारी असुविधा हो जाती है।

(७) प्रमंडलों को **पूंजी में आसानी से परिवर्तन नहीं** किया जा सकता, क्योंकि परिवर्तन हेतु उन्हें अनेक वैधानिक शिष्टाचारों का पालन करना होता है।

(८) इन कम्पनियों के अंशों का स्कन्ध-विनिमय-विपणियों में क्रय-विक्रय होने के कारण उन पर **खूब सट्टा खेला जाता है**। इस प्रवृत्ति के कारण कम्पनियों को लाभ होने के स्थान पर प्रायः हानि ही उठानी पडती है। अभिकर्ता तथा संचालक लोग तो पूरी जानकारी रखने के कारण अपने हितों की रक्षा कर लेते है, किन्तु साधारण अंशधारियों का जानकारी न होने के कारण बहुत हानि उठानी पडती है। कभी-कभी प्रमंडल के प्रमुख अधिकारी ही इस प्रकार की स्थिति पैदा करके अपना वर्तमान तथा भावी लाभ कमा लेते है, और अंशधारियों को प्रत्येक अवस्था में हानि ही उठानी पडती है।

(९) कम्पनियों का एक बडा भारी दोष यह भी रहा है कि अभिकर्ताओं तथा सचालकों को **प्रयोगात्मक व्यवसायों मे रुपया लगाने की छूट** होती है। जिसके कारण कभी-कभी कम्पनियों की बडी धनराशि व्यर्थ में ही नष्ट हो जाती है और आर्थिक सकट के कारण उनको व्यापार का समापन करने के लिए विवश होना पड़ता है। नवीन प्रमण्डल विधान इन दोषों से शायद मुक्त है।

(१०) कम्पनियों के अधिकारियों की प्रायः **सत्तात्मक प्रवृत्ति** होती है जिससे वे अपने कार्य में रुचि नहीं रखते और अपने कर्तव्य का पालन भी पर्ण रूप से नहीं करते।

लोक प्रमंडलों का वर्गीकरण

(Classification of Public Companies)

कम्पनियों का वर्गीकरण उनके निर्माण के अनुसार तथा कार्यों के अनुसार किया जाता है। कार्यों के अनुसार जो वर्गीकरण किया जाता है, वह कम्पनियों के विविध व्यवसायों के नाम से होता है, जैसे—यदि कोई कम्पनी कपडे की मिल चला रही हो तो उसको 'सूती वस्त्र मिल' कहेंगे, जूट का कार्य करने वाली कम्पनी 'जूट कम्पनी' कहलायेगी, जहाजों का कार्य करने वाली को 'जहाजी कम्पनी' आदि। किन्तु इनका सही वर्गीकरण इनके कार्यों से नहीं, अपितु इनके निर्माण की पद्धति के अनुसार ही किया जाना उचित होगा क्योंकि निर्माण-पद्धति के अनुसार उनके व्यापार के संगठन तथा प्रबन्ध पर प्रभाव पड़ता है। अतः निर्माण के अनुसार जो वर्गीकरण किया जायेगा, वह निम्नलिखित है—

कम्पनियों को प्रमुख रूप से हम दो भागों में बाँट सकते है—(१) अलोक-

सीमित-प्रमंडल; और (२) संयुक्त-स्कन्ध प्रमंडल। इसके अतिरिक्त भी अन्य कम्पनियाँ हैं, जिनका प्रारम्भ में निर्माण किया गया था। इनमें राज आज्ञा द्वारा बनाई गई कम्पनियाँ तथा लोक-सभा के विशेष आदेश द्वारा तथा नियमानुसार बनाई गई कम्पनियाँ हैं। बाद को बनाई गई कम्पनियों का प्रारम्भ इंगलैंड में हुआ। अमेरिका में भी इस प्रकार की कम्पनियों के दो स्वरूप हैं। पहला, खान साभेदारी और दूसरा, साभेदारी परिषद्। इन कम्पनियों का वर्णन नीचे किया जाता है—

(१) राज-आज्ञा द्वारा निर्मित प्रमंडल (Companies by Royal Charter)—इस प्रकार की कम्पनियों का प्रारम्भ विदेशी व्यापार करने के लिए किया गया था, यह सर्वप्रथम इंगलैंड में प्रारम्भ हुई। वहाँ के राजा के लिए इन व्यापारियों पर नियंत्रण रखना तथा इनकी रक्षा करना कठिन हो गया था, अतएव अपनी सुविधा के लिए उसने उनको अलग अलग देशों में एकाधिकार प्रदान कर दिया। इस प्रकार ये कम्पनियाँ उन देशों में परिस्थितियों के अनुसार स्वतन्त्र रूप से व्यवस्था कर सकती थीं और अन्य देशों के साथ सम्बन्ध भी स्थापित कर सकती थीं। विदेशों में जाने वाली कम्पनियों को भी इस प्रकार की राज आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक था जिससे उन देशों के लोग उन पर कोई संदेह न करें और वे अपने व्यापार की जड़ें जमाने में सफल हों। इस प्रकार दोनों पक्षों की सुविधा के लिए इस प्रकार की कम्पनियों का निर्माण हुआ। 'ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी' तथा 'हडसन-बे-कम्पनी' इसी प्रकार की कम्पनियों में से हैं।

(२) नियमित प्रमंडल (Regulated Companies)—इस प्रकार की कम्पनियों का निर्माण भी पहली प्रकार की कम्पनियों के ही अनुसार हुआ। किन्तु इनमें एक विशेषता यह थी कि इनकी अपनी कोई पूँजी नहीं होती थी, केवल व्यापार करने वाले लोग आपस में अपना एक परिषद बना लेते थे। परिषद् का हर एक व्यक्ति अपनी लाभ-हानि के लिए स्वतंत्र होता था और अपने माल को दूसरे देशों में पहुँचाने के लिए अन्य लोगों से मिलकर जहाज आदि की सहायता प्राप्त कर लेता था। इस प्रकार ये कम्पनियाँ की अपेक्षा अधिक संयुक्त-जोखिम के साभेदार कहलाये जा सकते थे। इन कम्पनियों के अपने ही नियम होते थे, किन्तु उन नियमों को नियमित बनाने के लिए समय-समय पर राजा या लोक-सभा द्वारा आदेश किये जाते थे। इन कम्पनियों का निर्माण भी ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के ही समान ही हुआ था। इसमें से एक 'टर्की कम्पनी' का नाम लिया जा सकता है, जिसके नियमों को जार्ज द्वितीय के समय में पार्लियामेन्ट के विधेयक के द्वारा नियमित किया गया था।

(३) संयुक्त-स्कन्ध-प्रमंडल (Joint Stock Companies)—जिन कम्पनियों का निर्माण किसी विधान के अन्तर्गत हुआ हो, उन्हें संयुक्त-स्कन्ध प्रमंडल कहते हैं। इस प्रकार की कम्पनियों का प्रारम्भ भी सबसे पहले इंगलैंड में हुआ।

वहाँ पर कम्पनियो ने विदेशी व्यापार मे बहुत बडी मात्रा मे सट्टा खेलना प्रारम्भ कर दिया जिसके कारण कितनी ही कम्पनियों को हानि उठानी पडी। इसलिये उनके निर्माण पर रोक लगाने के लिये तथा उनको नियंत्रित करने के लिये सन् १७२० मे इंगलैंड की पार्लियामेन्ट ने 'बबल एक्ट' बनाकर उसकी गतिविधियों पर रोक लगा दी। किन्तु इससे विशेष प्रयोजन हल नहीं हो सका और सन् १८२५ मे कम्पनियों का नियंत्रण 'सामान्य विधान' के द्वारा होने लगा। तभी से इस प्रकार की कम्पनियों का प्रारम्भ समझना चाहिये। भारतवर्ष मे इस प्रकार की कम्पनियो का प्रारम्भ सन् १८५० के विधान के बाद मे हुआ है। भारतीय विधान के अनुसार कम्पनियाँ दो भागो मे बाँटी जा सकती है—(अ) असीमित दायित्व वाले प्रमडल, और (ब) सीमित दायित्व वाले प्रमडल।

(अ) **असीमित दायित्व वाली** वे कम्पनियाँ होती है, जिनका दायित्व असीमित होता है। इस प्रकार की कम्पनियाँ किसी भी साहूकार के प्रति सामूहिक तथा व्यक्तिगत रूप में उत्तरदायी होती है। इनमे विशेषता यह होती है कि इसके अंशो को हस्तान्तरित किया जा सकता है, और व्यापार से सम्बन्ध तोडने के एक साल बाद इसके दायित्व समाप्त हो जाते है। इस प्रकार की कम्पनियाँ अब नही दिखलाई देती केवल उनका ऐतिहासिक महत्व रह गया है।

(ब) **सीमित दायित्व वाली**—इन कम्पनियों मे अंशधारियों के दायित्व उनके अंशों के मूल्य तक ही सीमित रहते है अर्थात् जो रुपया वे कम्पनी मे लगाते है, अथवा लगाने का अनुबन्ध करते है, उसके अतिरिक्त उनसे किसी प्रकार मे भी अधिक पूँजी नही ली जा सकती। सीमित दायित्व वाली कम्पनियों के दो स्वरूप हैं—(१) अंशों द्वारा सीमित, तथा (२) प्रत्याभूति द्वारा सीमित। अंशों द्वारा सीमित कम्पनी का यह अर्थ है कि उसके अंशधारी जब अपने खरीदे हुए अंश का समस्त मूल्य चुका देते है, तो कम्पनी के प्रति उनका कोई दायित्व नहीं रहता और हानि अथवा विलीयन की दशा मे उनसे अतिरिक्त धन नहीं लिया जा सकता। इसके विपरीत प्रत्याभूति द्वारा सीमित कम्पनी मे प्रत्येक अंशधारी हानि होने की दशा मे एक सीमित रकम तक उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेता है। इस दशा मे उस व्यक्ति का दायित्व उसकी स्वीकार की हुई पूँजी तक ही सीमित रहेगा। इस प्रकार की कम्पनियाँ किसी विशेष व्यवसाय के लिए ही स्थापित की जाती है, जैसे चेम्बर-ऑफ-कॉमर्स। किन्तु प्रथम प्रकार की कम्पनियाँ प्रायः साधारण व्यापार के हेतु प्रारम्भ की जाती है।

(४) **अलोक प्रमण्डल** (Private Companies)—अलोक प्रमडल इंगलैंड की नियमित कम्पनियों से मिलती-जुलती है। भारतीय प्रमडल विधान के अनुसार निजी कम्पनियाँ वे कम्पनियाँ है जिनके अंशो के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध है, जिनके

सदस्यों की संख्या २ से कम और ५० से अधिक नहीं हो सकती, जिसमें जनता के द्वारा अंश तथा ऋण-पत्रों में धन नहीं लगाया जा सकता। इस प्रकार की कम्पनी को संयुक्त-स्कन्ध-कम्पनी के अनुसार विधेयक के शिष्टाचार में अधिक नहीं रहना पड़ता। इस प्रकार इसको अपने वार्षिक लेखों की रिपोर्ट प्रकाशित करवाने की आवश्यकता भी नहीं होती, और न व्यापार को प्रारम्भ करने के लिये किसी प्रकार के प्रमाण-पत्र की ही आवश्यकता होती है। हमारे देश में उस प्रकार के प्रमंडलों की संख्या बहुत अधिक है। ये प्रायः हर प्रकार के व्यापार में पाई जाती है।

(५) खान साझेदारी (Mining Partnership)—इंगलैंड और अमेरिका में जो साझेदारी खानों का काम करती है, उनको खान साझेदारी कहते हैं। परन्तु ये कम्पनियों की श्रेणी में हो आती है। खान का काम प्रायः सतत चलता रहता है और इसकी अवधि भी विशेष होती है, क्योंकि भू-गर्भ से किसी वस्तु को निकालने में सर्व प्रथम तो उस वस्तु की खोज करनी पड़ती है और यदि वस्तु मिल गई तो फिर उसकी खान बनाने में भी समय लगता है। इसलिये इसमें साझेदारी का अस्तित्व बराबर रहना आवश्यक है तथा इसमें पर्याप्त पूँजी का होना भी जरूरी है। इसलिये खान साझेदारी में उसके अंश हस्तान्तरित किये जा सकते हैं, किसी भी व्यक्ति के चले जाने या मृत्यु हो जाने से उसके अस्तित्व में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता। इसके सदस्यों को कम्पनी के लिये किसी प्रकार के अनुबन्ध लिखने का अधिकार नहीं है, और न उससे वह किसी प्रकार से सम्बन्धित हो हो सकती है।

(६) साझेदारी परिषद् (Partnership Association)—इस प्रकार के परिषदों का रूप भी कम्पनियों का ही स्वरूप है। इनका जन्म अमेरिका में सन् १८७४ में हुआ था। इन परिषदों का दायित्व सीमित होता है। इस परिषद् के अंश हस्तान्तरित किये जा सकते है, किन्तु किसी नये व्यक्ति के आगमन पर परिषद् के सदस्यों की अनुमति मिलनी आवश्यक है। इस परिषद् की स्थापना राज्य-सचिव के प्रमाण-पत्र द्वारा की जाती है और उसका विधान भी संयुक्त-स्कन्ध-कम्पनी के पार्षद-सीमा-नियम तथा पार्षद अन्तर्नियमों के समान ही होता है। इस प्रकार की संस्था का विशेष प्रचलन नहीं है।

अलोक प्रमंडल
(Private Company)

सार्वजनिक कम्पनियों की भाँति निजी कम्पनी भी असीमित, जमानती या अंश पूँजी द्वारा सीमित हो सकती है। इसकी परिभाषा प्रमंडल विधान १९५६ की धारा ३ (iii) में इस प्रकार दी गई है—"निजी कम्पनी वह है, जो अपने अन्तर्नियमों द्वारा (अ) अपने अंशों (यदि कोई हो) के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध लगा दे; (ब) अपने

सदस्यों की संख्या पचास तक सीमित रखे, जिसमें निम्नलिखित सम्मिलित नहीं होंगे—(१) जो व्यक्ति कम्पनी की नौकरी में हों, (२) जो व्यक्ति पहिले कम्पनी के नौकर थे, किन्तु बाद में सदस्य हो गये हों। (स) कम्पनी के अंशों या ऋण-पत्र के जन-निर्गमन पर रोक लगा दे।" इस कम्पनी में यदि दो या दो से अधिक व्यक्ति कम्पनी के एक या अधिक अंशों को सामूहिक रूप से रखते हैं, तो ऊपर की परिभाषा के लिये उनको एक ही व्यक्ति समझा जायगा।

अलोक प्रमडल का निर्माण करने के लिये कम से कम दो व्यक्तियों का होना आवश्यक है। धारा ४५ के अनुसार यदि कम्पनी में दो व्यक्तियों से कम होंगे और वह व्यापार छः महीने तक चलता रहेगा, तो उस काल के लिये कम्पनी का चलाने वाले व्यक्ति को समस्त ऋणों के लिये व्यक्तिगत रूप में उत्तरदायी रहना पड़ेगा। निजी कम्पनियाँ अंश हस्तान्तरण-कार्य सार्वजनिक कम्पनियों के समान नहीं कर सकती, और यदि वे अपने अन्तर्नियमों में किसी प्रकार का परिवर्तन करती हैं, तो धारा ४४ (ए) के अनुसार वह निजी कम्पनी नहीं रह सकती। निजी कम्पनियों को व्यापार प्रारम्भ करने में जनगम्य कम्पनियों के समान वैधानिक शिष्टाचारों का अवलम्बन नहीं करना पड़ता। सामान्यतः उनको निम्नलिखित नियमों को पालन करने की आवश्यकता नहीं है—

(१) उसको विवरण-पत्रिका के अभाव में रजिस्ट्रार के कार्यालय में विज्ञापन-पत्र नहीं भेजना पड़ता।

(२) उसको व्यापार प्रारम्भ करने के पूर्व न्यूनतम अभिदान-राशि (Minimum subscription) प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं।

(३) उसको सचालकों की नियुक्ति का विज्ञापन नहीं करवाना पड़ता।

(४) उसका कार्य, यदि वह सहायक कम्पनी नहीं है, तो दो सचालकों से चल सकता है। किन्तु सहायक कम्पनी होने की दशा में उसको कम-से-कम तीन सचालक रखने पड़ते हैं।

(५) उसको व्यापार प्रारम्भ करने के लिये एक महीने बाद अथवा छः महीने के अन्दर अपनी प्रथम वैधानिक सभा (Statutory Meeting) करने की आवश्यकता नहीं होती।

(६) उसको अधिनियम की धारा १४९ के नियमों के अनुसार व्यापार प्रारम्भ करने की आवश्यकता नहीं होती।

(७) संचालकों की नियुक्ति के लिये उसको धारा २६३ के बन्धन में रहने की आवश्यकता नहीं रहती, (इस धारा में सार्वजनिक तथा सहायक निजी कम्पनियों को दो या दो से अधिक व्यक्तियों को एक प्रस्ताव के द्वारा नियुक्त करने से प्रति-

वन्धित कर दिया गया है) और आसानी से वह एक प्रस्ताव के द्वारा एक से अधिक सचालकों की नियुक्ति कर सकती है।

(८) उनमें सचालको को अपने अवकाश ग्रहण करने की अवस्था बताने की आवश्यकता नहीं होती, और उस पर धारा २८० भी लागू नहीं होती, (इस धारा मे सचालको की अधिक से अधिक अवस्था ६५ वर्ष दी गई है)।

(६) धारा २८४ (१) मे कहा गया है कि कम्पनी के सचालकों को साधारण प्रस्ताव के द्वारा हटाया जाता है, किन्तु उसी मे निजी कम्पनियो को यह अधिकार प्राप्त नहीं है। उसके आजीवन सचालक पर यह धारा लागू नहीं होती।

(१०) उसके सदस्यों को एक समय मे एक से अधिक प्रति-पुरुष (Proxy) का अधिकार नहीं होता।

इस प्रकार कुछ अन्तरो के अतिरिक्त निजी कम्पनियो का निर्माण तथा प्रबन्ध सार्वजनिक-सीमित कम्पनियो के समान चलता है और प्रमडल विधान की प्राय. समस्त धाराएँ उस पर भी लागू होती है।

(११) किसी कम्पनी के प्रबन्ध अभिकर्ता, प्रबन्धक अथवा अन्य किसी ऐजेन्ट के लिये यह आवश्यक है कि यदि वह कम्पनी की ओर से ऐसा अनुबन्ध करता है, जिसमें कम्पनी गुप्त मुख्य दल है; तो उसको अनुबन्ध का स्मरण-पत्र कम्पनी के कार्यालय में प्रस्तुत करना पडेगा। किन्तु यह नियम अलोक प्रमंडलो पर लागू नहीं होता।

(१२) किसी विशेष हित रखने वाले सचालक को निजी प्रमंडल मे मतदान करने का अधिकार हो सकता है।

(१३) उसमें अन्य कम्पनियो के समान प्रबन्ध अभिकर्ताओ को ऋण स्वीकार करने पर प्रतिबन्ध नहीं है।

(१४) उसमें प्रबन्ध अभिकर्ताओ का पारिश्रमिक किसी प्रकार निश्चित किया जा सकता है।

(१५) कम्पनी का व्यवसाय बेचने, सचालक पर ऋण छोड़ने आदि के सम्बन्ध मे निजी कम्पनी पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाये जाते।

(१६) निजी कम्पनी पर ऋणों की स्वीकृति या प्रतिभूति-सम्बन्धी प्रतिबन्ध नहीं होते।

(१७) कम्पनी की सभाओं तथा मताधिकार-सम्बन्धी वैधानिक नियम निजी कम्पनियों पर लागू नहीं होते।

(१८) अशो के क्रय तथा आर्थिक सहायता सम्बन्धी लोक-प्रमण्डल के नियम अलोक प्रमंडल पर लागू नहीं होते।

अलोक प्रमंडल तथा अन्य संस्थाओं में अन्तर

(Distinction between Private and other Companies)

निम्नलिखित विवेचन के अनुसार यह निश्चय करने में कठिनाई न होगी कि निजी कम्पनियों तथा अन्य कम्पनियों के स्वरूप, कार्य तथा संगठन में कितना अन्तर है—

(१) निजी कम्पनियाँ किसी भी साझेदारी के समान बिना किसी विशेष वैधानिक औपचारिकता के अपना व्यापार प्रारम्भ कर सकती हैं, किन्तु संयुक्त-स्कन्ध-प्रमंडल बिना वैधानिक शिष्टाचारों की पूर्ण किये किसी प्रकार का व्यापार करने में असमर्थ रहते हैं।

(२) निजी कम्पनियाँ अपने व्यापार को केन्द्रित रखने के लिये तथा संगठन पर पूर्ण नियन्त्रण रखने के लिये अपने ही मित्रों तथा सम्बन्धियों को व्यापार में लेते हैं, जिनकी संख्या ५० से अधिक नहीं बढ़ सकती। किन्तु साझेदारी में यह संख्या बैंकिंग कार्यों में १० तथा साधारण व्यापार में २० से अधिक नहीं हो सकती। संयुक्त-पूँजी वाली कम्पनियों में संख्या पर किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आता। इसलिये निजी कम्पनियाँ अपने व्यापार का संचालन, अपने ही हाथ में रखते हुए, कुशलतापूर्वक कर सकती हैं।

(३) निजी कम्पनियों की कार्य-कुशलता साझेदारी या एकाकी व्यापार से अधिक बढ़ जाती है, क्योंकि इसमें प्रबन्ध के लिये इन संस्थाओं की अपेक्षा अधिक कुशल व्यक्ति चुने जा सकते हैं।

(४) निजी कम्पनियों में विश्वसनीय तथा एकता से कार्य करने की शक्ति बढ़ जाती है, क्योंकि इसमें सभी सदस्य एक दूसरे से वैयक्तिक रूप से परिचित होते हैं और चुनाव करने में किसी प्रकार के प्रभाव का असर उन पर नहीं पड़ सकता। किन्तु संयुक्त-स्कन्ध-प्रमंडलों में संचालक अपने कपट पूर्ण अधिकार जमा लेते हैं। यद्यपि इन दोनों प्रकार की संस्थाओं में गणतन्त्र पद्धति से काम लिया जाता है, किन्तु व्यावहारिक रूप से निजी कम्पनियों में सार्वजनिक कम्पनियों की अपेक्षा अधिक जनतन्त्रीय व्यवस्था रहती है।

(५) सार्वजनिक कम्पनियों तथा निजी कम्पनियों का स्वामित्व अंशधारियों का होता है और सिद्धान्ततः वे ही उनका परोक्ष संचालन भी करते हैं। किन्तु व्यवहार में देखा गया है कि सार्वजनिक कम्पनियों के अंशधारी अधिक व्यस्त, कम प्रभाव तथा अभिकर्ताओं या संचालकों का विशेष प्रभुत्व होने के कारण कम्पनी की आम सभाओं में विशेष हिस्सा नहीं लेते। परन्तु निजी कम्पनियों में इससे भिन्न स्थिति रहती है। इसके सदस्य प्रायः निकट ही रहते हैं और उनके आपसी सम्बन्ध तथा सम्पर्क के कारण उन्हें बोलने तथा अपनी योजनाओं को कार्यान्वित कराने की सुविधा रहती

है। इसलिये वे इसके प्रबन्ध में विशेष ध्यान दे सकते हैं और आम सभाओं में उत्साह के साथ भाग लेते हैं। निष्क्रिय और सीमित भागीदारों को छोड़ कर अन्य भागी व्यवस्था तथा किसी मुख्य निर्णय-सम्बन्धी तथ्य में समान भाग लेने के अधिकारी होते हैं।

(६) निजी कम्पनियों में विधान के अनुसार संचालकों तथा अभिकर्ताओं का क्रमिक परिवर्तन होने के कारण उसमें समय तथा परिस्थिति के अनुकूल इच्छित व्यक्तियों को संचालन का प्रबन्ध सौंपा जा सकता है। यह स्थिति एकाकी व्यापार या साझेदारी में सम्भव नहीं हो सकती। साझेदारी में समस्त साझेदारों को व्यापार में सक्रिय भाग लेने का अधिकार होता है और उनको उसी अवस्था में हटाया जा सकता है; जबकि साझेदारी का अन्त करना हो। इसलिये उसकी कार्यक्षमता नहीं बढ़ सकती, और न समय के अनुसार उसमें परिवर्तन ही किया जा सकता है।

(७) निजी कम्पनियों में साझेदारी की अपेक्षा पूँजी के रूप में अधिक धन सचय किया जा सकता है। साझेदारों की सीमित संख्या होने तथा नए साझेदार के प्रवेश पर नियन्त्रण होने के कारण उसकी पूँजी को बढ़ाने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। किन्तु निजी कम्पनियों में आवश्यकता के अनुसार नये अंशधारियों के प्रवेश से पूँजी को आसानी से बढ़ाया जा सकता है।

(८) निजी कम्पनियों में साझेदारी के समान ही अपनी व्यापारिक योजनाओं को पूर्ण रूप से गोपनीय रखा जा सकता है। इसके विपरीत संयुक्त-स्कन्ध-प्रमंडल में इस प्रकार की गोपनीयता वैधानिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से कठिन हो जाती है। सामान्य साझेदारी तथा सीमित साझेदारी में यदि एक या दो सामान्य भागीदार हों और शेष निष्क्रिय तथा सीमित भागीदार हों, तो गोपनीयता लगभग एकाकी व्यापार की तरह रहती है।

(९) निजी कम्पनियों को समय-समय पर अपनी आर्थिक स्थिति का प्रकाशन करवाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यहाँ तक कि वे यदि चाहें तो अपने अन्तिम खाते तथा अंकेक्षक की रिपोर्ट भी अपने सदस्यों के पास नहीं भेजें जिससे उनकी आर्थिक स्थिति की गोपनीयता बनी रहती है। किन्तु संयुक्त-स्कन्ध-प्रमंडलों को अपने अन्तिम खातों का प्रकाशन तथा उसकी प्रतियाँ अपने समस्त सदस्यों के पास भेजना आवश्यक होता है, जिससे कि वे अपनी आर्थिक स्थिति को गोपनीय नहीं रख सकते।

(१०) किसी सदस्य के चले जाने या मृत्यु हो जाने पर संयुक्त-स्कन्ध-प्रमंडलों (Joint Stock Companies) तथा निजी कम्पनियों के अस्तित्व पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता और वे बराबर चलती रहती हैं। क्योंकि निजी कम्पनियों के अंशों का (निर्धारित सीमा तक) हस्तान्तरण किया जा सकता है। परन्तु यह लाभ साझेदारों को प्राप्त नहीं है। उसमें न तो साझेदार अपनी पूँजी तथा अधिकार का

कुछ परिस्थितियों को छोड़ कर हस्तान्तरण कर सकता है और न उसकी मृत्यु हो जाने या चले जाने पर साझेदारी का अस्तित्व रहता है।

(११) निजी कम्पनियों का संयुक्त-स्कन्ध-कम्पनियों के समान ही सीमित दायित्व रहता है और उसके सदस्य अपनी लगाई हुई पूँजी तक ही उत्तरदायी होते हैं। किन्तु साझेदारी में साझेदार सामूहिक तथा व्यक्तिगत दोनों रूप में असीमित उत्तरदायित्व वहन करते हैं।

(१२) निजी तथा सार्वजनिक प्रमंडल भारतीय प्रमंडल अधिनियम १९५६ के अनुसार संचालित एवं नियंत्रित होते हैं। परन्तु भागिता-सार्थ भारतीय भागिता सार्थ अधिनियम १९३२ के अनुसार संचालित एवं नियंत्रित किये जाते हैं। सार्थ तथा निजी प्रमंडल ऋण-पत्रों के द्वारा पूंजी एकत्र नहीं कर सकते। परन्तु सार्वजनिक प्रमंडल की अर्थ-पूर्ति का यह एक प्रमुख साधन है।

लोक-प्रमंडलों का संगठन
(Organisation of Public Companies)

संयुक्त-स्कन्ध-कम्पनियों को जन्म देने वाली वे परिस्थितियाँ थीं, जिनके कारण पहिले व्यापार तथा व्यवसायों को हानि उठानी पड़ी थी। सारे संसार में इन कम्पनियों का प्रायः एक ही स्वरूप है। कम्पनी के संचालन में प्रत्यक्ष रूप में उसके स्वामियों (अंशधारियों) का व्यक्तिगत परिचय रहना कठिन है। यहाँ तक कि वे एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में भी नहीं आ सकते। इसलिए व्यापार का प्रबन्ध प्रत्यक्ष रूप में कम्पनी के यथार्थ स्वामियों के हाथ में न रह कर, उनके कुछ चुने हुए प्रतिनिधियों (जिनको संचालक कहते हैं) के हाथ में रहता है। ये प्रतिनिधि चुन लिये जाते हैं और संचालन का सारा भार इन पर डाल दिया जाता है। भारतवर्ष में कम्पनियों का संचालन अभी तक विशेष रूप से प्रबन्ध-अभिकर्ताओं (Managing Agents) के ही हाथों में रहा है, और संचालक मंडल (Board of Directors) प्रायः अकर्मण्य ही रहता आया है।

कम्पनी के प्रारम्भ होने पर (मुख्यतः भारतवर्ष में) कम्पनी के प्रवर्तक (Promoters) ही उसके प्रबन्ध की व्यवस्था करते हैं और जब वह पूर्ण रूप से व्यवस्थित हो जाती है, तो वही लोग प्रबन्ध-अभिकर्ता के रूप में रहते हैं। अभिकर्ता अपने हितों की रक्षा के लिये प्रारम्भ में ही इस प्रकार की व्यवस्था कर लेते हैं कि कम्पनी की विभिन्न परिस्थितियों में उनके संचालन के हेतु उनका स्थान सुरक्षित बना रहे। फिर भारतीय प्रमंडल अधिनियम १९१३ तथा संशोधित विधान सन् १९३६ के अनुसार अभिकर्ताओं का जीवन-काल २० वर्ष के लिये निश्चित कर दिया गया था, और साथ ही साथ उनको एक-तिहाई संचालकों तथा प्रबन्ध-संचालक की नियुक्ति का अधिकार, कमीशन तथा वेतन प्राप्त करने का अधिकार, अवकाश ग्रहण

था अंशधारियों का आपस में पर्याप्त मतभेद रहता है। किन्तु कम्पनी का पृथक अस्तित्व होने कारण उसका सचालन होता रहता है।

विवेचन योग्य प्रश्न

1. "Joint Stock Company is an impersonal person with an independent existence." Explain the statement with particular reference to Indian Companies Act
2. Discuss the main requisites of Joint Stock Companies ? What are its different forms ? Explain the difference between Partnership and Joint Stock Companies
3. Critically explain the advantages and disadvantages of a Joint Stock Company
4. "In the commercial and industrial world to-day, Joint Stock Company form of organisation is the only organisation which can survive" Do you agree with the statement ? Explain
5. "In different circumstances an 'industrial partnership can form different type of organisation" Explain those different types of organisation and differenciate between them.
6. What are the benefits of converting a partnership into public company.
7. Discuss the comparative advantages of public limited company and partnership.
8. 'Joint Stock Company is a changed form of partnership which is changed for obtaining more Capital' Do you justify the above statement ? What are the causes for this ? Explain
9. Briefly state the historical causes of the formation of Joint Stock Comany

प्रमंडल का प्रारम्भ

(Formation of Company)

प्रस्तावना—कम्पनी के प्रारम्भ करने में अनेक वैधानिक नियमों का पालन करना पड़ता है, किन्तु गेर्सटनवर्ग के अनुसार उसका प्रवर्तन किसी व्यापार के अवसरों की खोज करना तथा उसके लिये यथोचित पूंजी, सामग्री, प्रबन्ध-कर्ता तथा आवश्यक साधनों का प्राप्त करना है, जिसके द्वारा व्यापार से लाभ कमाया जा सके। इस प्रकार कम्पनी का निर्माण करने के लिये अन्य संस्थाओं के समान ही किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के विचार तथा साधनों को जुटाना होता है और उनका उपयोग इस प्रकार से करना पड़ता है कि व्यापार सुचारु रूप से चल सके तथा उसके संस्थापन में हर प्रकार की सुविधा हो सके। इस कार्य को कम्पनी के प्रवर्तक (Promoters) करते हैं।

प्रमंडल के प्रवर्तक

(Promoters of Company)

लार्ड जस्टिस बोन के अनुसार "प्रवर्तक कोई कानूनी संज्ञा नहीं, अपितु व्यापारी है। जिसके द्वारा समस्त संसार के व्यापारिक ज्ञान के प्राप्त होने पर कम्पनी का प्रादुर्भाव होता है।" प्रवर्तक वह व्यक्ति होते हैं जो कम्पनी के संस्थापन का प्रारम्भिक कार्य करते हैं।

प्रवर्तकों के प्रकार—प्रवर्तकों को निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है—(१) व्यावसायिक प्रवर्तक, जो कमीशन, स्वामित्व या नियंत्रण के लिये कम्पनी का प्रवर्तन करते हैं (२) सामयिक प्रवर्तक, जो अपने किसी पूर्व व्यवसाय के लिये हितकारी किसी नये व्यवसाय को प्रारम्भ करते है (३) तात्रिक प्रवर्तक, जो किसी विशेष स्थिति में ही नवीन कम्पनी का प्रवर्तन करते हैं—जैसे इंजिनियरिंग वाली संस्थायें, वित्तीय संस्थायें या प्रबन्ध सम्बन्धी विशेषज्ञ जिनकी किसी विशेष व्यवसाय में रुचि हो।

प्रवर्तक द्वारा सेवायें

(१) प्रवर्तक पूंजी विनियोग करने वाली सामान्य जनता (विनियोक्ताओं) के सहायक होते हैं। लोगों के पास किसी व्यापार के प्रारम्भ करने की परिस्थितियों को सोचने का अवसर नहीं होता। किन्तु प्रवर्तक व्यापार के विषय में पूर्ण रूप से सोच-विचार कर उनके सामने व्यापार का एक स्थूल स्वरूप ले आते हैं। जिसमें वे विनियोग कर सकें।

(२) प्रमंडल के प्रारम्भ करने से पूर्व की समस्याओं जैसे—स्थान, कच्चा माल, शक्ति, श्रम, कारीगर, बाजार आदि पर प्रवर्तक ही मनन करते हैं। चाहे कार्य छोटा हो अथवा बड़ा, उनकी पूर्ण योजना पहले से ही तैयार कर लेना चाहिए। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण स्वर्गीय जमशेदजी ताता के द्वारा "टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी लिमिटेड" के प्रारम्भ करने की व्यवस्था से लिया जा सकता है। उन्होंने सन् १८८२ से १९०७ तक स्टील कम्पनी के हेतु कितने प्रयत्न किये। यद्यपि उनकी मृत्यु सन् १९०४ में हो गई, किन्तु उनके प्रयत्नों का फल १९०७ में जाकर पूरा हो सका। अतः प्रवर्तक को भविष्य में सफल होने वाले व्यापार की स्थापना करने के लिए कितना संघर्ष करना पड़ता है।

(३) प्रमंडल को प्रारम्भ करने की व्यवस्था करने के पश्चात् प्रवर्तक को **पार्षद-सीमा-नियम** तथा **पार्षद-अन्तर्नियमों** पर हस्ताक्षर करने के हेतु ऐसे व्यक्तियों की खोज करनी पड़ती है, जो उसके प्रारम्भिक सचालक बनने योग्य हों तथा जिनकी आर्थिक स्थिति और सामाजिक प्रतिष्ठा स्थायी हो।

(४) प्रवर्तक का कार्य, **कम्पनी का नाम** रखना, उसके लिए यथेष्ट पूँजी का संगठन करना तथा उसके लिए प्रारम्भिक व्यय करना आदि भी हैं।

(५) कम्पनी के लिए **अधिकोष**, **वैधानिक सलाहकार**, **अंकेक्षक**, **अभिगोपक** तथा **दलालों** की नियुक्ति करना है।

(६) वह कम्पनी का **पार्षद-सीमा-नियम**, **पार्षद-अन्तर्नियम** तथा **विवरण पत्रिका** तैयार करता है।

(७) प्रवर्तक विक्रेताओं, प्रबन्ध अभिकर्ताओं तथा अभिगोपकों (Underwriters) के साथ प्रमंडल के हित को सम्मुख रखते हुए **अनुबन्ध** करता है।

(८) **प्रमंडल का पंजीयन** करवाने के लिए वह विवरण-पत्रिका, पार्षद-सीमा-नियम तथा अन्तर्नियम आदि को रजिस्ट्रार ऑफ ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनी (पंजीयक, संयुक्त-स्कन्ध प्रमंडल) के सामने प्रस्तुत करता है। वह अंश तथा ऋण-पत्रों का हिसाब करता है तथा उसके लिए जनता में यथेष्ट विज्ञापन करता है।

(९) प्रवर्तक व्यापार को प्रारम्भ करने के लिए रजिस्ट्रार के द्वारा प्रारम्भ कराने का समामेलन प्रमाण-पत्र (Certificate of Incorporation) दिलाता है।

(१०) प्रमंडल की व्यवस्था करने के लिए प्रवर्तक कार्य-कर्ताओं की नियुक्ति करता है तथा उसके साथ के अनुबन्धों को करता है।

(११) अंश, ऋण-पत्र आदि का प्रचलन तथा उसके प्रचार की व्यवस्था करता है।

(१२) प्रारम्भिक खर्चों को करना तथा उनका समुचित भुगतान करना भी प्रवर्तक का ही कार्य है।

(१३) कम्पनी के कार्यालय को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिये आवश्यक सामग्री एकत्र करना तथा व्यवसाय को चलाने के लिये कच्चा-माल, मशीन, मजदूर आदि की व्यवस्था करना भी इसका कार्य होता है।

प्रारम्भिक अनुबन्ध तथा प्रवर्तक का पारिश्रमिक
(Preliminary Contracts & Promoter's Remuneration)

कम्पनी को प्रारम्भ करने मे प्रवर्तक को सारे प्रारम्भिक कार्य करने पड़ते हैं और उसके लिये अनेक व्यक्तियों तथा दलों से समझौते करने आवश्यक हो जाते हैं। इस प्रकार के समझौते या अनुबन्ध भारतीय अनुबन्ध अधिनियम (Indian Contract Act) के अन्तर्गत किये जाते हैं। इन अनुबन्धों का सारा उत्तरदायित्व व्यक्तिगत रूप से प्रवर्तक के ही ऊपर होता है, क्योंकि कम्पनी को जब तक वैधानिक मान्यता नही मिलती, तब तक उसके साथ किये गये अनुबन्धो के लिए उसको उपयुक्त (Competent) नही माना जाता, और न दावा ही किया जा सकता है। इसलिये प्रवर्तक का कार्य है कि वह कम्पनी के निर्माण होते ही सर्वप्रथम इन अनुबन्धों का नवीनकरण (Renewal) करवा ले, जिससे वह अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो सके।

कम्पनी के प्रवर्तन के कार्यों के लिये प्रवर्तक को भारी परिश्रम करना पड़ता है, और साथ ही समस्त प्रारम्भिक व्यय भी उसी को जुटाने पड़ते हैं। वह यह सारा कार्य कुछ पारिश्रमिक की लालसा से ही करता है। पारिश्रमिक उसको अनेक प्रकार से दिया जाता है। जिनमे मुख्य रोक-राशि, निश्चित वर्तन, पूर्ण-प्रदत्त अंश या ऋण-पत्र आदि हैं। उसको मुख्य रूप से निम्नलिखित के लिये पारिश्रमिक दिया जाता है—

(अ) उसके द्वारा क्रय की गई सम्पत्ति अथवा व्यवसाय के लिये नकद रुपया दिया जा सकता है अथवा उसके क्रय-मूल्य पर एक निश्चित प्रतिशत की दर से वर्तन दिया जा सकता है।

(ब) इसके साथ-साथ अथवा क्रय मूल्य के कमीशन के लिये तथा उसकी सेवाओं के लिये उसको पूर्ण प्रदत्त अथवा अर्द्ध-प्रदत्त अंशों या ऋण-पत्रों को दिया जा सकता है।

प्रवर्तक को दिया जाने वाला पारिश्रमिक, चाहे वह किसी भी रूप में हो, कम्पनी की विवरण-पत्रिका (Prospectus) में स्पष्ट रूप से लिखा जाना चाहिये। जिससे जनता को कम्पनी में प्रवर्तक की स्थिति का स्पष्ट ज्ञान हो सके, तथा वह उसके अनुकूल कम्पनी के विषय में अपना अनुमान लगा सके।

भारतीय प्रवर्तक

(Promoters in India)

भारतवर्ष में विदेशी प्रवर्तकों की भांति प्रमडलों की निर्माण पद्धति भिन्न है। विदेशों में प्रवर्तकों की संस्थायें होती है, जिनका कार्य किसी व्यापार को प्रारम्भ करके उसको उनके सचालकों तथा अशधारियों को सौंप देना होता है। इस कार्य के लिये प्रवर्तक अपने प्रारम्भिक व्ययों के अलावा एक निश्चित कमीशन भी लेते हैं, और कमीशन लेने के पश्चात् उनका उस संस्था से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता, और वे उस धन से अन्य कम्पनियों को प्रारम्भ करते है। परन्तु भारतवर्ष मे दशा इससे सर्वथा भिन्न है।

भारतवर्ष मे कम्पनियों के निर्माण का कार्य अंग्रेजों ने प्रारम्भ किया था। ईस्ट-इण्डिया कम्पनी से अवकाश ग्रहण करने वाले लोगों ने भारतवर्ष मे अपनी पूँजी लगाने के लिये कम्पनियों का निर्माण किया। जब कम्पनियां पूर्ण रूप से कार्य करने लगीं तथा उनमे लाभ होने लगा, तो भारतीय व्यापारियों ने भी उनमे बढ़ता हुआ लाभ देख कर उन संस्थाओं में सम्मिलित होने की इच्छा प्रकट की। अतः अंग्रेजों ने अंशों को बेच कर अपनी पूँजी को प्राप्त कर लिया और उसके द्वारा पुनः नये व्यापारों को प्रारम्भ किया। भारतीय प्रवर्तकों ने सर्वप्रथम अहमदाबाद मे कम्पनियों के निर्माण कार्य को प्रारम्भ किया और उनमें अपने निकट सम्बन्धियों के द्वारा ही अंशों को बिकवा कर पूँजी की व्यवस्था की।

भारतीय प्रवर्तक किसी कम्पनी को प्रारम्भ करके उससे अपने सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकते। क्योंकि भारत के विनियोक्ताओं को नय व्यापार मे हाथ डालने मे संकोच होता है। इसका कारण यह है कि भारतीय व्यापारी जोखिम लेना नहीं जानते। दूसरे, भारत मे पूंजी की कमी है। भारतीयों के पास सीमित पूँजी होने के कारण उनका बड़े-बड़े तथा अनिश्चित व्यापार एवं व्यवसायों मे अपना धन विनियोग करने मे सकोच करना स्वाभाविक है। निर्धन तथा शकालु होने के कारण वह सुनिश्चित, सुव्यवस्थित तथा लाभप्रद व्यापारों मे ही हाथ डालता है। इस प्रकार भारतवर्ष में प्रवर्तक कम्पनी को प्रारम्भ करके ही बरी नहीं हो जाते, अपितु उनको प्रबन्धकर्ता के रूप में भी कार्य करना पड़ता है, जिससे उनके नाम के कारण लोग व्यापार की ओर उन्मुख हो सकें। प्रारम्भ में यह विचार हो सकता है, किन्तु बाद को जब कम्पनी के प्रवर्तन तथा सचालन मे इनको आशातीत लाभ दिखाई दिया तो प्रवर्तक इसी उद्देश्य से व्यापार प्रारम्भ करने लगे, जिससे कि आगे चल कर वे उसके प्रबन्ध-अभिकर्ता के रूप में कार्य कर सकेंगे।

प्रवर्तक कम्पनियों का निर्माण इस दृष्टि से करते थे कि भविष्य मे उनको अधिक उत्तरदायित्व न रखते हुए भी कम्पनी के लाभ का बहुत बड़ा हिस्सा ले सकें।

इस दृष्टि से, कम्पनियो मे अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिये प्रवर्तक प्रायः उनका संचालन का कार्य अपने सम्बन्धियो को ही सौंपते थे तथा भविष्य मे भी इस प्रकार की व्यवस्था करते थे कि उनका ही बहुमत बना रहे। प्रवर्तकों मे अनेक दोष उत्पन्न हुए है, जिनका वर्णन प्रबन्ध अभिकर्ताओं का विवेचन करते समय किया जायगा।

भारतवर्ष मे पिछले कुछ वर्षों से 'निजी क्षेत्र' और 'सरकारी क्षेत्र' के निर्माण हो जाने से कम्पनियो के प्रवर्तन की स्थिति पर बहुत भारी प्रभाव पड़ा है। नवीन प्रमंडल-अधिनियम, औद्योगिक (विकास एव नियत्रण) विधान (Industrial Development and Regulation Act), पूँजी-निर्गमन अधिनियम (Capital Issue Control Act, 1947) आदि के प्रभाव से भी भविष्य मे प्रवर्तको पर बहुत प्रभाव पडेगा। यदि भारतवर्ष मे भी कम्पनियो का प्रवर्तन विदेशी ढंग पर करना है, तो भारतीय जनता मे जोखिम सहन करने तथा विनियोग करने की क्षमता होनी चाहिये तथा उनकी व्यापार की ओर प्रवृत्ति बढनी चाहिये।

प्रमंडल के प्रारम्भिक मुख्य प्रलेख

(Main Primary Documents of Company)

किसी भी कम्पनी का नव-निर्माण करने के लिये उसका पंजीयन करवा लेना आवश्यक है। पंजीयन के लिए निम्नलिखित प्रलेखो को प्रस्तुत करना पडता है— पार्षद-सीमा-नियम (Memorandum of Association), पार्षद अन्तर्नियम (Articles of Association), संचालकों की सूची (List of Directors), सचालको की लिखित सम्मति; (Written Consent of Directors), वैधानिक घोषणा (Statutory Declaration), प्रमुख कार्यालय (Registered Office) की सूचना तथा विवरण-पत्रिका (Prospectus)। इनमे से हम पार्षद-सीमा नियम, अन्तर्नियमो तथा विवरण-पत्रिका का विवेचन करेंगे। इन सब प्रलेखों को उचित शुल्क के साथ रजिस्ट्रार के कार्यालय मे प्रस्तुत करना पडता है।

पार्षद-सीमा-नियम

(Memorandum of Association)

पार्षद-सीमा नियम कम्पनी का महत्वपूर्ण वैधानिक प्रलेख है, जिसमे कम्पनी का नाम, प्रधान कार्यालय, उद्देश्य तथा पूँजी का उल्लेख रहता है, और जो उसके अधिकार तथा उत्तरदायित्व को बतलाता है। कम्पनी केवल उन्हीं कार्यवाहियो को कर सकती है, जो या तो पार्षद सीमा नियम मे स्पष्ट लिखी गई हो अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाली मानी जा सकती हैं। साराश मे यह, कम्पनी के अधिकारो का निर्धारण करता है। किसी भी कम्पनी को अपने पार्षद-सीमा-नियम के अन्तर्गत ही कार्य करना चाहिये, क्योंकि कोई भी कार्य जो कम्पनी के पार्षद सीमा नियम मे नहीं है, वह अवैधानिक (Ultra vires) तथा वर्जित (Void) माना जाता है और

उसकी वैधानिकता किसी भी आधार पर नही मानी जाती। इसलिये यदि यह माना जाय कि कम्पनी के महल का धरातल पार्षद सीमा नियम है, जिसके ऊपर इमारत बनाई जाती है, तो असत्य नही होगा। इसलिये पार्षद-सीमा-नियम का अत्यन्त सावधानी तथा व्यापक रूप से बनाया जाना आवश्यक है, जिससे भविष्य मे कोई कार्य प्रारम्भ करने में कठिनाई न हो।

पार्षद-सीमा-नियम के द्वारा कम्पनी से सम्बन्ध रखने वाले साहूकार, अंशधारी तथा अन्य व्यक्ति जिनका उससे सम्बन्ध है, यह जान सकते हैं कि उनका कम्पनी मे किस सीमा तक अधिकार है। किन्तु इसमें कम्पनी की केवल एक सूक्ष्म रूपरेखा ही होती है, जिसके आधार पर विस्तृत रूप से अन्तर्नियमो को बनाया जाता है। अतः पार्षद-अन्तर्नियम, पार्षद-सीमा-नियम की हद के बाहर जाने की शक्ति नही रखते।

पार्षद-सीमा-नियम के शीर्षक

(*Headings of Memorandum*)

प्रमंडल अधिनियम की धारा १३ के अनुसार कम्पनी के पार्षद-सीमा-नियम के निम्नलिखित मुख्य शीर्षक हैं—

(१) नाम (Name) धारा १३ (१) ए,

(२) पंजीयत कार्यालय (Registered Office) धारा १३ (१) बी,

(३) उद्देश्य (Objects) धारा १३ (१) सी,

(४) सीमित दायित्व (Limited Liabilities) धारा १३ (२),

(५) पूंजी (अंश अथवा प्रतिभूति) (Capital Share or Guarantee) धारा १३ (३), (४),

(१) **प्रमंडल का नाम** (Name)—कम्पनी अपनी इच्छा के अनुसार कोई भी नाम रख सकती है, किन्तु उस नाम को किसी पूर्व पंजीयत कम्पनी के नाम अथवा उसके निकटतम नाम से मिलता हुआ नहीं होना चाहिये। कम्पनी का नाम इस प्रकार का भी नही रखा जा सकता, जो सरकार के नाम से किसी प्रकार से सम्बन्धित हो। यदि इस प्रकार का कोई नाम रखा जाता है, तो या तो उसका पंजीयन नहीं होता, और यदि हो जाता है और भविष्य में अशुद्धि ज्ञान होगई, तो कम्पनी को तत्काल अपना नाम बदलना पड़ता है। नाम बदलने मे व्यय होता है तथा प्रतिष्ठा समाप्त हो जाती है। इसलिये सचिव अथवा प्रवर्तक को चाहिये कि नाम का पंजीयन करने से पूर्व रजिस्ट्रार के कार्यालय मे इस बात की जाँच करले कि उसका नाम रजिस्टर हो सकेगा या नही। सन् १९५० के चिन्ह तथा नाम (अनावश्यक प्रयोग पर रोक) अधिनियम [The Emblems and Names (Prevention of Improper Use) Act 1950] के अनुसार कोई भी व्यक्ति किसी व्यापार, व्यवसाय अथवा कार्य के लिये कोई ऐसा नाम, जो केन्द्रीय सरकार के नाम अथवा सुरक्षित

नाम से मिलता हो, बिना केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति के प्रयोग में नहीं ला सकता, और न चिन्ह का ही प्रयोग कर सकता है। कम्पनी कानून में इस प्रकार का कुछ संकेत नहीं है कि कौन सा नाम नहीं रखा जा सकता। किन्तु केन्द्रीय सरकार को किसी भी नाम को इस आधार पर अस्वीकार करने के अधिकार है कि वह अनिच्छित है।

सामान्य तौर पर कोई भी कम्पनी निम्नलिखित नामो को नहीं रख सकती— विश्व-स्वास्थ्य-संघ, संयुक्त-राष्ट्र-संघ, केन्द्रीय अथवा राज्य सरकार, नगरपालिका, राज्याज्ञाधारी, सहकारी-समिति अथवा किसी पूर्व रजिस्टर्ड कम्पनी के नाम से मिलता-जुलता। इसी में यह भी है कि कोई कम्पनी विश्व संस्थाओं के तथा केन्द्रीय अथवा राज्य सरकार के चिन्हों का भी प्रयोग नहीं कर सकती।

कम्पनी के नाम के आगे 'कम्पनी' शब्द लिखना आवश्यक नहीं, किन्तु इसका प्रयोग किया जा सकता है। धारा १४७ के अनुसार नाम किसी भी भाषा में हो सकता है तथा सीमित (Limited) या निजी सीमित (Private Limited) शब्द कम्पनी के नाम के ही अंग माने जायेंगे, और इनको कम्पनी के नाम के अन्त में लिखना आवश्यक होगा। निजी कम्पनियों को नये कानून के प्रभाव में आने के बाद अपने नाम के साथ 'निजी' शब्द का जोड़ना अनिवार्य है। धारा ६३१ के अनुसार 'सीमित' तथा 'निजी सीमित' शब्दो का प्रयोग न करने पर दण्ड का विधान है।

कम्पनी अपने नाम को बदल सकती है, किन्तु धारा २१ के अनुसार पहले कम्पनी को उसके लिये विशेष प्रस्ताव पास करना पड़ेगा और उसकी स्वीकृति केन्द्रीय सरकार से लिखित रूप में लेनी आवश्यक होगी।

(२) पञ्जीयत कार्यालय (Registered Office)—स्मरण-पत्र में दूसरा वाक्य कम्पनी के प्रधान कार्यालय के सम्बन्ध में होता है। धारा १४६ के अनुसार कम्पनी को अपने केन्द्रीय कार्यालय की स्थापना, कार्य का प्रारम्भ करते ही अथवा २८ दिन के अन्दर कर लेनी चाहिये। इसमें जो भी तिथि पहली हो, उसकी सूचना दी जानी चाहिये तथा सम्पूर्ण पत्र-व्यवहार उसी नाम पर किया जाना चाहिये।

इस प्रकार कम्पनी का प्रधान कार्यालय वह है, जिसके नाम पर न्यायालय द्वारा अथवा अन्य स्थानों से पत्र-व्यवहार किया जाता है। इसके द्वारा कम्पनी के क्षेत्र का विस्तार भी जाना जा सकता है। धारा १० के अनुसार रजिस्टर्ड कार्यालय वह है, जहाँ से कम्पनी के विनीयन के ६ माग के अन्दर इसकी सूचना प्रसारित की जाती है। कम्पनी अपने प्रधान कार्यालय का स्थान परिवर्तन कर सकती है, किन्तु इसकी सूचना रजिस्ट्रार को २८ दिन के अन्दर दी जानी चाहिये। यह सूचना कम्पनी के समामेलन (Incorporation) अथवा परिवर्तन के २८ दिन के अन्दर दी जानी

चाहिये। यह परिवर्तन तब तक नहीं किया जा सकता, जब तक रजिस्ट्रार की स्वीकृति प्राप्त न हो जाय, (धारा १४७)।

विदेशी कम्पनियों (Foreign Companies) को भी प्रधान कार्यालय का स्पष्टीकरण करना आवश्यक है।

(३) **प्रमंडल के उद्देश्य** (Objects of Company)—पार्षद-सीमा-नियम में इसका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि कम्पनी का सारा कार्य इसके ही अनुसार निर्धारित किया जाता है। इसलिये उद्देश्यों को लिखते समय बहुत सावधानी की आवश्यकता होती है। कम्पनी के उद्देश्य वैधानिक तथा स्पष्टतः पारिभाषित होने चाहिये। इससे अंशधारी यह स्पष्ट रूप से जान सकेंगे कि कम्पनी का धन किस कार्य में लगाया जा सकता है तथा जो भी लोग कम्पनी से व्यवहार करते हों, उनको भी भली-भाँति ज्ञान हो सकेगा कि कम्पनी के कार्य-क्षेत्र की क्या सीमा है, तथा उनका उसमें किस सीमा तक सम्बन्ध रह सकता है। इसलिये नियमों का ध्यान रखते हुए उद्देश्यों को इस प्रकार बनाना चाहिये कि भविष्य में उनके द्वारा किसी प्रकार की उलझन पैदा न हो। इसके अन्दर उन सभी बातों का समावेश किया जाना चाहिये, जिनका सम्बन्ध कम्पनी के व्यवसाय को चलाने तथा उसको प्रगति पर ले जाने के लिये आवश्यक हो।

कभी-कभी 'उद्देश्य वाक्य' में यह जोड़ दिया जाता है कि, "ऐसे अन्य व्यवहार जो उपर्युक्त उद्देश्यों से सम्बन्धित अथवा सहायक हों, अथवा जिनको कम्पनी उपयुक्त समझे, कर सकती है।" किन्तु इस वाक्य के जोड़ देने से कम्पनी के वैधानिक अधिकारों में किसी भी प्रकार की वृद्धि नहीं हो सकती, और न इससे प्रधान उद्देश्यों की ही कार्य वृद्धि हो सकती है। इस सम्बन्ध में अनेक न्यायालयों द्वारा अनेक निर्णय दिये गये है, जो यह सिद्ध करते है कि कम्पनी वही कार्य कर सकती है जो उसके उद्देश्यों में स्पष्ट रूप से लिखे गये हों।

यदि कम्पनी का कोई अधिकारी उद्देश्य के विरुद्ध कार्य करता है, तो उसका समस्त उत्तरदायित्व कम्पनी पर न होकर, उस पर ही व्यक्तिगत रूप से होगा।

(४) **प्रमडल का दायित्व** (Liabilities of Company)—स्मरण-पत्र में अंशों द्वारा अथवा जमानत द्वारा सीमित कम्पनियों को प्रत्येक दशा में यह स्पष्ट करना होगा कि उसके सदस्यों का दायित्व सीमित है। धारा ३२२ (१) के अनुसार पार्षद-सीमा-नियम में उपयुक्त नियम बनाकर संचालकों का दायित्व असीमित किया जा सकता है, किन्तु इसकी सूचना संचालकों को दी जानी आवश्यक होगी तथा धारा ३२२ (२) और (३) के अनुसार उसकी क्षति-पूर्ति के लिये त्रुटि करने वाला अधिकारी ही उत्तरदायी होगा। इसी धारा के अनुसार अशुद्धि करने वाले अधिकारी भी १०००) रु० तक के दण्ड के भागी होंगे।

(५) **पूँजी में परिवर्तन**—कम्पनी की अंश-पूँजी मे तीन प्रकार से परिवर्तन किया जा सकता है—

(अ) नये अंशों के निर्गमन के द्वारा पूँजी मे वृद्धि;

(आ) अंश-पूँजी को कम करना,

(इ) पूँजी का पुनर्गठन,

यदि कम्पनी अश-पूँजी मे वृद्धि करना चाहती हो, तो उसको उपर्युक्त परिवर्तनो के लिये धारा ९४ तथा १०० के अन्तर्गत कम्पनी के पार्षद-अन्तर्नियमो मे परिवर्तन करना होगा, जिसका विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

प्रमंडल के अन्तर्नियम
(Articles of Association)

पार्षद-अन्तर्नियम—कम्पनी के अन्तर्नियमो की कानून द्वारा इस प्रकार परिभाषा दी गई है,—"कम्पनी के नियम जो पहले बनाये गये हो या जिनको कम्पनी कानून के अनुसार समय-समय पर परिवर्तित कर दिया गया हो, वे कम्पनी कानून के 'अन्तर्नियम' कहलायेंगे"। सेड्यूल १ की सारिणी (अ) के अनुसार ही कम्पनी के अन्तर्नियम बनाये जा सकते हैं।

कम्पनी के अन्तर्नियम उसके उद्देश्यों की परिपूर्ति एवं उसके सुचारु रूप से संचालन के लिये बनाये जाते है। कम्पनी का पार्षद सीमा नियम उसके कार्य-क्षेत्र को निर्धारित करता है, और अन्तर्नियम यह बतलाते है कि उस सीमा के भीतर अमुक कार्य कैसे किया जाय, आन्तरिक प्रबन्ध एव व्यवस्था किस प्रकार होनी चाहिये तथा कम्पनी से सम्बन्ध रखने वाले अलग-अलग व्यक्तियों के क्या अधिकार होंगे। अन्तर्नियम भी पार्षद-सीमा नियम की तरह अनुच्छेदों मे क्रमानुसार विभाजित किया जाना चाहिये तथा उस पर पार्षद-सीमा-नियम पर हस्ताक्षर करने वाले व्यक्तियों के हस्ताक्षर होने चाहिये।

अन्तर्नियम मे साधारणतया निम्नलिखित बातो का समावेश होता है—

(१) अन्तर्नियमों मे कम्पनी अधिनियम की सारिणी (अ) किस सीमा तक लागू होगी,

(२) व्यक्तियो के साथ (कम्पनी के अन्दर और बाहर) किये हुए अनुबन्धो का विवरण,

(३) अंश-पूंजी की कुल राशि तथा उसका विभिन्न प्रकार के अंशों में विभाजन,

(४) अंशों की वितरण विधि,

(५) याचना राशि एव याचना विधि,

(६) अंश प्रमाण पत्र निर्गमन विधि,

(३) परिवर्तन मे किसी अशधारी पर किसी प्रकार का प्रभाव नही पडना चाहिये।

(४) निम्नाकित परिवर्तन केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना नही किये जा सकते—

(अ) जिस कम्पनी के अभिकर्ता न हों, उसमे किसी प्रबन्ध-संचालक की नियुक्ति करना, उसकी अवधि तथा पारिश्रमिक बढाना।

(आ) सचालको की सख्या बढाना।

(इ) अभिकर्ताओं के कार्यालय तथा अधिकारो को बढाना।

(ई) अभिकर्ताओ की नियुक्ति तथा उनके पारिश्रमिक को बढाना।

(५) न्यायालय की आज्ञा के बिना अन्तर्नियमो मे कोई ऐसा परिवर्तन नही किया जा सकता, जिसमे उसकी आज्ञा लेना आवश्यक हो।

(६) परिवर्तन अल्पसंख्यको के साथ कपट या छल के लिये नहीं करना चाहिये।

(७) परिवर्तन समस्त कम्पनी के सदस्यों तथा अन्य पक्षो के हित मे किया जाना चाहिए।

(८) परिवर्तन का आशय बाहरी लोगो के साथ किये गये अनुबन्धो के विरुद्ध नही होना चाहिये।

अंश-पूंजी में परिवर्तन—धारा ६४ के अनुसार अंश पूंजी मे वृद्धि करने के लिये अन्तर्नियमो मे जो परिवर्तन किये जा सकते हैं, वे इस प्रकार होंगे—

(१) नये अंशो के निर्गमन द्वारा,

(२) अपनी समस्त या कुछ अश-पूंजी का मिलान करके;

(३) अशों को स्कन्ध मे परिणत करके,

(४) अशो की धन राशि का उप विभाजन करके; तथा

(५) जो अश किसी के द्वारा न लिये गये हों, उनको समाप्त कर, आदि।

इसके लिये साधारण सभा मे साधारण प्रस्ताव पास किया जाना चाहिये, किन्तु विशेष परिस्थिति मे असाधारण प्रस्ताव पास किया जा सकता है। यह सूचना रजिस्ट्रार के पास १५ दिन के अन्दर पहुँच जानी चाहिये।

जब अश-पूंजी मे कमी करनी हो, तो वह धारा १०० के अनुसार निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है—

(१) जो अश पूर्ण-प्रदत्त नहीं हैं, उनकी अदत्त राशि को रद्द करके;

(२) पूंजी में कमी करके;

(३) अधिक पूंजी को अशधारियों मे वितरित करके, आदि।

इसके लिये जो भी प्रस्ताव पारित किया गया हो, वह न्यायालय द्वारा स्वीकृत

किया जाना चाहिये, और कम्पनी के नाम के आगे "और कम की गई" (And Reduced) शब्दावली जोड़ देनी चाहिये, और इसको भी रजिस्ट्रार के कार्यालय में विधिवत् प्रस्तुत किया जाना चाहिये।

जब पार्षद-अन्तर्नियमों में अंशों के प्रकार दिये गये हों, किन्तु उनमें परिवर्तन का कोई उल्लेख न हो, तो धारा ३९१ के अनुसार प्रवर्तन किया जा सकता है। इसके लिये उचित प्रस्ताव पास करके न्यायालय की स्वीकृति लेनी आवश्यक होती है। धारा ९९ के अनुसार कम्पनी विशेष प्रस्ताव के द्वारा यह स्वीकार कर सकती है कि उसकी पूंजी का अयाचित धन कम्पनी के कार्य की समाप्ति के समय अथवा अन्य किसी भी समय नहीं माँगा जायगा। अंश-पूंजी (Share Capital) का न माँगा जाने वाला भाग संचित पूंजी (Reserve Capital) कहलायेगी।

पार्षद-सीमा-नियम तथा पार्षद-अन्तर्नियम में अन्तर
(Difference between Memorandum and Articles)

साधारण तौर पर लोग पार्षद-सीमा-नियम तथा पार्षद-अन्तर्नियम में अन्तर नहीं पहिचान पाते, किन्तु दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। स्मरण-पत्र, यदि कम्पनी के कार्यों का मानचित्र है, तो अन्तर्नियम उसके अंग-प्रत्यंगों की सूक्ष्माकृति समझी जानी चाहिये। अर्थात्—स्मरण-पत्र कम्पनी की रूपरेखा बतलाता है, और अन्तर्नियम उसके अन्तर्गत विस्तृत नियमों को बताता है। साधारण रूप से दोनों में निम्न प्रकार से अन्तर गिनाये जा सकते हैं—

(१) स्मरण-पत्र में कम्पनी की महत्वपूर्ण रूपरेखा होती है, जिनके अनुसार कम्पनी का समामेलन होता है और उनको साधारण तौर पर बदला नहीं जा सकता। किन्तु अन्तर्नियमों में प्रबन्ध एवं पूंजी-सम्बन्धी विवेचन होता है और उनको आवश्यकता पड़ने पर बदला जा सकता है।

(२) स्मरण-पत्र में कम्पनी के उद्देश्यों तथा अधिकारों का विवरण होता है, और अन्तर्नियमों में उद्देश्य तथा अधिकारों को कार्यान्वित करने के लिये नियम तथा उपनियम बनाये जाते हैं।

(३) स्मरण-पत्र के द्वारा कम्पनी तथा बाहर के लोगों के साथ के सम्बन्धों का स्पष्टीकरण होता है, किन्तु अन्तर्नियमों में कम्पनी के सदस्यों तथा कार्यकर्ताओं के सम्बन्धों का विवेचन रहता है।

(४) स्मरण-पत्र कम्पनी अधिनियम के अनुरूप बनता है और उसके विरुद्ध किसी भी रूप में नहीं जा सकता, किन्तु अन्तर्नियमों को केवल प्रमंडल-अधिनियम के ही अनुरूप नहीं, अपितु स्मरण-पत्र के बाहर भी नहीं जाना पड़ता।

(५) यदि कोई बाहर का व्यक्ति स्मरण-पत्र के विरुद्ध कम्पनी से किसी प्रकार का सम्पर्क करता है तो उसके लिये कम्पनी उत्तरदायी नहीं होगी, और न

(ङ) प्रबन्ध-संचालकों की नियुक्ति, पारिश्रमिक तथा उनके साथ किये गए अनुबन्ध का उल्लेख।

(४) **प्रबन्ध-अभिकर्ता**—(क) प्रबन्ध अभिकर्ताओं के नाम, पते तथा उनका विवरण।

(ख) उनका पारिश्रमिक, अधिकार तथा कर्तव्य का उल्लेख।

(ग) उनकी कार्य-अवधि तथा उस पर नियंत्रण।

(घ) प्रबन्ध अभिकर्ताओं को अंशों या ऋण-पत्रों पर दी जाने वाली आय तथा छूट का स्पष्ट विवेचन।

(५) **सम्पत्ति**—(क) कम्पनी के लिए क्रय की गई सम्पत्ति, उसका मूल्य तथा उसकी साख के मूल्य का विवरण।

(ख) यदि सम्पत्ति बेची गई हो, तो उसके मूल्य का स्पष्ट विवरण।

(६) **कम्पनी के विक्रेता**—(क) विक्रेताओं के नाम तथा पते लिखे होने चाहिये।

(ख) उनसे ली जाने वाली सम्पत्ति का मूल्य तथा उनको चुकाने के लिए अंश, ऋण-पत्र तथा रोक-राशि का उल्लेख भी होना चाहिये।

(ग) ऐसे अंशों या ऋण-पत्रों के विषय में भी लिखा जाना चाहिये, जिन्हें सम्पूर्ण या खण्ड में लेना चाहते हों।

(७) **प्रारम्भिक व्यय तथा प्रवर्तक**—कम्पनी को प्रारम्भ करने के लिए किये जाने वाले व्यय का चाहे वह व्यय शोधित हो चुका हो या नहीं, इसका भी उल्लेख रहना चाहिए, और साथ ही प्रवर्तकों के अधिकार तथा पारिश्रमिक का भी लेखा रहना चाहिये।

(८) **प्रमुख अनुबन्ध**—कम्पनी के द्वारा अन्य पक्षों से किये गये समस्त प्रमुख अनुबन्धों का लेखा किया जाना आवश्यक है। उसमें अनुबन्धों का समय तथा स्थान, जहाँ पर उनका निरीक्षण किया जा सकता है, विवरण-पत्रिका में वर्णित होना चाहिये।

(९) **अंकेक्षक**—कम्पनी के लिए जिन अंकेक्षकों की नियुक्ति की गई हो, उनके नाम, पते तथा शुल्क आदि का स्पष्ट विवरण रहना चाहिये।

संचालित प्रमंडलों की विवरण-पत्रिका
(Prospectus of Existing Companies)

किसी व्यापार करती हुई कम्पनी को यदि अपनी विवरण-पत्रिका प्रकाशित करनी हो, तो उसे उपर्युक्त सूचनाओं के अतिरिक्त निम्नलिखित सूचनाएँ भी देनी पड़ेंगी—

(१) कम्पनी तथा सहायक कम्पनियों के पिछले तीन-वर्षों का लाभ तथा अंश-धारियों में वितरित किया गया लाभ।

(२) पिछले दो वर्षों में अंशों का वितरण तथा उन पर प्राप्त की गई राशि।

(३) पिछले दो वर्षों में अंशों तथा ऋण-पत्रों पर दिया गया कमीशन और अपहार।

(४) पिछले दो वर्षों में प्रवर्तकों को दिया गया धन तथा पारिश्रमिक।

(५) कम्पनी के द्वारा किये गए अनुबन्धों का विवरण तथा उनके पक्षों के नाम पते, और वह स्थान जहाँ पर उनका निरीक्षण किया जा सके।

(६) पिछले व्यापार की स्थिति तथा आर्थिक व्यवस्था के लिए अंकेक्षक द्वारा दी गई वृत्ति (Report) का उल्लेख।

विवरण-पत्रिका कम्पनी की अनुक्रमणिका के रूप में
(Prospectus as an Index of the Company)

क्योंकि विवरण-पत्रिका कम्पनी के उद्देश्य, पूँजी, संचालक, अभिकर्ता, सम्पत्ति, अनुबन्ध, प्रवर्तक तथा प्रारम्भिक व्यय आदि का उल्लेख करती है; इसलिए इसको कम्पनी का मूल आधार समझना चाहिये।

विवरण-पत्रिका के आधार पर ही विनियोक्ताओं को कम्पनी की आर्थिक स्थिति की जानकारी होती है, जिससे वे यह पता लगा सकते हैं कि कम्पनी का प्रबन्ध किस प्रकार के व्यक्तियों के हाथ में है। साधारणतया देखा गया है कि जनता को आकर्षित करने के लिये विवरण पत्रिकाओं में कितनी ही आवश्यक बातों को छिपा लिया जाता है। यह बुराइयाँ प्रायः सुयोग्य संचालकों के न होने अथवा उनका विवरण-पत्रिका के प्रकाशन में हाथ न होने के कारण उत्पन्न हो जाती हैं। कुछ कम्पनियाँ जनता से धन एकत्र करके उनकी इस पूँजी का अपहरण कर लेती हैं। कुछ कम्पनियों में अभिकर्ता अत्यधिक पारिश्रमिक लेकर कम्पनी का अधिक रुपया हड़प लेते हैं, इसलिये विवरण-पत्रिका का स्पष्ट तथा विश्वासनीय होना सर्वथा वाञ्छनीय है।

विधान द्वारा विवरण-पत्रिका में अनेक बातों का स्पष्ट किया जाना आवश्यक है, किन्तु व्यावहारिकता में देखा जाता है कि कम्पनियों के प्रवर्तक उनमें से अनेक नियमों का उल्लंघन करते हैं जिससे जनता को बहुत बड़ी हानि का सामना करना पड़ता है। इसलिये किसी भी विनियोक्ता को कम्पनी के अंशों को लेने के पूर्व उसकी विवरण-पत्रिका का अध्ययन भली प्रकार से कर लेना चाहिये। प्रारम्भ में उसे हमेशा यह सोचना चाहिए कि विवरण-पत्रिका के प्रकाशन करने वाले व्यक्ति कितने उदार एवं न्यायप्रिय हैं, जिससे कि उनका पूर्ण विश्वास कर लिया जाय। इसलिये विवरण-पत्रिका की हर प्रकार से जाँच करनी आवश्यक है।

विवरण-पत्रिका के निर्गमन की स्थिति
(Stage of Issuing Prospectus)

कम्पनी के निर्माण होने पर जब कोई कम्पनी अपना विधिवत् पंजीयन करवा लेती है तथा उसको समामेलन प्रमाण-पत्र मिल जाता है, तो उसके बाद ही विवरण-पत्रिका के प्रकाशन का प्रश्न उठता है। विवरण पत्रिकायें उन कम्पनियों द्वारा ही प्रकाशित की जाती है, जो पहले से ही कार्य कर रही है, तथा जो निजी कम्पनी से जनगम्य कम्पनियाँ बन गई है। इस प्रकार विवरण-पत्रिका कम्पनी की निम्नलिखित तीन अवस्थाओं में प्रकाशित की जाती है—

(१) नवीन कम्पनियों की स्थापना होने पर

(२) संचालित संस्थाओं के किसी निर्णय पर, तथा

(३) किसी निजी कम्पनी के संयुक्त-स्कन्ध प्रमण्डल में परिणत होने पर।

कम्पनियों को इन तीनों अवस्थाओं में धन की आवश्यकता होती है और उसकी पूर्ति के लिये कम्पनी को जनता के समक्ष अपने व्यापार की तथा उसके संचालन की स्थिति को प्रस्तुत करना होता है। कभी-कभी कम्पनी के प्रवर्तक भी इतनी पूंजी ले आते हैं कि उनको जनता से पूंजी लेने की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु इससे हमेशा आवश्यक पूंजी का मिलना सम्भव नहीं है। इसलिये सर्व साधारण से पूंजी की याचना करने के लिये वैधानिक रूप से विवरण-पत्रिका का प्रकाशन करना आवश्यक है। इस पत्रिका से सर्वसाधारण को कम्पनी के स्थापन तथा उसकी गतिविधि की जानकारी हो जाती है।

प्रमण्डल को विवरण-पत्रिका प्रकाशित करने का अधिकार तब ही प्राप्त होता है, जब उसका विधिवत् पंजीयन हो गया हो, उसके पार्षद-सीमा-नियम तथा अन्तर्नियमों पर संचालकों के विधिवत् हस्ताक्षर हो गये हों, और वे संयुक्त-स्कन्ध प्रमण्डल पंजीयक (Registrar Joint Stock Companies) के कार्यालय में प्रस्तुत कर दिये गये हों तथा समामेलन प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लिया गया हो।

यों तो विवरण-पत्रिका के बनाने में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता, फिर भी उसको बनाते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि वह कम्पनी वैधानिक तथा सामाजिक दोनों नीतियों के अनुसार हो। विवरण-पत्रिका बना लेने के पश्चात् उस पर संचालकों के विधिपूर्वक हस्ताक्षर करके उसे पंजीयक के कार्यालय में जमा करना आवश्यक होता है। इसके पश्चात् ही सामान्य रूप से कम्पनी को पत्रिका के प्रचलन करने का अधिकार है। विवरण-पत्रिका के प्रारम्भ में ही इस बात का उल्लेख होना चाहिये कि उसकी एक प्रतिलिपि पंजीयक के कार्यालय में प्रस्तुत की जा चुकी है।

जो कम्पनियाँ व्यापार को प्रारम्भ करने के पश्चात् तथा कम्पनी के परिवर्तन

के पश्चात् विवरण-पत्रिका का प्रकाशन करती हैं, उनको भी अपनी विवरण-पत्रिका पंजीयक के कार्यालय में प्रस्तुत करनी होती है और उनके पश्चात् ही उसका वितरण किया जाता है। परिवर्तित कम्पनियों की विवरण-पत्रिका का निर्माण ठीक उसी प्रकार से किया जाता है, जिस प्रकार किसी भी नवीन कम्पनी का और विवरण पत्रिकाओं के प्रकाशन में उनको, नवीन प्रमण्डल की भाँति समस्त बातों बातों का ध्यान रखना पड़ता है, जैसा कि नई कम्पनी को।

विवरण-लेखा प्रतिस्थाने विवरण-पत्रिका
(Statement in lieu of Prospectus)

किसी लोक-प्रमंडल की स्थापना होने पर यदि उसकी विवरण पत्रिका नहीं बनाई जाय (When Prospecuts is not issued) तो उसको विवरण-पत्रिका के स्थान पर एक विवरण लेखा तैयार करके पंजीयक के कार्यालय में प्रस्तुत करना पड़ता है। यद्यपि इससे सर्वसाधारण को कम्पनी की विशेष जानकारी नहीं होती, किन्तु पंजीयक को कम्पनी की जानकारी प्राप्त हो जाती है। पंजीयक के यहाँ से कोई भी विनियोक्ता उस कम्पनी की स्थिति की जानकारी प्राप्त कर सकता है। कम्पनी को अंशों के वितरण का अधिकार तभी प्राप्त होता है, जब कि रजिस्ट्रार के पास इस प्रकार का विवरण लेखा प्रस्तुत न किया गया हो। पंजीयक विवरण-लेखे का तब तक पंजीयन नहीं करेगा, जब तक कि उसमें समुचित पत्रक, लेखे आदि हस्ताक्षर सहित प्रस्तुत न किये गये हों।

इस प्रकार कम्पनी की विवरण त्रिका का प्रकाशन करने पर भी यदि उनके स्थान पर विवरण-लेखा पंजीयन करवा दिया जाता है, तो भी कम्पनी को अपने अंशों के वितरण का अधिकार मिल जाता है। इसके विपरीत दशा में कम्पनी का अंशों की बिक्री के लिये किसी भी प्रकार का प्रचार अवैधानिक होगा।

यह ध्यान में रखना चाहिये कि नए कम्पनी अधिनियम के अनुसार कोई भी कम्पनी उन बातों में विवरण-पत्रिका के प्रकाशन करते समय अन्तर नहीं ला सकती, जब तक कि उसको सब अंशधारियों द्वारा आम सभा में स्वीकृत न कर लिया जाय, *अन्यथा विवरण-पत्रिका में भी वही बातें होनी चाहिये, जो विवरण* लेखे में लिखकर रजिस्ट्रार के कार्यालय में प्रस्तुत की गई हों।

विवरण-पत्रिका में असत्य कथन
(Mis-statement in Prospectus)

कम्पनी की विवरण-पत्रिका सर्वसाधारण के समक्ष, प्रमंडल की सम्पूर्ण अवस्था का परिचय कराने तथा अंशों को खरीदने के लिये आकर्षित करने के लिये निर्गमित की जाती है। इसलिये उसमें प्रत्येक सूचना स्पष्ट रूप से दी जानी चाहिये, और उसमें इस प्रकार की कोई सूचना नहीं दी जानी चाहिये या छिपाई जानी

नही है । इस प्रकार विवरण-पत्रिका को प्रकाशित करने वाले अनेक प्रकार के छल तथा कपटपूर्ण बातो का समावेश भी विवरण पत्रिका मे कर देते हैं ; जिससे भोली जनता आसानी से बहकावे मे आ जाती है और कम्पनियाँ उनकी जेब से धन निकाल कर उसका दुरुपयोग करती है, और अन्त मे समाप्त हो जाती है । भारतवर्ष मे इस प्रकार की स्थिति महायुद्ध के अवसरो पर प्रत्यक्ष रूप से देखी गई, जबकि जनता के बहुत अधिक धन का कल्पनातीत दुरुपयोग हुआ ।

विदेशो मे विनियोक्ताओ की सुविधा तथा बचाव के लिये सरकार, समाचार-पत्र तथा अन्य सूचना देने वाली संस्थाएँ इस प्रकार की कम्पनियो की खोज करके जनता को समय समय पर सचेत करते रहते हैं तथा छल-कपट के नियन्त्रण के लिये सरकार द्वारा विधेयक बनाये जाते है। १९५६ के अधिनियम मे विवरण-पत्रिकाओ के कपटपूर्ण प्रकाशन पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये है । किन्तु इसकी अवहेलना करके व्यक्ति मनमाना कार्य करते ही है । भारतवर्ष के कुछ व्यापारिक समाचार-पत्र यद्यपि इस ओर कुछ कार्य कर रहे है, किन्तु वे कम्पनियो की निष्कपट खोज करने मे असफल रहे हैं तथा विनियोक्ताओं की सुरक्षा की ओर अभी कोई विशेष ध्यान नहीं दे सके हैं । अतः प्रमंडलो की विवरण पत्रिकाऐं अत्यन्त कपटपूर्ण तथा असत्य रहती है ।

उपर्युक्त परिस्थितियो के कारण विनियोक्ताओ को स्वय ही विवरण-पत्रिका को पढते समय निम्नलिखित बातो पर सावधानी से विचार करना चाहिये—

(१) व्यापार का स्वरूप—विनियोक्ता को सर्वप्रथम व्यापार की प्रकृति की पूरी जानकारी करनी चाहिये । उसको देखना चाहिये कि विवरण-पत्रिका मे दिये गये तथ्य स्पष्ट एव सत्य है, तथा उसमे वर्तमान प्रतिद्वन्द्विता का सामना करने की कितनी शक्ति है । इसके साथ-साथ व्यवसाय की स्थिति, कच्चे माल की प्राप्ति, बाजार, श्रमिको की उपलब्धता तथा वस्तु के निर्माण आदि की भी पूर्ण जानकारी करनी चाहिए । उसके प्रति उसमे जो वितरण दिया गया है, उसमे यह ढूँढना चाहिये कि वह वितरण कहाँ तक सत्य है तथा उसमे प्रवर्तकों या विवरण-पत्रिका के प्रकाशको ने वस्तुस्थिति को कहाँ तक छिपाने का प्रयत्न किया है ।

(२) व्यवस्था—कम्पनी की व्यवस्था, प्रबन्ध सचालको तथा अभिकर्ताओं के हाथ में रहती है और विवरण-पत्रिका मे उनकी योग्यता, पारिश्रमिक तथा दायित्व आदि का ही विवरण रहता है । इस प्रकार उन व्यक्तियो के नाम से ही यह समझना असत्य होगा कि वे इस व्यापार मे विशेष अनुभव तथा योग्यता रखते हैं । इसलिये यह जान लेना आवश्यक है कि प्रबन्ध-अभिकर्ता तथा सचालक यथार्थ मे किस प्रकार के व्यक्ति है, और अन्तर्नियमो द्वारा उन पर किस प्रकार के प्रतिबन्ध लगे है, तथा जो पारिश्रमिक उनको दिया जा रहा है, वह कम्पनी की आर्थिक स्थिति को देखते हुए

उपयुक्त है या नहीं। इसलिये उसको विवरण-पत्रिका के साथ-साथ कम्पनी के पार्षद-सीमा-नियम तथा अन्तर्नियमों की भी भली प्रकार से जानकारी होनी चाहिये।

(३) पूँजी का सगठन—कम्पनी की सफलता बहुत बडी सीमा तक पूँजी के सगठन पर निर्भर रहती है। सर्वप्रथम उसे यह देखना आवश्यक है कि पूँजी, कम्पनी के संचालन एवं भविष्य की योजनाओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त है या नहीं। द्वितीय, यदि पूंजी अनेक प्रकार के अंशों मे विभाजित है तो हर प्रकार के अंशों की स्थिति, लाभांश, अधिकार तथा अनुपात सन्तोषजनक है या नहीं। तृतीय, पूंजी योजना सरल तथा सुगम होनी चाहिये। चतुर्थ, कम्पनी की प्रार्थित, पूंजी उसके प्रारम्भिक कार्यों को चलाने के लिये पर्याप्त है या नहीं। पचम, यदि कम्पनी के अशों का अभिगोपन किया गया हो, तो उसको अभिगोपक की आर्थिक स्थिति की जानकारी होनी चाहिए और उसको दिया जाने वाला कमीशन उचित तथा न्यायसगत हैं या नहीं। अन्तिम, यदि कम्पनी किसी अन्य प्रकार का कोष रखती हो, तो उसकी भी जानकारी रखना आवश्यक है।

(४) कम्पनी की सम्पत्ति—कम्पनी जो सम्पत्ति खरीदती है उसका स्वरूप, मूल्य तथा उसके मूल्य को चुकाने की व्यवस्था की जानकारी होना आवश्यक है। यदि कम्पनी ने कोई चालू व्यापार क्रय किया है, तो उसे उसकी मूल्यांकन विधि तथा विक्रेताओं के बारे मे ज्ञान होना चाहिए। उस व्यापार का अंकेक्षण योग्य अंकेक्षकों द्वारा किया गया है तथा स्थायी एव चल सम्पत्ति का मूल्यांकन बही खाता पद्धति के अनुसार विशेषज्ञ के द्वारा किया गया है। यदि इस प्रकार की सम्पत्ति का इसके पूर्व भी हस्तान्तरण किया गया हो, तो वह हस्तान्तरण किस मूल्य तथा आधार पर किया गया है, इसकी भी खोजपूर्ण जानकारी कर लेनी आवश्यक है।

(५) विक्रेता का लाभ—जो सम्पत्ति खरीदी गई है उसका मूल्य विक्रेता को कितना और किस प्रकार चुकाया गया है; यह जानना भी हितकर होता है। साधारणतया प्रवर्तक अपने निजी व्यक्तियों अथवा सम्बन्धियों के हित के लिये विक्रेता को यथार्थ मूल्य से अधिक मूल्य दे देते है; जिससे कम्पनी का अधिक धन उनके पास चला जाता है और सचालन के लिये पर्याप्त पूंजी नही रहती। इस प्रकार से कम्पनी का सचालन प्रायः बिगड जाता है और अंशधारियों को बहुत बडी हानि उठानी पडती है।

(६) प्रमंडल द्वारा किये हुए अनुबन्ध—कम्पनी अपने व्यापार को प्रारम्भ करते समय प्रायः विक्रेताओं, प्रबन्ध अभिकर्ताओं तथा अभिगोपकों के साथ प्रसंविदे करती है। इसलिये विनियोक्ताओं को उन अनुबन्धों की जानकारी भली प्रकार से कर लेनी चाहिये। विवरण पत्रिकाओं मे उन अनुबन्धों का सूक्ष्म विवरण रहता है और

कभी-कभी कम्पनियाँ इनमे झूठे अनुबन्धों का भी उल्लेख कर देती है। अतः मूल अनुबन्धों को देख लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

(७) **प्रतिबन्धित अन्तर्नियम**—कम्पनियाँ अपने अन्तर्नियमो मे प्रायः सदस्यो के अधिकारो तथा कार्यो पर विविध प्रकार के प्रतिबन्ध लगा देती है, और उसके साथ-साथ सचालक तथा अभिकर्ताओ के प्रतिबन्धों का उल्लेख रहता है। इसलिये उनकी जानकारी इस प्रकार से कर लेनी चाहिये कि उनकी सही स्थिति का अनुमान लगाया जा सके और जिससे विनियोक्ता अपने हितो की समुचित रक्षा कर सके।

(८) **प्रमंडल का इतिहास**—जो विवरण-पत्रिकाये चालू कम्पनियो के द्वारा प्रकाशित की जाती है, उनमें यह जान लेना आवश्यक है कि उसकी पूर्व आर्थिक एव व्यापारिक स्थिति क्या थी, उसकी वर्तमान अश-पूंजी की क्या स्थिति है, उसके पूर्व दो वर्षो के प्रस्तावित, वितरित तथा प्रदत्त अश किस प्रकार के है। गत दो वर्षो मे उसके अंशो की क्या स्थिति रही है, उस काल मे उसने किस प्रकार के अनुबन्ध किये है, तथा उसकी वर्तमान स्थिति क्या है ?

(९) **अधिकोषक, अकेक्षक, सलाहकार आदि का विवरण**—विनियोक्ता को उपर्युक्त जानकारी के पश्चात् यह जान लेना भी नितान्त आवश्यक है कि कम्पनी के अधिकोषक, वैधानिक सलाहकार, अकेक्षक तथा दलाल आदि किस श्रेणी के व्यक्ति हैं, और उनकी व्यावहारिक प्रतिष्ठा क्या है। इन सभी लोगो की पूरी जानकारी प्राप्त कर लेने पर कम्पनी की यथार्थ जानकारी प्राप्त करना सुगम हो जाता है। कभी-कभी इन लोगो के नामो का भी विशेष महत्व नही रहता, क्योकि उनके पास, अनेक कम्पनियाँ होने के कारण वे किसी विशेष कम्पनी की ओर विशेष ध्यान नही दे सकते।

(१०) **समाचार पत्रो की सम्मति**—समाचार-पत्रो मे कम्पनी के विषय मे जो विवरण रहता है, उसका अध्ययन आलोचनात्मक दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए, क्योकि प्रमडल प्रायः समाचार पत्रो से अपनी अच्छी वृत्ति (report) का प्रकाशन तथा प्रशसा सबका प्रबन्ध कर लेते है। अतः उनकी टिप्पणियो पर विशेष विश्वास नहीं किया जा सकता, किन्तु बडे तथा निष्पक्ष समाचार पत्र कम्पनी की यथार्थ स्थिति का विवेचन करने मे नहीं हिचकिचाते और उनकी वृत्ति प्रभावशील होती है।

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि विनियोक्ता, किसी भी कम्पनी मे अपने धन का विनियोग करने से पहले, यह भली प्रकार से समझ जाय कि भविष्य मे उस व्यापार की क्या स्थिति होगी और उसमे उसको कहाँ तक लाभ मिलेगा तथा कम्पनी के विकास की कहाँ तक आशा की जा सकती है। इन समस्त बातो की

सतोषप्रद जानकारी प्राप्त करने के उपरान्त ही उसको अपना धन अंशों तथा ऋण-पत्रों में लगाना चाहिये।

समामेलन तथा संचालन के पूर्व की औपचारिकताएँ
(Formalities before Incorporation)

कम्पनी के निर्माण के लिए प्रवर्तकों को अनेक शिष्टाचारों की परिपूर्ति करना आवश्यक है। कम्पनी का निर्माण उस समय तक नहीं माना जाता, जब तक प्रवर्तक को रजिस्ट्रार से समामेलन प्रमाण-पत्र प्राप्त न हो जाय। इसके लिए प्रवर्तकों को निम्नलिखित कार्यवाही करनी पड़ती है—

(१) प्रवर्तक, उस राज्य के संयुक्त-स्कन्ध-प्रमंडल के पंजीयक के पास, जिसमें उनका केन्द्रीय कार्यालय स्थापित होता है, प्रमंडल के पार्षद-सीमा-नियम तथा अन्तर्नियमों के साथ संचालकों के हस्ताक्षर करा कर तथा उन पर यथोचित मुद्रांक शुल्क लगाकर प्रस्तुत करना है। यदि कोई कम्पनी अपने अन्तर्नियमों को नहीं बनाती, तो वह सारिणी (अ) के नियमों को अपना सकती है। ऐसी दशा में अन्तर्नियमों का प्रस्तुत किया जाना आवश्यक नहीं है।

(२) प्रवर्तक को उन व्यक्तियों की सूची, नाम तथा पते, जो संचालक बन गये हों अथवा जिन्होंने संचालक बनने की अनुमति दे दी हो या जिन्होंने विवरण-पत्रिका के लिए सचालक के रूप में अपना नाम दे दिया हो; पंजीयक के कार्यालय में प्रस्तुत करनी होती है।

(३) यदि संचालकों की नियुक्ति अन्तर्नियमों के अनुसार हुई है, तो उनके हस्ताक्षर करवा कर पजीयक के पास निम्नांकित सूचनाएँ भेजी जानी चाहिए—(अ) संचालक के कार्य करने की लिखित सम्मति, (ब) यदि कम्पनी के अंश खरीदने के लिए उसने कम्पनी से ही ऋण लिया है, तो उसके चुकाने का अनुबन्ध या वायदा कर दिया है, (स) संचालक ने क्षमतानुसार अपने नाम पर अंशों का पंजीयन कराया है।

(४) प्रवर्तक को एक घोषणा करनी पड़ती है कि उसने प्रमंडल के पंजीयन के हेतु वैधानिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर दी है।

(५) उसने कम्पनी के प्रमुख कार्यालय की सही स्थिति (नगर आदि सहित) की सूचना दे दी है।

(६) कम्पनी के वैधानिक सलाहकारों को यह घोषणा करनी होगी कि कम्पनी ने भारतीय प्रमंडल विधान की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति कर दी है, और अब वह पंजीयन के योग्य है।

जब प्रवर्तक कम्पनी के पार्षद-सीमा नियम तथा अन्तर्नियम और विवरण-पत्रिका को तैयार कर देता है, तथा पंजीयन के हेतु समस्त उपर्युक्त कार्यवाहियों की

पूर्ति कर देता है, तो पंजीयक कम्पनी का पंजीयन करके अपने हस्ताक्षरों द्वारा कम्पनी को समामेलन प्रमाण-पत्र प्रदान कर देता है, जिसमे यह स्पष्ट होता है कि कम्पनी का सस्थापन हो गया है और वह सीमित है। इस प्रमाण-पत्र के प्रभाव मे कम्पनी के वे समस्त सचालक जिन्होंने आवश्यक प्रलेखो पर हस्ताक्षर किये है, अथवा उसमे सचालक बनने की स्वीकृति दी है तथा उसके अन्य सदस्य इस कम्पनी के कार्यो को करने के लिए पूर्ण समर्थ रहेगे, और उनका दायित्व उनके अंशो तक ही सीमित रहेगा।

सस्थापन प्रमाण पत्र (Certificate of Incorporation) प्राप्त करने के बाद अलोक कम्पनी अपने व्यापार का प्रारम्भ तत्काल ही कर सकती है। किन्तु सार्वजनिक कम्पनियो को इसके बाद जनता मे विवरण-पत्रिका के प्रसार के लिए यथोचित कार्यवाही करनी पडती है। यदि प्रवर्तक विवरण-पत्रिका प्रस्तुत न कर सकें, तो उनको रजिस्ट्रार के कार्यालय मे विवरण प्रतिस्थाने विवरण-पत्रिका (Statement in lieu of Prospectus) प्रस्तुत करना पडता है। प्रविवरण के पजीयन तथा पजीयक द्वारा अनुमति मिल जाने पर, उसका जनता मे प्रसार करना पडता है।

व्यापार का संचालन करने के पूर्व निम्नलिखित शिष्टाचार की पूर्ति की जानी आवश्यक है—(अ) प्रार्थित अंशों का पूर्ण विवरण, (आ) सचालकों ने योग्यता अंश खरीद लिये है या उनकी आवश्यक पूंजी शोधन कर दी है, (इ) भारतीय प्रमडल विधान द्वारा निर्धारित समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति की घोषणा की जा चुकी है, तथा (ई) पजीयक के द्वारा व्यापार के सचालन का प्रमाण पत्र प्राप्त हो चुका है।

. कम्पनी को अपनी पूंजी बढ़ाने के लिए अनेक रीतियाँ अपनानी पडती है, जैसे—जनता मे अंशों का निर्गमन, ऋण-पत्रों का प्रसार, जन निक्षेप, अंशो का अभिगोपन, आदि। जब वितरण-पत्रिका का पूर्ण रूप से प्रचार हो जाता है, तो जनता उसके अंश क्रय करने के लिए अंश प्रार्थना-पत्र भेजती है; जिसके आधार पर प्रार्थित-राशि सूची (Subscription List) बनाई जाती है। न्यूनतम प्रार्थित राशि प्राप्त हो जाने पर प्रमंडल अंशों का वितरण प्रारम्भ कर देता है। अंशो का आवंटन (Allotment) संचालको के अधीन होता है, जो उनके द्वारा धारा ६६ से ७२ के अन्तर्गत किया जाता है। आवंटन पर लगाये गये प्रतिबन्ध ये है—

(१) न्यूनतम प्रार्थित अंश-पूंजी प्राप्त हो जानी चाहिए, (२) आवेदन पत्र पर अंश के अंकित मूल्य का कम-से-कम ५% धन प्राप्त हो जाना चाहिए, (३) अंश प्रार्थना-पत्रों द्वारा प्राप्त समस्त राशि किसी अनुसूचित अधिकोष (Scheduled Bank) मे जमा कर देनी चाहिए; जब तक कि व्यापार सचालन प्रमाण-पत्र प्राप्त न हो जाय, अथवा धारा ६६ (५) के अनुसार पूंजी वापिस न हो जाय।

यदि उपर्युक्त शर्तें पूरी नहीं होती हैं, तो प्रविवरण की प्रथम निर्गम तिथि से १२० दिन बाद या १३० के पूर्व पूंजी अवश्य वापिस कर देनी चाहिए। पूंजी के निश्चित समय में वापिस होने पर प्रमंडल के सचालक ६% वृद्धि सहित पूँजी के लौटने के लिये संयुक्त तथा वैयक्तिक रूप से उत्तरदायी होते है।

धारा ७५ के अनुसार प्रत्येक अशधारी-कम्पनी को वितरण कार्य के उपरान्त निम्नलिखित कार्य एक मास के अन्दर ही करने होंगे---(क) पंजीयक के कार्यालय मे वितरित अंशों की सख्या, उनका अकित मूल्य, अशधारियों के नाम व पते, अंशो पर प्राप्त हुआ धन, अशो पर प्राप्त होने वाले धन का वितरण-लेखा प्रस्तुत करना होगा। (ख) यदि करोड़ के अनिरिक्त पूर्ण दत्त या आंशिक दत्त अंशों का वितरण किया गया हो, तो उनका पूर्ण लेखा रजिस्ट्रार के कार्यालय मे प्रस्तुत किया जाना आवश्यक है।

धारा १४६ के अनुसार व्यापार प्रारम्भ करने से पूर्व निम्नलिखित बातों का करना आवश्यक है—

(१) उसे अपनी रोकड प्राप्त अशो का वितरण न्यूनतम प्रार्थित पूंजी के बराबर ही करना चाहिए।

(२) प्रत्येक सचालक को अपने लिए हुए अशों की रोक-राशि कम्पनी मे जमा कर देनी चाहिए। यह धन-राशि उतनी ही होनी चाहिए, जितनी कि जनसाधारण ने आवेदन तथा वितरण के समय दी है।

(३) आवेदको को उन अशो तथा ऋण-पत्रों की राशि, जो स्वीकृत स्कन्ध विपणि पर सूचीबद्ध कराने के हेतु प्रस्तुत किये गये है, प्रार्थना पत्र न उपस्थित करने अथवा स्वीकृत हो जाने के कारण वापिस करना आवश्यक हो गया हो।

(४) कम्पनी के सचालक या सचिव द्वारा पजीयक के पास प्रथम वैधानिक-घोषणा प्रस्तुत करनी होगी कि उपर्युक्त शर्तें पूर्ण कर दी गई हैं।

(५) यदि उस कम्पनी की विवरण-पत्रिका नहीं है, तो उसके स्थान पर विवरण-लेखा प्रस्तुत करना होगा।

उपर्युक्त बातों के पूर्ण होने तथा पजीयक के रूप से सन्तुष्ट हो जाने पर, व्यापार प्रारम्भ करने के लिए प्रमाण-पत्र दे दिया जायेगा और फिर कम्पनी को प्रमाण-पत्र प्राप्ति के एक वर्ष के अन्दर, अपना सामान्य व्यापार प्रारम्भ कर देना चाहिए, अन्यथा न्यायालय कम्पनी के संस्थापन को रद्द कर सकता है।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 What do you understand by 'promoter'? Explain the rights and duties of a promoter

2 Explain the procedure of company formation. What are the formalities that are to be made before the incorporation of a company.

3 Write a note on company prospectus. What are the main provisions of a company prospectus ? Discuss.

4 How the prospectus should be examined from the point of view of an investor ? Explain with reasons

5 Write a brief note on—Prospectus, Minimum subscribed capital, Underwriting commission

6 What is the legal position of prospectus in the formation of company ? If prospectus is not issued to the public, how the company can be winded ? Explain the legal provisions.

7 Clearly explain Memorandum of Association and Articles of Association. What are the main difference between them ? Discuss

8 Under what circumstances articles and memorandum can be altered ? Explain the legal consequences of alteration.

9 What assistance has been rendered to the trade and industries of our country by manging agents ? Enumerate their advantages and disadvantages.

10 How the selection of Directors is made in India ? How they are appointed ?

11 In your opinion, how the managing agency system has been affected by the Indian Companies Act, 1956 ? Can you suggest any future policy for managing agency system in India ? Explain.

12 Explain how a company is incorporated ? What are the general restrictions that have been imposed on Public Limited Companies for the commencement of business ? Discuss its legal provisions.

लोक प्रमंडलों का प्रबन्ध

(Management of Joint Stock Companies)

प्रमंडल संचालक
(Company Directors)

क्या प्रबन्ध प्रजातांत्रिक है (Whether the Management is Democratic)?—सार्वजनिक कम्पनियों का स्वरूप अप्राकृतिक व्यक्तियों का होता है और उनका व्यक्तित्व कम्पनी के अंशधारियों के द्वारा स्थापित किया जाता है। अंशधारी कम्पनी के सैद्धान्तिक स्वामी होते हैं और कम्पनी की व्यवस्था उन्हीं के हाथों में मानी जाती है, किन्तु यह व्यवस्था अत्यन्त परोक्ष होती है। इस प्रकार प्रबन्ध और स्वामित्व में प्रत्यक्ष भिन्नता रहती है और यथार्थ प्रबन्ध अंशधारियों के कुछ चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अंशधारी कम्पनी के कार्य-संचालन को अपने चुने हुए प्रतिनिधियों को देकर उनकी क्रियाओं का सारा भार अपने ऊपर लेकर, कम्पनी की अवनति तथा प्रगति के उत्तरदायी होते हैं। किन्तु अंशधारियों का प्रत्यक्ष हाथ न रहने से तथा व्यक्तिगत रूप से उनका कोई स्थायित्व न रहने से लोग यह समझ लेते हैं कि सैद्धान्तिक रूप से इस प्रकार का प्रबन्ध गलत है। क्योंकि जो व्यक्ति कम्पनी की समस्त प्रगति तथा लाभ एवं हानि के लिए उत्तरदायी हैं, यदि उनको व्यापार में सक्रिय भाग लेने का अधिकार नहीं रहता, तो यह कहना कि वे उसके स्वामी हैं, असत्य होगा। किन्तु विधान के द्वारा समस्त अंशधारियों को सामूहिक रूप से कम्पनी का प्रबन्ध तथा नियन्त्रण करने का अधिकार प्राप्त है, और वे उसका प्रयोग समय-समय पर अपने प्रस्तावों के द्वारा करते रहते हैं। इसलिये यह कहना ठीक नहीं होगा कि कम्पनी के अंशधारियों का कम्पनी के संचालन में कोई हाथ नहीं है। क्योंकि कम्पनी में अंशधारियों की संख्या इतनी अधिक होती है तथा वे देश के विस्तृत क्षेत्र में फैले होते हैं, इसलिये न तो उनके लिये दैनिक कार्य संचालन में भाग लेने की सुविधा दी जा सकती है, और न सम्भव ही है। अतः जिन लोगों की योग्यता, कार्य-कुशलता तथा अनुभव पर उनको विश्वास होता है, उनके ही हाथों में दैनिक कार्य को सौंप कर वे समय-समय पर उनकी गतिविधियों का निरीक्षण करके उनको यथोचित आदेश देते रहते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कम्पनी का संचालन अंशधारियों के ही हाथों में रहता है। अंशधारियों का अपनी कम्पनी का शासन-प्रबन्ध कुछ व्यक्तियों के हाथों में

सौंप देना, जनतन्त्री शासन व्यवस्था का स्वरूप है। हमारे देश में जनतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था है। इसमें समस्त राष्ट्र अपनी व्यवस्था के लिये कुछ लोगों को, जिनको वे शासन भार सँभालने के योग्य समझते है तथा जिनके द्वारा देश उन्नति के पथ पर अग्रसर होगा, चुन लेते हैं और फिर उस ओर से निश्चिन्त हो जाते है। यदि जनता देखती है कि उनके चुने हुए लोग उनकी आज्ञानुसार कार्य नहीं कर रहे है, तो उन्हे अधिकार है कि ऐसे लोगों को निकाल कर वे अन्य योग्य व्यक्तियो को शासन भार दे दें। ठीक यही स्थिति प्रमण्डलो के प्रबन्ध मे भी पाई जाती है। अशधारी अपनी इच्छानुसार व्यक्तियों को चुनकर उनके हाथो मे प्रमंडल का प्रबन्ध दे देते हैं और उनकी गतिविधि पर पूर्ण रूप से नियन्त्रण रखते है।

जनतन्त्री व्यवस्था मे एक विशेष बात यह है कि उसमे प्रत्येक कार्य बहुमत के द्वारा किया जाता है, अर्थात् जिस व्यक्ति को अधिक लोग चाहते हे, उसको ही चुना जायेगा। मनुष्य का स्वभाव तथा विचारधारा एक-दूसरे से सर्वदा भिन्न होती है और उनका आपस मे मिलना हमेशा सम्भव नही, इसलिये "जिस को अधिक लोग मानते है, वही बात की जाय" वाला सिद्धात इस असुविधा को दूर कर देता है। इसलिये यदि मतदान अधिक लोगो के द्वारा किया जाय, तो अच्छे व्यक्तियो के चुने जाने की सम्भावना अधिक रहती है और उसमे सब के हितो की सुरक्षा भी सम्भावित है। मतदान करने वालो के लिये इतना आवश्यक है कि वे व्यक्ति की योग्यता का निष्पक्ष रूप मे अध्ययन करके केवल उसी व्यक्ति को अपना मत दे, जो उनका सही प्रतिनिधित्व कर सके और यथार्थ रूप मे योग्य तथा अनुभवी हो।

किन्तु प्रजातन्त्र का सबसे बडा दोष यही है कि मतदान करने वालों मे इतनी योग्यता नही होती कि वे किसी व्यक्ति को भली प्रकार से परख सकें। वे तो झूठे आश्वासनों मे आकर किसी भी व्यक्ति को अपना अमूल्य मत प्रदान कर देते है; जिसका परिणाम यह होता है कि अधिक चालाक तथा लोगो को भुलावे मे डालने वाला व्यक्ति अथवा जिसके पास कुछ अधिकार, आर्थिक सुदृढता एव बलपूर्ण सहारा रहता है, वही बाजी मार ले जाता है और यथार्थ सुयोग्य व्यक्ति पीछे रह जाते हैं। इसीलिये कहा गया है कि "बहुमत हमेशा मूर्खों का रहता है।" यद्यपि यह सिद्धान्त कम्पनी मे इस रूप मे लागू नही होता कि उसके अशधारी बहुमत मे मूर्ख होते है, किन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे लोग अपने आलस्य अथवा अन्य असुविधाओं के कारण इस सिद्धान्त की पुष्टि करते है। प्रमडल मे जितने अशधारी होते है, वे एक दूसरे से बहुत दूर रहते है और उनका आपस का सम्पर्क रहना बडा कठिन हो जाता है; जिससे कि वे अपने विचारो को एक-दूसरे के सामने स्पष्ट रूप से नहीं रख सकते। इस कारणवश वे उत्तम यही समझते है कि अपनी जोखिम को फैला करके उसको कम करने का प्रयत्न करते है और अनेक कम्पनियों मे अपनी पूंजी

को लगा देते है। इस प्रकार उनको किसी एक कम्पनी के प्रबन्ध मे न तो विशेष रुचि ही रहती है, और न रुचि रखना उनके लिये सम्भव ही हो सकता है। दूसरी कठिनाई दूरी की होती है। अंशधारी हजारो मील दूर होने के कारण किसी कम्पनी के प्रबन्ध मे सक्रिय भाग नही ले सकते, क्योकि उसमे भाग लेने मे जितना उनका धन व्यय हो जाता है, उतना उनको लाभ नहीं मिलता। तीसरा कारण यह है, कि जब तक उनको किसी कम्पनी से लाभ मिलता रहता है, उनको इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि कम्पनी का प्रबन्ध कैसे हाथो मे है, और यदि किसी मे उनको लाभ नही मिलता या वे समझते है कि कम्पनी उनकी आशा के अनुसार उनको लाभ नही दे सकती तो वे अपने अशो को बेचकर सुविधा के साथ उससे अपना सम्बन्ध तोड सकते है। इसके अतिरिक्त वे अपने वोट का अधिकार किसी विश्वसनीय व्यक्ति को देकर मुक्त हो जाते हैं। अशधारी उसी समय कुछ विरोध करते हैं, जब कि व्यापार मे बहुत अधिक गडबड होने लगती है, तो उस समय उनकी भावना ठीक विरोधियो की सी हो जाती है, और लोग समझने लगते हैं कि वे विरोध, विरोध के लिये कर रहे हैं।

शुद्ध मतदान मे उपर्युक्त कठिनाइयो के कारण साधारणतया देखा गया है कि कम्पनी के सचालको के चुनाव मे बहुत ही कम अवसरो पर कुछ प्रतिद्वन्द्विता रहती है और प्रायः कुछ सीमित लोग ही कम्पनी का प्रबन्ध करते रहते हैं। वे या तो सचालको को अपने मे से ही चुन लेते हैं, अथवा सचालक प्रबन्ध अभिकर्ताओ के द्वारा चुन लिये जाते है। जो लोग एक बार संचालक मच (Board of Directors) मे आ जाते है, उनका निकलना फिर बडा कठिन हो जाता है, क्योंकि विधान मे उनके पुनः निर्वाचन के लिये खडे होने का अधिकार है और उनकी विशेषाधिकृत स्थिति उनको पुनः निर्वाचित किये जाने को सफल बना देती है। दूसरे जिस समय सचालक अभिकर्ताओ के द्वारा लाये जाते है तो उनकी स्थिति और भी सुरक्षित हो जाती है, क्योंकि उन्ही को सचालक बनाये रखने मे अभिकर्ता को अधिक लाभ होता है। इस प्रकार कम्पनियो के प्रबन्ध मे "अल्प-जनतन्त्र" (Oligarchy) की स्थापना हो जाती है। इस प्रकार एक बार सीमित लोगों का एकाधिपत्य हो जाने से सचालक सत्ता तथा धन के लाभ के कारण इस प्रकार की व्यवस्था कर लेते हैं जिससे उनकी सत्ता बनी रहे और प्रबन्ध का केन्द्रीयकरण हो सके।

इस प्रकार सार्वजनिक कम्पनियो मे जनतन्त्रीय व्यवस्था केवल कहने मात्र के लिये है, और उसका आकार बढने के साथ-साथ उसके प्रबन्ध का केन्द्रीयकरण होता रहता है। इस प्रकार स्वामित्व का तो प्रजातन्त्रीकरण हो जाता है, किन्तु व्यापार का नहीं हो पाता और वह निश्चित रूप मे सचालको के ही अधीन रहता है। यदि दूर रहने वाले अंशधारी चाहे कि अपनी इच्छा के संचालकगण चुनें, तो वह तो

एक किनारे रहा वरन् जिन सचालको को वे नही चाहते, यदि वे आन्तरिक गुट के हुए तो उनको हटाना भी असम्भव हो जाता है। प्रमडल के अन्तर्नियमो का निर्माण, सचालन तथा प्रबन्ध प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के हाथ मे होने से वे अपने अत्यन्त विस्तृत अधिकार बना लेते हैं। अन्तर्नियमो का बदलना कठिन होता है, क्योकि उनको तीन-चौथाई ($\frac{3}{4}$) बहुमत से ही बदला जा सकता है। इस प्रकार प्रबन्धकर्ताओ की सत्ता को कम करना सम्भव नही होता। यही स्थिति आज समस्त प्रजातन्त्री देशो मे है, उदाहरणार्थ—अमेरिका तथा भारतवर्ष। जिस प्रकार राजनीति मे सत्ता कुछ राजनीतिज्ञों के हाथ मे होती है; ठीक उसी प्रकार प्रमंडल की सत्ता भी कुछ सचालको के हाथ मे होती है। सार्वजनिक कम्पनियो मे एक विशेष बात यह भी है कि "जनता से हार्दिक सहायता तो चाही जाती है, किन्तु निर्देशन नहीं।" यह अशधारियो के अधिक विस्तार के कारण और भी अधिक सुगम हो गई है।

यदि कम्पनियो मे सही रूप मे जनतन्त्रीय प्रबन्ध-व्यवस्था को लाना है, तो यह आवश्यक होगा कि अशधारी हमेशा मतदान करने मे सचेत रहे, क्योकि "सतत सतर्कता ही स्वतन्त्रता का मूल्य है।" इसलिए अशधारियो को अपना मतदान देने मे अत्यन्त सतर्क तथा निष्पक्ष रहना चाहिए और किसी-न-किसी प्रकार से मतदान मे एक सुसगठित एकता लानी चाहिए जिससे कि मतदाता सचालको तथा अभिकर्ताओ के प्रभाव मे न आ सकें। नवीन अधिनियम मे सचालको की अनेक क्रियाओ पर प्रतिबन्ध लगाकर अशधारियों को अनेक सुविधाये प्राप्त हो गई है जिससे कम्पनी पर उनका सीधा नियंत्रण सम्भव हो।

संचालकों की नियुक्ति

(Appointment of Directors)

प्रत्येक सार्वजनिक कम्पनी मे सचालको का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है और उनकी योग्यता पर ही कम्पनी का भविष्य निर्भर रहता है। इसलिए सचालको के चुनाव मे अशधारियो को अत्यधिक सतर्क रहने की आवश्यकता है, जिससे उससे सही व्यक्ति को ही चुना जाय। उनको ध्यान मे रखना चाहिए कि चुना जाने वाला व्यक्ति अनुभवी, योग्य, प्रभावशाली तथा विश्वसनीय हो, तथा कम्पनी के प्रबन्ध मे सक्रिय भाग लेकर अपना समय दे सके। उनमे व्यापारिक योग्यता के साथ-साथ प्रबन्ध-योग्यता तथा तान्त्रिक योग्यता का होना भी नितान्त आवश्यक है। जिस व्यक्ति मे इन बातो का अभाव होगा और वह केवल नाम के लिए ही सचालक बनना चाहता हो, या जो पारिश्रमिक प्राप्त करने के लिए संचालक बनने की कामना करता हो, तो उसको संचालक बनाने मे कम्पनी का प्रबन्ध भी बुरा होगा और उसके ऊपर किये जाने वाले व्यय का अपव्यय होने के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकेगा। संचालक

का चुनाव करते समय अंशधारियों को यह जान लेना भी आवश्यक है कि संचालक की संचालन-योग्यता क्या है, उसको कम्पनी से सम्बन्ध रखने वाली समस्त बातों, (जैसे—प्रमंडल विधान का ज्ञान, अर्थ-व्यवस्था तथा मनोविज्ञान की जानकारी, कम्पनी के कार्य की तान्त्रिक योग्यता आदि) को जानकारी है अथवा नहीं। यह सब होते हुए भी कोई व्यक्ति कपटी हो सकता है, इसलिये अंशधारियों को उसकी ख्याति की ओर भी विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। उनको देखना चाहिये कि वह व्यक्ति अपने ऊपर कम्पनी के संचालन का भार वहन करके क्या वह अंशधारियों के हित की बात सोच सकेगा अथवा उनके साथ छल करेगा या अपने स्वार्थ एवं स्थायित्व के लिए गुटबन्दी करके कम्पनी के प्रबन्ध तथा संगठन में फूट डालेगा।

कभी-कभी कम्पनी में उन लोगों को भी संचालकों के रूप में चुनना आवश्यक हो जाता है, जो केवल नाम के लिये ही होते हैं। परन्तु इसके कुछ कारण है—प्रथम, यदि वे प्रतिष्ठावान् होते हैं और व्यापारिक जगत में उनकी बहुत बड़ी प्रसिद्धि है, या उनके नाम से ही लोगों को कम्पनी पर विश्वास हो जायेगा और उसकी ओर लोग अधिक संख्या में आकर्षित होंगे। द्वितीय, वह व्यक्ति अपनी प्रतिष्ठा के लिये सक्रिय संचालकों की गतिविधि पर बराबर ध्यान रखेगा, जिससे व्यापार का प्रबन्ध सुव्यवस्थित रहेगा। तृतीय, उन लोगों के द्वारा कम्पनी की साख बढ़ेगी। चतुर्थ, इस प्रकार के संचालकों के द्वारा अंशधारियों के हितों की रक्षा की जा सकेगी (बीमा तथा अधिकोषण कम्पनियों में तो इस प्रकार की व्यवस्था अत्यधिक लाभदायक होती है।

संचालक व्यक्तिगत रूप से नहीं, अपितु एक सभा (Board) के रूप में कार्य करते है। इसलिये इस सभा में संख्या का ध्यान रखकर ही संचालकों का चुनाव करना चाहिये। अंशधारियों को देखना चाहिये कि सभा में न तो इतने अधिक लोग हों कि वहाँ उनकी आवश्यकता न हो, और न इतने कम हो कि सभा के लोगों से कम्पनी का प्रबन्ध-कार्य न सँभाला जा सके। इसलिये संचालकों की उचित संख्या को देखकर ही चुनाव किया जाना चाहिये। चुनाव करते समय यह देख लेना आवश्यक है कि हर योग्यता के व्यक्ति उसमें आ जायँ क्योंकि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की योग्यताएँ भी भिन्न-भिन्न हुआ करती है। संचालक सभा (Board of Directors) में ऐसे व्यक्ति होने चाहिए कि उनमें से कुछ अर्थ-प्रबन्ध में, कुछ व्यवस्था में तथा कुछ तान्त्रिक-प्रबन्ध में कुशल हों। कुछ व्यक्तियों को प्रभावशाली होना चाहिये जिससे लोगों में कम्पनी का विश्वास जम जाय, तथा कुछ में व्यापार में नवीनता लाने की तथा जीवन संचार करने की क्षमता होनी चाहिये।

भारतवर्ष में अभी तक इस प्रकार के चुनाव होने सम्भव नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि भारतवर्ष के विनियोक्ता अभी तक व्यापार में आगे आकर

धन नहीं लगाते। अतः आगे आने वाले लोगों का बहुत सा धन कम्पनी में लग जाता है और वे स्वतः ही सचालक बन जाते है। फिर प्रबन्ध अभिकर्ताओ को रखने की प्रणाली ने इस प्रकार के चुनाव को और भी कठिन बना दिया है, क्योंकि प्रबन्ध अभिकर्ता अपने प्रभाव से अपनी इच्छा के व्यक्तियो को सचालक सभा मे लाने मे सफल हो जाते है और अन्तर्नियमो को अपने अनुकूल बना लेते है या परिवर्तन कर लेते है, जिससे उनकी व्यवस्था मे हस्तक्षेप करना बहुत कठिन हो जाता है। भारतीय प्रमंडल विधान १९३६ के अनुसार भी उनका सचालक सभा मे $\frac{1}{3}$ सचालको को चुनने का अधिकार था। इसलिये उन पर तो कोई हाथ डाल ही नही सकता है और शेष भी अंशधारियो की स्थिति के कारण सचालको पर प्रबन्ध अभिकर्ताओ का ही हाथ रहता है। किन्तु अब कम्पनी मे यदि पाँच सचालकों से कम होगे तो प्रबन्ध अभिकर्ता की ओर से एक और अधिक होने पर केवल दो की ही नियुक्ति की जा सकेगी। (धारा ३७७)

संचालकों की नियुक्ति—साधारणतया संचालको की नियुक्ति अन्तर्नियमों के आधार पर की जाती है। किन्तु धारा २६६ के अनुसार कोई भी व्यक्ति तब तक संचालक नियुक्त नही किया जा सकता, और न उसका नाम सचालक के रूप मे विवरण-पत्रिका मे ही दिया जा सकता; जब तक वह विवरण-पत्रिका के निर्माण अथवा अन्तर्नियमों के पंजीयन के पूर्व—

(१) रजिस्ट्रार के कार्यालय मे संचालक के रूप मे कार्य करने की अनुमति लिखित रूप से नही दे देता;

(२) कम्पनी के पार्षद-सीमा-नियम मे योग्यता अशो को खरीदने के लिए हस्ताक्षर नहीं कर देता;

(३) अपने योग्यता अशो की धन-राशि नहीं चुकाता अथवा उनको चुकाना स्वीकार नही करता;

(४) अपने योग्यता अशो को खरीदने तथा उनका भुगतान करने के लिए लिखित अनुबन्ध अपने हस्ताक्षर सहित रजिस्ट्रार के कार्यालय में प्रस्तुत नहीं करता।

(५) रजिस्ट्रार के कार्यालय मे इस बात का लिखित प्रमाण-पत्र नही देता कि उसके योग्यता अश उसके नाम मे रजिस्टर किये गये है।

(६) अपने नाम पर रजिस्टर होने वाले योग्यता अशो के लिए रजिस्ट्रार से लिखित प्रमाण-पत्र प्राप्त नहीं कर लेता।

यह प्रतिबन्ध इसलिए लगाये गये है कि अलोक कम्पनियो के अतिरिक्त कहीं सार्वजनिक प्रमण्डलों के सचालक योग्यता अशो को बिना लिये ही सचालक न बन जायें। इससे उनका व्यापारिक उत्तरदायित्व कम हो जायेगा और वे कुशलता से कार्य नहीं कर पायेंगे।

यदि किसी सार्वजनिक कम्पनी के अन्तर्नियमों में संचालकों की नियुक्ति के विषय में किसी प्रकार का उल्लेख नहीं हो; तो धारा २५४ के अनुसार जिन लोगों ने पार्षद-सीमा-नियम पर हस्ताक्षर किये हों, वही संचालक तब तक कार्य करते रहेंगे, जब तक अंशधारियों ने आम-सभा में चुनाव करके नये संचालकों की नियुक्ति न कर दी हो। यदि इसी समय किसी संचालक का स्थान रिक्त हो गया हो तो अंशधारियों के चुनाव करने तक संचालक-सभा ही उस स्थान पर किसी की नियुक्ति कर सकती है। धारा २५६ (ब) के अनुसार प्रति वर्ष ⅓ संचालकों को स्थान खाली करना होगा और उनके स्थानों पर नये संचालक नियुक्त किये जा सकेंगे, किन्तु जो लोग स्थान रिक्त कर चुके हैं, उनको संचालक पद के लिए पुनः खड़े होने का विधान है। इसलिए संचालक दुबारा भी आसानी से चुने जा सकते हैं।

धारा ३७७ के अनुसार ⅓ संचालकों का क्रमिक परिवर्तन किया जाता है। जो ⅔ संचालक शेष रहते हैं उनमें भी प्रबन्ध-अभिकर्ता अपने व्यक्तियों को नियुक्त करने के लिये खड़ा करते हैं। अतः साधारण व्यक्तियों को अपनी रुचि के अनुसार संचालक चुनने का अवसर नहीं मिलता। १९३६ के संशोधन विधान में संचालकों के ⅓ प्रतिनिधियों को प्रबन्ध अभिकर्ताओं से मुक्त रखने का अभिप्राय था, किन्तु समय ने बताया कि वह अभिप्राय कार्यरूप में परिणत नहीं हो सका और संचालक-सभा में अधिकांश रूप में अभिकर्ताओं के निकट सम्बन्धी पहुँचने लगे। कम्पनी लॉ-कमैटी इस स्थिति की विशेष छानबीन करके इस निष्कर्ष पर पहुँची है कि कम्पनियों की संचालक-सभा में अभिकर्ताओं के निकट सम्बन्धियों का बहुमत होने के कारण कम्पनी का संचालन अभिकर्ताओं के ही अधीन रहता है और वे कम्पनी के वास्तविक स्वामियों (अंशधारियों) का प्रभुत्व नहीं होने देते। उन्होंने इस बात का सुझाव रखा कि कुछ प्रकार के व्यक्ति जो अभिकर्ताओं के निकट सम्बन्धी तथा किसी दूसरे प्रकार के सम्पर्क में हों, संचालक-सभा के ⅓ भाग में किसी प्रकार से सम्मिलित नहीं करने चाहिये। धारा २६१ के अन्दर इस सुझाव को मान लिया गया है। कुछ स्थितियों में प्रबन्ध अभिकर्ताओं से सम्बन्ध रखने वाले लोग भी नियुक्त किये जा सकते हैं, किन्तु शर्त यह है उनकी प्रसिद्धि इस प्रकार से नहीं होनी चाहिये कि वे प्रबन्ध अभिकर्ता के व्यक्ति हैं और उनको करीब ८०% का समर्थन प्राप्त होना चाहिये। कानून में प्रबन्ध अभिकर्ताओं के सम्बन्धियों की एक लम्बी सूची दी गई है, जो लोग उनके बाहर हैं, उनको संचालक बनने का अधिकार है।

उपर्युक्त सुरक्षाओं के द्वारा अब अंशधारियों को किसी व्यक्ति को चुनने के लिए यह सोचने का अवसर मिल जायगा कि उस व्यक्ति की योग्यता संचालक के उपयुक्त है या नहीं? उदाहरण के लिए धारा २६१ के अनुसार बिना विशेष प्रस्ताव के द्वारा निम्नलिखित व्यक्तियों को संचालक के रूप में नहीं चुना जा सकता—

(१) जो व्यक्ति कम्पनी का अधिकारी है और लाभ का पद (Office of Profit) रखता है।

(२) जो पद किसी साझेदारी के साझेदार द्वारा ग्रहण किया गया है अथवा उसका कोई कार्यकर्ता उस पद पर कार्य कर रहा है।

(३) जो पद किसी निजी कम्पनी के सदस्य, कार्यकर्ता अथवा अधिकारी के अधीन है।

(४) जो पद किसी संस्था के सदस्य अथवा अधिकारी के आधीन है।

(५) जो व्यक्ति किसी *समझौते के अनुकूल प्रबन्ध अभिकर्ताओं के* दिये जाने वाले पारितोषिक के किसी अंश का अधिकारी है।

(६) जो व्यक्ति प्रबन्ध अभिकर्ता से सम्बन्ध रखता है।

(७) जो संस्था किसी भी प्रकार से प्रबन्ध अभिकर्ता से सम्बन्ध रखती हो।

इस प्रकार अंशधारियों को बहुत बड़ी सीमा तक अपने सच्चे प्रतिनिधियों को चुनने का अवसर प्राप्त हो सकेगा तथा उनका संचालकों पर विशिष्ट प्रभाव रह सकेगा।

संचालकों के निर्वाचन में ध्यान देने योग्य बातें
(Points of Consideration in the Appointment of Directors)

बड़े व्यापार या व्यवसाय प्रायः सार्वजनिक कम्पनी के संगठन के अन्तर्गत ही किये जाते हैं, *क्योंकि इस संगठन से अधिक पूँजी तथा योग्य व्यक्तियों* का मिलना संभव हो जाता है। किन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि कम्पनी का संचालन परोक्ष होता है, इसलिए संचालकों को चुनने में बड़ी सावधानी रखने की आवश्यकता है। उसमें इस प्रकार के लोग आने चाहिये जो निश्चित रूप से कुशल, योग्य तथा निष्पक्ष हों। उदाहरण के लिए यदि किसी बड़ी कपड़ा मिल के संचालकों की नियुक्ति की जाती है, तो वैधानिक नियमों का पालन करते हुए यह भी देखना चाहिये कि संचालक बनने के लिये किस प्रकार की योग्यता के व्यक्ति आ रहे हैं। यदि कोई विधान में निपुण है, तो वह वैधानिक समस्याओं का भली-भाँति समाधान कर सकेगा, यदि कोई रुई के विषय में विशेष जानकारी रखता है, तो वह उसके व्यापार-सम्बन्धी समस्त बातों को देख-रेख कर सकेगा और मिल का कभी भी कपास सम्बन्धी *कठिनाई नहीं होगी। इसी प्रकार जिसको उत्पादन का विशेष अनुभव है,* वह उत्पादन क्रियाओं पर अच्छा नियन्त्रण कर सकेगा आदि।

इसके साथ निर्वाचकों को यह भी ध्यान में रखना होगा कि प्रमण्डल की आवश्यकतानुसार संचालकों की संख्या में उचित परिवर्तन किया जाय। धारा २५८ के अनुसार प्रमंडल के सदस्य, अपने अन्तर्नियमों के अन्तर्गत, साधारण प्रस्ताव के

द्वारा संचालको की संख्या मे परिवर्तन कर सकते है। परन्तु धारा २५९ के अनुसार सचालकों की संख्या बढ़ाने पर केन्द्रीय सरकार की अनुमति लेनी आवश्यक होती है।

यदि किसी संचालक का स्थान आकस्मिक खाली हो गया हो तो सचालक सभा को उस स्थान पर नियुक्ति करने के अधिकार हैं, किन्तु उसका कार्यकाल आम सभा तक ही होता है और उसकी पक्की नियुक्ति सदस्यो के द्वारा ही सम्भव हो सकती है। यदि अवधि समाप्त होने के पूर्व पुराना संचालक आ जाता है, तो प्रतिस्थापित संचालक को स्थान छोड देना पडता है।

साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि नियुक्तियाँ प्रतिनिधित्व-पद्धति (Proportional Representation System) के आधार पर हो रही है या नही; और नियुक्तियाँ सामान्य रूप से तीन वर्ष मे एक बार की जानी चाहिये, (धारा २६५)।

संचालकों के अधिकार एवं दायित्व

(Powers and Liabilities of Directors)

साधारणतया कम्पनी के सचालक अपने अधिकार तथा कर्तव्यो को कम्पनी के अन्तर्नियमो के द्वारा प्राप्त करते है और जिस परिस्थिति मे कम्पनी के अन्तर्नियम न हो अथवा किसी विशेष नियम की ओर से शान्ति हो, तो कम्पनी कानून की सारिणी (अ) के द्वारा ही उनके अधिकार निर्धारित किये जाते हैं। संचालको के अधिकार प्रायः अंशो का विभाजन करना, याचित धन माँगना, अंशों को रद्द करना, अंशधारियो तथा सचालको का रजिस्टर रखना तथा सुधारना, अंशो के हस्तान्तरण की स्वीकृति देना या न देना, अनुबन्ध लिखना, पूँजी का व्यय करना, लाभांश बाँटना, अन्तिम खातो का बनाना तथा उनका अंकेक्षण कराना आदि होते हैं।

इसके अतिरिक्त संचालक कोई भी ऐसा कार्य नही करता जिसका उल्लेख अन्तर्नियमो मे न किया गया हो। यह नियम सारिणी में इसलिए दिया गया है कि सचालको को कम्पनी का प्रतिनिधि माना जाता है और प्रतिनिधियों को दिये गये कार्यों के अतिरिक्त अन्य कार्य करने का अधिकार नही होता। "इंगलिश-कम्पनी-लॉ" के अन्दर लोक प्रमडलो के सचालको का महत्वपूर्ण स्थान होता है। जो देश सार्वजनिक कम्पनियो को प्रोत्साहन दे रहे हैं, उन्होंने सचालको के अधिकार तथा कर्तव्य अंग्रेजी विधान के अनुसार ही बनाये हैं। जब तक सार्वजनिक कम्पनियो का विशेष विकास नही हुआ था तथा उनके कार्यों का यथेष्ट विवेचन नहीं हुआ था, सार्वजनिक संस्थाओ का सचालन तथा प्रबन्ध पूर्ण रूप से संचालको के ही हाथ में था और वे ही उसकी दैनिक क्रियाओ का प्रबन्ध करते थे। किन्तु प्रमडलो के इस विकास तथा प्रगति के कारण अलग-अलग प्रकार की क्रियाओ तथा तान्त्रिक समस्याओं का प्रादुर्भाव

हुआ, जिससे कि कम्पनी के संचालन मे विशिष्टता आनी आवश्यक हो गई। इसलिये मंचालको को अपनी क्रियाओं को केवल व्यापार के आम प्रवन्ध तक ही सीमित रखना पड़ा, और तान्त्रिक प्रवन्ध-कार्य प्रवन्ध-सचालकों के हाथों मे चला गया है। बडी-बडी सस्थाओं मे इसके साथ-साथ सचालक-सभा मे भी कुछ ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति होनी आवश्यक हो गई जो यह देख सकें कि प्रबन्धक सचालक-सभा की योजनाओं के अनुसार कार्य कर रहे हैं या नहीं। इस प्रकार कम्पनी के सचालन का कार्य अमेरिका मे सभापति तथा उपसभापति, और अन्य स्थानों मे प्रवन्ध सचालकों के हाथों मे चला गया।

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कि कम्पनी तथा सदस्यो के अस्तित्व भिन्न होते हैं। इनके सचालन मे भी सदस्यगण संचालको के अधिकारो को नियन्त्रित रख सकते हैं, छीन नहीं सकते। क्योंकि अशधारियो को आम सभा मे दिये गये अधिकारो को स्पष्ट अधिकार दिये गये है जिनके अनुसार उनको किसी भी परिस्थिति मे कार्य करने का अधिकार प्राप्त होगा। धारा २७४ मे कोई भी सचालक जो पागल, असमर्थ या दिवालिया हो गया हो, सचालक नहीं बन सकता और न वह कम्पनी की गति-विधि मे ही भाग ले सकता है। धारा ३१२ के अनुसार कोई भी सचालक कम्पनी की विशेष अनुमति के विना अपने स्थान पर किसी दूसरे की नियुक्ति नहीं कर सकता। किन्तु यदि वह तीन मास के लिये किसी सचालक की नियुक्ति करे तो वह सचालक-सभा को अनुमति से अपने स्थान पर दूसरे की नियुक्ति कर सकेगा। साथ ही साथ कोई भी संचालक अपने दायित्व से मुक्त नहीं हो सकता, और न अपने कर्तव्य के प्रति उदासीन ही हो सकता है और इसलिये वह अपनी त्रुटियो, भूल आदि के लिये उत्तरदायी होता है।

धारा २९५ के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार की अनुमति के विना कोई भी कम्पनी अपने सचालकों द्वारा दिये गये अथवा लिये गये ऋण के लिये उत्तरदायी नहीं हो सकती। इस प्रकार कोई भी संचालक जो किसी सार्वजनिक कम्पनी अथवा सहायक निजी कम्पनी का संचालक है, कम्पनी से ऋण नहीं ले सकता, और न कम्पनी उसको अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाली संस्था को ऋण दे सकती है। किन्तु बैंकिंग कम्पनी, सधारी प्रमण्डल (Holding Company) या प्रवन्ध अभिकर्ताओं पर धारा २९५ (२) के अन्तर्गत यह नियम लागू नहीं होता। इसी प्रकार धारा २९७ मे सचालकों के अनुबन्ध करने के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाये गये हैं जिसके अनुसार सचालक-सभा की अनुमति के विना कम्पनी का संचालक, या उसका सम्बन्धी कम्पनी से माल, सेवायें आदि खरीदने या बेचने या कम्पनी के अशों का अभिगोपन (Underwriting) करने के लिये अनुबन्ध नहीं कर सकता। इस नियम मे नियमित रूप से व्यापार मे आने वाली वस्तुओं के लिये छूट दी गई है।

संचालकों का कर्तव्य है कि वह कम्पनी की ओर से किये गये या किये जाने वाले किसी अनुबन्ध या योजना में अपने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष हितों का स्पष्टीकरण कर दें। धारा २६६ के अनुसार उसको संचालक-सभा में अपना हित प्रकट कर देना चाहिये। यदि उसमें बाद को हित होता है, तब भी उसको प्रकट किया जाना आवश्यक है। अन्यथा उस पर ५०००) रु० तक का दण्ड हो सकता है। जिस संचालक का किसी अनुबन्ध में कोई हित हो, और जब उस अनुबन्ध पर विचार किया जा रहा हो, तो उसको न तो भाग लेने का अधिकार है, और न वोट देने का ही। उसकी उपस्थिति कोरम में भी नहीं गिनी जायगी।

इसी प्रकार कोई भी संचालक जिसकी अवस्था ६५ वर्ष की हो गई है, उसका कर्तव्य है कि वह, धारा २८२ के अनुसार अपनी अवस्था कम्पनी को बतला दे, नहीं तो उसको ५०) रुपया प्रति दिन के हिसाब से दण्ड का भागी होना पड़ेगा।

कम्पनी या उसकी सहायक कम्पनी में कम्पनी का संचालक धारा ३१४ के अन्तर्गत, प्रबन्ध-संचालक, प्रबन्ध-अभिकर्त्ता, सचिव एवं कोषाध्यक्ष, मैनेजर, वैधानिक अथवा तात्त्विक सलाहकार, बैंकर या कम्पनी के ऋण-पत्रधारियों (Debenture holders) का ट्रस्टी होने के अतिरिक्त लाभ का कोई अन्य पद ग्रहण नहीं कर सकता। यदि उसने इस प्रकार का कोई लाभ का पद ग्रहण किया हो, तो उसको यह लाभ कम्पनी को चुकाना आवश्यक होगा।

कम्पनी का संचालक बिना अंशधारियों की प्रस्तावित अनुमति के, न तो किसी व्यवसाय को बेच सकता है, और न उसको कम्पनी से ऋण ही कर सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि संचालकगण कम्पनी की सामान्य व्यवस्था के लिये, नीति का निर्धारण करते हैं, किन्तु उनको अपने अधिकारों के बाहर कोई भी कार्य नहीं करना चाहिये। संचालकों के अधिकार का वर्णन कम्पनी के अन्तर्नियमों में किया जाता है। इसलिये संचालक को उनके तथा कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत ही अपना कार्य करना चाहिये।

संचालक को हटाना* (Removal of Director)—यदि संचालकगण अथवा कोई भी संचालक अपने कर्तव्यों का सही रूप से पालन नहीं करता अथवा उस योग्य न रहा हो, तो सामान्य स्थिति में उसको निम्नलिखित अवस्थाओं में हटाया जा सकता है—

(१) यदि न्यायालय द्वारा उसका पागल होना सिद्ध हो गया हो।

(२) *यदि वह दिवालिया हो गया हो, और उसको न्यायालय ने मुक्त न किया हो।*

---

* संचालकों को अपनी स्थिति स्पष्ट करने का अधिकार है। इसका वर्णन 'सचिव के कार्यों' के अध्याय में दिया जायगा।

(३) यदि ताजीरात हिन्द (Indian Penal Code) के अन्तर्गत उसको किसी चरित्र-सम्बधी अभियोग में दण्डित किया गया हो।

(४) यदि उसने अंशो की याचना-राशि नियमित समय में न चुकाई हो।

(५) यदि न्यायालय ने उसको संचालक के लिये अयोग्य घोषित कर दिया हो।

(६) यदि अंशधारी उसके कार्य मे असन्तुष्ट हो, और उससे उत्तर मागने पर वह अपने किये गये कार्यो का सन्तोषजनक उत्तर न दे सके।

(७) यदि उसने कम्पनी के साथ किसी प्रकार का विश्वासघात किया हो।

(८) यदि उसने कम्पनी मे रहते हुए उसके साथ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रतिद्वन्द्विता की हो अथवा अपने पद के कारण किसी प्रकार का लाभ प्राप्त किया हो, और वह लाभ कम्पनी मे जमा न किया हो।

(९) यदि उसने किसी प्रकार से अन्तर्नियमो अथवा पार्षद अधिनियम से *सम्बन्धित नियमों का उल्लघन किया हो।*

संचालकों के दायित्व (Liabilities of Directors)—सूक्ष्म रूप से सचालको के निम्नलिखित दायित्व गिनाये जा सकते है—

(१) जिस समय कम्पनी का संचालक अपने अधिकारो के विपरीत किसी प्रकार का व्यवहार अथवा अनुबन्ध करता है, तो उसका समस्त उत्तरदायित्व उसके ऊपर व्यक्तिगत रूप से होता है।

(२) यह जानते हुए भी कि अमुक कार्य से कम्पनी को हानि होगी, यदि कोई संचालक उस कार्य को करता है, तो वह उस कार्य के लिए व्यक्तिगत रूप मे उत्तरदायी होगा।

(३) यदि विवरण-पत्रिका मे सचालकों द्वारा गलत सूचना दी गई हो, जिससे कि अंशधारियों को हानि होती है तथा जो सार्वजनिक दृष्टिकोण से भी हानिकारक है, तो संचालक उस हानि के लिए व्यक्तिगत रूप मे उत्तरदायी होंगे।

(४) यदि संचालक अपने अधिकारों का दुरुपयोग या नियमों का उल्लघन करते हैं अथवा कम्पनी के साथ छल या कपट करते है, तो उसके द्वारा हुई समस्त हानि के लिए वे स्वयं ही उत्तरदायी होंगे।

(५) यदि किसी सभा मे कोई संचालक अनुपस्थित रहता है, तो अन्य संचालकों द्वारा किये गये निर्णय के लिये वह भी उत्तरदायी होगा।

(६) यदि गत हानि की पूर्ति न करके संचालक लाभांश का वितरण करेंगे, तो उसके लिये वे स्वयं ही उत्तरदायी होंगे।

(७) अशुद्ध बही-खाते रखने अथवा कम्पनी के पत्रकों को जाली रखने की अवस्था में भी सचालक उत्तरदायी रहेंगे।

(८) उपर्युक्त उत्तरदायित्वो के अतिरिक्त अन्तर्नियमो द्वारा संचालको के लिये स्वीकृत उत्तरदायित्व के लिये भी संचालकगण उत्तरदायी होगे।

(९) सभाओं मे किसी प्रकार का दुराचरण या छल करने का उत्तरदायित्व भी अभियोगी संचालक पर ही होगा।

संचालक की अंश-योग्यता
(Share Qualification of Directors)

प्रमंडल अधिनियम के अनुसार अशो के लिये कोई सीमा नही है, जिससे कि संचालक की योग्यता का अनुमान लगाया जा सके। इसका निर्णय कम्पनी के पार्षद-सीमा-नियम तथा अन्तर्नियमो के द्वारा निश्चित किया जाता है। इस नियम को बनाने का एकमात्र उद्देश्य यह है कि सचालक कम्पनी के कार्यों मे निष्ठा रखे तथा अन्य विनियोक्ताओं मे विश्वास जमाया जा सके। यदि कम्पनी के सचालक ही अंश नही खरीदेंगे, तो जन-साधारण का कम्पनी पर विश्वास नही हो सकता।

प्रमडल अधिनियम की धारा २७० मे कहा गया है कि सचालक को अपने योग्यता-अंश दो महीने के अन्दर अनिवार्य रूप से खरीद लेने चाहिये। उसमे कहा गया है कि योग्यता अंश की राशि ५०००) रु० से अधिक नही होनी चाहिये। अन्तर्नियमो मे जो अश योग्यता के लिये लेने आवश्यक हैं, यदि उतनी राशि का कोई व्यक्ति अश प्रमाण-पत्र (Share warrant) या स्कन्ध (Stock) रखता है, तो उसको योग्यता की पूर्ति के लिये नही माना जायगा [धारा २७० (४)]। यदि कोई व्यक्ति बिना योग्यता-अश खरीदे ही दो महीने के बाद भी कार्य करता है, तो धारा २७२ के अनुसार उसको ५०) प्रतिदिन के हिसाब से दडित किया जा सकता है।

धारा २७१ मे स्पष्ट कहा गया है कि केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त अथवा तान्त्रिक सचालक के अतिरिक्त अन्य प्रत्येक सचालक को दो मास के अन्दर अपनी अश-सम्बन्धी घोषणा कम्पनी के कार्यालय मे प्रस्तुत करनी होगी। अंश-योग्यता नियम निजी कम्पनियो पर लागू नही होता।

सचालको के हित का प्रदर्शन (Disclosure of Interests by Directors)—कम्पनी मे सचालको का सबसे महत्वपूर्ण स्थान रहता है; क्योंकि उनको कम्पनी की समस्त जानकारी होती है और अपनी स्थिति के अनुसार वे जिस प्रकार से भी चाहे कम्पनी से फायदा उठा सकते है। उनको अनेक अधिकार भी प्राप्त होते है, जिनके आधार पर उनको व्यापार की सामान्य क्रियाओं मे अपनी इच्छा के अनुकूल कार्य करने की छूट होती है। अर्थात् कम्पनी का संचालक कम्पनी मे स्वामी, प्रतिनिधि तथा कर्मचारी के रूप मे कार्य करता है, इसलिये उसके हितो का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

यदि कम्पनी का सचालक कोई अनुबन्ध अथवा समझौता करता है तो उसको

पहले लिखित रूप से उस अनुबन्ध या समझौते अथवा कम्पनी मे, जिसके साथ अनुबन्ध या समझौता किया जा रहा है, उसका क्या हित है, स्पष्ट रूप मे सचालको को दे देना चाहिये। इस प्रकार की सूचना सचालको की सभा मे आ जानी आवश्यक है और उस पर यथेष्ट विवाद भी होना चाहिये। यदि इस प्रकार का विवाद नहीं हो सकेगा तो सूचना के आने पर भी उसको मान्यता नही दी जायेगी। इसलिये सूचना देने वाले संचालक का कर्तव्य है कि वह यह देख ले कि उसकी सूचना को सही रूप से सब सचालकों के पास पहुंचाया गया है या नहीं। प्रायः हितो मे अन्तर रहते हैं, इसलिये प्रतिवर्ष अपने हितों की सूचना देना आवश्यक है।

कम्पनी के कार्यालय मे इस प्रकार का एक रजिस्टर रहना चाहिये, जिसमें संचालकों द्वारा किये गये अनुबन्धो का वर्णन तथा उनके हितो का उल्लेख हो, तथा जिसे कम्पनी के सदस्य कार्य अन्तरो मे प्रधान कार्यालय मे जाकर कभी भी देख सकते हैं। इस रजिस्टर मे अनुबन्ध की तिथि, पक्षो के नाम, सचालक-सभा की मीटिंग मे उसको स्वीकृति तथा अस्वीकृति देने वाले सदस्यो के नाम तथा जो लोग तटस्थ रहे हों, उनके भी नाम, साथ ही उस पर प्रत्येक सचालक के हस्ताक्षर होने चाहिये। यदि कोई सचालक अपने इस प्रकार के हित का प्रदर्शन करे, तो उस पर ५०००) का दंड किया जा सकता है।

प्रमंडल विधान की धारा ३०० के अनुसार हित रखने वाला सचालक उस अनुबन्ध की स्वीकृति के लिये न तो मतदान कर सकता है, और न उसकी उपस्थिति 'कोरम' के लिये मानी जायेगी। कम्पनी-लॉ-कमैटी के सुझाव के अनुसार ऐसी स्थिति मे दो या ⅓ सचालक-सभा के सदस्य (जो भी अधिक हों) 'कोरम' के लिये पर्याप्त होंगे। प्रमंडल विधान मे सचालक की उपस्थिति पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया है, किन्तु संचालक को स्वयं ही उस सभा मे नही जाना चाहिये, जिसमें उसके विषय मे विचार किया जा रहा हो।

किसी स्थिति मे सचालक का हित होने हुए भी उसको सरकार द्वारा ऊपर बताये गये प्रतिबन्धों से मुक्त किया जा सकता है। परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है, जब मुक्त करना सर्वसाधारण के हित मे हो। कानून के अनुसार प्रबन्ध-संचालक की नियुक्ति करते समय सब सदस्यो को उसके साथ किया गया अनुबन्ध बताना आवश्यक है, और आवश्यक शुल्क शोधन करने के उपरान्त प्रत्येक सदस्य उसकी प्रतिलिपि पाने का अधिकारी है।

अंशो के वितरण मे सचालकों के हित का अनुमान लगाना बडा कठिन होता है, और उसी प्रकार उस पर नियंत्रण रखना भी कठिन है। किन्तु सचालकों के अधिकृत अंशो का पूर्ण ब्यौरा रख कर के किसी सीमा तक उस पर नियंत्रण किया

जा सकता है। कम्पनी-लॉ-कमेटी के सुझावों के अनुसार किसी भी सम्बन्धित संचालक को अपने इस प्रकार के हितों का प्रदर्शन करना अनिवार्य होगा।

संचालकों द्वारा पद-त्याग
(Vacation of Office by Directors)

उपर्युक्त अवस्थाओं के अतिरिक्त, जिनमें संचालक का स्थान रिक्त समझा जाता है, प्रमंडल अधिनियम की धारा २८३ के अनुसार किसी भी संचालक को निम्नलिखित परिस्थितियों में अपने स्थान को छोड़ देना पड़ेगा—

(१) यदि वह कम्पनी के अन्तर्नियमों के अनुसार नियत अवधि के अन्दर अपने योग्यता-अंश (Qualification Shares) प्राप्त नहीं कर लेता है।

(२) यदि वह अपने अंशों की याचित धन-राशि (Call Money) छः मास की अवधि में नहीं चुका देता है।

(३) यदि वह लगातार, बिना अवकाश लिये ही, तीन महीने तक संचालक-सभा की सभाओं में सम्मिलित नहीं होता है।

(४) यदि वह दिवालिया घोषित होने के लिये आवेदन प्रस्तुत करे, अथवा घोषित कर दिया गया हो।

(५) यदि उसने धारा २९५ के विरुद्ध किसी ऋण, प्रत्याभूति (Guarantee) आदि को स्वीकार किया हो।

(६) यदि उसने धारा २९९ के विरुद्ध कोई बात ज्ञापक करा दी हो।

(७) यदि उसको धारा २८४ के अनुसार हटा दिया गया हो।

(७) यदि कम्पनी ने, सिवाय सरकार द्वारा नियुक्त किये गये संचालक के, किसी अन्य संचालक को साधारण प्रस्ताव द्वारा हटा दिया हो।

संचालकों द्वारा पद हस्तान्तरण
(Transfer of Office by Directors)

प्रमंडल विधान में इस बात की व्यवस्था की गई है कि कोई भी संचालक बिना संचालक-सभा की पूर्व अनुमति के अपने पद का हस्तान्तरण नहीं कर सकेगा। नवीन विधान लागू होने के पहले यदि किसी संचालक ने अपना पद हस्तान्तरित कर दिया हो, तो कानून के लागू होते ही उसको अवैधानिक माना जायगा। इसमें एक छूट अवश्य रखी गई है कि यदि सदस्यों की साधारण-सभा में यह तय किया जाय तथा अन्तर्नियमों में उसका पर्याप्त संशोधन हो, तो संचालक सभा किसी संचालक के लिये उस राज्य में जहाँ संचालक सभा की मीटिंगें होती हैं, वहाँ कम-से-कम तीन महीने की अनुपस्थिति के समय में कार्य करने के लिए एक वैकल्पिक (Alternate) संचालक की नियुक्ति कर सकती है, किन्तु मूल संचालक के वापिस आते ही वैकल्पिक

वाला संचालक स्थान खाली कर देगा। यदि इसी बीच पुनर्नियुक्ति की जाती हो, तो यह मूल संचालक के लिये लागू हो सकेगा।

संचालकों को ऋण
(Loans to Directors)

प्रमंडल विधान की धारा २९५ के अन्तर्गत यह आदेश दिया गया है कि कोई भी कम्पनी केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति लिये बिना संचालक या अन्य समान अधिकारियों को निम्नलिखित दशाओं में न तो कोई ऋण दे सकती है, और किसी अन्य व्यक्ति द्वारा दिये गये ऋण की प्रत्याभूति कर सकती है—

(१) अपने किसी संचालक को या अपनी सूत्रधारी कम्पनी के किसी संचालक या ऐसे संचालक के किसी साझेदार या सम्बन्धी को।

(२) उस फर्म को, जिसमें संचालक या उसका सम्बन्धी साझेदार हो।

(३) वह अलोक प्रमण्डल, जिसमें वह संचालक एक सदस्य अथवा संचालक हो।

(४) वह समामेलित संस्था, जिसकी साधारण सभा में कुल मत-शक्ति के २५% पर उस या उन संचालकों का अधिकार होता।

(५) वह समामेलित संस्था, जिसकी संचालक-सभा, प्रबन्ध संचालक, प्रबन्ध-अभिकर्ता, सचिव एवं कोषाध्यक्ष तथा प्रबन्धक उस कम्पनी के किसी संचालक या संचालकों के अधीन चलते हों।

इस विधान के छः महीने के अन्दर यदि इस प्रकार के कोई अनुबन्ध हुए हों, तो उनको केन्द्रीय सरकार की अनुमति लेनी आवश्यक होगी। यदि इसका पालन नहीं किया जायगा, तो धारा २९४ के अन्तर्गत दंड का विधान है, किन्तु यह नियम अधिकोषण, निजी कम्पनी, तथा संधारी कम्पनियों पर (धारा २९५) लागू नहीं होगा।

अन्य प्रतिबन्ध
(Other Restrictions)

संचालकों पर अन्य अनेक प्रतिबन्ध हैं, जिनका वर्णन "सचिव के कार्य" नामक अध्याय में किया जायगा। यहाँ पर मुख्य रूप में दो का वर्णन करेंगे—

(१) **बीस से अधिक संचालक पद पर प्रतिबन्ध**—कोई भी संचालक धारा २७५ के अनुसार २० कम्पनियों में अधिक का संचालक नहीं रह सकता, और यदि वह है, तो इस अधिनियम के लागू होने ही दो मास के अन्दर उसको अतिरिक्त कम्पनियों से त्याग-पत्र देने की व्यवस्था की गई है। यह सूचना रजिस्ट्रार के कार्यालय में प्रेषित करनी आवश्यक मानी गई है। यह नियम वैकल्पिक संचालक, निजी तथा असीमित कम्पनियों के संचालक पद पर (धारा २७८) लागू नहीं हो सकेगा।

(२) **अवकाश ग्रहण करने की अवस्था** (Retiring Age)—सार्वजनिक कम्पनियों तथा अलोक सहायक प्रमंडल मे ६५ वर्ष की आयु से अधिक का व्यक्ति संचालक के रूप में नहीं रह सकता। यह कम्पनी की साधारण सभा में तय किया जाता है; किन्तु साधारण सभा को अधिकार है कि वह किसी संचालक को ६५ वर्ष के बाद भी कार्य करने की अनुमति दे सकती है। परन्तु संचालक को अपनी अवस्था का बताना अत्यन्त आवश्यक है, और यदि वह इसका पालन नही करता, तो उसको दंड दिया जा सकता है।

संचालक का पारिश्रमिक
(Remuneration of Director)

प्रमंडल अधिनियम की धारा १९८ तथा ३०९ के अन्तर्गत कम्पनी के संचालकों का पारिश्रमिक या तो कम्पनी के अन्तर्नियमों के द्वारा निर्धारित किया जाता है या उसके लिये कम्पनी को अनुकूल प्रस्ताव पास करना पड़ता है। सचालक अपने पारिश्रमिक को प्रति मास या प्रति वर्ष, या दोनो प्रकार से भुगतान तथा फीस के रूप में ले सकते है। जो संचालक कम्पनी का प्रबन्ध संचालक अथवा पूर्णकालीन संचालक है, वह कम्पनी के लाभ का एक निश्चित प्रतिशत पारिश्रमिक के रूप मे प्राप्त कर सकता है। किन्तु यह प्रतिशत एक संचालक के लिये ५%; तथा यदि एक से अधिक संचालक हो तो उनको अधिक से अधिक १०% हो सकता है। जिस संस्था में पूर्णकालीन सचालक नही हो तथा उनको मासिक पारिश्रमिक नहीं दिया जाता, तो वर्तन (कमीशन) की शुद्ध राशि १ प्रतिशत या ३ प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकती। इस पर कम्पनी मे प्रबन्ध अभिकर्ताओं आदि के होने न होने पर प्रभाव नहीं पडेगा।

सार्वजनिक अथवा निजी सहायक कम्पनियों मे वह संचालक जो पूर्णकालीन सचालक है या अपूर्णकालीन सचालक के रूप मे पारिश्रमिक प्राप्त करता है, वह सहायक कम्पनी से धारा ३०९ के अन्तर्गत, अतिरिक्त कमीशन प्राप्त नहीं कर सकेगा।

धारा ३१० तथा ३११ के अनुसार किसी सचालक, प्रबन्ध-सचालक या पूर्णकालीन सचालक के पारिश्रमिक मे किसी प्रकार की वृद्धि या संशोधन बिना सरकार की अनुमिति के नहीं किया जा सकता, और इस कानून के बाद किसी प्रबन्ध-संचालक की पुनर्नियुक्ति पर बिना सरकार की अनुमति के उसका पारिश्रमिक नहीं बढाया जा सकेगा।

विशेष अवस्थाओं मे कम्पनी के पार्षद अन्तर्नियमों मे संशोधन करके संचालकों प्रबन्ध अभिकर्ताओं आदि का असीमित दायित्व किया जा सकता है। इसके लिये विशेष प्रस्ताव पास किया जाना चाहिये तथा कम्पनी के अन्तर्नियमों मे उसके लिये यथोचित विधान का होना अनिवार्य है।

प्रमंडल में संचालक की स्थिति
(Director's Position in Company)

कम्पनी में उसके संचालकों की स्थिति का अनुमान लगाना कुछ कठिन सा प्रतीत होता है। उनके अधिकारों की व्यापकता, कर्तव्य तथा उनके उत्तरदायित्व का वैधानिक स्पष्टीकरण कभी उनको कम्पनी का प्रन्यासी (Trustee), कभी साधारण व्यवस्थापक तथा कभी प्रतिनिधि बना देते हैं। संचालक के अधिकार इतने व्यापक होते हैं कि वह कम्पनी की पूंजी को एक निश्चित योजना के अनुसार मनमाने ढंग से व्यय कर सकता है। इस प्रकार संचालक कम्पनी के प्रन्यासी के रूप में काम करते है, क्योंकि उनको कम्पनी में पूर्ण रूपेण आर्थिक अधिकार प्राप्त हैं। इसलिये यदि संचालक अथवा प्रबन्ध संचालक कम्पनी के धन को किसी प्रकार के कल्पित सौदों अथवा किसी प्रकार की परिकल्पना में व्यय करते हैं, तो वे अपने इस कार्य के लिए उत्तरदायी होंगे। इतना होने पर भी वे तात्त्विक रूप से कम्पनी के प्रन्यासी नहीं कहलाये जा सकते, क्योंकि उनके साथ इस प्रकार का कोई समझौता नहीं रहता। दूसरे, कम्पनी के अंशधारी ही सही रूप में कम्पनी के स्वामी होते हैं और उन्हें कम्पनी के संचालन का पूर्ण अधिकार होता है। कम्पनी के संचालकों के पास जो कि पहले अंशधारी होते हैं, फिर संचालक, कम्पनी के स्वामित्व का पूर्ण अधिकार होता है। परन्तु यह स्थिति प्रन्यासियों की नहीं होती। वे एक सीमा तक ही कम्पनी पर अधिकार रख सकते हैं। कम्पनी के संचालक तथा प्रन्यासियों में एक विशेष अन्तर यह है, कि संचालक की नियुक्ति तथा निर्वासन अंशधारियों के हाथ में होता है; परन्तु प्रन्यासियों का नहीं। संचालकों को अन्तर्नियमों के अनुसार पारिश्रमिक के अतिरिक्त कम्पनी का लाभ भी मिलता है, जबकि प्रन्यासियों को एक निश्चित राशि ही मिलती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कम्पनी के अंशधारी ही सही रूप में कम्पनी के स्वामी होते हैं। परन्तु साथ ही यह प्रश्न उठता है कि क्या वे कम्पनी के प्रतिनिधि हैं? कम्पनी के प्रतिनिधि होने की अवस्था में उनके कार्य बहुत बड़ी सीमा तक कम्पनी के अन्तर्नियमों तथा कम्पनी विधान के द्वारा ही नियत किये जाते हैं। इसलिये वे कम्पनी के निश्चित किये हुए निर्देशों का पालन करते हैं। किसी भी विशेष प्रस्ताव द्वारा कम्पनी के अंशधारी संचालकों को किसी ऐसे कार्य करने के लिये बाध्य नहीं कर सकते, जो कम्पनी के अन्तर्नियमों द्वारा स्वीकृत नहीं किया गया हो। साथ ही व्यक्तिगत रूप से भी अंशधारियों को किसी बात को मानने के लिये संचालक बाध्य नहीं किये जा सकते। क्योंकि वे अंशधारियों के प्रतिनिधियों के रूप में कार्य नहीं करते, अपितु उनके स्वामित्व से निर्मित कम्पनी का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः यह बात स्पष्ट है कि किसी सभा में यदि अंशधारी संचालकों का निर्वासन

करना चाहे तो उस बहुमत में, जिसके कि वे अन्तर्नियमों की धाराओं में परिवर्तन कर सकते हैं, उसी अनुपात में मत आने पर किसी संचालक को अलग किया जा सकता है। इसलिये यह सिद्ध होता है कि यद्यपि सचालक अंशधारियों के प्रतिनिधि नहीं हैं, तथापि उनके द्वारा सचालित कम्पनी के प्रतिनिधि अवश्य है। सचालक कम्पनी के लिये एक प्रतिनिधि के रूप में अन्य पक्षों से अनुबन्ध करते है, और उनके कृत्यों से कम्पनी पूर्ण रूप से रूप मे उत्तरदायी हो जाती है। इसके अतिरिक्त संचालक कम्पनी के लिये अन्य कार्य भी करते हैं, जैसे—कम्पनी के लिये हस्ताक्षर कर देना, उसके हिसाब-लेखे रखना, आदि। कम्पनी द्वारा संचालकों को निश्चित अधिकार दिये जाते है और जब तक वे उन अधिकारों के अन्दर कार्य करते है, उन पर किसी प्रकार का उत्तरदायित्व नही आता। किन्तु उसके बाद ही वे पूर्ण रूप से उत्तरदायी हो जाते है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि संचालक कम्पनी के प्रतिनिधि अवश्य हैं।

सचालकों के प्रतिनिधि होने के साथ-साथ यदि वे कम्पनी के व्यवस्थापन के लिये चुने जाते हैं, तो यह प्रश्न उठता है कि प्रतिनिधि तो कम्पनी के नियुक्त किये हुए व्यक्ति होते है, चुने हुए नही। जो व्यक्ति नियुक्त किये जाते है, वे कम्पनी के नौकर के रूप में कार्य करते हैं और उनको कभी भी विशेष परिस्थितियों मे, जब कि उनका कार्य सन्तोषजनक न हो, अलग किया जा सकता है। किन्तु सचालकों को किसी असाधारण प्रस्ताव के द्वारा ही अलग किया जा सकता है। कानून की दृष्टि से भी सचालक केवल कम्पनी का प्रतिनिधि ही नहीं माना जाता, क्योंकि सचालक को जो पारिश्रमिक मिलता है, वह उसी प्रकार से नही गिना जाता, जिस प्रकार कि प्रबन्ध अभिकर्ताओं या अन्य प्रतिनिधियों का गिना जाता है। इस प्रकार उन लोगों का यह कथन कि कम्पनी मे कोई स्वामी नही होता और संचालकों को केवल अंशधारियों के निर्देशन पर ही चलना होता है, विशेष महत्वपूर्ण नही है। यदि वह केवल कम्पनी का नौकर ही होता है, तो उसको कम्पनी के अंशों को खरीदने की आवश्यकता नही रहती और उस कार्य के लिये केवल वही चुना भी नही जाता, वल्कि अन्य व्यक्ति भी चुना जा सकता था और उसको कम्पनी के कार्यों में उसी प्रकार कार्य भी करना पडता, जिस प्रकार अन्य कार्यकर्ता करते है। प्रतिनिधियों या प्रवन्ध अभिकर्ताओं को अपने पारिश्रमिक को प्राप्त करने का पूरा अधिकार प्राप्त है, चाहे कम्पनी में लाभ हो या नही। किन्तु कम्पनी के सचालकों को इस प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं हैं। इन कारणों से एक बार हम यह सोच सकते हैं कि सचालक कम्पनी के वास्तविक स्वामियों मे से है, प्रतिनिधियों में नही, क्योंकि वे कितने ही अंशधारियों के द्वारा चुने जाकर कम्पनी का प्रतिनिधित्व करते है। इसका अर्थ यह हुआ कि अंशधारी कम्पनी के सचालकों पर पूरा विश्वास रखते है और वे यह भी समझते है कि सचालकों के द्वारा उनके स्वामित्व के अधिकार सुरक्षित रहेंगे, और वे समस्त अंशधारियों के लिये

कम्पनी का सचालन सुचारु रूप मे चला सकेगे । जनतन्त्री प्रणाली मे जो प्रतिनिधि जनता के द्वारा चुने जाते है, वे यथार्थ मे सेवक नहीं, अपितु जनता के प्रतिनिधि है, और उनमे सम्पूर्ण जनता की आवाज निहित है ।

कम्पनी के प्रबन्ध मे सचालकों के बहुत से कार्य है जिनमे उनको पूर्ण रूपेण स्वतन्त्रता प्राप्त है । जैसे—अशो का निर्गमन, अश-धन का याचन, अशों का रद्द करना आदि । किन्तु विधान के अनुसार सचालकों को प्रति वर्ष कार्य से मुक्त होना पडेगा । इसका अर्थ यह हुआ कि उनका पूर्ण रूप मे स्वामित्व नहीं है, क्योंकि स्वामी के कम्पनी मे हटने का प्रश्न ही नहीं उठता, और न ऊपर दिये गये तर्क के अनुसार वे कम्पनी के पूर्ण रूप से प्रतिनिधि ही है । इन तर्कों के आधार पर यह निश्चित रूप मे नहीं कहा जा सकता कि सचालक कम्पनी के स्वामी है या प्रतिनिधि । इसलिये हम यह कह सकते है कि वे कम्पनी के अधिकारी है, जिनको अशधारियों के द्वारा अधिकार प्राप्त होते है, और उनको एक नियम के अनुसार कार्य करना पडता है जो उन्हे पूर्ण सतर्कता के साथ करना चाहिये ।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 How far the management of Joint Stock Company is democratic ? Explain its nature in India

2 How are directors of Joint Stock Companies selected and appointed in India ? Explain

3 While selecting a director of a big concern, what factors would you weigh in order to achieve the best results ?

4 What are the duties and powers of a company director under law ? Explain.

5 You have been appointed as a company director, what points would you keep in mind for the successful performation of your duties ? Explain

6 Discuss the law relating to the removal and the vacation of office by a director

7 Under what circumstances a Director becomes disqualified to hold his office ? Discuss

8 Write a note on the remuneration of director Explain the provisions of the Company Act, to this regard.

9 Explain the position of directors in Indian Joint Stock Companies.

10 Do you suggest any improvement in the Company Act to control and restrict the activities of company director in accordance with the present development in Indian industries and trade.

प्रबन्ध अभिकर्ता
(Managing Agents)

प्रबन्ध-अभिकर्ता की परिभाषा (Definition of Managing Agents)—भारतीय प्रमण्डल विधान के अनुसार प्रबन्ध-अभिकर्ता वह व्यक्ति या साझेदारी अथवा कम्पनी है, जो कम्पनी के साथ हुए किसी अनुबन्ध के अनुसार सचालकों के निरीक्षण तथा नियंत्रण मे कम्पनी के समस्त कार्यों का प्रबन्ध करने के लिये उत्तरदायी होते है। प्रत्येक अभिकर्ता अपना कार्य-संचालन उसी प्रकार से करेगा जिस प्रकार से कम्पनी के अनुबन्ध मे दिया हो। इस धारा के अनुसार प्रबन्ध अभिकर्ता यदि चाहे तो कम्पनी का प्रबन्ध बिना संचालकों के नियंत्रण मे स्वतन्त्र रूप से कर सकता है।

उपर्युक्त परिभाषा से हम कह सकते हैं कि प्रबन्ध-अभिकर्ता—

(१) व्यक्ति, साझेदारी या कम्पनी हो सकती है;

(२) उसका और कम्पनी का एक लिखित अनुबन्ध होना चाहिये, जिसमे कि उनके अधिकार और कर्तव्यों का विवरण हो,

(३) उसको कम्पनी के कार्यों का प्रबन्ध, संचालकों के नियत्रण तथा निरीक्षण मे करना चाहिये;

(४) यदि अनुबन्ध मे कुछ और लिखा हो तो वह संचालकों के नियन्त्रण से स्वतन्त्र प्रबन्ध-सचालन कर सकते है, तथा

(५) वे कम्पनी के नौकर होते है और उनको समझौते के अनुसार लाभाश का भाग दिया जाता है।

अभिकर्ताओं का भारतीय औद्योगिक विकास मे योग (Contribution of Managing Agents in the Industrial Development of India)—भारतवर्ष मे कम्पनियों का जन्म अंग्रेजों के आने पर हुआ, इसलिये प्रबन्ध अभिकर्ताओं का उदय भी भारतीय व्यापार मे अंग्रेजो की देन है। सर्वप्रथम, वह अंग्रेजो के, जो ईस्ट-इंडिया-कम्पनी से पेंशन प्राप्त कर चुके थे और भारत मे ही बसना चाहते थे। उनके पास विशाल धन राशि थी, और वे उसका विनियोग करना चाहते थे। भारतवर्ष मे इस प्रकार के विनियोग के लिये पर्याप्त क्षेत्र था। किन्तु भारतीय

व्यापारी इन नवीन कार्यों मे हाथ डालने के लिए बहुत अधिक डरते थे और अपने धन को किसी नवीन उद्योग या व्यापार मे लगाना उचित नही समझते थे। दूसरे, धन की कमी ने भारतीय व्यापारियों को नवीन उद्योग मे हाथ न डालने के लिये विवश भी कर दिया था। इनके विपरीत अंग्रेज व्यापारियों मे जोखिम सहन करने की अत्यधिक क्षमता थी। फिर उनके पास पर्याप्त मात्रा मे धन भी था; अतः उन्होंने उद्योगों की ओर ध्यान दिया जिसके कारण सर्वप्रथम चाय उद्योग को प्रोत्साहन मिला। अंग्रेजो ने अपनी आढ़तों (Agencies) को भारत में स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि उस समय अंग्रेज भारत मे आने के लिये अत्यन्त उत्साहित थे और भारतीय व्यापार मे धन भी लगाना चाहते थे। कलकत्ता प्रबन्ध अभिकर्ता पद्धति का प्रारम्भिक क्षेत्र है जहाँ १८३० मे पहला 'हाउस ऑफ पामर एण्ड कं०' स्थापित किया गया। किन्तु वह और १८३४ तक चार और 'हाउस' फेल हुए। प्रबन्ध अभिकर्ता पद्धति 'एजन्सी हाउस' पद्धति के अवशेषों के खण्डहरों पर पनपी है। इन्होंने खान, बागवानी, निर्यात तथा इसी प्रकार के माल के उत्पादन मे रुचि ली जिसकी विदेशों में आवश्यकता थी।

भारत स्थित अंग्रेजो ने इस अवसर का लाभ उठाया। उन्होंने अंग्रेजो तथा भारतीय नागरिकों से धन एकत्र किया और नवीन औद्योगिक संस्थाओं का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार भारतवर्ष मे अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे प्रारम्भ हो गये। अंग्रेज नये-नये उद्योगों को खोल कर धन कमाना चाहते थे, इसलिये जैसे ही जनता मे उन उद्योग के प्रति लालच उत्पन्न होता था, वैसे ही अंग्रेज प्रवर्तक उनके सब अंशों को बेच कर उस धन को अन्य उद्योगों में विनियोग करने लगे जिनके फलस्वरूप चारों ओर औद्योगिक उन्नति प्रारम्भ हो गई।

भारतीय व्यापारियों ने अंग्रेज प्रवर्तकों की देखा-देखी स्वयं भी व्यापारिक तथा औद्योगिक संस्थाओं का निर्माण कर उनके प्रबन्ध एवं अर्थ-व्यवस्था का कार्य प्रारम्भ कर दिया। भारतीय व्यापारियों द्वारा बम्बई और अहमदाबाद में कम्पनियाँ प्रारम्भ की गईं; जबकि अंग्रेजी कम्पनियों का पोषण बंगाल तथा आसाम में हुआ। अहमदाबाद और बम्बई में कपड़े के मिल के उद्योग के लिए प्रबन्ध-विक्रेता संस्थाओं का भी निर्माण किया गया। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि भारतीय व्यापारी बड़े शंकालु तथा जोखिम न लेने वाले होते हैं; इसलिए अंग्रेजों की भाँति ही भारतीय अभिकर्ताओं को भी प्रारम्भिक खर्चों को स्वयं भुगतना पड़ा और अपनी प्रतिष्ठा को रखने के लिये, ऐसा कहा जाता है कि, उन्होंने अपनी पत्नियों के गहने बेच कर भी इन उद्योगों को चलाया। जब उनके पास धन की कमी हो गई तो अपने निकटतम सम्बन्धियों की सहायता से दिनों दिन प्रगति करते रहे और इस प्रकार अहमदाबाद और बम्बई का उद्योग भी पर्याप्त प्रोत्साहन पाने लगा। धीरे-धीरे इनके व्यापार की

प्रगति देखकर अन्य लोग इनके अंशों को खरीदने लगे और उनको भी अंग्रेजों वाली सुविधा प्राप्त हो गई।

अंग्रेज और भारतीय अभिकर्ताओं में सबसे बड़ा अन्तर यह था कि अंग्रेजों का उद्देश्य नये नये व्यापारों को प्रारम्भ कर उनसे लाभ कमाना था, किन्तु भारतीय अभिकर्ता उस लाभ के साथ साथ यह भी चाहते थे कि जिस उद्योग के विकास के लिये उन्होंने प्रारम्भ में अधिक प्रयत्न किये तथा सफल बनाया, उसका नियंत्रण एवं संचालन उनके ही हाथ में रहे। अतः उन्होंने कुछ इस प्रकार की व्यवस्था की कि संचालक सभा में उनके निकट सम्बन्धियों का ही बहुमत रहे और वे संचालन को भली-भांति चला सकें।

इस प्रकार यह निश्चित रूप से कहना पड़ेगा कि जिस समय भारतवर्ष के उद्योगों में विकास नहीं हो रहा था, विनियोक्ताओं में नवीन व्यवसायों तथा उद्योगों की जोखिम लेने की शक्ति नहीं थी, देश में सौदे का अभाव था, अच्छे संचालक एवं प्रबन्ध-कर्ता कठिनाई से मिलते थे, इन अभिकर्ताओं ने भारत के औद्योगिक संगठन में एक सुदृढ़ स्तम्भ का कार्य किया, जिससे भारतीय उद्योग उत्तरोत्तर प्रगति की ओर अग्रसर होता रहा। यह सत्य है कि प्रत्येक औद्योगिक ढांचा, जो कि प्रारम्भ में खड़ा किया गया था, उसका स्वरूप आज पहले ढांचे से बिलकुल भिन्न है। किन्तु प्रारम्भिक ढांचे को बनाने में जितना प्रयत्न इन प्रबन्ध अभिकर्ताओं ने किया, वह निःसन्देह सराहनीय है। यद्यपि आज हमारे देश के उद्योग-धन्धों को इनकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, तथापि हमको यह नहीं भुला देना चाहिये कि उस समय जबकि देश में इस प्रकार के विकास की नितान्त आवश्यकता थी, केवल प्रबन्ध-अभिकर्ता ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने उसके उतार-चढ़ाव को सहन कर उसको एक प्रगति के प्रशस्त मार्ग पर प्रतिष्ठित किया।

प्रारम्भ में प्रबन्ध अभिकर्ताओं की चाहे कितनी ही आवश्यकता रही हो, किन्तु आज देश की राजनीतिक तथा औद्योगिक परिस्थिति को देखते हुए यह कहना सम्भव हो गया है कि पहले तो प्रबन्ध अभिकर्ताओं की व्यापारिक प्रबन्ध में किसी प्रकार की आवश्यकता नहीं है और यदि है भी, तो उसको अत्यन्त नियंत्रित होना चाहिये। 'भाभा कमेटी' ने बताया कि इस विषय में उनके पास जितने भी विचार आये, उनमें यही स्पष्ट किया है कि अभिकर्ता के ढांचे में परिवर्तन अवश्य हो जाना चाहिये, समाप्त नहीं कर देना चाहिये, और स्वयं कमेटी ने भी यही सुझाव दिया है। कमेटी का मत है कि देश की आर्थिक व्यवस्था को देखते हुए यह लाभप्रद होगा कि हम प्रबन्ध-अभिकर्ता-पद्धति पर अपने प्रबन्ध को चलाते रहें; किन्तु उनमें जो बुरी प्रवृत्तियाँ प्रचलित हैं उनमें निश्चित रूप से सुधार किया जाना चाहिये। नवीन

प्रमण्डल विधान में प्रबन्ध अभिकर्ताओं पर अनेक प्रतिबन्ध तथा नियन्त्रण लगा दिये गये हैं। उनका वर्णन यथास्थान किया जायगा।

भारतवर्ष में प्रबन्ध-अभिकर्ता के कार्य*

(Functions of Managing Agents in India)

भारतवर्ष में प्रबन्ध अभिकर्ताओं की स्थिति किसी भी नवीन उद्योग, व्यवसाय को प्रारम्भ करने वाले प्रवर्तकों के समान है। उनको *कम्पनी की स्थापना करके उसका* प्रारम्भ करना होता है, उसके लिए पर्याप्त पूँजी को जुटाना होता है तथा उसके विकास के लिए कम्पनी का सचालन करना पड़ता है। इस प्रकार वह कम्पनी के व्यवस्थापक, पूँजीपति तथा सचालक का कार्य करता है।

(१) **कम्पनी का प्रवर्तन** (Promotion of Company)—हमारे देश के उद्योगों का प्रवर्तन तथा सस्थापन देश के अभिकर्ताओं ने ही किया है। अमेरिकन गृहयुद्ध के कारण व्यापारियों ने कपास में अच्छी लाभदायक परिकल्पना की और उसमें बहुत सा धन कमा कर उसका विनियोग कपड़े की मिलों में करना प्रारम्भ किया। अहमदाबाद तथा बम्बई में प्रायः जितनी भी कपड़े की मिलें हैं, उनका प्रवर्तन इन्हीं लोगों ने किया है। इसके अलावा जूट, कोयला, लोहा आदि का प्रवर्तन भी इन्हीं प्रबन्ध अभिकर्ताओं के द्वारा किया गया और आज भी ये उद्योग प्रायः इन्हीं लोगों से सचालित तथा नियन्त्रित हैं। इसका एक सुन्दर एवं सचित्र उदाहरण—श्री जमशेदजी टाटा का है। इन्होंने भारतवर्ष में केवल लोहे के उद्योग को ही जन्म नहीं दिया, अपितु उसकी इस प्रकार की योजना बनाई है कि भारत का लोह उद्योग आज *दुनिया में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।* इसके *साथ-साथ* उन्होंने तेल, साबुन, सुगन्धि, इजीनियरिंग, कपड़ा, उद्योग विद्युत-शक्ति आदि अनेक उद्योगों को प्रोत्साहन दिया है। इसी प्रकार बिरला ब्रादर्स तथा डालमिया जैन लिमिटेड भी भारतवर्ष के अत्यन्त शक्तिशाली प्रबन्ध-अभिकर्ताओं में से हैं। इनके द्वारा भी उद्योग तथा व्यापार का कोई क्षेत्र अछूता नहीं है। बिरला ब्रादर्स ने कपड़े, चीनी, कागज, साइकल, मोटर तथा जहाजी उद्योगों का निर्माण तथा उनका प्रवर्तन किया। इसके साथ-साथ उन्होंने बीमा, हवाई यातायात, अधिकोषण आदि का व्यापार भी प्रारम्भ किया है। इसी प्रकार डालमिया जैन लिमिटेड ने सीमेंट का उद्योग खोल कर देश में उसकी बाहुल्यता कर दी है। इसके साथ-साथ कोयले की खानों, चीनी-उद्योग, विद्युत-प्रदाय, लाइट रेलवे, पत्र-प्रकाशन, अधिकोषण, यातायात आदि व्यवसायों का प्रवर्तन भी

* **शास्त्री कमेटी के आधार पर कम्पनियों का जो संशोधित बिल बना है वह कम्पनी के अध्यायों के अन्त में दिया गया है। प्रबन्ध अभिकर्ताओं से सम्बन्धित परिवर्तन इसी परिशिष्ट में देखिये।**

डालमिया जैन लिमिटेड ने किया है। इन भारतीय अभिकर्ताओं के कितने ही कार्य हानि पर चल रहे है, किन्तु व्यापारिक प्रतिष्ठा को कायम रखने के लिये वे उन व्यवसायो को आज भी चला रहे हैं।

विदेशी प्रबन्ध-अभिकर्ताओं का धीरे-धीरे भारतवर्ष से लोप होता जा रहा है और या तो भारतीय अभिकर्ता उनके व्यापार को हस्तगत कर रहे हैं, जैसे—डालमिया ने ब्रिटिश मैनेजिंग एजेन्सी, एलन बेरी इञ्जीनियरिंग तथा बेनेट कोल्मेन एण्ड कं० लि० आदि को खरीद लिया है तथा कुछ का स्वय विलीयन हो रहा है। इस प्रकार विदेशी प्रबन्ध अभिकर्ताओं को, जो एक समय देश के औद्योगिक विकास तथा प्रवर्तन मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते थे, धीरे धीरे विलीन होते चले जा रहे हैं।

उद्योग तथा व्यावसायिक संस्थाओं के प्रवर्तन के लिये प्रारम्भ मे इन लोगों को पूँजी का प्रबन्ध करना होता था। उसके लिये सचालन तथा तान्त्रिक सहायता का प्रबन्ध भी करना पडता था, क्योकि जनता उसके अंशो अथवा प्रतिभूतियो का क्रय करने के लिये तब ही लालायित होती थी, जब उसको पूर्ण विश्वास हो जाता था कि धन लगाने से उसको लाभ होगा। इस प्रकार अभिकर्ताओं को केवल नया व्यापार ही नही ढूँढना होता था, अपितु उसको प्रारम्भ करके इस योग्य बना देना होता था कि वह विनियोक्ताओं को आकर्षित कर सके। इस प्रकार भारतवर्ष मे प्रबन्ध अभिकर्ताओं ने व्यवस्थापक, पूँजीपति तथा व्यापार-प्रबन्धक का कार्य एक साथ अपने ऊपर लिया।

(२) **कम्पनियों की अर्थ-व्यवस्था** (Financing of Companies)—जैसा ऊपर बताया जा चुका है कि अभिकर्ताओं को कम्पनी की अर्थ व्यवस्था का भार स्वय अपने ही ऊपर उठाना होता है। इसलिये उनको कम्पनी के आर्थिक अभावों की पूरी व्यवस्था करनी पडती है। अभिकर्ता कम्पनी को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष आर्थिक योग देते हैं। प्रत्यक्ष योग कम्पनी के अंशों तथा ऋणपत्रों को खरीद कर दिया जाता है अथवा कम्पनी को ऋण देकर अथवा उसमें अपना रुपया जमा करके किया जाता है। जब कम्पनी की अवस्था बहुत डांवाडोल हो जाती है तो अपनी व्यापारिक प्रतिष्ठा रखने के लिये तथा कम्पनी के प्रति लोगों के विश्वास को स्थायी रखने के लिये अभिकर्ता स्वय बहुत बडी हानि उठाकर कम्पनी की आर्थिक स्थिति को स्थिर रखते हैं और जब कम्पनी अपने पैरों पर खडी हो जाती है, उसी समय वे शनैः शनैः अपना रुपया वापिस ले लेते है। कभी-कभी प्रबन्ध अभिकर्ताओं के स्वयं के बैंक होते हैं और कम्पनी की आवश्यकता के समय बैंक से धन लगा कर उसके आर्थिक संकट को दूर करने मे सफल होते हैं। इसमे साधारण अंशधारियों को कम्पनी के ऊपर विश्वास जम जाता है और वे बिना किसी शंका के अंशो को खरीद लेते है और कम्पनी का आर्थिक संकट समाप्त हो जाता है।

अभिकर्ताओं द्वारा अप्रत्यक्ष आर्थिक योग का अर्थ यह है कि उन लोगों के कम्पनी मे होने के कारण अन्य पक्ष कम्पनी को आर्थिक योग दे देते है। अच्छे अभिकर्ताओं के होने से जनता के लोग अपने धन को कम्पनियों मे जमा कर देते हैं और कम्पनियाँ उस धन का प्रयोग सुगमता से कर लेती है। बम्बई और अहमदाबाद मे इस प्रकार की पद्धति बहुत कुशलता के साथ कार्य कर रही है। यहाँ पर यह सिद्ध हो गया है कि अभिकर्ता जितनी अधिक प्रतिष्ठा तथा साख वाला व्यक्ति होगा, उसकी कम्पनी में लोग उतना ही अधिक धन जमा करेंगे और उनको साख पर कम्पनी को बैंकों से भी आसानी से ऋण मिल सकेगा। भारतवर्ष मे अभी तक इस प्रकार की संस्थाओ की प्रचुरता नहीं है, जिनके द्वारा कम्पनियों को समय पर आवश्यक धन प्राप्त हो सके। इसलिये अभी तक इनकी महत्ता किसी प्रकार मे भी कम नही हुई है। भारतीय औद्योगिक विकास मे देखा गया है कि कोई भी अर्थ-व्यवस्था करने वाली संस्था तब तक विकसित नही हो सकी, जब तक उसको कम्पनी के प्रबन्ध-अभिकर्ता की सहायता नही मिली। इतना ही नही, बैंक कम्पनी को ऋण देते समय कम्पनी की आर्थिक स्थिति की ओर विशेष ध्यान न देकर पहले यह देखते हैं कि अभिकर्ता की आर्थिक स्थिति कैसी है और कम्पनी की उन्ही प्रतिभूतियों का पूर्व प्रापण करते हैं, जिन पर उनके अभिकर्ताओं के हस्ताक्षर रहते हैं। इसके अतिरिक्त कम्पनी के अभिकर्ता जिन कम्पनियों का प्रबन्ध करते हैं, उनमे से जिसकी अच्छी आर्थिक अवस्था रहती है उसके अधिक धन को वे अपनी उन कम्पनियों को दिला देते है, जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं रहती। इस प्रकार अपनी कम्पनियों की आर्थिक स्थिति को वे लोग कभी भी बिगडने नही देते।

इसमे तो कोई सन्देह नही कि प्रबन्ध अभिकर्ता कम्पनी को बहुत बड़ा आर्थिक योग देते हैं, किन्तु उनके आर्थिक योग के इतिहास ने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रबन्ध-अभिकर्ता अपने हित के लिये कम्पनियों की आर्थिक व्यवस्था मे अनेक परिवर्तन कर देते हैं; जैसे—अपने द्वारा दिये गये ऋण के ऋण-पत्रों या अंशो मे बदल देना या अपने अंशों तथा ऋण-पत्रों को जनता मे बेच देना अथवा ऋण मे बदल देना, कम्पनी के ऋण-पत्रों का निर्गमन कराना आदि। भाभा कमेटी ने इसके लिये निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये है—

(१) *अभिकर्ताओं को ऋण-पत्र निर्गमन का अधिकार नहीं होना चाहिये।*

(२) अंशो का याचित् धन प्राप्त नही करना चाहिये।

(३) कम्पनी मे संचालक द्वारा निर्धारित सीमा के बाहर ऋण नही लेना चाहिये।

(४) कम्पनी के कोष का विनियोग करने का अधिकार नहीं होना चाहिये।

(५) संचालकों द्वारा निश्चित सीमा के बाहर ऋण देने का अधिकार नहीं देना चाहिये।

(६) एक ही प्रबन्ध में रहने वाली कम्पनियों को यदि उनमें से कोई कम्पनी किसी दूसरी कम्पनी के अंशों को खरीदे तो उसकी प्रदत्त-पूंजी दश प्रतिशत से अधिक पूँजी उसमें नहीं लगानी चाहिये और जिस कम्पनी के अंश खरीदे जा रहे है उसके २० प्रतिशत पूँजी से अधिक नही होने चाहिये।

(७) यदि प्रबन्ध-अभिकर्ता किसी प्रकार से दिये गये नियमों का उल्लंघन करे, तो उस समस्त ऋण-का रुपया अभिकर्ताओं से वसूल किया जाना चाहिए। और

(८) जो कोई भी ऋण इन कम्पनियों द्वारा लिया जाय, उसके लिये लिये एक विशेष प्रस्ताव पास होना चाहिए।

(३) प्रबन्ध अभिकर्ताओं द्वारा कम्पनी का प्रबन्ध (Management of Company)—कम्पनी के प्रबन्ध में प्रबन्ध अभिकर्ताओं का पूर्ण अधिकार है। कम्पनी के प्रवर्तक होने के नाते उनको व्यापार की समस्त योजनाएँ बनानी पड़ती है तथा उन योजनाओं को कार्यान्वित करना होता है। वह कम्पनी के साथ एक अनुबन्ध करके अपने अधिकारों को निश्चित कर लेता है। यह अनुबन्ध कम्पनी के प्रारम्भिक संचालकों के साथ किया जाता है और भविष्य में कर्मचारियों में किसी प्रकार के परिवर्तन करने की शक्ति नहीं होती। अंग्रेजी अभिकर्ताओं के समय में जब कि कम्पनी कानून नहीं बना था, कम्पनी के प्रबन्ध का पूर्ण अधिकार उन्हीं के हाथों में होता था। अपने दीर्घ अनुभव के कारण अभिकर्ताओं ने कम्पनी का प्रबन्ध बड़ी कुशलता के साथ किया है और उन्होंने जिस किसी कम्पनी की व्यवस्था अपने हाथ में ली है, उसको उच्च शिखर तक पहुँचाने का प्रयत्न भी किया है। ये लोग भिन्न-भिन्न व्यापारों के लिये आवश्यक योग्यता तथा अनुभव प्राप्त कर लेते है, जिससे कम्पनियों के संगठन का अत्यन्त कुशलता के साथ प्रबन्ध करते हैं। ये लोग अपने लिये तान्त्रिक विशेषज्ञों, प्रबन्ध में अनुभवी लोगों तथा अन्य कई प्रकार के व्यवसायों के कुशल व्यक्तियों को रखते हैं, जिनके द्वारा वे कम्पनी का संचालन कुशलता से चला सकते हैं। इनके साथ-साथ वे कम्पनियों में भी अत्यन्त कुशल एवं अनुभवी कार्यकर्ताओं की नियुक्ति करते है। प्रबन्ध अभिकर्ता कम्पनी की वस्तुओं का क्रय विक्रय बड़ी मितव्ययता के साथ करते है। वे क्रय-विक्रय बहुत बड़ी मात्रा में करते है, इसलिये दोनों में उनके द्वारा नियन्त्रित कम्पनियों को लाभ रहता है। वे समस्त एक ही प्रकार की कम्पनियों का विज्ञापन एक साथ करते है, जिससे उन कम्पनियों का विज्ञापन-व्यय प्रति कम्पनी बहुत कम होता है।

इस प्रकार अभिकर्ता को कम्पनी का निर्माण, आर्थिक योग, तथा व्यवस्था-सम्बन्धी कार्यों के साथ-साथ कम्पनी के लिये आवश्यक माल तथा मशीनें खरीदना,

वस्तुओं का उत्पादन तथा निर्माण करना, उत्पादित वस्तुओं का विक्रय करना, बैंक, बीमा, यातायात आदि का कार्य भी करना है।

कम्पनी-लॉ-कमैटी ने इनकी कार्य-व्यवस्था को देखते हुए यह पाया है कि प्रबन्ध-अभिकर्ता पुराने विधान के अनुसार कम्पनी के संचालकों में इस प्रकार का अनुबन्ध करते हैं कि जिससे उनका कार्यालय उनकी इच्छा के अनुसार बढ़ाया जाना है और उनका निकाला जाना कठिन हो जाना है। अंशधारियों का उन पर बहुत कम नियन्त्रण रहता है। वे इस प्रकार का विधान करते हैं, जिसमें संचालक सभा में ⅓ की सीमा से अधिक उनके संचालक आ जाते हैं। २० साल की अवधि के बाद अभिकर्ता इस प्रकार की युक्ति पहले ही कर लेते हैं कि उनका दुबारा निर्वाचन किया जा सके। सन् १६१३ तथा १६३६ के संशोधित प्रमण्डल विधान में अंशधारियों की सुरक्षा तथा उन पर कानूनी नियन्त्रण रखने के लिये अनेक धाराएँ बनाई गई थीं। सन् १६५६ के नवीन कम्पनी अधिनियम में तो उन पर पूर्ण नियंत्रण करने का प्रयत्न किया गया है। कानून बनाने से पूर्व प्रबन्ध-अभिकर्ताओं पर नियन्त्रण रखने के लिए अनेक सुझाव दिये गये थे। किन्तु कानून के बन जाने के बाद भी बहुत बड़ी सीमा तक प्रबन्ध अभिकर्ताओं को काफी छूट हैं और अब भी उनके शोषण के अनेक मार्ग हैं। इस विषय पर अधिक विवाद न करके यहाँ पर कम्पनी-ला-कमैटी के सुझावों को दिया जाता है—

(१) प्रबन्ध-अभिकर्ताओं द्वारा जो व्यय होता है, उस पर अधिक पारितोषिक कम्पनी के विशेष प्रस्ताव के द्वारा ही दिया जाना चाहिए।

(२) प्रबन्ध-अभिकर्ता के साथ इस प्रकार के जितने भी समझौते हों, उनकी शर्तें विशेष प्रस्ताव के द्वारा ही हल की जानी चाहिए।

(३) यदि कम्पनी द्वारा किसी प्रबन्ध-अभिकर्ता को कोई, माल, सामान सम्पत्ति या धन दिया गया हो, तो उसका शोधन एक मास के अन्दर अन्दर हो जाना चाहिये।

(४) इस प्रकार के अनुबन्ध में जो कुछ विवरण दिया गया हो, वह अनुबन्ध के रजिस्टर में लिख देना चाहिये और साथ ही अंशधारियों को उसका निरीक्षण करने का अधिकार होना चाहिये।

(५) कम्पनी तथा अभिकर्ता के इस प्रकार के अनुबन्ध की अवधि पाँच वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिये।

(६) यदि अभिकर्ता किसी अन्य पक्ष को कोई माल बेचता है और उसके लिए कमीशन प्राप्त करता है तो वह इस कमीशन को तभी प्राप्त कर सकता है, जबकि इसकी स्वीकृति एक साधारण प्रस्ताव के द्वारा दे दी गई हो।

(७) अन्य पक्ष तथा अभिकर्ता में जितनी भी शर्तें हुई हों, उनको एक रजिस्टर में लिख देना चाहिये और उसके निरीक्षण का अधिकार अंशधारियों को भी प्राप्त होना चाहिये।

(८) प्रबन्ध-अभिकर्ता कम्पनी के साथ किसी भी प्रकार का प्रतिद्वन्द्वी व्यापार नहीं कर सकता।

(९) उसके कार्यालय की अवधि २० वर्ष से घटाकर १५ वर्ष कर दी गई है।

(१०) उसके हट जाने पर यदि उसका पारिश्रमिक शेष रह जाय, तो उसको कार्यालय तो तत्काल ही छोड़ देना पड़ेगा और उसकी श्रेणी साधारण साहूकारों में हो जायगी।

(११) अंशधारियों को प्रबन्ध-अभिकर्ता की नियुक्ति के अनुबन्ध में संशोधन करने का अधिकार होगा।

(१२) प्रबन्ध अभिकर्ता की विशेष सेवा करने पर भी उस पारिश्रमिक से अधिक पारिश्रमिक नहीं मिलेगा, जो उसके साथ पहले निश्चित किया जा चुका है।

(१३) प्रबन्ध-संचालक या प्रबन्धकों की नियुक्ति में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि प्रबन्धक एक ही व्यक्ति हो।

(१४) कोई भी व्यक्ति दो कम्पनियों से अधिक का प्रबन्ध संचालक या प्रबन्धक नहीं बन सकता और दूसरी कम्पनी के प्रबन्धक बनने के लिए उसको संचालक सभा की सर्व सम्मति की अनुमति लेना आवश्यक है।

(१५) प्रबन्ध-संचालक का कार्यकाल पाँच वर्ष से अधिक नहीं होना चाहिए। किन्तु तान्त्रिक योग्यता के लिए इस प्रकार की अवधि में परिवर्तन किया जा सकता है।

(१६) प्रबन्ध-संचालक या प्रबन्धकों को यदि लाभ में से कमीशन दिया जाना हो, तो कमीशन किसी निश्चित नियम के अनुसार दिया जाना चाहिए।

(१७) यदि प्रबन्ध-संचालक अथवा प्रबन्धक को कोई वर्तन दिया जाना हो तो उसी प्रकार से दिया जा सकेगा, जिस प्रकार प्रबन्ध अभिकर्ताओं को मिलना चाहिये।

ऊपर दिये गये सुझावों का एकमात्र अभिप्राय यह है कि प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के समस्त कार्यों पर पूर्णरूप से नियंत्रण किया जा सके तथा कम्पनी का प्रबन्ध अधिक-से-अधिक प्रजातन्त्री तथा कुशल ढंग पर किया जा सके। उपर्युक्त समस्त सुझावों का किसी-न-किसी रूप से नवीन कम्पनी अधिनियम में समावेश किया जा चुका है।

प्रबन्ध अभिकर्ताओं के गुण तथा दोष
(Advantages and Disadvantages of Managing Agents)

गुण (Advantages)—भारतीय औद्योगिक विकास मे प्रबन्ध-अभिकर्ताओ का महत्वपूर्ण स्थान है। पिछले विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि प्रबन्ध अभिकर्ताओ के कारण ही आज भारतीय उद्योग उस सीमा पर पहुँच सका है और उसको ध्यान मे रखकर हम प्रबन्ध-अभिकर्ता-पद्धति के निम्नलिखित लाभ गिन सकते हैं—

(१) उन्होने भारत मे प्रारम्भिक उद्योगो मे होने वाली असफलताओ का सामना करके सुदृढ औद्योगिक विकास की नीव डाली।

(२) उन्होंने व्यापार एव उद्योग के प्रारभिक नये-नये व्यवसायो को जन्म दिया तथा जनता मे नये उद्योगो के प्रति विश्वास पैदा किया जिससे उद्योगो में निरन्तर वृद्धि होती चली गई। प्रबन्ध-अभिकर्ताओ ने प्रारम्भिक जोखिमो को अपने ऊपर लेकर व्यवसायो का प्रवर्तन किया।

(३) उनकी व्यापारिक तथा व्यक्तिगत प्रतिष्ठा तथा आर्थिक स्थिरता के कारण नव-निर्मित कम्पनियो को भी सुगमता से अंश-निर्गमन की सुविधा प्राप्त हो सकी।

(४) प्रबन्ध अभिकर्ता कम्पनियो का अनेक प्रकार से आर्थिक योग देते है। वे समय-समय पर उनके अंशों को खरीद कर या स्वय ऋण देकर अथवा अपने प्रभाव से ऋण दिलवाकर उनको आर्थिक सकटों से मुक्त करते है।

(५) आधुनिक वृहत व्यापार के लाभ प्रबन्ध-अभिकर्ताओ के ही कारण सम्भव हो सकते है। इनके प्रयत्नो के द्वारा बडे-बडे व्यापार एवं व्यवसायो का निर्माण हुआ और अपने अनुभव तथा परिश्रम से ये उनको उन्नति के शिखर तक पहुँचाने मे सफल भी हुए है।

(६) प्रबन्ध-अभिकर्ता एक साथ अनेक कम्पनियों को संरक्षण देते है जिससे उनके अधीन रहने वाली समस्त संस्थाओ के बीच स्वाभाविक संयोग (Combination) स्थापित हो जाता है। संयोग के द्वारा उनको अनेक लाभ होते है, (इनका वर्णन संयोग के अध्याय मे किया जायगा)।

(७) प्रबन्ध-अभिकर्ताओ को व्यापार का पूर्व अनुभव तथा तात्रिक ज्ञान होता है। इसलिए उनके हाथो मे व्यापार अत्यन्त कुशलता से चलता है तथा अलग-अलग कम्पनियो को उनके तात्रिक ज्ञान का सुगमतापूर्वक लाभ हो जाता है।

(८) इनके द्वारा कम्पनियो की साख (Credit) बढ़ जाती है। भारतवर्ष मे आज भी जिस कम्पनी मे प्रतिष्ठित प्रबन्ध-अभिकर्ता होते है, उनकी स्थिति अन्य कम्पनियो से हमेशा अच्छी रहती है, और लोग समझते है कि उनका दिवाला आसानी से नही निकलेगा। अतः उनमे विनियोग अधिक होता है।

(९) प्रबन्ध-अभिकर्ताओं ने संयोग आन्दोलन को बहुत बडी सीमा तक प्रोत्साहित किया है। इसलिए उनमे आपस की प्रतिद्वन्द्विता भी बहुत बडी सीमा तक मिट गई है और वे एक-दूसरे के सहयोग की अपेक्षा करते है।

(१०) अभी तक हमारे देश में विनियोक्ताओं का अभाव है और इस प्रकार की सस्थाएँ भी नही है जो विनियोक्ताओं (Investors) को सही मार्ग का निर्देशन कर सकें। इस कार्य को भी प्रबन्ध अभिकर्ताओं ने बडी कुशलता से पूरा किया है। इन्होने अपने प्रभाव से निष्क्रिय धन को उद्योगो मे लगाकर उनके आर्थिक सकट को ही दूर नही किया, अपितु देश मे पूंजी के प्रवाह को भी सहायता पहुँचाई है।

(११) यह देखने मे आया है कि प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के नियंत्रण मे रहने वाली कम्पनियाँ बडी सुविधा से एक-दूसरे को आर्थिक योग देती है और इस सहकारी भावना के कारण उनका आर्थिक संकट प्रायः समाप्त हो जाता है।

(१२) प्रबन्ध-अभिकर्ता कम्पनियों की कार्य-क्षमता तथा मितव्ययता के लिए कम्पनियों का विवेकीकरण (Rationalisation) करते है जिससे उनके अधीन कम्पनियों की कार्य-क्षमता बढ़ती है। इस क्रिया के अन्तर्गत वे कम्पनियाँ ही कार्य करती है जिनको उसमे विशिष्टता प्राप्त हो। कार्य करने वाली कम्पनियों के द्वारा उतना ही उत्पादन किया जाता है, जितने की आवश्यकता हो और बाजार नियंत्रित किया जा सके।

दोष (Disadvantages)—यद्यपि प्रबन्ध अभिकर्ता पद्धति से हमारे व्यापार एवं व्यवसाय को अनेक लाभ हुए है, किन्तु वर्तमान परिस्थितियों मे इनकी व्यवस्था में अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो गये हैं। उनका वर्णन नीचे किया जाता है—

(१) प्रबन्ध अभिकर्ता कम्पनी के प्रबन्ध तथा व्यवस्था पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेते है। कम्पनी के प्रवर्तक होने के कारण वे उसमे इस प्रकार के सचालकों की नियुक्ति करते है, जो प्रायः पूर्ण रूप से उनके अधिकार मे होते है और इसलिए उनके साथ अपनी इच्छा के अनुसार अपने कार्यालय के लिए अनुबन्ध कर लेते है। प्रबन्ध सचालक की नियुक्ति इन्हीं के हाथ मे होने के कारण, कम्पनी के प्रत्येक क्षेत्र मे इनका पूर्ण रूप से प्रभुत्व होता है। इन पर अंशधारियों का प्रभुत्व न होने के कारण, ये लोग अंशधारियो तथा संचालकों के निर्णयों की आसानी से अवहेलना कर सकते हैं। इस प्रकार इनका कम्पनी के ऊपर प्रायः एकाधिकार सा हो जाता है।

(२) प्रबन्ध अभिकर्ताओं का विशेष रूप मे धनाढ्य होने के कारण उतनी तान्त्रिक योग्यता नहीं रखते जितनी आर्थिक, और इसलिए उनमे आर्थिक सहायता

प्राप्त करना तो सरल है जिसके कारण कम्पनी पर उनका आर्थिक आधिपत्य हो जाता है और इस परिस्थिति का उपयोगी लाभ उठाकर वे अपने कार्यालय को दूसरों को बेचने में सफल हो जाते है।

(३) प्रबन्ध-अभिकर्ताओं का एक सब से बड़ा दोष यह भी है कि उनकी सेवाओं के लिए बहुत अधिक धन दिया जाता है, और जो कम्पनी की किसी भी आर्थिक स्थिति मे रहने पर मिलता रहता है। ये कितने ही रूप मे कम्पनी से धन लेते है, जैसे—व्यक्तिगत एलाउन्स, उत्पादन कमीशन, वस्तु-क्रय विक्रय पर वर्तन, ऑफिस एलाउन्स, लाभ पर कमीशन आदि। इन वर्तनों मे घटा-बढ़ी होती रहती है। अतः वे हमेशा इस प्रकार के कार्य करते है, जिससे उनका वर्तन बढे। यदि वे किसी एक निश्चित प्रकार से लाभ नहीं कमाये, तो कम्पनी को बहुत बड़ी हानि से बचाया जा सकता है। आम तौर पर देखा गया है कि ये लोग अपने कमीशन को बढाने के उद्देश्य से अधिक वस्तु क्रय, अधिक उत्पादन आदि को प्रोत्साहन देते है। भले ही उससे कम्पनी को हानि हो, परन्तु कम्पनी की हानि की कोई चिन्ता न करके वे वस्तुओं का सस्ते मूल्यों मे विक्रय कर देते है।

(४) प्रबन्ध-अभिकर्ता स्वयं अपने द्वारा नियन्त्रित कम्पनियों के आपस मे ऋण विनिमय की व्यवस्था करके किसी कम्पनी को जिसमे उसे अधिक लाभ न होता हो, एक महान सकट मे डाल देता है, क्योंकि वह उसी कम्पनी की ओर अधिक ध्यान देगा, जिसमे कि उसको विशेष लाभ होता है। यदि उदारतावश वह निर्धन कम्पनियों को धनिक कम्पनियों के द्वारा सहायता दिलवाता है तो सहायता देने वाली कम्पनियों की भी आर्थिक स्थिति बिगड जाती है। सचालकों पर नियन्त्रण होने के कारण अभिकर्ता जिन कम्पनियों का अशों का अभिगोपन करते है, उनको दूसरी कम्पनियों से खरीदवा कर आसानी से अपना कमीशन बना लेते है। इन क्रियाओं से प्रायः क्रेता कम्पनी को हानि उठानी पडती है।

(५) अभिकर्ताओं में एक परिकल्पना (Speculation) विशेष रूप से पाई जाती है। जब किसी प्रबन्ध-अभिकर्ता की अच्छी आर्थिक स्थिति का अन्य लोगों को पता चलता है, तो वे लोग उस कम्पनी के अशों को खरीदने की चेष्टा करते है। जिससे बाजार मे अशों का मूल्य बढ जाता है और प्रत्येक व्यक्ति कम्पनी के अशों को खरीद कर उस पर स्वामित्व प्राप्त करना चाहता है। प्रबन्ध-अभिकर्ता पुनः उनकी बिक्री करके कम्पनी के अशो मे इस प्रकार का चढाव-उतार लाते है, जिससे कम्पनी की आर्थिक स्थिति डांवाडोल हो जाती है। बम्बई मे अभिकर्ताओं की इस प्रकार की क्रियाएँ बम्बई-स्कन्ध विपणि मे स्पष्ट रूप मे दिखलाई देती है। अभिकर्ताओं की इस पारिकाल्पनिक क्रिया से केवल कम्पनी को ही हानि नहीं होती, अपितु सम्पूर्ण व्यापार का विकास ही रुक जाता है।

(६) प्रबन्ध-अभिकर्ताओ के कारण कम्पनी के संचालक अपने कार्यों के लिये प्रायः अभिकर्ताओं के द्वारा प्रतिबन्धित रहते हैं। इसका कारण यह है कि अभिकर्ता पहले ही से अन्तर्नियमो मे अपने अनुकूल नियम बनवा लेते है, और मताधिकार के अंश उन्ही संचालको को दिये जाते है, जो संचालक पथ-प्रदर्शक अभिकर्ता के पक्ष मे रहते है। इस प्रकार संचालक अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करके अभिकर्ताओं के प्रसन्न रखना अपना पावन कर्तव्य समझते हैं। इससे कम्पनी के संचालन मे अत्यन्त शिथिलता आ जाती है और संचालकगण केवल अभिकर्ताओ के हाथो की कठपुतली ही बने रहते है। प्रबन्ध-अभिकर्ता कम्पनी के समस्त प्रबन्ध को अपने हाथ में लेकर संचालको को केवल उनका मासिक वेतन लेने के लिये ही विवश कर देते हैं और उनके पास किसी प्रकार के अधिकार नही रह जाते।

(७) अनुबन्ध के अनुसार कम्पनी का प्रबन्ध-अभिकर्ता २० वर्ष तक कम्पनी का अभिकर्ता बना रहता है जिसके परिणाम स्वरूप किसी प्रबन्ध अभिकर्ता की मृत्यु हो जाने पर उसके उत्तराधिकारी प्रबन्ध-अभिकर्ता का कार्य करने लगते हैं, जिसकी कम्पनी के प्रबन्ध मे एक अयोग्यता एवं शिथिलता आ जाती है। क्योंकि यह आवश्यक नही, कि जिस काम मे पिता योग्य है, तो उसका पुत्र भी उस कार्य मे उतना ही योग्य होगा।

(८) कम्पनी के प्रबन्ध-अभिकर्ता होने के कारण इनको कम्पनी की समस्त आन्तरिक बातो का पता रहता है। अपने निजी लाभ के लिये वे उन सूचनाओ का दुरुपयोग करके लाभ कमाते हैं। प्रायः देखा गया है कि परिकल्पना का आधार बहुत बड़ी सीमा तक इस प्रकार की सूचनाएँ ही है।

(९) यद्यपि प्रबन्ध-अभिकर्ता क्रय-विक्रय के लिए कम्पनी के अंशधारियो तथा संचालको के आधीन रहता है, किन्तु अपनी व्यापारिक जानकारियो तथा कम्पनी की आन्तरिक स्थिति से पूर्णतः परिचित होने कारण वे अन्य व्यक्तियो से गुप्त व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं जिसके कुपरिणाम स्वरूप कम्पनी के अंशधारी प्रायः धोखा खाते देखे गये हैं।

(१०) वैधानिक रूप से कम्पनी अपने अभिकर्ता को किसी प्रकार का ऋण नही दे सकती। किन्तु व्यवहार मे यह देखा गया है कि अभिकर्ता कम्पनी का बहुत सा धन अपने निजी प्रयोग मे लाते हैं। जिस धन को वे अपने उपयोग मे लाते हैं, वह प्राय. फिर उसी रूप मे वापिस नही चुकाया जाता और धीरे-धीरे अभिकर्ता के निजी हिसाब में समाविष्ट होता रहता है।

(११) प्रबन्ध-अभिकर्ता कम्पनी के लाभ को अंशधारियो मे न बाँट कर उसको कम्पनी के विस्तार में ही लगा देते हैं। कम्पनी के विस्तार से अंशधारियों को लाभ हो या न हो, किन्तु उनका कमीशन तो बढ ही जाता है और कम्पनी की

पूंजी का एक विशेष भाग उनके अधीन हो जाता है। वे उस विस्तार को बढ़ाकर अपने निजी लोगों की नियुक्ति कर देते हैं। इससे उनका कमीशन तो बढ़ता ही है, साथ ही उनके सम्बन्धियों को आजीविका भी प्राप्त हो जाती है। कभी-कभी इस प्रकार का विस्तार कम्पनी के अंशधारियों के लिये बहुत हानिप्रद सिद्ध होता है। किन्तु उनकी विशेष आवाज न होने के कारण वे उनके कार्यों में विशेष नहीं बोल सकते, और कम्पनी के लाभ का दुरुपयोग होता रहता है।

(१२) कम्पनी के संचालकों पर प्रबन्ध-अभिकर्ताओं का बहुत अधिक प्रभाव रहता है। इसलिये दोनों मिल करके नवीन अनिश्चित कार्यों में तथा परिकल्पित सौदों में कम्पनी का बहुत सा रुपया लगा देते हैं जिससे अधिकांश कम्पनी की निधि का दुरुपयोग ही होता है, और यदि लाभ हुआ तो वह सचालकों तथा अभिकर्ताओं की जेब में जाता है।

(१३) प्रबन्ध-अभिकर्ता एक या दो कम्पनियों का ही प्रबन्ध नहीं करते, अपितु इनके अधीन अनेक कम्पनियाँ रहती हैं। इस प्रकार से इनका कार्य भार तो बढ़ता ही है, साथ में कम्पनियों की व्यापारिक गोपनीयता भी पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है और अभिकर्ता जिस कम्पनी में अधिक रुचि रखता है, उसको बहुत अधिक लाभ होता है। इसके अतिरिक्त अभिकर्ता इतनी अधिक कम्पनियों का प्रबन्ध भी ठीक रूप से नहीं कर सकते और इसके लिये अपने सम्बन्धियों को चाहे वे योग्य हों अथवा नहीं, अपने कार्य के लिये नियुक्त कर देते हैं। इस प्रकार कम्पनी का प्रबन्ध बिगड़ता चला जाता है।

प्रबन्ध अभिकर्ताओं की नियुक्ति
(Appointment of Managing Agents)

एक समस्या (A Problem)—कम्पनी विधेयक के संशोधन पर केन्द्रीय वाणिज्य-मन्त्रणालय के स्मरण-पत्र में सिफारिश की गई है कि सीमित कम्पनी को प्रबन्ध-अभिकर्ता बनने का अधिकार नहीं होना चाहिये, क्योंकि अभिकर्ताओं का यदि दायित्व सीमित हो जायेगा तो किसी कठिनाई के समय यह जानना हमेशा कठिन हो जायगा कि प्रबन्ध-अभिकर्ता-कम्पनी के किस सदस्य के द्वारा वह अनुत्तरदायित्वपूर्ण कार्य किया गया है, और सीमित दायित्व के होने की अवस्था में उनके सदस्यों को प्रतिबन्धित नहीं किया जा सकेगा। इसलिये निजी कम्पनियों को ही प्रबन्ध-अभिकर्ता बनने का अधिकार होना चाहिये। सरकार को यह सिफारिश इसलिये करनी पड़ी है कि युद्ध काल में अनेक निजी कम्पनियाँ सार्वजनिक कम्पनियों में बदल गईं, और सरकार यह समझ बैठी कि उनका सीमित दायित्व हो जाने से उनके कार्यकर्ता अव्यवस्थित कम्पनी का कुप्रबन्ध करेंगे अथवा उसके धन का दुरुपयोग करेंगे, किन्तु यह सोचना ठीक नहीं है। इस दिशा में हम कम्पनी-कानून-कमेटी के सुझाव से सहमत

है कि प्रबन्ध अभिकर्ता यदि सार्वजनिक कम्पनियाँ भी हों तो अच्छा होगा, क्योंकि उसके कार्यकर्ताओं पर तो वैधानिक नियंत्रण रहेगा ही। उनको अपने अन्तिम हिसाब का प्रकाशन अथवा अन्य प्रकार से अपनी स्थिति का प्रकाशन करना पड़ेगा, जिसमें जनता उनकी असली स्थिति को जान सकेगी। इस प्रकार अभिकर्ताओं की नियुक्ति के लिये व्यक्ति, साझेदारी निजी कम्पनी अथवा सार्वजनिक कम्पनी भी हो सकती है।

अब दूसरा प्रश्न प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के कार्य-काल का आता है। पुराने कानून के अनुसार उनका कार्य-काल १५ वर्ष तक के लिए निश्चित कर दिया गया है। इस अवधि के लिए लोगों में बड़ी चर्चा है। कुछ का कहना है कि यह अवधि घटाई जानी चाहिये। किन्तु अभिकर्ताओं के पक्ष वाले कहते हैं कि किसी भी उद्योग को प्रारम्भ करने में कम-से-कम ८–१० वर्ष तो उसके संस्थापन में ही लग जाते हैं। उसके बाद जब व्यापार कुछ उन्नति करने लगता है, और अगर उस समय अभिकर्ता हटा दिया जायेगा तो वह व्यापार में किसी प्रकार का उत्साह ही क्यों दिखायेगा। इस प्रश्न को लेकर व्यापार-जगत में बड़ा भारी आन्दोलन हुआ। किन्तु कम्पनी अधिनियम में अभिकर्ताओं की कार्य अवधि को घटाकर १५ वर्ष कर दिया है, और यदि उनकी पुनः नियुक्ति करनी हो तो उसकी अवधि १० वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिये। नई अवधि के लिए पुनर्नियुक्ति तब की जा सकती है, जब पुरानी के लिए दो वर्ष शेष रह गये हों। धारा ३२८ के अनुसार इस नियम का पालन करना आवश्यक है, अन्यथा पुनर्नियुक्ति अवैध मानी जायगी।

धारा ३२४ के अनुसार अब केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार है कि वह राजपत्र में यह अधिसूचना (Notification) दे सकती है कि जो उद्योग अमुक वर्ग में आते हैं, वे अमुक समय के बाद प्रबन्ध अभिकर्ताओं को नहीं रख सकेंगे। नियमानुसार पहले उन कम्पनियों के हालात की पूरी-पूरी जाँच कर ली जायगी और अधिसूचना ३० दिन पूर्व लोकसभा की स्वीकृति के लिये प्रस्तुत की जायगी। पार्लियामेन्ट में पास हो जाने के बाद उसका प्रभाव यह होगा कि जिन प्रबन्ध-अभिकर्ताओं का कार्य-काल पहले समाप्त नहीं होता, उनको १५ अगस्त १९६० को अपना कार्य समाप्त कर देना पड़ेगा, और उन संस्थाओं में प्रबन्ध-अभिकर्ता पुनः नहीं आ सकेंगे।

पहले प्रबन्ध अभिकर्ता संस्थाओं के भी प्रबन्ध अभिकर्ता होते थे। किन्तु अब न तो वे प्रबन्ध-अभिकर्ता रख सकते, और जिन संस्थाओं में थे, उनका भी अन्त १५ अगस्त १९५६ को कर दिया गया है।

धारा ३२६ के अन्तर्गत शेष अवस्थाओं में यह निश्चित किया गया है कि प्रबन्ध-अभिकर्ता की किसी प्रकार की नियुक्ति के लिये केन्द्रीय सरकार की अनुमति

आवश्यक होगी। सरकार यह देख लेगी कि वह सार्वजनिक हित के विरुद्ध तो नहीं है तथा उसमें ठीक व्यक्ति है या नहीं ? इस प्रकार अब प्रबन्ध अभिकर्ताओं की नियुक्ति सरकार के हाथ में चली गई है।

नौकरी की समस्या
(Problem of Service)

पहले प्रबन्ध-अभिकर्ता अपने पद से समझौते की अवधि से पहले केवल उसी स्थिति में हटाये जा सकते थे, जब वे फौजदारी के अपराध में अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य अपराध में दण्डित किये गये हों। यदि वे इस प्रकार के कार्य को न करके अन्य प्रकार से कम्पनी को नुकसान पहुंचाते हों, तो उनको हटाना प्रायः कठिन हो जाता था। किन्तु नये अधिनियम के बन जाने पर अब प्रबन्ध-अभिकर्ता को कभी भी हटाया जा सकता है। धारा ३३७ के अनुसार निम्नलिखित दशाओं में कम्पनी के सदस्य साधारण प्रस्ताव द्वारा प्रबन्ध अभिकर्ता को हटा सकते है।

(१) यदि उनके द्वारा किसी प्रकार का कपट अथवा नियमों का उल्लंघन हुआ हो।

(२) यदि अन्य सम्मिलित संस्था के कार्यों से सम्बन्धित किसी कपटपूर्ण कार्य को करने या न्यास का भंग करने के कारण, जो किसी न्यायालय में प्रमाणित हो गया हो, हटाया जा सकता है।

(३) यदि प्रबन्ध-अभिकर्ता फर्म को किसी साभेदार, सचालक या अन्य अधिकार रखने वाले किसी अन्य पदाधिकारी द्वारा अपनी या अपने सहायक अथवा सूत्रधारी कम्पनी के कार्यों में कपट किया हो, हटाया जा सकता है।

वह सभा धारा ३३९ के अनुसार किन्हीं दो सचालकों द्वारा बुलाई जा सकती है, और उसमें प्रबन्ध अभिकर्ताओं से लिखित उत्तर माँगा जा सकता है।

यदि कोई प्रबन्ध-अभिकर्ता अपनी इच्छा से कार्य छोड़ना चाहता हो, तो उसको संचालक-सभा को त्याग पत्र प्रस्तुत करना पड़ेगा। उसका त्याग-पत्र तभी स्वीकार किया जा सकेगा, जब सचालक-सभा कम्पनी के अन्तिम खाते तैयार करवा ले तथा उन पर अंकेक्षकों का आलेख्य प्राप्त कर ले, और तदुपरान्त वे सचालक-सभा द्वारा स्वीकार कर लिये जायँ।

धारा ३४३ के अनुसार प्रबन्ध अभिकर्ता अपने पद का हस्तान्तरण बिना साधारण सभा तथा केन्द्रीय सरकार की अनुमति के नहीं कर सकते।

नये अधिनियम के बाद प्रबन्ध-अभिकर्ता का कार्यालय वपौती के रूप में उसके उत्तराधिकारियों को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता। धारा ३४५ के अनुसार प्रबन्ध अभिकर्ता की मृत्यु हो जाने पर उसका उत्तराधिकारी उस पद को तभी ग्रहण कर सकता है, जब पहले केन्द्रीय सरकार की अनुमति प्राप्त कर ली गई हो।

यदि प्रबन्ध-अभिकर्ता-संस्था, फर्म या समामेलित संस्था है और उसके प्रबन्ध में किसी प्रकार का परिवर्तन किया जाता है, तो वह अपने पद पर इस परिवर्तन की तिथि से ६ महीने अथवा इस आशय के लिये केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वीकृति प्रदान न होने पर, अपना कार्य बन्द कर देगी। (धारा ३४६)

उपर्युक्त नियम निजी कम्पनियों पर लागू नहीं होंगे।

प्रबन्ध अभिकर्ताओं का पारिश्रमिक*
(Remuneration of Managing Agents)

विनियोक्ता तथा अंशधारियों के हितों की रक्षा के लिए नये कानून की धारा १९८ में प्रबन्ध अभिकर्ताओं के अधिकतम पारिश्रमिक पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। इस धारा के अन्तर्गत निजी कम्पनियों को छोड़कर सार्वजनिक अथवा सहायक निजी कम्पनियों के संचालक, प्रबन्ध-अभिकर्ता, सचिव तथा कोषाध्यक्ष, (यदि कोई हों) प्रबन्धक, आदि का पारिश्रमिक कम्पनी के शुद्ध लाभ के ११% से अधिक नहीं होना चाहिये। इस प्रतिशत में वह फीस सम्मिलित नहीं है जो वे कम्पनी की सभाओं में भाग लेने लिये लेते हैं। यह प्रश्न कम्पनी कानून से स्पष्ट नहीं है कि धारा ३४९ तथा ३५१ के अन्तर्गत फीस का हिसाब किस प्रकार लगाया जाय। धारा १९८ के अन्तर्गत बिना केन्द्रीय सरकार की अनुमति के न्यूनतम पारिश्रमिक की राशि ५०,००० रुपये से अधिक नहीं हो सकती।

---

* अक्तूबर १९५६ को सरकार ने प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के पारिश्रमिक के लिये निश्चय किया कि उनको कमीशन निम्नलिखित दर से दिया जाय—

	कमीशन
१० लाख या उसके प्रभाग पर	१० प्रतिशत
अगले १० ,, ,,	९ प्रतिशत
अगले १० ,, ,,	८ प्रतिशत
अगले १० ,, ,,	७ प्रतिशत
अगले १० ,, ,,	६ प्रतिशत
अगले २५ ,, ,,	५½ प्रतिशत
अगले २५ ,, ,,	५ प्रतिशत
१ करोड़ या उससे ऊपर की राशि पर	४ प्रतिशत

सरकार इस बात का भी निर्णय करेगी कि प्रबन्ध-अभिकर्ता तथा कम्पनी के बीच जो समझौता हुआ है वह उचित है या नहीं और उनको जो पारिश्रमिक दिया जा रहा है वह ऊपर दी गई तालिका के अनुसार है या नहीं।

संचालको तथा प्रबन्धको को मासिक वेतन दिया जा सकता है, किन्तु धारा २०० के अनुसार आय-कर मुक्त (Income-Tax Free) वेतन नहीं दिया जा सकता।

उच्चतम पारिश्रमिक निर्धारित करने के पश्चात् यह प्रतिबन्ध लगाया गया है कि प्रबन्ध-अभिकर्ता अपनी सेवाओं के लिये कम्पनी के शुद्ध लाभ से १० प्रतिशत से अधिक नहीं ले सकता। इस लाभ का विवरण धारा ३४९ में किया गया है। यदि दो या उससे अधिक कम्पनियों के (जिनका एक ही अभिकर्ता हो) बीच में लाभ विभाजन का प्रबन्ध हो, तो वह लाभ प्राप्त करने वाली कम्पनी के शुद्ध लाभ में जोड़ दिया जायगा।

प्रबन्ध-अभिकर्ताओं को अपने कार्यालय के लिये अतिरिक्त धन नहीं दिया जायगा। किन्तु उसके द्वारा जो धन संचालको की स्वीकृति पर कम्पनी के ऊपर खर्च किया गया हो, वह दिया जा सकता है।

प्रबन्ध-अभिकर्ताओं को पारिश्रमिक साल के अन्त में अन्तिम खाते की जाँच करने के बाद, तथा साधारण सभा में प्रस्ताव पास हो जाने पर ही दिया जा सकेगा।

प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के लाभ के पदों पर कार्य करने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं जिससे कि उनको न्यायानुकूल धन दिया जा सके और कम्पनी तथा उनके बीच में किसी प्रकार का अवरोध पैदा न हो। इसलिये भारतवर्ष में प्रबन्ध-अभिकर्ता अपनी कम्पनी की उत्पादित वस्तुओं की बिक्री नहीं कर सकते, और देश के बाहर उनको उसी अवस्था में आज्ञा दी जा सकती है, जब वे वहाँ पर कम्पनी से सम्बन्धित न हों, और इस विषय को विशेष प्रस्ताव द्वारा स्वीकार कर लिया गया हो। विक्रय प्रतिनिधि का कार्य-काल एक समय में पाँच वर्ष से अधिक नहीं हो सकेगा, (धारा ३५६)। धारा ३५७ से ३६० तक प्रबन्ध-अभिकर्ताओं की अन्य व्यापारिक क्रियाओं, जैसे—माल का प्रदाय, सेवा, क्रय विक्रय कमीशन, अनुबन्ध आदि पर पूर्ण रूप से नियन्त्रण कर दिया गया है।

१ मार्च सन् १९५८ के बाद, यदि प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के अनुबन्ध पहले समाप्त न होते हों, तो समस्त अनुबन्ध समाप्त किये जाने की व्यवस्था थी। इसके लिए धारा ३६२ में यह आदेश दिया गया है कि प्रबन्ध-अभिकर्ता के साथ किये हुए समस्त व्यवहारों का एक अलग रजिस्टर रखा जायगा।

प्रबन्ध-अभिकर्ताओं की क्षति-पूर्ति
(Compensation for Managing Agents)

यदि प्रबन्ध-अभिकर्ता अवधि से पहले हटाया जाय, तो वह अपनी क्षति-पूर्ति कराने का अधिकारी हो जाता है। किन्तु अनुभव से ज्ञात हुआ है कि अयोग्य अभिकर्ता को अवैधानिक लाभ प्राप्त होते हैं। इसलिए कम्पनी कानून में निम्नलिखित दशाओं में उसकी क्षति-पूर्ति न करने की व्यवस्था है—

(१) जब वह कम्पनी के पुनर्गठन, समामेलन अथवा संयुक्तिकरण के लिए पद-त्याग करे और फिर नवीन संस्था के प्रबन्ध-अभिकर्ता, प्रबन्धक आदि के रूप में नियुक्त किया जाय।

(२) जब वह किसी अन्य कारण से पद-त्याग करे।

(३) जब केन्द्रीय सरकार द्वारा उसको हटाया जाय अथवा धारा ३३० के अन्तर्गत उसका कार्य-काल १५ अगस्त १९६० तक समाप्त हो जाय, अथवा ३३२ के अनुसार उसको १० कम्पनियों से अधिक की एजेन्सी लेने का अधिकार न हो।

(४) जब वह दिवालिया हो गया हो अथवा उसकी फर्म भंग हो गई हो।

(५) जब उसके कारण कम्पनी समाप्त हो रही हो।

(६) जब प्रबन्ध-अभिकर्ता रिसीवर की नियुक्ति हो जाने पर हटा हुआ माना गया हो।

(७) जब वह कपट, लापरवाही, या कुप्रबन्ध के लिए हटाया गया हो।

प्रबन्ध-अभिकर्ता की क्षति-पूर्ति उसी धन-राशि तक हो सकती है, जो वह अपने शेष कार्य-काल में अथवा तीन वर्षों में प्राप्त करता। यह राशि उनके तीन वर्षों के आनुपातिक अर्जन पर दी जायगी। धारा ३६६ के अनुसार प्रबन्ध-अभिकर्ता का पद समाप्त होने के पहले या बाद में किसी भी समय १२ महीने अन्दर यदि कम्पनी का अन्त हो जाता है और उसकी सम्पत्ति अपर्याप्त है, तो प्रबन्ध-अभिकर्ता को कुछ भी क्षति-पूर्ति के रूप में नहीं दिया जा सकेगा।

प्रबन्ध-अभिकर्ताओं पर अन्य प्रतिबन्ध (Other Restrictions on Managing Agents)—नए कानून के अन्तर्गत अब प्रबन्ध-अभिकर्ताओं को संचालक सभा के अधीन तथा अन्तर्नियमों के ही अनुरूप समस्त कार्य करने होंगे। वे अनुसूची७ के अन्तर्गत ही कार्य कर सकेंगे। उनके संचालक नियुक्त करने का अधिकार, अंश खरीदना, प्रतिस्पर्द्धी व्यापार करना, ऋण लेना-देना, आदि पर अब बहुत बड़ी सीमा तक प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। इनका वर्णन नीचे किया जाता है—

संचालक नियुक्ति (Appointment of Directors)—धारा ३७७ के अधीन प्रबन्ध-अभिकर्ता जिस कम्पनी में ५ से अधिक संचालक हो उसमें दो, तथा जिसमें ५ से कम हों वहाँ एक संचालक की नियुक्ति कर सकता है। यदि वह इस संख्या से अधिक की नियुक्ति करता है तो इस कानून के प्रारम्भ के एक मास के बाद अवैधानिक मान लिया जायगा। प्रबन्ध-अभिकर्ता के अपने नियुक्त किये हुए संचालकों के हटाने का अधिकार है। यदि प्रबन्ध-अभिकर्ता अतिरिक्त नियुक्ति में किसी संचालक को नहीं हटाता, तो इस अधिनियम के एक महीने के बाद उसके द्वारा नियुक्त किये हुए सभी संचालकों को अलग समझा जायगा।

निम्नलिखित दशाओं में प्रबन्ध-अभिकर्ता को अपने लाभार्थ व्यापार में संलग्न समझा जायगा—

(१) यदि ऐसा व्यापार उसकी फर्म द्वारा चलाया जाता है ;

(२) यदि ऐसा व्यापार किसी निजी कम्पनी के द्वारा चलाया जाता है, जिसकी किसी साधारण सभा में एक या अधिक व्यक्तियों द्वारा कुल मताधिकार के बीस या अधिक प्रतिशत पर नियंत्रण हो, (जिसमें प्रबन्ध-अभिकर्ता का सम्बन्ध है)।

(३) यदि ऐसा व्यापार समामेलित संस्था द्वारा, जिसमें प्रबन्ध-अभिकर्ता सम्मिलित है, चलाया जाता है।

ऋण लेना या देना (Loan to or by Managing Agents)—कोई भी कम्पनी जो प्रबन्ध-अभिकर्ताओं आदि के निर्देशों पर चलती है, वह न तो प्रबन्ध-अभिकर्ताओं को ऋण देगी और न उनके द्वारा लिये गए ऋणों की प्रत्याभूति या जमानत दे सकेगी। साथ ही वह प्रबन्ध-अभिकर्ता या सहयोगी अथवा ऐसी समामेलित संस्था द्वारा किसी अन्य व्यक्ति को दिये गये ऋण को जमानत न दे सकेगी। धारा २९५ के अनुसार कम्पनी की व्यापारिक साख को बढ़ाने के लिए प्रबन्ध अभिकर्ता को संचालकों की पूर्व स्वीकृति पर २०,०००) तक साख दे सकेगी।

धारा ३७० के अनुसार कोई भी कम्पनी एक ही प्रबन्ध के अन्तर्गत जिसमें वह स्वयं हैं; न तो कोई ऋण देगी और न किसी अन्य व्यक्ति द्वारा दिये गये ऋण के लिए बिना पूर्व प्रस्ताव के जमानत दे सकेगी। इसी धारा में यह बताया गया है कि इन संस्थाओं को एक ही प्रबन्ध में माना जायगा, जो प्रबन्ध-अभिकर्ता की फर्म, निजी कम्पनी या अन्य संस्थाएं हैं।

कम्पनी के पुनर्गठन या सम्मिश्रीकरण पर रोक (Check on the Reconstruction or Amalgamation of Company)—धारा ३७६ के अनुसार यदि कम्पनी के स्मरण-पत्र या अन्तर्नियमों में अथवा कम्पनी द्वारा साधारण या संचालक-सभा द्वारा पास किये गये किसी प्रस्ताव में अथवा कम्पनी और उसके प्रबन्ध-अभिकर्ता या किसी अन्य व्यक्ति के बीच हुए समझौते में कोई ऐसा प्रयोजन हो कि कम्पनी का पुनर्गठन या संयुक्तिकरण तभी हो सकता है, जबकि वह प्रबन्ध अभिकर्ता कम्पनी ही पुनर्गठन या सम्मिश्रण के परिणामस्वरूप बनी नई कम्पनी का प्रबन्ध-अभिकर्ता नियुक्त किया जाय, तो ऐसा आयोजन निषिद्ध माना जायगा।

अंशधारियों का नियंत्रण
(Share holders' Control)

यद्यपि कम्पनी का सीधा प्रबन्ध कम्पनी के यथार्थ स्वामियों (अंशधारियों) के पास नहीं रहता और उनको उसका प्रबन्ध तथा संचालन अपने चुने हुए प्रतिनिधियों

(संचालकों) तथा अभिकर्ताओं के हाथ में सौंप देना पड़ता है, किन्तु समय-समय पर उनकी कार्यवाही का निरीक्षण तथा समस्त व्यापार पर नियंत्रण रखना उनके लिये आवश्यक हो जाता है जिससे कम्पनी के अधिकारी अपनी मनमानी नहीं कर सकें तथा अंशधारियों को लाभ प्राप्त हो सके। इस दिशा में कम्पनी कानून के अन्तर्गत अंशधारियों के नियंत्रण रखने की विधि की यथासम्भव विवेचना की गई है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि अंशधारी व्यक्तिगत रूप से कुछ नहीं कर सकते। उनको नियंत्रण के जो कुछ अधिकार प्राप्त हैं, वे सामूहिक ढंग से ही प्रयोग में लाये जाते हैं। अंशधारी कम्पनी पर निम्नलिखित ढंग से नियंत्रण रखते हैं—

संचालकों पर नियंत्रण (Control on Directors)—संचालक अस्थायी रूप से स्मरण-पत्र आदि पर हस्ताक्षर करने से, तथा विधानानुकूल योग्यता प्राप्त करने से बन जाते हैं। जिस कम्पनी में प्रबन्ध-अभिकर्ता होते हैं, उसमें ⅓ संचालक प्रबन्ध-अभिकर्ता द्वारा नियुक्त किये जाते हैं तथा कोई स्थान बीच में रिक्त हो जाने पर उसमें अस्थायी रूप से संचालक ही किसी संचालक की नियुक्ति कर सकते हैं। सामान्यतः कम्पनी के संचालकों की संख्या उनकी नियुक्ति आदि के बारे में पहले से ही कम्पनियों के अन्तर्नियमों के अन्तर्गत तय कर लिया जाता है और अंशधारियों को संचालक चुनने का बहुत कम अवसर मिलता है। कम्पनी कानून में यह भी निश्चित कर दिया गया है कि प्रति वर्ष संचालकों में से दो-तिहाई पद-मुक्त हो जायेंगे और उनके स्थान पर अंशधारियों द्वारा संचालक नियुक्त किये जायेंगे, किन्तु व्यवहार में अभिकर्ताओं का ही विशेष प्रभाव रहा है।

सन् १९५६ के 'कम्पनी कानून' में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि अभिकर्ताओं का विशेष प्रभुत्व न रहे। उसकी ३३२वीं धारा में उन लोगों का वर्णन किया गया है जिनको अभिकर्ता से सम्बन्धित कहा जायेगा, और उनको बिना विशेष प्रस्ताव के संचालक बनने का अधिकार नहीं होगा। इसी प्रकार संचालकों की नियुक्ति के लिए भी अंशधारियों को विशेष अधिकार दिये गये हैं। अभिकर्ताओं पर प्रतिबन्ध लगाने से बहुत बड़ी सीमा तक संचालकों की नियुक्ति अंशधारियों के हाथ में आ जायेगी और वे अपनी इच्छा के व्यक्तियों के हाथ में संचालन भार सौंप सकेंगे।

यदि संचालक किसी प्रकार से नियमों का उल्लंघन करे अथवा धन-सम्बन्धी कपट करे, तो अंशधारी विशेष प्रस्ताव के द्वारा उसको निकाल सकते हैं। जो संचालक ऋण-पत्रधारियों की ओर से नियुक्त किये गये हों, उनको अंशधारी नहीं हटा सकते। किन्तु इस प्रकार के संचालकों को विशेष अधिकार नहीं होते और उनका प्रबन्ध में व्यापक प्रभाव नहीं पड़ता। नये अधिनियम के अनुसार अभिकर्ताओं द्वारा नियुक्त संचालकों में भी क्रमिक परिवर्तन होना आवश्यक है।

प्रबन्ध-अभिकर्ताओं पर नियंत्रण (Control on Managing Agents)—अभिकर्ताओं की नियुक्ति तथा उनके साथ किये गये अनुबन्ध तब ही वैध माने जाते है, जब उनकी स्वीकृति अंशधारियों की व्यापक सभा द्वारा की जाय। किन्तु विवरण-पत्रिका में नाम घोषित हो जाने पर अंशधारी उनका कुछ नही कर पाते। नये कम्पनी बिल में इस दिशा में कोई नवीन कदम नहीं उठाया गया है। किन्तु अंशधारियों को उन पर नियंत्रण रखने के लिये अनेक अधिकार दे दिये गये हैं, जैसे—अंशधारी अभिकर्ताओं को साधारण प्रस्ताव द्वारा ही हटा सकते है, अभिकर्ता की कुछ दशाओं पर में क्षति-पूर्ति नहीं की जायगी तथा अभिकर्ताओं की गति-विधि पर अंशधारियों की सभा का अधिकार रहेगा, आदि।

अंकेक्षकों पर नियंत्रण (Control on Auditors)—अंकेक्षक कम्पनी में अंशधारियों का प्रतिनिधि माना जाता है और उससे यही आशा की जाती है कि वह संचालकों तथा अभिकर्ताओं के प्रभाव में न आकर कम्पनी के अन्तिम खातों का सही-सही अंकेक्षण करे, और अंशधारियों को कम्पनी की वास्तविक स्थिति का सच्चा ज्ञान करा दे। किन्तु व्यवहार में यह देखा गया है कि अंकेक्षक संचालकों तथा अभिकर्ताओं को प्रसन्न रखे बिना कुशलता से कार्य नहीं कर सकता, और अंशधारियों की अपनी कठिनाइयाँ तथा सीमाएँ होने के कारण अंकेक्षक उनको विशेष महत्व नहीं देता। कम्पनी के निर्माण के बाद अंशधारियों की प्रथम बैठक तक अंकेक्षक संचालकों के द्वारा ही नियुक्त किया जाता है और भविष्य में उसकी नियुक्ति अंशधारियों की सभा के द्वारा ही की जाती है। नये कम्पनी बिल में अंकेक्षकों को अधिक से अधिक अधिकार देकर तथा उनको अंशधारियों के नियंत्रण में रखकर बहुत सीमा तक स्वतन्त्र कर दिया गया है।

निरीक्षकों की नियुक्ति (Appointment of Inspectors)—यदि अंशधारी कम्पनी के अधिकारियों से असन्तुष्ट हो जाते है तथा संचालकों पर प्रभाव नहीं डाल सकते, तो उनको अधिकार होता है कि निरीक्षक की नियुक्ति करके वे कम्पनी के हिसाब-किताब तथा अन्य लेखों की जाँच करवा सकते है। किन्तु यह संचालकों की सम्मति के अभाव में बड़ा कठिन हो जाता है, क्योंकि निरीक्षक समस्त प्रलेखों को न तो देख ही सकता है, और न किसी से शपथपूर्वक गवाही ही ले सकता है। कानून द्वारा अंशधारियों को दो अधिकार प्राप्त हैं। प्रथम, वे प्रान्तीय सरकार द्वारा निरीक्षक नियुक्त करवा सकते हैं। सरकारी निरीक्षक अपनी वृत (Report) सरकार को देता है और सरकार उसकी एक प्रतिलिपि रजिस्ट्रार के पास, तथा एक कम्पनी को भेज देती है। जब सरकार कम्पनी को व्यय देने का आदेश दे देती हैं, तो अंशधारी उस व्यय से मुक्त हो जाते हैं। धारा १४२ के अनुसार अंशधारी भी अपने विशेष प्रस्ताव के द्वारा अंकेक्षक की नियुक्ति स्वयम् करके उसकी वृत ले सकते हैं।

नये कम्पनी अधिनियम मे हर एक राज्य मे सरकारी निरीक्षक की स्थायी नियुक्ति की व्यवस्था की गई है और उसको व्यापक अधिकार भी दिये गये है।

पंजीयक को विरोध-पत्र (*Complaint to the Registrar*)—यदि किसी अंशधारी को कम्पनी के किसी सचालक अथवा सचालकों के प्रति असन्तोष हो, तो वह प्रमाण सहित इसकी शिकायत पजीयक के पास भेज सकता है। रजिस्ट्रार उस शिकायत पर कम्पनी की जाँच करके अपनी वृत राज्य सरकार को भेज देगा। यदि संचालक के विरुद्ध शिकायत है तो वैधानिक कार्यवाही के अलावा वह ५ वर्ष तक कम्पनी मे पुनः भाग नही ले सकता। यदि अशधारी ने अशुद्ध शिकायत की हो, तो रजिस्ट्रार उसका नाम कम्पनी को बता देगा और उसके ऊपर वैधानिक कार्यवाही की जा सकेगी।

प्रमंडल को समाप्त करने का अधिकार (Right to Dissolve the Company)—अंशधारियो को कम्पनी के कुप्रबन्ध पर असन्तुष्ट होने के कारण अधिकार है कि वह आवेदन-पत्र भेजकर न्यायालय के द्वारा उसको समाप्त करवा दे। आवेदन-पत्र भेजने से पहले उसको कम्पनी के २०० सदस्यों अथवा $\frac{1}{10}$ अशधारियो की अनुमति लेनी आवश्यक होगी। यदि वह स्वय $\frac{1}{10}$ अशो का स्वामी हो, तो बिना किसी की अनुमति के ही आवेदन पत्र भेज सकता है। यदि कम्पनी दूसरे प्रकार की है, तो $\frac{1}{5}$ सम्पत्ति के स्वामी इस कार्य को कर सकते है।

न्यायालय को इस दिशा मे व्यापक अधिकार प्राप्त हैं। वह केन्द्रीय सरकार के आवेदन पर भी जाच करके कम्पनी का अन्त कर सकता है। इसके अलावा न्यायालय कम्पनी के कार्यो पर प्रतिबन्ध, पूंजी मे कमी, अशो का हस्तान्तरण, और अभिकर्ता, सचालक या प्रबन्ध-संचालक के अनुबन्धो पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। न्यायालय अपराधी से क्षति-पूर्ति करवा सकता है अथवा उनके क्षति-पूर्ति के अधिकार को जब्त कर सकता है।

अंशधारियो का अन्य प्रकार से नियंत्रण (Other Powers of Shareholders to Control)—अशधारी कम्पनी की प्रारम्भिक वैधानिक सभा (Statutory Meeting) मे कम्पनी की प्रारम्भिक जानकारी करने के लिये प्रश्न पूछ सकते है तथा अपना मत दे सकते है। उनको सामान्य सभा (General Meeting) मे कम्पनी के अन्तिम खातो का पूर्ण विवेचन करने का अधिकार है तथा संचालकों और अंकेक्षको के वृतो की आलोचना भी कर सकते है। लाभाश की स्वीकृति अशधारियो द्वारा ही दी जाती है। इसके अतिरिक्त अंशधारियों को पूंजी का परिवर्तन, अन्तर्नियमो मे परिवर्तन, कम्पनी के किसी भाग का विक्रय, किसी संचालक के ऋण का परित्याग या छूट, आदि करने का अधिकार विशेष प्रस्ताव द्वारा प्राप्त है।

कोषाध्यक्ष एवं सचिव
(Secretaries and Treasurers)

नये कम्पनी कानून मे इस बात की व्यवस्था की गई है कि जिन कम्पनियों मे प्रबन्ध अभिकर्ताओं की नियुक्ति न की गई हो, वे सचिव एवं कोषाध्यक्ष की फर्म या संस्था की नियुक्ति कर सकते हैं। किन्तु दोनों एक साथ काम नहीं कर सकते। कानून के अनुसार सचिव एवं कोषाध्यक्ष वह संस्था है, जो प्रबन्ध अभिकर्ता नहीं है और सचालक सभा के अधीन कम्पनी के समस्त अथवा किसी अंग का प्रबन्ध करती है; [धारा २ (४४)]। इस संस्था को कम्पनी में प्रबन्ध अभिकर्ताओं के अधिकार नहीं है।

कम्पनी अधिनियम १९५६ में कोषाध्यक्ष, सचिव आदि को पारिश्रमिक निम्नलिखित दर मे दिये जाने की व्यवस्था की गई है—

	१० लाख या उसके अभाग पर	७½ प्रतिशत
अगले	१० ,, ,, ,,	६¾ ,,
अगले	१० ,, ,, ,,	६ ,,
अगले	१० ,, ,, ,,	५¼ ,,
अगले	१० ,, ,, ,,	४½ ,,
अगले	२५ ,, ,, ,,	४¼ ,,
अगले	२५ ,, ,, ,,	३¾ ,,
	१ करोड़ और उससे ऊपर	३ ,,

सरकार यह भी देखेगी कि कम्पनी तथा इन अधिकारियों के बीच उचित समझौता हुआ है और उनको पारिश्रमिक ऊपर दिये गये दर से ही दिया जा रहा है।

कम्पनी में लाभ न होने की अवस्था में इनको एक निश्चित न्यूनतम लाभ दिया जा सकता है।

इनको संचालकों की नियुक्ति करने का अधिकार नहीं है, और न ये बिना संचालकों की आज्ञा के कम्पनी में किसी भी प्रकार का व्यवहार कर सकते हैं।

प्रबन्धक
(Managers)

प्रबन्धक उस व्यक्ति को कहते हैं, जो प्रबन्ध-अभिकर्ता न हो और संचालक सभा के अधीन कम्पनी के समस्त अथवा किसी अंग का प्रबन्ध करता हो। इस कानून के ६ महीने बाद प्रबन्धक की नियुक्ति के लिये कोई संस्था नहीं हो सकेगी। प्रबन्धक केवल व्यक्ति ही होना चाहिये।

प्रबन्धक दिवालिया होने, साहूकारों को न चुकाने, न्यायालय द्वारा चरित्र सम्बन्धी अपराध मे दण्डित होने आदि के कारण अयोग्य समझा जायगा, और उसकी योग्यता केवल सरकार के द्वारा ही स्वीकार की जा सकेगी।

इस अधिनियम के बाद कोई भी प्रबन्धक दो कम्पनियों से अधिक का एक समय में प्रबन्धक नहीं हो सकेगा। किन्तु केन्द्रीय सरकार की अनुमति पर इस नियम में परिवर्तन किया जा सकता है।

प्रबन्धक को कम्पनी के शुद्ध लाभांश का ५ प्रतिशत से अधिक पारिश्रमिक नहीं दिया जा सकता और इसके परिवर्तन के लिये सरकार की अनुमति आवश्यक होगी।

सरकार के अधिकार

(Powers of the Government)

नवीन कम्पनी अधिनियम में केन्द्रीय सरकार ने अपने लिये अनेकानेक अधिकार सुरक्षित कर दिये है। यदि कम्पनी के प्रबन्ध में किसी प्रकार का दोष आ गया हो तो कम्पनी के २०० सदस्य, अथवा $\frac{१}{१०}$ मताधिकार रखने वाले सदस्य सरकार से कम्पनी की स्थिति की जाँच करवा सकते है। केन्द्रीय सरकार संचालक सभा को भंग करके नई सभा की नियुक्ति की आज्ञा दे सकती है, अथवा न्यायालय द्वारा जाँच करके दो सदस्यों को तीन वर्ष के समय तक संचालक के पद पर नियुक्त कर सकती है।

यदि कम्पनी के प्रबन्ध अधिकारियों द्वारा सरकार से अंशों के स्वामित्व में परिवर्तन होने अथवा सम्भावित परिवर्तन से संचालक सभा में ऐसे परिवर्तन होने का डर है, जिससे कम्पनी के हित में ठेस पहुँचेगी तो धारा ४०९ के अनुसार केन्द्रीय सरकार उचित जाँच से सतुष्ट होने के बाद यह आदेश जारी कर सकती है कि संचालक सभा में आवेदन की तिथि के बाद परिवर्तन करने वाला कोई प्रस्ताव या कार्य तब तक प्रभावपूर्ण नहीं होगा, जब तक केन्द्रीय सरकार उसको स्वीकार न कर ले।

कम्पनी-अधिनियम परामर्शदाता आयोग

(Company Law Advisory Commission)

धारा ४२२ के अधीन सरकार के पास जितने भी मामले आयेंगे, वे सब धारा ४१० के अनुसार कम्पनी की सलाह पर ही तय किये जा सकेंगे। इस आयोग में पाँच योग्य सदस्य होंगे, जो परामर्श देने के अधिकारी होंगे।

सन् १९५१ में श्री भाभा की अध्यक्षता में एक आयोग की नियुक्ति की गई, जिसने २१ फरवरी १९५६ को त्याग-पत्र दे दिया। उसके स्थान पर सरकार ने एक नया आयोग बनाया। इस कमीशन का कार्य कानून-सम्बन्धी मामलों में केन्द्रीय सरकार को सलाह देना है, जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं।

(१) धारा २५९ के अनुसार संचालकों की पूर्व निश्चित अधिकतम संख्या में वृद्धि करना।

(२) धारा २६८ के अनुसार प्रबन्ध-संचालक, पूर्ण अवधि संचालक या क्रम से स्थान ग्रहण करने वाले संचालक की नियुक्ति, अथवा पुनर्नियुक्ति की व्यवस्थाओं में संशोधन करना।

(३) प्रबन्ध-संचालक या पूर्ण अवधि संचालक की नियुक्ति करना (धारा २६६)।

(४) संचालक या प्रबन्धक के पारिश्रमिक मे वृद्धि करना ; (धारा ३१० तथा ३८८)।

(५) प्रबन्ध-अभिकर्ता, सचिव एवं कोषाध्यक्ष की नियुक्ति करना ; (धारा ३७६)।

(६) जब वर्तमान अवधि के दो साल या इससे अधिक समय बाकी हो, तो प्रबन्ध-अभिकर्ता आदि की पुनर्नियुक्ति करना, (धारा ३२८)।

(७) प्रबन्ध-अभिकर्ता आदि के साथ किये गये समझौतो मे परिवर्तन करना; (धारा ३२६)।

(८) यदि प्रबन्ध-अभिकर्ता निश्चित कम्पनियो से अधिक का प्रबन्ध-अभिकर्ता हो, तो यह निश्चय करना कि वह किन कम्पनियों का प्रबन्ध-अभिकर्ता है, और किनका नही, (धारा ३३२)। *

(९) प्रबन्ध-अभिकर्ताओ आदि के द्वारा अपना कार्य-भार हस्तांतरित करना; (धारा ३४३)।

(१०) पैतृक अधिकार के रूप मे या अन्य प्रकार से प्रबन्ध-अभिकर्ता आदि का काम लेना; (धारा ३४५)।

(११) प्रबन्ध-अभिकर्ता-फर्म या निगम या सचिव एवं कोषाध्यक्ष के परिवर्तन की स्थिति मे, (धारा ३४६)।

(१२) प्रबन्ध-अभिकर्ता आदि को अधिक पारिश्रमिक देना; (धारा ३५२)।

(१३) कम्पनी के अथवा किसी सदस्य के विषय मे किये जाने वाले कार्यों को रोकने के लिये सरकार द्वारा संचालकों की नियुक्ति करना; (धारा ४०८)।

(१४) बिना केन्द्रीय सरकार की अनुमति के किसी सार्वजनिक कम्पनी या उसकी सहायक किसी निजी कम्पनी की सचालक सभा को न बदलने का आदेश देना, (धारा ४०६)।

(१५) इसके अतिरिक्त यदि केन्द्रीय सरकार को अन्य मामलो मे आवश्यक हो, तो आयोग की सलाह ले सकेगी।

आयोग के अधिकार (Powers of the Commission)—आयोग को अधिकार है कि किसी जांच के लिये यदि वह उचित समझता है तो कम्पनी से आवश्यक सूचनाएँ, प्रलेख, रजिस्टर तथा अन्य पुस्तकें प्राप्त कर उन पर अधिकार भी कर सकता है।

---

* सामान्य रूप से कोई भी व्यक्ति १० कम्पनियों से अधिक का प्रबन्ध-अधिकर्ता नहीं हो सकता।

आयोग को अधिकार है कि वह उन पुस्तकों की जाँच करे तथा उनकी प्रतिलिपि तथा नोट ले सके। वह कम्पनी के किसी भी अधिकारी की गवाही ले सकता है तथा विचार जान सकता है। (धारा ४१३)

यदि कम्पनी का कोई व्यक्ति अथवा अधिकारी आयोग के आदेशानुसार कार्य नहीं करेगा, तो धारा ४१४ के अन्तर्गत दो वर्ष की सजा तथा जुर्माने से दंडित किया जा सकेगा।

धारा ४१५ के अन्तर्गत आयोग तथा केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध कोई अपील नहीं की जा सकेगी।

भारतीय कम्पनी-अधिनियम का प्रशासन
(Administration of Company Law)

अगस्त १, सन् १९५५ में देहली में केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत एक कम्पनी अधिनियम विभाग की स्थापना की गई है। यह विभाग एक मुख्य सचिव के आधीन है। विभाग के दो भाग हैं—एक, कानून के प्रशासन के लिये तथा दूसरा, अन्य कार्यों के लिये। इस विभाग का कार्य संयुक्त-स्कन्ध कम्पनियों के मामलों की देख भाल करना, स्कन्ध विनिमय, पूंजी निर्गमन नियन्त्रण, वित्त निगम तथा हिसाब परीक्षकों से सम्बन्धित कार्यों को देखना है। इस प्रकार इस विभाग के कार्य अत्यन्त व्यापक हैं।

सन् १९५६ के पूर्व भारतीय संयुक्त-स्कन्ध कम्पनियों के प्रवर्तन तथा पंजीयन सम्बन्धी कार्य राज्य सरकारों के रजिस्ट्रारों के नियन्त्रण में रहता था। किन्तु केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५३ में यह कार्य अपने हाथ में लेना प्रारम्भ कर दिया था और १ जनवरी १९५५ से यह कार्य पूर्णरूपेण केन्द्रीय सरकार के हाथ में चला गया है। अब इसके लिये पूर्वकालीन रजिस्ट्रारों की नियुक्ति की गई है और जालंधर, पटियाला, दिल्ली, जयपुर, लखनऊ, पटना, कलकत्ता, शिलांग, ग्वालियर, राजकोट, नागपुर, बम्बई, सम्बलपुर, हैदराबाद, विजयवाड़ा, बंगलौर, मद्रास तथा त्रिवेन्द्रम में रजिस्ट्रारों के कार्यालय खोल दिये गये हैं।

इन समस्त भागों को चार क्षेत्रों में बाँट दिया गया है जिसके मुख्य कार्यालय, दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में स्थित हैं। इन क्षेत्रों के अधिकारी अत्यन्त उच्चकोटि के हैं तथा उनकी सहायता के लिये अनुभवी वैधानिकज्ञ (Solicitor) तथा अकाउण्टेण्ट रखे गये हैं।

इस कार्य के द्वारा अब सार्वजनिक कम्पनियों का निरीक्षण तथा नियन्त्रण करना बहुत सुविधाजनक हो गया है।

कम्पनी निरीक्षक
(Company Inspector)

कम्पनियों के सूक्ष्म निरीक्षण के लिये रजिस्ट्रारों के अतिरिक्त सरकार द्वारा

कम्पनी निरीक्षको की भी नियुक्ति की गई है। यदि कम्पनी के विशेष प्रस्ताव द्वारा अथवा न्यायालय के द्वारा कम्पनी के मामलो की जाँच करना तय किया गया हो, तो धारा २३७ के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार निरीक्षक की नियुक्ति कर सकेगी, जो कम्पनी की पूरी-पूरी जाँच करके सरकार को अपनी रिपोर्ट देगा। यह प्रायः कम्पनी के कपट पूर्ण व्यवहार अवैधानिक कार्य, सदस्यो के शोषण, आदि विषयो मे किया जाता है।

कम्पनी निरीक्षक के निम्नलिखित अधिकार हैं—

वह किसी कम्पनी, उसकी सहायक कम्पनी, अथवा संधारी कम्पनी, प्रबन्ध-अभिकर्ता आदि के समस्त कार्यो एव प्रलेखो, आलेखो आदि को बिना केन्द्रीय सरकार की अनुमति के ही जाँच कर सकता है। कम्पनी के समस्त अधिकारियो का कर्तव्य होगा कि वे कम्पनी निरीक्षक को समस्त सूचनाएँ दें तथा सची सौगन्ध (Affidavit) लेकर कम्पनी की स्थिति का स्पष्टीकरण करें। यदि वे ऐसा नही करेंगे तो उसको न्यायालय की मानहानि समझकर वे दण्डित किये जा सकेंगे। यदि निरीक्षक समझता है कि उसको किसी ऐसे व्यक्ति की गवाही लेनी है, जिसकी गवाही लेने का उसको अधिकार नही है, तो इस अधिकार को वह न्यायालय द्वारा प्राप्त कर सकता है और उसको शहादत के रूप मे गवाह के हस्ताक्षर सहित लिखित रूप से रख सकता है।

धारा २४१ के अन्तर्गत निरीक्षक अपनी रिपोर्ट केन्द्रीय सरकार को प्रस्तुत करेगा तथा केन्द्रीय सरकार उसको कम्पनी के प्रधान कार्यालय तथा सम्बन्धित अधिकारियो को, या उचित फीस पर किसी को भी दे सकती है। इसकी प्रति आवेदक (जिसने निरीक्षक की नियुक्ति का आवेदन किया हो) तथा न्यायालय को भी दे सकती है। यह रिपोर्ट प्रकाशित भी की जा सकती है।

यदि इस रिपोर्ट के अनुसार कम्पनी के अधिकारी, प्रबन्ध-अभिकर्ता, सचिव एवं कोषाध्यक्ष आदि, किसी प्रकार से दोषी ठहराये गये हों तो वें अपनी सफाई देने के बाद, (यदि फिर भी दोषी ठहराये जायें) ताजीरात हिन्द के अन्तर्गत दंडनीय होंगे।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार हम देखते हैं कि नये कम्पनी अधिनियम के बन जाने से अब कम्पनी के प्रबन्ध-सम्बन्धी समस्त अगों पर पूर्ण रूप से नियंत्रण हो गया है।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 Write a brief note on the managing agency system in India. What are its special features ? Explain.
2 What is the meaning of a managing agent ? What are his functions in running of a Joint Stock Company ? Explain your points with particular reference to India.

3 Explain how far the business and industry have been benefited by the managing agency system ? If you hold other views give your view-point.

4 Examine the influence of the managing agency system on the structure of industry in India

5 Discuss the merits and defects of the managing agency system or organisation and control of a Joint Stock Company

6 Discuss the part played by managing agents in financing the industries in the country. Do you consider it essential under the modern conditions ?

7 Discuss the problems of appointment and service of managing agents. What has been provided in the Act regarding their remuneration ?

8 The Act is not very clear regarding the payment of remuneration to the managing agents. Discuss.

9 The managing agency system has outlived its utility in India. Do you share this view ? Explain.

10 Write a detailed note on secretaries and treasurers, managers and secretaries of Joint Stock Company

11 What powers have been assumed by the Government to control the affairs of a company.

12 What do you understand by the Company Law Advisory Commission ? Explain how far it will be able to improve the company law ?

13 How the company law is administered ? Explain the functions of Registrars and Inspectors of companies.

लोक प्रमंडलों का प्रबन्ध (क्रमशः) १०

(The Management of the Company)

कम्पनी सचिव
(Company Secretary)

सचिव का अर्थ (Meaning of Secretary)—कम्पनी के कार्यालय की पत्र-व्यवहार सम्बन्धी व्यवस्था, संचालकों तथा अंशधारियों की बैठकों और उनकी कार्यवाहियों की समुचित व्यवस्था एवं लेखन, पूँजी संकलन एवं प्रसार की व्यवस्था तथा समस्त सामान्य कार्यों का संचालन करने वाला व्यक्ति कम्पनी का 'कार्यवाहक', सचिव या सेक्रेटरी कहलाता है। इससे स्पष्ट है कि कम्पनी के सचिव का कार्य कम्पनी के सामान्य संचालन कार्य से भिन्न होता है। इसके ऊपर अधिक दायित्व होते हैं, क्योंकि कम्पनी के प्रारम्भ होने से सर्वप्रथम सचिव का ही कार्य प्रारम्भ होता है और कम्पनी के जीवन काल में उसका ही मुख्य स्थान होता है। अंग्रेजी में इस शब्द का अर्थ 'गुप्त' या 'गोपनीय' होता है और इसके अनुरूप ही उसका कार्य अत्यन्त गोपनीय रहता है। कम्पनी की भावी योजनाएँ, उसके संगठन की रूपरेखा तथा उसकी कार्य-विधि की जानकारी सर्वप्रथम 'सचिव' को ही रहती है। इस प्रकार यह सुगमता से कहा जा सकता है कि कम्पनी का प्राण तथा मस्तिष्क 'सचिव' होता है, जिसकी गतिविधि पर बहुत बड़ी सीमा तक कम्पनी का उत्थान तथा पतन निर्भर रहता है। इसलिए किसी भी सार्वजनिक कम्पनी के सचिव में निम्नलिखित विशेषताओं तथा योग्यता का होना आवश्यक है—

(१) **पूर्ण शिक्षित होने की योग्यताएँ** (Full Literary Qualifications)—सचिव को अच्छा शिक्षित होना आवश्यक है। साधारण कार्यों के लिए यदि कम शिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी हो और उसको व्यापार का अच्छा अनुभव हो, तो वह अपना कार्य सफलतापूर्वक चला सकता है, किन्तु सार्वजनिक कम्पनी के सचिव को अनेक ऐसे कार्य करने पड़ते हैं, जिनका सम्बन्ध सरकारी कानूनों, देश की राजनैतिक परिस्थितियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों से रहता है। इसलिये जब तक उसकी उच्च शिक्षा नहीं होगी, वह इन सब बातों का अध्ययन सुगमतापूर्वक नहीं कर सकता और न कम्पनी के कार्यों को उन बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल ही रख सकता है। इस लिये उसको उच्च शिक्षा प्राप्त किये होना चाहिये। उच्च शिक्षा का अर्थ यह है कि

उसको साहित्य या कला में विशेष विद्वान न होकर, वाणिज्य-सम्बन्धी शिक्षा में योग्य होना चाहिये। इसके साथ-साथ यदि उसको अन्य विषयों का भी ज्ञान हो तो वह अपना कार्य अधिक कुशलता के साथ कर सकेगा।

(२) *तान्त्रिक योग्यता आवश्यक* (Technical Qualifications)—कम्पनी के सचिव के लिये यह भी आवश्यक है कि उच्च शिक्षा के साथ-साथ उसको कम्पनी विधान, कम्पनी के स्मरण-पत्र तथा अन्तर्नियमों, आय-कर विधान, प्रसविदा विधान आदि की अच्छी जानकारी होनी चाहिए। इसके लिए यद्यपि कम्पनी कानूनी सलाहकारों की नियुक्ति करती है, किन्तु सचिव को इसकी पूर्ण योग्यता होने के कारण काम में सुगमता हो जाती है और कम्पनी का कार्य सुचारु रूप से चलता है। इसके साथ-साथ उसको कम्पनी के व्यवसाय की साधारण जानकारी भी आवश्यक है। इसका कारण यह है कि कम्पनियों का विधान सामान्य रूप से एक सा होने पर भी उनमें तान्त्रिक भिन्नता अवश्य रहती है, जिसके कारण उनकी व्यवस्था में भी भिन्नता हो जाती है। इसलिए सचिव को अपने व्यवसाय की सामान्य जानकारी आवश्यक है।

(३) **उसे कार्यवाह कार्य का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये** (Full Knowledge of Secretarial Work)—सचिव के अधिकारों तथा कर्तव्यों का निर्धारण कम्पनी के संचालकों अथवा अभिकर्ताओं के द्वारा किया जाता है, किन्तु यथार्थ रूप में, कम्पनी के सचिव को समस्त कानूनी जानकारी होने के कारण, विधि-सम्बन्धी बातों में, संचालकों को सही परामर्श देने वाला वही होता है, और अंशधारियों तथा ऋणपत्र-धारियों के अंश तथा ऋण-पत्रों के याचना, पंजीयन, स्थगित करने आदि के विषय में वही संचालकों की ओर से समस्त कार्य करता है। संचालकों तथा अंशधारियों की बैठकों की व्यवस्था, उचित समय पर सूचना, सभाओं का विवरण आदि का कार्य भी उसी का होता है। इसलिए उसको इन समस्त बातों की भी पूर्ण जानकारी होनी आवश्यक है, जिससे वह अपना कार्य कुशलता से कर सके।

(४) *उसका प्रभावशाली व्यक्तित्व होना आवश्यक है* (He must have an Influencial Personality)—अपने कार्य में पूर्ण योग्यता के साथ-साथ उसका प्रभावशाली व्यक्तित्व होना चाहिये, जिसमें उसके सहायक तो उसका अनुशीलन कर ही सकें, साथ-साथ संचालक तथा अंशधारी भी उसकी बातों से सहमत हो सकें और उनका उसके प्रति विश्वास बना रहे। किन्तु प्रभावशाली होने का अर्थ यह कभी नहीं होना चाहिये कि वह असत्य कार्य को मनवाने के लिए भी औरों को बाध्य कर सके। उसमें दूसरों से मिलने की तथा उनके प्रति विश्वास पैदा करने की क्षमता होनी चाहिये।

(५) **उसको विश्वासपात्र होना चाहिये** (He must be Reliable)—

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि वह कम्पनी की गुप्त बातों की जानकारी रखता है, इसलिये यह आवश्यक है कि उसे गुप्त बातों को इस प्रकार गोपनीय रखना चाहिये कि उसके अतिरिक्त अन्य व्यक्ति उन बातों को नहीं जान सकें और कम्पनी का समस्त गोपनीय कार्य उसके पास सुगमता से सौंपा जा सके। सचिव की यह सबसे महत्वपूर्ण योग्यता है। यदि उसमें यह योग्यता नहीं होगी तो अन्य सब योग्यताओं के होने पर भी वह सचिव बनने के योग्य नहीं होगा।

(६) उसमें आज्ञाओं के पालन करने तथा करवाने की क्षमता होनी चाहिये (He must be obedient and capable of taking work)—कोई मनुष्य प्रकृति से ही आज्ञा देने वाला होता है, और कोई उनका पालन करने वाला। किन्तु ये दोनों ही प्रकृति वाले पुरुष सच्चे रूप से सचिव का कार्य कर सकते हैं, क्योंकि सचिव कम्पनी का वैतनिक नौकर होता है और उसको सचालकों तथा अभिकर्ताओं के अधीन रहना पड़ता है। इसलिये उसके लिए आवश्यक होता है कि वह उनके आदेशों का पालन करे। सचिव की सफलता इसी बात में है कि वह समस्त आदेशों को अपने सहकारियों के द्वारा कुशलतापूर्वक सम्पन्न करवा सके। इस प्रकार उसमें दोनों गुणों का होना आवश्यक होता है। सचिव एक विशेष तात्रिक योग्यता प्राप्त किये होता है, इसलिये उसको आदेशों को पालन करने व करवाने में यह जान लेने की क्षमता होनी चाहिए कि उन आदेशों से कम्पनी के सामने कोई वैधानिक कठिनाई तो उपस्थित नहीं होती तथा उससे कम्पनी का उत्तरोत्तर विकास होता है।

(७) उसका मिलनसार होना आवश्यक है (He must be Sociable)—सचिव का कार्य सर्वसाधारण से सम्पर्क स्थापित करना होता है, इसलिए उसको व्यवहार-कुशल होना अत्यन्त आवश्यक है। कम्पनी के अंशधारी, ऋण-पत्र स्वामी, साहूकार, सरकार आदि से कम्पनी के वैधानिक तथा पूँजीगत, तात्रिक कार्यों के लिए उसको समय-समय पर सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। यदि वह व्यवहार-कुशल नहीं होगा तो उन सबसे संतोषप्रद संबंध नहीं रख सकता, जिससे कम्पनी के कार्यों में बहुत बड़ी सीमा तक अड़चनें आ सकती हैं।

(८) उसका शान्त विचारक होना आवश्यक है (He must be Cool Thinker)—सचिव का कार्य संचालकों तथा अभिकर्ताओं की समय-समय पर बनाई गई योजनाओं में सहायक का कार्य करना होता है। व्यवहार में सचिव समस्त योजनाएँ बनाकर संचालक सभा के समक्ष उपस्थित करता है और प्रायः वे उसी रूप में स्वीकृत हो जाती हैं। इसलिये सचिव में किसी भी योजना को बनाने के लिये विचारों की परिपक्वता होनी आवश्यक है। किन्तु केवल तीव्र विचार रहने से ही कोई अच्छी योजना नहीं बन सकता। योजना बनाने में उसकी कुशाग्र-बुद्धि, अलिप्त विचार-शक्ति तथा प्रयोगात्मक-शक्ति ही काम आ सकती है।

(६) उसको शांत स्वभाव वाला होना चाहिये (He must be a Gentleman)—कार्यालय के दैनिक कार्य तथा कम्पनी के स्वभाव में कई बार प्रभावोत्पादक परिस्थितियाँ पैदा हो जाती है और उनमें व्यक्तिगत आक्षेप भी आने रहते हैं। ऐसी स्थिति में सचिव को अपने विवेक का सन्तुलन खोने वाला नहीं होना चाहिये। यदि वह क्रोधी प्रकृति का होता है तो लोग उनसे असन्तुष्ट हो जाते हैं और उसकी बातों या कार्यों का विरोध या अवहेलना करते हैं, जिससे वह अपने कार्यों को सुचारु रूप से नहीं चला सकता है। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब सचिव प्रत्येक स्थिति का शान्तिपूर्ण हल निकाल सके तथा लोगों को अपने शान्तप्रिय स्वभाव से प्रभावित करके कार्य को करने के लिये प्रोत्साहित कर सके या अपनी बात को समझा सके।

उपर्युक्त योग्यता वाला व्यक्ति कम्पनी की कार्यवाही को बड़ी सफलता के साथ चला सकता है और जटिल से जटिल परिस्थिति में भी वह हल निकालने में सफल होता है।

सचिव के अधिकार

(Rights and Powers of Secretary)

कम्पनी के सचिवालय का मुख्याधिकारी होने के नाते उसको अपने **विभाग का निर्देशन, नियन्त्रण तथा व्यवस्था करने** का अधिकार है। वह अपने विभाग को अपनी इच्छा के अनुकूल (जिससे कम्पनी का कार्य सुचारु रूप से चल सके) अपने ही ढंग से चला सकता है। कम्पनी के नौकर होने की अवस्था में वह **कम्पनी के सम्बन्धित पत्रकों पर हस्ताक्षर कर सकता है तथा कम्पनी के विलीयन की अवस्था में वह पूर्वाधिकारी साहूकारों के समान एक हजार रुपये तक, अथवा दो माह का वेतन ले सकता है।** जब कम्पनी का सम्थापन होता है और सचिव को नियुक्ति कर दी जाती है तो ऐसी अवस्था में जब तक कम्पनी के सचालन का अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता अथवा कम्पनी की प्रारम्भिक वैधानिक सभा नहीं हो जाती, उसकी नियुक्ति अस्थायी नियुक्ति समझी जाती है। इसलिये सचिव को अधिकार है कि वह कम्पनी की **प्रारम्भिक सभा की कार्य-सूची में अपनी नियुक्ति का विषय रख ले,** जिससे उस पर विचार विमर्श करके उसकी वैधानिक रूप से स्वीकृति की जा सके तथा वह सभा के कार्य-क्रम में आ सके। सचिव का यह भी अधिकार है कि वह **यह देख ले कि उसकी नियुक्ति वैधानिक रूप से होगई है** अथवा नहीं। यदि वह अपनी नियुक्ति सही प्रकार से नहीं करवा लेता है, तो उसके कार्य वैधानिक महत्व नहीं रखेंगे और हटाये जाने की अवस्था में वह कम्पनी से क्षति-पूर्ति करवाने का अधिकारी नहीं रहेगा। क्योंकि कम्पनी का सचिव संचालकों तथा अभिकर्ताओं के आधीन रहता है इस लिये वह किसी भी प्रकार कम्पनी का **प्रतिनिधित्व करने का अधिकारी नहीं है,**

और न उसके कार्यों से कम्पनी को उत्तरदायी बनाया जा सकता है। उसको बिना आज्ञा के कम्पनी की सभाओं को बुलाने का, अंश-याचन करने का, अंश-हस्तांतरण करने आदि का अधिकार भी नहीं है। किन्तु उस अवस्था में जबकि कम्पनी के $\frac{1}{5}$ **अंशधारियों अथवा $\frac{1}{10}$ पूँजी के स्वामियों या न्यायालय द्वारा किसी सभा को बुलाने की लिखित सूचना प्राप्त की जाय, तो सचिव को अधिकार है कि बिना सचालक-सभा की अनुमति के ही वह सभा को बुला सकता है।** सामान्य तौर पर उसको सभा बुलाने में सचालक सभा के आदेशों का पालन करना होता है।

सचिव के कर्तव्य (Duties of Secretary) सचिव के कर्तव्यों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) वैधानिक (२) सचालकों के प्रति कर्तव्य (३) अंशधारियों तथा जनता के प्रति कर्तव्य (४) संगठन तथा कार्यालय सम्बन्धी कर्तव्य।

(१) वैधानिक कर्तव्य (Statutory Duties)—उसको कम्पनी के कानून सम्बन्धी सभी कार्य करने पड़ते हैं जैसे, कर सम्बन्धी, ड्यूटी सम्बन्धी, कम्पनी के प्रलेख तथा प्रत्याय सम्बन्धी सारे कार्यों के लिये वह, कम्पनी का प्रमुख अधिकारी होने के नाते उत्तरदायी है।

(२) संचालकों के प्रति कर्तव्य (Duties in relation to the Directors)–विधानानुसार सचिव को सचालकों के अधीन कार्य करना चाहिये क्योंकि सभी कार्यों के लिये मुख्य रूप से संचालक ही उत्तरदायी होते है। इसलिये उसको सचालकों को कार्यालय, संगठन तथा पत्र व्यवहार सम्बन्धी सभी बातों के लिये अवगत कराना तथा उचित सेवायें प्रस्तुत करनी चाहिये।

(३) अंशधारियों तथा जनता के प्रति कर्तव्य (Duties to Shareholders and Public)—सचिव सचालकों, अंशधारियों तथा जनता के बीच की एक कड़ी है। इसलिये उसको सभी के प्रति उत्तरदायी रहना पड़ता है। उसे कम्पनी की किसी गोपनीय बात को प्रकाश में नहीं लाना चाहिये और न सदस्यों के हितों पर किसी प्रकार का आघात आने देना चाहिये।

(४) संगठन तथा कार्य सम्बन्धी कर्तव्य (Duties relating to the Organisation and Office)—सचिव मुख्य रूप से कार्यालय का प्रमुख अधिकारी है और उसके आधीन सभी महत्वपूर्ण विभाग रहते है। इसलिये उसको चाहिये कि वह देखे कि उसके अधीन सभी विभाग अच्छे प्रकार से संगठित है और उनके बीच में एक सामंजस्य है। कार्यालय का कार्य बिना अवरोध के कुशलता से चलाया जा रहा है।

सचिव के दायित्व (Responsibilities of Secretary)—कम्पनी के सचिव के कर्तव्य तथा दायित्व तीन प्रकार की स्थितियों में बाँटे जा सकते हैं—

(अ) भारतवर्ष में अधिकांश कम्पनियों में कम्पनी के सचिव का कार्य संचालक या प्रबन्ध-अभिकर्ता ही करते हैं। इस प्रकार जब वह कम्पनी के संचालन तथा व्यवस्था आदि की कार्यवाही को भी करता है, उस समय उसकी स्थिति प्रबन्ध-अभिकर्ता के समान होती है। उसको **संचालक सभा के समस्त आदेशों का पालन करना आवश्यक होता है,** और उस समय उसे यह स्पष्ट रूप से व्यक्त करना चाहिए कि वह जो कुछ कार्य कर रहा है, वह कम्पनी के लिये ही कर रहा है।

(आ) कम्पनी-सचिव जब कम्पनी के विधानानुसार कार्य करता है तो उसकी स्थिति **रजिस्ट्रार के कार्यों** के समान होती है—जिसमें अंशों की रजिस्ट्री करना, हस्तांतरण की रजिस्ट्री करना, सार्वजनिक-कम्पनी रजिस्ट्रार के पास आवश्यक वृत्त आदि को प्रस्तुत करना आदि होता है। इसके साथ-साथ कम्पनी की सभाओं की सूचना प्रसारित करना, कम्पनी की कार्य-सूची तैयार करना, सभा का कार्य-विवरण लिखना तथा विवरण-पुस्तक को ठीक रूप से तैयार करना भी सचिव का कार्य होता है। कम्पनी की **सार्वमुद्रा को सुरक्षित** रखना भी उसका ही कार्य होता है।

(इ) जिस समय सचिव **प्रबन्धक** के रूप में करता है, उसको कार्यालय के समस्त कार्यों की व्यवस्था तथा उन पर नियन्त्रण करना आवश्यक है। इस प्रकार उसके कार्यों को दो भागों में बांटा जा सकता है—(i) कम्पनी के संस्थापन पूर्व कार्य तथा (ii) उसके बाद के कार्य। संस्थापन के पूर्व कार्यों में उसको निम्नलिखित कार्य करने पड़ते हैं—

(१) उसको कम्पनी के **प्रवर्तकों की समस्त सभाओं में उपस्थित** रहकर सभाओं का विवरण तैयार करना चाहिए।

(२) कम्पनी के संस्थापन के लिये समस्त **आवश्यक पत्रकों को रजिस्ट्रार के पास प्रस्तुत** करना चाहिए।

कम्पनी के संस्थापन के उपरान्त उसके निम्नलिखित कार्य होंगे—

(१) कम्पनी की **प्रथम बैठक में प्रमुख अधिकारियों को स्थायी नियुक्ति करवाना, बैंकों में खाता खुलवाना तथा चैकों पर हस्ताक्षर** करने का निर्णय करवाना।

(२) प्रथम बैठक में **अपनी नियुक्ति** करवाना।

(३) विभिन्न कार्यों के लिए **उपसमितियों की नियुक्ति करवाना।**

(४) आवश्यक पत्रकों को प्रस्तुत करके **रजिस्ट्रार से व्यापार प्रारम्भ का प्रमाण-पत्र लेना;** तथा

(५) **वैधानिक पत्रकों** का तैयार करना।

सचिव के कार्य (Functions of Secretary)—इस प्रकार सचिव के कार्य निम्न प्रकार से होंगे—

(१) कम्पनी के लिये उचित कार्यालय की व्यवस्था करके उस पर कम्पनी का साइन-बोर्ड, कार्यालय के आगे सूचना-पट्ट आदि लगाना चाहिये।

(२) उसको कम्पनी के नाम की सार्वमुद्रा (Common Seal) बनाना चाहिए। यह कार्य उसके सामान्य शासन-सम्बन्धी कार्यों में से है।

(३) उसको अंशों के विक्रय का यथेष्ट विवरण रखना चाहिए और उनके लिये आवश्यक रजिस्टर तथा पत्र-प्रपत्रों की व्यवस्था करनी चाहिए।

(४) अंश आवेदन पत्रों के प्राप्त हो जाने पर आवेदकों की सूची तैयार करके उनको संचालक सभा में प्रस्तुत करना चाहिये और उसके बाद अंशों का वितरण हो जाना चाहिये, वह विवरण-पत्र के प्रकाशन के १२० दिन के अन्दर हो जाना चाहिये।

(५) अंश वितरण की समस्या—अंशों की याचना (Calls) करने के लिये उसको संचालक सभा बुलाकर उसमें याचना का प्रस्ताव पारित करना चाहिये और याचना करने पर जो धन प्राप्त हो, वह बैंक में जमा करके अंशधारियों को 'प्राप्ति-प्रपत्र' भेज देना चाहिए।

(६) यदि कोई अंशधारी समय पर याचना-राशि नहीं देता, तो नियमपूर्वक उसके अंशों का हरण कर दिया जाना चाहिये। उसके लिए कम-से-कम १४ दिन का नोटिस दिया जाना आवश्यक है।

(७) अंश-हरण के पश्चात् उसको कम्पनी कानून की सारिणी (अ) के अनुसार हरण किये गये अंशों के पुनर्निर्गमन की व्यवस्था करनी चाहिए तथा उसके लिए यथोचित सूचना प्रकाशित कर उनका निर्गमन करना चाहिए।

(८) अंशधारियों को यथोचित समय के अन्दर उनके अंशों के लिए अंश-प्रमाण-पत्र दे दिये जाने चाहिये जिसके देने की अवधि ३ माह के अन्दर होनी चाहिये।

(९) कम्पनी के सचिव को हस्तान्तरित किये जाने वाले अंशों की भी पूर्ण व्यवस्था रखनी चाहिए तथा उसकी भली प्रकार से जांच की जानी चाहिए। हस्तान्तरण कितने ही प्रकार से किये जाते हैं, जैसे खण्ड-स्कन्धों का हस्तान्तरण, निरक हस्तान्तरण, पूर्ण हस्तान्तरण आदि।

(१०) कम्पनी सचिव के अन्य कार्य कम्पनी की अलग-अलग सभाओं से सम्बन्धित हैं। उसको अलग-अलग सभाओं के लिये आवश्यक सूचना, प्रालेख, कार्य-सूची आदि बनाने चाहिए।

(११) सभाओं में सभा के लिये आवश्यक वृत लेखों, रजिस्टरों तथा पत्रकों की व्यवस्था करनी चाहिए।

(१२) सभा के कार्य-संचालन के लिये आवश्यक सामग्री जुटानी चाहिए।

(१३) प्रत्येक सभाओं का पूर्ण विवरण पढ़ कर उसे पास करवाना चाहिए, तथा उस सभा का विवरण लिखना चाहिए।

(१४) उसे यह देखना चाहिए कि कम्पनी के सभापति को सही रूप से नियुक्ति की गई है तथा वह सभा का संचालन वैधानिक रूप से कर रहा है।

(१५) सचिव का कर्तव्य है कि जितने भी प्रस्ताव पास किये जा रहे हों, वे सब वैधानिक रूप से ही किये जा रहे हैं।

(१६) सभाओं के समाप्त होने पर उसे देखना चाहिये कि समस्त आवश्यक प्रकाशन योग्य सूचनाएँ विधिवत् प्रकाशित की जायँ।

कम्पनी का सचिव यद्यपि कम्पनी का नौकर होता है किन्तु उसको कानूनी तौर पर अनेक बातों की जानकारी होना आवश्यक है और उनके अनुसार कार्य न करने पर वह व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी हो जाता है। इस प्रकार यदि वह ऊपर बताये गये कार्यों को ध्यान से नहीं करता तथा उनको करने में कोई भूल करता है, तो वह व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी रहेगा, इसके साथ-साथ संचालकों द्वारा किये जाने वाले अवैधानिक कार्यों के लिये उनके साथ वह भी उत्तरदायी रहता है।

अंशों के प्रकार
(Types of Shares)

नये विधान के बाद अब सार्वजनिक कम्पनियाँ केवल दो प्रकार के अंशों का निर्गमन कर सकती है—(१) साधारण अंश (Ordinary or Equity Shares), तथा (२) पूर्वाधिकार अंश (Preference Shares)। पूर्वाधिकार अंशों पर लाभांश तथा पूंजी के भुगतान में पूर्वाधिकार रहता है। कम्पनी के अन्तर्नियमों में पूर्वाधिकार अंशों को भुगतान योग्य (Redeemable) भी बनाया जा सकता है। किन्तु भुगतान केवल लाभ में से ही किया जाना चाहिये तथा उनको पूर्ण-प्रदत्त (Paid up) होना चाहिये। उनका भुगतान प्रव्याजि (Premium) पर भी हो सकता है। साधारण अंश वे होते हैं जो पूर्वाधिकार अंश नहीं होते [धारा ८५ (२)] तथा उनके स्वामी ही कम्पनी के सच्चे मालिक होते हैं, और लाभांश तथा पूंजी उनको अन्त में मिलती है।

अंशों का निर्गमन
(Issue of Shares)

कम्पनी की विवरण-पत्रिका के प्रसार के बाद जनता में कम्पनी का प्रचार हो जाता है और आवश्यक सूक्ष्म परीक्षण भी कर लिया गया हो, जिसमें लोग उसके अंशों को खरीदने के लिये तैयार हो गये हों तो लोग कम्पनी के कार्यालय में आवेदन-पत्र भेजना प्रारम्भ कर देंगे। नवीन विधान के अनुसार कोई भी व्यक्ति कम्पनी के अंशों का निर्गमन करने के लिये किसी व्यक्ति के घर पर जाकर उसको अंश खरीदने के लिये विवश नहीं कर सकता। धारा ६८ के अनुसार यदि कोई व्यक्ति जान-बूझकर

अंशो को खरीदने के लिये धोखा देता है तो उसको पाँच वर्ष की सजा या १०००) जुर्माना का भागी होना पडेगा। कम्पनी के सचिव को देखना चाहिये कि अशो का प्रचार करने के लिये उचित वैधानिक रीतियो का ही पालन किया जाय।

अशो के लिये आवेदन-पत्र कम्पनी के निर्गमित अंश-आवेदन-पत्रको पर ही आने चाहिये। अंश-आवेदन-पत्र का नमूना निम्नानुसार होता है।

निम्नाकित आवेदन-पत्रक को सचिव उनको प्राप्त करते ही क्रमानुसार लगाकर यह देख लेगा कि वे सही प्रकार से भरे गये हैं तथा उनकी आवेदन राशि भी प्राप्त हो गई है। इसके पश्चात् उनकी एक सूची बना दी जायगी। यह सूची "आवेदन तथा वितरण-पत्र" कहलाती है। इनको क्रमानुसार लगाया जाता है और फिर एक सक्षिप्त लेखा बनाकर उसको पुस्तक का रूप दे दिया जाता है। उसका स्वरूप पृष्ठ १९९ पर दिया गया है।

अंश-आवेदन-पत्रक

...... लिमिटेड,

... अंशो का निर्गमन

नं० ....

सेवा मे,

सचालकगण

...... क० लिमिटेड।

महोदय,

मैंने कम्पनी के बैंक ...... बैंक लि० मे ...... रुपया जो कि .... अंशो का, फी अश ... के हिसाब से होता है, जमा कर दिया है। अस्तु प्रार्थना है कि कम्पनी की विवरण-पत्रिका दिनाक ...... १९६ के अनुसार मेरे नाम अंश वितरित कर दिये जायें, और मै मानता हूँ कि यदि मुझको प्रार्थित अश या उससे कम वितरित किये जायेंगे, मैं उन्हे स्वीकार करूँगा। मैं आपको यह अधिकार देता हूँ कि मेरा नाम, जितने अश मुझको वितरित किये जायें, उनके अंशधारी के रूप मे अशधारियों के रजिस्टर मे लिख दिया जाय। मैं, मुझको वितरित किये गये अशो को कम्पनी के स्मरण-पत्र तथा अन्तर्नियमो के अधीन स्वीकार करता हूँ।

पूरा नाम ....

पूरा पता ....

विवरण ....

हस्ताक्षर ....

तिथि ......

बैंक की रसीद अंश-प्रमाण-पत्र में बदल दी जायेगी

न०······· ··

आज के दिनाक · · १६६ को श्री से रुपये ······ रुपया उपर्युक्त कम्पनी के, फी अंश रुपये के हिसाब से प्राप्त किये ।

·· ··· · · बैंक लि० के लिये

टिकिट

आवेदन तथा वितरण पुस्तक

आवेदन लेखा

आवेदन-पत्र क्रम संख्या	आवेदन की तिथि	नाम	पता	व्यवसाय	आवेदित अंश	प्राप्त आवेदन राशि	रोकड़ पाना	निरूपण

वितरण लेखा ··· ·

वितरित अंश	वितरित अंश पत्रों की क्रम संख्या	वितरित तिथि	स्पष्ट संख्या से	स्पष्ट संख्या तक	निवेदन तथा वितरण की कुल राशि	वितरण पर प्राप्य शेष राशि	भुगतान की तिथि	लौटाई जाने वाली राशि	रोकड़ पाना	सदस्यों की सदस्य रजिस्टर संख्या	अंश प्रमाण पत्र की क्रम संख्या	निरूपण
					रु०	रु०		रु०				

जब न्यूनतम प्रार्थित धन प्राप्त हो जाता है और उसकी पूर्ण सूची बना दी जाती है तो सचिव समस्त आवेदन पत्रों को सचालक सभा में प्रस्तुत करता है। अलग-अलग आवेदकों को अंशों का वितरण हो जाने पर वितरण पर सभा के सभा-

पति के हस्ताक्षर हो जाते हैं, जिससे 'वितरण प्रस्ताव' पक्का हो जाता है। सचिव को ध्यान रखना चाहिये कि विवरण-पत्रिका के प्रकाशन से १२० दिन के अन्दर ही अंश वितरण हो जाना चाहिये और जिनको अंश वितरित नही हुए हों, उनका धन १३० दिन के अन्दर वापिस कर दिया जाना चाहिये, नही तो सचालक उस धन के ब्याज के लिये उत्तरदायी होंगे।

अंशो के वितरण के पश्चात् उनको आवेदन तथा वितरण पुस्तक के वितरण लेखा की ओर चढा दिया जाना चाहिये और फिर **अंशधारियों को "वितरण-पत्र" प्रेषित किये जाने चाहिये।** वितरण-पत्र बडी सावधानी के साथ लिखा जाना आवश्यक है तथा उस पर उचित रेवन्यू टिकिट लगा दिया जाना चाहिये। वितरण-पत्र का नमूना नीचे दिया जाता है—

.... कम्पनी लिमिटेड

....

उदयपुर.............१९६

.... } प्रार्थी का नाम

श्रीयुत/श्रीमती,

मुझको आपकी सूचनार्थ आदेश किया गया है कि आपके आवेदन-पत्र दिनाक ..... १९६ के अनुसार ..... कम्पनी लि० के ..... रुपये के ..... अंश आपके नाम वितरित किये गये हैं।

मुझको आगे आदेश मिला है कि आपसे प्रार्थना की जाती है कि दिनाक ..... या उससे पूर्व कम्पनी के बैंक ..... बैंक लि० में ..... रुपये ..... रुपये प्रति अंश के हिसाब से वितरण प्राप्य राशि के रूप में जमा कर दें। उसका विवरण निम्न प्रकार से है—

वितरण प्राप्य राशि—
आवेदन राशि ..
ऋण कोष राशि ..

वितरण प्राप्य राशि ..

भवदीय

......................सचिव

कृपया इस पत्र को भुगतान के समय प्रस्तुत करें।

वितरण अंशो के ... ... अंशों के लिए रसीद, यह रसीद अंश प्रमाण पत्र के द्वारा बदली जायगी।

उपर्युक्त कम्पनी के ... अंशों के प्रति अंश ... के हिसाब से ... ... रुपये प्राप्त हुए।

.... बैंक लिमिटेड के लिए

टिकिट

खेद-पत्र (Letter of Regret)—यदि किसी आवेदक के अंश वितरित न किये गये हों या उनका अतिरिक्त धन प्राप्त हो गया हो, तो उनका धन आवेदकों को वापिस लौटा दिया जाता है। इसके लिए आवेदकों को एक खेद-पत्र भी भेजा जाता है। उसका नमूना इस प्रकार से होना है।

.. कम्पनी लिमिटेड

. .. ..

उदयपुर ...१९६

... ...
. } प्रार्थी का नाम व पता
. . .

श्रीयुत/श्रीमती,

मुझको आपकी सूचनार्थ आदेश दिया गया है कि आपके आवेदन-पत्र नं० .... के अनुसार सचालकगण खेद प्रकट करते है कि आपके नाम पर इस कम्पनी के अंशो का वितरण नहीं किया जा सका। अतः आपकी आवेदन राशि हम चैक नम्बर .... के द्वारा ... रुपये भेज रहे है, कृपया पहुँचने की सूचना भेजें।

भवदीय

नत्थी चैक नं० ....सचिव

अंश-वितरण प्रत्याय (Share Allotment Return)—अंश वितरण के एक माह के अन्दर-अन्दर रजिस्ट्रार के पास उनका वितरण प्रत्याय प्रस्तुत किया जाना चाहिए। इसका नमूना निम्न प्रकार से होना है।

वितरण-प्रत्याय

भारतीय कम्पनी अधिनियम १९५६

(धारा ७५)

कम्पनी का नाम ... ... लिमिटेड

धारा ७५ के अनुसार कम्पनी के अंशों का वितरण का प्रत्याय जो कि निम्नलिखित तिथियों .... पर किया गया रजिस्टार के सेवार्थ भेजा जाता है—

प्रस्तुत कर्ता ....

नम्बर	निर्दिष्ट राशि	प्राप्य और भुगतान के लिए प्रदत्त प्रति अंश (आवेदन तथा वितरण के साथ)	पूर्ण-प्रदत्त (अव्याज के अतिरिक्त और पूर्व प्रदत्त और पूर्व याचना)	
			प्रत्येक अंश	योग

रोकड़ के अतिरिक्त अंश वितरण

नम्बर.... .

निर्दिष्ट राशि ...

प्रति अंश पर पूर्ण-प्रदत्त राशि की मान्यता . ...रुपये

अंशों का निम्न विरण.... ....

धन और सम्पत्ति प्राप्त रुपये ..... .

(वितरण)

प्रतिष्ठा राशि .. ..

सविम राशि.... ... .

अन्य विवरण का स्पष्टीकरण रुपये.............. ...

बट्टे से अंश वितरण

निर्गमन अंशों की निर्दिष्ट राशि ....

प्रति अंश बट्टा राशि..............

प्रति अंश भुगतान ....

वितरण प्रातिकर्ता का नाम, पता और वितरण

वितरण तारीख	जिनको अंश वितरित किये गये हैं		विवरण	वितरित अंश		
	नाम	पता		पूर्वाधिकार अंश	साधारण अंश	अन्य किस्म

दिनांक.... ......

हस्ताक्षर ....

उपाधि .. ..

मांग (याचना)
(Calls)

जब कम्पनी के अंशों का वितरण हो जाना है, तो जो कुछ धन अशा का शेष रहता है, वह याचना (Calls) द्वारा मांगा जाता है। जो धन आवेदन-पत्र के साथ भेजा जाता है, वह कानून के अनुसार कम-से-कम निर्गमित पूँजी का ५ प्रतिशत होना आवश्यक है। शेष धन वितरण तथा याचना मे दिया जाता है। कम्पनी अपनी सुविधा के अनुसार अशो पर लिये जाने वाले धन को अनेक भागो मे बांट सकती है। ये भाग किसी निर्दिष्ट अनुपात मे रहने चाहिए, और प्रत्येक याचना को सचालकों के द्वारा ही किया जाना चाहिए।

याचना विधि (Procedure for Calls)—जिस समय अंशो को याचना की जाय, **सर्वप्रथम सचालको की सभा बुलाई जाती है। उसमे सचिव को देखना चाहिये कि याचना के लिये यथोचित प्रस्ताव पास कर दिया गया है।** प्रस्ताव के पास हो जाने के पश्चात् सदस्यों को याचना-पत्र भेजे जाते है।

याचना प्रस्ताव निम्नलिखित प्रकार से किया जाता है—

"यह स्वीकृत किया जाता है कि अर्द्ध प्रदत्त अशो नम्बर से नम्बर ' तक की रुपया की अंश के हिसाब मे दिनाक '१९६ तक कम्पनी के बैंक ''' ' लिमिटेड मे जमा किये जाने चाहिए, और याचना की सूचना दिनाक '' १९६ तक या उससे पहले कम्पनी के रजिस्टर किये हुए अशधारियो के पास पहुँच जानी चाहिए।'

इस प्रस्ताव के आधार पर तथा अन्तर्नियमो के अनुसार कम्पनी के सचिव को याचना की कार्यवाही प्रारम्भ करनी चाहिए।

मांग सूची (Calls List)—सर्वप्रथम उसको याचना-सूची बना लेनी चाहिये जिसका नमूना नीचे दिया जाता है।

याचना सूची
(Calls List)

साधारण अश की २० रुपये प्रति अश के हिसाब मे प्रथम याचना दिनाक · को करनी होगी।

क्रमाक	अंशधारियो का		अंश संख्या	अशधारी रजिस्टर पृष्ठ	शेष राशि	भुगतान तिथि	प्राप्त राशि	विशेष विवरण
	नाम	पता						

सूची बना लेने के पश्चात् उसको प्रत्येक व्यक्ति को याचना-पत्र भेजना होता है। याचना-पत्र लिखते समय भी सचिव को अन्तर्नियमों का अध्ययन कर लेना चाहिए और उसके अनुसार अंशधारियों को माँग सूचना भेजी जानी चाहिए। इसका नमूना नीचे दिया जाता है।

याचना पत्र

(Letter for Calls)

...... कम्पनी लिमिटेड

....

नम्बर ......अंश संख्या......   दिल्ली...... ....१९६

.. ..
.. ..
....
} अंशधारी का नाम व पता

प्रिय महोदय/महोदय,

आपको सूचित किया जाता है कि संचालकों ने दिनांक ....१९६ को प्रस्ताव द्वारा कम्पनी के अप्रदत्त अंशों का रुपया ......प्रति अंश तक प्रदत्त करते हुए उन अंशों पर ......रुपया प्रति अंश की याचना की है जिसका धन दिनांक ... १९६ तक या उससे पहले चुकाया जाना होगा; अतः आप से प्रार्थना है कि उपर्युक्त तिथि तक या उससे पहले आप ... ...रुपया (आप द्वारा अधिकृत अंशों का याचना मूल्य) कम्पनी के बैंक ... बैंक लिमिटेड में जमा कर दें।

भवदीय

. . सचिव

टिकिट

... . कम्पनी लिमिटेड के ... .अंशों की ....रुपया प्रति अंश याचना राशि के रूप में प्राप्त किया गया।

धन राशि

हस्ताक्षर...... ....

मांग रसीद (Call Receipt)—जब कम्पनी के पास याचना-धन आना प्रारम्भ हो जाता है तो कम्पनी के सचिव को उसके लिए रसीद देनी होती है। याचना-धन कम्पनी में ही प्राप्त किया जा सकता है अथवा कम्पनी के बैंक में। बैंक में जब सम्पूर्ण याचना राशि जमा हो जाय तो उसकी रसीद दे दी जानी चाहिये।

अंश-प्रमाण पत्र (Share Certificate)—याचना धन की प्राप्ति के बाद अंशधारियों के रजिस्टर में अंशधारियों द्वारा दी गई राशि उनके नाम के आगे जमा कर दी जायगी। कम्पनी को अपने अंशधारियों को अंश-प्रमाण-पत्र दे देना चाहिए जिसमें उनके द्वारा दी गई अंश-राशि का विवरण तथा आगामी भुगतानों का उल्लेख रहता है। यह अंश-प्रमाण-पत्र याचना करने के समय कम्पनी के पास पुनः भेज दिये जाते हैं, जिससे उन पर पृष्ठांकन किया जा सके।

अंश-प्रमाण-पत्र का स्वरूप

नम्बर · · कम्पनी लिमिटेड,

यह प्रमाणित किया जाता है कि श्री · ·· · निवासी उक्त कम्पनी में अंश क्रमांक · से ·· तक के · रुपये प्रति अंश के ·· ·· · अंशों के रजिस्टर्ड स्वत्वधारी हैं, उन्हें उक्त प्रत्येक अंश पर रु० का भुगतान करना पड़ेगा।

यह प्रमाण-पत्र कम्पनी की सार्वमुद्रा के अन्तर्गत दिनांक दिन को दिया जाता है।

मुद्रा

टिकिट · संचालक

···· · ··· · सचिव

नोट—इस प्रमाण-पत्र को प्रस्तुत किये बिना इसमें लिखे गये अंशों को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकेगा।

अंशों का हरण करना
(Forfeiture of Shares)

जब कम्पनी के अंशधारी याचना किये हुए धन को नियमित समय में नहीं चुका सकते तो सचिव को सर्वप्रथम उन अंशधारियों की एक सूची बनानी होती है।

उन व्यक्तियों को पुनः एक सूचना दी जाती है कि उनके अंशों की याचना-राशि प्राप्त नहीं हुई है और यदि वे उस राशि को लिखित समय के अन्दर जमा नहीं कर देंगे तो उनके ऊपर उचित कार्यवाही की जायेगी। जब उस समय के अन्दर भी अंशधारी उस राशि को जमा नहीं कर सकते तो सचिव उनकी सूची बनाकर सचालक-सभा के समक्ष प्रस्तुत कर देता है।

कम्पनी विधान में अंशो के अपहरण का कोई उल्लेख नहीं है। केवल इतना ही दिया गया है कि जिन अंशो का अपहरण किया जाय, उनका उल्लेख कम्पनी के वार्षिक प्रत्याय में होना आवश्यक है। इस प्रकार कम्पनी कानून में ऐसी कोई व्यवस्था न होने के कारण यह आवश्यक है कि इसका उल्लेख कम्पनी के अन्तर्नियमों में होना चाहिये। यदि कम्पनी के अन्तर्नियमो में इस प्रकार की व्यवस्था नहीं की जायगी तो सचालकों के लिये अंशो का अपहरण करना तभी सम्भव होगा, जब या तो अन्तर्नियमों में उचित सशोधन किया जाय तथा न्यायालय की अनुमति प्राप्त की जाय।

अंशो का हरण करते समय यह ध्यान में रखना चाहिये कि अन्तर्नियमों की समस्त धाराओं का पूर्ण रूप से पालन किया जाय। जैसे सारिणी (अ) के अनुसार कोई भी व्यक्ति जो याचित धन नहीं देता, तो उसको एक सूचना भेजी जानी चाहिये कि अधिक से अधिक **सूचना तिथि के चौदह दिन के अन्दर वह व्यक्ति ब्याज सहित याचित राशि को चुका दे, नहीं तो उसके अंशो का हरण हो जायगा।** इसके लिये सचालको की सभा में उचित प्रस्ताव पास किया जाना आवश्यक है। यदि सदस्य अथवा अंशधारी निश्चित समय तक याचित धन का भुगतान नहीं कर पाता, तो सचालक अपनी सभा में इस विषय का एक प्रस्ताव पास करेंगे जिसकी एक प्रतिलिपि सम्बन्धित अंशधारी को तथा एक रजिस्ट्रार के पास भेजी जायगी। अंशो के हरण के पश्चात् उसको प्रविष्टि अंशधारियों के रजिस्टर में कर दी जायगी। जिस व्यक्ति के अंशो का अपहरण किया जायगा उसके खाते में उन अंशो का पूर्ण विवरण लिख दिया जायगा।

ऊपर बताई हुई विधि कम्पनी के सचिव को बडी सावधानी के साथ अपनानी चाहिये और सभा में उसके लिये उपयुक्त प्रस्ताव पास करवा लेना चाहिये। प्रस्ताव की भाषा प्रायः निम्न प्रकार की होती है:—

"यह तय किया जाता है कि नम्बर १००१ से १०५० तक (जिनमे दोनों नम्बर सम्मिलित है) के ५० साधारण अंश १००) रु० प्रति अंश में से, जिनके लिए ५०) रु० प्रति अंश प्राप्त हो चुका है। किन्तु इन अंशो के स्वामी श्री रामकिशोर,

"तय किया जाना है नम्बर १००१ से १०५० तक के १००) रु० वाले ५० अंश जिनका ५० रु० प्रति अंश देय था; दिनांक ....को संचालक सभा के प्रस्ताव द्वारा अपहरित होकर श्री ... के नाम पुनर्निर्गमित किये जाते है। अब ये अंश ८०) रुपया प्रति अंश पूर्ण प्रदत्त होंगे। इन अंशों का हस्तान्तरण श्री ... के नाम कम्पनी की मुद्रा अंकित करके किया जायगा तथा रजिस्ट्रेशन के लिये यह हस्तान्तरण पास किया जायगा, इसके साथ इन अंशों का प्रमाण-पत्र श्री ... के नाम मुद्रांकित एव हस्ताक्षरित किया जायगा।"

अंश प्रमाण-पत्र
(Share Certificate)

अंश प्रमाण-पत्र कम्पनी का ऐसा प्रलेख है जिसमें अंशधारियों द्वारा लिये गये अंशों की संख्या, मूल्य तथा क्रम संख्या रहती है और जो अंशधारी का स्वामित्व प्रमाणित करने में सहायक होता है। कम्पनी कानून की धारा ११३ के अनुसार अंशों के वितरण के ३ माह के अन्दर प्रत्येक कम्पनी को अपने वितरित अंशों या ऋण-पत्रों के प्रमाण-पत्र तैयार कर लेने चाहिए। इसमें अंशधारी का नाम, पता, अंशों पर चुकाया गया धन, आदि सब अंकित कर दिया जाता है। जब अंश प्रमाण-पत्र तैयार हो जाता है तो प्रत्येक अंशधारी को इस आशय की एक सूचना भेजी जाती है जिसमें वे लोग स्वयं अथवा किसी प्रकार से अपने प्रमाण-पत्र को प्राप्त कर सकें।

प्रमाण-पत्र का स्वरूप (Form of Share Certificate)—अंश प्रमाण-पत्र कम्पनी का एक बहुत सुन्दर एवं आकर्षित ढंग से छपा हुआ पत्र होता है। अलग-अलग प्रकार के अंशों को भिन्न-भिन्न रंगों मे छापा जाता है। प्रमाण-पत्र एक किताब के रूप में रखे जाते है। प्रत्येक प्रमाण-पत्र के दो भाग होते हैं—एक तो वह जो अंशधारी को दिया जाता है, और दूसरा जो कम्पनी के कार्यालय में रहता है। जो भाग कम्पनी मे रहता है, उसमें अंशों की संख्या, प्रकार, क्रम-संख्या, अंशधारी का नाम, पता, व्यवसाय, अंश प्रमाण-पत्र निर्गमन की तिथि, अंशधारी का रजिस्टर नम्बर, प्रमाण-पत्र प्राप्तकर्ता के हस्ताक्षरों का स्थान। जो भाग अंशधारियों को दिये जाते है, उनमें प्रमाण-पत्र क्रम संख्या तथा उपर्युक्त बातों के साथ-साथ उन पर सार्व-मुद्रा (Common Seal) के साथ कम्पनी के प्रबन्ध-संचालक तथा कम्पनी के सचिव के हस्ताक्षर भी होते है तथा उस पर नीचे के भाग मे उचित टिकिट लगाया जाता है। नीचे प्रमाण-पत्र का स्वरूप दिया जाता है—

<table>
<tr>
<td>

अंश प्रमाण-पत्र

नं०··· ····

···अंशों के लिए

अंशों का नं० से तक निर्गमित किये गये थे ········ ········ वाले को

दि०···· ········ १९६

अंशधारी की रजिस्टर संख्या पन्ना ········

उपर्युक्त प्रमाण-पत्र दि०······ को प्राप्त हुआ।

ह० ····· ···अंशधारी

</td>
<td>

अंश प्रमाण-पत्र

······ · · कं० लिमिटेड

नं

यह प्रमाणित किया जाता है कि श्री वाले उपर्युक्त कम्पनी के से अंशों के रु० प्रति अंश रजिस्टर किये हुए अंशधारी हैं। इन्होंने रु० प्रति अंश चुका दिया है और रु० प्रति अंश इनको चुकाना पड़ेगा।

यह प्रमाण-पत्र कम्पनी की सार्वमुद्रा द्वारा दिनांक १९६ को दिया जाता है।

सार्वमुद्रा ह० प्रबन्ध संचालक

ह० ····· सचिव टिकिट

</td>
</tr>
</table>

प्रमाण-पत्र के तैयार हो जाने पर उसकी सूचना अंशधारी को दी जाती है। अंशधारियों अथवा उनके प्रतिनिधियों को अंश वितरण-पत्र का हस्तान्तरण रसीद आदि प्रलेखों के लौटाने पर नया अंश प्रमाण-पत्र के प्रभाग पर हस्ताक्षर करने के बाद प्रमाण-पत्र दिया जाता है। यदि कोई अपने प्रमाण-पत्र को डाक द्वारा मंगाता है तो कम्पनी उसकी सुपुर्दगी के लिए उत्तरदायी नहीं होती।

अंश प्रमाण-पत्र के पृष्ठ भाग में उसके द्वारा चुकाये गये मूल्य का विवरण रहता है, उसका नमूना इस प्रकार का होता है—

अंशों की संख्या तथा क्रम संख्या रु० आ०	प्रार्थना राशि रु० आ०	वितरण राशि रु० आ०	प्रथम याचना राशि रु० आ०	द्वितीय याचना राशि रु० आ०	तृतीय याचना राशि रु० आ०
. . .	.	. . .	.	. . ....	... ...

धारा ११३ (२) तथा (३) के अनुसार यदि कोई कम्पनी उचित समय के अन्दर प्रमाण-पत्रों का निर्गमन नही करती तो उसके अधिकारियों पर ५००) रु० प्रति दिन के हिसाब से दण्ड दिया जा सकता है तथा यदि न्यायालय के आदेश के १० दिन के अन्दर भी प्रमाण-पत्र का निर्गमन नहीं होता तो सम्बन्धित अधिकारी संपूर्ण व्यय के लिए उत्तरदायी होगा।

प्रमाण-पत्र के खो जाने पर (When Share Certificate is Lost) —यदि अशधारी का प्रमाण-पत्र खो जाय तो सचालक नये प्रमाण-पत्र की 'प्रतिलिपि' (duplicate) शब्द लिखकर तभी दे सकते हैं, जब अशधारी क्षतिपूरक पत्र के साथ अपना पूरा विवरण आवेदन-पत्र मे प्रस्तुत करे तथा कम्पनी के द्वारा उसका समुचित विज्ञापन कर दिया जाय। विज्ञापन का व्यय उस अंशधारी को सहन करना पड़ेगा। नये प्रमाण-पत्र के दिये जाने पर अशधारी रजिस्टर मे भी उसकी प्रविष्टि की जायगी।

नवीन प्रमाण-पत्र निम्नलिखित अवस्थाओं मे दिया जायगा—

"रोकड रसीद के वापिस लेने पर, अशो के हस्तान्तरण या पंजीयन पर, अशधारी की मृत्यु या दिवालिया होने के कारण उसके अश किसी अन्य को दिये जाने पर, पहले प्रमाण-पत्र के खराब या पुराने हो जाने पर, प्रमाण पत्र के खो जाने पर या प्रमाण-पत्र मे दिये गये अशो के विभाजन हो जाने पर।"

अश हस्तांतरण
(Share Transfer)

अशधारियों को कम्पनी के अन्तर्नियमो के अनुसार अपने अंशो का हस्तान्तरण करने का अधिकार है। यदि कोई अशधारी अपने अशो का हस्तान्तरण करना चाहता है तथा उसकी सूचना वैधानिक रूप मे कम्पनी को दे देता है तो सचालकों को उस हस्तान्तरण की रजिस्ट्री करनी आवश्यक होगी, इसमे यह देखना आवश्यक होगा कि हस्तान्तरण अन्तर्नियमों के अनुकूल है तथा सचालक सभा ने उस समय हस्तान्तरण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया हुआ है। सचिव को देखना होगा कि हस्तान्तरण पूर्ण वैधानिक ढंग पर किया जा रहा है। हस्तान्तरण की रजिस्ट्री तब

तक नहीं हो सकती, जब तक कि **हस्तान्तरण करने वाले तथा लेने वाले के नाम, पते, व्यवसाय आदि के साथ हस्तातरण सलेख पर टिकिट तथा हस्ताक्षर करके कम्पनी मे प्रस्तुत नही किया जाय** । इसमे कुछ छूट अवश्य दी गई है, जिसमे कि अशधारी को हस्तान्तरण करने का सामान्य अधिकार प्राप्त रहता है।

भारतीय कम्पनी कानून की धारा १०८ मे अशो के हस्नातरण करन की विधि बतलाई गई है। इसके लिए हस्तानरण कर्ता को कम्पनी के पास एक आवेदन पत्र भेजना पडता है। पत्र प्राप्त करते ही यदि सम्पूर्ण अशो का हस्तानरण न हो तो हस्तातरण प्राप्तकर्ता को कम्पनी की ओर से एक सूचना भेजी जानी चाहिए। **यदि वह सूचना भेजने के दो सप्ताह के अन्दर अन्दर किसी प्रकार का विरोध नहीं करता तो इसका नाम रजिस्टर मे लिख दिया जायगा**। यदि यह हस्तातरण कम्पनी के अन्तर्नियमो के विरुद्ध हो रहा हो, तो सचालको को अधिकार है कि वे कम्पनी के अशो के हस्तातरण पर रोक लगा दे। 'यदि वे दो माह के अन्दर अन्दर इस प्रकार का निर्णय नहीं कर लेते तो इनको ५०) रुपये प्रति दिन के हिसाब से दडित किया जा सकता है।

हस्तान्तरण संलेख (Transfer Deed)—अशो के हस्तातरण मे हस्तातरण-कर्ता तथा अश प्राप्तकर्ता के बीच एक **लिखित समझौता होना अत्यन्त आवश्यक है।** इस समझौते को हस्तातरण सलेख (transfer deed) कहते है। इस **सलेख पर दोनो व्यक्तियों के हस्ताक्षर, उचित टिकिट तथा क्षतिपूर्ति के लिये साथ मे एक आवेदन-पत्र रहता है।** जब तक इस प्रकार का संलेख कम्पनी मे प्रस्तुत नही किया जायगा, तब तक अशो के हस्नातरण के लिये कम्पनी के कार्यालय मे किसी प्रकार की कार्यवाही नही की जा सकेगी। सलेख पर उन दोनो व्यक्तियो के हस्ताक्षर की साक्षी के लिये दो अन्य मान्य व्यक्तियो के हस्ताक्षर भी आवश्यक है।

जब कम्पनी के पास हस्ततरण सलेख पहुच जाता है तो कम्पनी के सचिव को पूर्ण रूप से जाँच करके इसकी सूचना हस्तातरण-कर्ता तथा हस्तातरण प्राप्त कर्ता को भेजनी होगी। इसका नमूना प्रायः निम्न प्रकार का होता है—

हस्तांतरण-कर्ता को सूचना—"मुझे आपसे निवेदन करने की आज्ञा मिली है कि आपके हस्ताक्षरो द्वारा एक हस्तातरण विलेख कम्पनी मे प्राप्त हुआ है, जिसमे कि आपके ······से··· ··· तक के अश श्री ···· ····· को हतातरित किये गये है। यदि आपकी सूचना निश्चित समय के अन्दर नही आएगी, तो इसकी रजिस्ट्री के लिये उचित कार्यवाही की जायगी।

हस्तांतरण प्राप्तकर्ता को सूचना—आपसे निवेदन निवेदन किया जाता है कि हमारी कम्पनी के अशधारी श्री ·· ·····, जिनके पास मे · तक ··· रु० प्रति अंश प्रदत्त अंश है, ने आपके नाम अशो

यदि अंशधारी को अंशों का पूर्वाधिकार प्राप्त था, तो उसके अंशों का अधिकार उसके जीवित उत्तराधिकारियों को प्राप्त होगा। यदि अंशों का अधिकार साझेदारों में है और जो साझेदार जीवित है तो अंशों का स्वामित्व उनके पास चला जायगा। नवीन अधिनियम की सारिणी (अ) के २५ से २८ नियमों तक अंशों के पारेषण का स्पष्टीकरण किया गया है। किसी सदस्य की मृत्यु पर उसके उत्तराधिकारी तथा साझेदार या संयुक्त अधिकारी ही कम्पनी में उसके अंशों के अधिकारी माने जावेंगे। जो व्यक्ति उन अंशों का अधिकारी बनता है उसको इस आशय का प्रमाण-पत्र देना होगा कि वह वैधानिक अधिकारी है तथा अंशों को उसके नाम हस्तांतरित कर दिया जाय। इस प्रकार से नियुक्त किया हुआ व्यक्ति "जिससे संचालकगण भी संतुष्ट हों" के नाम अंशों का पारेषण किया जा सकेगा।

इस प्रकार के अधिकारी को कम्पनी के वह समस्त अधिकार प्राप्त होंगे जो पहले अंशधारी को थे तथा लाभांश में भी उसका वही अधिकार होगा।

ऐसे व्यक्ति का नाम रजिस्टर में लिखने से पूर्व संचालक-सभा को समुचित विज्ञापन करना होगा।

संचालक-सभा को लाभांश आदि के लिए एक नोटिस देना होगा और यदि उस व्यक्ति ने नोटिस के अनुसार अपने अंशों को अपने नाम पर अथवा किसी अन्य व्यक्ति के नाम पर रजिस्टर्ड नहीं करवाया तो संचालक सभा को उन अंशों पर किसी भी प्रकार से दिया जाने वाला धन रोकने का अधिकार है, और वह धन केवल तभी दिया जा सकेगा जब अंशधारी नोटिस की आवश्यकताओं को पूरा कर दें।

पारेषण विधि (Procedure of Transmission)—इस प्रकार की स्वीकृति देने के पूर्व संचालकों को इसकी एक आम सूचना देनी आवश्यक है। जब उचित समय के अन्दर उसका विरोध नहीं होता तो तो संचालकगण अंशों का पारेषण आवेदक के नाम कर देते हैं।

जिस व्यक्ति के नाम अंश परिवर्तित किये जाते हैं उसके लिये यह आवश्यक नहीं होता कि अंशों को अपने ही नाम पर रखे। उसको उन्हें बेचने अथवा हस्तांतरित करने का अधिकार प्राप्त है। इनका हस्तांतरण ठीक उसी प्रकार से किया जाता है जैसे कि सामान्य अंशों का किया जाता है, और उसको वही अधिकार प्राप्त हैं जो मृतक को प्राप्त थे। इसमें एक विशेषता यह है कि यदि उत्तराधिकारी चाहे तो बिना कम्पनी में अपना नाम रजिस्टर किये ही कम्पनी के अंशों को बेच सकता है।

जब उत्तराधिकारी के नाम अंशों का पारेषण हो जाता है तो कम्पनी की

ओर से उसको एक नवीन अंश प्रमाण-पत्र अथवा मृतक के अंश-प्रमाण-पत्र में यथोचित परिवर्तन कर सार्वमुद्रा के अकन सहित उसके दे दिया जाता है।

अंश अधिपत्र
(Share Warrants)

धारा ११४ के अनुसार कोई भी सीमित स्कन्ध कम्पनी अपने अन्तर्नियमों के अनुसार तथा केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति पर अपनी सार्वमुद्रा अकित करके पूर्ण प्रदत्त अंशों के लिए एक प्रमाण-पत्र निर्गमित कर सकती है। इस प्रमाण-पत्र को अंश अधिनियम कहते है। इसमे अंशो की संख्या तथा उन पर दिया जाने वाला लाभांश लिखा होता है। इस अंश अधिपत्र के आधार पर ही इसका वाहक (Bearer) इसमें लिखे हुए अंश या स्कन्ध का अधिकारी होता है तथा इसके देने पर ही उसके अंश या स्कन्ध का हस्तानतरण किया जा सकता है। यदि कम्पनी के अन्तर्नियमो मे दिया हो तो अंश अधिपत्र-वाहक कम्पनी का सदस्य माना जा सकता है किन्तु वह संचालक नही बन सकता।

धारा ११५ के अन्तर्गत जिस सदस्य को अंश अधिपत्र दिया जाता है, उसका नाम सदस्य रजिस्टर से काटकर उसके स्थान पर निम्नलिखित सूचनाएँ देनी होती हैं—

(१) अधिपत्र भेजने का कारण,
(२) अधिपत्र में दिये गये प्रत्येक अंश का क्रमाक,
(३) अधिपत्र दिये जाने की तिथि;

जब तक अंश अधिपत्र नही दिखाया जाता, उस समय तक सदस्य रजिस्टर मे लिखा हुआ तत्सम्बन्धी विवरण विधान के अनुसार यथार्थ माना जाता है।

यदि कोई अंश अधिपत्र वाहक कम्पनी का सदस्य होना चाहता है तो उसे अन्तर्नियमो के अनुसार उस अधिपत्र को कम्पनी मे रद्द करने के लिये जमा कर देना चाहिए तथा अपना नाम सदस्य रजिस्टर मे लिखा देना चाहिए। उसका नाम तब तक नही लिखा जा सकता, जब तक अधिपत्र रद्द न किया गया हो तथा उस पर संचालक सभा का उचित आदेश न हो गया हो।

यदि कोई रजिस्टर्ड अंशधारी अपने अंशो के लिये अधिपत्र लेना चाहता हो तो उसको अपने अंश प्रमाण-पत्र तथा आवश्यक शुल्क आदि आवेदन-पत्र के साथ कम्पनी के कार्यालय मे भेजना पड़ता है जिसके अनुसार संचालक उसको अधिपत्र निर्गमित कर सकते हैं।

धारा ११५ (६) के अनुसार यदि कोई अधिकारी इसके विपरीत कार्य करेगा तो उसको ५०) रु० प्रति दिन के हिसाब से दंडित किया जा सकता है।

ऋण-पत्र
(Debentures)

अपनी पूंजी को बढाने के लिये कम्पनियाँ अन्य पक्षों से उधार लेने के लिये प्रमाण स्वरूप से ऋण पत्रों का निर्गमन करती हैं। यह धन प्रायः अंश पूंजी के प्रकार से ही लिया जाता है।

कानून के अनुसार कोई भी स्कन्ध (Stock), बन्ध (Bond), या अन्य प्रतिभूति (Security) जो कम्पनी की किसी सम्पत्ति के आधार पर हो अथवा नही हो, ऋण पत्रों मे सम्मिलित किये जायेंगे। किन्तु धारा २९२ के अनुसार इसका निर्गमन संचालक सभा तथा उचित प्रस्ताव के द्वारा किया जा सकेगा।

ऋण पत्रों का निर्गमन धारा ५६ के अन्तर्गत तब तक नही किया जा सकेगा, जब तक इसका उल्लेख विवरण-पत्र मे न किया गया हो। इसके उल्लंघन करने पर सम्बन्धित अधिकारी उत्तरदायी ठहराये जायेंगे। इस विवरण-पत्रिका या उसके स्थान पर विवरण आलेख को प्रथम वितरण के तीन दिन पूर्व रजिस्ट्रार को प्रस्तुत किया जाना आवश्यक है, धारा ७०। जब ऋण-पत्र स्कन्ध-विनिमय (Stock-Exchange) मे निर्गमित किये जायें तो विवरण-पत्र के प्रकाशन के दस दिन पूर्व अनुमति ली जानी आवश्यक है, धारा ७३।

धारा ११७ के अनुसार ऋण-पत्र धारकों को मत देने का अधिकार नही होगा, और ऋण-पत्र धारकों का भी सदस्यों के समान कम्पनी मे रजिस्टर रखा जायगा और उनको उचित शुल्क देने पर ऋण-पत्र-सम्बन्धी जानकारी लिखित रूप मे प्राप्त करने का अधिकार होगा।

ऋण-पत्रों का हस्तांतरण—धारा १०८ से १११ तक ऋण-पत्रों के हस्तांतरण की क्रिया का विवरण किया है। इसका हस्तान्तरण केवल लिखित रूप से ही किया जा सकता है। इसके लिये हस्तान्तरण प्रलेख (Transfer Deed) बनाकर तथा उस पर उचित टिकिट लगाकर हस्तान्तरण-कर्ता अथवा हस्तांतरी को वैधानिक रूप से कम्पनी के कार्यालय मे प्रस्तुत करना पडेगा, और हस्तांतरण तभी सम्भव हो सकेगा, जब उस पर संचालक-सभा की स्वीकृति हो गई है। ऋण-पत्र ऋण-धारक के वैधानिक उत्तराधिकारी के नाम भी हस्तान्तरित किया जा सकता है। ऋण-पत्र विनिमय साध्य-पत्रक (Exchange as trump) होने मे उसका धारक सुविधा पूर्वक, कम्पनी के अन्तर्नियमों के अनुसार, किसी भी व्यक्ति को हस्तांतरित कर सकता है। यदि कम्पनी इसमे किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाती हो तो उसके लिए दो

महीने का नोटिस दिया जाना आवश्यक है। ऋण पत्र धारक को इसके विरुद्ध अपील करने का अधिकार होगा।

ऋण-पत्र निर्गमन अथवा हस्तान्तरण के तीन महीने के अन्दर ऋण-पत्र प्रमाण-पत्र दिया जाना आवश्यक है। यदि प्रमाण-पत्र नहीं दिया जाता तो कम्पनी के अधिकारी दण्डित किये जा सकते है, और यदि न्यायालय के आदेश के दस दिन के अन्दर वे प्रमाण-पत्र निर्गमित नहीं करते, तो न्यायालय खर्च सहित प्रमाण-पत्र सीधा प्राप्त कर सकता है। धारा १२१ के अनुसार भुगतान किये गये ऋण-पत्रों का पुन. निर्गमन किया जा सकता है।

कम्पनी के सचिव को अंशों, ऋण-पत्रों, आदि के निर्गमन, पुनर्निर्गमन, हस्तांतरण, पारेषण, प्रमाण पत्रों को देने की उचित व्यवस्था एवं इन सबका समुचित ब्यौरा रखने के लिये पूर्ण रूप से सजग रहना चाहिये। यदि वह किसी प्रकार की अशुद्धि या लापरवाही करता है तो सचालकों अथवा अन्य अधिकारियों के साथ वह स्वय भी पूर्ण रूप से उत्तरदायी माना जाता है। उसको अंशधारियों तथा ऋण-पत्र धारियों के रजिस्टर तथा अनुक्रमणिका को भी विधिवत् रखनी चाहिये। अनुक्रमणिका उस समय से रखी जानी आवश्यक है जब से अंश अथवा ऋण पत्रधारियों की सख्या ५० से अधिक हो जाय। उसको चाहिये कि वह इन रजिस्टरों मे प्रत्येक परिवर्तन की नियमानुकूल यथास्थान प्रविष्टि करता रहे, क्योंकि उसकी प्रविष्टि न करने पर केवल कम्पनी के कार्य मे ही अव्यवस्था न होगी, अपितु उसको भी दण्डित किया जा सकेगा।

प्रभार रजिस्टर
(Register for Charges)

कम्पनी के ऊपर उसके प्रभारो को नियमित रूप मे रखने का दायित्व है। धारा १४३ के अनुसार प्रत्येक प्रभार का रजिस्टर मे समुचित ब्यौरा रखना चाहिये, जैसे—प्रभारित सम्पत्ति का वर्णन, प्रभार की रकम, प्रभार के अधिकारी व्यक्ति का नाम आदि। इससे किसी प्रकार की अशुद्धि सम्बन्धित अधिकारी को दडनीय बना सकेगी। इस रजिस्टर को कम्पनी के मुख्य कार्यालय मे रखा जायगा तथा धारा १४४ के अनुसार कम्पनी के साहूकार कार्यालय के समय मे इसको निशुल्क जाँच कर सकेंगे। अन्य व्यक्ति १) रु० देने पर इसकी जाँच कर सकेंगे।

प्रभार मे रहन (Mortgage) आदि को भी सम्मिलित कर दिया गया है, और इसके लिये कानून मे अनेक नियम बनाये गये हैं। धारा १२५ के अनुसार इन

प्रभारों का उचित नोटिस दिया जाना आवश्यक है। कम्पनी को प्रभार के भुगतान का नोटिस रजिस्ट्रार को प्रभार के लागू किये जाने के पश्चात २१ दिन मे देना चाहिये।

विधानानुसार आवश्यक पुस्तकें
(Statutory Books)

विधान के अनुसार प्रत्येक कम्पनी को निम्नलिखित किताबें रखना आवश्यक है। इसलिए कम्पनी के सचिव को चाहिए कि वह उन किताबो को ठीक वैधानिक ढग से रखे। उनमे से ये मुख्य किताबें इस प्रकार है—

(१) अंशधारियों का रजिस्टर (Share-holders' Register)

(२) „ की अनुक्रमणिका (Share-holders' Index Register)

(३) „ की वार्षिक सूची (Annual List of Shareholders)

(४) विवरण पुस्तक (Minutes Books)

(५) संचालक, प्रबन्ध-कर्ता, प्रबन्धक आदि का रजिस्टर (Register of Directors, M. Agents, Mangers etc.)

(६) अनुबन्धो के रजिस्टर (Register for Contracts)

(७) गिरवी रजिस्टर (Bailment Register)

(८) ऋण-पत्रधारियो के रजिस्टर (Debenture-holders' Register)

(१) अंशधारियों का रजिस्टर—अंशधारियो के रजिस्टर मे (१) अंशधारियो का नाम, पता, व्यवसाय, अंशो की संख्या तथा उनके प्रकार, (२) जिस तिथि को अंशधारी की रजिस्ट्री की गई हो, वह तिथि; (३) अंशधारियों द्वारा लिये गये अंशो को क्रम सख्या, (४) अंशो की प्रदत्त राशि, (५) अंशधारियो की सदस्यता भग होने की तिथि आदि का उल्लेख रहता है। सामान्यतया अंशधारियो के रजिस्टर के निम्नलिखित खाने होते है—

अंशधारी रजिस्टर

दिनांक	अंशधारी का नाम, पता, व्यवसाय	नामे का विवरण	अंश संख्या	तथा क्रम	प्रति अंश	प्रदत्त राशि	बही पन्ना	कुल देय राशि	भुगतान की तिथि	लेजर बही	पन्ना	कुल प्रदत्त राशि	निरूपण

अंश हस्तांतरण

दिनांक	हस्तानारी का नाम व पता	अश सख्या	अश क्रम		हस्तातरी का पाना न०	हस्तातरण किये हुए अशो का मूल्य	हस्तानरण पर कुल चुकाया गया धन	निरूपण
			मे	तक				

कम्पनी कानून की धारा १०५ (२) के अनुमार यदि अंशधारियों के रजिस्टर को ठीक प्रकार से नही रखा जायगा तो कम्पनी के संचालकों पर ५०) रुपया प्रति दिन के हिमाव से जुर्माना किया जा मकता है। इमलिए सचिव को बहुत सावधानी से उम रजिस्टर को तैयार करना चाहिये। इम रजिस्टर मे नाम होने से अशधारी की मदस्यता का अखड प्रमाण हो जाता है।

(२) **अंशधारियो की अनुक्रमणिका—जिस कम्पनी मे ५० सदस्य से अधिक रहते हैं उसमें धारा १५१ के अनुसार अंशधारियों को संक्षिप्त सूची तथा ब्योरा** तैयार किया जाना चाहिए। यदि कोई सदस्य कम्पनी से अलग हो जाना है और अशधारी रजिस्टर मे वह परिवर्तन कर दिया जाता है नो **परिवर्तन के १४ दिन के** अन्दर अन्दर **धारा** १५० (ए, डी) के अनुमार अनुक्रमणिका पुस्तक मे भी परिवर्तन किया जाना चाहिए। यदि यह परिवर्तन उचित समय मे जान बूझकर नही किया गया तो कम्पनी के अधिकारियो पर ५०) रुपया प्रतिदिन के हिमाव से जुर्माना किया जा मकता है।

धारा १६३ के अनुसार उन अशधारियो का रजिस्टर तथा अनुक्रमणिका कम्पनी के प्रधान कार्यालय मे रहनी चाहिये, और प्रत्येक अंशधारी को अधिकार है कि वह एक रुपया देकर उनका निरीक्षण कर सके तथा उसकी प्रतिलिपि प्राप्त कर सकता है यह प्रतिलिपि उसको १० दिन के भीतर प्राप्त हो सकती है। सदस्यो को अधिकार है कि वे रजिस्टर मे आवश्यक शुद्धि करवा सकते है।

इन रजिस्टरो मे किमी प्रकार भी प्रन्याम की सूचना नहीं दी जा मकती, क्योकि अशधारी कम्पनी के मब प्रकार के लाभ के स्वामी होते है।

अंशधारियो का शाखा रजिस्टर भी रखा जा मकता है, और वह मुख्य रजिस्टर का एक अग माना जाता है। यह रीति प्रायः इगलैंड मे अपनायी जाती है।

धारा १५४ (१) के अनुसार वर्ष मे एक बार अधिक से **अधिक रजिस्टर ४५ दिन तक बंद किया** जा सकता है, किन्तु एक समय मे ३० दिन से अधिक रजिस्टर बंद नहीं किया जा मकता। रजिस्टर प्रायः उम ममय बद होता है, जब लाभाश बाँटा जाने

वाला हो अथवा कम्पनी का वार्षिक प्रत्याय बनाए जाने वाला हो। क्योंकि इस समय अंशधारियों के रजिस्टर में किसी तरह का परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

(३) अंशधारियों की वार्षिक सूची—प्रत्येक कम्पनी को जिसकी अंश-पूंजी है, अपने संस्थापन के १४ महीने के अन्दर-अन्दर तथा प्रति वर्ष अपनी कम्पनी के सदस्यों को जोकि उस समय कम्पनी के मेम्बर थे, एक सूची भेजनी पड़ती है, जिसमें निम्नलिखित बातें दी जाती हैं—

(१) कम्पनी की अंश-पूंजी तथा विभाजित अंशों की संख्या। (२) कम्पनी के प्रारम्भ होने से सूचना तिथि तथा लिये गये अंशों की संख्या। (३) अंशों की याचित-राशि। (४) अंशों की प्राप्त-राशि। (५) अंशों की अप्राप्त-राशि। (६) अंश तथा ऋण-पत्रों पर दिये हुए कमीशन की राशि। (७) रद्द किये हुए अंशों की संख्या। (८) अंश या स्कन्धों का कुल राशि जिनके लिये अंश अधिपत्र (Share warrant) नहीं दिये गये है। (९) अंश की निर्गमित तथा समर्पित संख्या। (१०) प्रत्येक अंश अधिपत्र में समाविष्ट (Comprised) अंशों की संख्या तथा स्कन्धों की राशि। (११) संचालक, प्रबन्ध-अभिकर्ता तथा प्रबन्धकों के नाम व पते तथा उनमें परिवर्तन। तथा (१२) रजिस्टर्ड किये हुए गिरवी तथा प्रभारण (Charges) का उल्लेख तथा कम्पनी की ओर रहने वाले ऋणों की शेष राशि।

इस सूचना को प्रथम वार्षिक सभा के २१ दिन के अन्दर तैयार करके उचित व्यक्तियों के हस्ताक्षर करवाकर रजिस्ट्रार के पास भेज देनी पड़ती है। यदि कम्पनी में ५० अंशधारियों से अधिक हों तो संचालक की ओर से इस दशा में प्रमाण-पत्र भेजना आवश्यक है।

(४) विवरण पुस्तकें—धारा १६३ के अनुसार प्रत्येक कम्पनी को आम सभा तथा संचालकों की सभा की विवरण पुस्तकें रखनी पड़ती है। ये पुस्तकें कम्पनी के प्रधान कार्यालय में रहनी चाहिये तथा प्रति दिन दो घन्टे सदस्यों के निरीक्षण के लिए कार्यालय में खुली रहनी चाहिए। यदि कोई सदस्य एक सप्ताह के अन्दर उसकी प्रतिलिपि लेना चाहता हो तो उसे उसका शुल्क जमा करना पड़ता है। इन पुस्तकों में निम्नलिखित विवरण रखना आवश्यक है।

(१) संचालकों की सभा में होने वाले प्रत्येक कार्यक्रम का विवरण रखा जाना चाहिये। (२) विवरण-पत्र सभापति के हस्ताक्षर हो जाने पर उसको वैधानिक मान्यता दी जायगी। (३) सामान्य स्थिति में जिन सभाओं का विवरण पुस्तिकाओं में लिख दिया जायगा, उन सभाओं को वैधानिक मान्यता दी जायगी, और उन सभाओं में किये जाने वाले निर्णय कम्पनी के ऊपर प्रतिबन्धित रहेंगे।

यदि विवरण-पुस्तिका के निरीक्षण या प्रतिलिपि देने से कम्पनी के अधिकारी जान-बूझकर इन्कार करते है, तो वे जुर्माना के लिए उत्तरदायी होंगे ।

(५) संचालक, प्रबन्ध-अभिकर्ता, प्रबन्धक आदि का रजिस्टर—प्रत्येक कम्पनी को धारा ३०३ के अनुसार उपर्युक्त अधिकारियो के रजिस्टर को कम्पनी के प्रधान कार्यालय मे रखना पडेगा जिसमे कि उनका पूरा नाम, पता, जातीयता आदि का उल्लेख रहेगा। यदि वह कोई कम्पनी या सस्था है तो उसका पूरा नाम, उसके सदस्यो का नाम, पता तथा जाति लिखी जानी चाहिये। यदि वह सस्था हो तो उसका प्रमुख कार्यालय तथा उसका पता लिखा जाना चाहिए। कम्पनी के प्रथम सचालक की नियुक्ति के या उसमे किसी प्रकार के **परिवर्तन होने से; इन समस्त बातो का विवरण २८ दिन के अन्दर-अन्दर रजिस्ट्रार के पास पहुँच जाना चाहिये तथा २८ दिन के अन्दर उसका विज्ञापन कर दिया जाना चाहिये।** यह रजिस्टर कम्पनी के कार्यालय मे सदस्यो के निरीक्षण के लिये खुला रहेगा और कोई भी अन्य व्यक्ति १) रु० देकर उसका निरीक्षण कर सकेगा। यदि कम्पनी के अधिकारी उसका निरीक्षण करने के लिये इन्कार करेगे तो उन पर ५०) रुपया तक जुर्माना किया जा सकेगा।

संचालक रजिस्टर का नमूना

वर्तमान नाम तथा जाति	पूर्व नाम तथा जाति	घर का पता	वर्तमान राष्ट्रीयता	मूल राष्ट्रीयता	व्यवसाय	अन्य प्रकार का संचालन	बदलने की तिथि	बदली का विवरण	प्रत्याय की तिथि	निरूपण

(६) अनुबन्धों के रजिस्टर—कम्पनी जितने भी अनुबन्ध करती है उनका रजिस्टर धारा ३०१ (४) के अनुसार कम्पनी के प्रधान कार्यालय मे रखा जाना चाहिए तथा उसमे अनुबन्ध-सम्बन्धी समस्त सूचनाओ का उल्लेख रहना चाहिये। इसको भी ऑफिस के कार्यकाल मे सदस्यगण देख सकते है।

(७) गिरवी तथा प्रभार रजिस्टर—धारा १४३ के अनुसार कम्पनी को इस प्रकार का रजिस्टर रखना बहुत आवश्यक है, जिसमे कि इन बन्धकों तथा प्रभारो का कम्पनी की सम्पत्ति तथा गतिशील प्रभारो पर प्रभाव पडता है, उनका सूक्ष्म विवरण के साथ लिखा जाना अत्यन्त आवश्यक है। जो कुछ प्रभारण तथा बन्धकों

का विवरण हो उनका तथा उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों का उसमें स्पष्ट उल्लेख किया जाना चाहिये।

यह पुस्तक कम्पनी के साहूकारों की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि ऋण देते समय वे इस पुस्तक के द्वारा यह मालूम कर सकते हैं कि कम्पनी की सम्पत्ति की क्या स्थिति है।

यदि कम्पनी के अधिकारी इसमें जान-बूझकर किसी प्रकार की अशुद्धि करते है या किसी विवरण को नहीं लिखते है तो वे ५००) रुपया तक दंड के भागी होंगे।

(८) **ऋण-पत्रधारियों का रजिस्टर—**धारा १५२ के अनुसार कम्पनी को ऋण-पत्रधारियों का रजिस्टर रखना आवश्यक होता है और वह कम्पनी के अंश-धारियों तथा ऋण-पत्रधारियों के निरीक्षण के लिए खुला रहता है। यह ऋण-पत्र एक वर्ष में अधिक से अधिक ३० दिन तक बंद रखा जा सकता है। यदि कोई ऋण-पत्रधारी अथवा अंश-पत्रधारी इसकी प्रतिलिपि लेना चाहे तो प्रति १०० शब्दों के लिए ६ आने देकर वह प्रतिलिपि ले सकता है।

(९) **अन्तिम वार्षिक लेखा प्रत्याय—**धारा १९६ व २१० के अनुसार प्रत्येक कम्पनी को अपने अन्तिम लेखे, जैसे—बैलेंस शीट (Balance Sheet) आदि का लेखा बनाकर बैलेंस शीट तथा नफा-नुकसान के खाते के साथ यथोचित समय के अन्दर प्रति वर्ष प्रकाशित करना चाहिए तथा उसकी प्रतिलिपि अंशधारियों और रजिस्ट्रार के पास सभा होने के कम-से-कम २१ दिन पूर्व भेजनी चाहिए।

अंशधारियों के अधिकार
(Rights of Shareholders)

(अ) कम्पनी के अंशधारियों के लिए विधान के अनुसार कम्पनी को हिसाब किये हुए समस्त किताबें रखना आवश्यक है। जिनमें-(१) कम्पनी में जो धन आया है तथा जितना व्यय किया गया है, उसके व्यय करने का ढंग तथा राशि, (२) कम्पनी के विक्रय माल का क्रय-विक्रय, (३) कम्पनी की सम्पति तथा ऋण। अंशधारी इन पुस्तकों को उसी अवस्था में देख सकते हैं जब उन्होंने अपनी साधारण मीटिंग में यह प्रस्ताव पास कर लिया हो कि अंशधारियों को हिसाब की पुस्तकें देखने का अधिकार प्राप्त है। वे कम्पनी के हिसाब को केवल कम्पनी के कार्यालय में ही देख सकते हैं। यदि कम्पनी का हिसाब-किताब नियमानुकूल नहीं रखा गया हो तो कम्पनी के प्रबन्धक तथा प्रबन्ध अभिकर्ता पर १०००) रुपये तक जुर्माना किया जा सकता है। प्रबन्ध-अभिकर्ता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि समस्त हिसाब की पूर्ण रूप से जाँच करे, जिससे उसमें किसी प्रकार की अशुद्धि न रहने पाये। अंशधारियों को अन्तिम खातों की प्रतिलिपियां को निशुल्क प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त है। जैसे प्रकाशित

चिट्ठा तथा हानि-लाभ का खाता और सचालकों तथा अंकेक्षकों की रिपोर्ट आदि जिससे वे कम्पनी की स्थिति का सही-सही अनुमान लगा सकें। इसके अलावा वे कम्पनी के सम्बन्धित अनुबन्ध, बन्धक तथा प्रभार रजिस्टरों का निरीक्षण भी कर सकते हैं।

(ब) कम्पनी की जितनी भी बैठकें होती है, उन बैठकों मे की गई कार्यवाही का समुचित विवरण विवरण-पुस्तक (Minute Book) मे किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। यह विवरण-पुस्तके अंशधारियों, या कम्पनियों के सदस्यों के निरीक्षण के लिए कम्पनी के कार्यालय मे खुली रहती है, और कम्पनी के अंशधारी बिना किसी प्रकार का शुल्क दिये हुए उनका निरीक्षण तथा अध्ययन कर सकते है। यदि किसी अंशधारी को उसकी प्रतिलिपि की जरूरत हो तो वह एक निश्चित राशि शुल्क के रूप मे जमा करके उसकी प्रतिलिपि प्राप्त कर सकता है। कम्पनी के कार्यालय मे शुल्क जमा करा देने के पश्चात् एक सप्ताह अन्दर-अन्दर आवेदन-कर्ता के पास प्रतिलिपि पहुँच जानी चाहिए। विवरण-पुस्तक मे यदि किसी प्रकार की असत्य कार्यवाही का वर्णन किया गया हो तो दूसरी सभा मे सदस्यगण उस असत्य का विरोध करके उसमे यथोचित सुधार करा सकते है। इस प्रकार के सुधारों को करने के लिए सभा अध्यक्ष के हस्ताक्षरों की जरूरत होती है और सुधारो पर उसके हस्ताक्षर हो जाने के पश्चात् सुधारों को वैधानिक घोषित कर दिया जाता है। विवरण-पुस्तक की प्रतिलिपि प्राप्त करने के लिए आवेदन-कर्ता को छः आना (३८ नए पैसे) प्रति १०० शब्द शुल्क के रूप मे देना पड़ता है।

(स) संचालकों की सभा मे हुई कार्यवाही सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति के निरीक्षण के लिये खुली नही रहती, किन्तु आवेदन करने पर सदस्य सचालकों की सभा की विवरण-पुस्तिका का निरीक्षण कर सकता है और पता पड़ने पर उसकी प्रतिलिपि भी ले सकता है। किन्तु जो कार्य गोपनीय रहते है उनकी प्रतिलिपि नहीं दी जा सकती।

अंशधारियों को कम्पनी के रजिस्टरों तथा पत्रकों के निरीक्षण करने का अधिकार तो रहता ही है और वे उनकी प्रतिलिपि भी प्राप्त कर सकते है, किन्तु इसके लिए कम्पनी के अन्तर्नियमों मे एक स्पष्टीकरण किया जाना आवश्यक है। यदि अन्तर्नियमों का इस प्रकार का कोई उल्लेख न हो तो उसके लिए अंशधारी आम सभा मे एक प्रस्ताव पास करके उक्त अधिकार को प्राप्त कर सकते हैं कि वे या उनके प्रतिनिधि प्रतिलिपियों को हस्तगत कर सकें।

कम्पनी का समापन

(Winding up of Company)

कम्पनी अपने कार्य या अस्तित्व को एक निश्चित वैधानिक ढंग से ही समाप्त

करती है। इस समाप्ति की सूचना समस्त हित वाले दलों को दी जानी आवश्यक होती है। कम्पनी के अंशधारियों का दायित्व उनके अंशों के अप्रदत्त भाग तक ही सीमित रहता है। कम्पनी के प्रवन्ध-अभिकर्ता इत्यादि, का यदि उत्तरदायित्व असीमित हो, तो कम्पनी के समापन के समय उनको अतिरिक्त दायित्व की पूर्ति करनी होगी।

कम्पनी की समाप्ति पर दिवाला अधिनियम (Insolvency Act) लागू नहीं होता और उसको कम्पनी अधिनियम के अनुसार ही अपना समापन करना होता है। कम्पनी के समापन में यह आवश्यक नहीं कि वह दिवालिया हो ; अपितु कम्पनी के अंशधारी, सरकार, न्यायालय, साहूकार आदि भी उसका समापन कर सकते है। इस प्रकार धारा ४२५ के अनुसार कम्पनी का समापन ऐच्छिक (voluntary), न्यायालय द्वारा (by court), या न्यायालय के तत्वावधान में (under the supervision of court)।

न्यायालय द्वारा समापन (Winding up by Court)—न्यायालय कम्पनी के समापन के आदेश निम्नलिखित स्थितियों मे दे सकता है—

(१) कम्पनी ने विशेष प्रस्ताव द्वारा तय किया हो कि उसका समापन न्यायालय द्वारा ही हो।

(२) प्रथम वैधानिक सभा मे अशुद्धि या उसके आलेख को रजिस्ट्रार के पास प्रस्तुत करने मे अशुद्धि।

(३) यदि कम्पनी समामेलन के एक वर्ष के अन्दर व्यापार प्रारम्भ न करे अथवा छोड़ दे।

(४) यदि सार्वजनिक कम्पनी की सदस्यता ७ से कम, तथा निजी कम्पनी की दो से कम हो गई हो।

(५) यदि कम्पनी ऋण न चुका सकी हो।

(६) यदि न्यायालय उसका समापन उचित समझे।

कम्पनी के समापन के लिये न्यायालय मे निम्नलिखित व्यक्ति आवेदन पत्र प्रस्तुत करते हैं—

(१) स्वयं कम्पनी, (२) उसके अलग-अलग प्रकार के साहूकार, (३) कम्पनी के सहयोगी, (४) सरकार की आज्ञा से रजिस्ट्रार के द्वारा, तथा (५) केन्द्रीय सरकार के द्वारा नियुक्त किसी व्यक्ति के द्वारा यह आवेदन कम्पनी के साहूकार सामूहिक या व्यक्तिगत रूप से कर सकते है। धारा ४४० के अनुसार यदि समापन ऐच्छिक हो तो इसमे न्यायालय को सबका हित देखना आवश्यक होगा।

न्यायालय के अधिकार (Rights and Powers of Court)—न्यायालय किसी समापन के आवेदन-पत्र पर अपनी स्वीकृति या अस्वीकृति प्रदान कर सकता है तथा उस पर समुचित कानूनी व्यवस्था कर सकता है। किन्तु उस अवस्था में जब कि

कम्पनी की सम्पत्ति रहन रखी हुई हो अथवा पूर्व लिखित कारणों से समापन के लिये आवेदन प्रस्तुत किया गया हो, तो न्यायालय उसको अस्वीकार नहीं कर सकेगा। धारा ४६७ के अनुसार जब न्यायालय द्वारा समापन का आदेश जारी हो जाता है तो न्यायालय कम्पनी के समापन के लिये अपाकरणाधिकारी (Liquidator) की नियुक्ति करता है तथा उसके अधिकार में कम्पनी की समस्त व्यवस्था चली जाती है। साहूकारों को एक निश्चित समय के अन्दर अपने दावों की पुष्टि कर देनी होती है, जिसके बाद उनके भुगतान की व्यवस्था कर दी जाती है। यदि न्यायालय को कम्पनी के किसी कार्यकर्ता अथवा व्यक्ति पर कम्पनी के सम्पत्ति-सम्बन्धी सन्देह होता है, तो उसको न्यायालय में प्रस्तुत करवा सकता है तथा उसके विरुद्ध उचित कार्यवाही की जा सकती है। समापन के आदेश के बाद निम्नलिखित कार्यवाही की जानी आवश्यक होती है—

(१) सरकारी अपाकरणाधिकारी (Official Liquidator) को इसकी सूचना।

(२) समापन के आदेश की एक प्रति आवेदन को एक महीने के अन्दर रजिस्ट्रार को प्रेषित करनी होती है।

(३) रजिस्ट्रार उस प्रति के आधार पर अपने रजिस्टरों में उसकी उपयुक्त प्रविष्टि करता है तथा उसको राजपत्र में प्रकाशित करवाना होता है।

राजपत्र में प्रकाशित होते ही कम्पनी के समस्त अधिकारी एवं कार्यकर्ता अपने पद से मुक्त समझे जाते हैं। यदि आवेदनकर्ता अथवा कम्पनी के अधिकारी उक्त प्रतिलिपि नियत समय में रजिस्ट्रार को प्रेषित नहीं करते, तो धारा ४४४ तथा ४४५ के अनुसार सम्बन्धित अधिकारों को अप्राप्ति (Default) के समय के लिये प्रतिदिन के हिसाब से दंडित किया जा सकता है।

सरकारी अपाकारणाधिकारी (Liquidator) न्यायालय के आदेश, कम्पनी के अन्तर्नियम तथा कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत कम्पनी के समापन का कार्य करेगा।

ऐच्छिक समापन (Voluntary Winding up)—धारा ४८४ के अनुसार निम्नलिखित परिस्थितियों में कम्पनी का ऐच्छिक समापन किया जा सकेगा—

(१) जब कम्पनी के अन्तर्नियमों में कम्पनी का कार्य-काल निश्चित हो। ऐसी अवस्था में कम्पनी का समापन साधारण प्रस्ताव द्वारा हो सकता है।

(२) यदि कम्पनी के अन्तर्नियमों में किसी विशेष घटना के हो जाने पर कम्पनी के समापन का आदेश हो, तो वह समाप्त कर दी जायगी। इसके लिये विशेष प्रस्ताव पास किया जाना आवश्यक है।

(३) यदि कम्पनी *विशेष प्रस्ताव* द्वारा कम्पनी को *समाप्त करना चाहती हो*, तो कर सकती है।

इस प्रकार के विशेष प्रस्तावों के पास होने पर १४ दिन के अन्दर उसका विज्ञापन राजपत्र मे तथा उस जिले अथवा प्रात के प्रमुख पत्रो मे कर दिया जाना चाहिये। विज्ञापन करने की अवस्था मे समस्त सम्बन्धित अधिकारी प्रतिदिन के हिसाब से अप्राप्ति के लिये दडित किये जायेंगे।

ऐच्छिक समापन के प्रकार (Kinds of Voluntary Winding up)—ऐच्छिक समापन कम्पनी के अशधारियों तथा साहूकारों के द्वारा किया जा सकता है। इसका विवरण धारा ५१० से ५२१ तक किया गया है, जिसमे से कुछ निम्न है—

(१) कम्पनी के सदस्यों के बीच उसके अधिकार तथा हितो के अनुसार सम्पत्ति का विभाजन।

(२) अपाकरणाधिकारी कोई सस्था नही हो सकेगी।

(३) अपाकरणाधिकारी की नियुक्ति पर किसी प्रकार का लालच दिलवाना दडनीय होगा।

(४) अपाकरणाधिकारी को अपनी नियुक्ति की सूचना रजिस्ट्रार के पास छपे हुए पत्रक पर तुरन्त भेजनी पडेगी।

(५) कम्पनी के ¾ ऋण की रकम के साहूकारो तथा कम्पनी के बीच हुए समझौते, जिनके लिये विशेष प्रस्ताव पारित कर दिया गया हो, कम्पनी पर बाध्य (binding) समझे जायेंगे।

(६) न्यायालय को उचित कारणों पर अपाकरणाधिकारी को हटाने तथा नियुक्त करने का अधिकार होगा।

(७) कम्पनी के विनियोक्ताओं, साहूकारो, या अपाकरणाधिकारी के आवेदन पर कम्पनी के समापन की किसी भी समस्या को हल करने तथा प्रवर्तको, सचालकों, आदि के जवाब तलब करने का अधिकार होगा।

(८) न्यायालय को अपाकरणाधिकारी के पारिश्रमिक तथा कम्पनी के समापन के व्यय का निर्धारण करने का अधिकार होगा। अपाकरणाधिकारी को समापन के सम्बन्ध मे अनेक अधिकार प्राप्त है, जैसे—हिसाब-किताब रखना, निरीक्षक समिति की नियुक्ति करना, साहूकार आदि को चुकाना, कम्पनी का व्यापार चलाना, आदि।

न्यायालय के तत्वावधान मे (Under the Supervision of Court)—जब कम्पनी ऐच्छिक समापन का प्रस्ताव पास कर देती है, तो कभी-कभी न्यायालय उसके समापन को अपने तत्वाधान मे करने का आदेश दे सकता है। इस प्रकार के समापन मे प्रायः विनियोक्ताओं तथा साहूकारो के हित सुरक्षित हो जाते हैं। इस दशा मे न्यायालय को अनेक अधिकार प्राप्त हो जाते है, जैसे—वह अतिरिक्त अपाकरणाधिकारी नियुक्त कर सकता है, उसको हटा सकता है तथा उसके स्थान पर नई

नियुक्ति कर सकता है। उसके वही अधिकार होते है, जो ऐच्छिक समापन पर नियुक्त किये जाने वाले अपाकरणाधिकारी के होते हे।

पूर्वाधिकार शोधन (Preferential Payments)--कानून के अनुसार कुछ ऋणों को चुकाये जाने के लिये पूर्वाधिकार प्राप्त है। उनका वर्णन नीचे किया जाता है—

(१) केन्द्रीय तथा राज्य सरकार एव स्थानीय अधिकारियों के कर, चु गी, लगान, आदि।

(२) कम्पनी के कार्यकर्ताओं के वेतन, कमीशन आदि जो समापन के चार मास पूर्व का हो।

(३) किसी कार्यकर्ता की नौकरी के छूट जाने, मृत्यु हो जाने या कम्पनी का समापन हो जाने पर उसकी छुट्टियों का वेतन।

(४) कम्पनी के ऐच्छिक समापन पर १२ मास पूर्व किये गये समस्त विनियोग।

(५) मजदूरों की क्षति-पूर्ति।

(६) कार्यकर्ताओं के प्राविडेण्ट फण्ड, पेनशन, ग्रेचुटी आदि।

(७) किसी अन्य प्रकार को जाँच आदि के व्यय।

सम्पत्ति के विक्रय से जो धन प्राप्त होता है, उसको लेनदारों तथा साहूकारों मे निम्नलिखित क्रम से बाँटा जा सकता है—सुरक्षित उत्तमर्ण को, सम्पत्ति का व्यय तथा अपाकरणाधिकारी का वेतन, पूर्वाधिकार उत्तमर्ण को, प्राधिऋण-पत्र धारक (Floating debenture holders), अरक्षित उत्तमर्ण तथा अधिकारानुसार अशधारियों को।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 What do you mean by secretary ? What should be his qualifications in order to perform his duties efficiently ?

2 What are generally the duties of a secretary ?

3 Describe in detail the law and practice regarding the forfeiture and re-issue of forfeited shares.

4 What is the duty of a secretary regarding the issue of shares ?

5 Define a 'Share Certificate'. When must such certificate be issued to allottees and transferees, and what is the remedy of a share holder whose certificate has been lost or destroyed ?

6 Write a note on transmission of shares

7 What are the main points that a secretary should note while issuing debenture ? How far he is liable ? Explain.

8 What precautions should a secretary take before issuing a duplicate certificate in place of the one lost by a shareholder?

9 Describe briefly the Secretarial practice relating to the transfer of a company's shares and draft the notice that have to be issued to transferor and/or transferee.

10 What statutory books and records are required to be kept by a company under the Indian Companies Act? Explain a few of them.

11 Explain the powers of the shareholders in regard to the statutory books and records?

12 Write a short Essay on 'Liquidation of Companies'.

कम्पनी की बैठकें तथा प्रस्ताव ११

(Meetings and Resolutions of Company)

बैठकें (Meetings)—कम्पनी का संगठन परोक्ष होने के कारण उसके समस्त कार्य कम्पनी के अंशधारियो तथा सचालको की सभाओ मे निश्चित की गई नीतियों के अनुसार चलाये जाते हैं। मुख्य रूप से कम्पनी का व्यक्तित्व ही अशधारियो की सामूहिक जमात के द्वारा बनता है; जिसमे अशधारी प्रत्यक्ष या प्रतिपुरुष (Proxy) के रूप मे सम्मिलित होकर, समय-समय पर कम्पनी के प्रबन्ध के लिए, नीति का निर्धारण करते है और उसको कार्यान्वित करने के लिए सचालको का चुनाव करते है। संचालक उनके प्रतिनिधियो तथा प्रन्यासियो (Trustees) के रूप मे कम्पनी के दैनिक कार्य को चलाते है। किन्तु विशेष परिस्थितियो मे कम्पनी के संचालकगण भी अपना पूरा समय नही दे सकते। इसलिए कम्पनी कानून मे उन अनेक परिस्थितियो का वर्णन किया गया है जिसमे अलग अलग परिस्थितियो के अनुसार कम्पनी का जनतत्री ढंग से प्रबन्ध किया जायगा। अशधारियो की सभाएँ यद्यपि प्रमुख हैं, किन्तु प्रबन्धात्मक अधिकार सचालक सभा को ही प्राप्त होते हैं और इसीलिए संचालकगण सामूहिक रूप से सदस्यो के प्रति उत्तरदायी होते है। अंशधारियों को सचालको की प्रत्येक गतिविधि की जाँच करने का अधिकार होता है तथा सचालको को अपने समस्त हितों का खुलासा करना आवश्यक है, और इसीलिए कानून मे उपयुक्त लेखे तथा रजिस्टरो को रखा जाना आवश्यक किया गया है।

नीचे अशधारियो तथा सचालको के सभा-सम्बन्धी अधिकारों तथा कार्यक्रमो का वर्णन किया जाता है।

प्रथम वैधानिक सभा
(Statutory Meetings)

धारा १६५ के अनुसार प्रत्येक अंशो द्वारा सीमित सार्वजनिक कम्पनी को अपने व्यापार के प्रारम्भ करने की तिथि के कम-से-कम एक महीने तक तथा अधिक से अधिक छः महीने के अन्दर एक व्यापक सभा बुलानी आवश्यक होती है, जिसको वैधानिक सभा (Statutory Meeting) कहते हैं। यह कम्पनी की प्रथम सभा होती है और इसमे कम्पनी के अंशधारी उसके निर्माण तथा प्रवर्तन की विशेष

जानकारी करते हैं। इस सभा में वे कम्पनी के निर्माण तथा प्रवर्तन हुए व्यय, पूंजी निर्गमन, धन राशि के रूप में प्राप्त पूंजी, खरीदी गई सम्पत्ति, कमीशन, कर्मचारियों की नियुक्ति आदि के विषय में स्पष्ट जानकारी तथा विचार करते हैं।

धारा १६५ (२) के अनुसार वैधानिक सभा में निम्नलिखित बातों का स्पष्टीकरण होना चाहिए।

(१) कुल निर्गमित अंशों की संख्या तथा कितने अंश पूर्ण प्रदत्त (Fully paid-up) तथा कितने आंशिक प्रदत्त (Partly paid-up) हैं और कितनों के लिये धन के अलावा अन्य प्रतिफल (Considerations) दिया गया है।

(२) अंश वितरण पर कितना धन प्राप्त हुआ है।

(३) आरम्भ (Report) के ७ दिन पूर्व तक कम्पनी ने कितना धन प्राप्त किया है तथा कितना दिया है और उसके पास शेष कितना है।

(४) अंशों तथा ऋण-पत्रों से कितना धन प्राप्त हुआ है तथा उन पर कितना बट्टा दिया गया है।

(५) कम्पनी के प्रारम्भिक खर्चों (Preliminary Expenses) का हिसाब।

(६) कम्पनी के संचालकों, अंकेक्षकों, तथा प्रबन्ध अभिकर्ताओं, सचिव तथा कोषाध्यक्ष, प्रबन्धक (यदि कोई हों) के नाम, पते तथा व्यवसाय आदि का पूर्ण ब्योरा।

(७) अनुबन्ध का विस्तृत विवरण।

(८) यदि कोई अभिगोपन अनुबन्ध (Underwriting Contract) पूरा नहीं हुआ हो, तो उसकी सीमा तथा कारणों का उल्लेख।

(९) कम्पनी के संचालक, प्रबन्ध अभिकर्ता या उनके सम्बन्धियों के द्वारा न दी गई याचना राशि का विवरण।

(१०) अंश तथा ऋण-पत्र निर्गमन पर संचालक या प्रबन्ध अभिकर्ता या उनके रिश्तेदारों या साझेदारों को दिया जाने वाला कमीशन या, दलाली का विशिष्ट विवरण।

इसके साथ-साथ अब अंशधारियों को इन सब सूचनाओं का स्पष्ट प्रमाण-पत्र मिलना चाहिए। यह कार्य कम्पनी के अंकेक्षक द्वारा किया जाता है। परन्तु निजी कम्पनियों पर यह नियम नहीं लागू होगा।

इस सभा में अंशधारी अपने विचार स्वतन्त्र रूप से प्रकट कर सकते हैं तथा कम्पनी की वैधानिक सभा की रिपोर्ट-सम्बन्धी समस्त बातों पर वाद विवाद कर सकते हैं। यदि किसी सूचना पर विरोध हो जाता है तथा उसके अन्तर्नियमों के अनुकूल यदि उस पर प्रस्ताव किया जाता है तो सभा स्थगित कर दी जाती है और सूचना को भेजने के पश्चात् ही दुबारा सभा बुलाई जा सकती है।

कम्पनी के संचालकों को सभा होने के **२१ दिन पूर्व** इसकी सूचना वैधानिक रिपोर्ट के साथ-साथ प्रत्येक सदस्य के पास पहुँचा देनी चाहिये। इस आलेख में निम्न-लिखित बातों का उल्लेख किया जायगा और संचालकों की ओर से कम-से-कम दोनों संचालकों या सभापति के हस्ताक्षर होना आवश्यक होंगे।

(१) कुल **अंशों की वितरण** संख्या, जिसमें अर्द्ध प्रदत्त या पूर्ण-प्रदत्त अंश सम्मिलित नहीं होंगे।

(२) वितरित अंशों पर पूँजी के रूप में कुल प्राप्त राशि।

(३) कम्पनी की वैधानिक सभा के **सात दिन पूर्व के आय और व्यय** का पूर्ण ब्यौरा, जिसमें कम्पनी अंशों तथा ऋण पत्रों का उल्लेख रहेगा।

(४) कम्पनी के संचालक, प्रबन्ध-अभिकर्ता, प्रबन्धक तथा अंकेक्षकों के नाम तथा पते।

(५) कम्पनी के द्वारा किये गये **अनुबन्धों का विवरण** तथा उनमें संशोधन का सुझाव।

(६) **अभिगोपन** के लिए किये गए अनुबन्ध तथा वे कहाँ तक कार्यान्वित किये गये।

(७) कम्पनी के संचालक, प्रबन्ध अभिकर्ता अथवा प्रबन्धक को न चुकाया गया याचना धन।

(८) अंशों के निर्गमन करने पर कम्पनी के अधिकारियों या उसके साझेदारों को दिया गया **कमीशन** या दलाली।

उपर्युक्त सूचना का **अंकेक्षण कम्पनी के अंकेक्षक को करना होगा तथा उसको यह प्रमाणित** करना होगा कि उसकी बुद्धि के अनुसार रिपोर्ट में दी गई सूचनाएँ सत्य हैं। जब सूचना प्रमाणित हो जाती है तो कम्पनी के अंशधारियों को भेजने के बाद उसकी एक प्रति रजिस्ट्रेशन के लिए रजिस्ट्रार के पास पहुँचाई जाती है।

कम्पनी के संचालकों को अपने आलेख के साथ साथ कम्पनी के सदस्यों की एक विवरण सूची बनानी पड़ती है। जिसमें उनके नाम, कार्य तथा पते का उल्लेख रहता है और उन्होंने कम्पनी के किस प्रकार के कितने अंश लिये हैं, इसका भी स्पष्ट उल्लेख रहता है।

निजी कम्पनियों को इस प्रकार की वैधानिक सभा करने की आवश्यकता नहीं होती। वे अपनी सभाएँ एक औपचारिक ढंग से कर लेती हैं और उनको उन समस्त बातों का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं होती, जोकि सार्वजनिक कम्पनियों के लिए आवश्यक है।

यदि इस धारा का अनुशीलन सही प्रकार से नहीं किया गया तो कम्पनी के

सचालक अथवा अधिकारी, जिनके द्वारा यह अपराध किया गया हो, उन पर धारा ४३३ के अनुसार जुर्माना किया जा सकता है।

वैधानिक सभा की सूचना इस प्रकार दी जाती है—

.... कम्पनी लिमिटेड।

यह सूचित किया जाता है कि कम्पनी विधान १९५६ की धारा १६५ के अनुसार कम्पनी की वैधानिक सभा उसके प्रधान कार्यालय ...... मे दिनाक ....१९६ को सायकाल...... बजे होगी, जिसमे वैधानिक रिपोर्ट तथा उक्त धारा से सम्बन्धित अन्य बातों का विचार किया जायगा।

सब सदस्यो मे निवेदन है कि उक्त समय पर पधार कर सभा मे अपनी सम्मति प्रकट करके वैधानिक सभा को सफल बनायें।

उदयपुर दिनाक .....१९६ सचालक सभा की ओर से

...... सचिव

वैधानिक सभा का विवरण इस प्रकार रखा जाता है—

.............कम्पनी लिमिटेड।

दिनाक ......१९६ को सायकाल बजे कम्पनी के प्रधान कार्यालय उदयपुर मे होने वाली वैधानिक सभा मे निम्नलिखित सदस्य उपस्थित थे—

कम्पनी के सचिव ने सभा सम्बन्धी सूचना मे बताया कि कम्पनी की वैधानिक सभा दिनाक ...... १९६ को कम्पनी विधान १९५६ की धारा ७७ के अनुसार बुलाई गई और उसके पश्चात् कम्पनी की वैधानिक रिपोर्ट पढ़कर सुनाई।

कम्पनी के अध्यक्ष ने सदस्यों के समक्ष कम्पनी के निर्माण तथा उसकी विवरण-पत्रिका के सम्बन्ध मे भाषण देते हुए उसके अलग-अलग अंगों का विवेचन किया। उसके पश्चात् कम्पनी के निर्माण तथा वैधानिक प्रालेख पर वाद-विवाद हुआ तथा सदस्यों के द्वारा अनेक प्रश्न पूछे गये; जिनका समाधान कम्पनी के संचालकों

तथा सचिव ने किया। विवाद के पश्चात् सभापति की ओर से वैधानिक आलेख को पास करने का प्रस्ताव रखा गया, जिसका समर्थन श्री नथा श्री ने किया। यह प्रस्ताव सर्वसम्मति द्वारा स्वीकार किया गया।

सभापति के अन्य प्रस्ताव, जिसमें कम्पनी तथा मेसर्स " के बीच दि० "१९६ को हुए अनुबन्ध में निम्नलिखित संशोधन का प्रस्ताव रखा गया—

"उपर्युक्त कम्पनी के अंशों पर १०% से अधिक कमीशन न लिया जाय तथा अनुबन्ध के अनुसार धन-राशि का २५% भाग इस माह के अन्दर वसूल कर लिया जाय", यह प्रस्ताव काफी वाद-विवाद के पश्चात् स्वीकार कर लिया गया।

अन्य कोई कार्य न होने से सभा को धन्यवाद सहित समाप्त कर दिया गया।

ह० ... सचिव ह० अध्यक्ष

सामान्य व्यापक सभा
(Ordinary General Meeting)

कम्पनी कानून १९५६ की धारा १६६ के अनुसार सार्वजनिक **कम्पनियों की स्थापना से १८ महीने के अन्दर कम्पनी की एक सामान्य** व्यापक सभा की जानी आवश्यक है। इसके बाद **प्रति वर्ष १५ महीने के अन्दर-अन्दर कम्पनी की सामान्य** *व्यापक सभा की जानी चाहिये। इस सभा को बुलाने का प्रयोजन यह होता है* कि उसके अंशधारी कम्पनी की स्थिति का विवेचन करके उसकी गतिविधि को इस प्रकार रख सकें कि उनका उसके प्रबन्ध पर नियन्त्रण रहे। इन सभाओं का महत्व इसलिये विशेष है कि उनमें संचालकों की नियुक्ति, अन्तिम खातों की स्वीकृति, लाभांश बाँटने की घोषणा, अपने प्रस्तावों को प्रस्तुत करने आदि की सुविधाएँ मिलती है।

इस सभा में प्रायः साधारण या विशेष कार्य किये जाते हैं। साधारण कार्यों में सचालकों की नियुक्ति, लाभांश की घोषणा, अकेक्षकों की नियुक्ति आदि होती है। इसके अतिरिक्त जो अन्य कार्य होते है, वे विशेष कार्यों में सम्मिलित किये जाते है। विशेष कार्य सभा में तभी किये जा सकते है जब अन्तर्नियमों में इस प्रकार का विधान हो; अन्यथा वे असाधारण व्यापक सभा में किये जा सकते है।

धारा १६६ के अनुसार साधारण आम-सभा निम्नलिखित आधार पर हो सकेगी—

(१) प्रथम सभा, समामेलन के १ महीने के अन्दर।

(२) दूसरी आम सभा प्रत्येक वित्तीय वर्ष (Financial Year) के ६ महीने के बाद, उस परिस्थिति में जब रजिस्ट्रार आवश्यक समझे यह अवधि ६ महीने अधिक बढ़ाई जा सकती है।

(३) अन्य अवसरों पर कोई भी आम-सभा किसी वर्ष की आम सभा के १५ महीने के अन्दर की जानी आवश्यक होगी।

(४) प्रत्येक ग्राम-सभा कम्पनी के प्रधान कार्यालय में, तथा उसके कार्य-काल में हो सकेगी।

कार्यालय के अतिरिक्त यह सभा उस नगर या गाँव के किसी भी भाग में हो सकेगी, किन्तु उसका उल्लेख सूचना में होना आवश्यक होगा। मीटिंग किसी दिन भी बुलाई जा सकती है, किन्तु वह आम छुट्टी वाला दिन नहीं होना चाहिये। साधारण तौर पर कम्पनी की साधारण आम-सभा के लिये छुट्टी वाले दिनों का ध्यान रखना आवश्यक नहीं है, क्योंकि व्यावहारिक रूप से कम्पनी के सदस्यगण तथा अन्य सचालक अथवा कर्मचारियों को सुविधा रहती है। इसका विशेष ध्यान रखना उस समय आवश्यक है, जबकि उसका प्रभाव पड़ता हो। विनिमय साध्य पत्रक कानून १८८१ (Negotiable Instrument Act, १८८१) के अनुसार कोई भी सार्वजनिक छुट्टी कम्पनी के लिये भी छुट्टी मान ली जायगी।

यदि उपर्युक्त रीति से कम्पनी की मीटिंग नहीं बुलायी जाती, तो सदस्यों के आवेदन पर केन्द्रीय सरकार मीटिंग को बुलवा सकती है तथा मीटिंग करवा सकती है और उस मीटिंग को भी उसी प्रकार वैध माना जायगा, जिस प्रकार साधारण स्थिति की कम्पनी। यदि कम्पनी के सचालक इन विधानों की अवज्ञा करेंगे, तो उन पर ५,०००) रु० तक जुर्माना किया जा सकता है

सभा के कार्य (Subject for Meeting)—कम्पनी की व्यापक सभा में साधारणतः निम्नलिखित कार्य किये जाते है—

(१) संचालकों की रिपोर्ट तथा अकेक्षकों की रिपोर्ट के अनुसार कम्पनी के अन्तिम हिसाब-लेखे को स्वीकार करना।

(२) कम्पनी का लाभांश-घोषित करना।

(३) कम्पनी के कर्मचारियों को बोनस देने की घोषणा करना।

(४) जो सचालक अपने कार्य-भार से मुक्त हो जाते हैं, उनके स्थान पर नये सचालकों की नियुक्ति करना। क्रमिक अवकाश ग्रहण के आधार पर जो सचालक अपने कार्य-भार से मुक्त हो जाते है, उनको पुनः सचालक बनने का अधिकार प्राप्त है।

(५) अकेक्षकों की नियुक्ति करना तथा वर्तमान वर्ष के लिये उनका पारिश्रमिक निश्चित करना।

(६) अन्य कार्य जो सभा के सभापति द्वारा प्रस्तावित किये गये हों।

इन कार्यों को आमतौर पर कम्पनी की प्रारम्भिक सूचना में दे दिया जाता है। जिसका स्वरूप निम्नलिखित होता है—

कम्पनी लिमिटेड ।

सूचना (Notice)

उपर्युक्त कम्पनी की साधारण बैठक कम्पनी के प्रधान कार्यालय ११५, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली में ८ जुलाई १९६० को निम्नलिखित कार्यों को करने के लिए प्रातः १०½ बजे बुलाई जायगी—

(१) सचालक तथा अंकेक्षकों की रिपोर्ट के साथ कम्पनी का ३१ मार्च १९६० को समाप्त हुए अन्तिम खातों तथा लेखों पर विचार ।

(२) लाभांश की घोषणा ।

(३) क्रमिक रिक्त स्थानों पर सचालकों की नियुक्ति ।

(४) अंकेक्षकों की नियुक्ति तथा उनका वार्षिक पारिश्रमिक तय करना ।

(५) कम्पनी के कार्यकर्ताओं को बोनस की घोषणा करना ।

(६) *सभापति की अनुमति के द्वारा कोई भी अन्य कार्य ।*

नई दिल्ली, *सचालक सभा की आज्ञा द्वारा*

१० जून, १९६० सचिव

सचिव के कार्य (Functions of the Secretary)—कम्पनी के सचिव को व्यापक सभाओं के सम्बन्ध में अनेक कार्य करने होते हैं, जिनको पूर्ण करना उसका कर्तव्य है ।

(१) जब कम्पनी के लेखों का अंकेक्षण हो जाता है और उसकी रिपोर्ट प्राप्त हो जाती है तो सचिव सचालकों की ओर से रिपोर्ट बनाता है, और उस पर *सचालकों के हस्ताक्षर करवाता है ।*

(२) उपर्युक्त सूचनाओं को पुस्तकों के रूप में छपवाता है ।

(३) इसकी सूचना कम-से-कम २१ **दिन पहले दी जानी चाहिए** । सचिव को यह सूचना सब सदस्यों, ऋण-पत्र अधिकारियों के पास भेज देनी होगी तथा सूचना को समाचार-पत्रों में भी प्रकाशित करवाना पड़ेगा । कम्पनी की मीटिंग से २१ दिन पहले कम्पनी की समस्त पुस्तकें मुख्यतः अंशधारियों की पुस्तकें बन्द कर दी जायँगी, जिससे कि उसका ठीक हिसाब रखा जा सके ।

(४) सचिव को नोटिस के साथ-साथ प्रतिपुरुष (Proxy) के प्रपत्र भेज देने चाहिये ।

(५) सचिव को सभा के लिये उपयुक्त सामग्री पहले से ही एकत्र करके रखनी पड़ेगी, जिससे सभा के समय किसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित न हो ।

(६) सचिव को यदि यह आशंका हो कि किसी विषय पर मतदान होने की संभावना होगी तो उसको उसकी व्यवस्था पहले से ही करनी चाहिये ।

(७) सभा के पूर्व सचिव के पास जो प्रस्ताव आ जावे, उन प्रस्तावों की एजेंडा

के अनुसार क्रमिक सूची बना ली जानी चाहिये जिसमें प्रस्तावक के नाम तथा विषय के बारे मे संक्षिप्त टिप्पणी होनी चाहिये।

(८) सभा का कार्य प्रारम्भ होने पर सचिव को पिछली सभा की रिपोर्ट तथा सूचना को पढकर सुनाना चाहिये, और पिछले विवरण पर अध्यक्ष के हस्ताक्षर करवा लेने चाहिये।

(९) सभा के कार्य-काल मे उसको उसकी कार्यवाही की संक्षिप्त टिप्पणी बनानी चाहिये।

(१०) सभा के अन्त होने पर उसको टिप्पणी के अनुसार सभा का पूर्ण विवरण रखना चाहिये।

(११) सभा मे स्वीकृत प्रस्तावो को सही रूप मे लिखकर उनमे से उचित प्रस्तावो को सूचना-पत्रो मे प्रकाशित कर देनी चाहिये।

(१२) सभा होने के पश्चात् सचिव को अन्तिम लेखो की तीन प्रतियाँ अकेक्षक तथा सचालको की रिपोर्ट के साथ रजिस्ट्रार के पास भेज देनी चाहिये, और उसमे किये गये सशोधन या निर्णय का उल्लेख भी होना चाहिये। **इसकी अवधि सभा होने के २१ दिन बाद तक होती है।**

(१३) सभा के २१ दिन के अन्दर कम्पनी का वार्षिक प्रत्याय रजिस्ट्रार के पास पहुँच जाना चाहिए, तथा उसकी प्रतियाँ अंशधारियो के पास भी भेजी जा सकती हैं।

धारा १६७ के अनुसार यदि साधारण आम-सभा की बैठक उचित समय मे नही की गई हो, तो केन्द्रीय सरकार कम्पनी कानून तथा कम्पनी के अन्तर्नियम के अन्तर्गत इस सभा को बुलाने का आदेश दे सकती है, और इसकी भी उसी प्रकार की वैधानिकता होगी, जैसे—सामान्य सभा की।

धारा १६८ के आदेशानुसार यदि केन्द्रीय सरकार की आज्ञा पर भी सभा नही की गई, तो कम्पनी के सम्बन्धित अधिकारी ५०००) रु० तक दण्डित किये जा सकते हैं।

साधारण व्यापक सभा का विवरण

किसी भी सार्वजनिक कम्पनी की साधारण व्यापक सभा का विवरण निम्न-लिखित प्रकार से रखा जा सकता है—

· · · कम्पनी लिमिटेड

....

व्यापक सभा का विवरण

आज दिनाक ६ जुलाई, १९६० बुधवार को सायकाल ४॥ बजे कम्पनी के प्रधान कार्यालय ' में कम्पनी की साधारण व्यापक सभा हुई, जिसमें उपस्थिति इस प्रकार थी—

सर्वप्रथम व्यापक सभा की सूचना का नोटिस पढ़कर सुनाया गया, तत् पश्चात् कम्पनी सचिव ने पिछली कार्यवाहियों का उल्लेख किया, और सामान्य संशोधनों के पश्चात् उसको सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया।

इसके बाद सभा के अध्यक्ष श्री '' ' ने कम्पनी की महत्वपूर्ण घटनाओं की ओर सदस्यों का ध्यान आकर्षित करते हुए अपने प्रारम्भिक भाषण में कहा कि पिछले वर्ष कम्पनी ने अनेक व्यापारिक कठिनाइयों के होने पर भी २५ लाख का लाभ कमाया जिसमें से सचालकों ने २५% विभिन्न कोषों में डालकर शेष धन को अंशधारियों में वितरित करने का सुझाव रखा है। उन्होंने आगे चलकर कहा कि वर्तमान बढ़ते हुए करों की स्थिति को देखते हुए इस वर्ष कम्पनी ने ६ लाख रु० 'कर-संचय कोष' में जमा कर दिये हैं, और इसी प्रकार २ लाख 'अधिकर' तथा १ लाख 'व्यवसाय लाभ-कर' के लिये सुरक्षित रख दिये हैं। कम्पनी के विनियोग के सम्बन्ध में बोलते हुए अध्यक्ष ने कहा कि संचालकों ने केवल सरकारी प्रतिभूतियों तथा टाटा *आँइरन एण्ड स्टील के अंशों में भी कम्पनी के कोषों का विनियोग किया है।* उन्होंने कम्पनी की अन्य परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए, कम्पनी के उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत किया, और बताया कि कम्पनी का प्रबन्ध योग्य संचालकों तथा प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के हाथ में रहने के कारण कम्पनी दिनोदिन उन्नति करेगी।

अध्यक्ष के भाषण पर विवाद होने के पश्चात् उसको बहुमत से स्वीकार

कर लिया गया और इसके पश्चात् क्रमानुसार- एजेंडा की कार्यवाही की गई। श्री ·····ने प्रस्तावित किया कि संचालकों के लाभांश को कोषों में परिवर्तित करने की व्यवस्था में सुधार किया जाना चाहिये तथा उनको एक निश्चित राशि के बाद कोषों में जमा करने के लिये व्यापक सभा की अनुमति प्राप्त कर लेनी चाहिये। प्रस्ताव का यथेष्ट अनुमोदन हो जाने पर भी उसको स्वीकार नहीं किया जा सका, और संचालकों के तथा अंकेक्षकों के आलेखों को स्वीकार कर लिया गया।

अध्यक्ष के प्रस्ताव पर कम्पनी के लाभांश का २५% भाग विभिन्न कोषों में जमा कर दिया गया। २% श्री ·के प्रस्ताव पर कार्यकर्ताओं को २,००,००० रुपया बोनस के रूप में दिया जाना निश्चय किया तथा शेष राशि को अंशधारियों में बाँटने के स्वीकृति दे दी गई।

श्री ··· के प्रस्ताव तथा उसमें····· के अनुमोदन पर कम्पनी के पुराने अंकेक्षक मेसर्स ·को एक वर्ष के लिये पिछले पारिश्रमिक पर ही नियुक्त कर दिया गया। अंकेक्षकों के नवीन नाम इस प्रकार थे—(१) श्री सी० ए० (२) मेसर्स ··· चार्टर्ड अकाउन्टेन्ट तथा (३) मेसर्स कम्पनी आडिटर्स। किन्तु इन सब को बहु मत प्राप्त नहीं हो सका और कम्पनी के पुराने अंकेक्षक मेसर्स ··· नवीन वर्ष के लिए कम्पनी के अंकेक्षक नियुक्त किये गये।

इस वर्ष क्रमानुसार श्री ····श्री ····· तथा श्री 'कम्पनी के पुराने संचालक कार्यभार से मुक्त हो गये। प्रथम दो सज्जन संचालक पद के लिए पुन. खड़े नहीं हुए। परन्तु तृतीय सज्जन पुनः खड़े हुए और उनको बहुमत से चुन लिया गया। प्रथम दो संचालकों के स्थान पर श्री ·····तथा श्री···· कम्पनी के नवीन संचालक निर्वाचित किये गये।

श्री के प्रस्ताव पर इस वर्ष अतिरिक्त कर के लिए एक नवीन संचय-कोष खोलने का सुझाव रखा। इस पर काफी वाद विवाद हुआ और अन्त में सुझाव बहुमत से स्वीकार कर लिया गया।

सभा के पास कोई अन्य कार्य न होने के कारण अध्यक्ष की आज्ञा द्वारा सभा सधन्यवाद समाप्त कर दी गई।

हस्ताक्षर ···सचिव हस्ताक्षर · अध्यक्ष

असाधारण व्यापक सभा
(Extra-ordinary General Meeting)

कम्पनी कानून १९५६ की धारा १६९ के अनुसार कम्पनी की असाधारण व्यापक बैठक संचालकों द्वारा अथवा कम्पनी के $\frac{1}{10}$ पूंजी के अधिकारी अंशधारियों द्वारा या जिस कम्पनी के अंश पूंजी नहीं हो तो उसके $\frac{1}{10}$ वोट के अधिकारियों द्वारा लिखित आवेदन दिये जाने पर कम्पनी की असाधारण सभा बुलाई जा सकती है।

इस आवेदन-पत्र मे सभा को बुलाने का उद्देश्य हस्ताक्षरो के द्वारा कम्पनी के प्रधान कार्यालय मे भेज दिया जाता है। **आवेदन-पत्र की जानकारी के पश्चात् २१ दिन के अन्दर-अन्दर संचालको को यह विशेष सभा बुलानी पड़ती है।** कभी कभी कम्पनी के सचालको को जब कम्पनी की साधारण व्यापक सभा के पूर्व ही ऐसा कार्य करना होता है, जिसको करने का उनको अन्तर्नियमो द्वारा अधिकार नहीं है तथा उसको स्थगित नहीं किया जा सकता तो **सचालक भी असाधारण व्यापक सभा बुला सकते हैं।** यदि सचालक कम्पनी के अंशधारियो को आवेदन पत्र के प्राप्त होने के २१ दिन के अन्दर सभा को नही बुलाते तो अंशधारी उस सभा को स्वय कर सकते है और उसका जो कुछ व्यय होगा वह कम्पनी को भुगतना पडेगा। **अंशधारियो को इस प्रकार की सभा अपने आवेदन-पत्र के तीन महीने के अन्दर-अन्दर कर देनी चाहिए।** जहाँ तक सम्भव हो सके इस प्रकार की मीटिंग भी उसी प्रकार से बुलाई जानी चाहिये जैसा कि सचालक लोग बुलाते है और उसका कार्य-क्रम वैधानिक ढग से चलाया जाना चाहिये।

प्रत्येक मीटिंग मे कम्पनी का **नोटिस २१ दिन पूर्व दे दिया जाना आवश्यक है,** और जहाँ तक उसको बुलाने का प्रश्न है, उसको कम्पनी के अन्तर्नियमो के अनुसार बुलाया जाना चाहिये। सूचना भेजने के साथ साथ नोटिस मे स्थान, सभा का समय तथा सभा होने वाले कार्य का उल्लेख होना चाहिये। यदि उसमे कोई विशेष कार्य *किया जाना हो तो उसका भी स्पष्ट उल्लेख किया जाना आवश्यक है। सामान्यत.* साधारण सभाएँ निम्नलिखित कारणो से बुलाई जाती है—

(१) जब कम्पनी के सचालक यह समझते है कि उनका साधारण व्यापक सभा से पहले ही **कम्पनी के अन्तर्नियमो मे किसी** तरह के परिवर्तन की आवश्यकता है और उसके लिए अंशधारियों की स्वीकृति प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

(२) *जब कम्पनी के अंशधारी या अंश-पूँजी के* $\frac{1}{10}$ *भाग के अधिकारी* सभा बुलाने की माँग करते है, जिसमे कि कम्पनी के **सचालको** के तथा **प्रबन्ध-अभिकर्ताओ के विरुद्ध** किसी भी प्रकार की कार्यवाही करनी हो।

(३) आमतौर पर असाधारण सभा अन्तर्नियमो मे परिवर्तन करने के लिये ही बुलाई जाती है, जैसे—कम्पनी को समाप्त करना, अपने साहूकारो के साथ कोई समझौता करना, आदि।

सभा के कार्य (Subjects of Meeting)—असाधारण सभाओ मे जो कार्य किया जाना है उसका विवरण पहले ही से तैयार करके सूचना के रूप मे प्रत्येक सदस्य के पास भेज दिया जाता है, जिससे कि सदस्यगण यह निश्चय करले कि उनको उस बैठक मे किस प्रकार की कार्यवाही करनी होगी। यह विवरण कम्पनी

के सचिव को करना पड़ता है और उसमे सचालकों की सभा बुलाई जानी आवश्यक होती है। इस सूचना का नमूना नीचे दिया जाता है।

(१) ·· ····· कम्पनी लिमिटेड

सूचित किया जाता है कि उपर्युक्त कम्पनी की असाधारण व्यापक बैठक दिनांक ·· ··· १९६ को मध्या · बजे कम्पनी के प्रधान कार्यालय · · मे होगी। निम्नलिखित प्रस्तावों पर विचार किया जायेगा। सचालकों का विचार है कि कम्पनी की वर्तमान अधिकृत पूंजी को ५ करोड़ से ७ करोड़ तक बढ़ा दिया जाय, जिसमें कि २ करोड़ रुपया कम्पनी के सचित कोष, स्थिर कोष तथा हानि-लाभ सन्तुलन कोष मे २ करोड़ रुपये निकाल दिये जायेंगे। यह २ करोड़ रुपये साधारण अंशधारियों के अर्द्ध-प्रदत्त अंशों को पूर्ण-प्रदत्त करने मे लगाये जायेंगे तथा दो दो पूर्ण-प्रदत्त अंश सब साधारण अंशधारियों को बाँट दिये जायेंगे।

आपसे निवेदन है कि आप स्वयं आकर या अपना प्रतिपुरुष पत्रक (Proxy form) भेजकर कम्पनी की इस बैठक मे उपर्युक्त प्रस्ताव पर अपने विचार प्रकट करने की कृपा करें।

भवदीय
सचालक सभा की आज्ञा से
······ सचिव

(२) अंशधारियों द्वारा आवेदन

सेवा मे,

सचालकगण · · कम्पनी लिमिटेड

हम इस आवेदन-पत्र के हस्ताक्षर-कर्ता जो कि कम्पनी के निर्गमित तथा प्रदत्त अंश-पूंजी के $\frac{1}{10}$ भाग से अधिक के अधिकारी हैं तथा जिन्होंने कम्पनी के समस्त याचनाओं का शोधन कर दिया है, चाहते हैं कि निम्नलिखित प्रस्ताव को पास करने के लिए कम्पनी की एक असाधारण सभा बुलाई जाय।

प्रस्ताव

यह तय किया जाता है कि भारतीय उद्योग कार्यालय लिमिटेड को, अन्तर्राष्ट्रीय उद्योग कम्पनी लिमिटेड मे बदल दिया जाय, जिसकी सूचना शीघ्र ही स्थानीय सरकार तथा रजिस्ट्रार के पास पहुँचा दी जाय।

हम समझते है कि वर्तमान परिस्थिति में इस नाम को रखना अत्यन्त आवश्यक है।

दिनांक · · ·· ·१९६ हस्ताक्षर अंशधारी

(३) आवेदन पर सभा बुलाने को सूचना

... कम्पनी लिमिटेड

कम्पनी के $\frac{१}{१०}$ पूंजी से अधिक के अंशधारियों के दिनाक १६६ के आवेदन पत्र के अनुसार कम्पनी की असाधारण बैठक कम्पनी के प्रधान कार्यालय में दिनाक को सन्ध्या निम्नलिखित प्रस्ताव को पास करने के लिये एक साधारण सभा होगी । आपकी उपस्थिति वांछनीय है ।

प्रस्ताव

सचालक सभा के आदेश पर

सचिव

(४) यदि सचालक समय के अन्दर सभा नहीं बुलावे, तो अंशधारियों द्वारा सभा बुलाने की सूचना

निम्नलिखित कारण से कम्पनी की असाधारण सभा कम्पनी के प्रधान कार्यालय मे दिनाक १६६ को होगी। अतः आपसे निवेदन है कि उक्त सभा में पधार कर योग देने की कृपा करे ।

कम्पनी कानून १६१३ की धारा ७७ के अनुसार कम्पनी के सचालक हमारे आवेदन-पत्र दिनाक १६६ के २१ दिन के अन्दर असाधारण सभा बुला सके है। इसलिए हम कम्पनी की अंश-पूंजी के $\frac{१}{१०}$ के अंशधारी इस सभा को बुला रहे है।

दिनाक १६६ सभा बुलाने वाले अंशधारियों के हस्ताक्षर

इस सभा मे कम्पनी के सचिव को सामान्यत. साधारण व्यापक सभा के समान ही कार्य करना पड़ता है । इसमें उसके कुछ कार्य बढ जाते है, जिनकी ओर उसे ध्यान देना चाहिये ।

(१) उसको सभा के लिए यथोचित सूचना-पत्र तैयार करके उस पर सभा के अध्यक्ष के हस्ताक्षर करवाकर सदस्यों को प्रेषित करने चाहिये ।

(२) सूचना-पत्र मे असाधारण सभा मे होनी वाली कार्यवाही का उल्लेख करते हुए प्रस्ताव भी दे देना चाहिए तथा यह भी सूचित कर देना पडता है कि सभा में कोई विशेष प्रस्ताव रखा जा सकेगा, जिसकी प्रतिलिपि प्रधान कार्यालय में यथोचित समय पर आ जानी आवश्यक होगी ।

(३) सभा प्रारम्भ करने पर उसको सभा मे मतदान के लिए आवश्यक सामग्री का प्रबन्ध करना आवश्यक होगा ।

(४) यदि सभा मे प्रतिपुरुषों (Proxies) की उपस्थिति हो तो उनकी रजिस्ट्री करने का प्रबन्ध भी सचिव को करना होगा ।

(५) सभा मे विशेष या साधारण प्रस्ताव के स्वीकृत हो जाने पर उसको

प्रतिलिपि उस स्थिति के १५ दिन के अन्दर रजिस्ट्रार के कार्यालय मे प्रस्तुत कर देनी आवश्यक होगी।

सूचना
(Notice)

धारा १७१ से १७३ तक सूचना-सम्बन्धी विशेष जानकारी दी गई है। साधारण सभा के लिए २१ दिन या अशधारियों की, जिनके पास प्रदत्त अंश पूंजी का ९५ प्रतिशत हिस्सा हो अथवा ९५ प्रतिशत मताधिकार हो, की राय मे कम किया जा सकता है।

कम्पनी की प्रत्येक सूचना मे निश्चित स्थान, दिन, समय तथा विचारणीय विषय का उल्लेख होना आवश्यक है। यह सूचना कम्पनी के प्रत्येक सदस्य को अथवा उसके प्रतिनिधि या उत्तराधिकारी को, (अनुकूल कारण वश) कम्पनी के अकेक्षक को तथा अन्य व्यक्तियों को जो इसमे अधिकारी है, दिया जाना आवश्यक है। (यदि किसी कारणवश किसी की सूचना नही मिलती तो कम्पनी की कार्यवाही अवैधानिक नहीं समझी जायेगी।

जिस समय कोई विशेष सभा बुलाई जाती हो तो उसके लिये उस सभा का विशेष उद्देश्य लिखकर उसकी सूचना समस्त सदस्यों तथा सम्बन्धित अधिकारियों को भेजी जानी आवश्यक है। धारा १९० के अनुसार यह सूचना २८ दिन पूर्व दी जानी चाहिये।

प्रस्ताव
(Resolutions)

नवीन कम्पनी अधिनियम के अनुसार अब केवल दो ही प्रकार के प्रस्ताव रह गये हैं—(१) साधारण (Ordinary), तथा (२) विशेष (Special)। यदि किसी कम्पनी के अन्तर्नियमों मे असाधारण (Extraordinary) प्रस्ताव का उल्लेख होगा, तो धारा ६५१ के अनुसार उसको भी 'विशेष' ही मान लिया जायगा।

'साधारण प्रस्ताव' उस प्रस्ताव को कहते है, जो किसी उचित सूचना द्वारा बुलाई गई साधारण सभा में बहुमत मे स्वीकार कर लिया गया हो। इसके विपरीत 'विशेष प्रस्ताव' उस प्रस्ताव को कहते है, जो किसी विशेष प्रयोजन के लिए दी गई सूचना मे स्पष्ट लिखा गया हो तथा जिसको स्वीकृति ¾ बहुमत से हुई हो।

यदि कोई प्रस्ताव स्थगित सभा (Adjourned Meeting) मे पास किया गया हो, तो वह उस सभा की नवीन तिथि का ही प्रस्ताव माना जायगा, पहले का नहीं; (धारा १९१)।

सदस्यो के प्रस्तावो का प्रचलन (Circulation of Members' Resolutions)—सदस्यों की लिखित सूचना तथा उनके ही व्यय पर कम्पनी उनके उस प्रस्ताव का, जो कम्पनी की आगामी बैठक मे प्रस्तावित किया जाना हो, प्रचलन कर सकती है। इस प्रकार की लिखित मॉंग (written requisition) $\frac{1}{20}$ मताधिकारियों को, अथवा १०० सदस्यों को या उन सदस्यो को जिनके पास कम्पनी की कम-से-कम एक लाख रुपये की प्रदत्त पूंजी है।

किन्तु कम्पनी उस प्रस्ताव या प्रस्तावों का प्रचलन तभी करेगी जब वह उचित रूप से कम्पनी के कार्यालय मे सभा होने के छः सप्ताह पूर्व आ जाय (जिस प्रस्ताव के लिये सूचना की आवश्यकता हो), और सामान्य प्रस्तावों को दो सप्ताह पूर्व आ जाना चाहिये। साथ ही उन पर होने वाला उचित व्यय भी कम्पनी के कार्यालय में जमा कर दिया जाना चाहिये। यह सब कुछ होते हुए भी यदि न्यायालय वह सूचना प्रसारित करनी आवश्यक नहीं समझता हो, तो कम्पनी पर इसका कोई उत्तरदायित्व नहीं होगा।

अधिकोषण कम्पनियों मे, संचालक सभा को विशेष अधिकार प्राप्त है। यदि संचालक सभा यह अनुभव करती है, कि अमुक प्रस्ताव से कम्पनी का अहित होगा, तो वे उसके प्रसार की आज्ञा नहीं देंगे।

धारा १८८ के अन्तर्गत यदि किसी कारणवश प्रस्ताव कुछ व्यक्तियों के पास नहीं पहुंचता है, तो उसका उत्तरदायित्व कम्पनी के अधिकारियों पर होगा और वे दण्डित किये जा सकते हैं।

विशेष प्रस्ताव के कार्य (Business for Special Resolution)—कम्पनी-लॉं-कमेटी ने सिफारिश की थी कि असाधारण तथा विशेष प्रस्तावों को मिला देना चाहिये, क्योंकि दोनो मे विशेष अन्तर नहीं है। उसने आगे कहा कि विशेष प्रस्ताव के लिये भेजी जाने वाली सूचना २८ दिन पूर्व तथा उसका विज्ञापन २१ दिन पूर्व किया जाना चाहिये। इन सिफारिशों को कम्पनी कानून १९५६ मे इसी प्रकार से लिया गया है। अब विशेष प्रस्ताव मे किये जाने वाले कार्य निम्न प्रकार के हो सकते हैं—

(१) कम्पनी के नाम मे परिवर्तन,
(२) कम्पनी के प्रधान कार्यालय में परिवर्तन,
(३) स्मरण-पत्र के उद्देश्यों मे परिवर्तन,
(४) अन्तर्नियमों मे परिवर्तन;
(५) कम्पनी की अंश-पूंजी मे घटा-बढी,
(६) संचालकों के दायित्वों को असीमित करने के लिये,

(७) कम्पनी के कार्यों के निरीक्षण के लिए निरीक्षक की नियुक्ति के लिये ;

(८) न्यायालय से कम्पनी का विलीयन करवाने के लिये ;

(९) कम्पनी की स्वेच्छापूर्वक समाप्ति के लिये ;

(१०) निस्तारकों (Liquidator) को कम्पनी के विलीयन के लिये नियुक्त करने के लिये ,

(११) अीत कम्पनी के साथ समझौता करने का अधिकार देने के लिये ;

(१२) कम्पनी के विधान में किसी प्रकार का परिवर्तन करने के लिये ;

(१३) प्रबन्ध अभिकर्ताओं को अधिक पारिश्रमिक देने के उद्देश्य से ; तथा

(१४) कम्पनी में इस प्रकार का परिवर्तन करने के लिये जो उसके स्मरण-पत्र अथवा अन्तर्नियमों में नहीं हो।

प्रस्ताव की रजिस्ट्री (Registration of Resolution)—धारा १९२ के अनुसार प्रत्येक प्रस्ताव या समझौतों को उनके पास होने के १५ दिन के अन्दर रजिस्ट्रार के कार्यालय में प्रस्तुत किया जाना चाहिये। प्रस्ताव या तो छपा होना चाहिये अथवा टाइप किया हुआ होना चाहिये। यदि अन्तर्नियमों की रजिस्ट्री हो गई हो, तो इस प्रकार के प्रत्येक प्रस्ताव या समझौते की एक प्रतिलिपि अन्तर्नियम के साथ नत्थी कर दी जानी चाहिये। यदि अन्तर्नियमों की रजिस्ट्री नहीं हुई हो, तो किसी भी सदस्य को प्रस्ताव की छपी हुई प्रतिलिपि १) में दी जा सकेगी।

यदि इस नियम का पालन नहीं किया गया, तो धारा १९२ (५), (६) में सम्बन्धित अधिकारी के दंड का विधान है। यदि प्रस्ताव रजिस्ट्रार के कार्यालय में प्रस्तुत नहीं किया जाता तो प्रत्येक दिन के २०) रु०, तथा यदि उनको अन्तर्नियमों के साथ नत्थी नहीं किया जाता, तो १०) रु० प्रतिलिपि के हिसाब से दण्डित किया जा सकता है।

कम्पनी के विभिन्न प्रस्ताव
(Various Company Resolutions)

कम्पनी के प्रस्ताव को अत्यन्त विवेक तथा मितव्ययता से लिखा जाना चाहिए। उनको लिखते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि वे कानून तथा व्यावहारिक रूप से ठीक हों और उनके विभिन्न अर्थ नहीं निकाले जा सकें। नीचे कुछ प्रस्तावों के रूप दिये जाते हैं।

(१) कम्पनी की वैधानिक सभा में पास किये जाने वाले प्रस्ताव
(Resolutions at Statutory Meeting)

(क) अंशों का वितरण—

यह तय किया जाता है कि कम्पनी की साधारण अंश-पूंजी के २०० अंश क्रम संख्या.........से ......तक १००) रु० प्रति अंश के हिसाब से श्री......... को

वितरित किये जायँ तथा इसकी सूचना उनको तुरन्त दे दी जाय जिसमे कि उनके द्वारा चुकाये जाने वाली वितरण राशि का उल्लेख रहे।

(ख) प्रबन्ध की नियुक्ति—

यह तय किया जाना है कि श्री ··· को प्रधान कार्यालय मे ५००) रु० मासिक वेतन पर दिनाक १९६ मे आय-प्रवन्धक नियुक्त किया जाना है। श्री···· कम्पनी के सचिव का कार्य २५०) रु० मासिक वेतन पर दिनाक ····१९६ मे करेंगे।

(२) साधारण सभा के प्रस्ताव
(Resolutions at Ordinary General Meeting)

(क) लाभांश की घोषणा—

यह तय किया जाना है कि पूर्वाधिकार अशो पर २०) रु० प्रति अश तथा साधारण अंशो पर १५) रु० प्रति अश के हिसाब से अशधारियो को कम्पनी के ३१ दिसम्बर सन् १९५९ के वर्ष के वास्तविक लाभ से लाभाश बाँट दिया जाय। यह लाभाश ३१ दिसम्बर १९५९ के दिन अंशधारियों के रजिस्टर मे रहने वाले अंशधारियों को वैधानिक समय के अनुसार बाँट दिया जाय।

(ख) संचालकों की नियुक्ति—

यह तय किया जाना है कि श्री ···· के रिक्त स्थान पर श्री ··· ···को *कम्पनी का संचालक नियुक्त किया जाना है। वे अपना कार्यभार दिनाक····* १९६ के प्रातः से सँभालेगे और उनको अलाउन्स तथा पारिश्रमिक वैधानिक अन्तर्नियमो के अनुसार दे दिया जायगा।

(ग) अंकेक्षकों की नियुक्ति—

यह तय किया जाना है कि कम्पनी के अंकेक्षक मेसर्स ···· ·····वाले नियुक्त किये जाते है। वे अपना कार्यभार दिनाक ··· १९६ से सँभालेंगे तथा उनको ५०००) रु० वार्षिक पारिश्रमिक दिया जायेगा। उनके लिए आवश्यक होगा कि कम्पनी के हिसाब-किताब मे मासिक जाँच करें तथा कम्पनी की अंकेक्षण-सम्बन्धी समस्त बातो के लिए उत्तरदायी रहे।

(३) साधारण तथा विशेष प्रस्ताव
(Ordinary and Special Resolutions)

(क) कम्पनी की अंश-पूंजी मे वृद्धि—

यह तय किया जाना है कि कम्पनी की अंश पूंजी ३,००,००० रु० से ३,५०,००० रु० तक बढा दी जाय जिसमें २५० नवीन पूर्वाधिकार अंश १०० रु० प्रतिअंश तथा २५० नवीन साधारण अंश १०० रु० प्रति अश के हिसाब मे

निर्गमित किये जायें। पूर्व प्रदत्त अंशों पर प्रति वर्ष उनकी पूँजी का ५% लाभांश बाँटा जायगा, जोकि कम्पनी के सालाना वास्तविक लाभ से चुकाया जायगा तथा साधारण अंशों पर सामान्य विधि के अनुसार ही लाभांश दिया जायगा।

(ख) अन्तर्नियमों में परिवर्तन—

यह तय किया जाना है कि कम्पनी के अन्तर्नियम क्रम संख्या नं०········ में प्रति वर्ष के स्थान पर अर्द्ध-वर्ष के अन्त में कर दिया जाय।

(ग) अंशों का स्कन्धों में परिवर्तन—

यह तय किया जाना है कि कम्पनी के १० हजार रुपये के अंश जिनका मूल्य १००) रु० प्रति अंश है, पूर्ण प्रदत्त होने के कारण उनको स्कन्धों में परिवर्तित किया जाना है, जोकि इसके पश्चात् १०० रुपये या १०० रुपये के गुणनखण्ड में हस्तांतरित किये जा सकेंगे।

(घ) समिति की नियुक्ति—

यह तय किया जाना है कि कम्पनी के संचालक श्री राम, श्री कृष्ण, श्री हनुमान प्रसाद तथा सदस्य श्री मदनलाल कम्पनी की वित्त समिति के लिए नियुक्त किये जाते हैं। समिति की अध्यक्षता श्रीराम करेंगे और यह तय किया जाना है कि वे आज की तिथि से ६ मास तक कार्य करेंगे। समिति के सचिव का कार्य श्री मदनलाल संभालेंगे। समिति को कम्पनी के व्यय, आय, वर्तमान आर्थिक परिस्थिति तथा सामयिक लेन-देन आदि की उचित व्यवस्था के लिए कम्पनी की व्यापक सभा में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करनी पड़ेगी। व्यापक सभा इस रिपोर्ट के आधार पर करनी के भविष्य की रूपरेखा बनायेगी।

(ङ) कम्पनी का विलीयन—

कम्पनी कानून की धारा ४२५ (१) (बी) के अनुसार यह तय किया जाना है कि कम्पनी की आर्थिक स्थिति को देखते हुए कम्पनी को आगे बढ़ाना कम्पनी के अंशधारियों, साहूकारों तथा आम जनता के लिए हानि-प्रद सिद्ध होगा। इसलिए वैधानिक रीति के अनुसार कम्पनी का विलीयन कर दिया जाय।

साधारण आम-सभा का कार्य संचालन

(Procedure of Conducting General Meeting)

कम्पनी की साधारण बैठकों का संचालन करने के सम्बन्ध में सचिव के लिए आवश्यक है कि वह कम्पनी के कार्य संचालन की वैधानिकता की ओर विशेष ध्यान रखे जिसमें गणपूरक संख्या (Quorum), अध्यक्ष (Chairman), प्रस्ताव (Proposal) संशोधन (Amendment), समाप्ति (Closure), पूर्व प्रश्न (Previous Question), द्वितीय कार्य (Next Business), विलम्बन

(Postponement), स्थगन (Adjournment), अव्यवस्था (Dis-order) आदि का ध्यान रखना आवश्यक है।

गणपूरक संख्या—कार्य को वैधानिक रूप में चलाने के लिए यह देखना आवश्यक है कि **अन्तर्नियमों के अनुसार सदस्यों की इतनी संख्या है** कि उनके द्वारा पास किये हुए प्रस्तावों को मान्यता दी जा सके, गणपूरक संख्या का उल्लेख कम्पनी के अन्तर्नियमों में स्पष्ट रहता है, और यदि उसके अनुसार सदस्यों की उपस्थिति न हो तो सभा को स्थगित कर दिया जायगा। सदस्यों की उपस्थिति गिनने के लिये सदस्य तथा उनके प्रतिनिधियों को गिन लिया जाता है, किन्तु प्रतिपुरुषों की संख्या गणपूरक संख्या में सम्मिलित नहीं की जाती।

अध्यक्ष—गणपूरक संख्या के पूर्ण होने पर कम्पनी की कार्यवाही प्रारम्भ करने से पहले सभापति का चुनाव कर लिया जाता है। अध्यक्ष एक साल के लिये चुन लिया जाता है और वही इस कम्पनियों का सभापति बनता है। उनके उपस्थित न होने पर उपसभापति इस कार्य को कर सकता है। यदि इनमें से कोई भी न हो तथा अन्तर्नियमों में इस विषय में कोई उल्लेख नहीं हो तो सदस्यगण उस सभा के लिये किसी भी सभापति को चुन सकते हैं। यह चुनाव नियमित रूप से किया जाना चाहिए। उसमें प्रस्ताव, अनुमोदन तथा अंशधारियों का मत लिया जाना आवश्यक है। यदि इस प्रकार नहीं किया जायगा तो चुनाव अवैध माना जायगा **और** उस सभा में हुई कार्यवाही को कोई मान्यता नहीं दी जायेगी।

चुनाव हो जाने के पश्चात् सभापति को सभा का कार्य **संचालन** ठीक अन्तर्नियमों के अनुसार करना चाहिये। उनका कर्तव्य है कि वह सभा में उचित अनुशासन रखे, सभा का कार्य-क्रम एजेण्डा के अनुसार ही चलना चाहिये। प्रत्येक सदस्य को अपने विचार प्रकट करने का अवसर दिया जाना चाहिये। किन्तु अनर्गल भाषण पर रोक लगाई जाय। यदि विचारों में किसी प्रकार की भिन्नता हो गई हो, तो उसका निर्णय बहुमत द्वारा किया जाना चाहिये। सभा का कार्य उसके कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत ही रहना चाहिये। अनुशासन भंग करने वालों को सभा से हटा दिया जाना चाहिए। तथा यदि सभा में किसी प्रकार का उत्पात होता हो, तो सभा भंग कर दी जानी चाहिये। सभापति को यह देखना भी आवश्यक है कि सभा में प्रस्ताव उचित रूप से पास किये जायँ।

सुझाव—सभापति की नियुक्ति के पश्चात् सदस्यों को अधिकार है कि वे एजेण्डा के अनुसार अलग अलग कार्यों के लिए अपने प्रस्ताव उपस्थित करें। व्यक्तियों के सुझाव पास हो जाने पर प्रस्ताव का रूप धारण कर लेते हैं। सुझावों पर विधिवत्-तर्क किया जाता है, और तर्क के साथ-साथ लोग अपने संशोधन प्रस्तुत करते हैं।

संशोधन—संशोधन लिखित या मौखिक हो सकता है। यह संशोधन हमेशा या तो मूल प्रस्ताव मे कोई शब्द जोडने या निकालने अथवा जोड़ने-निकालने के लिये किए जाते हैं। संशोधन तभी तक दिया जा सकता है, जब तक सुझाव पर मत लिये गये हो। संशोधन की स्वीकृति के पूर्व सुझावकर्ता को अपने सुझाव का स्पष्टीकरण तथा संशोधनो का उत्तर देने का अधिकार है।

विवाद में रुकावट—जब सुझाव पर विवाद चल रहा हो तो कोई भी व्यक्ति अध्यक्ष की अनुमति से विवाद में निम्नलिखित प्रकार से रुकावट डाल सकता है—

(१) कोई संशोधन प्रस्तुत करके संशोधन के आने पर पहले उस पर ही चर्चा की जायेगी और यदि वह अस्वीकृत होता है तो पूर्व सुझाव पर पुनः विवाद प्रारम्भ हो जायगा।

(२) विवाद के बीच मे पूर्व प्रश्न उठाया जा सकता है। जब सदस्य यह सोचता है कि जिस प्रश्न पर चर्चा चल रही है, वह सदस्यो के आम हितो से विरुद्ध है तो वह पूर्व सुझाव के स्थान पर पूर्व प्रश्न का सुझाव रख सकता है। यह सुझाव उसी समय रखा जाता है, जबकि मूल प्रस्ताव पहले ही रख दिया गया हो और उस पर ही नवीन सुझाव रखे गये हो। विवाद के समय पूर्व प्रश्न के प्रस्तावक को किसी प्रकार का विवाद करने का अधिकार नही रहता। यदि यह प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता है तो मूल सुझाव विवाद के लिये नही रखा जाता और यह प्रस्ताव यदि अस्वीकृत हो जाता है तो पूर्व प्रस्ताव पर ही विवाद चालू रहता है।

(३) जब विवाद मे मत-भिन्नता होती है और किसी निर्णय पर नही पहुँचा जा सकता तो कोई भी सदस्य सभा के कार्य को आगे बढाने के लिए विलम्ब के प्रस्ताव को प्रस्तुत कर सकता है। यह सुझाव चार प्रकार से रखे जा सकते हैं। (क) दूसरे कार्य का सुझाव प्रस्तुत करना जिसमे मूल प्रस्ताव पर चर्चा न होकर एजेण्डा के दूसरे कार्य को स्वीकृत किया जाय; (ख) सभा को विसर्जित करने का सुझाव प्रस्तुत करके जिसमे यह भी तय हो जाता है कि सभा दुबारा कब होगी और जब बुलाई जायेगी तो वह स्थगित की हुई सभा के ही अनुसार चालू की जायगी; (ग) जब सभा मे अनुशासन नही रहता तो सभापति सभा की कार्यवाही को समाप्त कर सकता है और सभा के उस सुझाव को स्थगित कर दिया जा सकता है। इसमे सुझाव के प्रस्तावक को उत्तर देने का अधिकार होता है, और यदि स्थगित करने का सुझाव पास हो जाता है तो मूल सुझाव पर चर्चा न होकर अन्य सुझाव पर चर्चा की जायगी।

वाद-विवाद होने के पश्चात् सभापति को अधिकार है कि वह उन प्रस्तावो

के विषय मे, यदि उनमे किसी प्रकार के अन्तर रहते है तो उसके लिए मतदान करवा सकता है। मतदान हाथ उठाकर या गुप्त मतपत्र (Ballot) के द्वारा गुप्त रूप से लिये जा सकते हैं। सभापति की साधारण वोट के अतिरिक्त एक निर्णयात्मक वोट (casting vote) और होती है, जिसका प्रयोग वह उसी समय करता है जबकि मतदान मे पक्ष और विपक्ष के मतों से किसी प्रकार का निर्णय नहीं किया जा सके। सामान्य स्थिति मे वह अपने निर्णयात्मक मत का प्रयोग नहीं किया करता।

सभा की कार्यवाही की स्वीकृति प्रस्तावों के रूप में की जाती है। कोई भी सुझाव तभी प्रस्ताव माना जा सकता है जब उसको बहुमत से स्वीकार कर लिया जाय। बहुमत द्वारा स्वीकृत किये हुए प्रस्ताव कम्पनी को प्रतिबन्धित कर सकते है तथा कम्पनी के अधिकारियों को उनका पालन करना आवश्यक होगा। ये प्रस्ताव १५ दिन के अन्दर कम्पनी रजिस्ट्रार के कार्यालय मे प्रस्तुत कर दिये जाते है। प्रस्तावों पर सभापति के हस्ताक्षर होने आवश्यक हैं।

प्रतिपुरुष
(Proxy)

कम्पनी की बैठकों मे सदस्यों का भाग लेना आवश्यक होता है। किन्तु अनेक कठिनाइयों के कारण कम्पनी के सभी सदस्य प्रायः सभाओं मे सम्मिलित नहीं हो सकते। इसके लिये वे अपने मत देने का अधिकार किसी अन्य व्यक्ति को दे सकते हैं। उस मत देने के अधिकार को प्रतिपुरुष (Proxy) कहते हैं। प्रतिपुरुष ऐसे व्यक्ति को कहते हैं जो सभा मे मतदान देने के समय किसी अन्य व्यक्ति के प्रतिनिधि के रूप मे मत दे सकता है। इसके लिए सदस्य को एक प्रपत्र, जिसे 'प्रतिपुरुष प्रपत्र' कहते हैं, भरकर देना होता है। वह प्रपत्र कम्पनी के आगे अन्तर्नियमों के अनुसार बनाया जाता है और उसका रूप कम्पनी कानून सन् १९५६ की सारिणी (अ) के ६७वें नियम मे दिया हुआ है। उसी के अनुसार कम्पनी के प्रतिपुरुष प्रपत्र छपवा दिये जाते हैं और वे समस्त अंशधारियों के पास सूचना के साथ-साथ भेज दिये जाते हैं। अंशधारी को प्रपत्र पर प्रतिपुरुष का नाम तथा पता लिखकर दो आने का टिकिट लगाकर उस पर अपने हस्ताक्षर कर देने होते हैं। प्रतिपुरुष साधारणतया कम्पनी का सदस्य ही होना चाहिए और उसको सभा होने के ७२ घन्टे पूर्व अपना प्रतिपुरुष प्रपत्र कम्पनी के कार्यालय में प्रस्तुत कर देना चाहिए। इस प्रपत्र का स्वरूप निम्न प्रकार का होना है—

प्रतिपुरुष प्रपत्र

" कम्पनी लिमिटेड

मैं ······ निवासी······ ······ उपर्युक्त कम्पनी का सदस्य होने के नाते श्री ······ ··· निवासी········ · को कम्पनी की साधारण/असाधारण सभा मे अपनी

ओर से मत देने का अधिकार देने के लिए नियुक्त करता हूँ। यह अधिकार दिनांक '' को होने वाली या उसके बाद स्थगित हुई सभा के लिए दिया जाता है।

साक्षी

.................(ह० साक्षी के)

टिकिट

ह० ... .अंशधारी

पता ....

अधिकारी क्रम स० मे .....तक के साधारण/पूर्वाधिकार अंशों के।

इन पत्रों की जाँच सचिव को बड़ी सावधानी से करनी चाहिए तथा प्रपत्र के नम्बरों की जांच अंशधारियों को भेजे गये प्रपत्रों के नं० से कर लेनी चाहिये, और यह भी देख लेना चाहिये कि प्रपत्र समुचित रूप से पूर्ण हैं या नहीं। यदि प्रपत्र हर प्रकार से पूर्ण है तथा उनकी योग्यता पर किसी प्रकार का अविश्वास नहीं किया जा सकता तो उसकी एक सूची बनाकर सभापति के पास प्रस्तुत की जानी चाहिये जिससे प्रति-पुरुष के मतदान के अवसर पर सभापति उसका ध्यान रख सके। यदि प्रपत्र में किसी प्रकार की अशुद्धि हो तो ऐसे प्रपत्रों को सभापति के पास प्रस्तुत कर देना चाहिये जिससे वह उनकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति का निर्णय कर सके।

मतगणना
(Poll)

मतगणना सामान्य सभा में प्रत्येक सदस्य को अपना मतदान हाथ उठाकर देने का अधिकार है। यदि सभा के सदस्य चाहे तो वे अपना मतदान मतगणना-पत्र के द्वारा भी दे सकते हैं। मतगणना की माँग सभा के पाँच सदस्य, या $\frac{1}{10}$ पूंजी के अधिकारी अथवा सभापति के द्वारा की जा सकती है। जिस समय मतगणना की माँग स्वीकार हो जाती है, तो प्रत्येक सदस्य को एक मतगणना-पत्र दे दिया जाता है और वह उसको भरकर सभापति के पास दे देता है। कम्पनी का सचिव मतगणना-पत्रों को बाँटता है और जब सदस्य उनको भर लेते हैं, तो सभापति के समक्ष उनकी गणना की जाती है। इन पत्रों का स्वरूप निम्नलिखित होता है—

मतगणना-पत्र
(Ballot Paper)

नं० ......

.... कम्पनी लिमिटेड

कम्पनी की वार्षिक व्यापक सभा दिनांक .... १९६ को..... ..... बजे प्रातः/सन्ध्या को हुई, जिसमें प्रस्ताव के पक्ष/विपक्ष में मतदान दिया गया।

हस्ताक्षर .... अंशधारी।

गणना के पश्चात् सभापति निर्णय को घोषित करना है। मत लिये जाने पर यदि प्रस्ताव के पक्ष या विपक्ष में समान मत आते हैं तो सभापति अपना निर्णयात्मक मत दे सकता है। इस अधिकार का प्रयोग वह उस समय कर सकता है जबकि अन्तर्नियमों में इस प्रकार की व्यवस्था हो, अथवा सदस्यों ने उसको यह अधिकार दे दिया हो। यदि सभापति को निर्णयात्मक मत देने का अधिकार न हो, तो पक्ष या विपक्ष में समान मत होने की अवस्था में प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया जायेगा।

कम्पनी कानून के अनुसार यद्यपि अंशधारियों को मतगणना-पत्र के प्रयोग करने का अधिकार नहीं है और यह उनको तभी प्राप्त हो सकता है, जब उसके लिये अन्तर्नियमों में किसी प्रकार की व्यवस्था हो अथवा उसके लिए समुचित माँग की गई हो। यह मतगणना उस समय अपेक्षित है जब किसी प्रस्ताव को गुप्त रूप से पास किया जाना आवश्यक हो। क्योंकि इससे सम्बन्धित व्यक्तियों का प्रभाव मतदाताओं पर नहीं पड सकता, और वे इच्छा के अनुसार मतदान कर सकते हैं।

निजी कम्पनी में मतगणना के लिये कोई भी दो सदस्य माँग कर सकते हैं। यदि सदस्य ७ या ७ से कम हों, तो एक व्यक्ति के माँग करने पर भी मतगणना की जा सकेगी।

लाभांश का वितरण
(Distribution of Dividend)

भारतीय कम्पनी विधान १९५६ की धारा २०५ के अनुसार यह लाभांश कम्पनी के लाभ में से ही बाँटा जा सकता है। यदि लाभांश पूँजी में बाँटा जाता है तो उसको पूँजी कम करना समझा जायेगा और वह अवैधानिक माना जायेगा। इसके लिये देने वाले संचालकगण ही व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से उत्तरदायी होंगे।

कुछ अवस्थाओं में लाभांश पूँजी में बाँटा जा सकेगा, जैसे—(१) यदि भुगतान अन्तर्नियमों में स्वीकृत हो, (२) यदि प्रान्तीय सरकार द्वारा स्वीकृति प्राप्त की गई हो, (३) यदि उसकी दर ४% से अधिक न हो, (४) यदि वह कम्पनी के लेखा में दिखाई जाती हो।

साधारणतया जो लाभांश अंशधारियों को व्यापक सभा में देना घोषित कर दिया जाता है उसी के अनुसार संचालक भी लाभांश की घोषणा करते हैं। कभी-कभी संचालकगण यह देखने पर कि वर्ष में अधिक लाभांश दिया जा सकेगा, अन्तरिम लाभांश (Interim Dividend) की घोषणा कर देते हैं, और उसका भुगतान भी कर देते हैं परन्तु अन्तिम शोधन के लिये व्यापक सभा की स्वीकृत आवश्यक होती है। यदि व्यापक सभा अन्तरिम लाभांश से अधिक लाभांश की घोषणा करती

है, तो अन्तिम लाभांश में से अन्तरिम लाभांश काटकर शेष अंशधारियों को दे दिया जाता है।

जब लाभांश की घोषणा व्यापक सभा द्वारा की जाती है, तो उस घोषणा के अनुसार लाभांश को अंशधारियों में बाँटा जाता है और उसकी सूचना पत्रों में प्रकाशित कर दी जाती है कि उक्त लाभांश कब, कहाँ से और किस प्रकार प्राप्त किया जा सकेगा।

कम्पनी के सचिव को लाभांश अधिपत्रों के वितरण के पूर्व लाभांश सूची बड़ी सावधानी से तैयार करनी चाहिये। इस सूची का नमूना नीचे दिया जाता है।

लाभांश सूची

साधारण लाभांश .... रु० प्रति अंश की दर से .... वर्ष के लिये।

खाता पन्ना	अधिपत्र क्रमांक	अंशधारियों का नाम व पता	लाभांश का भुगतान किस को दिया जायेगा	अंश पूँजी	कुल लाभांश जो दिया जायगा	आय कर	वास्तविक लाभांश जो देना है	निरूपण

लाभांश सूची तैयार हो जाने पर कम्पनी के सचिव को लाभांश अधिपत्र (Dividend Warrants) तैयार करने चाहिए। लाभांश अधिपत्र की प्राप्ति के बाद ही अंशधारी को अपने लाभांश के लेने का अधिकार प्राप्त होता है। लाभांश अधिपत्र सामान्यतः हस्तान्तरित नहीं किये जा सकते और उनका भुगतान प्रायः बैंकों के ही द्वारा होता है। भारतवर्ष में लाभांश अधिपत्रों का भुगतान यदि बैंक से किया जा रहा हो, तो उनके लिये कम्पनी एक अलग चैक निर्गमित करती है और लाभांश अधिपत्र को जमा कर देती है। प्रत्येक लाभांश अधिपत्र के साथ आय-कर का प्रमाण-पत्र भी साथ रहता है। लाभांश अधिपत्र का स्वरूप नीचे दिया जाता है।

लाभांश अधिपत्र

........कम्पनी लिमिटेड

.... साधारण लाभांश अधिपत्र

अधिपत्र नम्बर..................

....

....

दिनांक.....................

.......रुपये के लिए लाभाश पत्र जो कि 'मे 'तक १६६ के लिये .... रुपया प्रति साधारण अंश की दर से लाभ प्राप्त होने के लिये आय-कर से रहित कम्पनी मे श्री . . के नाम . अंशो के लिये स्वीकृत हुआ है, कम्पनी के प्रधान कार्यालय से प्राप्त होगा।

यह लाभाश दिनाक १६६ को होने वाली वाइसवीं सामान्य व्यापक सभा मे घोषित किया गया।

हम प्रमाणित करते हैं कि—(१) कम्पनी के लाभाश राशि पर भारतवर्ष मे शत प्रतिशत आय-कर लागू होगा, (२) कि जो धन लाभाश के रूप मे वितरित किया जा रहा है, उस पर का आय-कर हम भारतीय सरकार को चुका देंगे।

कम्पनी लिमिटेड

प्रबन्ध-अभिकर्ता

(अधिकारी द्वारा हस्ताक्षर होने के लिये)

लाभाश अधिपत्र सख्या

मै प्रमाणित करता हूँ कि उपर्युक्त लाभाश मेरे उन अशो से सम्बन्ध रखता है जो कि दिनाक" " " १६६ को मेरे नाम पर थे तथा मेरी सम्पत्ति थे।

दिनाक ह०

[नोट—इस भाग को फाडकर अशधारी को सावधानी से रखना चाहिये, क्योकि लाभाश पर आय-कर को वापिस लेते समय यह प्रमाण पत्र आय-कर अधिकारी के सामने प्रस्तुत करना पडेगा।]

—काटिये—

...................कम्पनी लिमिटेड।

लाभाश अधिपत्र संख्या

उपर्युक्त कम्पनी से सन् १६६ के लाभाश अधिपत्र सख्या मे लिखे गये अंशो पर लाभाश के रूप मे रुपये प्राप्त किये।

उपर्युक्त लाभाश अधिपत्र को तैयार करने के पश्चात् यदि लाभाश सीधे बैंक द्वारा भुगताया जाना है तो बिना अशधारी की अनुमति के ही उनको अधिपत्र भेज दिये जाते हैं। यदि अन्तर्नियमों मे इस बात का उल्लेख हो तो लाभाश अधिपत्र अंशधारियों को डाक के द्वारा भेज दिये जाते है।

लाभाश अधिपत्रों को भेज देने के बाद यदि उनका भुगतान बैंक के द्वारा किया जाना हो तो उसमे अलग-अलग लाभाशों के लिए खाते अलग-अलग खोले जाने चाहिये और उनको उनके लाभाश अधिपत्र के नम्बर से लिखा जाना सुविधाजनक रहता है। अंशधारी अपनी सुविधा के अनुसार बैंक मे लाभाश के रुपये

ले सकते हैं। जब रुपया कम्पनी के कार्यालय से चुकाया जा रहा हो अथवा कम्पनी उसके लिए धनादेश (चेक) निर्गमित करती हो तो उसका स्पष्ट उल्लेख लाभांश सूची में कर दिया जाना चाहिये।

जितने लाभांश अधिपत्र नहीं भुगताये जाते, उनकी एक अलग सूची बना देनी चाहिए, जिससे आसानी से यह पता लगाया जा सके कि कम्पनी को अभी कितना लाभांश बाँटना शेष है।

इसी बीच में जब लाभांश बाँटा जा रहा हो तो कम्पनी के सचिव को आय कर अधिकारी (Income Tax Officer) के पास लाभांश दिये जाने वाले अंशधारियों के नाम तथा पते भेज देने चाहिए। इस प्रत्याय में उन सब लोगों के नाम तथा पते दिये जाते हैं जिनको १) से अधिक लाभांश दिया जा रहा हो। पते भेजते समय सचिव को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि निवासी तथा विदेशियों के प्रपत्र अलग-अलग भरे जायें, जिससे आय-कर अधिकारी को आय-कर के निकालने में सुविधा पड़े।

कम्पनी के सचिव को इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि जितना भी धन लाभांश के रूप में दिया जा रहा है, उसका समुचित लेखा उसके बहीखाता विभाग में भली प्रकार से रखा जा सके।

संचालक सभा
(Directors' Meetings)

जैसा पहले बताया गया है कि कम्पनी का प्रबन्ध मूल रूप से संचालकों के ही हाथ में रहता है, और वे अंशधारियों, कम्पनी के विधान तथा कम्पनी कानून के आदेशानुसार सामूहिक रूप से अपनी सभाओं में कम्पनी के प्रबन्ध एवं व्यापार की समस्याओं पर विचार करके उनको कार्यान्वित करते हैं। संचालकों द्वारा पास किये गये प्रस्ताव कम्पनी के प्रबन्ध-संचालक तथा अन्य अधिकारियों को कार्यान्वित करने होते है। विधान के अनुसार संचालक मंडल को अपने प्रस्तावों के द्वारा निम्नलिखित अधिकार प्राप्त हैं—

(१) अंशों पर याचना करना,
(२) ऋण-पत्रों का निर्गमन करना,
(३) ऋण-पत्रों के अतिरिक्त ऋण लेना;
(४) कम्पनी के धन का विनियोग करना; तथा
(५) ऋण देना।

धारा २९२ के अनुसार अतिरिक्त ऋण लेना, धन का विनियोग तथा ऋण देने का कार्य प्रस्ताव द्वारा संचालक समिति (Committee of Directors) प्रबन्ध-अभिकर्ता आदि के सुपुर्द किया जा सकता है, किन्तु उसमें सीमाएँ बनाना-

आवश्यक है। धारा २६३ के अन्तर्गत सचालक मडल के कार्यो पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं और वे कम्पनी की सम्पत्ति के व्यवहार, सचालकों के लिए ऋण का भुगतान, अनाधिकृत विनियोग, पूँजी से अधिक ऋण लेना, २५०००) रु० से अधिक धर्मादा देना आदि, बिना अंशधारियों की साधारण व्यापक सभा में स्वीकृत के नहीं कर सकते।

सभा (Meeting)—सचालक सभा की बैठक हर तीसरे महीने होनी आवश्यक मानी गई है (धारा २८५)। यद्यपि नियमित सभाओं की सूचनाएँ भेजनी आवश्यक नहीं होती, फिर भी धारा २८६ के अनुसार सचालक सभा की सूचना प्रत्येक सचालक को लिखित रूप से दी जानी आवश्यक है, नहीं तो सम्बन्धित अधिकारी पर १००) रु० जुर्माना किया जा सकता है।

इस सभा के लिए गणपूरक सख्या (Quorum) कम्पनी के नियमित सचालकों, जिनका कुछ 'हित' नहीं है तथा जिन्होंने स्थान रिक्त नहीं कर दिया, के आधार पर गिनी जायगी और उन कुल सचालकों की $\frac{1}{3}$ सख्या (या दो, जो भी अधिक हो) गणपूरक सख्या मानी जायगी (धारा २५७)। यदि यह सख्या पूरी नहीं होती तो सचालक सभा को स्थगित माना जायगा, और उसकी दूसरी बैठक एक सप्ताह के बाद उसी दिन, स्थान तथा समय यदि उस रोज आम छुट्टी न हो, की जायगी और उसमें गणपूरक सख्या का विशेष विचार नहीं किया जायगा।

यदि सभा नियमानुकूल न हो तथा उसमें प्रस्तावित प्रस्तावों को पूर्व प्रसारित न किया गया हो तो उन प्रस्तावों के पास होने पर भी प्रस्ताव की वैधानिकता नहीं मिल सकेगी, (धारा २८९)।

सभा सचिव के कार्य (Secretary's Duties)—कम्पनी के सचिव को इन सभाओं की प्रत्येक कार्यवाही के लिए समुचित व्यवस्था करनी आवश्यक होती है, और साथ ही यह भी देखना होता है कि सभा का कार्य कम्पनी के अन्तर्नियमों तथा अधिनियम के अनुसार चल रहा है।

सभा के पूर्व तथा उसके बाद कम्पनी के सचिव के निम्नलिखित कार्य हो जाते हैं—

(१) सर्वप्रथम उसको सभा का कार्य विवरण (Agenda) तैयार करके सभा की सूचना सहित उसको प्रत्येक सचालक के पास भेजना होता है।

(२) *सचालकों की सुविधा के लिए तथा विशेष जानकारी के लिए* वह वैधानिक सलाहकारों, अंकेक्षकों, प्रबन्ध-अभिकर्ताओं आदि को बुलाने की व्यवस्था करता है।

(३) सभा के लिए आवश्यक पत्र, प्रपत्र, प्रलेख आदि को तैयार रखता है, जिससे कि सभा की कार्यवाही में समय व्यर्थ न जाय।

(४) सभा के लिये आवश्यक सामग्री का प्रबन्ध करना है, जिससे सभा का कार्य सुचारु रूप से चल सके।

(५) जब सभा प्रारम्भ होती है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि सचालकों के उपस्थिति रजिस्टर में प्रत्येक सचालक के हस्ताक्षर करवाले।

(६) पिछली सभा का विवरण पढ़कर सभा से उसकी सत्यता के विषय में स्पष्ट करवाले और उस पर सभा के अध्यक्ष के हस्ताक्षर करवाले।

(७) सभा होते समय आवश्यक पत्रों के हस्तान्तरण, परीक्षण, मुद्राङ्कन हस्ताक्षर आदि के लिये आवश्यक पत्रों को प्रस्तुत करे।

(८) जिस समय सभा हो रही हो, सभा में रहकर उसकी कार्यवाही की टिप्पणी तैयार करना भी उसके आवश्यक कार्यों में से हैं।

(९) सभा के समाप्त हो जाने पर उसके लिए आवश्यक है कि वह सभा का विवरण तैयार करें। यह विवरण विवरण-पुस्तक में लिखा जाना चाहिए।

(१०) सभा में तय की हुई बातों को कार्यान्वित करने के लिए प्रबन्ध संचालक के द्वारा आदेशों को निर्गमित करवाना भी कम्पनी सचिव का कर्तव्य है।

वस्तुतः यदि देखा जाय तो सभाओं के संचालन का सारा भार कम्पनी सचिव के ऊपर ही होता है और उसको इतनी जानकारी होना आवश्यक है कि सभा का समस्त कार्य समुचित रूप से चले। कुछ आवश्यक पुस्तकों, जैसे—उपस्थिति पुस्त सचालकों की विवरण-पुस्तक, चैक की पास बुक, हस्तान्तरण पुस्तक, आदि की व्यवस्था करना भी उसी का कार्य है। इस प्रकार सभा में क्या कार्य किस प्रकार से होना चाहिये इसकी योजना कम्पनी के सचिव को पहले से ही तैयार रखना चाहिये।

सभा का कार्य-विवरण
(Agenda of the Meeting)

सचालक सभा का कार्य-विवरण निम्नलिखित प्रकार से बनाया जाता है—

"कम्पनी लिमिटेड

सूचना

सूचित किया जाता है कि प्रमंडल विधान की धारा १६५ के अनुसार " " कम्पनी लिमिटेड की सभा - "में दिनांक - "१६६० को संध्या ४½ बजे से प्रारम्भ होगी।

सभा का निम्नलिखित कार्यक्रम होगा--

(१) अंकेक्षकों की नियुक्ति।

(२) अधिकोषों में खाते खोलना।

(३) विवरण-पत्रिका का निर्माण।

(४) अन्तरिम लाभांश की घोषणा।
(५) मेसर्स ' ' ''के साथ का अनुबन्ध।

स्थान '' ''' '''' सचालक सभा की आज्ञा से
दिनाक '' '''

सचिव

सभा का विवरण (Minutes of the Meeting)

. '' कम्पनी लिमिटेड

दिनाक ' ' ''' १९६ को''' '' बजे कम्पनी के प्रधान कार्यालय मे कम्पनी के संचालको की सभा हुई जिसमे उपस्थिति निम्न प्रकार से थी—

.... ' अध्यक्ष

... .
... .
....
... . } सचालकगण

....
. ... } अन्य उपस्थिति

(१) अंकेक्षकों की नियुक्ति— कम्पनी के संचालक श्री ' ' 'के प्रस्ताव तथा श्री''' ' ''के अनुमोदन पर सभा में विचार किया गया, और तय किया गया कि कम्पनी के अकेक्षक श्री ' के स्थान पर श्री को आगामी वर्ष १९६ के लिये नियुक्त कर लिया जाय। उनका पारिश्रमिक वही होगा जो कि पूर्व अकेक्षक श्री ' ' 'को दिया जाता था।

(२) अधिकोषो मे खाते खोलना— सभा मे यह तय हुआ कि कम्पनी के नवीन खाते ' 'बैंक लि० तथा 'बैंक लि० मे खोल दिये जायें। इसके साथ-साथ कम्पनी के प्रबन्ध-संचालक को कम्पनी की ओर से समस्त प्रलेखों, विपत्रों, धनादेशों, आदि पर हस्ताक्षर करने तथा पृष्ठांकन करने का अधिकार दे दिया जाय और इसकी सूचना वैधानिक ढंग से उपर्युक्त बैंकों में दे दी जाय।

(३) विवरण-पत्रिका का निर्माण— श्री ....के प्रस्ताव तथा श्री .... के अनुमोदन पर यह तय हुआ कि कम्पनी द्वारा बनाई हुई विवरण-पत्रिका को मान्यता दी जाय, तथा दिनांक ......१९६ को संचालकों के हस्ताक्षर कराकर उसको रजिस्ट्रार के पास प्रस्तुत कर दिया जाय, तथा उसका निर्गमन जनता में किया जाय।

(४) अन्तरिम लाभांश की घोषणा—श्री ...... के अंकेक्षण वृत्त के प्रस्तुत किये जाने से संचालक श्री ...... के प्रस्ताव तथा श्री ....के अनुमोदन से यह तय किया गया कि इस वर्ष कम्पनी के अंशधारियों को २) रु० प्रति अंश अंतरिम लाभांश घोषित कर दिया जाय, क्योंकि अंकेक्षक की वृत्त से स्पष्ट है कि यदि भविष्य में अतिरिक्त लाभ न हो, तो भी अंशधारियों को ३) रु० प्रति अंश की दर से लाभांश दिया जा सकेगा।

(५) मेसर्स....के साथ का अनुबन्ध—श्री ......के प्रस्ताव तथा श्री .... के अनुमोदन के बाद यह तय हुआ कि मेसर्स तथा कम्पनी के बीच दिनांक...... १९६ को जो अनुबन्ध हुआ, उससे उनके व्यापार को दिनांक ....१९६ से हस्तगत कर लिया जाय तथा उसके निपटाने के लिये कम्पनी के संचालक श्री ......को नियुक्त कर लिया जाय।

हस्ताक्षर
....

सचिव

दूसरा उदाहरण—

.... कम्पनी लिमिटेड

सूचना

सूचित किया जाता है कि उपर्युक्त कम्पनी के संचालकों की सभा कम्पनी के प्रधान कार्यालय..............में दिनांक ......१९६ को ......बजे होगी जिसमें निम्नलिखित कार्यक्रम पर विचार किया जायगा।

(१) कम्पनी के संचालक श्री 'अ' का त्याग-पत्र तथा उस स्थान को पूर्ति के लिये नवीन संचालक की नियुक्ति,
(२) संचित कोष का विनियोग, तथा
(३) हस्तान्तरण समिति की चुनाव।

दिनाक" ... .१९६ प्रवन्ध-सचालक को आज्ञा से

सचिव

कम्पनी लिमिटेड

विवरण

उपर्युक्त कम्पनी को संचालक सभा की बैठक कम्पनी के प्रधान कार्यालय मे दिनाक ... १९६ को बजे हुई जिसमें निम्नलिखित व्यक्ति सम्मिलित थे —

.... अध्यक्ष

....
....
.... } सचालकगण
....

.... सलाहकार

कम्पनी के कार्य विवरण के अनुसार सभा की कार्यवाही इस प्रकार है—

(१) **कम्पनी के सचालक श्री 'अ' का त्याग-पत्र**—	श्री 'अ' के त्याग-पत्र पर पूर्ण रूप से वाद विवाद होने के पश्चात् सचालक सभा ने उनका त्याग-पत्र खेद सहित स्वीकार किया, तथा उनके कार्यो की प्रशसा के लिए एक प्रशसा प्रस्ताव स्वीकृत किया, जिसकी प्रतियां श्री 'अ' को भेजने के लिये तय किया गया।
(२) **श्री 'अ' के स्थान पर श्री 'ब' की नियुक्ति**—	सचालक सभा मे श्री ....ने श्री 'अ' के स्थान पर श्री 'ब' का नाम संचालक के लिये प्रस्तुत किया, जिसका अनुमोदन श्री ... ने किया। यह तय किया गया कि श्री की नियुक्ति आगामी वार्षिक सभा तक की जाय।
(३) **सचित कोष का विनियोग**—	श्री ने प्रस्ताव किया कि कम्पनी के संचित कोष मे से १ लाख रुपये राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्र मे लगाये जाये। प्रस्ताव का उचित अनुमोदन हो जाने के बाद यह तय

किया गया कि १ लाख रुपया राष्ट्रीय संचय प्रमाण-पत्रों में लगाया जाय और उससे जो वृद्धि प्राप्त हो, उसका संचय कोष में जमा कर दिया जाय।

(४) हस्तान्तरण समिति की वृत—श्री ……तथा श्री…… ……को अंश हस्तान्तरण वृत के ऊपर सभा में पर्याप्त वाद-विवाद रहा। अन्त में सभा के अध्यक्ष श्री … के सुझाव पर यह तय किया गया कि अंश हस्तान्तरण में परिवर्तन करने की नवीन विधि को तब ही स्वीकार कर लिया जाय, जब वह आगामी अंशधारियों की साधारण सभा में स्वीकृति पा ले तथा अन्तर्नियमों में यथोचित परिवर्तन कर सरकार की अनुमति प्राप्त कर ली जाय।

सचिव　　　　　　　　　　　　… … अध्यक्ष

विवेचन योग्य प्रश्न

1. Within what time a statutory meeting is required to be held? Is there any difference in regard to this meeting for a private or a public company? Draw up an agenda for statutory meeting.
2. What business is usually transacted at the statutory meeting? Draft specimen minutes of such a meeting.
3. What is the legal provision for holding ordinary general meeting. What business is transacted at such meeting? What are the duties of the secretary in this connection?
4. Draft specimen minutes of a ordinary general meeting of a public limited company in a proper form.
5. What is the procedure to be followed at an annual general meeting of a Joint Stock Company? Descibe the duties of a Secretary in connection with the meeting.
6. Explain extra-ordinary general meeting. Mention the nature of business that can be voidly transacted in such a meeting. Draft a notice for such meeting
7. Distinguish between statutory meeting, annual general meeting and extra-ordinary meeting of the shareholders of a company.

8 Wri'e the general rules of a procedure at company meetings in relation to resolutions, amendments and voting.

9 What are the duties of a company secretary in connection with the meetings of its directors.

10 Draw up agenda and write out the minutes of the meeting of directors of a big manufacturing company convened to consider and pass the annual account of the company.

11 Describe briefly the secretarial practice relating to the payment of dividends by a company, and draft the form of dividend warrant with income-tax certificate attached thereto.

12 Write a note on proxy and give its form What are the general rules for proxy ?

परिशिष्ट

कम्पनी (संशोधन) बिल १९५९*

(शास्त्री कमेटी के सुझाव)

सन् १९५६ के कम्पनी अधिनियम मे स्वामित्व तथा नियत्रण के प्रश्न को हल करने का प्रयत्न किया गया था किन्तु उसके सन्तोषप्रद परिणाम नही निकले इसलिये सन् १९५७ मे श्री विश्वनाथ शास्त्री की अध्यक्षता मे एक कमेटी का निर्माण किया गया और उसकी सिफारिशो के आधार पर पालियामेंट मे सन् १९५९ को एक नवीन संशोधित बिल प्रस्तुत दिया गया। शास्त्री कमेटी ने पुराने अधिनियम के अनावश्यक आधार, अस्पष्टता तथा उसमे आमूल परिवर्तन की ओर भी सकेत किया है और आवश्यक परिवर्तनो के लिये अपना मत भी व्यक्त किया है।

शास्त्री कमेटी के सुझावो के अनुसार नवीन सशोधित बिल मे निम्नलिखित परिवर्तन किये गये हैं—

(१) **पूंजी का नव-निर्गम** (Fresh issue of Capital)—नवीन पूजी के निर्गमन के लिये धारा ८१ की शब्दावली अस्पष्ट है, इसलिये उसमे सशोधन किये गये हैं और अब वह इस प्रकार से प्रारम्भ होता है, "कम्पनी के अशो का वितरण करने के एक वर्ष बाद, जब कम्पनी ने अपने समामेलन मे बाद पहले पहल उनको *निर्गमित किया हो।" किन्तु इस अंतिम वाक्य से धारा का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता* है और सचालक बाद के अशों मे अपनी मनमानी कर सकते है।

धारा १२५ मे यदि साहूकार या लिक्युडेटर २१ दिन के अन्दर अपने प्रभार *(Charge)* को रजिस्ट्रार के पास *पंजीयन न करवा दें तो वह वर्जित माना जायेगा* और नये संशोधन मे इसके लिये रजिस्ट्रार को ७ दिन की रियायत देने के कहा गया है यह अदालत का आश्रय लेने मे रुकावट पैदा करने के लिये अच्छा है किन्तु इसके *लिये यदि अवधि बढा दी जाय तो कोई अनुचित नही होगा।*

(२) **प्रबन्ध अभिकर्ता** (Managing Agents)—धारा ३५६ मे प्रबन्ध अभिकर्ताओं को भारत के बाहर अपनी कम्पनियो के, जिनके वे प्रबन्ध अभिकर्ता है, माल को बेचने *का अधिकार है और नये संशोधन में उनको इस पर 'कमीशन' लेने का अधिकार दिया गया है* किन्तु इसकी क्या गारन्टी है कि वे कम्पनियो के आपस मे प्रतिद्वन्द्विता नही करवा लेंगे। साथ ही प्रबन्ध अभिकर्ता उन कम्पनियो के साथ भी प्रसविदा *कर सकेगा वह जिनका प्रबन्ध अभिकर्ता नही है।*

---

* यह बिल १९६१ मे संशोधित 'अधिनियम' का रूप ले लेगा।

धारा ३७२ मे कम्पनी को एक ही ग्रुट (group) वाली कम्पनियों के अंशों को खरीदने की सुविधा है। नये बिल मे इसका सशोधन इस प्रकार किया गया है, "संचालकों को अधिकार होगा कि वे एक ही ग्रुट की किसी कम्पनी के अंशों या ऋण-पत्रों में उसकी अनुदानित पूँजी के १०% तक विनियोग कर सकते हैं। किन्तु यह विनियोग कुल विनियोग का ३०% तथा उसी ग्रुट मे २०% से अधिक नहीं होना चाहिये।" *यह सम्भवतया कम्पनियों के अन्तर्विनियोग के लिये उपयुक्त है और इससे* विनियोग की सीमायें निर्धारित कर दी गई है। इस सशोधन को इस दृष्टि से लेकर कि अविकसित देश मे इसकी आवश्यकता नहीं है निरस्कृत नहीं किया जाना चाहिये। इससे कम्पनी के वित्त में सतुलन रहेगा तथा सचालक मनमाने विनियोग नहीं कर पायेंगे।

(३) मताधिकार (Voting Rights)—नये बिल मे disproportionate मताधिकार को समाप्त करने की व्यवस्था है जिसमें अंशों के किसी एक ग्रुट में विविध प्रकार के अंशों के मताधिकार मे सामजस्य स्थापित किया जा सके। इसमे अशधारी को अपने मताधिकारों के समायोजन करने के लिये न्यायालय मे जाने का अधिकार भी भी है। पर यह नियम पूर्वाधिकारी अंशों पर लागू नहीं किया जायेगा।

नये बिल की धारा १११ मे किसी भी कम्पनी को हस्तान्तरण को अस्वीकृत करने का कारण देना पड़ेगा चाहे उसके अन्तर्नियमों मे सचालकों को इस प्रकार का कारण देने के लिये बाध्य न किया जा सके।

नये बिल मे अधिनियम की धारा १५६ को समाप्त कर कम्पनी को आम साधारण सभा के न किये जाने पर भी वार्षिक प्रत्याय भेजना आवश्यक कर दिया गया है। प्रत्याय सूक्ष्म अवश्य हो सकता है।

नये बिल के अनुसार अंकेक्षक को केवल अन्तिम खातों की शुद्धता को ही प्रमाणित नहीं करना होगा अपितु कम्पनी के तमाम आय-व्यय की रसीदों तथा प्रविष्टियों को भी प्रमाणित करना होगा।

नये बिल मे प्रत्येक सहायक कम्पनी को अपनी वार्षिक सभा को बुलाने की अवधि को निश्चित करने का अधिकार दिया गया है। निजी कम्पनी अपनी सुविधा के अनुसार अपनी सभा को कहीं भी बुला सकती है। बिल मे कम्पनियों की सभाओं को बुलाने तथा उनका सचालन करने पर काफी कठोरता बरती गई है, इसलिये *उसमे कुछ सामान्यता लाई जानी आवश्यक है। यह प्रत्याभूति से सीमित कम्पनियों* के लिये अधिक आवश्यक है कि उनको कुछ रियायत दे दी जाय।

वार्षिक सभायें (Annual Meetings)—नये बिल मे यह व्यवस्था की गई है कि यदि संचालकगण या अधिकारी किसी सभा को निश्चित समय के अन्दर नहीं करते तो उन पर २५०) प्रतिदिन के हिसाब से जुर्माना किया जा सकता है,

(धारा १६८)। इसके साथ-साथ कम्पनियों को सभा की सूचना के साथ विस्तृत विवेचनात्मक टिप्पणी देने की आवश्यकता नहीं रही है। यह धारा १७३ के अनुसार पत्रों में प्रकाशन के सम्बन्ध मे लागू होगा।

नये बिल के अनुसार अब प्रतिपुरुष (Proxy) का आवेदन ४८ घन्टे पूर्व जमा करने की आवश्यकता नहीं रही। तथा धारा १९३ का संशोधन करके अब आम सभा तथा संचालकों की सभा की कार्य विधि (Minutes) का विधिवद् लेखा अनिवार्य कर दिया गया है। धारा १९७ में संशोधन करके यह निश्चय किया गया है कि जब तक सभा की चर्चा का भी उचित उल्लेख नहीं हो अध्यक्षीय प्रवचन का इतना अधिक प्रचार और प्रकाशन नहीं किया जाना चाहिये।

साधारण सभा में प्रस्तुत की जाने वाली संचालकों की रिपोर्ट मे संशोधन तथा स्पष्टीकरण कर दिया गया है जिसमे अंशधारी कम्पनी को नवीनतम जानकारी प्राप्त कर सकें।

पारिश्रमिक एवं लाभांश (Remuneration and Dividend)—नवीन बिल मे प्रबन्ध अभिकर्ताओं तथा कोषाध्यक्षों के पारिश्रमिक के सम्बन्ध में फिर से स्पष्टीकरण किया है और उसमे कहा गया है कि इन लोगों को किसी भी वर्ष वास्तविक लाभ (Net profit) का अधिक से अधिक ११% मिल सकता है। इसमे वह पारिश्रमिक सम्मिलित नहीं है जो उन्हें अधिनियम द्वारा मान्य कार्यों के लिये अलग से दिया जा सकेगा। यह तो केवल उनके प्रबन्ध सम्बन्धी कामो के लिये ही दिया जायेगा।

लाभांश बँटने के सम्बन्ध मे पहले कहा गया था कि लाभांश केवल वास्तविक लाभ मे से ही दिया जा सकता है किन्तु नये बिल मे उसके साथ 'घिसाई या इसी प्रकार के कुछ अन्य कोषों के लिये व्यवस्था करने के पश्चात् जो वास्तविक लाभ बचे' और अधिक जोड़ दिया गया है। घिसाई का अनुमान लगाने की नीति मे भी परिवर्तन कर दिया गया है।

लाभांश नक़द दिया जाना निश्चित किया गया है जिससे कम्पनियाँ लाभांश के लिये अपने दूसरी कम्पनियों के अलाभप्रद अंशों को अंशधारियों को न बाँट सकें। लाभांश बाँटने की विधि को नियन्त्रित करने के लिये पुरानी धारा २०७ को संशोधित करके बिल मे लाभांश वितरण की तिथि से १४ दिन के अन्दर लाभांश की कुल राशि को अनुसूचित बैंक में जमा कर देने की व्यवस्था की गई है और कम्पनी को अब नियत समय के अन्दर लाभांश बाँट देना भी आवश्यक किया गया है।

निजी कम्पनियों का निरीक्षण (Inspection of Private Companies)—नवीन बिल मे पुरानी धारा २२० को सुधारने के लिये यह निश्चय किया गया है कि प्रत्येक निजी संस्था को नियमित रूप से अपने अन्तिम खातों को रजिस्ट्रार के कार्यालय में प्रस्तुत करना पड़ेगा।

बिल मे व्यवस्था की गई है कि निम्नलिखित अवस्थाओं मे कम्पनी के अन्तिम खातों का निरीक्षण तथा उनकी प्रतियाँ प्राप्त करने का अधिकार केवल उसके सदस्यों को ही रहेगा—

(१) जो पूर्ण रूप से निजी कम्पनी हो

(२) निजी कम्पनी जिस पर भारतवर्ष के बाहर की समामेलित एक या अधिक संस्थाओं का शत प्रतिशत अधिकार हो ।

(३) जिन सार्वजनिक कम्पनी को केन्द्रीय सरकार द्वारा इस प्रकार की छूट दे दी गई हो ।

नवीन बिल मे निजी कम्पनी के अंशो को हथियाने की प्रवृत्ति को भी रोकने का प्रयत्न किया गया है और अंशो के हस्तान्तरण पर सरकार द्वारा प्रतिबन्ध लगाये जाने की व्यवस्था की गई है। किन्तु इस प्रकार का प्रतिबन्ध केवल तीन वर्ष की अवधि तक ही लगाया जा सकता है ।

यदि कोई निजी कम्पनी सहायक कम्पनी हो तो नये बिल के अनुसार उसको तीन सचालको (जैसा पुराने अधिनियम मे है) के स्थान पर दो सचालको के रखने का अधिकार दे दिया गया है ।

अधिनियम की धारा २६१ के अनुसार कुछ लोग बिना विशेष प्रस्ताव के कम्पनी के संचालको के रूप मे नियुक्त नहीं किये जा सकते किन्तु नवीन बिल मे इसको संशोधित करके यह स्पष्ट किया गया है कि प्रबन्ध अभिकर्ताओं से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों को न तो सचालक नियुक्त किया जाना चाहिये और न उनको आकस्मिक रिक्त स्थान पर ही नियुक्त किया जाना चाहिये ।

संघों से सम्बन्धित नियम (Provisions relating to Associations)— धारा २५ के अन्तर्गत जिन सघों को स्वीकृति मिली हो उनमे पदाधिकारियो को चुनने के लिये 'बैलेट' का उपयोग निश्चित किया गया है। इसमे यह व्यवस्था भी की गई है कि यदि किसी व्यक्ति को विदेशों मे चरित्र सम्बन्धी आरोप पर सजा मिल गई हो तो वह संस्था का सचालक या पदाधिकारी नहीं बन सकेगा (धारा २६७ का संशोधन) और नये बिल के पारित हो जाने पर किसी व्यक्ति को सारे समय के लिये प्रबन्ध संचालक बनाने के लिये पुनर्निर्वाचन करने के पूर्व सरकार की अनुमति लेनी आवश्यक होगी। और धारा २७१ के संशोधन के बाद अब अपने योग्यता अंशों की प्राप्ति का प्रमाण कम्पनी मे प्रस्तुत करने की अपेक्षा संचालक को रजिस्ट्रार के पास प्रस्तुत करना पडेगा ।

संचालकों तथा संचालक मंडल सम्बन्धी नियम—नये बिल में धारा २८०(२) को संशोधित करने के पश्चात् किसी संचालक को जिसकी अवस्था ६५ वर्ष की हो गई हो अपने पद की अवधि के पूर्ण होने तक संचालक बने रहने का अधिकार

होगा। इसके साथ यदि किसी सचालक को यह ज्ञात हो जाय कि उसकी किसी अयोग्यता के कारण अब उसका स्थान रिक्त हो गया है और वह फिर भी उस स्थान पर बना रहता है तो उसको ५००) प्रति दिन के हिसाब से दण्डित किया जा सकता है।

नये बिल मे अधिनियम की धारा २८५ मे सशोधन करके अब कम्पनी के सचालक मंडल की बैठक का तीन महिने मे एक बार बुलाया जाना आवश्यक कर दिया गया है (दो महिने के बीच मे अधिक से अधिक एक बैठक हो सकती है)। जिन कम्पनियो के पास विशेष कार्य न हो उनको इतनी बैठक बुलाने की आवश्यकता नही है। नये बिल मे इस बात पर बल दिया गया है कि बैठक मे कम मे कम दो संचालक इस प्रकार के होने चाहिये जिनका निजी हित न हो।

धारा ४०६ का सशोधन करके सरकार को अधिकार दिया गया है कि यदि किसी ईर्षावश संचालक मडल मे परिवर्तन कर दिया जाय तो सरकार उसको रोक सकती है तथा अशो के परिवर्तन मे भी रोक लगा सकती है। अब सरकार को इस सम्बन्ध मे आये हुए आवेदन पत्रो का निपटारा करने मे सलाह आयोग' से सम्मति लेने की आवश्यकता नही होगी।

कम्पनी के कार्यकर्ताओ की जामिनो का रुपया तथा प्रोविडेन्ट फड अनुसूचित बैंको मे सुरक्षित रखा जायगा जिससे समय पर उनको चुकाया जा सके।

राजनीतिक दलो को अनुदान (Donations to Political Parties)—राजनीतिक दलो को दिये जाने वाले अनुदान पर प्रतिबन्ध लगाने के लिये शास्त्री कमेटी ने सुझाव रखा था कि इस प्रकार से दिया जाने वाला अनुदान 'लाभ हानि' खाते मे प्रदर्शित कर दिया जाना चाहिये।*

प्रबन्ध अभिकर्ताओ तथा सचालको का दायित्व (Responsibility of Agents)—धारा ३४२ का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि प्रबन्ध अभिकर्ता के ऑफिस छोड देने पर भी उसको अपने पुराने कृत्यो के लिये उत्तरदायी रहना पडेगा। प्रबन्ध अभिकर्ता उन कम्पनियों से कमीशन नही ले सकता जो उसके ही प्रबन्ध मे हो। एक कम्पनी या एक ही प्रबन्ध मे रहने वाली कम्पनियों मे प्रबन्ध अभिकर्ता के ऊपर ऋण लेने मे अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये गये है। नवीन धारा ३७७ (१ ए) मे प्रबन्ध अभिकर्ता को सभापति की नियुक्ति को कोई सैद्धान्तिक अधिकार नही दिया गया है, साथ ही अब किसी समामेलित सस्था को कम्पनी मे प्रबन्धक नियुक्त नही किया जा सकेगा। प्रबन्धक का पारिश्रमिक किसी भी दशा मे कम्पनी के लाभ का ५% से अधिक नही होना चाहिये।[§] प्रबन्धक की नियुक्ति पर सरकार की स्वीकृति आवश्यक होगी।

---

* इस मत को बम्बई तथा कलकत्ता हाईकोर्टों के फैसलों मे सन् ११५८ तथा १९५७ को दिया गया था।

§ यह नियम निजी कम्पनी पर लागू नहीं होगा।

नये बिल मे स्पष्ट किया गया है कि बिना सरकार की अनुमति से किसी प्रबन्ध अधिकर्ता या उसके सम्बन्धी को 'सोल' विक्रय-प्रतिनिधि नही बनाया जा सकता।

इसी प्रकार नये बिल मे सचालक अथवा उसके सम्बन्धी का ऋण देने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये है किन्तु अनुबन्धो मे 'हित' मे अनेक परिवर्तन कर दिये गये है और प्रतिबन्धो मे कुछ कमी कर दी गई है। यह अवश्य है कि सचालको को अपने हितो का पहले ही स्पष्टीकरण करना आवश्यक होगा। * यदि सचालक रजिस्टर मे कोई परिवर्तन करने आवश्यक हो तो समान्य परिवर्तन कम्पनी के द्वारा ही किये जा सकेगे (किन्तु कम्पनी वर्ष मे केवल एक बार ही कर सकती है)। यदि निर्धारित सीमा मे किसी सचालक या प्रबन्ध अभिकर्ता को अधिक पारिश्रमिक मिला हो तो उसको 'अतिरिक्त' वापिस कम्पनी मे जमा करना होगा।¹

नये बिल मे कोई दो से अधिक कम्पनियो मे प्रबन्ध अभिकर्ता का कार्य नही कर सकता। इस बिल के पास हो जाने के पश्चात् कोई भी समामेलित कम्पनी को प्रबन्ध अभिकर्ता के स्थान पर नियुक्त नही कर सकेगा।

अन्य नियम (Other Provisions)—नये बिल मे रजिस्ट्रार को कम्पनी पर नियन्त्रण रखने के लिये व्यापक अधिकार दिये गये है तथा कम्पनी के मामलो की जाँच करने के लिये सरकार द्वारा जो निरीक्षक नियुक्त किया जायेगा उसको व्यापक अधिकार होगे, न्यायालय के अधिकारो को भी बढा दिया गया है तथा प्रतिलिपियो को प्राप्त करने और पत्रको को समय पर प्रस्तुत करने के लिये अधिक फीस तथा जुर्माने की व्यवस्था की गई है। नये बिल मे कम्पनी के अन्तिम खातो को वही खाते के सिद्धान्तो के अनुसार लाने के लिये भी नियम बनाये गये हैं।

नवीन बिल मे अब कुल ६७० धारायें है जब कि पुराने अधिनियम मे केवल ६५८ धारायें है। इस प्रकार नये बिल मे १२ धाराये अधिक बढा दी गई है। सन् १९६०–६१ मे यह बिल सम्भवतया अधिनियम का रूप ले लेगा।

---

* सचालको या उनके सम्बन्धियों को किसी एक वर्ष में ५०००) रुपये तक का सामान बेचा जा सकता है।

¹ इस से पुरानी धारा ३१५ से ३१७ तक संशोधन हो गया है और ३१५ धारा को समाप्त करने की सिफारिश की गई है।

व्यापारिक संस्थाओं का संगठन एवं प्रबन्ध १९

(Management and Organisation of Trade Institutions)

✓ थोक व्यापार का अर्थ

(Meaning of Wholesale Trade)

थोक व्यापार उस व्यापार को कहते हैं जिसमें व्यापारी उत्पादकों से बहुत बड़ी मात्रा में माल खरीदकर उसको आवश्यकता के अनुसार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में फुटकर व्यापारियों को बेचता है। इसके अनुसार किसी भी थोक-व्यापारी को क्रय-विक्रय बड़ी मात्रा में करना होता है। उसका किसी एक वस्तु में विशिष्टीकरण होता है और वह सीधा उपभोक्ताओं को माल न देकर प्रायः फुटकर व्यापारियों को ही माल बेचता है। थोक व्यापारी जिस वस्तु का व्यापार करता है वह उसी नाम से पुकारा जाता है।

✓ थोक व्यापार की विशेषताएँ

(Characteristics of Wholesale Trade)

थोक व्यापार की निम्नांकित प्रमुख विशेषताएँ हैं—

(१) वस्तुएँ बड़े पैमाने पर क्रय की जाती हैं ;

(२) यह एक विशिष्ट व्यापार होता है ;

(३) मध्यस्थों की नियुक्ति करनी आवश्यक है ;

(४) सम्पूर्ण माल दुकान में रखना आवश्यक नहीं, क्योंकि विक्रय नमूने से भी की जाती है ;

(५) वृहद् मात्रा में पूँजी लगती है ,

(६) मूल्य में बहुत जल्दी परिवर्तन होता है ,

(७) वस्तुएँ साधारणतया उधार ही बेची जाती हैं ,

(८) *व्यय विज्ञापन पर अधिक तथा दुकान की सजावट आदि पर कम ही होता है ,*

(९) फुटकर व्यापार की तुलना में, थोक व्यापार अधिक परिकाल्पनिक होता है।

थोक व्यापार का संगठन

Organisation of Wholesale Business)

थोक व्यापारी के कार्यो का विवरण निम्नलिखित प्रकार से किया जा मकता है—

(१) **क्रय विभाग** (Purchase Department)—इस विभाग के द्वारा देश-विदेशो की उत्पादित तथा निर्मित वस्तुओ को एकत्र करना होता है।

(२) **विक्रय विभाग** (Sale Department)—इस विभाग का कार्य मम्पूर्ण देश अथवा संसार के फुटकर व्यापारियो मे आदेश प्राप्त करके उनकी इच्छानुसार माल को भेजना होता है।

(३) **विदेशी विभाग** (Foreign Department)—थोक व्यापारी प्रायः विदेशो मे व्यापारिक मम्बन्धो के लिये एक अलग विभाग की स्थापना करने है। इसके द्वारा उनका ममस्त विदेशी क्रय-विक्रय मम्पन्न किया जाता है।

(४) **संग्रहालय** (Godown)—थोक व्यापारी के लिये गोदामघर का विशिष्ट प्रबन्ध करना आवश्यक होतो है, क्योंकि जितना माल खरीद लिया जाता है वह गोदामघर में जमा होता है और जितना माल बेचा जाता है, उमकी निकासी यही से होती है। इसलिये उम पर सही निरीक्षण रखने के लिये गोदामघर का प्रबन्ध अलग होना आवश्यक होता है।

(५) **बही-खाता विभाग** (Accounts Department)—इम विभाग मे ममस्त क्रय-विक्रय, लेन-देन तथा अन्य प्रकार के खर्चो का विधिवत् ब्यौरा रखा जाता है। वर्ष के अथवा निश्चित अवधि के अन्त मे व्यापार का आर्थिक ब्यौरा भी इसके ही द्वारा तैयार किया जाता है।

(६) **सांख्यिकी विभाग** (Statistical Department)—इम विभाग के अन्तर्गत व्यापार की प्रगति के आँकडे एकत्र किये जाने है और उनका विधिवत् विश्लेषण करके व्यापारिक प्रगति को ध्यान मे रखने हुए व्यापार के लिये नवीन योजनाएँ बनाई जाती हैं।

ऊपर दिये गये विभाग आधुनिक विशाल थोक व्यापारियो के संगठनो मे पाये जाते हैं। माधारण स्थिति मे थोक व्यापारी विशेष आडम्बर न करके केवल एक गोदाम तथा पाँच-सात मुनीमों को रखकर अपना व्यापार चला सकता है, क्योंकि उसको उपभोक्ताओ को आकर्षित करने की आवश्यकता नही होती।

थोक व्यापारी की सेवाएँ
(Services of Wholeseller)

फुटकर व्यापारियों को योग (Aid to Retailers)—थोक व्यापारी फुटकर व्यापारियों की सहायता निम्नलिखित प्रकार से करता है—

(१) फुटकर व्यापारी अपनी पूंजी तथा आवश्यकता के अनुसार थोक व्यापारी से थोडी मात्रा मे माल मँगवा सकता है। धन की न्यूनता होने पर भी फुटकर व्यापारी अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को सुविधा के साथ प्राप्त कर सकता है।

(२) फुटकर व्यापारी को एक ही स्थान से उसकी आवश्यकता की अनेक वस्तुएँ प्राप्त हो सकती है। यदि उनको थोक व्यापारियो की यह सहायता न मिले तो आवश्यक वस्तुओं को मँगवाने मे बडी कठिनाई होगी, क्योकि निर्माताओ से वस्तुएँ मँगवाने मे हमेशा कठिनाई पड़ती है।

(३) थोक व्यापारियो से उधार माल प्राप्त हो जाने पर फुटकर व्यापारियो की आर्थिक कठिनाई काफी कम हो जाती है, क्योकि उनको माल के बिक जाने पर मूल्य का शोधन करने की सुविधा रहती है। थोक व्यापारी उनको वस्तु के विशिष्टीकरण मे भी सहायता देता है।

(४) बिना माँग वाली वस्तुओ की माँग बढाने मे थोक व्यापारी बडी सहायता करता है तथा माल का उचित पैकिंग करके उसको आकर्षक बना देता है, जिससे बाजार मे उसकी माँग बढ जाय।

(५) थोक व्यापारी, अलग-अलग बाजारो के आदेश प्राप्त करके, फुटकर व्यापारियो की माँग के अनुसार निर्माताओ से माल का निर्माण करवा सकता है।

(६) चूँकि थोक व्यापारी को नवीन रुचि, माँग आदि का ज्ञान रहता है, इसलिये वह फुटकर व्यापारियों को समय-समय पर इसकी जानकारी करवाता रहता है, इससे उनको माल मंगवाने मे सुविधा रहती है।

(७) थोक व्यापारी की सहायता से फुटकर व्यापारियो को माल संचय करने की आवश्यकता नहीं पडती, क्योकि माल के बिक जाने पर उनको तुरन्त नया माल मिल जाता है।

उत्पादको को योग (Aid to Manufacturers)—थोक व्यापारी के द्वारा उत्पादकों का निम्न सेवाये दी जाती है—

(१) थोक व्यापारी उत्पादक को वितरण-सम्बन्धी कार्यों से मुक्त कर देता है और कार्यशील पूँजी उपलब्ध करने मे सहायता प्रदान करता है, क्योकि वह थोक क्रय करता है।

(२) उत्पादक के द्वारा नव-निर्मित वस्तुओं को उपभोक्ता तक जल्द पहुचाता है और उपयोगी सिद्ध करता है। इसके लिये उसे विज्ञापन की सहायता लेनी पड़ती है।

(३) वह उत्पादकों के लिये कच्चा माल संग्रह करता है। इसलिये उत्पादक कच्चे माल में लगने वाली पूंजी को अन्य कार्यों मे लगा सकता है।

(४) निश्चित भावों पर थोक माल खरीदकर वह उत्पादक को बाजार में मूल्य की घटा-बढ़ी से मुक्त कर देता है।

(५) उत्पादक को बड़ी मात्रा में आदेश देकर उसके उत्पादन कार्य में वृद्धि के साथ-साथ उत्पादन को सुरक्षित कर देता है। वह इस आदेश के लिये छोटी-छोटी मात्रा मे फुटकर व्यापारियों से आदेश प्राप्त करता है।

(६) थोक व्यापारी उत्पादकों को नवीन रुचि, फैशन आदि की जानकारी करवाकर उत्पादन मे प्रगति लाने के लिये सहायक होता है। और उत्पादक के विशिष्टीकरण की दिशा निरन्तर बढ़ती रहती है।

सामाजिक सेवायें
(Social Services)

(१) फुटकर व्यापारियों से उपभोक्ताओं की रुचि जानकर वह नित्य उस प्रकार के माल का निर्माण करवाता है।

(२) विज्ञापन के द्वारा वह नवीन माल की जानकारी तथा उसके मूल्य सम्बन्धी बातों से उपभोक्ताओं को विज्ञ करवाता है।

(३) उपभोक्ताओं से वृहत् मात्रा में माल का निर्माण कराकर वह उत्पादन तथा विक्रय मूल्यों में कमी करवाता है।

(४) थोक व्यापारी हमेशा माँग और पूर्ति में सन्तुलन रखने का प्रयत्न करता है।

क्या थोक व्यापारी हटा दिये जाएं ?
(Should Wholesellers be removed ?)

आधुनिक युग के व्यापार में मध्यस्थों का तीव्र विरोध किया जाने लगा है और लोग उनको व्यापार से हटाना चाहते हैं। आलोचकों की यह धारणा निम्नलिखित कारणों से बनती है—

(१) थोक व्यापारी माल का संग्रह करके उसकी माँग बढ़ा देते हैं। माँग के बढ़ने पर माल को अधिक दामों में बेचकर लाभ कमाना इनका कर्तव्य सा हो गया है। इससे फुटकर व्यापारियों को बहुत कम लाभ बच जाता है।

(२) ये लोग निर्माताओं तथा उपभोक्ताओं के बीच में आकर लाभ कमाते है, जिससे व्यर्थ में वस्तु का मूल्य बढ़ जाता है।

(३) थोक व्यापारी ऊँचा वेतन पाने वाला कर्मचारी रखते हैं, जिससे व्यापार का प्रबन्ध-व्यय अधिक बढ जाता है और फलस्वरूप वस्तु के मूल्य मे वृद्धि हो जाती है।

(४) थोक व्यापारी आधुनिक व्यापारिक परम्पराओं के प्रतिकूल हैं। अब साधनों की सुविधा से निर्माताओं से माल सीधा प्राप्त किया जा सकता है। इससे वस्तु के मूल्य मे अपेक्षाकृत कमी आ जाती है।

(५) वह उत्पादकों का माल भी विशेष रुचि से नही बेचता। जो उत्पादक उसको अधिक बटाव (discount) देगा उसके माल पर ही उसकी अधिक रुचि होगी। इसलिये उसकी सेवायें न तो उत्पादको को ही अधिक लाभदायक होगी और न उपभोक्ताओं को ही।

(६) वह माल पर अपने चिह्न लगाकर उत्पादक की प्रतिष्ठा (goodwill) को कम कर देता है। और कई बार वितरण का एकाधिकार प्राप्त कर लेता है।

यदि थोक व्यापारियों की स्थिति का सही-सही अध्ययन किया जाय, तो आधुनिक व्यापारिक प्रगति, बैंक की सुविधाएं, यातायात तथा सदेश-वाहक साधनों की सरलता आदि ने व्यापार की प्रगति को कम करने में बहुत बडी सुविधा दे दी है और चारो ओर इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि उपभोक्ता या फुटकर व्यापारियों का सीधा सम्बन्ध निर्माताओ से हो सके। विभागीय-भंडारो, बहु-विक्रय शालाओ, सहकारी-उपभोक्ता-क्रय-संस्थाओ के कारण फुटकर व्यापारियो का निर्माताओं मे सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया है और इस प्रकार धीरे-धीरे थोक व्यापारियो पर नियत्रण होता जा रहा है।

वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह कहना कठिन होगा कि थोक व्यापारियों का उन्मूलन शीघ्रता से किया जा सकेगा, क्योंकि अभी थोक विक्रेताओं का विस्तार फुटकर व्यापारियों से बहुत अधिक है तथा वे व्यापार मे परिवर्तित समस्याओं का आसानी से सामना कर सकते है। इसलिये थोक व्यापारियों को हटाने की अपेक्षा उन पर पूर्ण नियत्रण किया जाना चाहिये।

थोक व्यापार के वितरण का आन्तरिक प्रबन्ध
(Internal Management of Wholesale Distribution)

थोक व्यापार प्रायः हर प्रकार की सगठन पद्धति के अनुसार चलता है। इस प्रकार के थोक व्यापार एकाकी, साझेदारी और सयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों की सगठन प्रणालियों में किया जाता है। थोक व्यापारी 'कच्चा' या 'पक्का' हो सकता है। कच्चा आढतिया पक्के आढतिये से आदेश प्राप्त करके उसके अनुसार किसानो से माल प्राप्त करके उसको पक्के आढ़तिया तक पहुँचाता है। पक्का आढ़तिया उस माल को फुटकर व्यापारियो तथा विदेशी व्यापारियों को बेचता है। भारत में

आढतियों द्वारा माल बेचने के लिए इस प्रकार का प्रबन्ध बहुत कम है, जैसा विदेशी थोक व्यापारियो के यहाँ देखा जाता है। यहाँ के आढतियो की पद्धति बहुत कुछ पुरानी है और करोडो का व्यापार करने वाले व्यापारी भी इसी को अपनाए हुए है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भारतवर्ष मे पाश्चात्य देशो के समान प्रबन्ध होता ही नही, नीचे दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं का सूक्ष्म विवरण दिया जाता है।

साधारण थोक व्यापारी का आन्तरिक सगठन (Internal Management of General Wholeseller)—इसका आन्तरिक सगठन बहुत सरल होता है। आढतिया अपने लिये एक छोटा सा कार्यालय ले लेता है जिसमे गद्दे, तकिये सफाई से लगे होते हैं। उसी मे एक ओर स्वामी बैठता है और उसके दूसरी ओर मुनीम, जो बहियो मे हिसाब-किताब लिखते है। कभी-कभी लेखक के लिये (जो पत्र व्यवहार करता है) किसी अन्य व्यक्ति की नियुक्ति की जाती है। साधारणतया मुनीम अथवा स्वयं आढतिया ही पत्र-व्यवहार करता है। खजाची के लिये कमरे के ही एक भाग मे अलग स्थान होता है।

मुनीमो मे एक मुख्य मुनीम होता है और अन्य उसके सहायक। मुख्य मुनीम हमेशा आढतिया का विश्वास-पात्र व्यक्ति होता है। व्यापार का सारा भार इस व्यक्ति पर ही होता है और एक प्रकार से वही व्यापार का संचालन करता है। यह सहायक मुनीमो की गतिविधि पर पूरा-पूरा नियत्रण रखता है तथा उनके किये हुए कामो की जाँच करता है। खजाची प्रायः सीधे आढतिये के अधीन रहता है, किन्तु मुख्य मुनीम का भी उसके ऊपर पूरा-पूरा नियंत्रण रहता है। खजाची रोकड की सभाल करता है। कभी-कभी खजाची ही रोकड वही तथा रोकड को रखता है। किन्तु इस पद्धति के दोषपूर्ण होने के कारण अनेक व्यापारियो ने रोकड़िया तथा खजाची मे भेद कर दिया है। खजाची अपन कुल आये हुए तथा कुल दिये हुए धन का दैनिक हिसाब रखता है और शाम को रोकड और अपनी प्राप्ति तथा दिये जाने वाले धन का मिलान करता है। रोकड़िया की वही मे जो कुछ शेष धन रहता है, उसको और खजाची के शेष को मिलाना चाहिये।

जहाँ तक पत्र-व्यवहार का सम्बन्ध है, सारे पत्र स्वय आढतिया द्वारा ही खोले तथा पढ़े जाते हैं, और वही उन सबका उत्तर देता है।

माल का गोदाम या तो कार्यालय वाले भवन के ही भाग मे होता है या किसी अन्य निकट के स्थान पर। गोदाम मे एक विश्वसनीय व्यक्ति रखा जाता है, जो कि माल की प्राप्ति तथा निकासी का हिसाब-किताब रखता है और आदेशानुसार माल देता रहता है। जो कुछ भी माल गोदाम से बाहर जायगा उसके लिये दुकान से पर्चा काट दी जायगी। जिसमे ग्राहक का नाम, (जिसको माल दिया जायगा) माल

का परिमाण तथा माल भेजने की विधि का उल्लेख रहेगा। गोदाम का मुखिया उस पर्ची को अपने पास रखकर के गोदाम की तरफ से एक अन्य पर्ची काटकर दूकान को भेज देता है। वहाँ से उस पर्ची के अनुसार बीजक बना दिया जाता है। गोदाम की पर्ची में माल की तौल, पैकिंग का खर्चा तथा माल की रवानगी का व्यय आदि लिख दिया जाता है। गोदाम का सारा उत्तरदायित्व गोदाम के मुखिया पर होता है।

आधुनिक पद्धति के अनुसार संगठन (Organisation according to Modern System)*—भारतवर्ष में आढतियों का व्यापार अत्यन्त आधुनिक ढंग से भी चलता है। वे अपने व्यापार गृहों का संगठन आधुनिक वैज्ञानिक ढंग पर करने लगे हैं। वे अपने कार्यालय को इस प्रकार व्यवस्थित करते हैं कि उनका कार्य अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग पर चलने लगा है। उसका प्रबन्ध निम्न प्रकार से किया जाता है—
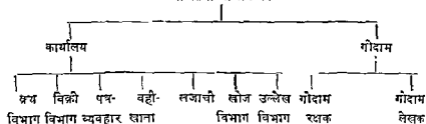
थोक व्यापारी प्रबन्धक के रूप में (Wholeseller as Manager)—व्यापार में सबसे प्रमुख व्यक्ति होता है और इसके द्वारा व्यापार का प्रत्येक विभाग संचालित तथा नियन्त्रित किया जाता है। इसका कार्यालय आधुनिक श्रम बचत यन्त्रों से सुसज्जित रहता है जिसके द्वारा वह एक ही स्थान पर बैठकर हर विभाग को सरलतापूर्वक नियंत्रित कर सकता है।

कार्यालय (Office)—कार्यालय को अनेक विभागों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक विभाग में एक व्यक्ति उच्च अधिकारी होता है तथा अन्य उसके सहायक होते है। ये सब कार्यालय प्रबन्धक के अधीन होते है तथा वे अपने-अपने कार्यों के लिये उत्तरदायी होते हैं। कार्यालय साधारण रूप से निम्नलिखित भागों में बाँटा जाता है—

(१) **क्रय-विभाग** (Purchase Department)—इस विभाग के द्वारा व्यापार का समस्त माल खरीदा जाता है। इसमें हर एक विक्रेता से उसके माल का पूर्ण विवरण, व्यापारिक सुविधाएँ, वस्तु का मूल्य, यातायात व्यय की जानकारी करके तथा वस्तु की पूर्ण रूप से जाँच करके माल के लिये आदेश भेज दिया जाता है।

* यह पद्धति बहुत बड़े फुटकर व्यापार में भी लागू की जा सकती है।

आदेश भेजते समय हमेशा इस बात का ध्यान रखा जाता है कि अच्छा माल जहाँ सस्ता और सुविधा के साथ प्राप्त हो, वही आदेश भेजा जाना चाहिये। क्रय विभाग द्वारा इस प्रकार के आदेशों की तीन प्रतियाँ बनती है। जिनमे से एक बही खाता या अर्थ विभाग को, दूसरी गोदाम विभाग मे, और तीसरी उसी कार्यालय में नत्थी कर दी जाती है। इस प्रकार के आदेश अर्थ-विभाग तथा गोदाम की चिट्ठी आने पर दिये जाते है। इसलिये विक्रय-विभाग को अपनी एक निर्धारित नीति बनाने मे सुविधा होती है और वह क्रय पर समुचित नियत्रण रख सकता है।

(२) **विक्रय-विभाग** (Sales Department)—विक्रय-विभाग मे विक्रय प्रबन्धक के निम्नलिखित कार्य होते है। माल के लिये आदेश प्राप्त करना, माल की विज्ञप्ति तथा प्रसिद्धि करना, विक्रय पर पूर्ण रूप मे नियत्रण रखना, टेण्डर (निविदा) प्रस्तुत करना, माल के पैंकिंग तथा निष्कासन की देख-भाल करना तथा ग्राहकों से सम्बन्ध स्थापित किये रखना, आपत्ति, विरोधो तथा शकाओं का निवारण करना, रोकड़ तथा उधार बिक्री की समुचित व्यवस्था करना आदि हैं।

विक्रय प्रबन्धक के पास व्यापार का सबसे प्रमुख कार्य होने से उसको देखना पड़ता है कि प्रत्येक विभाग का कार्य उचित ढग से तथा मितव्ययता से चल रहा है, और कार्य करने वाले कार्यकर्ता अपना काम योजना के अनुसार चला रहे है तथा उनका आपस मे सामजस्य है या नहीं। इन अलग-अलग विभागो का पूर्ण निरीक्षण किया जाता है।

(३) **बहीखाता विभाग** (Accounts Department)—बहीखाता विभाग कार्यालय का अत्यन्त महत्वपूर्ण अग होता है। इसका सम्बन्ध प्रत्येक विभाग से होता है; जैसे—विक्रय-विभाग से, गोदाम से, पत्र विभाग से, खजाची आदि से आदि। यहाँ पर अलग अलग विभागों के अलग अलग बहीखाते रखे जाते है और उन विभागों मे होने वाले समस्त सौदों का उल्लेख किया जाता है। जितने भी सौदों की बहीखाते मे प्रविष्टि की जाती है उनको चिट्ठियाँ, पर्चियां या विपत्रो की प्रविष्टि भी साथ हो की जानी चाहिये। माल के अन्त मे इस विभाग के द्वारा एक आँकड़ा तैयार किया जाता है, जिससे व्यापार की आर्थिक स्थिति तथा हानि-लाभ का पता लगाया जाता है। इसी विभाग के द्वारा सरकार को आय-कर, बिकी-कर आदि के विवरण प्रस्तुत किये जाते है। सक्षेप मे जितने भी हिसाब-किताब सम्बन्धी प्रश्न होते है उन सबका हल इसी विभाग द्वारा किया जाता है।

(४) **खजाची** (Cashier)—यद्यपि इस प्रकार की व्यापारिक व्यवस्था में प्रत्येक लेन-देन बैंक के द्वारा हो किया जाता है, किन्तु फुटकर खर्चो के लिए तथा तात्कालिक खर्चो के लिये एक खजाची की आवश्यकता होती है। खजाची के पास आवश्यक रोकड जमा कर दी जाती है और वह उसमें से प्रबन्धक के आदेशानुसार खर्च

करता रहता है। इस खर्च की दैनिक स्थिति प्रति दिन मैनेजर को बताई जाती है तथा उसको अपने पास की रोकड का मिलान 'रोकडिये' मे कर लेना पडता है।

(५) खोज विभाग (Research Department)—इन कार्यालयो मे बाजार वस्तु तथा व्यापार की स्थिति जानने के लिये एक अलग आंकडा संकलन विभाग होता है। इस विभाग का कार्य अपने व्यापार मे कुल आदान-प्रदान का ब्यौरा रखना तथा उसके घटा-बढी के कारणों का वैज्ञानिक ढंग से कारण जानना और उन कारणों के लिए उपाय बताना होता है। बाजार मे माँग की क्या स्थिति है तथा माँग बढाने के लिये क्या-क्या उपाय किये जा सकते है। जिस वस्तु मे व्यापारी व्यापार कर रहा है उसका प्रदाय किस प्रकार का है तथा उसमे कौन-कौन से परिवर्तन हुए हैं आदि उसका विधिवत् ब्यौरा भी इस विभाग मे रखा जाता है और उसमे होने वाले परिवर्तनो की जानकारी करना भी इस विभाग का कार्य है। देश तथा काल के अनुसार यह विभाग व्यापार की प्रगति के लिये नई-नई योजना बनाता है और जिनको अध्ययन करने के पश्चात् व्यापारिक क्रियाओ मे लागू कर दिया जाता है।

(६) पत्र व्यवहार (Correspondence Department)—यह विभाग सीधे प्रबन्धक के अधीन रहता है जिसमे व्यापार की आम आने-जाने वाले पत्रों की व्यवस्था रहती है। व्यापार मे जो पत्र आते हैं, उनका 'डोकेटिंग' किया जाता है तथा उन पर टिप्पणी (Note) लिखकर उन्हें प्रबन्धक के पास भेज दिया जाता है। प्रबन्धक उन टिप्पणियो पर अपने निरूपण (Remark) लिखकर सम्बन्धित पत्र-लेखक के पास भेज देता है। पत्र-लेखक टिप्पणियो तथा निरूपणो के अनुसार पत्र का उत्तर लिखकर या टाईप करके मैनेजर को स्वीकृति तथा हस्ताक्षर के लिये भेजता है। मैनेजर के हस्ताक्षर हो जाने के पश्चात् वह पत्र पत्र-प्रेषक के पास भेज दिया जाता है जो पत्र पर क्रम-संख्या आदि चढाकर उसकी एक प्रतिलिपि नत्थी करके दूसरी प्रेष्य के लिये भेज देता है।

यह विभाग आने-जाने वाले पत्रों की पूर्ण रूप से सुरक्षा करता है। व्यापार की स्थिति के अनुसार पत्र-नत्थी के साधन अपनाये जाते है और उसी के अनुसार हवाले की पद्धति भी।

(७) उल्लेख विभाग (Record Department)—इस विभाग मे व्यापार के समस्त पुराने तथा नये लेखो का संचय किया जाता है। व्यापार के हवाले की जानकारी के लिये यह विभाग अत्यन्त आवश्यक है।

(८) सग्रहालय (Godown)—दूसरा प्रमुख विभाग जो सीधे आम-प्रबन्धक से सम्बन्ध रखता है, वह गोदाम विभाग है। गोदाम विभाग का कार्य दो भागो मे बाँटा जाता है—(i) गोदाम रक्षक, (ii) गोदाम लेखक।

गोदाम रक्षक—इसका कार्य खरीदे हुए माल को व्यवस्थित ढग से गोदाम में रखना है। जिस समय गोदाम मे माल आता है, उसका क्रय-विभाग द्वारा बनाये गए 'व्यादेश' (Indent) तथा विक्रेता से आये हुए 'बीजक' (Invoice) के साथ मिलान किया जाता है। यदि कोई अनावश्यक माल आगया हो या माल त्रुटिपूर्ण हो, तो उसकी सूचना तुरन्त कार्यालय प्रबन्धक के पास भेज देनी होती है और उसको अलग ही रखा जाता है। वह जिस माल को सँभालता है, उसको यथोचित खातो मे रखकर उन खातो के (बिनकार्डो) मे लिख देना होता है जिससे यह मालूम हो जाय कि उन वस्तुओ का क्या परिमाण है। विक्रय-विभाग के व्यादेश को प्राप्त करके उसको इन्डेन्ट के अनुसार माल पैक करना पडता है और इस प्रकार जितना माल निष्कासित किया जाता है, बिनकार्ड में उसकी प्रविष्टि भी की जाती है जिससे किसी भी समय माल के सचय का अनुमान लगाया जा सकता है। यदि माल निश्चित अभ्यश (Quota) से कम हो जाता है, तो उसकी सूचना तीन प्रतिलिपियो मे बनाकर एक प्रतिलिपि विक्रय-विभाग को और दूसरी रेकार्ड विभाग को भेजी जाती है तथा तीसरी उसी के पास रहती है। आम-प्रबन्धक के द्वारा कभी भी गोदाम का निरीक्षण किया जा सकता है।

गोदाम लेखक—इसका कार्य गोदाम में आये हुए माल, उनके बीजक, विक्रेता का विवरण आदि; गोदाम रजिस्टर में रखना होता है। इसके बाद विक्रय विभाग से आये हुए 'इनडेन्ट', माल की निकासी, पैकिंग का व्यय आदि का विवरण भी उस रजिस्टर मे रखना होता है। इस रजिस्टर के कुल माल तथा निष्कासित माल का अन्तर गोदामघर मे होना आवश्यक है। गोदाम लेखक रजिस्टर को लिखने के अतिरिक्त गोदाम रक्षक के कार्यो मे भी सहायता देता है।

थोक व्यापार मे पूँजी (Capital in Wholesale Trade)—थोक व्यापारी को फुटकर व्यापारी की अपेक्षा अधिक पूँजी की आवश्यकता निम्नलिखित कारणो से होती है—(१) उसको निर्माता को काफी धन देना पडता है जो उसके पास कई बार जमा रहता है (२) उसकी बहुत बडी पूँजी माल मे रुकी पडी रहती है (३) उसको फुटकर व्यापारी को भी माल काफी समय तक के लिए उधार देना पडता है और मँगाये हुए माल का मूल्य शीघ्र चुकाना पडता है। इसलिये उसको सामान्य रूप से पूँजी अधिक मात्रा मे रखनी पडती है।

यह पूँजी व्यापार की प्रकृति तथा आवश्यकताओ पर घटती बढती है। जिन व्यापारो मे माल अधिक उधार देना पडता है उनमे पूँजी अधिक चाहिये और जिनमे सौदे अधिक नकद होते है उनमे कम। इसी प्रकार माल की प्रकृति पर भी पूँजी निर्भर करती है। कपडे के व्यापारी को पूँजी अधिक तथा सिगरेट के व्यापारी को कम रखनी पड़ती है।

रोकड़ पर नियंत्रण
(Control of Cash)

जिन व्यापारिक संस्थाओं में रोकड अधिक आती है और खजाची को रोकड़ तथा रोकड़ वही रखने का अधिकार रहता है, वहाँ पर रोकड में गडवड़ होने की संभावना अधिक रहती है। रोकडिया (खजाची) भूल से, या कपट से रोकड़ में गड़बड़ी कर सकता है। इसलिये उस पर पूर्ण नियंत्रण रखना बहुत आवश्यक है। जिन संस्थाओं मे खजाची अलग तथा रोकड़ वही को लिखने वाला अलग व्यक्ति होता है, वहाँ पर भी यदि पूरी सावधानी प्रयोग न की जाय, तो रोकड में गडवड होने की संभावना बनी रहती है। बडे-बडे व्यापारिक कार्यालयों में जहाँ पर अनेक लेखक रहते हैं, प्रबन्धक के पास उस कार्यालय के संचालन तथा प्रबन्ध का बहुत काम बढ जाता है और वह सब विभागों की ओर पूर्ण समय नहीं दे सकता। ऐसी स्थिति मे उनको चाहिये कि वह प्रबन्ध की व्यवस्था इस प्रकार करे कि वह स्वय नियन्त्रित हो और उसको भी हर विभाग की मुख्य बातों की ओर ध्यान देने का अवसर मिले।

व्यापार में नित्य प्रति जो रुपया आता है, वह कोषाध्यक्ष के पास चला जाना चाहिये। जो रुपया कोषाध्यक्ष प्राप्त करे उसके लिये उसे तुरन्त ही अपने हस्ताक्षरों में जिल्द के अन्दर बँधी हुई रसीद काटनी चाहिये। यह रसीद जमाकर्ता को प्रबन्धक के हस्ताक्षरों के बाद दी जानी चाहिये। जब रसीद प्रबन्धक के हस्ताक्षरों के लिये आती है तो हस्ताक्षर करने के पूर्व उसकी रसीद की रकम अपनी डायरी में लिख करके उसका मिलान रसीद तथा उसके परिपूर्ण (Counterfoil) के साथ कर लेना चाहिये। यह रसीद जमाकर्ता को प्रेषक के द्वारा प्राप्त होनी चाहिये। यदि जमाकर्ता से धनादेश, बैंक ड्राफ्ट, मनीआर्डर या पोस्टल आर्डर द्वारा रुपये आये हों, तो वह प्रबन्धक अथवा एकाउन्टेन्ट के द्वारा प्राप्त किये जाने चाहिये। कार्यालय की ओर से जमाकर्ता को यह निश्चित सूचना दे देनी चाहिये कि वे धनादेश, ड्राफ्ट आदि को रेखांकित करके भेजे। यदि कोई धनादेश, ड्राफ्ट आदि रेखांकित न किया गया हो तो यह उनके लेने वाले अधिकारी को कर देना चाहिये। इसके पश्चात् उनको डायरी में लिखकर कोषाध्यक्ष के पास भेज दिया जाना चाहिये। कोषाध्यक्ष उनको बैंक में जमा करवा देगा और उसकी रसीद ऊपर लिखे हुए ढंग से जमाकर्ता के पास भेज देगा।

रसीदों की पुस्तकें क्रमांकित होनी चाहियें तथा उनको ताले के अन्दर पूर्ण सुरक्षित ढंग मे रखना चाहिए। जो रसीद कोषाध्यक्ष को दी जाय उसके लिये एक ठीक रजिस्टर रखा जाना चाहिए, जिसमें रसीद-क्रमांक, उसको देने की तिथि, कोषाध्यक्ष का नाम आदि लिख दिया जाना चाहिये और रसीद की किताब देने के पूर्व

प्राप्तकर्ता कोषाध्यक्ष के हस्तक्षार ले लेना चाहिए। इससे जो रुपया कोषाध्यक्ष के पास आयेगा, उसका दुरुपयोग नहीं हो सकेगा और उसमें किसी प्रकार की अशुद्धि रहने की संभावना नहीं होगी।

रोकड़-बही लिखने वाले को रोकड़ में रुपया रसीदों से ही लिखना चाहिए। इस प्रकार व्यापार में आये हुए रुपयों की उचित स्थानों पर प्रविष्टि हो जायगी तथा अशुद्धि होने पर उसकी जाँच सुगमतापूर्वक दी जा सकेगी। रोकड़ बही लिखने वाले को रसीदों से लिखते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक होगा कि प्रत्येक रसीद पर कोषाध्यक्ष के हस्ताक्षर के साथ-साथ प्रबन्धक अथवा एकाउन्टेन्ट के हस्ताक्षर भी हैं। इस प्रकार किसी गलत रसीद के कटने का भय नहीं रहेगा।

जिस समय कोषाध्यक्ष के द्वारा कोई रुपया दिया जाय तो उसको चाहिये कि उसके पास रुपया देने का लिखित आदेश हो। रुपया देने के साथ-साथ प्राप्तकर्ता से प्रमाण-पत्र-अर्थात् रसीद ले लेनी चाहिये। इस रसीद को "वाउचर" कहते हैं। वाउचर पर रुपया देने की तिथि, रुपया प्राप्तकर्ता का नाम, रुपये की तादाद, वाउचर का नम्बर आदि लिख लिया जाना चाहिये। ये वाउचर कम्पनी के छपे हुए फार्म होते हैं और उन पर ही वाउचर लिख करके प्राप्तकर्ता के हस्ताक्षर करवाने चाहिये। रुपया देते समय उनको भली प्रकार से गिना देना चाहिये और यह निश्चित किया जाना चाहिये कि रुपयों का भुगतान सही व्यक्ति को किया जा रहा है। कोषाध्यक्ष को यह सब कुछ देख लेने के पश्चात् इस बात का भी सतोष कर लेना चाहिये कि भुगतान नियम के अनुसार किया जा रहा है।

जब भुगतान धनादेश के द्वारा होता है तो धनादेश पर उसी व्यक्ति को हस्ताक्षर करने चाहिये जो हस्ताक्षर करने का अधिकारी हो। चैक द्वारा भुगतान किये जाने पर अशुद्धि होने का विशेष भय नहीं रहता; फिर भी कोषाध्यक्ष को वाउचर बनाते समय यह देख लेना चाहिए कि रुपया नियमानुसार दिया जा रहा है तथा उसका प्राप्तकर्ता सही व्यक्ति है।

रोकड़-बही लिखने वाले को भुगतान किया हुआ रुपया वाउचर से ही लिखना चाहिये। इससे अशुद्धि का पता तुरन्त लग जायगा। रोकड़-बही में प्रत्येक वाउचर का नम्बर, उसकी प्रविष्टि (Entry) की तिथि के साथ लिख दिया जाना चाहिये। जिससे भविष्य में किसी प्रकार की जाँच करने पर तथा हवाला जानने के लिये किसी प्रकार की कठिनाई न पड़े।

व्यापार में आया हुआ प्रतिदिन का रुपया उसी दिन बैंक में जमा कर दिया जाना चाहिये और बैंक की रसीद को सुरक्षित रूप में रख दिया जाना चाहिये। कोषाध्यक्ष को बिना लिखित आज्ञा के अपने पास रुपया रखने का अधिकार नहीं होना चाहिए। कोषाध्यक्ष की बही तथा रोकड़-बही का समय-समय पर मिलान कर

दिया जाना चाहिये। प्रबन्धक किसी भी समय कोषाध्यक्ष की जाँच कर सकता है। इस प्रकार के मिलान या जाँच के लिये पहले से ही समय निश्चित नहीं किया जाना चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रबन्धक को अपने कार्यकर्ताओं पर किसी प्रकार का अविश्वास है, अपितु कार्यालय की कार्यक्षमता बढाने के लिये तथा सम्भावित अशुद्धियों की जाँच करने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है।

कोषाध्यक्ष को रोकड़-बही तथा खाता लिखने का अधिकार नहीं होना चाहिये तथा उसको डाक खोलने का अधिकार भी नहीं होना चाहिये।

व्यापार के हिसाब-किताब को समय-समय पर अंकेक्षकों द्वारा जाँच की जानी चाहिये। जाँच करते समय उनसे सम्बन्धित प्रत्येक पत्रक की जाँच की जानी आवश्यक है। यदि जाँच प्रतिदिन हो सके तो अधिक उपयुक्त होगा। इस प्रकार रोकड़ की सम्भावित अशुद्धियों तथा कपटपूर्ण दुरुपयोगों का आसानी से हल किया जा सकेगा।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 Explain the wholesale organisation. What services are rendered by wholeseller to a retailer ?
2 Wholesale business is under severe criticism and majority of the people are for its abolition. Are you for its continuation or abolition ? Give your arguments for and against.
3 Describe the internal organisation of an Indian wholesale firm engaged in any distributive trade.
4 As a General Manager of a large scale wholesale firm, what system of internal management would you introduce with a view to prevent the misappropriation of cash ?
5 How far it is desirable and practicable to eliminate the middleman, who is described as a costly and wasteful intermediary between the producer and the actual consumer ? Show what attempts have been made in this direction in recent times.
6 'Under the modern system of business practice, Indian wholeseller cannot stick to his old order of business organisation and management. He is compelled, today, to organise his business house in accordance to the modern system of organisation.' Do you agree ? Give your arguments and suggest the method which he should adopt to organise his house in moden times.

व्यापारिक संस्थाओं का संगठन एवं प्रबन्ध १३

(Organisation & Management of Trade Institutions)

फुटकर व्यापार
(Retail Trade)

फुटकर व्यापार का अर्थ (Meaning of Retail Trade)—फुटकर व्यापार का शाब्दिक अर्थ वस्तुओं को टुकड़ों मे बेचने से है। अंग्रेजी मे 'रिटेलर' शब्द का अर्थ 'विभक्त करने वाला' होना है। इस प्रकार फुटकर व्यापार उस व्यापार को कहेंगे जिसमे व्यापारी उपभोक्ताओं को उनकी इच्छा के अनुसार माल को छोटी-छोटी मात्राओं मे बेचते हैं। फुटकर व्यापारी थोक व्यापारियों तथा उपभोक्ताओं के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। उनको उपभोक्ताओं की माँग के अनुसार छोटी-छोटी मात्रा मे वस्तुओं का सचय करना पडता है, जिससे थोक व्यापारी की अपेक्षा उसको कम धन की आवश्यकता होती है, तथा वह अपनी दूकान पर कितनी ही प्रकार की वस्तुओं को रख सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि फुटकर व्यापारी मे निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं —

(१) वह छोटी मात्रा मे व्यापार करता है,

(२) उसके व्यापार के लिए कम पूँजी की आवश्यकता होती है;

(३) उसके पास अलग-अलग रुचि रखने वाले व्यक्तियों के लिए अलग अलग प्रकार की वस्तुएँ होती हैं, अर्थात् उसका किसी एक वस्तु मे विशिष्टीकरण नहीं होता है;

(४) उसका व्यापार प्रधानतया रोक पर आधारित होता है,

(५) उसकी दुकान की स्थिति अच्छी होनी चाहिए और उसे प्रभावशाली बनाना भी आवश्यक है;

(६) वह थोक व्यापारियों से उपभोक्ताओं तक माल पहुँचाता है।

फुटकर व्यापारियों की सेवाएँ
(Services of Retailers)

फुटकर व्यापारियों से निम्नलिखित सेवाएँ प्राप्त होती है—

(१) वह उपभोक्ताओं के निकट माल पहुँचाता है। यदि फुटकर व्यापारी न हो तो उपभोक्ताओं को अपनी आवश्यकता की समस्त वस्तुएँ उत्पादक या थोक व्यापारियों से प्राप्त करना कठिन हो जाय। ये लोग उपभोक्ताओं को उनके घर पर ही माल पहुँचाने मे सफल होते हैं।

(२) ये उपभोक्ताओं की रुचि तथा माँग की जानकारी रखते है। उपभोक्ताओं के निरन्तर सम्पर्क मे आने के कारण ये लोग उनकी इच्छाओं की जानकारी कर लेते हैं तथा उनकी सन्तुष्टि के लिये उत्पादकों को अनुकूल माल का उत्पादन करने के लिये कहते हैं, जिससे उत्पादकों को उपभोक्ताओं की रुचि का अनुमान लग जाता है और वे अनुकूल उत्पादन कर सकते हैं।

(३) इनके द्वारा उपभोक्ता ठगे नहीं जाते। निरन्तर सम्पर्क में आने के कारण उनका आपस मे परिचय हो जाता है जिससे वे ग्राहक को ठगने का प्रयत्न नही करते।

(४) इनके प्रदर्शन से व्यापार पर शिक्षात्मक प्रभाव पड़ता है। दूकान की सजावट तथा वस्तु वैविध्य के कारण उपभोक्ताओं को नये-नये फैशन की जानकारी होती है तथा लोग सामयिक परिवर्तन से परिचित होते रहते है।

(५) सामान्य उपभोक्ताओं को छोटी मात्रा मे वस्तुएँ देकर और उनकी आवश्यकता की पूर्ति करके उनकी आर्थिक समस्या का भी हल कर देते हैं।

(६) अपने ग्राहक की सामयिक सेवा करते है। वस्तु के बेचने पर वे ग्राहक को इस बात पर विश्वास दिलाते हैं कि यदि निश्चित समय के अन्दर उसमें कोई खराबी आ जाये तो वे उसका मुफ्त सुधार करेंगे। जैसे कपडे सीने की मशीन, रेडियो, घडी, ग्रामोफोन आदि के व्यापारी।

(७) आंकडा सकलन करके ये लोग उत्पादकों, थोक व्यापारियों, सरकार के वाणिज्य विभागों तथा खोज के विद्यार्थियों को बहुत बडी सेवा करते हैं, जिससे कि उनको अलग अलग वस्तुओं की माँग का अच्छा पता चला जाता है।

फुटकर व्यापार को प्रभावशाली बनाने के साधन
(Methods of Making Retail Business Effective)

व्यापार को प्रभावित तथा लाभप्रद बनाने के लिए उसको निम्नलिखित बातों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए—

(१) सर्वप्रथम उसको इस बात की ओर ध्यान देना चाहिये कि कौन-सा स्थान उसके व्यापार के लिये उपयुक्त होगा ? उसके आस-पास के लोगों का जीवनस्तर

तथा भाव क्या है ? उनकी आर्थिक स्थिति किस प्रकार की है तथा उनका सामाजिक ढंग क्या है ? इन बातों का अध्ययन करके ही उसको व्यापार की स्थापना करनी चाहिये।

(२) **दूकान को आकर्षक बनाने** के लिये उस पर हर प्रकार की सम्भव सजावट की जानी चाहिये तथा वस्तुओं को इस प्रकार रखना चाहिये कि मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति अनायास ही आकर्षित हो जाय।

(३) **ग्राहकों को पक्का बनाने के लिये** उसमें एक कुशल विक्रेता की समस्त विशेषताएँ होना आवश्यक है। उसके शिष्ट व्यवहार, वाक्पटुता तथा अपनी वस्तुओं के प्रदर्शन की शक्ति ही ग्राहकों को पक्का बना सकेगी।

(४) दुकान की **बिक्री बढाने के लिये** उसको ग्राहकों को देखकर उन्हें नकद या उधर सौदे भी देना पडेगा। किन्तु फुटकर व्यापार में रोकड सौदा देना ही हितकार होता है। केवल विशेष परिस्थितियों में ही अत्यन्त सुपरिचित ग्राहकों को तथा अपने कार्यकर्ताओं या साथी व्यापारियों को ही उधार माल दिया जाना चाहिये।

(५) स्थान तथा आवश्यकता के अनुसार व्यापारी अपनी दुकान **का विस्तार बढ़ा सकता** है। यह विस्तार उसकी कार्य क्षमता, पूँजी तथा ग्राहकों के अनुसार ही किया जाना चाहिये।

(६) अपने व्यापार के प्रसार के लिये उसको **आवश्यक विज्ञापन तथा** प्रसिद्धि करनी चाहिये। यह प्रसिद्धि विज्ञापन के विभिन्न साधनों के द्वारा की जा सकती है।

(७) समय-समय पर **वस्तु के मौसम** के समाप्त हो जाने के पहले तथा बाद में उस वस्तु के साधारण मूल्य पर कुछ कमी करके वस्तु को बेचने में ग्राहक अच्छी तरह आकर्षित हो सकते है तथा रुके हुए माल की निकासी की जा सकती है।

(८) फुटकर व्यापारी को हमेशा ***'कम लाभ तथा अधिक बिक्री' का सिद्धान्त*** अपनाना चाहिये। अधिक बिक्री के कारण यद्यपि उसको प्रति वस्तु मे कम लाभ प्राप्त होगा, किन्तु कुल लाभ बहुत अधिक हो जायगा। इससे उसकी व्यापारिक• प्रतिष्ठा बढेगी और ग्राहकों को विश्वास हो जाने के कारण दिन प्रति दिन उसका व्यापार बढ़ता ही जायगा।

वृहत् तथा सूक्ष्म फुटकर व्यापार की तुलना
(Large and Small Scale Retail Trade)

फुटकर व्यापार को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) बडी मात्रा का फुटकर व्यापार, तथा (२) छोटी मात्रा का फुटकर व्यापार। बडी मात्रा में उन फुटकर व्यापारों को सम्मिलित किया जाता है जो बडे पैमाने पर व्यापार करते है, जैसे–विभागीय

भडार, बहु-विधि विक्रयशाला, क्रय-विक्रय पद्धति आदि। छोटी मात्रा में करने वाले व्यापार मे खोमचे वाले, एक मूल्य की दूकान वाले, गली की दुकान तथा छोटे-छोटे व्यापारी सम्मिलित किये जा सकते है। बडे-बडे शहरो मे बडी-बडी दुकानों के सामने जो लोग सडको पर बैठे हुए या गलियो मे घूम-घूम कर माल को बेचने वाले लोग 'फेरी वाले' कहलाते हैं। उसी प्रकार गलियो और मोहल्लो मे छोटी-छोटी दूकानों को लगाकर बैठने वाले लोग भी इस छोटे व्यापार को ही श्रेणी मे आते हैं।

बृहत् तथा सूक्ष्म फुटकर व्यापार की तुलना करने पर दोनों मे एक व्यापक अन्तर दिखाई देगा, क्योकि इनकी पूंजी, व्यापारिक क्षेत्र, कार्य-क्षमता, व्यापारिक-व्यवहार आदि सब कुछ मे एक बहुत बडा अन्तर होता है। इसलिये बडी मात्रा वाले व्यापार की कार्यक्षमता स्वतः ही छोटे व्यापार से बढ जाती है। आइए, अब क्रमानुसार भिन्नता पर विचार करें—

(१) **व्यापार का आकार** (Size of Business)—बडी मात्रा वाले *व्यापार एक बहुत बडे विशाल भवन मे चलते हैं अथवा छोटी छोटी दूकानो के रूप* मे एक ही बाजार मे प्रायः सब ओर फैले रहते हैं। किन्तु छोटी मात्रा वाला व्यापार एक सामान्य दूकान मे चलता है। किसी भी मनुष्य पर आकार का बहुत बडा प्रभाव पडता है और उस प्रभाव के कारण व्यक्ति बडी दुकानो मे छोटी दूकानों से अधिक शिष्ट व्यवहार करता है। जिसके प्रतिफल मे उसके साथ भी प्रकार का व्यवहार किया जाता है।

(२) **सजावट** (Decoration)—बडे व्यापार मे अच्छा फर्नीचर तथा सामान अत्यन्त आकर्षक ढंग से सजा हुआ होता है तथा ग्राहक की हर सुविधा का ध्यान रखा जाता है। किन्तु यह सब छोटे व्यापार मे सम्भव नही होता। उदाहरण के लिये गर्मी के मौसम मे यदि किसी बडे व्यापारी की दूकान में कोई जाय और पानी मांगे तो उसको तुरन्त ही रेफ्रीजरेटर का पानी मिलेगा, और तृषा तृप्ति के पश्चात् उसको एक मनोवैज्ञानिक संतोष मिलेगा, जिससे उसकी व्यापार के प्रति परोक्ष श्रद्धा हो जायगी और वह ग्राहक बन सकेगा। किन्तु छोटा व्यापारी अपने ग्राहक को इस प्रकार की सुविधा नही दे सकता। इस प्रकार बाह्य उपलम्भ भी बडे व्यापार की कुशलता बढाने मे सहायक होता है।

(३) **आवश्यकताओं की पूर्ति** (Meeting Demands)—बडे व्यापार मे प्रायः एक ही भवन मे हर प्रकार की वस्तु मिल जाने के कारण ग्राहक को बहुत सुविधा हो जाती है, जिससे वह उसी दूकान पर जाकर माल खरीदता है। किन्तु छोटी दूकान पर हर प्रकार का माल नहीं मिल सकता है। इस प्रकार बड़ा व्यापारी बिना अधिक परिश्रम किये हुए ही अच्छे ग्राहक बना लेता है और अनायास ही यह उसकी कुशलता का कारण बन जाता है।

(४) **पूँजी** (Capital)—जितना बड़ा व्यापार होगा उसमें उतनी ही अधिक पूंजी होगी और उसी अनुपात से छोटे व्यापार में कम। पूँजी अधिक होने के कारण वह व्यापारी नवीनतम वस्तुओं को मँगाकर हर प्रकार के लोगों की आवश्यकताएँ पूरी कर सकेगा। किन्तु छोटा व्यापारी अपनी सीमाओं के कारण ग्राहकों की सब आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर सकता।

(५) **सचालन** (Management)—बड़े व्यापार का सचालन एक व्यक्ति से न होकर अनेक व्यक्तियो द्वारा किया जाता है। इसलिए ऐसे व्यक्तियो की नियुक्ति करते समय उनकी शिक्षा, योग्यता तथा अनुभव का विशेष ध्यान रखा जाता है। अनुभवी तथा योग्य व्यक्तियो के व्यापार में आने के कारण व्यापार की कुशलता स्वतः ही बढ़ जाती है। इस प्रकार की सुविधाएँ छोटे व्यापारी के लिये सम्भव नहीं है, क्योंकि वह अपनी योग्यता के बल पर ही कार्य कर सकता है, और उसका विशेष कार्यकुशल होना आवश्यक नहीं।

(६) **मूल्य** (Price)—बड़े व्यापारो मे वस्तुओं का मूल्य प्रायः निश्चित होता है, (और उसमें किसी प्रकार की उलट फेर नहीं की जाती है) जिससे ग्राहको का विश्वास जम जाता है। किन्तु छोटे व्यापारो मे प्रायः इस प्रकार की उलट-फेर चलती ही रहती है। इसलिये उन पर ग्राहक विशेष विश्वास नहीं करते।

(७) **वैज्ञानिक साधन** (Scientific Devices)—बड़े व्यापार मे व्यापार के आधुनिक वैज्ञानिक साधनो का प्रयोग प्रचुर मात्रा मे किया जाता है, जिससे उसके कार्यकर्ता बहुत शीघ्रता तथा कुशलता के साथ अपना कार्य सम्पन्न कर सकते है। छोटे व्यापार मे इन साधनो का प्रयोग सर्वथा कठिन है।

(८) **वैज्ञानिक प्रबन्ध** (Scientific Management)—बड़े व्यापार का प्रबन्ध अत्यन्त वैज्ञानिक ढग से किया जाता है। उसमे आन्तरिक नियन्त्रण, विभागीय योजनाएँ तथा पारस्परिक दायित्व के कारण व्यापार का सचालन वैज्ञानिक ढंग से किया जाता है। किन्तु छोटे व्यापार मे एक या दो व्यक्तियो की बुद्धि अपनी सीमाओं के अन्तर्गत जितना भी कार्य कर सकती है उसके ही अनुसार व्यापार का सचालन किया जायगा, जो निश्चय ही बड़े व्यापार के सचालन से कम कुशल होगा।

ऊपर बताये हुए कारण व्यापार की योग्यता या कुशलता मे एक व्यापक स्थान रखते है। बड़े व्यापारियो की स्थिति छोटे व्यापारियो से अच्छी होने के कारण वे इन सुविधाओं को प्राप्त कर लेते हैं और इसलिये उनका व्यापार छोटे व्यापारियो से अधिक कुशल रहता है। इनके व्यापार का आकार बड़ा होने के कारण ये छोटे व्यापारियो की अपेक्षा अधिक लोगो के सम्पर्क मे आते है, जिसके कारण इनकी व्यापारिक प्रतिष्ठा सामान्य व्यापारियो से अधिक बढ़ जाती है।

फुटकर व्यापारों के प्रकार (Kinds of Retail Trading)—हमारे देश मे

फुटकर व्यापार बड़े छोटे पैमाने की दूकानो मे किया जाता है किन्तु अमेरिका, इंगलेंड आदि देशो मे इसमें बहुत बडे पैमाने पर व्यापार संगठन किया जाता है। भारतवर्ष मे भी धीरे-धीरे सभी प्रकार के फुटकर व्यापार संगठन पनप रहे है। इन व्यापारो को हम निम्नलिखित भागो मे विभक्त कर सकते है—

(१) बडे पैमाने के व्यापारी—विभागीय भडार, बहुसंख्यक दूकानें, सहकारी सस्थायें आदि।

(२) साधारण दूकाने—सामान्य दूकानें जिनमे कोई विशिष्टता नही होती।

(३) फेरी वाले—घर-घर जाकर बिक्री, नीलाम, एक मूल्य के ठेले आदि।

(४) अन्य—डाक द्वारा व्यापार, किस्त पर बेचना, क्रयावक्रय आदि, अगले पृष्ठों पर इनका वर्णन किया गया है।

विभागीय भंडार
(Departmental Stores)

फुटकर व्यापार की वह पद्धति जिसमे विभिन्न-विभिन्न प्रकार की वस्तुएें एक ही दूकान में उपलब्ध हो सकती है तथा एक प्रकार के नियंत्रण में रहती हैं, उनको विभागीय भडार कहते है। इस प्रकार विभागीय भंडार वाले व्यापार मे ग्राहक एक ही जगह पर बैठकर अपनी आवश्यकता की सारी वस्तुओं को सुगमता के साथ प्राप्त कर सकता है। विभागीय भंडार का बोध यह कहकर स्पष्ट हो सकता है कि कोई ग्राहक "सुई से लेकर हवाई जहाज तक एक ही स्थान पर बैठकर खरीद सकता है।" इसका जन्म विलासप्रिय धनाढ्य व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हुआ। धनाढ्य लोग अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को एक ही स्थान पर प्राप्त करना चाहते है और उनके सामने वस्तु के मूल्य का प्रश्न नही रहता। ऐसे लोगो को फुटकर व्यापारी कोई सहायता नही दे सकता है।

ये भडार सर्वप्रथम १८५२ मे पेरिस मे प्रारम्भ किया गया और उसके पश्चात् १६वी शताब्दी के मध्य मे यूरोप, तथा अमेरिका में इसका विकास हुआ। विभागीय भंडारो के लिये बडे नगरो का निर्माण, उनमें जनसंख्या की वृद्धि, आय में वृद्धि, यातायात तथा आधुनिक साधनो की प्रगति सभी इसके लिये आवश्यक है। क्योंकि इन विशेषताओं के कारण निकट और दूर के सभी लोग विभागीय भंडारो का उपयोग कर सकते है।

जैसा नाम से स्पष्ट है, विभागीय भडार मे हर वस्तु के लिये अलग अलग विभाग होते हैं जिनमे उस वस्तु के हर प्रकार के नमूने मिल सकते है। इस प्रकार शृंगार विभाग, चर्म विभाग, खिलौना, औषधि विभाग आदि; कितने ही विभाग इसमें होते है और क्रेता अपनी इच्छा के अनुसार वस्तुओं का चुनाव कर सकता है।

विभागीय भडार की स्थिति इस प्रकार की होनी चाहिये कि वह अधिक से

अधिक व्यक्तियों को आकर्षित कर सके। इस भंडार में ग्राहकों की सुविधा के लिये एक "सेवा विभाग" भी होता है, जहाँ ग्राहकों को हर सुविधा का ध्यान रखा जाता है। इस प्रकार विक्रय विभागों के साथ-साथ इसमें वाचनालय, जलपान गृह, डाकघर, दूरभाष-यन्त्र आदि की व्यवस्था भी रहती है। प्रदर्शन, संगीत कार्य-क्रम, चलचित्र तथा नाट्य आदि का प्रबन्ध भी इसमें स्वतंत्र रूप से किया जाता है।

इन विभागों का प्रबन्ध आमतौर पर संचालक मंडल के अधीन होता है। यह मंडल अलग अलग विभागीय प्रबन्धकों द्वारा तथा मुख्य कार्यालय के सचिवों द्वारा सम्पूर्ण भंडार का प्रबन्ध करता है। इसमें आधुनिक ढंग पर प्रबन्ध-व्यवस्था की जाती है, जिसका प्रमुख अंग आन्तरिक स्वतः नियन्त्रण होता है।

विभागीय भंडारों के लाभ
(Advantages of Departmental Stores)

(१) जो व्यक्ति किसी प्रकार की वस्तु में अनुभव प्राप्त किये हुए हैं किन्तु उनके पास यथेष्ट पूँजी नहीं है, वे विभागीय भंडार में एक निश्चित वेतन तथा कमीशन पर उचित स्थान प्राप्त कर सकते हैं, जिससे उनको अलग भंडार खोलने की अपेक्षा अधिक लाभ हो सकता है।

(२) ग्राहकों को अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को खरीदने के लिये अलग-अलग स्थानों पर नहीं जाना पड़ता। उनको एक ही स्थान पर बैठकर उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है।

(३) एक ही वस्तु को अनेक किस्में होने के कारण, क्रेता उनमें अच्छा चुनाव कर सकता है।

(४) सब वस्तुओं के एक ही स्थान पर होने के कारण, ग्राहक एक वस्तु के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को भी खरीद सकता है, जिससे भंडार की बिक्री सरलता से बढ़ जाती है।

(५) भंडार का हर एक विभाग अन्य विभागों का विज्ञापन करते है, इससे ग्राहक अन्य वस्तुओं को खरीदने के लिये भी लालायित हो जाता है।

(६) इनको वृहत रूप से विज्ञापन करने की सुविधा प्राप्त है, क्योंकि ये अपनी आर्थिक सुदृढ़ता के कारण कुशल विशेषज्ञों की सेवाएँ प्राप्त कर सकते हैं, जिसके कारण उनका विज्ञापन अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से किया जा सकता है।

(७) हर प्रकार की वस्तु की उपलब्धता होने के कारण ग्राहक ऐसे भंडारों से खरीदना उचित समझते हैं और इसलिये उसके ग्राहकों में सरलता से वृद्धि हो जाती है।

(८) ग्राहकों को अनेक प्रकार की सुविधाएँ तथा सेवाएँ प्राप्त होने के कारण

वे लोग इसमें माल खरीदना अधिक उपयुक्त समझते हैं। इस प्रकार बिक्री बढ़ने के साथ-साथ ग्राहकों की संख्या भी बढ़ जाती है।

(९) अधिक मात्रा में माल खरीदने तथा बेचने के कारण इनका मूल्य प्रति इकाई कम हो जाता है, जिससे ये माल को लाभ पर किन्तु सस्ता बेच सकते हैं।

(१०) बड़े व्यापार होने के कारण इनका व्यय अपेक्षाकृत कम होता है।

विभागीय भंडार के दोष

(Disadvantages of Departmental Stores)

(१) इसका व्यापारिक स्वरूप विशाल होने के कारण इसमें अधिक पूँजी की आवश्यकता पड़ती है, जिससे साधारण लोग इस प्रकार के व्यापार से वंचित हो जाते हैं।

(२) व्यापार का स्थापन तथा संचालन मूल्य बढ़ जाने के कारण वस्तुओं का मूल्य भी बढ़ जाता है।

(३) इस उद्देश्य से विभागीय भंडार के सम्पूर्ण विभाग चलते रहें, हानि पर चलने वाले विभाग को चलना पड़ता है।

(४) अमूल्य सेवाएँ प्रदान करने के कारण व्यापार का व्यय बढ़ जाता है और वह परोक्ष रूप से ग्राहकों से ही वसूल किया जाता है।

(५) विभागीय भंडार को एक बहुत बड़े स्थान की आवश्यकता होती है। इसलिये उसका अत्यन्त व्यस्त क्षेत्र में होना सम्भव नहीं होता और इसलिये छोटे व्यापारियों की अपेक्षा जो व्यस्त क्षेत्रों में रहते हैं (जहाँ लोगों का आवागमन होता है) इनके ग्राहक कम होते हैं।

(६) इनमें धनाढ्य लोगों की ही ओर विशेष ध्यान दिया जाता है जो कि सामान्य लोगों से अपेक्षाकृत बहुत कम होते हैं, इसलिये इनका व्यापार सीमित हो जाता है।

(७) इन भंडारों के संचालन के लिये अधिक कुशल एवं अनुभवी व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, जो सामान्य रूप से नहीं मिल सकते और यदि मिलते भी हैं तो उन पर अधिक व्यय करना पड़ता है।

(८) इसकी तड़क-भड़क के कारण सामान्य स्थिति वाले लोग उसमें माल खरीदने में संकोच करते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि प्रथम उनकी उपेक्षा की जायगी और द्वितीय वहाँ पर वस्तुओं के मूल्य साधारण मूल्यों की अपेक्षा अधिक होंगे।

इन हानियों के होते हुए भी विभागीय भंडार आधुनिक फुटकर व्यापार का एक महत्वपूर्ण स्वरूप है, जिसका धीरे-धीरे विकास होता चला जा रहा है। उपभोक्ताओं के आर्थिक स्तर के बढ़ने के कारण इनकी आवश्यकता धीरे-धीरे बढ़ रही है।

विभागीय भंडार का संगठन
(Organisation of Departmental Stores)

विभागीय भडार को चलाने के लिये अधिक क्षेत्र तथा अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है। वृहत् आकार होने के कारण इसका एक व्यक्ति द्वारा नियंत्रण किया जाना बहुत कठिन है। इन कारणो से विभागीय-भडार प्राय. सयुक्त पूंजी वाली कम्पनियों के द्वारा ही चलाये जाते है।

सीमित जोखिम वाली कम्पनियो की पद्धति पर चलाने के लिये इसमे एक सचालक मंडल 'बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स' की स्थापना की जाती है। इस सचालक मंडल मे प्रबन्ध संचालक (Managing Director) भडार के प्रबन्ध मे सक्रिय भाग लेता है और उसके नीचे अन्य विभागीय प्रबन्धक, सचिव तथा अन्य सह-कार्यकर्ता होते हैं और सम्पूर्ण व्यापार विभागों मे बांट दिया जाता है। हरएक विभाग अपने-अपने कार्यो के लिये स्वतन्त्र होता है और उनका उत्तरदायित्व भी एक-दूसरे से स्वतन्त्र होता है। किन्तु सब विभागो का सचालन केन्द्रीय सचिवालय के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार अधिकार ऊपर से नीचे की ओर आते है। नीचे इसके सगठन का ढग दिया जाता है—
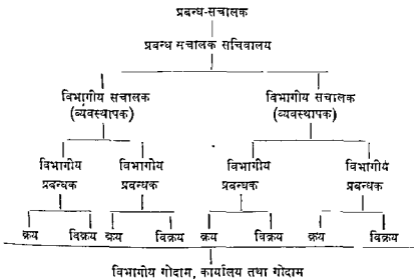
नोट—*विभाग अनेक हो सकते है, किन्तु सभी विभागो का संगठन तथा* प्रबन्ध उपर्युक्त व्यवस्थानुसार ही होगा।

पिछले पृष्ठ की तालिका मे बताये गये सगठन के अनुसार यह स्पष्ट है कि विभागीय भडार मे सर्वोच्च सत्ता (Managing Director) 'प्रबन्ध-सचालक' की

है। उसका अपना एक निजी सचिवालय होता है जिसके द्वारा वह सारे व्यापार का नियन्त्रण करता है। हर विभाग या दो विभागों के डाइरेक्टरों में से ही अथवा अन्य नियुक्ति किया हुआ व्यक्ति व्यवस्थापक का कार्य करता है। इसका कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है।

उसको अपने विभाग या विभागों के क्रय-विक्रय, विज्ञापन आदि की समुचित व्यवस्था देखनी पड़ती है। इसलिये कभी-कभी इसको 'क्रेता' भी कहा जाता है। उसको अपने लिये उचित कार्यकर्ताओं की नियुक्ति करनी पड़ती है तथा उनको यथोचित प्रशिक्षण देना भी इसका कार्य होता है। अपने विभाग की गतिविधि के लिये उसको कानूनी जानकारी होनी चाहिये और किसी समय में उसको न्यायालय में भी जाना पड़ता है, इसका कारण यह है कि वह अपने विभाग के लिये पूर्ण रूप से उत्तरदायी होता है। किन्तु अपने विभाग के सभी कामों को देखना तथा उनका पूर्ण निपटारा करना कभी-कभी व्यवस्थापक के लिये अत्यन्त कठिन हो जाता है। इसलिये उनके बीच 'विभागीय-प्रबन्धक' (Departmental Managers) होते है। विभागीय प्रबन्धकों के नीचे अलग-अलग 'खण्ड' (Sections) होते हैं और उनमें एक प्रमुख व्यक्ति प्रबन्धक के रूप में कार्य करता है।

विभागीय प्रबन्धक अपने 'खण्डीय प्रबन्धकों' (Section Incharge) की सहायता से अपने विभाग का प्रत्येक कार्य कुशलता के साथ कर लेते हैं और व्यवस्थापक को केवल 'आम' कार्य ही रह जाते है। व्यवस्थापक केवल उन्हीं कार्यों को हाथ में लेता है जो उसके ही द्वारा सम्पन्न होने चाहिये।

प्रत्येक विभाग के दो विभाजन किये जाते हैं—एक 'क्रय-खण्ड' तथा दूसरा 'विक्रय-खण्ड'। इन दोनों में माल के क्रय-विक्रय की व्यवस्था रहती है, जिसका उत्तरदायित्व विभागीय मैनेजरों द्वारा विभागीय व्यवस्थापक होना है। अलग अलग विभागों के क्रय-विक्रय के हिसाब तथा विज्ञापन आदि की व्यवस्था के लिये उनके अपने छोटे कार्यालय होते हैं। सब विभागों के हिसाब का एकीकरण (Consolidation) केन्द्रीय हिसाब-किताब कार्यालय में होता है तथा अंकेक्षक (Auditor) केन्द्रीय तथा विभागीय हिसाब की सामयिक जाँच करते हैं। उसी प्रकार विभागों की अन्य कार्यवाही भी केन्द्रीय कार्यालयों में आकर अन्तिम रूप से सम्पन्न की जाती है। प्रबन्ध-संचालक सचिवालय का कार्य, समस्त विभागों का नियन्त्रण करना तथा उनके लिये सामूहिक योजनाओं का बनाना है। योजनाएं 'बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स' के द्वारा बनाई जाती है और प्रबन्ध-संचालक के द्वारा कार्यान्वित की जाती है।

क्रय तथा विक्रय पद्धति (Purcahse and Sale Method)—हर एक विभाग के भंडार को अपनी आवश्यकताओं का 'इन्डेन्ट' केन्द्रीय कार्यालय भंडार में भेजना होता है और इस प्रकार सभी विभागों के 'इन्डेन्टों' के आ जाने पर सामूहिक रूप से आदेश

भेजकर माल मँगवाया जाता है और जाँच के पश्चात् विभागीय भंडारों में भेज दिया जाता है। उस माल में से कुछ विक्रय विभाग में पहुँचाया जाता है। इस सारे माल का लेखा आवश्यक बही खानों में कर दिया जाता है।

माल का आवश्यक प्रदर्शन किया जाता। यह प्रदर्शन 'अन्तर-विभागीय' होता है। जब ग्राहक माल खरीदने के लिये आता है तो उसको माल दो प्रकार से दिया जाता है—उधार या नकद। उधार माल के लिये 'क्रेडिट मीमो' तथा नकद के लिये 'कैश-मीमो' दे दिया जाता है। जब उधार सौदा होता है तो उसके लिये क्रेडिट मीमो की तीन प्रतियाँ बनाई जाती है एक ग्राहक के पास, एक मीमो बुक में तथा एक खाते वाले के पास चला जाता है। कम्पनी में रहने वाले दोनों मीमो पर ग्राहक के हस्ताक्षर करा दिये जाते हैं। रोकड-सौदे में भी तीन मीमो बनाई जाती हैं। दो प्रतियाँ ग्राहक को दी जाती हैं, जब वह मीमो का रुपया चुकाता है तो रोकडिया एक प्रति अपने पास रखकर दूसरी पर अपनी छाप लगा कर ग्राहक को दे देता है और उसके साथ एक टोकन भी। अब ग्राहक को माल गेट पर मिल जायगा। वहाँ उसको टोकन देनी होगी और माल के साथ उसको मीमो की मूल प्रतिलिपि भी मिल जायेगी। यह सब आन्तरिक प्रबन्ध में आवश्यक है।

भारतवर्ष में विभागीय भंडार
(Departmental Stores in India)

पाश्चात्य देशों में जब एक बार विभागीय भंडारों का बाहुल्य था, फुटकर व्यापारियों की प्रतिद्वन्द्विता के कारण उनका धीरे-धीरे लोप होता चला जा रहा है। इगलैंड में जहाँ पर ४०० से अधिक विभागीय भंडार थे—इस प्रतिद्वन्द्विता के कारण उनकी सख्या में धीरे-धीरे कमी आ रही है। भारतवर्ष में इस प्रकार के व्यापार को विशेष सफलता नहीं मिल सकी। क्योंकि ये भंडार विशेष रूप से धनाढ्य तथा विलासी व्यक्तियों के लिए होते है। भारतवर्ष में लोग अधिक धनाढ्य नहीं है, जिसके कारण इनको यथेष्ट ग्राहक नहीं मिल सकते। यहाँ पर इस प्रकार के शहर भी बहुत कम है जहाँ पर विभागीय भंडारों के लिये उपयुक्त स्थान तथा ग्राहक मिल सकें। इसलिए हमारे देश में विभागीय भंडार कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली तथा मद्रास आदि बड़े शहरों में पाये जाते हैं।

मध्य श्रेणी के लोग अपनी आर्थिक कठिनाइयों के कारण सस्ता माल खरीदना चाहते हैं, किन्तु विभागीय भंडारों में यह आशा करना कठिन होता है, इसलिए वे विभागीय भंडारों में न जाकर फुटकर विक्रेताओं के पास ही जाते है। भारतवासियों के लिए समय उतना महत्व नहीं रखता जितना कि विदेशियों को समय का ध्यान रखना पडता है। यहाँ के व्यापारियों में एकाकीपन झलकता है। वह

मिलकर कार्य करना कम पसन्द करते हैं। प्रबन्ध अभिकर्तृत्व प्रणाली ने भी विभागीय भंडारों की उन्नति में बाधा डाली है। इन्हीं कारणों से भारतवर्ष में विभागीय भंडार को विशेष सफलता नहीं मिली।

भारतवर्ष में ह्वाइट वे एण्ड लेड्ला लिमिटेड, आरमी एण्ड नेवी स्टोर्स लिमिटेड, कमालिया लिमिटेड, वाचेल मोला एण्ड कम्पनी लिमिटेड आदि ही प्रमुख विभागीय भंडार हैं। किन्तु धीरे-धीरे देश की आर्थिक स्थिति के बढ़ने के कारण तथा जनता की आय बढ़ने से इस प्रकार के भंडारों का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल दिखाई देता है।

बहुविधि विक्रयशाला प्रणाली
(Multiple Shops System)

अर्थ (Meaning)—बहुविधि विक्रयशाला प्रणाली—उस प्रणाली को कहते हैं जिसमें एक ही नगर के विभिन्न स्थानों पर अथवा विभिन्न नगरों में एक ही व्यवस्थापक के नीचे एक ही प्रकार की वस्तुओं की दूकानें रहती हैं, अर्थात् उत्पादक या किसी वस्तु का थोक विक्रेता अपनी वस्तु की बिक्री बढ़ाने के लिए अनेक स्थानों पर अपनी व्यवस्था के अन्तर्गत दूकानें खोल देता है, जिससे उपभोक्ताओं को वह वस्तु अपने घरों के अत्यन्त निकट प्राप्त हो सके। इस प्रकार का व्यापार फुटकर-व्यापार की बड़ी मात्रा वाले व्यापार में आता है। इस प्रकार के व्यापारियों को मध्यस्थों की आवश्यकता नहीं होती। हमारे देश में देहली क्लॉथ मिल, बाटा-शू-कम्पनी, सिंगर-सुइंग मशीन कम्पनी आदि इसके उदाहरण हैं। इन दूकानों का उद्देश्य वस्तु में विशिष्टीकरण (Specialisation) होना है। वे अपनी वस्तु के विक्रय में ऐसी कुशलता प्राप्त कर सकते हैं जिससे ग्राहक आकर्षित होकर उनसे ही माल खरीदें। इन दूकानों के निम्नलिखित लक्षण होते हैं—

(१) इसमें उत्पादक वस्तुओं का उत्पादन करके सीधा उपभोक्ताओं को पहुँचाता है।

(२) प्रत्येक दूकान का एक ही रूप होता है तथा उनकी व्यापार पद्धति भी समान होती है।

(३) एक ही स्थान पर बहुत बड़ी दुकान लगाने की अपेक्षा विभिन्न स्थानों पर छोटी-छोटी दूकानें लगाई जाती हैं।

(४) प्रत्येक दूकान पर एक ही मूल्य रहता है। इनका सचालन एक ही केन्द्र से होता है।

बहुविधि विक्रयशाला के विकास के कारण
(Causes of Growth of Multiple Shops)

इन संस्थाओं का विकास धीरे-धीरे एकाकी दूकानों से प्रारम्भ हुआ है।

कुशल फुटकर विक्रेता ने अनुभव किया कि एक दूकान से अधिक दूकानों के खोलने पर उसकी व्यापारिक प्रतिष्ठा तथा बिक्री बढ जाती है, उसकी क्रय-शक्ति बढने के कारण वह विक्रेताओं से अपनी शर्तें मनवा सकता है, उसका लाभ बढ जाता है तथा व्यापारिक जोखिम अनेक दूकानों मे फैलकर कम हो जाती है। इस प्रकार से वह दूसरी दुकानो को खोलकर अधिक लाभ कमा सकता है तथा अपनी पुरानी भूलो को ठीक कर सकता है। इस प्रकार की दूकाने अमेरिका मे बहुत फैली, क्योंकि वहा के उत्पादकों तथा व्यापारियों ने इसमे लाभ देखा। वहाँ पर इसको 'शृखला पद्धति' (Chain System) कहते हैं।

प्रारम्भ मे इन सस्थाओ को छोटे व्यापारियों की प्रतिद्वन्द्विता का सामना करना पड़ा। उनको मिटाने के लिए उन्होंने मूल्य मे कमी की, जिससे छोटे विक्रेता उनका सामना नहीं कर सके। उनको अन्य उत्पादको का सामना भी करना पड़ा, किन्तु इन संस्थाओ ने अपने व्यापारिक क्षेत्र को इतना अधिक बढा दिया कि उत्पादक तथा छोटे व्यापारी इनका सामना नही कर सके। ये लोग अधिक अनुभवी, कुशल तथा मितव्ययी होते है जिससे इस व्यापार के विकास को अधिक प्रोत्साहन मिला और वह इतना मजबूत हो गया कि अन्य उत्पादको को भी इनसे अपना व्यवहार बढाना पडा। उसके मूल्य मे समानता होने तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध के कारण इस प्रणाली को विकास पाने मे अधिक सुविधा हुई।

व्यवस्थापक की दृष्टि से इस प्रणाली मे औसत कम व्यय होता है, सुविधा के साथ वस्तुओ का विज्ञापन किया जाता है, मध्यस्थो की आवश्यकता नहीं पडती तथा केन्द्रीय गोदाम से हर एक दूकान पर माल भेजा जाता है जिसके कारण इन दुकानो को बढाने मे सुविधा होती है। उपभोक्ताओं की दृष्टि से भी इन दूकानो से अनेक लाभ होने के कारण, जैसे—माल का अत्यन्त निकट मिलना, माल की किस्म एक ही होना, खराब होने पर माल वापिस किया जाना या उसकी मुफ्त मरम्मत होना आदि से इन दुकानो के विकास को बहुत ही बडी सहायता मिली है।

भारतवर्ष तथा बहुविधि विक्रयशालाएँ
(Multiple Shops in India)

भारतवर्ष मे बहुविधि विक्रयशालाओं का प्रचार अभी तक विशेष रूप से नही हो सका है। इसका प्रमुख कारण देश की विशालता, योग्य तथा विश्वसनीय विक्रेताओं की कमी, पूँजी की न्यूनता आदि हैं। किन्तु देश मे इसके विकास के लिये बहुत बडा क्षेत्र है।

इन दूकानों पर वस्तुओं के समान मूल्य पर मिलने के कारण लोगो को विशेष धोखा नही रहता। भारतीय जनता अधिकाश अपढ तथा सीधी होने के कारण चालाक व्यापारियों से ठगी जाती है। किन्तु इन दूकानो पर एक ही माल

तथा एक ही मूल्य होने के कारण उनको उचित मूल्य पर सही माल मिल सकता है। इसलिये ऐसी दुकानों का भविष्य इस देश मे उज्ज्वल प्रतीत होता है। आज तक इस प्रणाली में वृद्धि न होने का प्रमुख कारण यह है कि उत्पादकों ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। किन्तु अब धीरे-धीरे इस देश मे इन दुकानों का विकास होता जा रहा है जिसके उदाहरण बाटा शू कम्पनी, उषा मशीन देहली-क्लोथ स्टोर, एल्गिन मिल्स, कानपुर आदि मिलते है। देश मे धीरे-धीरे बहुविक्रयशालाओं का विकास हो रहा है।

विभागीय भंडार तथा बहुविधि विक्रयशालाओं में अन्तर
(Departmental Stores and Multiple Shops Distinguished)

विभागीय भडार प्रणाली तथा बहुविधि विक्रयशाला प्रणाली मे निम्नलिखित अन्तर है—

(१) विभागीय भडार का प्रबन्ध संयुक्त पूंजी वाली कम्पनियो के अनुसार होता है, किन्तु बहुविधि विक्रयशाला प्रणाली मे प्रबन्ध शाखाओं के प्रबन्ध की पद्धति के अनुसार किया जाता है।

(२) विभागीय भंडार ग्राहकों की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति एक ही स्थान पर कर देता है किन्तु बहुविधि विक्रयशालाओं मे केवल एक ही आवश्यकता की पूर्ति की जा सकती है।

(३) विभागीय भडार बाजार के किसी विशाल भवन मे होते हैं, किन्तु बहुविधि विक्रयशालाएँ बाजार के विभिन्न स्थानों मे फैली होती है जिससे पहली प्रकार की दूकान मे जाने के लिये ग्राहकों को दूर पडता है। परन्तु दूसरी प्रकार मे ग्राहकों को वस्तुएँ अपने ही पास मिल जाती हैं।

(४) विभागीय भडार अपना स्थान नगर के उस भाग मे ढूंढते है जो अधिक जनमय हो, वे उसकी सजावट पर विशेष ध्यान देते है, किन्तु बहुविधि विक्रयशालाओं मे कोई ध्यान नही रखा जाता है।

(५) विभागीय भडार मे केवल धनी और विलासी ग्राहकों की आवश्यकताओं की वस्तुएं रखते है, किन्तु बहुविधि विक्रयशालाओं मे सर्वसाधारण के उपयोग की सस्ती वस्तुएँ रहती हैं।

(६) विभागीय भडार मे ग्राहकों के मनोरंजन के साधन तथा उनकी सेवाओं की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है, किन्तु बहुविधि विक्रयशालाओं मे इस प्रकार की व्यवस्था संभव नहीं होती है।

(७) विभागीय भंडारों की समस्त पूंजी एक ही व्यापार में एक ही स्थान पर लगी रहती है और उसकी प्रगति एक सीमित क्षेत्र पर निर्भर रहती है, किन्तु बहु-

विधि विक्रयशालाओं में यद्यपि पूंजी एक ही प्रकार की वस्तु के व्यापार में लगी रहती है किन्तु उसका क्षेत्र विस्तृत रहता है और प्रगति के विस्तार का क्षेत्र बढ जाता है।

(८) विभागीय भंडार की जोखिम बहुविधि विक्रयशाला से अधिक रहती है। विभागीय भडार में कोई विभाग यदि हानि पर चल रहा हो, तो ग्राहकों की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से उसको घाटे पर ही चलना पड़ता है। किन्तु किसी बहुविधि विक्रयशाला में घाटा लग रहा हो तो या तो उसे समाप्त किया जा सकता है अथवा उस घाटे की पूर्ति अन्य दूकानों से की जा सकती है।

(६) विभागीय भडार में अपने ग्राहकों को सुविधा देने के हेतु उन्हें उधार दिया जाता है, किन्तु बहुविधि विक्रयशाला में उधार देने की आवश्यकता नहीं होती।

(१०) विभागीय भडारों में वस्तुओं का मूल्य बाजार के आम मूल्यों से प्रायः अधिक रहता है। किन्तु बहुविधि विक्रयशालाओं में वस्तुओं का मूल्य बाजार के मूल्यों से कम रहता है।

(११) विभागीय भडार की सचालन पद्धति बहुविधि विक्रयशालाओं की पद्धति से जटिल होती है।

(१२) विभागीय भंडार में ग्राहक दूकान पर पहुंचता है, परन्तु बहुविधि विक्रयशाला ग्राहक के पास पहुँचने का प्रयत्न करती है।

बहुविधि विक्रयशाला का संगठन
(Organisation of Multiple Shops)

बहुविधि विक्रयशालाओं का प्रबन्ध अत्यन्त वैज्ञानिक ढग से किया जाता है। व्यापार के स्वामी केन्द्रीय-कार्यालय से समस्त व्यापार का नियंत्रण करते है। केन्द्रीय कार्यालय में अलग अलग दूकानों की पूर्ण तालिका रहती है तथा उनके साथ हुए हर प्रकार के व्यवहार की अलग-अलग फाइलें होती है, जिनमें उनके साथ किये हुए पत्र-व्यवहार तथा बीजक और वाउचर आदि सुरक्षित रखे जाते है। केन्द्रीय कार्यालय के द्वारा ही समय-समय पर इन दूकानों को आदेश भेजे जाते हैं जिसके अनुसार शाखाओं का सचालन करना पडता है। साधारण रूप में इस प्रकार दूकानों पर अपना उत्पादित माल ही भेजा जाता है, जैसे—बाटा-शू-कम्पनी या दिल्ली-क्लॉथ-मिल के द्वारा जितनी भी दुकानें चलाई जाती हैं उन पर वे अपने द्वारा उत्पादित माल ही भेजते हैं। किन्तु कितना ही इस प्रकार का माल भी होता है जो वे स्वय ही नहीं बनाते और उनको उसे अन्य स्थानों से खरीदना पडता है। जो माल इस प्रकार से खरीदा जाता है वह पहले प्रधान कार्यालय में आता है और फिर आवश्यकता के अनुसार उसको दूकानों पर भेज दिया जाता है। इस प्रकार शाखाएँ अपनी आवश्यकता पड़ने पर अपनी ओर से माल न खरीद कर उसकी सूचना तुरन्त प्रधान

कार्यालय को भेजती हैं और उनकी इच्छा के अनुसार उनको माल भेज दिया जाता है। उनको अपनी ओर से माल खरीदने का बिल्कुल अधिकार नहीं होता।

वस्तुओं का मूल्य केन्द्रीय कार्यालय में ही निर्धारित किया जाता है। यह मूल्य वस्तु पर छपा हुआ होता है। दुकानों के विक्रेताओं को निश्चित आदेश दिया जाता है कि वे निश्चित किये हुए मूल्य से अधिक या कम पर नहीं बेच सकते। इससे केन्द्रीय विभाग को अपने भेजे हुए माल का हिसाब लगाने तथा बचे हुए स्टॉक का अनुमान लगाने में बहुत बड़ी सहायता मिलती है। जिस समय किसी प्रकार के छूट की व्यवस्था करनी होती है तो सब दुकानों पर उसकी सूचना भेज दी जाती और उसकी अखबारों में तथा अन्य प्रकार से बहुत अच्छा विज्ञापन कर दिया जाता है। जनता की जानकारी के लिए समय-समय पर माल तथा उसके मूल्य का बहुत बड़े पैमाने पर विज्ञापन कर दिया जाता है। इससे जनता को मूल्यों के परिवर्तन की जानकारी रहती है और दुकानों में किसी प्रकार की गड़बड़ी की विशेष संभावना नहीं रहती।

शाखाओं की जाँच के लिये केन्द्र द्वारा निरीक्षक भेजे जाते हैं जो वस्तुओं तथा हिसाब का निरीक्षण, स्टॉक का मिलान, उसकी रोकड़-बही का पूरा पूरा अंकेक्षण करते हैं तथा यह भी देखते हैं कि केन्द्र आदेशानुसार उन दुकानों पर कार्य किया जा रहा है या नहीं।

इन शाखाओं में प्रत्येक दुकान पर एक व्यवस्थापक नियुक्त किया जाता है। इसको मासिक निश्चित वेतन के साथ-साथ कुछ कमीशन भी दिया जाता है, जिससे वह बिक्री में रुचि से कार्य कर सके तथा कुल बिक्री बढ़ा सके। शाखा के व्यवस्थापक का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। उसके ऊपर उसकी दुकान का सारा उत्तरदायित्व होता है और वह माल के दुरुपयोग के लिये पूर्ण रूप से उत्तरदायी होता है। व्यवस्थापक को कुल बिक्री का रुपया कहीं-कहीं पर रोज तथा कहीं पर (जहाँ बिक्री अधिक नहीं) एक निश्चित समय के अन्दर बैंक में जमा करवाना आवश्यक है। जहाँ पर बैंक की व्यवस्था न हो या बैंक केन्द्र के लिये उपयुक्त न हो, तो व्यवस्थापक को सारा रुपया बैंक ड्राफ्ट से या अन्य साधनों से केन्द्रीय कार्यालय में रेखांकित करके भेज देना पड़ेगा। वह भेजे हुए रुपयों पर हुए व्यय को रुपयों में से काट सकता है। उसको अपनी बिक्री तथा स्टॉक का लेखा समय-समय पर प्रधान कार्यालय को भेजना पड़ता है। इसी प्रकार उसको रोकड़ बही को नित्य लिख करके उसका मिलान स्टॉक के साथ करना पड़ता है कि माल आये हुए रोकड़ के अनुसार ही बिका है या नहीं। जब व्यवस्थापक प्रमुख कार्यालय में अपनी बिक्री के रुपये भेजता है तो उसको उसमें एक बिक्री चिट्ठी (Account Sales) भी भेजना पड़ता है, जिसमें बिके हुए माल का पूरा ब्यौरा तथा उस पर हुए खर्च का विवरण किया रहता है। रुपये

पहुँच जाने के पश्चात् केन्द्र द्वारा उसके किये गये खर्चों के लिये चैक भेजा जाता है। बिक्री के अनुसार उसको वेतन के साथ कमीशन भी मिल जाता है। यदि व्यवस्थापक को कभी रुपये की आवश्यकता हो और वह दूकान से रुपया लेना चाहे, तो उसको पहले लेने की अनुमति ले लेनी पडेगी और उसके मिलने के पश्चात् ही वह रुपयों को ले सकेगा, (किन्तु साधारण व्यवहार मे इस प्रकार के नियम कठोरता मे नहीं अपनाये जाते)।

प्रबन्ध की सुविधा के लिये जहा तक सम्भव होता है सब दूकानो की व्यवस्था को समान ही बनाये रखा जाता है, इसमे प्रमुख कार्यालय को उनका प्रबन्ध करने मे बडी सुविधा रहती है। किन्तु कहीं कहीं पर उस स्थान के चुंगी तथा अन्य करों की स्थिति देखकर उनकी व्यवस्था मे अन्तर किया जा सकता है।

दूकानो के व्यवस्थापकों को जो बीजक भेजे जाते है उन पर विक्रय मूल्य ही अंकित रहता है और वे यह नहीं जान सकते कि वस्तु की वास्तविक लागत क्या है। इससे उनको अधिक या कम लाभ होने का ज्ञान नहीं रहता। यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से लाभदायक है और कार्यकर्ता बिना किसी ईर्षा के कार्य कर सकते है।

प्रेषादेश व्यापार* तथा उसका संगठन

(Mail Order Business and its Organization)

डाक द्वारा व्यापार करने की पद्धति अत्यन्त सरल है। इसमे विक्रेता माल को अब स्वयं अपने पास न रख कर उसके उत्पादकों से एक निश्चित मूल्य पर माल खरीदने के सौदा कर लेता है और दूसरी ओर डाक के द्वारा उस वस्तु का अपने नाम पर बहुत बडा प्रचार करता है। डाक द्वारा भेजने वाले हर प्रकार के साधन का प्रयोग आसानी से किया जा सकता है। विक्रेता अपने ग्राहकों की एक सूची बना लेता है, जिसके अनुसार उनसे व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित कर व्यापार की ओर आकर्षित करने के लिये खूब पत्र-व्यवहार करता है।

इस प्रकार के विक्रेता को कोई विशेष कार्यालय के खोलने की आवश्यकता नहीं पडती और न वह कहीं भी बैठ कर ही अपने व्यापार का सचालन करता है। ये लोग प्राय: अपने यहां पर एक पत्र-पेटिका (Letter Box) लगा देते है और उस नम्बर पर ही उस माल का प्रचार करते है। इस व्यापार का सबसे आवश्यक अग विज्ञापन है। व्यापार की सफलता विज्ञापन-कला दक्ष-पुरुष पर ही निर्भर रहती है।

विज्ञापन समाचार पत्रो मे परिचय पत्रो द्वारा पुराने तथा सम्भाव्य ग्राहकों के पास समय-समय पर भेज देना चाहिये। ग्राहको की सूची व्यापार सदर्भ पुस्तको टेलीफोन, परिचयात्मक पुस्तको, वार्षिक विकास पुस्तको, (Year Books) समाचार

---

* साधारण भाषा मे इसको 'डाक द्वारा व्यापार' कहते हैं।

पत्रों के कार्यालय में तथा प्रचारक और भ्रमणकर्ताओं (Travellers) की वृतों के के अनुसार तैयार की जाती है। इस सूची को 'डाक सूची' (Mailing list) कहते है। इस सूची के बन जाने पर प्रत्येक व्यक्ति से व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित किया जाना उचित है। प्रति वर्ष इस सूची में परिवर्तन करते रहना चाहिये। कुछ ग्राहकों के लिये प्रयत्न करना पड़ेगा, यदि प्रयत्न करने पर भी कोई फल नहीं मिले तो कुछ को सूची से निकाल देना चाहिये, वस्तुओं को एक स्थान पर रखने के लिये संग्रहालय (गोदाम) होना चाहिये।

जो वस्तु विक्रय के लिये प्रस्तुत की जाती है उसका मूल्य साधारण बाजार मूल्यों की अपेक्षा कम होना है, किन्तु यह कमी इस प्रकार नहीं की जाती कि लोगों को वस्तु पर सन्देह उत्पन्न होजाय। इसलिये मूल्यों का निर्धारण इस प्रकार का किया जाता है कि ग्राहक ये सोच सकें कि मूल्य साधारण मूल्य से कम है और यदि बाजार में वे इसकी जाँच करे तो उनको पूर्ण रूप से सतोष हो जाना चाहिये कि उस वस्तु का मूल्य प्रतिस्पर्द्धायुक्त मूल्य है। माल बहुधा वी० पी० पी० के द्वारा भेजा जाता है। वी० पी० के द्वारा माल भेजे जाने पर ग्राहक माल छोड़ने से पहले उसकी जाँच नहीं कर सकता और उसके विवरण के अनुसार उसे सतुष्ट होना पड़ता है।

डाक द्वारा उन्ही वस्तुओं का व्यापार किया जाना चाहिये, जिनका प्रमापीकरण तथा श्रेणीबद्ध किया जाना सम्भव हो। विशेष्ट ट्रेडमार्क की वस्तुओं के लिये भी उपयोगी पद्धति है।

इस व्यापार में सत्यता तथा विश्वास का महत्वपूर्ण स्थान है। सबसे प्रथम यह व्यापार अमेरिका में प्रारम्भ हुआ और वहाँ पर इसकी उपयोगिता इतनी बढ़ी कि आज बहुत बड़ा व्यापार डाक के द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। इस व्यापार को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(१) उत्पादन की वस्तुओं का व्यापार, (२) विभागीय वस्तुओं का व्यापार, (३) सामान्य वस्तुओं का व्यापार। तीसरी प्रकार का व्यापार ही सही रूप से डाक का व्यापार होता है। हमारे देश में इस प्रकार के व्यापारिक संगठनों को विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला, क्यों कि यहाँ पर विक्रेता अधिकाश रूप से सत्यता को नहीं अपनाते और क्रेताओं को वस्तु खरीदने में बहुत धोखा होता है। इस प्रकार धीरे-धीरे इस व्यापार से उनका विश्वास हटता जाता है।

क्रेताओं के लिये लाभदायक व्यवस्था

(Advantageous Arrangement for Purchasers)

डाक द्वारा किये गये व्यापार में क्रेताओं को निम्नलिखित अवस्थाओं में लाभ होता है—

(१) वे माल को घर बैठे ही प्राप्त कर सकते है। वस्तु का विवरण तथा उपयुक्तता को अखबारो मे पढकर या उनके द्वारा किये गये विज्ञापनो मे देख कर के वे आसानी से घर बैठे ही माल को मँगा सकते है।

(२) माल ढूंढने के लिये उनको परिश्रम नहीं करना पड़ता है। जिस वस्तु की ग्राहक को आवश्यकता होती है उसका विवरण उसके पास घर बैठे ही आ जाता है, जिससे उसको अलग-अलग दूकानो पर जाकर माल को ढूंढने की आवश्यकता नही होती है।

(३) उनको वस्तु सस्ती मिलती है। यदि वे बाजार मे माल खरीदने जाते है तो उनको अपना समय देने के बाद भी वस्तु के लिये अधिक मूल्य देना पडता है, किन्तु इसके द्वारा घर बैठे ही उनको माल सस्ते दामो पर मिल जाता है।

(४) माल के गुणों के प्रति वे निश्चित रहते है। यदि ग्राहक माल का चुनाव दूकान पर जाकर करता है तो गलत चुनाव के लिये वह स्वय उत्तरदायी रहता है, किन्तु डाक के द्वारा माल मँगाने पर वह वस्तु के गुणो के प्रति पूर्ण रूप से निश्चित रहता है।

(५) डाक द्वारा माल खरीदने की स्थिति मे उनको रुपया एकत्र करने का अवसर मिल जाता है और माल के आने तक रुपयो की व्यवस्था हो जाती है।

(६) उनकी हर आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है। डाक द्वारा माल दूर-दूर स्थानो से सुविधा से मँगाया जा सकता है और इस प्रकार जिस किसी वस्तु की आवश्यकता हो, वह उस बाजार मे न होने पर भी कही से मँगाई जा सकती है और क्रेता को अधिक व्यय नही करना पड़ता।

(७) डाक द्वारा व्यापार करने पर उनको विक्रेता से व्यक्तिगत सम्पर्क बढाने की कोई आवश्यकता नही होती और बिना इसके ही क्रेता वे सारी सेवाएँ प्राप्त कर सकते है, जो व्यापारी से व्यक्तिगत सम्बन्धो की स्थापना करने के बाद प्राप्त होती है।

व्यापारी के लिये लाभ (Advantages to the seller)—इससे व्यापारी को भी अनेक लाभ होते है जैसे—(१) कार्यालय तथा दूकान को सजाने की आवश्यकता नही। (२) पत्र व्यवहार तथा कुछ अतिरिक्त व्यय के अलावा उन्हे और नही देना पड़ता। (३) व्यापार वी० पी० पी० के द्वारा होता है इसलिये उधार का प्रश्न ही नही उठता। (४) उनको माल का सग्रह करने की आवश्यकता नही होती जैसे ही उनके पास आदेश आयेंगे वे उसकी व्यवस्था अढतियो या निर्माताओ से करके सीधे-सीधे माल भिजवा देंगे। (५) डाक द्वारा व्यापार करने वाले व्यापारी को बहुत कम पूँजी की आवश्यकता होती है। (६) इस व्यापार को करने वाला व्यक्ति स्वतंत्र होता है,

इसलिये माल को सस्ते दामों पर बेच सकता है। इसको बिचोदिया कमीशन नहीं देना पड़ता।

प्रेषादेश व्यापार के दोष (Disadvantages of Mail order Business)—ग्राहकों तथा व्यापारिक प्रतिष्ठा को इस व्यापार से कभी-कभी बड़ी हानि होती है। ग्राहक खरीदने के पूर्व माल की जाँच तो कर सकता है किन्तु मूल्य वी० पी० पी० में चुकाता है और कई बार इसमें ठगा जाता है, उधार की सुविधा इसमें नहीं है, सामान मिलने में देरी होती है, अनपढ़ों के लिये यह व्यर्थ पद्धति है, ग्राहक बड़ी कठिनाई से सन्तुष्ट होता है, एक बार सन्देह उत्पन्न हो जाने पर ग्राहक का सारे व्यापार पर से विश्वास उठ जाता है।

डाक द्वारा व्यापार के लक्षण
(Characteristics of Mail Order Business)

डाक द्वारा किये जाने वाले व्यापार की निम्नलिखित विशेषताएं हैं—

(१) डाक द्वारा किये जाने वाले व्यापार में कोई भी व्यापारी (उत्पादक, थोक विक्रेता तथा फुटकर व्यापारी) या साधारण व्यक्ति सुविधा के साथ व्यापार कर सकता है। जो व्यापार उत्पादक तथा थोक व्यापारियों के द्वारा किया जाता है, वे सीधा व्यापार कर सकते हैं तथा मध्यस्थों के लाभ को बचा सकते हैं। इससे ग्राहकों को भी वस्तुएं सस्ती मिल जाती हैं और व्यापारी अपने माल को सुगमता से बेच सकता है।

(२) इसके लिये किसी विशेष कार्यालय की आवश्यकता नहीं होती, क्यों कि यह व्यापार की जाँच करवाने के पश्चात् नहीं होता और विक्रेता को माल को देखकर खरीदने की आवश्यकता नहीं होती, अतः इसमें किसी प्रकार का प्रदर्शन-गृह या दूकान को सजा कर लगाने की आवश्यकता नहीं होती और लोग अपने घर पर बैठकर ही व्यापार कर सकते हैं।

(३) इसमें व्यक्तिगत परिचय की आवश्यकता नहीं होती है। डाक द्वारा व्यापार, जैसा शब्द से विदित है पत्र-व्यवहार से ही किया जाता है। इसमें ग्राहक से किसी प्रकार की व्यक्तिगत जान-पहचान या ग्राहक को विक्रेता को देखने या समझने की विशेष आवश्यकता नहीं होती।

(४) इस व्यापार का आधार शिला विज्ञापन है। जो व्यापारी अधिक व्यवस्थित तथा समुन्नत ढंग से विज्ञापन करता है तथा अपना प्रचार अधिक-से अधिक लोगों में कर सकता है उनके व्यापार में दिनों दिन उन्नति होती जाती है।

(५) व्यापार विश्वास तथा सत्यता पर निर्भर रहता है। इस व्यापार में क्रेता और विक्रेताओं का कोई आपस में सम्पर्क न होने के कारण तथा खरीदने में

पूर्व माल की कोई जाँच न की जाने के कारण क्रेता को विक्रेता की सच्चाई पर ही अवलम्बित रहना पडता है।

(६) इनका व्यापार विश्वव्यापी हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय डाक सुविधा के कारण वस्तु का विज्ञापन बहुत सस्ते दामो मे भी दूर देशो तक किया जा सकता है। जिससे व्यापारिक क्षेत्र किसी स्थान या देश मे सीमित न रह कर विश्व-व्यापी बन सकता है।

कृषि उत्पादित वस्तुएं और प्रेषादेश व्यापार

(Agricultural Products and Mail Order Business)

जहाँ तक भारतवर्ष की कृषि उत्पादित वस्तुओं का सम्बन्ध है, वे गाँवो से थोक व्यापारियो के पास भेजी जाती हैं और इनका मडियो मे क्रय-विक्रय होता है। धान आदि भारी वस्तुओं के अन्तर्गत होने के कारण उसका क्षेत्र अधिक सीमित होता है। अमेरिका के समान भारतवर्ष का किसान इतने अधिक परिमाण मे अनाज पैदा नहीं कर सकता, जिससे वह उनके समान ही व्यापार पर कुछ नियत्रण रख सके। उसकी आर्थिक स्थिति क्षीण होने के कारण वह बडा व्यापार करने मे असमर्थ होता है। हमारे अधिकाश गाँव रेलवे स्टेशनो से बहुत दूर है तथा मोटर द्वारा माल भेजने पर व्यय अधिक होता है, जिससे दूर स्थित प्रदेशो मे उस माल को प्रतिस्पर्द्धा-बाजार (Competitive Market) मे सुविधा के साथ नहीं भेजा जा सकता। हमारे गाँवों मे अभी डाकखाने तथा अन्य सन्देश-वाहक साधनों की भी पर्याप्त कमी है। कृषि उत्पादित वस्तुओं का व्यापार सामान्यतः सीमित होता है। इन लक्षणों को देखते हुए भारतवर्ष मे कृषि उत्पादित वस्तुओं का डाक द्वारा व्यापार अत्यन्त कठिन है।

भारतवर्ष मे डाक द्वारा व्यापार को विशेष प्रोत्साहन नहीं मिल सका। इसका कारण यह है कि इस प्रकार का व्यापार करने वाले व्यापारी सत्यता तथा विश्वसनीयता से व्यापार नही करते। इस व्यापार के प्रति लोगों का विश्वास टूट गया है और सही रूप से व्यापार करने वालो पर भी अब क्रेताओं का विश्वास नहीं रहा। इसीलिए भारतवर्ष में कृषि उत्पादित वस्तुओं मे ही क्या, किसी प्रकार की वस्तु मे भी डाक द्वारा व्यापार होना सभव नहीं है।

भारतवर्ष मे कृषि उत्पादित वस्तुओं का डाक द्वारा व्यापार सभव हो सकता है, किन्तु इसके लिये यातायात तथा सन्देश-वाहक साधनो का समुचित प्रबन्ध होना चाहिये तथा किसानों की आर्थिक स्थिति मे पर्याप्त सुधार हो जाना चाहिये। किसानो को व्यापार करने के लिए व्यापारिक समितियाँ बनानी चाहिये, जिससे उनको आर्थिक तथा व्यापारिक स्थिति मे पर्याप्त सुधार हो सके और समितियाँ व्यापार पर भी नियंत्रण कर सकें।

कृषि उत्पादित वस्तुओं का डाक द्वारा व्यापार आढ़तियों तथा व्यापारियो के

भारतवर्ष मे अब इसकी स्थायी दूकाने भी प्रारम्भ हो गई है और उनकी सफलता से प्रतीत होता है कि इस प्रकार के व्यापार का भविष्य काफी आशाप्रद है।

एक-मूल्य विक्रयशालाओं की व्यवस्था अत्यन्त साधारण है। व्यापारी कई प्रकार का दैनिक आवश्यकता का सामान एकत्र करके उनके मूल्यों का अनुपात निकाल कर एक ऐसा मूल्य निर्धारित करता है जिसके अनुसार उन वस्तुओं का मूल्य एक ही प्रकार का हो जाता है। जब अलग अलग रुचि रखने वाले व्यक्ति इनको खरीदते है तो किसी मे लाभ तथा किसी मे हानि इस प्रकार से होती है कि व्यापारी के माल बिकने पर लाभ ही रहता है।

द्वाराद्वार व्यापार
(Door to Door Business)

इस प्रकार का व्यापार अत्यन्त पुराना तथा नवीन, दोनो ही प्रकार के फुटकर व्यापार का तरीका है। इसमे विक्रेता घर घर मे जाकर अपनी वस्तु का प्रचार करता है और लोगो को खरीदने के लिये अपने चातुर्य से विवश कर देता है। मन्दी के समय मे इस प्रकार का व्यापार अत्यन्त लाभकर होता है, क्योंकि माल की आवश्यकता न होने पर भी जब कुशल विक्रेता घर पर आकर अपने माल का प्रचार करता है तो ग्राहक की इच्छा न होते हुए भी उस माल को खरीद लेता है और इस प्रकार व्यापारी अपने माल की बिक्री सुगमता से बढा लेता है। इस प्रकार का व्यापार अधिक लाभदायक नहीं होता, क्योंकि लोग फेरी वाले के पास माल खरीदने के लिए इसलिये प्रस्तुत नहीं होते कि उसके पास चुनाव के लिये अलग-अलग किस्म का माल रहना सम्भव नहीं।

दूसरे, दुकान पर माल बेचने मे व्यय कम होता है, किन्तु फेरी वाले के द्वारा माल बेचने से उस पर अधिक व्यय हो जाता है। परन्तु क्रेता घर पर भी उस माल को बाजार भाव मे ही खरीदना चाहता है और इस प्रकार विक्रेता की मजदूरी का एक अतिरिक्त व्यय बढ जाता है। फिर इसमे अत्यन्त कुशल विक्रेता ही सफलता प्राप्त कर सकता है।

संगठित वस्तु-सचय गृह
(Organised Provision Stores)

प्रथम महायुद्ध के बाद अमेरिका के फुटकर व्यापारियों मे प्रतिद्विन्द्वता होने के कारण इस प्रकार के सचय गृहो को जन्म हुआ। इनको वहाँ पर सगठित सचय गृह या "विशेष-विपणि" (Specialised Market) के नाम से कहा जाता है। इसका व्यापार प्रायः रोकड व्यापार होता है। इसमे अधिक विक्रेताओं की आवश्यकता नहीं होती और क्रेता को दूकान मे अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को चुनकर निकालने की छूट होती है। क्रेता दुकान पर जाता है और दरवाजों मे से अपनी आवश्यकता

वस्तुओं को स्वयं निकाल कर रोकड लेने वाले व्यक्ति के पास सुपुर्द कर देता है और यथोचित मूल्य देकर अपनी वस्तु को प्राप्त कर लेता है। इससे क्रेता और विक्रेता दोनों को लाभ होता है। विक्रेता का अधिक कार्यकर्ताओं की नियुक्ति न करने के कारण व्यापारिक व्यय कम हो जाता है। इसी प्रकार क्रेता को भी व्यवस्था का व्यय न देने मे वस्तु का मूल्य कम देना पडता है और उसको माल चुनने मे भी सुविधा रहती है। इस प्रकार का व्यापार बहुत आसानी के चलाया जा सकता है, और इसमे विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ आसानी से रखी जा सकती हैं। इन दूकानों को बडी सुविधा के साथ विभागीय भडार पद्धति के अनुसार भी चलाया जा सकता है।

भारतवर्ष में इस प्रकार के व्यापार का रूप "अन्नपूर्णा उपहार गृहो" मे देखने को मिलता है। वहाँ पर हर प्रकार की भोजन सामग्री एक स्थान पर रखी होती है और लोग एक लाइन मे रहकर अपनी इच्छित वस्तु को प्राप्त कर लेते हैं। उन वस्तुओं के लिये उनको एक चिट (Coupon) दे दी जाती है, जिसके अनुसार उनके पैसे पहले ही ले लिये जाते हैं। यह व्यापार अत्यन्त सभ्य एवं अनुशासित है।

क्रया व क्रय-पद्धति

(Hire Purchase System)

क्रया व क्रय-पद्धति व्यापार की वह प्रणाली है जिसमे उधारी प्रथा को इसलिये बढाया जाता है कि ग्राहक अपनी आय मे से धीरे-धीरे वस्तु के मूल्य को चुकाता रहे। इस प्रकार इसमे वस्तु के खरीदने समय थोडा सा रुपया देकर शेष रुपया किश्तों मे चुकाया जाता है। व्यापार को बढाने के लिये यह एक बहुत अच्छी प्रणाली है। इस प्रणाली मे माल की बिक्री करते ही पहली किश्त प्राप्त करके माल क्रेता को सौंप दिया जाता है और जब तक वस्तु के मूल्य का पूर्ण शोधन नही हो जाता, वस्तु का स्वामित्व विक्रेता के ही पास रहता है। यदि क्रेता किश्त चुकाने मे असमर्थ होता है तो उसको वस्तु वापिस कर देनी पडती है और जो कुछ रुपया विक्रेता को पहले प्राप्त हो चुका है, वह वस्तु के किराये के रूप मे काट लिया जाता है। क्रया व क्रय का समझौता इस प्रकार होना चाहिये कि उसकी सारी चीजें स्पष्ट हों। कानून के अनुसार इस प्रकार के सौदे दो भागो में बाँटे जा सकते हैं।

(१) माल को खरीदने के विकल्प का अधिकार सुरक्षित रखते हुए क्रया व क्रय का समझौता।

(२) माल का मूल्य किश्तों में देने का समझौता।

ये दोनों परिस्थितियाँ माल के गुण तथा उनके आपस के समझौते के अनुसार अलग-अलग सौदों मे पृथक की जायेंगी। इस प्रकार क्रया व क्रय मे निम्नलिखित लक्षण होने चाहिये—

(१) इसमें माल उधार दिया जाता है।

(२) जो माल उधार दिया जाता है उसका मूल्य धीरे धीरे किस्तों में चुकाया जाता है।

(३) प्रथम किस्त मिल जाने के पश्चात् वस्तु के उपयोग का अधिकार क्रेता को दे दिया जाता है किन्तु स्वामित्व विक्रेता के पास ही रहता है।

(४) किस्त के न चुकाये जाने पर माल को वापिस कर दिया जाता है और पूर्व चुकाई गई किस्तों को किराये के रूप में काट लिया जाता है।

(५) क्रया व क्रय में वैधानिक तौर पर समझौता लिख दिया जाता है जो कि क्रेता तथा विक्रेता के ऊपर पूर्ण रूप से लागू होता है।

यह किन वस्तुओं के लिये उपयोगी है ?
(For What Products is it Useful ?)

इस प्रकार के विक्रेता को माल बेचते समय पूर्ण विश्वास होता है कि उसका माल हर प्रकार से सुरक्षित है और मूल्य न मिलने की दशा में वह उसका मूल्य सुगमता से प्राप्त कर सकता है। किन्तु उसको यह भी ध्यान रखना चाहिये कि एक बार उपयोग की जाने वाली वस्तु पुरानी हो जाती है, इसलिये उस वस्तु को स्थायी तथा ऊँचे मूल्य का होना चाहिये तथा इस प्रकार की होनी चाहिये कि दुबारा बेचा जा सके। इस प्रकार क्रया व क्रय की जाने वाली वस्तुओं में निम्नलिखित आवश्यक बातें होनी आवश्यक है—

(१) यह अलग इकाई होनी चाहिये जिसको अलग से ही पहिचाना जा सके और समय पड़ने पर व्यापारी उस पर अपना स्वामित्व कर सके।

(२) उसमें स्थायित्व होना चाहिये जिससे कि माल बहुत अधिक समय तक अच्छी दशा में चल सके, और माल का अधिकार वापिस लेने पर वह बिगड़ी हुई दशा में न मिले अथवा क्रेता भी उसका लम्बी अवधि तक उपयोग कर सके।

(३) वस्तु को नवीन चाव तथा रिवाज के अनुकूल होना चाहिये तथा इसमें यथोचित परिवर्तन करने की गुंजाइश होनी चाहिये, जिससे कि उसमें परिवर्तन करने से उसका पुरानापन मिटाया जा सके।

(४) उसको इस प्रकार का होना चाहिये कि क्रेता वस्तु को लेना पसन्द करे तथा दीर्घ समय तक उसका उपभोग कर सके। वह इस प्रकार को नही होनी चाहिये कि उपभोगकर्ता थोड़े ही दिनों में ऊब जाय।

(५) उसको हस्तान्तरण योग्य होना चाहिये जिससे आवश्यकता पड़ने पर विक्रेता उसे पुनः प्राप्त कर सके।

(६) उसको विवरण योग्य होना चाहिये, जिससे उसका यथेष्ट विवरण कर माँग को बढ़ाया जा सके तथा उसके पुराना होने पर भी माँग बनी रहे।

(७) उसका मूल्य अधिक होना चाहिये, जिससे कि मूल्य के भुगतान मे उचित किस्तो की व्यवस्था की जा सके तथा उसके लिए अनुबन्ध लिखने की आवश्यकता हो।

(८) उसमे इतना लाभ होना चाहिये कि विक्रेता को उसमे हुए व्यय तथा लगी हुई पूँजी का ब्याज मिल सके।

इस पद्धति के लिए सीने की मशीन, टाईप मशीन, रेडियो, ग्रामोफोन, फर्नीचर आदि उपयुक्त है। इसमे अन्य मूल्यवान वस्तुएँ, जैसे—मकान, भूमि, बड़ी-बड़ी मशीनें आदि का भी उपयोग बड़ी सफलता से किया जा सकता है।

क्रया व क्रय के लाभ
(Advantages of Hire Purchases)

विक्रेता की दृष्टि से (From Sellers View)—(१) उसकी बिक्री मे वृद्धि हो जाती है, क्योंकि छोटी-छोटी किस्तो मे मूल्य चुकाने पर क्रेता को भार मालूम नही होता। इससे बिक्री बढ जाती है।

(२) उसको ब्याज सहित किस्तो पर मूल्य मिलने के कारण लाभ के अतिरिक्त ब्याज भी मिलता है।

(३) यदि क्रेता किस्त को नही चुका सके तो उसका वस्तु पर स्वामित्व तो होता ही है, साथ-साथ क्रेता की चुकाई हुई पूर्व किस्ते भी किराये के रूप मे प्राप्त हो जाती है।

(४) धन की आवश्यकता होने पर विक्रेता क्रया व क्रय अनुबन्धो की सहायता से ऋण ले सकता है।

ग्राहक की दृष्टि से (From Purchaser's View)—(१) सामान्य आय वाले लोगो को मूल्यवान् वस्तुओ के खरीदने मे सुविधा रहती है, क्योंकि उनको उसका मूल्य एक साथ नही देना पड़ता।

(२) किस्त की पद्धति होने के कारण जैसे-जैसे उनको आय होती है उसके ही अनुसार वे थोड़े-थोड़े धन को देकर वस्तु पर अपना अधिकार प्राप्त कर सकते हैं।

(३) वस्तु के मूल्य को बिना पूर्ण चुकाये हुए ही क्रेता उसका उपयोग कर सकता है और उसके गुण-दोषो की परख कर सकता है, जिससे उसको अनुबन्ध मे किये गये समझौते के अनुसार विक्रेता पर दबाव डालने का अवसर प्राप्त हो सके।

(४) इस प्रकार की वस्तुओ मे किसी प्रकार की खराबी आ जाने पर विक्रेता बिना शुल्क लिये ही मरम्मत कर देता है। यदि क्रेता के हाथ से कोई भाग टूट गया हो तो उसका मूल्य उसको देना पड़ेगा।

(५) वस्तु की किस्त इस प्रकार से रखी जाती है कि कम आय वाले व्यक्ति

उसके द्वारा ही कमाई करके उसका मूल्य चुका सकते है और उनको उसके लिये धन इकट्ठा नही करना पडता।

(६) इससे लोगो मे मितव्ययता बढ जाती है। किश्त चुकाने के लिए उनको अनिवार्य रूप से धन सग्रह करना ही पडता है। जिसके कारण धीरे-धीरे उनकी यह आदत पड जाती है और भविष्य मे वे कुछ बचत कर सकते है।

क्रया व क्रय से हानियाँ
(Disadvantages of Hire Purchase)

ग्राहक की दृष्टि से (From Purchasers View)—(१) उनको वस्तु का मूल्य अधिक देना पडता है, क्योकि उस मूल्य मे लाभ, ब्याज आदि सम्मिलित रहते है।

(२) पहली किस्त का रुपया अन्य किश्तो से अधिक होता है। यदि किश्तो का भुगतान ठीक नही होता तो अन्तिम किश्त के रुक जाने पर भी विक्रेता को माल पर अधिकार करने का हक होता है, जिससे ग्राहक रुपया गँवा कर भी वस्तु को अपनी नही बना सकता।

(३) कम आय वाले व्यक्तियों को आर्थिक कठिनाई का सामना करना पडता है और किश्त न चुकाने की हालत मे न तो वह वस्तु को बेच ही सकता, और न गिरवी रख सकता है।

(४) इससे साधारण लागो मे विलासिता बढ जाती है।

विक्रेता की दृष्टि से (From Seller's View)—(१) व्यापार के लिये अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है, क्योकि उसका बहुत-सा माल उठ जाने पर तथा उसका मूल्य एक साथ न मिलने के कारण उसकी पूँजी रुक जाती है। अत. व्यापार को सचालित रखने हेतु उसको अधिक पूँजी की आवश्यकता पडती है।

(२) जो माल क्रेताओ से वापिस आता है उसका मूल्य गिर जाता है और इस प्रकार उसे हानि उठानी पड़ती है।

(३) क्रेता की आर्थिक स्थिति बिगड जाने पर तथा उसके अधिकार वाली वस्तु के खराब हो जाने पर कभी-कभी विक्रेता को माल भी गँवाना पडता है।

भारतवर्ष में क्रया व क्रय की कठिनाइयाँ
(Difficulties of Hire Purchase in India)

भारतवर्ष मे क्रया व क्रय प्रणाली को अभी विशेष प्रोत्साहन नही मिला, क्योंकि यहाँ पर पश्चिमी देशो की भाँति मूल्यवान वस्तुओ की उतनी अधिक माँग नही है, जितनी की अमेरिका या यूरोपीय देशो मे है। यहाँ पर पूँजी की कमी होने के कारण

विक्रेता उतना अधिक न तो माल को ही मँगवा सकते है और न लोगो को एक लम्बी अवधि तक उधार ही दे सकते है। हमारे देश मे उत्पादन अनुकूल न होने तथा लोगो मे विश्वास आदि की कमी के कारण यह व्यापार विशेष रूप मे नही बढ सकता। क्रया व क्रय व्यापार के प्रचलन मे भारतवर्ष मे निम्नलिखित असुविधाएँ है—

(१) विक्रेताओ के पास अपर्याप्त पूँजी (Insufficient Capital with Sellers)—भारतवर्ष मे वस्तु उत्पादन का इस ओर विशेष ध्यान नही है, और न उनके लिये यह सम्भव ही है कि उपभोक्ताओ से इस प्रकार का व्यापार कर सकें। साधारण व्यापारियो के पास इतनी पूँजी नही है कि वे अपने गोदाम मे इतने मूल्यवान माल को रख सके तथा उनके लिये ग्राहक ढूँढ सके। यदि उनको ग्राहक मिल भी जायें तो उनकी समस्त पूँजी उस माल मे रुक जाती है और व्यापारी जब तक बेचे हुए माल का रुपया प्राप्त न कर ले, आगे माल नही मँगा सकता। इस प्रकार उसके व्यापार की प्रगति रुक जाती है।

(२) अशुद्ध उपभोग (Defective Utilisation)—वस्तु के उपयोग की सही पद्धति न जानने के कारण उपभोक्ता माल को ठीक प्रकार से नही रख सकते, और न नियमानुसार उसका मूल्य चुकाने मे समर्थ होते है। कभी-कभी ऐसे विक्रेता को न तो अपनी वस्तु ही सुरक्षित रूप से मिलती है, और न उसका मूल्य ही मिलता है। इस प्रकार उसको बहुत बडी हानि का सामना करना पडता है। इस कठिनाई के कारण भारतीय विक्रेता जिसके पास सीमित पूँजी होती है, वह क्रया व क्रय व्यापार मे हाथ डालने मे सकोच करता है।

(३) विशिष्टीकरण का अभाव (Lack of Specialisation)—भारतवर्ष मे क्रया व क्रय व्यापार मे अभी व्यापारियो ने विशिष्टीकरण प्राप्त नही किया है। जो व्यापारी इसमे कुशल होते है, वे अपनी वस्तु का मूल्य इस प्रकार लगाते है कि उसमे उनको ब्याज, खर्च तथा छीजन का मूल्य भी मिल जाता है और वे इस प्रकार की व्यवस्था करते हैं कि बुरे ग्राहको की व्यवस्था अच्छे ग्राहको मे हो सके, किन्तु भारतवर्ष मे इस प्रकार की व्यवस्था कई दृष्टियो से सम्भव नही।

(४) निम्न जीवन-स्तर (Low Standard of Living)—भारतीय जीवन-स्तर निम्न होने के कारण यहाँ के लोग उस प्रकार के माल को नही खरीद सकते जो विलासिता के लिये है; जैसे—रेडियो, मोटर कार, ग्रामोफोन आदि भारतीय जीवन मे विलासिता के साधन हैं और उनको बहुत कम लोग खरीद सकते है। इसलिये इस पद्धति के अनुसार मूल्य को किश्तो में चुकाने की सुविधा होने पर भी इन वस्तुओ के काफी ग्राहक नही मिलते और इसीलिये व्यापार की प्रगति सम्भव नही होती।

(५) अलग अधिनियम नहीं (No Separate Act)—भारतवर्ष में इस

व्यापार के लिये कोई अलग अधिनियम नहीं है और इसका संचालन भारतीय अनुबन्ध विधान के ही अन्तर्गत किया जाता है इस प्रकार क्रेता और विक्रेता के बीच जो अनुबन्ध किया जाता है उसके लिये अलग विधेयक न होने के कारण अनेक असुविधाएँ रह जाती हैं।

भारतवर्ष मे इस प्रकार का व्यापार यद्यपि पाश्चात्य देशों के समान प्रगति पथ पर नहीं है, फिर भी इस दिशा मे सफल प्रयोग किये गये है। सिंगर मशीन कम्पनी, हिन्दुस्तान मोटर वर्क्स लिमिटेड, एटलस कम्पनी लिमिटेड आदि संस्थाएँ अपनी निर्मित वस्तुओं को क्रया व क्रय पद्धति के अनुसार बेचती हैं। इस प्रकार इनको पर्याप्त सफलता मिली है और माल के प्रचार साथ उनकी बिक्री भी बढ सकी है। भारत मे केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के कृषि विभागो द्वारा किसानों को उनकी आवश्यकता के औजार आदि भी इसी पद्धति से अनुसार दिये जाते है। कुछ ही समय पूर्व मे किसानों को ट्रैक्टर आदि बेचने की व्यवस्था भी इस रीति पर की जा रही है। इन प्रयोगों की सफलता से यह आशा की जाती है कि भविष्य मे इस व्यापार को प्रोत्साहन मिलेगा और व्यापारी अपने सकोच को दूर कर सहर्ष इस व्यापार को स्वीकार करेंगे।

प्रभाग-शोधन प्रणाली
(Instalment System)

पिछले कुछ वर्षो मे व्यापार मे बडे-बडे संचय गृहो ने प्रभाग संशोधन प्रणाली को बड़ी सफलता के साथ अपनाया है। इस के अनुसार ग्राहक मूल्य का शोधन 'प्रभाग सशोधन' (Instalment Payment) के रूप में अथवा 'स्थगित-भुगतान' (Deferred Payment) के रूप मे कर सकता है। यह प्रणाली क्रया व क्रय प्रणाली का ही परिवर्तित रूप है। इसके अनुसार ग्राहक माल की प्रथम किश्त देने पर ही वस्तु का स्वामित्व प्राप्त कर लेता है और फिर उसको वापिस करने का प्रश्न नहीं रहता। वस्तु का मूल्य क्रेता तथा विक्रेता के बीच मे हुए अनुबन्ध के अनुसार किश्तों पर किया जाता है। किश्त न चुकाने की दशा मे क्रेता उस माल को बेच कर मूल्य का भुगतान कर सकता है और उससे वस्तु को प्राप्त करने वाला व्यक्ति भी वही अधिकार प्राप्त कर लेता है, जो पूर्व क्रेता के थे।

इस प्रणाली के अनुसार जो माल बेचा जाता है उसका मूल्य क्रया व क्रय के मूल्य से अधिक होता है, क्योंकि इसमें भुगतान उससे कुछ अधिक होता है और व्यापारी को अधिक जोखिम भी उठानी पडती है।

इसमे किये गये सौदे के होने पर क्रेता और विक्रेता में एक अनुबन्ध लिखा जाता है जिसमें विक्रय तिथि, भुगतानों की राशि, तथा उनका क्रम, वस्तु का विवरण तथा दोनों ओर बेचने तथा खरीदने का समझौता आदि का उल्लेख रहता

है। सौदा होने की तिथि पर क्रेता को एक कच्ची रसीद दे दी जाती है और जब माल के मूल्य का पूर्ण रूप से भुगतान हो जाता है तो विक्रेता एक पक्की रसीद बना कर दे देता है, जिससे कि सौदा समाप्त समझा जाता है।

जितने भी सौदे प्रभाग भुगतान प्रणाली के अनुसार किये जाते हैं, उनका विवरण प्रभाग-शोधन रजिस्टर में क्रमानुसार रखा जाता है। इसके लिए 'कार्ड अनुक्रमणिका' (Card Indexing) का प्रयोग किया जाता है जिससे सौदों के हवाले की जानकारी सुगमता से की जा सकती है और आवश्यकता पड़ने पर तथा स्मरण-पत्र लिखते समय अलग-अलग ग्राहकों का हिसाब-किताब सुविधा के साथ देखा जा सकता है।

उस स्थिति में जब क्रेता वस्तु का पूर्ण शोधन नहीं कर सकता तो विक्रेता अधिक से अधिक न चुकाये गये मूल्य के बराबर की वस्तु को ही प्राप्त कर सकता है और क्रेता अपने भाग को अपने अधिकार में रख सकता है; (जिसका मूल्य उसने चुका दिया हो)।

प्रभाग शोधन के गुण
(Requisites of Instalment Payment)

(१) इस पद्धति के अनुसार ग्राहक अर्थ संकट में मुक्त हो जाता है, जैसे यदि कोई व्यक्ति इस प्रणाली के अनुसार मकान बनवाना या खरीदना हो तो आसानी से खरीद सकता है।

(२) इस पद्धति के अनुसार विक्रेता क्रेता को वे समस्त सुविधाएं देता है, जो थोक व्यापारी फुटकर व्यापारियों को देता है। वह ग्राहकों को उस समय जबकि उनके पास यथेष्ट धन नहीं होता, माल को देकर उनकी सहायता करता है।

(३) इसमें व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। क्योंकि छोटी आय वाले लोग भी सुगमतापूर्वक अधिक मूल्य वाले आवश्यक माल को खरीद सकते हैं और वह धीरे-धीरे कमा कर मूल्य का शोधन कर सकता है।

(४) इसके अतिरिक्त उपयोगी वस्तुओं को अपने किसी उत्पादन आदि के लिये भी खरीदने की सुविधा रहती है, क्योंकि ग्राहक उस माल से ही कमा कर वस्तु का मूल्य सुगमता से चुका सकता है।

(५) इसके अनुसार प्रथम किस्त को देकर ही माल का स्वामित्व प्राप्त हो जाता है और आवश्यकता पड़ने पर वह उस माल को बिना मूल्य का पूर्ण भुगतान किये ही सुविधा के साथ बेच सकता।

(६) क्रेता से उस माल को खरीदने वाले व्यक्ति के भी उस माल के प्रति वही अधिकार हो जाते हैं, जो मूल क्रेता के थे।

(७) क्रय व क्रय के समान मूल्य के अन्तिम शोधन तक माल पर विक्रेता का अधिकार न रहने से क्रेता को बहुत बड़ी सुविधा हो जाती है।

नोट—इनके अलावा क्रय-विक्रय के समस्त लाभ भी इस पद्धति में मिल जाते हैं।

प्रभाग भुगतान प्रणाली के दोष
(Disadvantages of Instalment Method)

(१) मूल्य की किश्त चुकाये जाने की अवस्था में क्रेता माल को बेच या, गिरवी रख सकता है, जिसके कारण वह वस्तु का पूर्ण रूप से उपयोग नहीं कर पाता। ऐसी दशा में उसको वस्तु के पूर्ण उपयोग का अवसर नहीं मिलता।

(२) मन्दी होने पर इन सौदों में क्रेता को बहुत बड़ा नुकसान होता है, क्योंकि उस समय वस्तु का मूल्य अनुबन्ध के मूल्य से बहुत कम हो जाता है किन्तु क्रेता को अनुबन्ध का मूल्य ही चुकाना पड़ता है, जिससे उसको आर्थिक कठिनाई होती है।

(३) तेजी आने पर वस्तु का मूल्य प्रायः वही हो जाता है, जिस पर क्रेता ने माल को बेचा है। इस प्रकार पूँजी रोकने पर भी उसके ब्याज तथा अन्य व्यापारिक लाभ अधिक नहीं मिलते।

(४) इसमें ऋण के डूब जाने की अधिक सम्भावना होती है, क्योंकि माल के बिकने ही क्रेता का माल पर पूर्ण स्वामित्व हो जाता है और उसके दिवालिया हो जाने की स्थिति में विक्रेता को न तो माल का स्वामित्व ही प्राप्त हो सकता, और न मूल्य ही मिल सकता।

(५) क्रेता में इससे मितव्ययता की भावना को भी अधिक प्रोत्साहन नहीं मिलता, क्योंकि वह समझता है कि किश्त को न चुकाने की अवस्था में वह माल को बेचकर भी चुका सकता है। इसलिये यदि बच सके तभी वह रुपयों को बचाता है।

(६) यह पद्धति उन वस्तुओं के लिये उपयोगी नहीं होती जिनका उपभोग माल का मूल्य चुकाने के पहले ही हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यही कहा जा सकता है कि पद्धति की सफलता की परीक्षा वस्तु की प्रकृति तथा गुण पर निर्भर रहती है। यदि वस्तु आकर्षक होगी तथा स्थायी होगी तो उसका व्यापार अच्छा और विपरीत दशा में उतना अच्छा नहीं हो सकेगा।

उपभोक्ता सहकारी भंडार
(Consumer's Co-operative Stores)

जिस पद्धति के अनुसार उपभोक्ता सहकारी समितियों में संगठित होकर थोक व्यापारियों तथा फुटकर विक्रेताओं से अपने उपभोग की वस्तुएँ न खरीद कर सीधे उत्पादक से ही खरीदते हैं, उसको "उपभोक्ता सहकारी भंडार" कहते हैं। उपभोक्ता

सहकारी भंडारों में उपभोक्ता अपने सदस्यों की आवश्यक वस्तुओं को मँगवा करके उनको बाजार से सस्ते दामों पर माल देते हैं। यह पद्धति मध्यस्थों के उन्मूलन के सिद्धान्त का प्रतिफल है। सहकारियों को उनकी आवश्यकता की वस्तुएँ उत्पादन मूल्य तथा उस पर होने वाले व्यय के मूल्य को जोड़कर प्राप्त होती हैं। जो कुछ लाभ होता है वह लाभ सदस्यों के बीच बाँट लिया जाता है। इस प्रकार सदस्य अपनी खरीदी हुई वस्तु पर स्वय लाभ कमाते हैं। इसका सारा प्रबन्ध उपभोक्ता द्वारा चुनी हुई कार्यकारिणी के अधीन होता है जिसको कि निश्चित समय पर उसका लेखा तथा चिट्ठा तैयार करके अपने सदस्यों के सम्मुख प्रस्तुत करना पड़ता है और वहीं पर लाभ के वितरण की घोषणा की जाती है। सदस्यों के सामने प्रस्तुत किये जाने के पूर्व सारा हिसाब किताब भंडार के अंकेक्षक द्वारा निरीक्षण कर लिया जाता है और उसकी वृत्ति भी उसके साथ होती है।

उपभोक्ता सहकारी आन्दोलन सर्वप्रथम जर्मनी मे रोशडेल नामक स्थान मे प्रारम्भ हुआ। वहाँ हर इस आन्दोलन को मध्यम श्रेणी वाले जुलाहों ने प्रारम्भ किया और अपने धैर्य, साहस तथा मितव्ययता द्वारा उस आन्दोलन को आज की सीमा तक पहुँचा दिया। भारतवर्ष मे इस प्रकार के भंडार कितने ही स्थानों पर खोल दिये गये थे किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध तक इनमे किसी प्रकार की विशेष उन्नति नही हुई। द्वितीय युद्ध के प्रारम्भ मे इन भंडारो ने मद्रास मे विशेष उन्नति की और आज वहाँ पर लगभग ५०० भंडार स्थापित किये जा चुके है। देश के अन्य भागों मे भी इस प्रकार के भंडार बहुत बड़ी संख्या मे खोले जा रहे हैं और उनके उज्ज्वल भविष्य की आशा स्पष्ट दिखाई देती है। युद्धकालीन 'वस्तु-नियन्त्रण' ने सहकारी पद्धति को विशेष प्रोत्साहन दिया, और सुदूर गाँवों मे भी ऐसे भंडार खोले गये। अन्य देशों के भाँति भारतवर्ष मे ये भंडार केवल उपभोग की वस्तुओं तक ही सीमित नहीं हैं, अपितु इनमे से कितने निर्माण कार्यों मे भी लग गये हैं। इनके इस उत्साह के कारण धीरे-धीरे थोक तथा फुटकर विक्रेताओं का महत्व कम होता चला जा रहा है।

लाभ (Advantages)—सहकारी भंडार द्वारा उपभोक्ताओं को निम्नलिखित सुविधाएँ प्राप्त होती हैं—

(१) वस्तुएँ बाजार से सस्ते मूल्य पर मिलती हैं।

(२) उसमें वस्तुएँ अधिकतर विश्वसनीय होती हैं और उपभोक्ताओं को अच्छी से अच्छी वस्तु के दिये जाने का प्रयत्न किया जाता है।

(३) भंडार पर सदस्य उपभोक्ताओं का पूर्ण नियन्त्रण रहता है, और वे अपनी इच्छानुसार माल मँगवा सकते हैं।

(४) इससे उन्हें लाभ प्राप्त होने के कारण लोग इसके कार्य तथा प्रबन्ध मे विशेष रुचि रखने लगते है।

(५) सहकारी भंडारो ने लोगों को मितव्ययी बनाने मे बहुत बड़ा योग दिया है, जिससे लोग इन भंडारो में अधिक से अधिक पूँजी लगाने में तत्पर रहते है।

(६) उपभोक्ताओं के लिये बुद्धिमानी से खरीदने तथा पारिवारिक बजट (आय व्ययक) बनाने में यह बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं।

(७) इन्होने लोगों में संगठन तथा आत्महित की भावना को विशेष रूप से जाग्रत किया है।

(८) इनके विकास से एकाधिकार तथा मध्यस्थों के लाभो पर बहुत बड़ी सीमा तक रोक लग गई है।

(९) इनके द्वारा उपभोक्ताओं को आर्थिक कठिनाई की अवस्था में सहकारी समितियों तथा बैंको से ऋण लेना सुगम हो गया है।

भारतवर्ष में उपभोक्ता सहकारिता में शिथिलता
(Slow Progress of Consumer s Co-operatives in India)

सहकारी भंडार आन्दोलन अन्य देशों की अपेक्षा भारत मे अधिक सफल नही रहा है। क्योंकि उपभोक्ताओं ने न तो इसके मूल सिद्धान्तो को समझने का प्रयत्न किया है, और न उसका सचालन ही भली प्रकार से कर सके है। इसका फल यह हुआ कि स्थानीय फुटकर व्यापारियों से इसकी प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ हो गई, जिसके कारण यह आन्दोलन असफल हो गया। भारतवर्ष में ही नही, अपितु संसार भर में सहकारी भंडार आन्दोलन निम्नलिखित कारणों से सफलता प्राप्त नहीं कर सका—

(१) भंडार के कर्मचारियों मे व्यापारिक योग्यता तथा अनुभव की कमी।

(२) सदस्यों की व्यापार के प्रति उदासीनता।

(३) उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं का पूर्ण अध्ययन।

(४) सीमित भाग की वस्तुओं को अधिक मात्रा में मँगवा कर वस्तुओं को अधिक उधार बेचना।

(५) फुटकर व्यापारियों के साथ प्रतिस्पर्द्धा।

(६) दोष-पूर्ण हिसाब-किताब रखने की पद्धति।

(७) कर्मचारियो की ईमानदारी में कमी।

(८) भंडार पर ऋण हो जाने के कारण।

(९) यथेष्ट पूँजी के अभाव के कारण।

भारतवर्ष में उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त भंडारों के पास पर्याप्त स्थान भी नही होता जिसमें वे अपने भंडार की स्थापना कर सकें। गाँवों मे इस प्रकार के भंडार प्रायः लोगो के द्वारा स्थापित किये गये हैं, जिससे उनको विकास पाने का अवसर नही मिलता। इसके साथ इसके कर्मचारी अवैतनिक कार्य करते हैं, जिससे वे भंडार के कार्य मे न तो अपना पूरा समय देते हैं और न उसमे विशेष रुचि ही रखते

है। अवैतनिक होने से कभी-कभी इन लोगों में बेईमानी की भावना भी आ जाती है, जिससे वे भंडार के व्यापार में गड़बड़ करते है।

उपर्युक्त कठिनाइयाँ इतनी गभीर नही है कि उनका हल न निकाला जा सके। यदि सहकारी भंडार रोशडेल के सिद्धान्त पर सही रूप में चलाये जायें, उनकी अच्छी सदस्यता हो, केन्द्रीय सहकारी बैंकों द्वारा उनको समय-समय पर आर्थिक सहायता मिलती रहे तथा उनका सगठन इस प्रकार से किया जाय कि प्रत्येक भंडार एक दूसरे से सम्बन्धित रह सकें, तो आन्दोलन को निश्चित रूप से सफलता प्राप्त हो सकती है। सहकारी समितियों के समान ही सहकारी भंडारो का संगठन भी स्थानीय, क्षेत्रीय तथा प्रान्तीय होना चाहिये। सहकारी भंडारों को गाँवों में ही सीमित न रख कर शहरों में भी बढ़ाया जाना चाहिये।

विक्रय-नीति
(Sale Policy)

व्यापार का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना है। लाभ उसी अवस्था में मिल सकता है जब कि उस दूकान पर ग्राहक अधिक से अधिक संख्या में आयें और पूर्ण रूप से सन्तुष्ट होकर माल खरीदें तथा अन्य लोग भी उसको ओर आकर्षित हों। इस प्रकार की सफलता तब ही प्राप्त हो सकती है जब विक्रय प्रबन्धक माल की बिक्री का उचित सगठन करे तथा उस पर अपना पूरा-पूरा नियंत्रण रखें। प्रबन्धक के द्वारा यह कार्य तब ही सम्भव हो सकता है जब वह लोगों की मनोवैज्ञानिक रुचि को जाने, उसका मस्तिष्क विश्लेषणात्मक हो, वह विक्रय आँकड़े व परिस्थितियों का सही-सही विवेचन कर सके, निर्णय लेकर उन्हें कार्यान्वित कर सके तथा उसमें मित्रता बढ़ाने की क्षमता हो। ऐसे प्रबन्धक के द्वारा बनाई गई योजना में व्यापार को लाभ होना निश्चित है।

यदि व्यापार में निश्चित ही सफलता प्राप्त करनी हो तो विक्रय सगठन इस प्रकार का होना चाहिये कि व्यापार में विक्रेताओं तथा विक्रय प्रबन्ध का आपस में योग हो। विक्रेताओं को निश्चित काम बाँट दिया जाय और जितना काम उन्हें प्रति दिन करना है उसको वे उसी दिन पूरा कर सकें। विक्रेताओं में बिक्री करने के लिये आपस में प्रतिद्वन्द्विता हो। प्रबन्धक के पास प्रत्येक कर्मचारी सुविधा के साथ जा सके, किन्तु काम के समय पर उससे विशेष वार्तालाप न हो, अन्य व्यापारों से सीधी प्रतिद्वन्द्विता न हो जिससे उनके कार्य में अनावश्यक बाधा पड़े। जो कुछ भी कार्य किया जाय उसमें स्पष्टता तथा तत्परता रहे। अलग-अलग विभागों के बीच सुन्दर सामंजस्य रहे। बाजार का सही-सही अध्ययन किया जाय, बिक्री के भविष्य की सही कल्पना की जाय तथा उसके अनुसार योजनाएँ बनाई जायें, जिससे उन

परिस्थितियों के अनुकूल बिक्री की शैली बनाई जा सके। इसके साथ-साथ विज्ञापन के उपयुक्त साधनों को अपनाया जाना आवश्यक है, जिसमें व्यापार का अच्छा प्रचार हो सके। अन्त में विक्रय विभाग के आय और व्यय का बजट बनाया जाय और उस बजट के अनुसार ही कार्य किया जाय। यदि किसी व्यापार की विक्रय योजना इस प्रकार से बनाई जायगी तो इसमें सन्देह नहीं कि उसको व्यापारिक सफलता निश्चित रूप से मिलेगी।

विभागीय भंडार तथा सीने की मशीन की निर्माणशाला की विक्रय नीति ऊपर बताई गई योजना के अनुसार ही होनी चाहिये। विभागीय भंडार में बिक्री का संचालन करने के लिए एक बिक्री प्रबन्धक की नियुक्ति करनी चाहिये और उसको विक्रय आदेश में उपस्थित किसी समस्या तथा बाधा का हल करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये और अर्थव्यवस्था तथा वस्तु निर्माण में उसकी सम्मति अवश्य ली जानी चाहिये। विक्रय प्रबन्धक की सहायता के लिये एक बाजार अनुसन्धान समिति होनी चाहिये जिसका कार्य उन परिस्थितियों की खोज करना है, जिसमें बाजार में वस्तु की माँग बढ़ाई जा सके या उन कारणों का पता लगाना है जिससे उस वस्तु की माँग में विशेष वृद्धि नहीं हो रही है। समिति का कार्य बाजार की हर प्रकार की स्थिति का सही विवेचन करके उसका विधिवत् लेखा रखना चाहिये तथा माँग प्रतिद्वन्दिता, नये प्रयोग, विज्ञापन-व्यवस्था आदि के समुचित अंकों को तैयार करके व्यापार की प्रगति के चार्ट बनाने चाहिये, जिससे एक ही दृष्टि में व्यापार की व्यवस्था की जानकारी हो सके। इस प्रकार के चार्ट अलग अलग विभागों के लिये अलग-अलग बनाये जाने चाहियें जिससे प्रबन्धक हर विभाग की प्रगति का अनुमान लगा सके। समिति को समय समय पर अपनी वृत्त प्रस्तुत करनी चाहिये और उसमें अपने सुझाव भी देने चाहिये जिनका प्रबन्धक अध्ययन करके अपनी विक्रय नीति को निर्धारित कर सके। यदि व्यापार में या किसी विभाग में हानि हो रही हो तो समिति को तुरन्त उसके कारणों की खोज करके प्रबन्धक को उसकी सूचना देनी चाहिये। इससे प्रबन्धक शीघ्र ही उस समस्या का हल कर सकेगा, जिसके कारण हानि हो रही है। प्रबन्धक के किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचने के लिये समिति की वृत्त अत्यन्त आवश्यक है। बाजार की खोज यह भी बताती है कि किस स्थान में किस प्रकार की वस्तु की माँग अधिक होगी और किसी वस्तु की माँग कब अधिक हो सकती है। उदाहरण के लिये सिलाई की मशीन की माँग गाँवों की अपेक्षा शहरों में अधिक होगी, क्योंकि वहाँ पर लोग घरों में कभी अपने कपड़ों को स्वयं सिलते हैं अथवा वहाँ पर बहुत अधिक दर्जी कार्य करते हैं। किन्तु गाँवों में लोग हाथ में ही सिलकर अपना काम चला लेते हैं। दूसरा उदाहरण फोटोग्राफी का लीजिये। भ्रमण के स्थानों में प्रायः इनकी माँग अधिक होती है और वह उस समय और भी अधिक बढ़ जाती है जब आवश्यक होता

है और लोग पर्यटन को निकलते हैं। इन सब बातों का ध्यान रखकर ही विक्रय नीति का निर्धारण किया जाना चाहिये।

कभी-कभी प्रबन्धक की बहुत अच्छी योजना भी असफल रह जाती है। कारण यह होता है कि जो व्यक्ति उसको कार्यान्वित करते हैं उनमें उसके लिए रुचि उत्पन्न नहीं की जाती और वे उसका पालन आधे दिल से करते हैं। इसलिए व्यापार में इस प्रकार के सहायक प्रबन्धकों, विभागीय व्यवस्थापकों तथा विक्रेताओं की नियुक्ति की जानी चाहिये जो विक्रय प्रबन्धक के साथ मिलकर कार्य सकें तथा उसकी योजना को सफल बनाने में योग दे सकें। इसके साथ-साथ प्रत्येक विभाग को यद्यपि अपने कार्य में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होना चाहिये, किन्तु उनका उद्देश्य एक होने के कारण उनका आपस में पूर्ण सहयोग होना चाहिये, किन्तु इस प्रकार के सहयोग से उनके कार्य में अनिश्चितता नहीं होनी चाहिये। विक्रय प्रबन्धक को हमेशा उनकी सहायता के लिये तत्पर रहना चाहिये और देखना चाहिये कि प्रत्येक विभाग की विक्रय नीति उसके नियन्त्रण में है।

विभागों का ठीक प्रबन्ध हो जाने पर दूसरा महत्वपूर्ण कार्य व्यापार के क्षेत्रों का विभाजन है। विभागीय भंडार में तो इसका विभाजन अलग-अलग विक्रेताओं की योग्यता तथा व्यवहार पर निर्भर रहेगा। किन्तु उत्पादक (जैसे सिलने की मशीन के उत्पादक) का क्षेत्र किसी निश्चित स्थान तक ही सीमित न रहकर वह देश, या संसार-व्यापी हो सकता है। इस प्रकार इसमें विक्री का क्षेत्र कोई मुख्य नगर या उसका भाग, कोई जिला या उसका भाग हो सकता है। यह विभाजन हमेशा इस प्रकार का होना चाहिये कि विक्रेता कार्य को सफलता पूर्वक कर सके। इस प्रकार विभाजन भौगोलिक आधार पर या बाजार की क्षमता के आधार पर होना चाहिये। बाजार की क्षमता का अभिप्राय यह है कि उस क्षेत्र की किस प्रकार की आबादी है और वहाँ पर कितने माल की खपत हो सकती है। इसके विभाजन के साथ-साथ यह जानना भी आवश्यक है कि माल का वितरण किस प्रकार किया जाय, किन स्थानों पर अधिक मशीनें भेजी जायें, किन स्थानों में कम तथा किन स्थानों में अधिक विक्रेता नियुक्त किये जायें और कहाँ पर सीधा उपभोक्ताओं से ही सम्बन्ध स्थापित किया जाय।

इस प्रकार के विभाजन के पश्चात् उस व्यापार में होने वाली प्रतिद्वन्द्विता की ओर भी विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। प्रबन्धक को हमेशा इस प्रकार का प्रयत्न करना चाहिए कि उसका व्यापार सामान्य रूप से किसी से प्रत्यक्ष प्रतिद्वन्द्विता में न आए, क्योंकि इससे व्यापार की प्रतिष्ठा पर बहुत बड़ा आघात होता है। व्यापार का जो कुछ भी विज्ञापन किया जाय उसमें केवल अपनी वस्तु की विशेषता ही बताई जाय और दूसरे की वस्तु का किसी भी प्रकार समावेश नहीं किया जाय। क्योंकि

यदि आप दूसरे की वस्तु का नाम अपने विज्ञापन मे दे रहे हो तो समझ लो आप उसका प्रचार स्वय कर रहे है। इसलिये अत्यन्त उपयुक्त माधनो के द्वारा विज्ञापन का अनुकूल प्रबन्ध किया जाना चाहिये।

जब माल का अच्छा विज्ञापन हो जाय और उसकी बिक्री भी बढने लगे तो उसके पश्चात् दूसरा प्रश्न बिक्री की आन्तरिक व्यवस्था का आता है। यद्यपि विक्रय विभाग से लाभ प्राप्त होता है, किन्तु उसके पाने के लिये व्यय की भी आवश्यकता होती है, जैसे—*विक्रेताओं का वेतन, कमीशन, मजदूरी, अतिरिक्त, व्यय, भ्रमण व्यय* आदि। विभागीय भडार अथवा बहुविधि विक्रयशालाओं मे इसकी समुचित व्यवस्था होनी चाहिये। विक्रय प्रबन्धको को बिक्री के समस्त व्यय अपने नियंत्रण मे रखने चाहिये और उनका हिसाब ठीक-ठीक रखा जाना चाहिये, जिससे प्रति इकाई वस्तु का व्यय आसानी से मालूम हो सके। जब व्यापारी अपने व्यापार के विकास के लिये संघर्ष कर रहा हो या उस वस्तु के लिये बाजार मे अनिश्चित माँग हो तो यह निश्चित है कि विक्रय व्यय अपेक्षाकृत अधिक होगा। ऐसी अवस्था मे व्यय की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। यदि व्यय अधिक होगे तो व्यापार का लाभ कम हो *जायगा। व्यय पर नियन्त्रण तब ही रखा जा सकेगा जब व्यापार मे व्यय आदि* का बजट पूर्व ही बना दिया जाय।

बजट को बनाते समय विक्रय प्रबन्धक को सारे साल भर के समुचित व्यय का विक्रय व्ययो के आधार पर बजट बना लेना चाहिये। उसके हर शीर्षक मे उचित राशि मे धन जमा किया जाना चाहिये। किसी शीर्षक मे "अतिरिक्त" (Extra) भी रखना चाहिये, जिससे समय आने पर उसमे से रुपया निकाल कर खर्च किया जा सके।

विक्रय प्रबन्धक का बजट सस्था के साधारण बजट के साथ मिला दिया जाना चाहिये।

बजट बनाने के पश्चात् उसमे एक सप्ताह के लिये निश्चित किया गया व्यय विक्रेता के आधीन होना चाहिये और विक्रेता को उसमे से ही खर्च करने का अधिकार होना चाहिये। यह खर्च उचित राशि मे किया जाना चाहिये तथा अन्य साधारण व्ययो के लिये कुछ राशि बजट मे रख दी जानी चाहिये।

इस प्रकार की व्यवस्था किये जाने के पश्चात् भी यह आवश्यक है कि हर प्रकार से हर विभाग पर पूरा-पूरा नियन्त्रण रखा जाय जिससे कि बिक्री की समुचित व्यवस्था लाभ पर की जा सके।

क्रय-नीति

(Purchase Policy)

बडे-बडे व्यापार गृहो मे वस्तु क्रय तथा विक्रय की योजनाओं को समुचित

ढंग से बनाना आवश्यक है। क्यों कि व्यापार को आर्थिक नीति संतुलित क्रय-विक्रय करने पर ही निर्भर करती है। वस्तु का क्रय वस्तु की माँग के अनुपात में होना चाहिये जिससे न तो माल का अधिक संग्रह हो, जिससे पूँजी बेकार ही फँसी रहे और न माल का इतना कम संग्रह हो जिसके कारण समय के अनुसार माँग की पूर्ति नहीं की जा सके। क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में व्यापारी के लाभ में कमी आती है, किन्तु क्रय-विक्रय की नीति बहुत बड़ी सीमा तक व्यापार की आर्थिक अवस्था पर निर्भर करती है यह हो सकता है कि व्यापार में किसी एक समय में यथेष्ट धन हो, किन्तु उस धन का इस प्रकार से व्यय करना चाहिये कि भविष्य में धन का अभाव न हो और व्यापारी की प्रगति में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। कभी-कभी व्यापारी यह सोच कर कि व्यापार में काफी धन है, बहुत बड़ी मात्रा में माल खरीद लेते हैं। किन्तु लोगों का चाव बदलने के कारण या अधिक सुन्दर उत्पादन के कारण उसकी माँग घट जाती है और व्यापारी को उस माल को निकलने में बहुत भारी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में व्यापारी न तो नए माल को खरीद सकता है और न पुराने माल को ही निकाल सकता है जिसके फलस्वरूप उसको हानि की सम्भावना बनी रहती है। यदि सही रूप में देखा जाय तो व्यापार की क्रय नीति उसकी विक्रय तथा आर्थिक नीति पर अवलम्बित है।

व्यापारी को माल खरीदने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि जिस बाजार में वह व्यापार कर रहा है, उस बाजार की स्थिति क्या है तथा वहाँ पर क्रेताओं का किस प्रकार का चाव है। यदि वह स्वयं निर्माणकर्ता हो तो उसको यह देखना चाहिये कि जिस वस्तु का वह निर्माणकर्ता है उसके लिये आवश्यक कच्चा माल कहाँ से अच्छा व सस्ता मिल सकता है तथा उसके लिये किस अनुपात में बचत की जा सकती है। माल को खरीदते समय व्यापारी को क्रय तथा विक्रय बाजार का पूर्ण रूप से अध्ययन कर लेना चाहिये और उसके ही अनुसार अपनी क्रय नीति को बनाना चाहिये। जिस बाजार में वह माल खरीदता हो उसको यह भी देख लेना चाहिये कि बाजार में परिकल्पनायकों का कितना प्रभाव है तथा उनकी क्रियाओं से वस्तु के भाव पर किस प्रकार का प्रभाव पड़ता है। इसके साथ-साथ व्यापारी को यह भी ध्यान रखना पड़ेगा कि उन वस्तुओं की क्या उपयोगिता होगी तथा उसको किस परिमाण में खरीदा जायगा। इस प्रकार की नीति के द्वारा व्यापारी को सम्भावित हानि की आशंका नहीं रहती और वह हमेशा ग्राहकों की माँग की पूर्ति करने में सफल रहता है।

जहाँ तक उसकी आर्थिक नीति का प्रश्न है, व्यापारी को पहले से ही एक आर्थिक योजना बना लेनी चाहिये और उसके ही अनुसार माल को क्रय करना चाहिये। इस योजना के अन्तर्गत व्यापारी को यह कार्य अपने गोदाम तथा क्रय विभाग

के सुपुर्द कर देना चाहिये। क्रय विभाग अपनी आर्थिक योजना के अनुसार तथा स्टाक मे माल के परिमाण को देखकर तथा अपने व्यापार के पिछले अनुभवों के द्वारा माल को खरीदेगा। व्यापार के अनुभव के अनुसार क्रय विभाग तथा गोदाम यह बता सकेगा कि किन वस्तुओं की किस समय अधिक माँग होती है तथा औसतन उनके कितने परिमाण की आवश्यकता पड़ती है जिसके अनुसार समय पर उसको खरीदा जा सके। व्यापारी को अपनी सीमित पूँजी के अनुसार यह देखना चाहिये कि माल को खरीदने मे कितना उसका व्यय होगा तथा उसी माल की बदली वाले माल मे कितना? उसको यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि दोनो का बाजार किस सीमा तक है तथा बदलो के लिये लोगों मे कितना चाव बढ रहा है।

जिस प्रकार 'विक्रय' के लिये पूर्व योजना बनाना आवश्यक है, उसी प्रकार 'क्रय' के लिये भी योजना बनाई जानी चाहिये।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 What is a retail business? Give the services those are rendered by a retail trader. How he can make his business effective? Explain.

2 Why is a large-scale retail organisation move efficient than a small-scale one?

3 Explain the meaning of a departmental store. What are its advantages and disadvantages?

4 How would you organize a departmental store? Discuss its prospects in India. Or, How are departmental stores organized? Is there enough scope for such stores in India?

5 *Explain multiple shop What causes have led to the growth* of the multiple shop system in the retail business? How is it that this system has not so far developed much in India?

6 Distinguish between a departmental store and a multiple shop. Name any such departmental stores and multiple shops existing in India?

7 Write a short note on the organisation of multiple shop?

8 Explain how mail-order business is conducted and organised? Under what circumstances is purchasing by post is advantageous to the buyers?

9 What are the chief characteristics of mail-order business? Can it be a successful agency for retailing agricultural goods in India?

10 *Write short notes on—One price shop, house* to house selling, combination store.

11 What are the special features of hire-purchase system ? To what trade is it specially adopted ? Give the advantages and disadvantages of hire-purchasing trading from the point of view of (a) buyers and (b) sellers ?

12 What are the various difficulties in the way of the aboption of the hire-purchase system in India ?

13 Explain clearly the instalment method of selling and bring out its comparative merits and demerits, keeping hire-purchasing in mind.

14 *Write a short note on the consumers co-operative stores* and discuss why they have not made a good progress in India ?

15 "Carefully thought out selling policies lead to outstanding success" Comment upon this statement, suggesting in what connection the selling policies should be fixed by (a) departmental store and (b) a manufacturer of sewing machine.

16 "The policies laid down, on the footing of which purchases are to be made, must be closely related to she policy of selling as well as the financial policy of a large business concern" Comment on this statement ?

संयोग आन्दोलन

(Combination Movement)

संयोग का विकास
(Growth of Combination)

फीजियोक्रैट्स तथा एडम स्मिथ की अहस्तक्षेप नीति (Laissez Faire) से अठारहवीं शताब्दी मे औद्योगिक क्रान्ति को विशेष प्रोत्साहन मिला और १६वीं शताब्दी के मध्य तक समार मे सर्वत्र औद्योगिक प्रतियोगिता के कारण वस्तु उत्पादन तथा व्यापार मे पर्याप्त वृद्धि हुई। लोग अहस्तक्षेप नीति के सिद्धान्त पर मुक्त रूप से हर प्रकार के व्यापार मे घुसने लगे और पूँजी का स्रोत धीरे-धीरे बढ़ता चला गया। व्यापार के आकार बड़े तथा उत्पादकों और व्यापारियों की आपस की प्रतिस्पर्धा भी तीव्र होती चली गई। सार्वजनिक कम्पनियों के संगठन ने भी वाणिज्य तथा उद्योग के विस्तार को बढ़ाने में बहुत बड़ी सहायता की। इस विस्तार की वृद्धि के कारण संगठन का तान्त्रिक नियन्त्रण करना आवश्यक हो गया (क्योंकि अब व्यापार केवल राष्ट्रीय ही नहीं रहा था)। इन संस्थाओं की पूँजी तथा कुशल प्रबन्ध व्यवस्था राष्ट्रीय ही नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय ढंग पर की जाने आवश्यक हो गई। अलग-अलग देशों मे वहाँ की परिस्थितियों के अनुसार उद्योगों की उन्नति हुई। राष्ट्रीय उद्योगों ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ कर दी, जिसके कारण उनको पुनः निजी संयोग की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसके कारण बहुत बड़ी सीमा तक उत्पादन तथा व्यापार का सन्तुलन बिगड़ने लगा। अतः माल्थस ने इन संगठनों की भर्त्सना की और कहा कि इनके द्वारा समार का उत्पादन-सन्तुलन ही नजर नहीं आवेगा अपितु सारे व्यापार का चक्रिक (Cyclic) ढाँचा ही समाप्त हो जावेगा, और हुआ भी ऐसा ही। अत्यधिक उत्पादन से उत्पादकों को अपनी वस्तु की खपत के लिये उत्पादन की वृद्धि मे अधिक प्रयोग करने मे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, जिससे उनको यह अनुभव हुआ कि वे प्रतियोगिता मे तभी टिक सकेंगे, जबकि वे सामूहिक रूप मे इसका सामना करे। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा मे राष्ट्रीय संयोगों का जन्म हुआ। यहाँ तक कि १६वीं शताब्दी के मध्य तक लोगों ने संयोग के महत्व को पूर्ण रूप से जान लिया और प्रतियोगिता को समाप्त करने तथा एकाधिकार प्राप्त करने के लिए विभिन्न देशों मे भिन्न-भिन्न प्रकार की योजनाएँ

बनाई जाने लगी। इन योजनाओं मे समय-समय पर सुधार किये गये, किन्तु १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ही प्रतिस्पर्धा को समाप्त करने का आखिरी कदम उठाया जा सका और तभी से संयोगों का सही रूप से जन्म माना जा सकता है। इस प्रकार इन संयोगों के द्वारा मूल्य नियन्त्रण, बाजार, लाभ, क्रय विक्रय आदि पर नियन्त्रण किया जाने लगा। अतः संयोगों को आर्थिक आवश्यकताओं की ही उत्पत्ति समझा जाना चाहिए।

व्यापारिक संयोग एवं एकाधिकार उतने ही पुराने है, जितना उद्योग। यूरोप मे उसके प्रारम्भिक औद्योगिक तथा आर्थिक विकास के दिनों मे उन पर नियन्त्रण करना आधुनिक संयोग का एक रूप था और लोगो ने अपने अनुभव द्वारा यह जान लिया था कि उद्योग तथा व्यापार को उसकी सामान्य अवस्था पर बढ़ने के लिये छोड़ देना व्यापार तथा राष्ट्र के लिये अहितकर था। इसके ही फलस्वरूप यूरोपीय देशों मे कामगार संघ व व्यापारिक संगठन पार्षद आदि का निर्माण हुआ। इंगलैंड, जिसका कि विदेशी व्यापार उन्नत था तथा जिसको औपनिवेशिक सुविधाये प्राप्त थी, अधिक उत्पादन एवं संयोग की ओर अधिक ध्यान नहीं दे रहा था, किन्तु जर्मनी इस प्रकार के संयोगों को विशेष महत्व दे रहा था और वहाँ पर पार्षद को स्थापना बड़ी तेजी से हुई। अमेरिका मे भी प्रन्यास (Trust) बहुत शीघ्रता से बढे। यह आन्दोलन धीरे-धीरे अपना जोर पकड़ता रहा और मिस्र मे भी इस प्रकार के संयोगों को बढ़ावा मिला। धीरे-धीरे समस्त संसार मे संयोग एवं व्यापार-प्रतिबन्धन को सहयोग मिला और संसार ने फीजियोक्रेट्स के व्यक्तिवादी सिद्धान्त को मूलरूप से भुला कर संयोग के कितने ही प्रकारों को अपनाया, जैसे गोष्ठियाँ (Conventions), पूँजी संघ (Rings), कोण (Corners), उत्पादक संघ (Cartels), व्यापारी संघ (Syndicates), संयोग (Combinations) एवं प्रन्यास (Trust) आदि इनमें मुख्य कहे जाते है। राष्ट्रीय सरकार भी इस ओर उदासीन नहीं रही। उसने भी संयोग आन्दोलन मे पूर्ण रूप से रुचि ली, जैसे कि ब्रिटिश सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय लोह संघ के साथ समझौता किया। अमेरिका मे संघो के विरुद्ध कानून बनाये गये तथा एकाधिकार की सुरक्षा आदि की ओर सरकारों का विशेष ध्यान आकर्षित हुआ और उन्होंने हर प्रकार से औद्योगिक तथा व्यापारिक क्रियाओं मे हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। ब्रिटेन मे खान उद्योगों पर नियन्त्रण करने के लिये अनेकानेक नियम बनाये गये, जिससे उद्योगों की दुर्व्यवस्था न हो और उन पर पूर्ण रूप से नियन्त्रण रखा जा सके। इसी प्रकार अमेरिका में भी खान साझेदारों पर सरकारी नियन्त्रण किया गया। धीरे धीरे सरकारी नियन्त्रण व्यापार के सब क्षेत्रों मे व्यापक रूप से किया जाने लगा और सरकारी प्रोत्साहन के कारण अनेक प्रकार के विक्रय संघ तथा क्रय संघो का निर्माण होने लगा।

हमारे देश में संयोगों का जन्म विशेष रूप से अंग्रेजों की 'प्रबन्ध-अभिकर्ता-पद्धति' के कारण हुआ। एक ही प्रबन्ध-अभिकर्ता के अनेक कम्पनियों के संचालन करने से इन कम्पनियों में संगठन की भावना जागृत हुई और धीरे-धीरे जूट, चीनी, सीमेन्ट, कपड़ा आदि उद्योगों में संयोग पद्धति का जन्म हुआ।

संघों के लाभ
(Advantages

उद्योग तथा व्यापारिक संयोगों के अनेक लाभों को निम्न प्रकार से अंकित किया जा सकता है—

(१) प्रतियोगिता का अन्त (End of Competition)—औद्योगिक व्यक्तिवाद के कारण उद्योग में इस प्रकार की प्रतियोगिता उत्पन्न हुई, जिससे कम पूँजी वाले लोगों को हमेशा हानि की सम्भावना रहती थी। संयोगों के कारण प्रतिस्पर्धा बहुत बड़ी सीमा तक समाप्त हो गई, क्योंकि संयोग सब उद्योगों का नियन्त्रण करके उनकी आपसी प्रतियोगिता को समाप्त कर देता है और उसका व्यापारिक क्षेत्र भी विस्तृत हो जाता है। फलस्वरूप पूँजी लगाने वालों को पूंजी डूबने का भय नहीं रहता।

(२) योग्य व्यक्तियों का प्रवेश (Entry of Able Persons)—अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग प्रकार की योग्यता रहती है और उन सबके मिल जाने के कारण उद्योग की विभिन्न शाखाओं का पूर्ण रूप से विकास हो सकता है तथा वास्तविक योग्यता लाने के लिये अनुभवी व्यक्ति नियुक्त किये जा सकते हैं। इस प्रकार श्रम-विभाजन भी सम्भव हो जाता है।

(३) एकाधिकार की सरलता (Monopoly Possible)—व्यक्तिगत व्यापार में उत्पादन तथा वस्तु-विक्रय में बहुत बड़ी सीमा तक प्रतियोगिता होने के कारण किसी भी बाजार को हस्तगत नहीं किया जा सकता और इसी कारण उत्पादकों तथा व्यापारियों को बहुत कम लाभ हो सकता है। जिस समय एक ही प्रकार के उत्पादक अथवा व्यापारी सम्मिलित रूप से कार्य करने लगते हैं तब उनका बाजारों में सुगमता से एकाधिकार हो जाता है। अत. वे बाजारों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकते है तथा इच्छानुसार मूल्य-निर्धारण भी कर सकते हैं। इसका उदाहरण हमारे देश की 'शुगर सिण्डीकेट' थी।

(४) वस्तु के क्रय में सुविधा (Purchase Facility)—एक ही संयोग में रहने वाली समस्त संस्थाओं की आवश्यकता की पूर्ति के लिये उसका 'केन्द्रीय संगठन' विक्रेताओं से सम्बन्ध स्थापित करके अच्छे-से-अच्छा माल सुविधा के साथ सस्ते दामों पर खरीद सकता है। इससे उनकी सौदा करने की शक्ति बढ़ जाती है तथा वस्तु-क्रय पर नियन्त्रण भी हो सकता है।

(५) विज्ञापन तथा अन्य व्यय में मितव्ययिता (Economy in Advertisement etc)—संयोग के कारण उसमें रहने वाली सब संस्थाओं का सामूहिक विज्ञापन हो जाने से उनको व्यक्तिगत रूप से विज्ञापन करने की आवश्यकता नहीं होती और विज्ञापन व्यय भी आनुपातिक रूप से कम होता है। इसके उदाहरण 'सीमेन्ट सिण्डीकेट लि०', 'इन्डियन शुगर सिण्डीकेट लि०' आदि है। इस प्रकार यातायात, व्यापारिक सम्पर्क आदि मे किये जाने वाले व्यय भी बहुत कम हो जाते हैं।

(६) नियन्त्रित उत्पादन सम्भव (Control on Production Possible)—जिस समय एक ही प्रकार के उद्योग आपस मे मिल कर कार्य करते हैं तो बाजार की स्थिति तथा उत्पादन की सीमा को ध्यान मे रख कर उद्योगपति सम्मिलित रूप से अपने उत्पादन पर किसी प्रकार की रोक लगा सकते है अथवा उसको बन्द कर सकते हैं। इससे उनको यद्यपि सामयिक लाभ नहीं होता, किन्तु संकटकालीन स्थिति मे से वे सुगमतापूर्वक निकल जाते है और अनुकूल स्थिति आने पर पुनः काम को बढा सकते हैं।

(७) अधिक पूँजी की सुगमता (Facility of Large Capital)—यदि समस्त संस्थाये सामूहिक रूप से कार्य करने लगेंगी तो उनका व्यापार या उद्योग बढाने या प्रयोग करने मे जितने धन की आवश्यकता होगी उसको इकट्ठा करने मे किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होगी तथा वे पूँजीगत कार्यों मे अपेक्षाकृत बढ सकेंगे।

(८) अनुभव का लाभ (Advantage of Experience)—संयोग मे रहने वाली संस्थाये आपस मे मिल कर कार्य करती है, जिससे एक दूसरे के अनुभवों का सबको ही लाभ हो सकता है और बडी सीमा तक व्यापारिक गोपनीयता का भी अन्त हो जाता है।

(९) वैदेशिक व्यापार मे सुविधा (Easiness in Foreign Trade)—विदेशी व्यापार मे संयोग का अत्यन्त व्यापक स्थान है। संघ राष्ट्रीय स्तर पर दूसरे राष्ट्र की सरकारों तथा संघों के साथ अपने व्यापारिक सम्बन्धों को सुचारु रूप से ठीक कर सकते है अथवा अपनी सरकार को भी किसी उचित कदम को उठाने के लिये बाध्य कर सकते है। वे देश के आयात-निर्यात पर भी परोक्ष रूप मे नियन्त्रण कर सकते है ताकि व्यापार का सन्तुलन बना रहे।

(१०) सहकारिता की भावना (Spirit of Co-operation)—संयोग के प्रादुर्भाव से उन संस्थाओं मे, जो पहले एक दूसरे को समूल नष्ट कर देने के लिये सोचती थी, 'स्वयं जिओ और दूसरों को जीने दो' की भावना जागृत हो गई है और वे एक-दूसरे को सहायता पहुंचाने तथा अपनी उन्नति के साथ-साथ उनकी उन्नति की

बात भी सोचती है। सहकारिता की इस भावना ने व्यापारिक तथा औद्योगिक उन्नति में एक व्यापक प्रगति की है।

(११) **नया व्यापार सम्भव (New Trade Possible)**—संयोग आन्दोलन ने उन व्यापारों का जन्म भी सम्भव कर दिया जो पहले कुछ व्यक्तियों के द्वारा चलाये जाने कठिन थे। क्योंकि इनमें अधिक पूँजी, जोखिम उठाने की शक्ति, बाजार का विस्तार बढ़ाने की क्षमता, एकाधिकार सुरक्षित रखने की योग्यता आदि होती है।

संयोग आन्दोलन की हानियाँ
(Disadvantges of Combination)

इसमें कोई सन्देह नहीं कि संयोग से व्यापार तथा उद्योग में अनेक लाभ होते हैं, किन्तु इससे यह नहीं मानना चाहिये कि संयोग त्रुटिपूर्ण नहीं है। संयोग के कुछ निम्नलिखित दोष हैं—

(१) **उपभोक्ताओं को हानि (Consumers at Loss)**—प्रतिस्पर्धा के समाप्त हो जाने पर संयोग अपनी वस्तु के मूल्य इस प्रकार निर्धारित करते हैं, जो कभी-कभी उपभोक्ताओं के लिये अत्यन्त हानिकारक हो जाते हैं।

(२) **नियंत्रण की शिथिलता (Sluggish Control)**—संगठन के विशेष बढ़ जाने के कारण उसके समस्त अंगों पर सही प्रकार से नियन्त्रण नहीं किया जा सकता, जिससे उसमें शिथिलता आना स्वाभाविक है।

(३) **एकाधिकार की संभावना (Possibilities of Monopoly)**—संयोग का एक भारी दोष यह है कि समस्त व्यापारी या उद्योगपति आपस में मिल कर एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं। इसके कारण वस्तुओं की प्रगति में तथा उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति में भारी बाधा पड़ती है।

(४) **नये साहस का अभाव (Lack of New Adventure)**—इन संगठनों के बढ़ जाने के कारण यदि कोई दूसरा व्यक्ति उस व्यापार या व्यवसाय में प्रवेश करना चाहे तो वह प्रतियोगिता में सफल नहीं हो सकता। इसलिये नये लोग उस व्यापार व्यापार या व्यवसाय में बड़ा संकोच करते हैं, जिससे आम व्यापार विकसित नहीं हो सकता।

(५) **मतभेद (Differences)**—संयोग के निर्माण में अलग-अलग लोगों के आ जाने से उनमें आपस में मतभेद बढ़ जाता है। इसमें संयोग या संगठन कमजोर हो जाता है और कोई भी कार्य सामूहिक हित के लिये नहीं किया जा सकता। इसलिए संयोगों की प्रगति अत्यन्त शिथिल हो जाती है।

(६) **श्रमिकों की उपेक्षा (Connivance of Labour)**—संयोग के अस्तित्व के प्रबल हो जाने के कारण श्रमिकों की शक्ति क्षीण हो जाती है और संयोग के अधिकारी उनके हितों की उपेक्षा करने लगते हैं। इसका दुःखद परिणाम यह होता है

कि श्रमिक अपने कार्य मे आवश्यक रुचि नहीं रखते, जिससे साधारण प्रगति मे भारी बाधा पड़ती है।

(७) **जनकल्याण के विरुद्ध** (Against Public Welfare)—जनकल्याण की दृष्टि से संयोग संगठनों की हमेशा आलोचना की गई है। प्रायः इनकी समस्त प्रवृत्तियाँ असामाजिक रहती हैं, जिससे उपभोक्ताओं तथा श्रमिकों को नुकसान होता है। इन्ही प्रवृत्तियों के कारण अमेरिका मे अनेक प्रकार के संयोगों को गैरकानूनी करार दिया गया था।

(८) **पूँजीवादी व्यवस्था** (Capitalistic Organisation)—संयोग आन्दोलन का आधार पूँजीवाद माना जाता है और इस प्रकार इसमे शोषण तथा वर्गवाद के विस्तार का भय बना रहता है। समाजवादी दृष्टिकोण से संयोग आन्दोलन किसी राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था को कुछ हाथों मे केन्द्रित करने का साधन समझा जाता है।

(९) **असमान वितरण एवं भ्रष्टाचार** (Maldistribution and Corruption)—मार्क्स ने 'सरप्लस वेल्यू' का विवेचन करते हुए कहा था कि इन संयोगों का प्रभाव धन का कम हाथों में केन्द्रीयकरण होकर सम्पन्न तथा निर्धनों का विस्तार बढ़ाता है। इसमें वर्गवाद, संघर्ष तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय हानि होती है। अपनी स्थिति को मजबूत रखने के लिये वे सरकारी कर्मचारियों को रिश्वत देकर उनका नैतिक पतन कर देते है। इस प्रकार ये समाज के शत्रुओं के रूप मे कार्य करते हैं। कई बार इनके हित के लिये आम जनता का अहित होता है।

संयोग के कारण
(Reasons for Combination)

संयोग आन्दोलन, जिसने उद्योग तथा व्यापार मे एक नवीन अध्याय प्रारम्भ किया, के निम्नलिखित कारण हैं—

(१) **उत्पादन की जटिलता** (Complexity in Production)—नवीन आविष्कारों ने उद्योग-धन्धों को उत्पादन पद्धति को अत्यन्त जटिल बना दिया, जिससे उत्पादन की जोखिम भी बढ़ गई। इसके साथ व्यापार का क्षेत्र सीमित न रह कर विश्वव्यापी हो जाने से व्यक्तिगत रूप से वृहत् उत्पादन करना बहुत कठिन हो गया। इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता का सामना करने तथा उत्पादन मे मितव्ययता लाने के लिये किसी प्रकार के संगठन की आवश्यकता हुई और इस अनिवार्यता ने संयोग को जन्म दिया।

(२) **क्षेत्र की कमी** (Shortage of Area)—औद्योगिक क्रान्ति के कारण प्राकृतिक साधनों का बड़ी तीव्रता के साथ शोषण किया जाने लगा। इसमें अनेक व्यक्तियों के आ जाने के कारण शोषण तथा बाजारों का क्षेत्र सीमित हो गया।

इसलिये पूँजी तथा श्रम की उपयोगिता के लिये उद्योगपतियों का आपस में मिलना आवश्यक हो गया।

(३) प्रतिस्पर्धा में वृद्धि (Rise in Competition)—अहस्तक्षेप नीति ने व्यापार जगत में प्रतिस्पर्धा को विशेष प्रोत्साहन दिया और व्यापारियों में हर क्षेत्र में प्रतियोगिता होने लगी है। उन्हें परिकल्पित व्यापार करने में भी प्रोत्साहन मिला, जिसके कारण "गला काटने की नीति" का जन्म सम्भव हुआ और वस्तु मूल्यों में बहुत बड़ी कमी आई, जिसमें कितने ही लोग इसके शिकार हो गये। इस बुराई को मिटाने के लिये संयोगों का निर्माण आवश्यक था। हेनो ने ठीक ही कहा था "प्रतिस्पर्धा से संयोग को जन्म मिलता है।

(४) एकाधिकार की अभिलाषा (Desire for Monopoly)—व्यापार में एकाधिकार प्राप्त करने की अभिलाषा ने इतना जोर पकड़ा कि प्रतियोगियों ने अपने व्यक्तिगत हितों की उपेक्षा करके सामूहिक ढंग से कार्य करना प्रारम्भ किया। यह प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ी कि जनता के हितों की रक्षा करने के लिये सरकारों को इस दिशा में हस्तक्षेप करना आवश्यक हो गया। लीफमेन के अनुसार पूँजी की जोखिम, लाभ की विषमता, एकाधिकार की इच्छा ने संयोजन अथवा एकीकरण को जन्म दिया है, अनुकूल प्रतीत होता है।

(५) सार्वजनिक सीमित प्रमंडलों का विकास (Development of Public Limited Company)—इसका जन्म संयोग की ओर एक व्यापक कदम था। संस्थाओं का प्रबन्ध अभिकर्ताओं के हाथ में होने के कारण वे अपनी नियन्त्रित संस्थाओं में एक व्यापारिक संयोग सुगमता से लाने में सफल हो सके थे। अतः संयोग-पद्धति को भारी प्रोत्साहन मिला।

(६) लाभ में वृद्धि करने का उद्देश्य (Object of Increasing Profit)—प्रतिस्पर्धा के कारण व्यक्तिगत रूप में लाभ कमाना अत्यन्त कठिन हो गया था। इसलिये अधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से, आवागमन के साधनों, अन्य व्यापारिक व्यय तथा वैज्ञानिक प्रयोगों में मितव्ययता लाने के लिये व्यापारिक संयोगों का जन्म आवश्यक हो गया। इन संयोगों में केवल व्यापारियों को लाभ ही नहीं हुआ, अपितु उपभोक्ताओं को भी वस्तुएँ सस्ते मूल्यों पर प्राप्त होने लगीं।

(७) नियंत्रण की सुविधा (Facility in Control)—अधिक पूंजी, कुशल श्रम तथा योग्य व्यवस्था के लिये व्यापारियों को संयोगों की बहुत ही बड़ी आवश्यकता होती है। व्यापार का विस्तार बढ़ जाने के कारण व्यापार में व्यक्तिगत प्रभुत्व कम होने लगता है और प्रतियोगी उस स्थिति का लाभ उठाने में सफल हो जाते हैं। इसलिये वे लोग आपस में इस प्रकार का संयोग करते हैं, जिससे उनको अपने

व्यापार एवं उद्योग के नियंत्रण मे सुविधा रहे और वे आपस मे प्रतिद्वन्द्वी न रह कर सहयोगी बन सकें।

(८) **व्यापार की अलग-अलग क्रियाओं का सम्बन्ध** (Co ordination of Different Activities)—एक ही प्रकार के व्यापार की विभिन्न क्रियाओ का समन्वय करने से उस व्यापार की कुशलता बढ जाती है तथा उसका उत्पादन शीघ्रता एवं सुगमता से किया जा सकता है।

(९) **सरक्षण नीति** (Policy of Protection)—संरक्षण नीति, जो १९वी शताब्दी के अन्त मे प्रारम्भ हुई, सयोगो के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। भारत मे यह नीति 'प्रथम विश्व युद्ध' तक नही अपनाई जा सकी, किन्तु जर्मनी मे यह बिस्मार्क के काल मे ही अपनाई जाने लगी थी। इस नीति ने विदेशी प्रतिस्पर्धा को समाप्त करने के लिये विशेष रूप से कार्य किया है। किसी देश के उद्योगपति सयोग नीति के कारण वाह्य स्पर्धा को रोकने के लिये तत्पर हो जाते हैं, जिससे संयोगों को प्रोत्साहन मिलता है। राष्ट्रीय आन्दोलन भी सयोग को विशेष प्रोत्साहन देने में सहायक हुआ है।

(१०) **विवेकीकरण की सफलता के हेतु** (For the Success of Rationalisation)—वस्तु उत्पादन में विवेकीकरण अत्यन्त आवश्यक माना जाता है, क्योंकि उससे समस्त उत्पादन को नियन्त्रित करना सभव रहता है। किन्तु उसको अपनाने के लिये बडे उद्योग ही मितव्ययी सिद्ध हो सकते हैं, अतः संयोग को प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक है।

(११) **युद्ध तथा युद्धोपरात परिस्थितियाँ** (War and Post-War Conditions)—युद्ध के समय साधारण माँग की अपेक्षा सैनिक माँग अधिक बढ जाती है, और उसको पूरा करना भी उतना ही आवश्यक होता है जितना सामान्य काल में साधारण माँग को। फिर भी युद्ध काल मे मूल्य भी बढ जाते हैं। इसलिये या तो सयोगो का निर्माण आवश्यक है अथवा सरकार के द्वारा ही सयोगो का निर्माण किया जाता है। इस क्रिया से युद्ध के समय मजदूरी, उत्पादन, लाभ आदि पर पूर्ण नियत्रण किया जा सकता है, युद्ध के बाद भी माँग के गिर जाने तथा उद्योगों के नष्ट हो जाने के कारण उद्योगों की रक्षा के लिये उद्योगपतियो का आपस मे मिलना स्वाभाविक होता है। उसकी स्थिति सुदृढ बन जाती है।

(१२) **व्यापार चक्रों को रोकने के लिए** (To Check Trade Cycles)—प्रत्येक व्यापार में दो पक्ष होते है—एक उन्नति पक्ष तथा दूसरा अवनति पक्ष। उन्नति पक्ष में व्यापारियों को बहुत अधिक लाभ होने के कारण वे व्यक्तिगत रूप से भी अच्छा व्यापार कर सकते है, किन्तु जिस समय व्यापार में मंदी आती है व्यापारी व्यक्तिगत रूप से उसका सामना नहीं कर सकता और उससे बचने के लिये

व्यापारियों को आपस में मिल कर कार्य करना आवश्यक हो जाता है, जिससे संयोग को प्रोत्साहन मिलता है।

(१३) **प्रयोगात्मक कार्यों के लिये** (For Research and Experiments)—व्यापार की उन्नति करने तथा विस्तार बढ़ाने के उद्देश्य से प्रयोगशालाओं का निर्माण आवश्यक हो जाता है, जिससे उत्पादन की उन्नति के लिये विशेष प्रयोग किये जा सकें। यह कार्य सामूहिक ढंग पर ही सम्भव हो सकता है। क्योंकि एक व्यक्ति के लिये इस प्रकार के प्रयोग करना बड़ा कठिन होता है। अस्तु इसके लिये भी संयोग की आवश्यकता पड़ती है।

(१४) **सरकारी प्रभाव के कारण** (By Government Pressure)—युद्धकालीन अथवा विशेष परिस्थितियों में जब सरकार की वस्तुओं की माँग होती है तो उत्पादक उस माँग के अनुसार प्रदाय नहीं कर सकते। इसलिये उनको सम्मिलित होकर उस माँग की पूर्ति करनी पड़ती है। इस कारण से कि उत्पादक तथा व्यापारी जनता से अधिक मूल्य न ले तथा उपभोक्ताओं को हानि न हो, सरकार उनके संयोग के निर्माण पर जोर देती है, जिससे संयोग का निर्माण सम्भव हो जाता है। जर्मनी के कार्टेल उसके जीते जागते उदाहरण है।

(१५) **मंडियों के नियंत्रण के लिये** (To Control Markets)—व्यापारी उद्योग तथा बाजारों में नियंत्रण रखने के लिए आपस में संगठित हो जाते हैं, जिससे उनको लाभ हो सके तथा मंदी के काल में उद्योगों को बचाया जा सके। ऐसे संगठन परिकल्पनाओं तथा उद्योगपतियों दोनों के हो सकते है।

(१६) **मुद्रा की नीति** (Money policy)—राष्ट्रों की मुद्रा नीति में निरंतर परिवर्तन होते रहते है जिसके कारण व्यापारिक संस्थायें अपनी उचित योजनायें नहीं बना सकतीं और जोखिम भी अनिश्चित सी हो जाती है। इन दुष्परिणामों को दूर करने के लिये विवश होकर इन संस्थाओं को आपस में संयोजन करना आवश्यक हो जाता है।

संयोग के निर्माण में आवश्यक दशाएँ

(Necessary Conditions for the establishment of Combination)

संयोग के निर्माण की दशाओं को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) निर्माण, (२) स्थायित्व, (३) कार्यशीलता।

निर्माण में तब ही सफलता होती है जब मिलने वाली संस्थाये कम हों, क्योंकि अधिक संस्थाओं के मिलने से मतभेद होने की सम्भावना रहती है। इसके साथ-साथ यदि संयोग में समान शक्ति वाले लोग मिले तो उनका संगठन अच्छी प्रकार से चल सकता है, क्योंकि उसमें कोई किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती। एक अन्य कारण उत्पादन का संतुलन भी है। अलग-अलग व्यवसाय करने वाले लोग आपस

मे सुविधा के साथ नही मिल सकते, जिससे उनका सहयोग संभव नही होता। पूँजी की सुलभता दूसरा कारण है। जितनी अधिक पूँजी होगी, संयोग उतना ही अधिक बलशाली होगा। संयोग के इच्छुक लोगो की निकटता अन्तिम कारण है। लोग जितने निकट होंगे वे उतना ही अधिक परामर्श कर सकते है तथा शीघ्र निर्णय पर पहुँच सकते है, किन्तु आधुनिक युग मे द्रुतगामी साधनों के होने के कारण निकटता का अधिक महत्व नही रहा।

संयोगों की कार्यशीलता के कारण 'अर्थ-व्यवस्था' तथा 'सरक्षण' ही विशेष रूप से कहे जा सकते हैं। कोई भी सयोग तब तक स्थाई रूप मे नहीं चल सकता जब तक उसकी अर्थ-नीति सुदृढ न हो तथा उसको विभिन्न प्रकार की आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त न हों। इसके साथ ही-साथ विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने के लिये सरक्षण एवं राष्ट्रीय आन्दोलन भी संयोग की कार्यशीलता का एक प्रमुख अग होना चाहिये, क्यों कि इसमे उद्योग-धंधो को पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता है और व्यापार सुगमता से विकसित हो सकता है।

सयोग का स्थायित्व तथा निर्माण तभी सम्भव होता है जब उसके सदस्य सगठन के नियमों का नैतिकता से पालन करे तथा उसमे अनुशासन की भावना बनी रहे। यदि यह भावना नही होगी तो कोई भी संयोग सफलतापूर्वक नही चल सकता।

संयोग का अर्थ (Meaning of Combination)—संयोग मनुष्यों के आपस के योग को, जो किसी सामूहिक हित के लिये दिया जाय, कहते है। अर्थात् जब लोग आपस मे मिलकर किसी ऐसे कार्य को करते है, जिसमे उन सबकी स्वार्थ-सिद्धि हो तो उनका सयोग 'संयोग' कहलायेगा। श्री हेनी के शब्दों मे 'संयोग का अर्थ समस्त हिस्सों का एक हिस्से मे मिल जाना है। तथा संयोग अनेक व्यक्तियों का एक समूह है, जो किसी एक सामूहिक हित के लिये कुछ फिकों (Channels) मे होकर कार्य करते है।' यदि स्पष्ट रूप से देखा जाय तो व्यापार मे प्रत्येक प्रकार का संगठन चाहे वह साभेदारी ही क्यों न हो, सयोग ही कहलायेगा। किन्तु जिस प्रकार के सयोग का अध्ययन कर रहे हैं उसमे बड़ी अथवा छोटी एक ही प्रकार की संस्थाएँ अथवा एक ही व्यापार मे अनेकों कार्य करने वाली संस्थाएँ अथवा विविध कार्य करने वाली सहयोगी संस्थाएँ जब आपस मे मिलकर कार्य करती हैं तो उनको संयोग कहते हैं।

सयोग के प्रकार (Types of Combination)—सयोग को मुख्यतः चार भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) समतल संयोग (Horizontal), (२) शीर्ष या उदग्र सयोग (Vertical) (३) चक्रित सयोग (Circular), (४) कर्ण सयोग (Diagonal)।

समतल सयोग—समतल सयोग को 'समानान्तर-सयोग' (Parallel), इकाई

संयोग (Unit Combination), 'व्यापार-संयोग' (Trade Combination) आदि नामों से पुकारा जाता है। इसमें एक ही प्रकार के व्यापार करने वाले लोग आपस में मिल कर अपनी एक केन्द्रीय व्यवस्था बना लेते हैं तथा उसके द्वारा समस्त व्यापार का सचालन करते हैं।

इन संयोगों के द्वारा व्यापारियों में आपस की प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जाती है तथा उसका उत्पादन, वस्तु मूल्य, विक्रय आदि का इस प्रकार निर्धारण किया जाता कि उत्पादन एवं व्यापार में मितव्ययता रहती है। समतल-संयोग में एक व्यापार का रूप वृहत हो जाने के कारण व्यापार में प्रयोगात्मक तथा प्रगतिशील कार्यवाही सुविधापूर्वक की जा सकती है। इस संयोग के बन जाने से सभी उद्योगपतियों तथा व्यापारियों को वह तांत्रिक जानकारी प्राप्त हो जाती है जो उन्हें पहले प्राप्त नहीं होती। इसके कारण उत्पादनाधिक्य होने की सम्भावना नहीं और उत्पादन का सुविधा से सन्तुलन भी हो जाता है। इन संयोगों में एक कठिनाई अवश्य है कि इसमें व्यापारियों का बाजार निश्चित नहीं माना जा सकता है और न कच्चे माल की पूर्ण व्यवस्था ही की जा सकती है। इसलिये प्रतिस्पर्धी व्यक्तियों में हटकर अलग-अलग संयोगों में प्रारम्भ हो जाती है। यदि संयोग अधिक विस्तृत हो तो उनमें एकाधिकार की बुराइयाँ आ सकती है। इस के निवारण के लिये संयोगों में अनुभवी एवं निष्पक्ष व्यक्तियों की आवश्यकता होती है।

उदग्र संयोग—इसको विधि-संयोग (Process), क्रमिक-संयोग (Sequence) अथवा उद्योग-संयोग आदि नाम से भी पुकारा जाता है। इसमें किसी उत्पादन के अलग-अलग अंगों के निर्माण में लगे हुए उद्योगपतियों का संयोग होता है और इन संयोगों द्वारा अलग-अलग उद्योग वालों को वस्तु-संचय, माल का क्रय-विक्रय तथा उसके निकासी की सुविधा दी जाती है। आपस के क्रय के लिये ये पश्चात् अनुकलन (Backward integration) तथा विक्रय के लिये अग्रिम अनुकलन (forward integration) के द्वारा लाभ कमाते हैं।

संयोग अपने व्यापार को बढ़ाने के लिये समस्त सदस्य-उद्योगों का विज्ञापन एवं वस्तु प्रसार की सुविधा देते हैं, जिसके कारण बहुत कम व्यय पर उसके सदस्यों का विस्तृत विज्ञापन हो जाता है। इसमें माल की बिक्री की चिन्ता नहीं होती क्योंकि उद्योग एक दूसरे के पूरक होते हैं, कच्चे माल की चिन्ता भी नहीं रहती उत्पादन में मूल्य के उतार-चढ़ाव का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, इसमें विशिष्टीकरण सुविधा हो जाती है। कभी-कभी इन संयोगों के द्वारा जिस आर्थिक सुविधा की हम कल्पना करते हैं वह सम्भव नहीं हो सकती, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि संयोगों के समस्त सदस्यों को उचित समय पर सब सुविधायें प्रदान की जा सकें अथवा अपने लिये आवश्यक माल का प्रबन्ध कर सकें। इसी प्रकार उन

सस्थाओं के आपसी सम्बन्धो का एकीकरण भी बडा कठिन हो जाता है। साथ ही निजी उद्योगों की आपस की प्रतिस्पर्धा भी नही टाली जा सकती।

चक्रित-सयोग—चक्रित संयोग को मिश्रित-सयोग (Mixed), सहायक-संयोग (Complementary) आदि नामों से भी पुकारा जाता है। इसमें सहायक व्यापार करने वाले अथवा एक दूसरे से विलकुल भिन्न कार्य करने वाले लोग आपस मे मिलकर कार्य करते है और उस के लिये अपने अलग-अलग सिद्धान्तो को छोड कर एक "केन्द्रीय नियन्त्रण-सस्था" की स्थापना करते है। प्रवन्ध अभिकर्ताओं के अन्तर्गत चलने वाले अनेक प्रकार की संस्थायें जब एक ही संयोग मे रहती है, उनको चक्रित कहा जायगा।

इन सयोगों से प्राय: उद्योग मे एक विशेष शक्ति को उपलब्ध करना होता है और वे चाहते है कि उन का सयोग हर क्षेत्र मे आगे बढ सके। इन संयोगो के कारण अलग-अलग प्रकृति के व्यापारो को भी सामूहिक सहायता मिलती रहती है तथा सयोग के अन्तर्गत व्यापार मे भी कुशलतापूर्वक सदस्य आपस मे व्यापार कर सकते हैं। इसलिये एक दूसरे के सहायक होकर सदस्य व्यापारिक उन्नति कर सकते हैं। इस संयोग मे आर्थिक कठिनाइयो को भी बाँटा जा सकता है और समय पडने पर हानि भी एक उद्योग पर नही पडती। किन्तु इन सयोगो के द्वारा उतना लाभ नही हो सकता, जितना पहले सयोगों मे सम्भव है और अलग-अलग संयोगो को अपने व्यापारिक, औद्योगिक एव आर्थिक कार्यों के लिये आत्म निर्भर होना जरूरी रहता है। इनमे प्रवन्ध अभिकर्ताओं की लिप्सा तथा फरेबों की भी सारी बुराइयाँ शामिल है।

कर्ण-सयोग—कर्ण-सयोग को कार्यशील (Functional) सयोग भी कहा जाता है। यह एक ऐसी सस्था होती है, जोकि एक या दो उद्योगो के माल को बेचती है अथवा उनका क्रय-विक्रय का कार्य करती है। इसमे यह आवश्यक नही है कि जिन सस्थाओं का वह सयोग करती है उनके उत्पादन की पद्धति, कच्चे माल की अवस्था तथा बाजार एक ही प्रकार का हो और इस प्रकार वे अलग अलग रहते हुए भी अपने क्रय विक्रय एव व्यापारिक सुविधाओं के लिये एक साथ हो सकते हैं। ये सयोग आम तौर पर सहायक-सयोगो के रूप मे काम करते है और मुख्य उत्पादन के साथ उनके अवशेषो से सह-उत्पादन भी करते है। कभी-कभी एक ही व्यापार के अनेक कार्यों को क्रमिक रूप से करते हुए भी इन संयोगों को पाया जाता है।

संयोग के प्रारूप (Forms of Combination)—पीछे बतलाये गये प्रकारो को निम्नलिखित प्रारूपो मे विभक्त किया जा सकता है—

व्यापारिक संघ
(Trade Associations)

व्यापारिक सघ व्यापार तथा उद्योग से एक अलाभदायक संस्था है, जो स्वयं किसी प्रकार का व्यापार नही करती, किन्तु अपने सदस्यों के हितों को बढाने के लिये हमेशा प्रयत्न करती है। यह उनकी आपसी प्रतिस्पर्धा को रोकने, उनके उत्पादन को बढाने, प्रचार करने आदि मे योग देता है।

संगठन (Organisation)—इन संघों का सगठन स्थानीय (Local) तथा राष्ट्रीय (National) आधार पर होता है और वे स्थान अथवा राष्ट्र के कुछ अगों तक ही अपनी सदस्यता सीमित रखते है। जो सघ अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर कार्य करते है, उनकी सदस्यता राष्ट्रीय आधार पर होती है और वे अलग अलग फेडरेशन के रूप मे कार्य करते है।

सघ उदग्र या समानान्तर सयोग के रूप मे कार्य करते हे। उनके अनुसार वे अपने सगठन को अनुकूल बना लेते है। इन सघो मे अलग अलग सस्थाओं के लोग अपने प्रतिनिधियो को भेजकर कार्य सचालन करते है, जिनके निश्चित किये हुए सिद्धान्तों को मान्यता दी जाती है। संघ की एक कार्यकारिणी होती है, जिसमे आवश्यकता के अनुसार कार्यकर्ताओं की नियुक्ति की जाती है। वे लोग प्रायः एक साल तक काम करते है, किन्तु बीच मे यदि सदस्य उन कार्यकर्ताओं से असतुष्ट हो जायँ तो उनको हटाया भी जा सकता है।

आमतौर पर इसके कार्यकर्ता अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष तथा सचिव होते है। सचिव प्रायः वैतनिक अधिकारी होता है और यह सघ का प्रत्येक कार्य करता है। यदि कोई व्यापारी संघ का सदस्य बनना चाहता है तो उसको सचिव के पास एक आवेदन पत्र भेजना होता है। सघ के संचालकों की अनुमति पर उसको सदस्यता दी जा सकती है। सदस्य इन संघों के द्वारा आर्थिक एवं व्यापारिक सहायता कर सकते है। सदस्य को सदस्यता से तभी हटाया जा सकता है जब या तो वह सघ के नियमो का उल्लघन करे अथवा सदस्यता शुल्क देने मे असमर्थ हो।

सघ किसी प्रकार का व्यापार करने के लिये बाध्य नहीं होता। उसके खर्चे प्रायः सदस्यता शुल्क आदि से ही चलते है और वे अपने आय-व्ययक (बजट) के अनुसार प्रति वर्ष आवश्यक धन को अपने सदस्यो से प्राप्त कर सकते है।

सघ के उद्देश्य (Objects of Association)—सघ के उद्देश्य प्रायः उसके सदस्यों की आवश्यकताओं को देखते हुए निम्न प्रकार के होते हैं—

(१) उत्पादन मे तान्त्रिक वृद्धि तथा योग्यता लाना,

(२) बाजार तथा वस्तु-विक्रय का अध्ययन करना;

(३) नवीन वस्तुओं के उत्पादन तथा उत्पादित वस्तुओं की उपयोगिता के लिये प्रयोग करना ,

(४) सामूहिक रूप में विज्ञापन, वस्तु-निर्धारण एवं अन्य व्यक्तियों से, व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना ,

(५) व्यापार का बहुमुखी विकास करना तथा आपस की प्रतियोगिता को समाप्त करना ,

(६) सरकार से सम्बन्ध स्थापित करना तथा उसको व्यापार की प्रगति से अवगत कराना ,

(७) सरकार को हितकारी अधिनियमों को पास करने के लिये प्रेरित करना , तथा

(८) श्रम, पूंजी, उपभोक्ताओं तथा व्यापार मे स्थापित करना ।

संघ के कार्य (Functions of Association)—सघ के कार्य प्रायः उस सघ के सदस्यो द्वारा उत्पादित वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करना, उत्पादन तथा व्यापार सम्बन्धी समस्त आंकडों को निकालना तथा अन्य व्यय के विषय में जानकारी प्राप्त करना है। सघ वस्तुओं के मूल्यों के विषय मे प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से जानकारी उपलब्ध करता रहता है। वह सदस्यों के बीच के अनुबन्ध एवं अन्य समझौतों की जानकारी हासिल करके उसमें वस्तु के मूल्यों का प्रभाव मालूम करता है। इसका कारण यह है कि सघ चाहता है कि उसके सदस्यों के मूल्यों में एक सतुलन बना रहे, तथा उद्योग हर प्रकार से उन्नति कर सकें। जिन लोगों के पास मूल्यों का पूर्ण लेखा नही रहता उनको मूल्यों की घटती-बढ़ती सीमाओं की जानकारी कराते रहे अथवा ग्राहकों को व्यापारिक चालों मे उत्पादकों को अवगत कराना रहे, जिससे कि वे उनकी आवश्यकताओं के अनुसार उत्पादन कर सकें। साथ ही व्यापारियों की मूल्य संबंधी विचार-धाराओं से भी उत्पादकों को अवगत कराया जाना भी श्रेयकर रहता है। इन सबकी जानकारी प्राप्त करने पर सदस्य, उत्पादक या व्यापारी मूल्यों को अनुकूल सीमा मे ले आते हैं।

खुला मूल्य (Open Price)—सघों की खुले मूल्य की पद्धति श्री जे० एु० रैड्डी के द्वारा चलाई गई। उन्होंने कहा कि, वस्तुओं के निश्चित मूल्य के कारण बाजार मे क्रेता तथा विक्रेताओं को बहुत बडी सुविधा रहती है और उसके क्रय विक्रय मे किसी प्रकार की कठिनाई नही पडती, अतः सघों को यह पद्धति अपनानी चाहिये। इसके लिये उत्पादकों को अपने मूल्यों को प्रकाशित कर देना चाहिये। यह कार्य सघ के द्वारा सुगमतापूर्वक किया जा सकता है।

आंकड़ा-संकलन (Collection of Statistics)—सघ अपने सदस्य, उद्योगों तथा व्यापारों के विविध अगों के आंकड़ा-संकलन करके उससे एक निष्कर्ष निकालता

है, जिनसे कि वस्तु के उत्पादन, मूल्य-निर्धारण तथा वस्तु-निर्गमन आदि में सदस्यों को बहुत बड़ी सुविधा होती है। वे आँकड़े निम्नलिखित दशा में बहुत उपयोगी होते हैं—

(१) माल की कुल खपत कितनी होती है, तथा प्रति भावी मास या वर्ष में माल की कुल क्या खपत होगी।

(२) कुल संचित माल कितना है तथा कुल कितने माल की आवश्यकता है।

(३) कुल माल का उस वर्ष या पक्ष में कितना निर्गमन किया जा सकेगा तथा निर्यात की भी क्या व्यवस्था हो सकती है।

(४) माल का अधिक अनावश्यक उत्पादन न किया जा सके।

(५) माल का क्रेता तथा विक्रेताओं की आवश्यकता के अनुसार ही निर्माण किया जा सके।

इसी प्रकार संघ वस्तुओं की सामूहिक मूल्य निर्धारण-पद्धति को भी सुगमता से बना सकता है, जिससे सदस्यों की लागत में प्रायः समानता रहे और वे अपने खर्चों के अनुसार समान मूल्य रख सकें।

अन्य कार्य (Other Functions)—संघ का मूल उद्देश्य जनता तथा व्यापारियों के बीच सुन्दर सम्बन्ध स्थापित करना है। इसलिये संघ का कार्य समय-समय पर उद्योग तथा व्यापार के अनुसार बदलता रहता है और आर्थिक परिवर्तनों के अनुसार उनकी क्रियायें घटती बढ़ती रहती है। इन संघों के द्वारा छोटे व्यापारी व अनुभवहीन लोग अपने व्यापार तथा उद्योग के सम्बन्ध में सहायता एवं अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। सूक्ष्म रूप से उनके अन्य कार्य निम्नलिखित हैं—

(१) उद्योग तथा व्यापार में कुशल अधिकारी एवं कार्यकर्ताओं की नियुक्ति में सहायता देना।

(२) उत्पादन के तरीकों में खोज करना तथा उनमें उन्नति करना।

(३) व्यापारिक सम्बन्धों को सुधारना तथा उनमें प्रगति करना।

(४) सामूहिक रूप से क्रय विक्रय करना, जिससे व्यापारियों का व्यय कम हो, वास्तविक एवं आवश्यक उत्पादन के साधनों का योग देना।

(५) उद्योगों की आकस्मिक हानियों की सुरक्षा के लिये बीमा आदि की व्यवस्था करना।

(६) जनता के साथ अनुकूल सम्बन्धों को बनाये रखना, जिससे व्यापार को समय के अनुसार रखा जा सके।

(७) यातायात की सुविधाओं तथा उनमें प्राप्त होने वाली दुर्घटनाओं की सुरक्षा का प्रबन्ध करना।

(८) कच्चे माल के उत्पादकों तथा (उसकी खपत के लिये) उद्योगपतियों के बीच सहकारिता की भावना पैदा करना।

(९) सदस्यों के बीच होने वाली प्रतिद्वन्द्विता का नियन्त्रण करना तथा उससे होने वाली बुराइयों को समाप्त करना।

(१०) श्रमिक तथा उद्योगपतियों के बीच के सम्बन्धों को आनन्ददायक रखने का प्रयत्न करना तथा मतभेद होने की हालत में दोनों के बीच अनुकूल समझौते करना।

(११) सामूहिक विज्ञापन का लाभ पहुँचाने के लिये प्रत्येक सदस्य-संस्था का विज्ञापन करना तथा इस प्रकार का प्रचार करना, जिससे सभी सदस्यों को लाभ हो सके।

(१२) साख तथा उधार लेन देन में सदस्यों को यथोचित सूचना देना तथा उनके लिये उसकी समुचित व्यवस्था करना।

(१३) समय-समय पर सरकार के सामने संघ के सदस्यों की कठिनाइयों को उपस्थित कर, अनुकूल उद्घोषणायें करवाना तथा अधिनियमों को बनवाना।

संघ वर्तमान युग की एक महान देन है, जिससे व्यापारी तथा उद्योगपति सामूहिक रूप से अपने हितों की रक्षा कर सर्वसाधारण एवं सरकार को भी समुचित लाभ पहुँचा सकते हैं।

सज्जनों का समझौता
(Gentlemen's Agreement)

सज्जनों का समझौता—जब कुछ व्यापारी अपने विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिये नैतिक आधार पर कुछ प्रतिबन्धित समझौता करते हैं तो उसको "सज्जनों का समझौता" कहा जाता है। इसको व्यापार समझौता, व्यापारिक समझौता आदि भी कहते हैं। इस प्रकार इस समझौते में समझौता करने वाले व्यापारी आपस में किसी भी निश्चित बात के लिये (जैसे मूल्यों का समझौता, व्यापारिक क्षेत्र का समझौता, बिक्री का समझौता आदि) समझौता कर लेते हैं, किन्तु स्वयं अपना व्यापार मुक्त रूप से ही करते हैं। यह संगठन शिथिल रहता है और सदस्य केवल नैतिक बन्धन में रहते हैं। इस प्रकार के समझौते लिखित रूप में भी नहीं होते और उनका उल्लंघन करने पर किसी प्रकार के दंड की व्यवस्था भी नहीं रहती है। इस प्रकार इस संयोग को किसी प्रकार की वैधानिक मान्यता नहीं दी जा सकती और प्रायः इसमें हुए समझौतों को अवैध ही माना जाता है।

सज्जनों के समझौतों के प्रकार (Forms of Agreement)—इस संयोग को निम्न प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है—

(अ) मूल्य-नियंत्रण का समझौता (Price Control Agreement)— वस्तुओं के मूल्यों का नियंत्रण करने के लिये अथवा मूल्यों की गिरावट को रोकने के लिये या प्रतियोगिता करने वाली संस्थाओं के विलयन को रोकने के लिए किये जाने वाले समझौते 'मूल्य नियंत्रण-समझौते' कहे जाते है। कभी-कभी मूल्यों के साथ साथ उत्पादन पर नियंत्रण करने के लिए भी इस प्रकार के समझौते किये जाते है। इनका विशेष प्रभाव नहीं रहता, क्योंकि जैसे ही समझौता करने वाले व्यक्ति को यह सन्देह होता है कि दूसरा व्यक्ति उत्पादन के समझौते को मान्यता नहीं देता तो वह भी उसको रद्द करके उत्पादन मे वृद्धि करने लगता है। इस स्थिति को रोकने के लिए उत्पादन तथा मूल्य नियंत्रण साथ साथ किये जाने चाहिए।

कभी-कभी इस संयोग मे बिना किसी समझौते के हो जो संस्था विशेष सुन्दर स्थिति मे रहती है, अपने मूल्यों का निर्धारण इस आशा पर करती है कि अन्य कम्पनियाँ भी उसका अनुगमन करेंगी। फलस्वरूप वही उनका समझौता बन जाता है। इसकी सूचना विशेष स्थिति वाली कम्पनी अन्य संस्थाओं को दे देती है और समझा देती है कि मूल्य को रखने का क्या उद्देश्य है। अन्य लोग उसका अनुसरण स्वतः ही करने लगते है।

(आ) बाजार-विभाजन का समझौता (Market Division Agreement)— इसके अनुसार दो या अधिक उद्योगपति अथवा व्यापारी आपस मे मिल कर अपने बाजारों को तय कर लेते है और उनके निश्चित हो जाने पर एक दूसरे के बाजारों मे किसी प्रकार का वास्ता नहीं रखते। बाजार का विभाजन "क्षेत्र" "उत्पादन" अथवा "ग्राहकों" के अनुसार किया जाता है।

क्षेत्र के अनुसार किसी निश्चित वस्तु के उत्पादक अथवा व्यापारी अपने व्यापार के क्षेत्र को अलग-अलग भागों मे बाँट देते है। इसमे वे कितनी ही बातो का ध्यान रखते हैं, जैसे यातायात की सुविधा तथा मूल्य, उस क्षेत्र मे प्रतियोगिता, अन्य कम्पनियों के प्रवेश करने के अवसर, व्यापारी का उत्पादन तथा उसकी खपत आदि के अनुसार ही व्यापार-क्षेत्र निश्चित किया जा सकता है। इस विभाजन का भी विशेष लाभ नहीं होता, क्योंकि जो कम्पनियाँ समझौते मे नहीं होती वे आसानी से प्रवेश कर सकती है। कभी-कभी समझौते वाली कम्पनियाँ भी अपने समझौते को तोड देती है।

जिस समय कम्पनियों के उत्पादन का समझौता होती हैं तो प्रायः वे आपस मे तय कर लेती हैं कि भविष्य में वे इस प्रकार का नया उत्पादन नहीं करेंगे, जिसमे दूसरी कम्पनी के साथ प्रतिस्पर्धा करनी पडे। इस प्रकार आपस मे समझौता करके उत्पादक अपनी-अपनी वस्तुओं में बहुत बडी सीमा तक एकाधिकार प्राप्त कर लेते है और उनके मूल्यों मे भी स्थिरता बनी रहती है।

कभी-कभी कम्पनियाँ अपने ग्राहकों को निश्चित् करके समझौता कर लेती हैं कि वे आपस में एक दूसरे के ग्राहकों से व्यापार नहीं करेंगी। यह समझौता केवल व्यापारियों में ही नहीं, अपितु ग्राहकों तथा व्यापारियों में या ग्राहकों में भी हो सकता है, जिसमें वे केवल उन्हीं लोगों से व्यापार करते हैं जो समझौते में तय कर दिया गया हो। इससे वस्तु के मूल्यों से विशेष परिवर्तन नहीं आता और व्यापार सुचारु रूप से चलता रहता है।

(इ) भुगतान-मूल्य समझौता (Delivery Price Agreement)—भुगतान मूल्य का अर्थ यह है कि व्यापारी अपनी वस्तु की वह कीमत देता है जो उसको ग्राहक के स्थान पर पड़ेगी। अतः इसमें माल का भाड़ा भी सम्मिलित होता है। व्यापारी आपस में तय कर लेते हैं कि वे जब कभी वस्तुओं का मूल्य-उद्धरण करेंगे तो यथार्थ मूल्य की अपेक्षा 'भुगतान मूल्य' को ही करेंगे। यह पद्धति दो प्रकार से अपनाई जाती है—(१) साधारण-भुगतान-मूल्य पद्धति, (२) गुणित-भुगतान-मूल्य पद्धति। प्रथम पद्धति में मूल्य तथा भाड़ा जोड़ करके मूल्य बताया जाता है तथा ग्राहक को भाड़ा अलग नहीं देना पड़ता। यह रीति तब ही सुन्दर है जब भाड़ा बहुत थोड़ा पड़ता हो, किन्तु उस अवस्था में जब भाड़ा अधिक पड़ता है तो इसका प्रयोग व्यापारी के लिये बड़ा कठिन हो जाता है। द्वितीय रीति के अनुसार वस्तु का मूल्य कितने ही भुगतान के स्थानों के आधार पर निकाला जाता है। ग्राहक मूल्य को निकटतम भुगतान स्थान के अनुसार लगा कर उस स्थान से उसमें भाड़ा और जोड़ लेता है। इस प्रकार उसको उत्पादन के स्थान को जानने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि उस स्थान तक के भुगतान मूल्य में पहले से ही उत्पादक का दिया हुआ भाड़ा भी जुड़ा हुआ होता है। दोनों दशाओं में यद्यपि भाड़ा ग्राहक के द्वारा ही दिया जाता है, किन्तु उसको वह यातायात-कम्पनी को नहीं देना पड़ता, क्योंकि वह मूल्य में ही जोड़ दिया जाता है और उसका उत्तरदायित्व विक्रेता पर होता है।

जहाँ तक इसकी वैधानिकता का प्रश्न है अमेरिका में इसको वैधानिक मान्यता नहीं दी गई है, क्योंकि इसके अनुसार ग्राहकों के साथ पक्षपात किया जाता था।

लाभ तथा हानियाँ
(Advantages and Disadvantages)

सज्जनों का समझौता व्यापार का बहुत पुराना सयोग है और यह किसी न किसी रूप में १८वीं शताब्दी से अभी तक चला आ रहा है। यह व्यापारियों के लिए व्यापारिक दृष्टि से बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं, क्योंकि इन समझौतों के कारण व्यापारी आपस की प्रतियोगिता, मूल्य की कमी आदि के ऊपर बहुत अच्छा नियंत्रण कर लेते हैं। इसके साथ-साथ यदि इस योजना से कोई संतुष्ट न हो तो सुगमता से

अलग हो सकता है और उसके विरुद्ध किसी प्रकार की कार्यवाही भी नहीं की जा सकती। इस समझौते के द्वारा सदस्य कुछ खोता नहीं है, बल्कि पाता ही है और समस्त व्यापारियों में निकटता स्थापित की जा सकती है। सामाजिक दृष्टि से उसमें विशेष लाभ नहीं है, क्योंकि समझौतों के कारण प्रायः मूल्य में वृद्धि देखी गई है।

सज्जनों के समझौते से हानियाँ भी होती हैं। इसमें सब लोगों को समझौता रद्द करने की छूट होने के कारण जो लोग समझौते का पालन करते हैं उनको हानि उठानी पड़ती है। समझौता प्रायः बहुत कम समय के लिए ही रहता है। इसमें कोई केन्द्रीय व्यवस्था न होने के कारण बाहर के लोगों से मुकाबला नहीं किया जा सकता और न मूल्यों पर ही विशेष नियंत्रण रखा जा सकता है। इसके द्वारा प्रयोगात्मक कार्यों में वृद्धि नहीं की जा सकती और न उद्योगों को विस्तार के साथ बढ़ाया ही जा सकता है। इसमें वृहत उत्पादन की सुविधाएँ भी प्राप्त नहीं होती हैं। इन समझौतों की वैधानिकता न होने के कारण इनको षड्यन्त्र ही माना जाता है। धोखेबाज सदस्यों पर वैधानिक कार्यवाही नहीं की जा सकती।

इन बुराइयों के होते हुए भी इस प्रकार के संयोग अभी तक व्यापक रूप में चल रहे हैं।

सन्निधियाँ
(Pools)

सन्निधि (Pool) व्यापारिक अथवा औद्योगिक संयोग का एक ऐसा स्वरूप है, जिसमें समस्त सदस्यों के वस्तु मूल्य का नियंत्रण करने पर भी संगठन अपना अस्तित्व नहीं खोते, दूसरे शब्दों में सन्निधि एक ऐसा समझौता है, जो कि किसी निश्चित प्रसंविदे पर आधारित रहता है और आम तौर पर जिसमें दंड देने की व्यवस्था नहीं रहती। यह प्रायः लिखित ही होता है। श्री हेने ने सन्निधि की व्याख्या इस प्रकार की है : 'सन्निधि व्यापार संगठन का एक स्वरूप है, जिसका निर्माण *विभिन्न व्यापारिक संगठनों के संगठित करने से होता है तथा उसके सदस्य किसी* एक क्रम में मूल्य-निर्धारण का प्रयास करते हैं तथा उसको अपनी इकाइयों में लागू करने का प्रयत्न करते हैं।" इसमें सज्जनों के समझौते के समान ही सब सदस्यों को अपने कार्य करने की छूट रहती है। बॉन-बेकरेत के अनुसार सन्निधि स्वतन्त्र व्यापारियों का एक मिला-जुला संयोग है, जिसमें व्यापारिक एकाधिकार प्राप्त किया जा सकता है।

परिभाषाओं में सन्निधियों में निम्नलिखित बातें होनी चाहिये—(१) स्वतन्त्र संगठन, (२) स्वतन्त्र हित, (३) मूल्य नियंत्रण, (४) एकाधिकार प्राप्त करना, (५) उत्पादन तथा उसके अंगों पर नियंत्रण, (६) सामूहिक हित के लिये प्रयत्न।

वस्तु के मूल्य-नियंत्रण में दो बातें की जाती हैं, एक जनता के बीच उसकी

माँग बढ़ाने का प्रयत्न और दूसरे वस्तु का उत्पादन घटा कर मूल्य बढ़ाने का प्रयत्न। इन दोनों रीतियों का प्रयोग आवश्यकता के अनुसार किया जाता है। इस संघ में प्रायः मूल्य निर्धारण करना, विज्ञापन देना, विक्रय नियम बनाना, उत्पादन में कटौती करना आदि से सदस्य प्रतिबन्धित कर दिये जाते हैं। सन्निधि का समझौता आमतौर पर एक ही प्रकार के व्यापार में लगी हुई संस्थाओं के बीच किया जाता है। ये संस्थायें प्रायः उपरोक्त कार्यों के अलावा स्वतन्त्र रूप से भी कार्य करती हैं।

विकास
(Development)

सन्निधियाँ अमेरिका में १८४० के बाद प्रारम्भ हुई। उस वर्ष वहाँ गृह-युद्ध हो जाने के कारण सन्निधियों को विशेष प्रोत्साहन मिला और १८६० तक वे प्रायः वहाँ व्यापक रूप से फैल गई। धीरे-धीरे सन्निधियाँ दूसरे देशों में भी कुछ परिवर्तनों के साथ फैली। ये कहीं साधारण और कहीं अत्यन्त जटिल रूप से फैली। और उन देशों में इनको पार्षद या संघ का रूप दिया गया।

सन्निधियों के लाभ (Advantages of Pools)—इनके लाभ निम्न प्रकार से हैं—

(१) इनका सबसे बड़ा लाभ **प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त करना है,** किन्तु प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त करने से सदस्य संस्थाओं को विशेष प्रकार से नियन्त्रित नहीं रखते।

(२) अन्य संयोगों की अपेक्षा इसमें एक विशेषता यह है कि इसके **सदस्य अपने व्यापारिक कार्यों में पूर्ण रूप से स्वतंत्र** रहते हैं तथा अपने-अपने व्यापार का संचालन *स्वयं ही करते हैं। इस प्रकार इस व्यवस्था में बड़े व्यापार की असुविधाएँ* नहीं होती।

(३) **सन्निधियों का आकार एवं व्यवस्था उसके सदस्यों की इच्छानुसार** की जा सकती है। इस प्रकार लाभ-वितरण, बाजार का विभाजन, उत्पादन का परिणाम आदि सदस्यों की इच्छा पर निर्धारित किया जा सकता है।

(४) सन्निधियों को **बनाने में बड़ी सुविधा** होती है, इनको बनाने में कोई हानि नहीं होती, वरन् संयुक्त मिलन से लाभ की सम्भावना रहती है।

(५) यदि सन्निधियों की व्यवस्था सदस्यों के अनुकूल नहीं होती तो **सदस्य कभी भी सदस्यों को छोड़** सकता है और केवल इसी धन को खोने की सम्भावना होती है, जिसको कि वह अपना विश्वास प्रमाणित करने के लिए जमा करता है।

(६) सन्निधियों को बनाने में **कानूनी शिष्टाचार की आवश्यकता नहीं** पड़ती।

(७) सामाजिक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि इसमें व्यापारियों

को आर्थिक सुविधा हो जाती है तथा लोगों को अपने निकट स्थान पर वस्तुएँ उपलब्ध हो सकती है। इन सन्निधियों के कारण व्यापारिक चेतना जागृत होती है तथा व्यापारिक योजनाओं का निर्माण किया जा सकता है।

(८) इसके द्वारा वृहत् निर्माण की सुविधाएँ प्राप्त हो सकती है और सदस्यों को अपनी अल्प अवस्था होते हुए भी वृहत् संस्थाओं के सभी लाभ प्राप्त हो जाते हैं।

(९) सन्निधियाँ सदस्यों की सामूहिक समस्याओं पर विचार करके अनुकूल दर्शन कर सकती है तथा उनके अनुसार जनमत का निर्माण कर सकती हैं।

हानियाँ
(Disadvantages)

सन्निधियों से निम्नांकित हानियाँ होती हैं—

(१) इनका निर्माण वैधानिक रूप से नहीं किया जा सकता, इसलिये इनमें होने वाले कार्यों को किसी प्रकार से न्यायालय में नहीं ले जाया जा सकता है। कोई भी व्यक्ति जरा सा मतभेद हो जाने के कारण संस्था को छोड़ देता है।

(२) जिस अवस्था में सन्निधियाँ किसी व्यापार प्रतिबन्ध या रोक लगा देती हैं और सदस्य उसकी उपेक्षा करे तो उनका कुछ भी नहीं किया किया जा सकता।

(३) इस संगठन के द्वारा प्रतियोगिता को भी समाप्त नहीं किया जा सकता। जिस समय सन्निधियाँ मूल्य को बढ़ाने का प्रयत्न करती है तो वस्तु निर्गमन की इच्छा से व्यापारी मूल्यों को घटा कर लाभ प्राप्त करने लगते हैं। इसको दूर करने के लिए सन्निधियाँ प्रतियोगी व्यापार की स्थापना भी नहीं कर सकती।

(४) सन्निधियों की गोपनीयता भी इनकी हानि का एक कारण बन जाती है, क्योंकि कपटी सदस्य आदर्श के सिद्धान्तों को छोड़ कर कपटपूर्ण व्यवहार करने लगते हैं, जिससे व्यापार की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है।

(५) इनका अधिक जीवन-काल न होने के कारण दूरदर्शितापूर्ण योजनाओं का बनाना बड़ा कठिन हो जाता है। मूल्यों को बढ़ा कर संस्था को आकर्षित करने की रीति भी व्यापारिक सिद्धान्तों के विरुद्ध होती है।

(६) सामाजिक दृष्टि से भी इसमें एकाधिकार की सृष्टि के कारण यह समाज के लिए अहितकर सिद्ध होता है।

(७) वस्तु उत्पादन पर कृत्रिम रोक लगा कर समाज में वस्तु प्रदाय की असुविधा हो जाती है, जिसमें उपभोक्ताओं को कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

सन्निधियों के प्रकार
(Forms of Pools)

सन्निधियों को निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है—मूल्य सन्निधियाँ (Price Pools) ; उत्पादन सन्निधियाँ (Production Pools) ; व्यापार-निर्धारण सन्निधियाँ (Business Allotment Pools) ; लाभ सन्निधियाँ (Profit Pools) ; विपणि सन्निधियाँ (Market Pools) ; सामूहिक विक्रय सन्निधियाँ (Joint Sale Pools) तथा स्वाधिकार अर्थात् पेटेन्ट सन्निधियाँ (Patent Pools) ।

(१) **मूल्य सन्निधियाँ** (Price Pools)—यह मूल्यों को निश्चित करने का एक समझौता है। मूल्य निश्चित करने के लिये सदस्यगण आपस में समझौता करके उसकी सूचनायें आपस में पहुँचाते हैं। ये सूचनाएँ ग्राहकों को भी दे दी जाती हैं। मूल्यों का निर्धारण करने के लिए विक्रय-अनुबन्ध भी नियन्त्रित किये जाते हैं, तथा उनसे सम्बन्धित समान कार्यों की व्यवस्था की जाती है, जैसे वस्तु के गुण की समानता, भुगतान की निश्चितता, यातायात तथा बीमे की सुविधा, वैकल्पिक-क्रय की सुविधा आदि।

इसके लिये सन्निधियाँ शिक्षण आन्दोलन, व्यक्तिगत समझौता, तार या टेलीफोन से विज्ञापन आदि करते हैं। इसके साथ-साथ वे उत्पादकों पर नियन्त्रण रखते हैं, तथा अलग-अलग क्षेत्रों में अच्छा प्रचार करते हैं। यदि कोई सदस्य उस निश्चय के विपरीत कार्य करता है तो उस पर जुर्माना किया जाता है। इसके विरोध में प्रचार किया जाता है अथवा उसको सदस्यता से हटाया जा सकता है।

(२) **उत्पादन सन्निधियाँ** (Production Pools)—जब उत्पादन के बढ़ जाने से मूल्यों में शिथिलता आ जाती है तो वे उत्पादन को रोकने के लिये उस पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लगा देती हैं। प्रायः प्रत्येक सदस्य के लिए एक निश्चित परिमाण तय किया जाता है, और सदस्य उससे अधिक उत्पादन नहीं कर सकता। सन्निधि-उत्पादन को नियन्त्रित करके वस्तु के प्रदाय को रोकती है। इसमें प्रत्येक सदस्य को अपने उत्पादन की मासिक वृत्त देनी पड़ती है। यदि कोई सदस्य नियम के विरुद्ध अधिक उत्पादन करता है तो वह दण्डित किया जाता है। इसमें पूर्ण गोपनीयता रखी जाती है। कभी-कभी उत्पादकों का परिणाम निश्चित करने के साथ-साथ उनके काम की पाली (Shift) तथा दिन भी कम कर दिये जाते हैं। सन्निधियाँ निर्गमित माल पर भी नियन्त्रण रखती है।

(३) **व्यापार निर्धारण सन्निधियाँ** (Business Allotment Pools)—जिस प्रकार सन्निधियाँ उत्पादन पर नियन्त्रण करती हैं उसी प्रकार वे व्यापार पर भी नियन्त्रण करती हैं। इसमें वे व्यापारियों के बीच निम्न प्रकार का समझौता कर

लेते है। सदस्य आपस मे कुल उत्पादन का निश्चित प्रतिशत बाँट उसको लेने की स्वीकृत दे देते है। सन्निधि का सचिव व्यापार का सामाहिक या मासिक अनुमान निकाल कर सदस्यो को देता है तथा उनके माल की निकासी की सुविधा भी करता है। सचिव सदस्यो के उत्पादन (कम या अधिक) का ब्यौरा सब सदस्यों को देता है। सदस्यों को नियमो का पालन करने की प्रार्थना करता रहता है तथा उनके हिसाब-किताब का सामूहिक अंकेक्षण करवाता है अत. उत्पादन तथा व्यापार दोनों पर नियन्त्रण हो जाता है तथा व्यापारिक प्रतियोगिता भी समाप्त होती है।

(४) लाभ सन्निधियाँ (Profit Pools)—लाभ सन्निधियाँ मूल्य सन्निधियो की ही सहभाग है। जिस सदस्य को यह समझौता स्वीकार होता है वह अपने लाभ का निश्चित भाग या समस्त लाभ एक संयुक्त निधि मे दे देता है, जोकि बाँट दिया जाता है। प्रारम्भ मे अधिक उत्पादन के कारण उत्पादक इस संस्था को छोड़ कर स्वतन्त्र-व्यापार करने लगते थे, जिससे व्यापार को प्राय. हानि ही होती थी। इसलिये इस पद्धति के अनुसार उत्पादको मे एक निश्चित मूल्य पर समस्त माल देने का समझौता किया जाता है। इस समझौते के लिये लोग बोली लगाते है और अनुबन्ध उसी के साथ होता है, जो सबसे अधिक बोली लगाने वाला हो। इस प्रकार जो अधिक लाभ आता है वह संयुक्त सन्निधि मे डाल दिया जाता है और वह सदस्यो मे उत्पादनानुसार बाँट दिया जाता है। अनुबन्ध वाला सदस्य अपना खर्चा तथा सीमान्त मूल्य रख लेता है। कुछ दशाओ मे मूल्य तथा उत्पादन पहले ही निश्चित किया जाता है और उसके अनुसार सदस्य उत्पादन करते हैं।

इससे निम्नलिखित लाभ होते है—(१) व्यापार निर्धारित हो जाता है, (२) पूंजी का केन्द्रीयकरण नही होता, तथा (३) खर्चों मे मितव्ययता आ जाती है। किन्तु इससे कुछ हानियाँ भी होती है, जैसे उत्पादन की कमी तथा मूल्यो की वृद्धि, उत्साह की न्यूनता, व्यापार की अनिश्चितता आदि।

(५) विपणि सन्निधियाँ (Market Pools)—विपणि सन्निधियाँ तीन प्रकार की होती हैं—(१) ग्राहको के अनुसार विभाजन, (२) उत्पादन के अनुसार बाजार का विभाजन, तथा (३) क्षेत्र के अनुसार बाजार का विभाजन। ग्राहकों की दशा में विभाजन इस प्रकार किया जाता है . ग्राहक एक ही व्यापारी से माल खरीद सकते है और दूसरे व्यापारी उनको सौदा देने से मना कर देते हैं अथवा दूसरे व्यापारी उस व्यापारी के ग्राहकों को वस्तुओं का अधिक मूल्य बताते हैं, जिससे वह अपने ही व्यापारी से माल खरीदे।

जब बाजार उत्पादन के अनुसार बाँट दिया जाता है, उस समय उत्पादकों के क्षेत्र निश्चित कर दिये जाते हैं। इन क्षेत्रों में उनको पूर्ण अधिकार रहते हैं। उनके

ग्राहक दूसरे उत्पादकों के पास नहीं जा सकते। क्षेत्र के अनुसार बाज़ार मे भी इसी प्रकार की व्यवस्था अपनाई जाती है।

(६) **सामूहिक विक्रय सन्निधियाँ** (Joint Sale Pools)—वस्तु की बिक्री तथा मूल्यों के नियन्त्रण के लिये सदस्य आपस में समझौता कर लेते हैं। उसके अनुसार माल एक ही एजेन्सी के द्वारा बेचा जाता है। इसके लिये ग्राहकों से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये एक संस्था का निर्माण किया जाता है, जो कि अपनी सदस्य-संस्थाओं का प्रतिनिधित्व करती है। उत्पादकों के लिये जो माल निर्धारित किया जाता है वह उसकी उत्पादन-शक्ति पर निर्भर रहता है। संस्था को उसके कार्य के लिये कमीशन मिलता है और खर्च आदि निकाल कर जो शेष बच जाता है वह उत्पादक को वस्तु के मूल्य सहित दे दिया जाता है। इस प्रकार उत्पादन के नियन्त्रण के साथ-साथ मूल्यों पर भी नियन्त्रण किया जा सकता है।

(७) **एकाधिकार सन्निधियाँ** (Patent Pools)—ये सन्निधियाँ सदस्यों के बीच एकाधिकार वितरण करने के लिये होती हैं। इसके द्वारा अलग अलग एकस्वाधिकारी अपने पेटेन्टों के अनुसार बड़ी मात्रा मे उत्पादन कर सकते हैं और पूर्ण वस्तु का निर्माण सुगमता से हो जाता है। पेटेन्ट से अधिकारियों के बीच का विवाद तथा अधिकार की समस्या का भी हल हो जाता है और उत्पादन में भी सरलता रहती है।

इसको कार्यान्वित करने के लिये पेटेन्ट से अधिकारी अधिकार तो अपने पास रखता है, किन्तु उसके प्रयोग का अधिकार ट्रस्टियों के पास सौंप देता है, जो उसका प्रयोग सामूहिक रूप से करते है। कभी-कभी अपने इसी अधिकार को इससे उत्पादित वस्तु के अधिकार के लिये बेच देता है अथवा उसका मुख्तयारनामा सन्निधियों को सौंप देता है।

(८) **ट्रैफिक सन्निधियाँ** (Traffic Pool)—इस सन्निधि का निर्माण प्रतिद्वन्द्वी जहाजी कम्पनियों द्वारा प्रतिद्वन्द्विता समाप्त करने, मार्गों का निर्धारण, समय का निश्चय आदि करने के लिये किया जाता है। सन्निधि मार्ग का किराया भी निश्चित करती है। सन्निधि का प्रयत्न होता है कि उसके व्यापार में नया प्रतिद्वन्द्वी न आय।

(९) **कृषि सन्निधियाँ** (Agriculture Pool)—कृषक अपने उत्पादन की विपणन में होने वाली प्रतिद्वन्द्विता को रोकने के लिये आपस में सन्निधि का निर्माण करके मूल्यों का नियन्त्रण, मंडियों का विभाजन, तथा अनुकूल विक्रय मूल्य का निश्चय करते हैं। किसानों के लिये इनकी बहुत बड़ी उपयोगिता है।

पार्षद
(Cartels)

श्री वॉन बेकरेट के अनुसार पार्षद स्वतन्त्र व्यापारियों का किसी निश्चित उद्देश्य के लिये एक समझौता है, जिसके द्वारा वे अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकें। ये

संस्थायें मन्त्रिधियों की समकक्ष संस्थायें है। इनमें प्रायः उसी प्रकार से कार्य होता है। श्री लाइफमन के अनुसार भी पार्षद *स्वतन्त्र व्यापारियों की एक ऐच्छिक* संस्था है, जो किसी बाजार में एकाधिकार प्राप्त करना चाहती है। इस प्रकार इस संस्था का जन्म मुख्यतः एकाधिकार प्राप्त करने के लिये अथवा प्रभुत्व स्थापित करने के लिये होता है। इस प्रकार इसमें भी उत्पादन का नियन्त्रण, मूल्य का निर्धारण, बाजार का विभाजन आदि मन्त्रिधियों के समान ही किया जाता है। अस्तु इसको स्पष्ट करने के लिये यह कहना पड़ेगा, कि *पार्षद का संगठन निश्चित* तथा प्रतिबन्धित रहता है और इसको प्रायः उत्पादक-संघ के नाम से पुकारा जाता है।

ऊपर दी गई परिभाषाओं में पार्षद के लक्षणों को जानने में कोई कठिनाई नहीं होगी। मुख्य रूप से उसके निम्नलिखित लक्षण हैं—

(१) *इसमें भाग लेने वाले व्यापारी स्वतन्त्र होने* चाहिए,

(२) उनके बीच में किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये समझौता होना चाहिये,

(३) उद्देश्य किसी प्रकार का एकाधिकार प्राप्त करने के लिये होना चाहिये,

(४) इसमें किसी प्रकार का दबाव नहीं होना चाहिये,

(५) पार्षद में भाग लेने वाले व्यापारियों अथवा उद्योगपतियों का समान व्यापार या उद्योग होना चाहिये,

(६) *जर्मनी में इसका एक लक्षण यह भी था कि उद्योगपतियों को सरकारी प्रेरणा प्राप्त हुई*

(७) संगठन का क्षेत्र निर्धारित होना चाहिये,

(८) सदस्यों को संगठन को छोड़ने का एकाधिकार होना चाहिये,

(९) संगठन का स्वत्व सदस्यों की इच्छा पर निर्भर रहना चाहिये,

(१०) संगठन में फिर्का-परस्ती नहीं होनी चाहिये और उसमें जो कुछ भी *कार्य किये जायें वे सब सामूहिक हित के लिये* होने चाहिये।

पार्षद का जन्म जर्मनी में हुआ। वहाँ पर विदेशी प्रतिद्वन्द्विता के कारण उनका उद्योग तथा व्यापार नष्ट हो रहा था, जिसके कारण जर्मनी की सरकार ने अपने उद्योग तथा व्यापार की रक्षा के लिये इन पार्षदों का निर्माण किया और *उसकी व्यवस्था जनतन्त्रीय ढंग से करके अपने उद्योगों को ही प्रोत्साहन नहीं दिया, अपितु विदेशी बाजार में प्रतिद्वन्द्विता का सामना करने की शक्ति भी प्रदान की* यही कारण है कि उसकी उपयोगिता को देखते हुए पार्षद का क्षेत्र जर्मनी में ही सीमित न रहकर फ्रांस, बेल्जियम, नीदरलैण्ड आदि में फैल गया और धीरे धीरे अमेरिका तथा ब्रिटेन भी इससे वंचित न रह सके। इनका मूल कारण व्यापारिक एकाधिकार प्राप्त करना था और उसका साथ इन देशों की भौगोलिक स्थिति ने भी

दिया। यही कारण था कि द्वितीय विश्व युद्ध के पहले जर्मनी का उद्योग बहुत बढ़ा-चढ़ा था। उसको अपने माल की खपत के लिये अधिक बाजारों की आवश्यकता हुई। इसके लिये जर्मनी के बाजारों में भी सरकार को पार्षद बनाकर बाजारों को नियंत्रित करना पड़ा। इसका अन्य कारण उत्पादन की वृद्धि में होने वाले दिवालों को रोकना तथा दूसरे देशों की शक्तियों से अपने उद्योगों को दृढ़ बनाना था। जर्मनी से यह सबक सारी दुनियाँ ने सीखा, और रूस, फ्रांस, अमेरिका, ब्रिटेन आदि देशों में भी इसको विशेष प्रोत्साहन मिला।

आपत्तियों का सामना (Facing Difficulties)—पार्षद वस्तुतः उसके सदस्यों की इच्छा पर निर्भर रहने के कारण उसके संचालन में कितनी ही कठिनाइयाँ आती हैं। इनका विवेचन इस प्रकार है—

(१) **सत्ता स्तत्व-हीन होती है** (Powerless Institution)—यह साझेदारी के समान प्रभावशाली नहीं होती और इसका अस्तित्व केवल इसके सदस्यों की इच्छा पर ही निर्भर रहता है। यदि सदस्य चाहें तो पार्षद को चला सकते हैं। इसलिये पार्षद निर्भरता से ही कार्य कर सकता है।

(२) **सदस्यों को समझौता मानने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता** (Members cannot be compelled to follow the Agreement)—पार्षद के सदस्यों से आशा की जाती है कि वे उसके समस्त नियमों को मानें तथा दूसरों से मनवायें, किन्तु अपने स्वार्थों के कारण सदस्य प्रत्यक्ष रूप से तो नियमों का पालन करते दिखाई देते हैं, किन्तु परोक्ष में उनके विरुद्ध कार्य करते हैं। पार्षद में उनके विरुद्ध किसी प्रकार की कार्यवाही करने की शक्ति नहीं होती।

(३) **पार्षद में वर्गवाद** (Sectorism in Cartels)—जर्मनी में पार्षदों के प्रारम्भ होने से फिरका-परस्ती शुरू हुई, क्योंकि उनके सदस्य व्यापारियों को विदेशी संस्थाओं में भाग लेने से रोक दिया गया। इन संगठनों ने पार्षद के अन्तर्राष्ट्रीय निर्माण तथा व्यवस्था में बहुत बड़ी कठिनाई पैदा कर दी। और इस प्रकार इसमें संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत हुई।

(४) **अनिश्चित अस्तित्व** (Uncertain Existence)—पार्षद प्रायः एक निश्चित अवधि अथवा कार्य के लिये बनाये जाते हैं, और उनके समाप्त होते ही पार्षद स्वतः समाप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह सदस्यों की इच्छा पर भी किया जा सकता है, इसलिये इस संस्था के द्वारा कोई ऐसी योजना नहीं बनाई जा सकती जिसक जीवन दीर्घ तथा स्थायित्व लिये हुये हों।

(५) **अप्रिय कार्यवाही** (Unsocial Activities)—ये संस्थायें जनोपयोगी कार्यों को करने की अपेक्षा युद्ध सम्बन्धी निर्माण कार्यों में अधिक उन्नत हुई

है। जर्मनी मे ये संस्थायें मुख्य रूप से युद्ध का सामान तैयार करने मे ही रही। इसलिये उनका अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर सामंजस्य सम्भव नहीं है।

(६) **बाहरी प्रभाव** (Outside Influence)—प्रतियोगिता का अन्त करने के लिये पार्षद मे एक ही प्रकार के व्यापार करने वाले अधिक से अधिक लोगों को मिलना पड़ता है, जिससे उनमे प्रतिद्वन्द्विता रहे, किन्तु सबका मिलना प्रायः कठिन होता है और बाहरी प्रतिद्वन्द्विता बनी रहती है।

(७) **नवीन उत्पादन का प्रभाव** (Influence of New Production)—पार्षद अपनी इकाई को बनाये रखने के लिये किये गये प्रकार के उत्पादन को नहीं रोक सकते। नये प्रकार के उत्पादन प्रतिद्वन्द्विता मे पुराने उत्पादन को समाप्त कर देते है, और इस प्रकार पार्षद का संगठन स्वतः ही भिन्न-भिन्न हो जाता है।

(८) **सदस्यों का विरोध** (Members' Opposition)—जब पार्षद मे सदस्यों का निजी विकास रुक जाता है तो वे खुलकर उसका विरोध करते है तथा उसके नियन्त्रण को भी स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार आपसी संघर्ष बढ़ जाने के कारण पार्षद समाप्त हो जाता है।

पार्षद के विभिन्न स्वरूप
(Types of Cartels)

वॉन वेकरेट ने पार्षद छः को भागों मे बाँटा है—

(१) मूल्य-निर्धारण पार्षद (Price Determination Cartels),
(२) व्यवहार-नियन्त्रण पार्षद (Business Condition Cartels),
(३) ग्राहक विभाजन के पार्षद (Costomers' Allocation Cartels),
(४) क्षेत्रीय पार्षद (Zonal Cartels),
(५) परिणाम निर्धारण पार्षद (Quota Fixing Cartels),
(६) संघ (Syndicates)।

मूल्य-निर्धारण पार्षद मे इसके सदस्यों को निश्चित मूल्य की सीमा मे नीचे न जाने के लिये बाध्य किया जाता है। जो मूल्य प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे निर्धारित किये जाते हैं उनका समय-समय पर संशोधन किया जाता है।

व्यवहार नियन्त्रण पार्षद प्रायः व्यापारियों के बीच की साख, बीमा, छूट, आदि की समान व्यवस्था करते है, ताकि सदस्यों की विक्रय नीति मे समानता बनी रहे।

जब बाजारों का विभाजन ग्राहकों के साथ किया जाता है तो पार्षद के सदस्य केवल उन्हीं लोगों के साथ व्यापार कर सकते है जो उन के लिये निश्चित कर दिये जाते है। यदि दूसरे ग्राहक उनसे व्यापार करना चाहें तो वे या तो

उनको मना कर देते हैं अथवा अधिक मूल्य बताते हैं, जिससे कि वे उन मे व्यापार न कर सकें।

जिस समय पार्षद बाजार को क्षेत्रों मे विभाजित कर देते हैं तो उनके सदस्य अलग-अलग क्षेत्रों मे ही व्यापार कर सकते हैं। ये क्षेत्र प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे निर्धारित किये जाते हैं।

पार्षद का संगठन

(Organisation of Cartels)

परिणाम के निर्धारण मे प्रत्येक उत्पादक सदस्य को उसके 'उत्पादन के अनुपात' के अनुसार निर्धारित परिणाम ही उत्पादित करना पड़ता है अथवा वह निश्चित परिणाम ही बिक्री के लिये प्रस्तुत कर सकता है।

संघ मे व्यापारी वैधानिक उत्तरदायित्वों के साथ सम्मिलित होते हैं। वे संघ उत्पादन तथा प्रदाय पर नियन्त्रण करके वस्तु की माँग तथा लाभ पर भी नियन्त्रण करते हैं।

संगठन की दृष्टि से पार्षद को दो भागों मे बाँटा जा सकता है—

(१) राष्ट्रीय (२) अन्तर्राष्ट्रीय । राष्ट्रीय पार्षद (National Cartels) प्रायः सन्निधियों के आधार पर ही चलाये जाते हैं । इनके कार्य प्रायः सदस्यों के कार्यों को निश्चित करना, बिक्री की शर्तें बनाना, मूल्य-निर्धारण, भुगतान, निर्यात, बीमा, साख, बट्टा आदि की समुचित व्यवस्था करना है । इनके द्वारा उत्पादन के परिणामों का निश्चय करना तथा संयुक्त बिक्री की व्यवस्था करना काफी सम्भव हो जाता है। अपने क्षेत्रों मे पार्षद बहुत चतुरता के साथ व्यापार का संगठन कर सकता है। राष्ट्रीय पार्षद का संगठन प्रायः संघ या सन्निधि के समान ही किया जाता है। इस प्रकार यह कहना चाहिए कि जर्मनी के राष्ट्रीय-पार्षद अमेरिका की सन्निधियों के ही समान है। इनकी एक विशेषता यह है कि ये सदस्य-उद्योगपतियों के आन्तरिक प्रबन्ध मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करते और केवल वितरण की ओर ही ध्यान देते है।

अन्तर्राष्ट्रीय पार्षद

(International Cartels)

अन्तर्राष्ट्रीय पार्षद की स्थापना मे हम यह पहले से ही मानकर चलते है कि राष्ट्रीय बाजार, राष्ट्रीय पार्षद के द्वारा नियन्त्रित होना चाहिये। कोई भी पार्षद अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक उसका अपने आन्तरिक बाजार पर नियन्त्रण न हो। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय पार्षद की कल्पना उसी समय की जा सकती है, जब कि उसमें सम्मिलित होने वाले राष्ट्रों की घरेलू स्थिति सुदृढ़ हो। अपने बाजारों पर पूर्ण नियंत्रण इस प्रकार से किया जा सकता है—

(१) किसी विशेष वस्तु का उत्पादन एक या कुछ ही कम्पनियों के हाथ में होना चाहिए।

(२) उत्पादन करने की विधि गुप्त रूप से कुछ कम्पनियों को ज्ञात होनी चाहिए, जिससे अन्य लोग इस प्रकार का उत्पादन न कर सकें।

(३) उत्पादन के लिये कच्चे माल की व्यवस्था कुछ ही कम्पनियों के अधीन होनी चाहिए।

(४) जिस वस्तु का उत्पादन किया जाय, पार्षद को उस पर एकाधिकार प्राप्त होना चाहिए। यदि उत्पादन अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर हो तो कच्चे माल का एकाधिकार कुछ ही देशों के पास होना चाहिए।

श्री वेन्डलवर्ग ने बताया है कि द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ में करीब १७५ अन्तर्राष्ट्रीय पार्षद आवश्यक वस्तुओं में व्यापार कर रहे थे। किन्तु ये पार्षद धीरे-धीरे अपनी कार्यशीलता में शिथिल पड़ते जा रहे हैं। वर्तमान काल में पार्षद के संगठन में पर्याप्त परिवर्तन दिखाई दे रहे हैं। वे अब अधिक लाभ या एकाधिकार की रक्षा के लिए उत्सुक नहीं दिखाई देते, वरन् माल की अधिक से अधिक खपत के लिए उत्सुक प्रतीत होते हैं। भारतवर्ष में 'सीमेंट-मार्केटिंग कम्पनी' तथा 'एसोशिएटेड सीमेंट कम्पनी' पार्षद की इस क्रिया के नमूने हैं। अब पार्षद की गतिविधि में विशेष गोपनीयता नहीं रहती और उसमें जनता की राय को महत्त्व दिया जाने लगा है। इस दिशा में कितने ही उदाहरण लिए जा सकते हैं, जिनसे यह प्रतीत होता है कि पार्षद अब जनमत को विशेष महत्त्व देने लगे हैं। 'अन्तर्राष्ट्रीय चीनी संगठन', जिसकी स्थापना १९३१ में हुई, उसमें सामूहिक नियन्त्रण पर विशेष जोर दिया गया है। 'अन्तर्राष्ट्रीय रबर नियन्त्रण कमेटी', जो १९३४ से कार्य करने लगी है उसके सदस्य देशों के रबर व्यापार पर पारिमाणिक नियंत्रण लगा दिया है। इसी प्रकार चाय में व्यापार करने वाले देशों में भी इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय पार्षदों की स्थापना करके इसका स्वरूप अत्यन्त व्यापक बना दिया है।

जहाँ तक उद्योगों के नियन्त्रण का प्रश्न है पार्षद के द्वारा राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर उद्योगों का सुचारु रूप से नियन्त्रण किया गया है। अमरिका में रंगसाजी, खनिज, निर्माण, दियासलाई आदि उद्योगों में पार्षद बहुत कुशलता से कार्य कर रहे हैं। भारतवर्ष में भी चाय, चीनी, सीमेंट, जूट आदि उद्योगों में पार्षद बड़ी कुशलता से आगे बढ़ रहे हैं। जर्मनी का उद्योग अपने विकास के लिए इसी पार्षद पद्धति का आभारी है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उद्योग विकास योजना के लिए इसने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस प्रकार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पार्षदों द्वारा औद्योगिक नियन्त्रण में एक व्यापक वृद्धि हुई है।

प्रन्यास
(Trusts or Combines)

प्रन्यास शब्द का अर्थ विश्वास मे है, अर्थात् सम्मिलित रूप से कार्य करने वाले व्यक्तियों का आपस मे विश्वास होना चाहिये जिससे वे उस हित का विश्वसनीयता के साथ प्रबन्ध कर सकें। यह सगठन प्रायः सरक्षण के लिये ही विशेष प्रयोग मे लाया जाता है। अतः इसका उद्देश्य सगठनों का सरक्षण कर उनके विकास तथा स्वामित्व के लिये कार्य करना होना है। सामान्यतः ये सगठन इस प्रकार की संस्थाओं के लिये होते है जो व्यापारिक न हों, किन्तु १९वी शताब्दी के अन्तिम काल मे अमेरिका मे व्यापारिक सगठन के लिए इस प्रकार के प्रन्यासो का जन्म हुआ। श्री हेने व्यापारिक प्रन्यासों की परिभाषा इस प्रकार की है—

"प्रन्यास स्कन्ध-धारी व्यापारियों का एक संयुक्त सगठन है, जिसको कि संरक्षकों के अधीन प्रन्यास प्रमाणपत्र प्राप्त कर प्रबन्ध के लिये छोड देते है। यह प्रमाण-पत्र सदस्यों के अश-अधिकार का एक सबूत होता है तथा उससे होने वाले लाभ को प्राप्त करने का एक साधन है। इस सगठन मे यद्यपि सदस्य सम्मिलित रूप मे कार्य करते है, किन्तु उनका व्यापारिक व्यक्तित्व अलग होता है। रॉबर्टसन ने अपनी "उद्योग का नियन्त्रण" नामक पुस्तक मे लिखा है कि "इस पद्धति मे, जो कि प्रायः अब पुरानी हो चुकी है, अलग-अलग कम्पनियों के अशधारी अपने अशो को स्कन्ध मे परिणत करके उन्हे सरक्षकों के सुपुर्द कर देते है, जिन्हे उसके व्यवहार करने का अधिकार प्राप्त होता है और जो उसके लिए स्कन्धधारी को एक प्रमाण-पत्र दे देते हैं, जिसके द्वारा स्कन्धधारी अपने स्कन्धों का लाभांश प्राप्त कर सके।" इसलिए उनको "लाभाधिकारी" (Beneficiaries) भी कहते है। प्रन्यास अन्य प्रकार के सयोगो की अपेक्षा अधिक विस्तृत रहता है। इसकी आन्तरिक तथा वाह्य गतिविधि एक ही नियन्त्रण मे रहती है। इस प्रकार हम प्रन्यासों को एकाधिकार की पद्धति का सगठन भी कह सकते है और कभी-कभी इसमे उसके वे समस्त दोष भी हो सकते हैं।

ऊपर दिये गये विवेचन के अनुसार प्रन्यास के निम्नलिखित लक्षण होंगे—

(१) इसमे सम्मिलित होने वाले व्यक्तियों का ट्रस्टियों पर विश्वास होना आवश्यक है।

(२) स्कन्धों को सरक्षकों के अधीन पूर्ण रूप मे होना चाहिए।

(३) स्कन्ध स्वामियों का स्कन्धों पर स्वामित्व होना आवश्यक है।

(४) संरक्षकों द्वारा स्कन्धधारियों को उनके स्वामित्व का प्रमाण-पत्र दिया जाना चाहिए।

(५) इसमें संरक्षकों को प्रन्यास के अन्तर्गत आने वाले उद्योगों की समस्त क्रियाओं पर नियन्त्रण करने का अधिकार होना चाहिये।

(६) इसमे किसी प्रकार का प्रभुत्व प्राप्त करने अथवा एकाधिकार प्राप्त करने का उद्देश्य होना चाहिए ।

प्रन्यास का महत्व
(Importance of Trusts)

जहाँ तक प्रन्यास के कार्यो को समझने का प्रश्न है, उसके कार्यों को हम *सुविधा से पार्षद के कार्यो से मिला सकते है। इन दोनों प्रकार के सगठनो की* प्रवृत्तियाँ एक ही प्रकार की होती है ; जैसे, आपस की प्रतिद्वन्द्विता को मिटाकर एकाधिकार प्राप्त करने की लालसा रखता है। प्रन्यास चूँकि सर्वसत्ताअधिकारी होता है, इसलिए वह व्यापारिक प्रगति मे विवेकीकरण का प्रयोग सफलता से कर सकता है।

इससे वृहत उत्पादन की क्रिया को लाभकारी रूप मे चलाया जा सकता है। इसमे सदस्यों को विशेष बोलने का अधिकार नही रहता, इसलिए उत्पादन मे हर प्रकार की सुविधा प्राप्त की जा सकती है। पार्षद मे इस प्रकार की सुविधा प्राप्त नही होती। पार्षद का संयुक्त स्वामित्व होने के *कारण उसमे उत्पादन सम्बन्धी समस्याये* जटिल हो जाती हैं।*

किन्तु अनुभव से ज्ञात होता है कि प्रन्यासो की अपेक्षा व्यक्तिगत व्यापार ही अधिक लाभप्रद रहा है। यह अनुभव अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी आदि देशों ने किया है और उनका मत है कि इनके द्वारा बहुत वर्षो तक इनके सदस्यों को उससे भी कम लाभांश मिला है, जितना वे पहले व्यक्तिगत रूप मे लेते थे (ब्रुकिंगज)।

यद्यपि प्रन्यासों के द्वारा उद्योग के साधनो का पूर्ण उपयोग नही हुआ है तथापि उनकी प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन अवश्य किया गया है तथा यान्त्रिक योग की सुविधा मिली है, जिसने उत्पादन मूल्य में कमी तथा लाभ में वृद्धि हो सकी, किन्तु *आशा के अनुसार प्रन्यास कार्य नहीं कर सके।* इसलिए अमेरिका मे इनको अवैधानिक घोषित किया गया तथा १८९० में इनका निर्माण रोक दिया गया। १९१४ तक अमेरिका में इन सगठनों का लोप सा हो गया। इसका कारण यह था कि इन सस्थाओ मे विरोधी विचारधाराओं के लोगो को सम्मिलित करके अधिक उत्पादन *करने की ओर ध्यान दिया जाता था। या यों कहना चाहिए कि ये सस्थाएँ अर्थशास्त्रीय* सिद्धान्तो के संघर्ष करने का प्रयत्न कर रही थी।

प्रन्यास के प्रकार
(Types of Trusts)

(१) **अमरीकी प्रन्यास** (American Trusts)—अमेरिका में जिन प्रन्यासो

---

* पूरा वर्णन पीछे पढ़िये।

का जन्म हुआ वे 'मैसाचुसैट्स प्रन्यासों' के नाम से पुकारे जाते हैं। इनकी विशेषता यह है कि इनमें सम्मिलित होने वाले **अंशधारियों का अस्तित्व अलग होने पर भी वे अपने अधिकार कुछ प्रन्यासों को सौंप** कर उनका नियन्त्रण अपने चुने हुए सदस्यों के द्वारा करते है। अब ये संस्थायें अमेरिका मे नही दिखाई देती।

(२) **मताधिकारी प्रन्यास (Voting Trusts)**—दूसरे प्रन्यास जिनका जन्म अमेरिका मे हुआ वे मताधिकारी प्रन्यास है। इनमे कम्पनियो के बहुसंख्यक अंशधारी अपने अंशो को प्रन्यास के अधीन कर देते है। इसका कारण केवल यही होता है कि वे अपने बहुमत का सदुपयोग कर सकें। ये अपने अंशो को प्रन्यास मे बहुत कम अवधि तक रखते हैं और जब वह अवधि समाप्त हो जाती है तो वे अपने अंशो को वापस ले लेते है, नवीन कम्पनियो का जनता मे विश्वास जमाने के लिए यह क्रिया उपयोगी होती है।

(३) **विनियोग प्रन्यास (Investment Trusts)**—इनका जन्म भी अमेरिका मे ही हुआ, किन्तु इनका निर्माण कम्पनी विधान के अन्तर्गत किया जाता है। इनका उद्देश्य अपने तथा अन्य कम्पनियो के अंशों तथा ऋण-पत्रों मे विनियोग करना होता है। इसके द्वारा नवीन उद्योगों तथा कम्पनियो को शीघ्र ही पूँजी प्राप्त हो जाती है। ये प्रन्यास उन उद्योगों तथा कम्पनियों पर तब तक नियन्त्रण रखते है जब तक उनको इन सस्थाओं मे लगाई हुई पूंजी प्राप्त नही हो जाती। उनके हस्तगत किए हुये अंशो के बिक जाने के बाद वे अपना नियन्त्रण भी छोड देते है।

(४) **अस्थाई प्रन्यास (Temporary Trusts)**—इन प्रन्यासों का लक्ष्य भी विनियोग करना ही होता है। किन्तु इनकी विशेषता यह है कि ये निश्चित कम्पनियो तथा उद्योगों के ही अंशों मे विनियोग करते है। इनका जीवन काल निश्चित कर दिया जाता है, जिसके बाद इनका समस्त व्यापार बेच दिया जाता है। अपने व्यापार की संकीर्णता के कारण इन्हे अस्थाई प्रन्यास कहा जाता है। इन प्रन्यासो का जन्म अमेरिका तथा ब्रिटेन मे हुआ और ये कुशलतापूर्वक कार्य कर रहे है।

सामुदायिक हित संयोग
(Community Interest Combinations)

सामुदायिक हित संयोग उस संस्था को कहते है जिसके द्वारा दो या दो से अधिक कम्पनियो (जिनके स्कन्धों का स्वामित्व सीमित व्यक्तियो के हाथो मे हो) मे सुखद सम्बन्धों की स्थापना की जाती है। इन सस्थाओं के चुने हुए व्यक्ति आपस की प्रतिद्वन्द्विता मिटाने तथा सामुदायिक हित की रक्षा के लिये एक संचालक मडल के रूप मे कार्य करते है। यह पद्धति अन्य सस्थाओं के हित की रक्षा के लिये अत्यन्त लाभदायक है, क्योंकि इसमे अल्पमत वाले लोग भी यदि संगठित हो सकें तो चुनाव

जीत सकते हैं तथा अपनी आवाज को उतनी ही शक्तिशाली बना सकते हैं - जितनी बहुमत वालों की होती है।

सामुदायिक संस्थाओं का विकास प्रायः दुनिया में सर्वत्र हुआ है। इसलिये यह कहना बड़ा कठिन है कि पहले इनका विकास कहा हुआ, किन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इनका विकास व्यापक रूप से हुआ है।

सामुदायिक हित संस्थाओं के प्रकार
(Forms of Community Interest)

इसको सामान्य रूप से तीन भागों में बांटा जा सकता है—(१) पारिवारिक समुदाय, (२) नागरिक समुदाय, (३) अधिकोष के सामुदायिक संगठन। भारतवर्ष में ये दो प्रकार के संगठन हैं; (१) *अभिकर्ताओं द्वारा नियन्त्रित संगठन, तथा* (२) संचालकों द्वारा नियन्त्रित संगठन।

(१) **पारिवारिक समुदाय** (Family Community Interest)—पहले प्रकार के संगठन प्रायः पाश्चात्य देशों में पाये जाते हैं। जैसे अमेरिका में रॉकफेलर समुदाय, मेलन समुदाय, ड्यूपोण्ट समुदाय आदि। इनमें रहने वाली कम्पनियों का प्रबन्ध तथा समन्वय अनेक कारणों से हुआ है। जैसे, कुछ कम्पनियों के स्कन्ध दूसरी कम्पनियों को बेच देने से या हस्तान्तरित कर देने से अथवा उपहारस्वरूप दे देने से इनका विकास हुआ है। इसके साथ-साथ सम्पत्ति की उन्नति, व्यापारिक प्रसार आदि ने भी इस प्रकार के व्यापारिक संगठनों को जन्म दिया है। कुछ अवस्थाओं में (जैसे ड्यूपोण्ट समुदाय में) कम्पनियों के उत्पादन के अनुसार आपस में बाजारों को बाँट दिया जाता है। जिस अवस्था में संयुक्त व्यापार हो जाय तो उसका उपार्जन संयुक्त सम्पत्ति माना जाता है।

(२) **नागरिक समुदाय** (Local Community Interest)—नागरिक समुदाय का जन्म नगरों में बड़े-बड़े बैंक, उद्योग धन्धे तथा व्यापारिक संस्थाओं के एक ही संचालकों के होने से सामुदायिक हित रक्षक संस्थाओं का जन्म हुआ। इस प्रकार इन अलग-अलग कम्पनियों के संचालक एक दूसरी कम्पनी के संचालन में योग देते हैं और उनकी आर्थिक, औद्योगिक तथा व्यापारिक गतिविधियों में सामंजस्य आ जाता है। कुछ दशाओं में इनके सम्बन्ध अत्यन्त निकट तथा कुछ दशाओं में शिथिल होते हैं।

(३) **अधिकोषण समुदाय** (Banking Community Interest)—अधिकोष के सामुदायिक संगठन आपस में प्रतियोगिता को मिटाने के उद्देश्य से स्थापित किये गये हैं। इन संगठनों के द्वारा नई प्रतिभूतियों के निर्गमन तथा प्रत्येक क्षेत्र में व्यापार करने में प्रतिद्वन्द्विता न करने का समझौता करते हैं। सरकार अपनी प्रतिभूतियों को उन्हीं अधिकोष संघों को देती है जो आपस में प्रतियोगिता न करें। इस संस्थाओं के

द्वारा निजी प्रतिभूतियों के निर्गमन पर भी प्रतिबन्ध लगाया जाता है। कोई भी निजी प्रतिभूति इन संस्थाओं के बाहर नहीं बेची जा सकती। इसके साथ-साथ ये संस्थायें, अंश निर्गमन करने वाली संस्थाओं के संचालकों का चुनाव आदि करके उनकी आर्थिक गतिविधि पर भी नियन्त्रण करती है। जो अधिकोष इनका साथ नहीं देते उन पर दबाव डाल कर सहयोग प्राप्त किया जाता है।

इसमें उपरोक्त संस्थाओं के अलावा समय-समय पर अन्य प्रकार की संस्थाओं जैसे रेलवे कम्पनियों, टेलीफोन कम्पनियों, बैंकों आदि में भी सामुदायिक हित रक्षक संस्थाओं का निर्माण किया जा सकता है।

(४) **प्रबन्ध-अभिकर्ताओं द्वारा नियन्त्रित संगठन** (Organisations controlled by Managing Agents)—भारतवर्ष में प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के द्वारा अनेक कम्पनियों के प्रबन्ध किये जाने के कारण उन कम्पनियों का संगठन बड़ी सुविधा से इस पद्धति के अनुसार किया जा सकता है। एक प्रबन्ध अभिकर्ता के अन्तर्गत जितनी भी कम्पनियाँ होती हैं वे आपस में अपने हितों की रक्षा के लिए कार्य करती हैं। यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे व्यापक रूप में फैलती है और वो सब प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के द्वारा नियंत्रित किया जाता है। भारतवर्ष में विदेशी प्रबन्ध-अभिकर्ताओं से प्रबन्ध भारतीय प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के हाथ में आने से भी इसको विशेष प्रोत्साहन मिला है। इसके विकास का प्रबन्ध-अभिकर्ता पद्धति के अन्तर्गत एक और कारण यह है कि भारतवर्ष में भारतीय तथा विदेशी अभिकर्ताओं ने मिलकर भारतीय कम्पनियों के नाम से कार्य करना आरम्भ कर दिया है, जिससे उद्योग तथा अन्य व्यवसाय में सामुदायिक हित रक्षण पद्धति को विशेष प्रोत्साहन मिला है।

(५) **संचालकों द्वारा सामूहिक हित** (Directors' Community Interest)—कितनी ही कम्पनियों के एक ही संचालक होने के कारण भारतवर्ष में इस प्रकार के संगठनों को प्रोत्साहन मिलता है। श्री अशोक मेहता के अनुसार १९४० में चाय उद्योग में ३ व्यक्ति ७० संस्थाओं के संचालक थे तथा १२ के पास १८४ संस्थाएँ थीं। इसी प्रकार अन्य उद्योगों में भी यही स्थिति थी। इसके कारण सामुदायिक हित रक्षक पद्धति को विशेष प्रोत्साहन मिला।

सामुदायिक हित की हानियाँ (Disadvantages of Community Interest)—सामुदायिक हित रक्षक संयोग से जितना लाभ हुआ उतनी ही उससे हानि भी हुई है, जिसको निम्न प्रकार से गिना जा सकता है।

(१) संचालकों को प्रत्येक संस्था के प्रबन्धक पर पूर्ण नियन्त्रण नहीं रहता और प्रायः वे लोग, जो मुख्य संस्थाओं के संचालक होते हैं, संस्थाओं पर नियन्त्रण करते हैं। इस प्रकार पक्षपात आदि को प्रोत्साहन मिलता है।

(२) इन संस्थाओं में प्रायः बैंक के संचालकों का अधिक आधिपत्य हो जाता

है और अन्य लोग भी संस्था की दैनिक गतिविधि का कार्य उन लोगों के ऊपर छोड देते है, क्योंकि वह समझते है कि अवसर आने पर सस्था को आर्थिक सकट मे नहीं पडने देंगे, जिससे कभी-कभी बैंक के सचालकों की बडी दयनीय स्थिति हो जाती है।

(३) बैंक अधिकोषण संस्थाओं को इससे विशेष लाभ होता है, क्योंकि उस सस्था का सारा बैंक सम्बन्धी कार्य उनके ही पास चला जाता है और उसको कितने ही प्रकार के लाभ हो जाते है।

(४) व्यापारिक दृष्टि से भी ये सस्थायें विशेष हितकर नहीं है क्योंकि एक तो ये प्रभावशाली नहीं होती और दूसरे इनके काम विशेष सुविधा के साथ नहीं चलते। इसके साथ-साथ वृहत् उत्पादन मे इनके द्वारा मितव्ययता सम्भव नही होती।

(५) इनका जीवन-काल भी स्थाई नही होता, क्योंकि ये तभी तक कार्य कर सकती है, जब तक इनमे सदस्य कम्पनियो के हित रहे।

(६) सामाजिक दृष्टिकोण से सचालकों का इस सस्था मे आने से अन्य व्यक्तियो के हितों का शोषण होने लगता है, क्योंकि ये सचालक समान स्थिति वाली कम्पनियो के सचालक न होकर कभी-कभी सहायक कम्पनियो के सचालक होते है, जिसमे प्रभुत्व वाली कम्पनियाँ छोटी कम्पनियों का शोषण करती है।

(७) इनका एक दोष यह भी है कि इनकी समस्त गतिविधि गुप्त रहती है और यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कौन व्यक्ति किस चीज के लिये उत्तरदायी है।

(८) इन सस्थाओं का सचालन करना कठिन होता है।

बड़ा व्यापार
(Big Business)

बडे व्यापार का अर्थ (Meaning of Big Business)—जब थोडे से व्यक्तियों के हाथ मे, अधिक पूँजी तथा साधनों की सुलभता होने के कारण, अनेक *सहायक सस्थाओं का नियन्त्रण रहता है तो उसको बडा व्यापार* कहते है। इस प्रकार के बडे व्यापार सबसे पहले अमेरिका प्रारम्भ हुए। इनका प्रमुख उद्देश्य आपस की प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त करना, अधिक उत्पादन करना, उत्पादन मे मितव्ययता लाना तथा उन्नति की भावनाओं को जागृत करना है। इसकी व्यवस्था प्राय. संधारी कम्पनियों (Holding Companies) के समान होती है। जब व्यापार में किसी प्रकार की प्रतिस्पर्धा होती है तो बडी कम्पनियाँ छोटी कम्पनियों का प्रबन्ध अपने हाथ मे ले लेती है, जिससे व्यापार का आकार बहुत विशाल हो जाता है। कुछ अवस्थाओं मे बाहरी लोगों पर प्रभाव डालने के लिये तथा अपनी नींव दृढ बनाने के लिये बडे व्यापार का निर्माण किया जाता है। इसके लिये एक ही प्रकार के उद्योग

पति अथवा व्यापारी "समतल संयोग" की स्थापना करके कार्य करते है। इस संगठन से उनकी आर्थिक तथा उत्पादन नीति सुदृढ बन जाती है और सामूहिक नियन्त्रण भी संभव हो जाता है। प्रतियोगिता का समाप्त होना सम्भव हो जाता है।

"उद्गम संयोगो" की स्थापना करके एक उद्योग की अलग-अलग शाखायें सामूहिक रूप से उत्पादन प्रारम्भ कर देती है, जिसमे कि उनको समस्त व्यापारिक लाभो के साथ-साथ उत्पादन में गति लाने का अवसर मिल जाता है। लोग कच्चे माल से उसके पूर्ण उत्पादन तक की क्रियाओं को नियन्त्रित करके आगे बढाना प्रारम्भ कर देते हैं।

बडा व्यापार "चक्रित संयोगो" के द्वारा भी सुविधा से स्थापित किया जाता है, क्योंकि उसमे भिन्न व्यापारो में लगी हुई संस्थाएँ आपस मे मिलकर लाभ बढाने का प्रयत्न करती हैं। संस्थाओं को आर्थिक योग देने के उद्देश्य से सन्निधियाँ, पार्षद, संघ आदि का भी सुगमता से निर्माण किया जा सकता है।

यह वाक्यांश कि, "कुछ व्यापार प्रारम्भ से ही बड़े होते है, कुछ बाद को हो जाते है तथा कुछ जबरदस्ती बडे बना दिये जाते है" , बहुत कुछ सीमा तक सत्य है। जो *व्यापार प्रारम्भ से ही बडे* होते है उनकी व्यवस्था पूँजी तथा उत्पादन व्यापार को प्रारम्भ करते ही बहुत बड़े पैमाने पर किया जाने लगता है, क्योंकि छोटे पैमाने पर करने से वह व्यापार प्रारम्भ ही नहीं किया जा सकता, जैसे, 'टाटा आइरन एण्ड स्टील कम्पनी'। कुछ व्यापार जो पहले छोटे पैमाने पर प्रारम्भ किये जाते है उनका क्षेत्र इतना व्यापक होता है तथा उनमे एकाधिकार की सुविधा इस प्रकार से होती है कि वह धीरे-धीरे अपने आकार को बढाने मे सफल होता है, जैसे, कलकत्ते का जूट व्यापार। किन्तु कुछ इस प्रकार के व्यापार होते है जिनको *किसी भी व्यवस्था मे व्यक्तिगत रूप से बढाने का अवसर* नहीं रहता और इसलिये वे आपस मे मिलकर ही अपने व्यापार का वृहत रूप बना सकते है।

बड़े व्यापार के प्रकार (Forms of Big Business)—वृहत् व्यापार को तीन भागो मे बाँटा जा सकता है—

(१) जो व्यापार जन्म से ही बडा होता है उसको चलाने के लिये प्रारम्भ मे ही अधिक पूँजी तथा वृहद् व्यवस्था की आवश्यकता होती है। इनके उदाहरण हिन्दुस्तान एयर क्राफ्ट, सिंदरी फर्टीलाइजर्स, चितरंजन लोकोमोटिव्ज आदि हैं।

(२) जो व्यापार धीरे-धीरे बडा रूप धारण करते हैं उनकी स्थिति इसी प्रकार धीरे-धीरे बढती है। उदाहरण के लिये, 'टीटागढ पेपर मिल्स कम्पनी लिमिटेड', 'सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया लिमिटेड' आदि ने अपना रूप धीरे-धीरे ही बढाया है।

(३) 'इण्डियन शुगर सिण्डीकेट लिमिटेड', 'ऐसोसिऐटेड सीमेंट कम्पनीज

लिमिटेड' आदि इस प्रकार की सस्थाएं है जिनके सदस्य बहुत छोटे-छोटे व्यापारी है, किन्तु इस सम्मेलन के कारण उनकी स्थिति भी बडे व्यापारो के ही समान हो गई है।

वाणिज्य वेश्म
(Chamber of Commerce)

वाणिज्य कक्ष या वाणिज्य वेश्म (समिति) वे सस्थाएँ है, जो अपने सदस्य व्यापारियों के लाभ का कार्य करती है तथा उनकी कठिनाइयो के निवारण के लिये सरकार तथा अन्य पक्षो से सम्बन्ध स्थापित करती है। प्रायः इस प्रकार के सम्बन्ध प्रादेशिक आधार पर किये जाते है और वे उस क्षेत्र के व्यापार तथा उद्योग की रक्षा एवं विकास के लिये हमेशा क्रियाशील रहते है। इतना ही नही, ये सगठन समस्त देश की व्यापारिक सस्थाओ के लिये भी कार्य करते है। भारतवर्ष तथा ब्रिटेन मे ये सस्थाएँ ऐच्छिक सयोग के रूप मे चलाई जाती है। किन्तु अन्य देशों मे ऐसी संस्थाएँ प्रायः नियन्त्रण मे रहती है। और उसमे सरकार तथा व्यापार के प्रतिनिधियो का एक सामूहिक प्रतिनिधित्व रहता है।

समितियो के कार्य (Functions of Chambers)—प्रायः वाणिज्य समितियो के निम्नलिखित कार्य होते हे—

(१) अपनी सस्थाओ के **व्यापार तथा उद्योगो की उन्नति करना।**

(२) व्यापार एव उद्योग के आँकड़े सकलित करके उनके विषय मे यथोचित सूचनाएँ प्रकाशित करना।

(३) अपने व्यापार तथा **उद्योग का साहित्य प्रकाशित करना।**

(४) सरकार द्वारा बनाये गये **विधेयको के पक्ष तथा विपक्ष मे जनमत बनाना** तथा सरकार को उद्योगों तथा व्यापार के उपयोगी कानूनों को बनाने के लिये बाध्य करना।

(५) उनके व्यापार तथा उद्योग मे होने वाले **झगडो का निपटारा करना** तथा उसके लिये कानूनी कार्यवाही करना।

(६) व्यापार तथा उद्योग के विकास के लिये **उचित योजनाएँ बनाना।**

(७) व्यापार तथा उद्योग की व्यवस्था के लिये जो कुछ भी वैधानिक कार्य वे कर सकते हों, उसको करके व्यापार की उन्नति करना।

(८) विदेशी संस्थाओं से सम्बन्ध स्थापित करके व्यापार तथा उद्योग के लिये **अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र की स्थापना करना।**

वाणिज्य वेश्म राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय तथा प्रादेशिक आधार पर चलाये जाते है। अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर सर्वप्रथम फ्रास, ब्रिटेन, इटली, अमेरिका, बेल्जियम आदि देशो ने वाणिज्य समिति की स्थापना की। इसका उद्देश्य राष्ट्रो मे व्यापारिक सम्बन्धो को सुदृढ बनाकर व्यापारिक उन्नति करना था। इसका प्रधान कार्यालय

पेरिस में है। इसमें राष्ट्रीय आधार पर चलने वाली वाणिज्य-समितियाँ अपने प्रतिनिधियों को भेजकर औद्योगिक, आर्थिक व्यापारिक तथा यातायात सम्बन्धी मामलों पर समझौते करती हैं और उसके निर्णयों को सब देश के व्यापारी मानते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य समिति ने अपने नीति (न्यायालय) पंचायत की स्थापना भी की है, जिसमें व्यापारिक झगड़ों का समझौता किया जाता है। भारतवर्ष में इस समिति की सदस्यता के लिये सन् १६२८ में एक राष्ट्रीय वाणिज्य समिति की स्थापना की गई, जिसका प्रधान कार्यालय दिल्ली में है।

भारतवर्ष में वाणिज्य समितियाँ सर्वप्रथम बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता में स्थापित की गई। बंगाल में इसकी स्थापना १८२४ में तथा बम्बई और मद्रास में १८३८ में हुई। इन समितियों का अर्थ अंग्रेजी वस्तुओं के लिये भारतीय बाजार बढ़ाना था। धीरे-धीरे इन प्रान्तों में अन्य व्यापारियों ने भी उसी प्रकार की समितियों की स्थापना की और उनको रजिस्ट्री भारतीय कम्पनी विधान १६१३ की धारा २६ के अनुसार होने लगी।

इन समितियों ने भारतीय व्यापार की बहुत कुछ सेवायें की, जिनमें से मुख्य इस प्रकार हैं—(१) व्यापारियों के हितों की रक्षा करना, (२) उनके आपस के सम्बन्धों को सुदृढ़ रखना, (३) व्यापारिक आँकड़ों का संकलन करना, (४) व्यापारियों को वैधानिक योग देना, (५) व्यापार में परामर्श देना, (६) औद्योगिक क्षेत्रों में तान्त्रिक राय देना, (७) सरकार को व्यापारिक नीतियों के बनाने में मदद देना, तथा (८) विदेशों में सम्बन्ध स्थापित रखना।

भारत की वाणिज्य समितियाँ राष्ट्रीय, प्रान्तीय या क्षेत्रीय आधार पर चल रही हैं। प्रान्तीय आधार पर चलने वाली समितियाँ अपने प्रान्त या राज्य की व्यापारिक समस्याओं को हल करती हैं। इनमें मुख्य मारवाड़ी चेम्बर ऑफ कॉमर्स, बंगाल चेम्बर ऑफ कॉमर्स, बम्बई चेम्बर ऑफ कॉमर्स आदि हैं। ऑल इण्डिया चेम्बर ऑफ कॉमर्स की स्थापना १५ प्रान्तीय वाणिज्य समितियों के योग से सन् १६२० में हुई और इसका उद्देश्य भारत में यूरोपीय व्यापारिक संस्थाओं को प्रोत्साहन देना था। सन् १६२६ में भारतीय व्यापारियों की ओर से भी फेडरेशन ऑफ इण्डियन चेम्बर ऑफ कामर्स एण्ड इन्डस्ट्रीज की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य भारतीय उद्योगों को विदेशों में प्रोत्साहन देना है। १६३२ में ऑल इण्डिया ओर्गनाइजेशन ऑफ इन्डस्ट्रियल एमप्लायरस की स्थापना भी की गई, जिसका उद्देश्य भारतीय उद्योगों को बढ़ाना था। इनके अलावा भारत में अब प्रायः सभी दिशाओं में *वाणिज्य समितियों की स्थापना की गई है।*

एकीकरण अर्थात् संधनन
(Consolidation or Merger)

साधारण शब्दो मे एकीकरण का अर्थ जोडना या मिलाना होता है। जिस समय कम्पनियाँ अपने अस्तित्व को मिला कर किसी एक नवीन रूप मे परिवर्तित हो जाती है तो उसको एकीकरण कहते हैं। इनके निर्माण के कारण कम्पनियों का संगठन, प्रबन्ध तथा नियन्त्रण का केन्द्रीयकरण हो जाता है *तथा समस्त सदस्य सस्थायें अपना अस्तित्व खो देती है।* एकीकरण को हम दो भागो मे बाँट सकते है, (१) अपूर्ण एकीकरण (Partial Consolidation), (२) पूर्ण एकीकरण (Full Consolidation)। यहाँ पर हम पूर्ण एकीकरण का ही विवेचन करेंगे।

पूर्ण एकीकरण प्रायः दो भागो मे बाँटा जाता है—

(१) सम्मिश्रण (Amalgamation)—जब दो या दो मे अधिक कम्पनियाँ मिल कर किसी नवीन कम्पनी को प्रारम्भ करे तथा अपने अस्तित्व को खोकर दोनों कम्पनियों के नामो को मिला कर नवीन कम्पनी का निर्माण करें तो इसे *सम्मिश्रण एकीकरण कहेंगे,* क्योकि उससे यद्यपि पुरानी कम्पनियो के अस्तित्व समाप्त हो जाते है फिर भी नई कम्पनी मे उनका अस्तित्व स्पष्ट दिखाई देता है, किन्तु उसका अर्थ यह नही हुआ कि इस क्रिया से सम्मिश्रित कम्पनी नई नही होगी। इस प्रकार कम्पनियों के निर्माण मे भिन्न विधि का प्रयोग किया जाता है।

सम्मिश्रण के लिये **कम्पनी में तीन चौथाई सदस्यों द्वारा प्रस्ताव पास किया जाना चाहिये** ***तथा न्यायालय की स्वीकृति प्राप्त कर लेनी चाहिये। उसकी प्रतिलिपि*** **रजिस्ट्रार के कार्यालय में भेजी जानी आवश्यक है।**

(२) सविलयन (Absorption)—*सविलयन का अर्थ* एक का दूसरे मे इस प्रकार से मिल जाना है कि पहले का अपना निजी अस्तित्व मिट जाय। जब कोई कम्पनी अपने समस्त व्यापारिक अस्तित्व को दूसरी कम्पनी मे मिला देती है *तो वह अस्तित्व को खो बैठती है , जैसे चीनी का उद्योग करने वाली अनेक कम्पनियाँ* हो और उसकी आर्थिक अथवा व्यापारिक स्थिति उस प्रकार हो कि उनका स्वतन्त्र रूप से कार्य करना हानिकारक हो तो वे अपने मे से ही सबसे शक्तिवान कम्पनी मे मिल कर अथवा एक नवीन कम्पनी का निर्माण करके अपने अस्तित्व को खो देती है। इसका अर्थ यह होता है कि वे आर्थिक सकटो से मुक्त हो जाती है तथा अपने *व्यापार एवं उद्योग का सचालन सुचारु रूप से कर सकती है। सविलयन कभी-कभी* दबाव के कारण भी किया जाता है। इसलिये उसकी परिभाषा इस प्रकार भी की जाती है कि 'उत्पादन, प्रबन्ध, व्यापार या अर्थ-व्यवस्था के लिए जब कई सस्थाओं का एक इकाई मे परिवर्तन किया जाता है तो उसको सविलयन कहते है।' सविलयन का ढग भी सम्मिश्रण के समान ही हो जाता है।

सन्धारी कम्पनियाँ
(Holding Companies)

सन्धारी अथवा पोषक कम्पनियाँ वे कम्पनियाँ है जो एक या एक से अधिक कम्पनियों के अधिकांश स्कन्ध पर स्वामित्व प्राप्त करके उनकी व्यापारिक क्रियाओं पर नियन्त्रण करती है। यह नियन्त्रण उनको तब ही प्राप्त होता है जब उनके पास मतदान की अधिक शक्ति होती है और वे अल्पसंख्यक को अपने बहुमत से हरा देने में सफल होती है। भारतीय कम्पनी विधान १९१३ की धारा २६ के अनुसार कोई भी कम्पनी निम्नलिखित दशाओं में सन्धारी कम्पनी बन सकती है—(१) जब उसके द्वारा दूसरी कम्पनी की निर्गमित पूंजी के ५०% से अधिक अंशों पर अधिकार हो, (२) जब दूसरी कम्पनी में उसको ५०% से अधिक वोट देने का अधिकार हो, अथवा (३) जब उसको दूसरी कम्पनी में अधिकांश सचालकों को नियुक्त करने का अधिकार हो और दूसरी उसकी सहायक कम्पनियाँ हों।

कुछ कम्पनियों के पास अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होती और वे अपनी समस्त पूंजी को अपनी सहायक दूसरी कम्पनियों में लगा देते हैं। इस प्रकार से इन कम्पनियों को शुद्ध सन्धारी कम्पनियाँ (Pure Holding Companies) कहा जाता है। दूसरी कम्पनी, जो अपना कार्य भी करती है और उसके साथ साथ सन्धारी कम्पनी का भी कार्य करती है, सन्धारी कम्पनियाँ कहलाती है। कभी-कभी सन्धारी कम्पनियों का निर्माण इसलिए ही किया जाता है कि वे पूर्ण अस्तित्वधारी कम्पनियों पर अधिकार करके उनका सचालन करें। इसलिए कभी यह भी सम्भव हो जाता है एक सहायक कम्पनी एक से अधिक सन्धारी कम्पनियों की सहायता करे। यदि मान लिया जाय कि कम्पनी **पूर्वाधिकार अंशों** में ५०% से अधिक अंशों को एक कम्पनी तथा **साधारण अंशों** में ५०% से अधिक अंशों को दूसरी कम्पनी रखती है तो मतदान के अवसर पर पहली कम्पनी अंशों में तथा दूसरी कम्पनी सचालकों में सन्धारी कम्पनी हो जायेगी। इस प्रकार एक ही कम्पनी अलग अलग रूप से दो कम्पनियों की सहायक कम्पनी हो जाती है।

सन्धारी कम्पनियों के उद्देश्य (Objects of Holding Companies)—सन्धारी कम्पनियों का निर्माण निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है—

(१) कम पूंजी वाली तथा हानि पर चलने वाली कम्पनियों को **आर्थिक** सहयोग देने तथा सुव्यवस्थित प्रबन्ध करने के उद्देश्य से।

(२) सहायक कम्पनियों की व्यापारिक नीतियों का समन्वय करने के लिए।

(३) सरकारी विधेयकों के निर्माण में सहायक योग देने के लिए।

(४) सम्मिश्रण तथा विलयन के दोषों को निवारण करने के लिए।

सन्धारी कम्पनियों के लाभ
(Advantages of Holding Companies)

(१) छोटे-छोटे व्यापार संगठनों को सुविधा के साथ संचालित किया जा सकता है। ये संगठन स्थानीय सुविधाओं के अनुसार चलाये जा सकते हैं। उनको वे सारी सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं, जो अन्य कम्पनियों को होती है।

(२) प्रबन्ध का विकेन्द्रीयकरण सम्भव हो जाता है, क्योंकि अलग-अलग कम्पनियों की सम्पत्ति के अलग-अलग अस्तित्व रहने तथा उनका सन्धारी कम्पनियों द्वारा नियन्त्रण करने के कारण कम्पनियों की प्रबन्ध की सुविधाएँ विकेन्द्रित रहती हैं।

(३) इनमे कम्पनियों का सम्मिश्रण होने पर भी उनका व्यक्तिगत अस्तित्व बना रहता है, जिससे उनको व्यापारिक प्रतिष्ठा तथा साख का लाभ मिलता रहता है।

(४) सन्धारी कम्पनियों की आर्थिक स्थिति दृढ़ रहने के कारण वे अपनी सहायक कम्पनियों की आर्थिक कठिनाइयों का निवारण आसानी से कर सकती हैं।

(५) सहायक कम्पनियों का अलग अलग व्यापारिक लेखा रहने के कारण उनके लाभ-हानि का पता आसानी से लग जाता है।

(६) सरकारी करो की दृष्टि से भी इस पद्धति द्वारा लाभ होता है, क्योंकि सहायक कम्पनियों के अलग अस्तित्व होने के कारण किसी गतिहीन तथा कभी पूरे न होने वाले सम्बन्ध अधिकार भविष्य मे दर लगाते समय भी नष्ट नही होते, जबकि समस्त कम्पनियों का एकीकरण कर दिया जाय तो वे अधिकार प्राप्त नही हो सकते है।

(७) सन्धारी कम्पनियों के निर्माण मे व्यापार की जोखिम बहुत कम हो जाती है, क्योंकि ऐसे अवसर पर सन्धारी कम्पनियाँ अपनी सहायक कम्पनियों की सहायता करती हैं।

(८) सन्धारी कम्पनियों के निर्माण से यह भान कभी नही होता कि सहायक कम्पनियाँ, सन्धारी कम्पनियों की अंशमात्र है। इसलिये जनता में अलग-अलग कम्पनियो पर अलग-अलग प्रकार से विश्वास बना रहता है।

(९) विश्वास सन्धारी कम्पनियों द्वारा सहायक कम्पनियों की पूँजी के सगठन में किसी प्रकार हस्तक्षेप नहीं रहता। इसलिये उनकी पूँजी-सम्बन्धी योजनाएँ प्राय स्वतन्त्र ही रहती हैं।

सन्धारी कम्पनियों की बुराइयाँ
(Disadvantages of Holding Companies)

(१) इन संस्थाओं का प्रचलन अत्यन्त खर्चीला होता है। कभी-कभी संचा-

लकों का व्यय, सदस्यों की सभाएँ तथा अन्य खर्चे व्यक्तिगत कम्पनियों की अपेक्षा अधिक होते हैं।

(२) अधिक कम्पनियों में सन्धारी कम्पनी का अपना अस्तित्व समाया होता है। एक कम्पनी की प्रतिष्ठा दूसरी कम्पनी को नहीं दी जा सकती और इस प्रकार सन्धारी कम्पनी सहायक कम्पनियों का विशेष लाभ नहीं कर पाती।

(३) सन्धारी कम्पनियाँ सहायक कम्पनियों के सम्बन्ध में प्राय: चालाकी से अग्र भाग वाले लोगों को अपने वश में कर लेती है और इस प्रकार कम्पनी के ऋण, माल के क्रय-विक्रय आदि में उसके अन्य अंशधारियों को हानि उठानी पडती है।

(४) सन्धारी कम्पनियाँ कमजोर स्थिति वाली कम्पनियों पर अप्रिय दबाव डाल कर उनको अपने अधीन कर लेती है।

(५) सन्धारी कम्पनी का सिद्धान्त पूँजीवादी सिद्धान्त हो जाता है और उसमें पूँजीवाद के सामान दोष उत्पन्न हो जाते है।

(६) इन कम्पनियों की क्रियाएँ प्राय असामाजिक होती है और व्यापार में एकाधिकार के दोष उत्पन्न हो जाते है।

(७) ये कम्पनियाँ प्रभावशील होने के कारण सहायक कम्पनियों का खूब शोषण करती है और इस प्रकार कम्पनियों का अधिकाश लाभ प्रबन्धकों तथा कम्पनियों को ही प्राप्त होता है।

भारतवर्ष में इस व्यवस्था का जन्म १९१३ में प्रारम्भ हुआ, क्योंकि उसी समय में कम्पनी विधान में इन सन्धारी कम्पनियों की स्पष्ट व्याख्या की गई, किन्तु इनको विशेष प्रोत्साहन नहीं मिल सका। पिछले वर्षो में सन्धारी पद्धति का प्रयोग कोयला व्यवसाय में किया गया है। **वंरकपुर कोयला कम्पनी लि० ने लोयाबाद कोल मेन्यूफैक्चरिंग कम्पनी लि० के अधिकाश अंशों** को खरीद कर उसका सधारण प्राप्त कर लिया। इक्वीटेबिल कोल कम्पनी लि० ने अल्दीय कोल कम्पनी लिमिटेड के अशो को खरीद कर उस पर नियन्त्रण किया। इसी प्रकार सीमेन्ट में भी पटियाला सीमेंट कम्पनी लि०, सीमेन्ट मार्केटिंग कम्पनी इंडिया लि० आदि के अधिकाश तथा समस्त अशो को खरीद कर एसोसिएटेड सीमेन्ट कम्पनीज में सन्धारी पद्धति को अपनाया गया है। इसी प्रकार अलरन इन्स्योरेंस कम्पनी लि०, फ्री इण्डिया जनरल इन्स्योरेन्स कम्पनी लि०, फेडरल इन्स्योरेन्स कम्पनी लि० आदि कम्पनियों के नाम भी इसमें लिये जा सकते है। यद्यपि इनका निर्माण हो गया है, किन्तु यहाँ पर प्रबन्ध अभिकर्ता पद्धति के बलशाली होने से सन्धारी व्यवस्था का अधिक प्रभाव नहीं दिखाई देता।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 Describe the growth of combinations and give their advantages and disadvantages

2 Discuss the chief causes of combinations and mention the conditions favouring them.
3 What are the chief causes that lead to combination in industry and trade ? Illustrate your answer from Indian conditions.
4 What is combination ? Give different types of combinations in brief.
5 Distinguish clearly between 'vertical' combination and 'horizontal' combination. What are the motives which lead to the formation of such combinations ?
6 Discuss 'circular' and 'diagonal' combinations fully and state where they are suitable
7 What is a Trade Association ? Discuss the various activities of Associations and also the allied problems with special reference to India
8 Write the functions of association in full. Is association helpful to trade in India ?
9 What is a gentleman's agreement ? Write a detailed note on it.
10 Give the different forms of 'gentlemen's agreement' and the advantages and disadvantages of each.
11 Explain 'Pool'. Give its advantages and disadvantages.
12 Sate and explain the different forms of pools that are prevalent today in the business world
13 What are Cartels ? Discuss the causes that favour the growth of Cartels. What are the difficulties in their successful operation ?
14 Discuss the different forms of Cartels with their organizations. How industries are organised through Cartels ?
15 Give the reasons for the development of Cartels in Germany and Trusts in the United States of America Do you think that introduction of Cartel system can benefit Indian industries ?
16 Write a critical note on trust organization.
17 Explain the different forms of trusts and describe their working.
18 *What is a community interest ? How is it made effective ?* Discuss its various forms
19 What is 'Big Business' and why do businesses tend to become big ? It is said that "some businesses are born great, some

achieve greatness, some have greatness thrust upon them." *Discuss this statement with Indian examples.*

20 Write a note on chamber of commerce. What is their position in India ? Explain

21 What is consolidation ? In how many parts it can be divided ? Give its advantages and disadvantages.

22 What is a holding company ? What are the objects of such combinations ? Point out the relative merits and defects of holding companies

23 *Explain how holding company differs from other forms of* combinations

24 Why combination movement could not get impetus in India ? Give its causes.

25 "Inspite of drawbacks and shortcomings, combination movement is through in Indian industry " What, how far, combination has been adoped in different industries ?

26 Write a critical note on 'concentration of economic power in Indian industry.'

भारतवर्ष में संयोग आन्दोलन १४

(Combination Movement in India)

प्रस्तावना (Introduction)—भारतवर्ष मे इस शताब्दी के प्रथम दो दशको के पश्चात् सयोग आन्दोलन मे कुछ प्रबलता दिखाई देती है। इसका आभास हमारे संगठनो की विशालता की ओर प्रवृत्ति मे मिलता है। यहाँ पर हम विविध प्रकार के सयोगो का उल्लेख करेगे, जो भारतवर्ष मे किसी न किसी रूप मे पाये जाते है।

व्यापारिक संघ (Trade Associations)—इस प्रकार के संघो की भारत मे कमी नही है और इसी प्रकार के संगठन प्रायः सभी प्रकार के उद्योगो मे पाये जाते है। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार है—ईस्ट इन्डिया कॉटन एसोसियेशन' बोम्बे मिल ओनर्स एसोसियेशन, अहमदाबाद टैक्सटाइल मिल ओनर्स एसोसियेशन, इण्डियन टी एसोसियेशन, इण्डियन कोलियरी ओनर्स एसोसियेशन, मद्रास ट्रेडर्स एसोसियेशन, ऑल इण्डिया मार्केटिंग एसोसियेशन आदि। भारतवर्ष मे व्यापारिक सघ क्षेत्रीय, प्रान्तीय तथा राष्ट्रीय आधार पर चल रहे हैं।

वाणिज्य वेश्म (Chambers of Commerce)—भारतवर्ष मे पहले इस प्रकार की वेश्मो का जन्म विदेशियो द्वारा हुआ, किन्तु आधुनिक वर्षों मे भारतीय व्यापारियों ने भी अपने वेश्म प्रायः सभी आधारो पर बना लिये है। प्रान्तीय आधार पर चलाई जाने वाली वेश्मो मे निम्नलिखित मुख्य है—राजस्थान चेम्बर ऑफ कॉमर्स, बम्बई चेम्बर ऑफ कॉमर्स, बगाल चेम्बर ऑफ कॉमर्स, बगाल नेशनल चेम्बर ऑफ कॉमर्स, मारवाडी चेम्बर ऑफ कॉमर्स, मद्रास चेम्बर ऑफ कॉमर्स आदि। ये वेश्म समय-समय पर व्यापार तथा उद्योग की समस्याओं के समाधान तथा उनके विकास के लिये सरकार का पथ-प्रदर्शन करते है तथा उपयुक्त विधेयकों को पास करवाने मे सहायता पहुँचाते हैं।

भारतवर्ष मे अखिल भारतीय आधार पर १६ वाणिज्य वेश्म कार्य कर रहे है। सन् १६२० मे भारतवर्ष मे यूरोप के वाणिज्य तथा औद्योगिक हितों की रक्षा के लिये १५ वणिज्य वेश्मों का सम्मिश्रण करके एसोसियेटेड चेम्बर ऑफ कॉमर्स ऑफ इण्डिया का निर्माण किया गया। सन् १६२६ मे भारतीय वेश्मो तथा सघो का एक केन्द्रीय संगठन बनाया गया, जिसमे भारतवर्ष की इस प्रकार की ५० सस्थाएँ है।

इसका उद्देश्य विदेशो तथा अपने देश मे व्यापार को वृद्धि करना तथा यातायात एवं अर्थ सम्बन्धी व्यवस्थाएँ करना है। यह संस्था यूरोपीय हितो के सगठन के समान अखिल भारतीय आधार पर बनाई गई है। अन्य अखिल भारतीय आधार पर चलाई जाने वाली इस प्रकार की संस्थाएं ऑल इण्डिया ऑर्गेनाईजेशन ऑफ इण्डस्ट्रियल एम्पलौयर्स, ऑल इण्डिया मेन्यूफेक्चरर्स एसोसियेशन आदि है।

श्रम आन्दोलन की दिशा मे भी अखिल भारतीय आधार पर अनेक सस्थाएँ चलाई जा रही हैं, जिनमे ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कॉग्रेस, हिन्द मजदूर सघ, इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कॉग्रेस, यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कॉग्रेस आदि है। ये संस्थाए व्यापारिक एवं औद्योगिक श्रमिकों के हितों की रक्षा करते है।

सन्निधियाँ
(Pools)

भारतीय उद्योग मे सन्निधियों का भी समुचित विकास हुआ है। इण्डियन पेपर मेकर्स एसोसियेशन इसी प्रकार की एक सन्निधि है, जो विभिन्न कागज उद्योगों के विक्रय मूल्यों का निर्धारण करती है। यह केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारो से उद्योग की उत्पादन सीमा के बारे मे भी समझौते करती है, तथा उत्पादित कागज का प्रकार आदि भी निर्धारित करके उसके उत्पादन एव वितरण पर नियन्त्रण रखती है।

मूल्य सन्निधियों का उदाहरण इण्डियन आयल इण्डस्ट्रीज मे देखने को मिलता है। इसमे भारतवर्ष की पैट्रोल तथा तेल कम्पनियाँ सम्मिलित है। बर्मा ऑयल कम्पनी, आसाम ऑयल कम्पनी, ब्रिटिश बर्मा ऑयल कम्पनी आदि ने यह निर्णय किया है कि अतिरिक्त मूल्य को एक संयुक्त सन्निधि मे जमा किया जायगा और वह समझौते के अनुसार कम्पनियों मे बांट दिया जायेगा।

इण्डियन जूट एसोसियेशन ने उत्पादन सन्निधि का रूप ले लिया है। सन् १९२९ से यह एसोसियेशन जूट के उत्पादन, काम के घन्टा की कमी, कुछ मीलों की तालाबन्दी, पालियों (Shifts) पर नियन्त्रण आदि का कार्य सफलता से कर रही है।

बाजार सन्निधि (Matketing Pool) का स्वरूप डालमिया तथा एसो-सियेटेड सीमेन्ट कम्पनी के समझौते के बाद स्पष्ट हुआ है। समझौते के अनुसार यह निश्चय किया गया कि दोनों मे से कोई भी एक दूसरे के क्षेत्र मे व्यापार नहीं करेगा। इससे उनकी प्रतिद्वन्द्विता प्रायः समाप्त हो गई।

पार्षद
(Cartels)

भारतवर्ष में इस प्रकार की कई संस्थाएँ हैं। उदाहरण के लिये क्षेत्रीय पार्षद (Zonal Cartels), जोकि राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय में विभक्त किये जा सकते हैं, जैसे इन्टरनेशनल कार्टल इन इण्डिया। इसमें ब्रिटिश इण्डिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी लिमिटेड तथा स्केण्डिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी लिमिटेड के बीच में आन्तरिक जल मार्ग के समझौते किये गये। किराये का समझौता इण्डियन जनरल नेवीगेशन एण्ड रेलवे कम्पनी लिमिटेड तथा रिवर स्टीम नेवीगेशन कम्पनी लिमिटेड के बीच में मिलता है। बाजार वितरण का समझौता बंगाल आसाम स्टीम शिपिंग कम्पनी लिमिटेड तथा ईस्ट बंगाल रिवर स्टीम शिपिंग कम्पनी लिमिटेड और क्षेत्रीय पार्षद का समझौता ए० सी० सी० तथा डालमिया में मिलता है।

एकाधिकार पार्षद का उदाहरण दी इण्डियन पेपर मेकर्स एसोसियेशन, दी बंगाल पेपर मिल कम्पनी तथा दी इण्डियन जूट मिल्स एसोसियेशन के मिलते हैं। इनमें प्रायः उत्पादन-नियन्त्रण तथा उत्पादन के लिए परिमाण निश्चित करने का कार्य होता है। ये पार्षद अत्यन्त शक्तिवान हैं तथा मूल्यों का अनेक परिस्थिति में नियन्त्रण रखना उनके लिए सम्भव हो सका है। चाय उद्योग में इण्टरनेशनल टी कमेटी, जो भारत, सीलोन, डच ईस्ट इंडीज आदि को चाय का निर्यात तथा परिमाण निश्चित करती हैं, अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

भारतवर्ष में सिण्डीकेट के रूप में दी इण्डियन शुगर सिण्डीकेट लि०[1] तथा दी सीमेन्ट मार्केटिंग कम्पनी ऑफ इण्डिया लि० आदि मिलती है।

सामुदायिक हित
(Community Interest)

भारतवर्ष के लिए यह संगठन अत्यन्त उपयुक्त रहा है और हमारे देश में प्रबन्ध-अभिकर्ताओं तथा संचालकों के द्वारा इस प्रकार की अनेक संस्थाएँ बनाई गई है। प्रबन्ध-अभिकर्ताओं द्वारा अलग-अलग उद्योगों पर इस प्रकार का प्रभाव है[2]—

---

१ अब इण्डियन शुगर सिन्डीकेट का अस्तित्व समाप्त हो चुका है।

२ दी इंडियन जनरल ऑफ इकॉनामिक्स, अप्रेल १६५२।

तथा अन्य छोटे उद्योगों में एकीकरण के अनेक उदाहरण है। कपडा उद्योग मे दी ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन लि० का निर्माण, दी कापुनर ऊलन मिल्स लि० (लाल इमली), कानपुर कॉटन मिल्स लि०, नोर्थ-वेस्ट टैनरी कम्पनी लि०, कूपर एलन एण्ड कम्पनी लि०, दी एम्पायर इजीनियरिंग कम्पनी, दी न्यू० एगर्टन ऊलन मिल्स (धारीवाल) के मधनन मे १९२० मे हुआ। यह चक्रित सयोग का स्वरूप है। दी बकिंघम कर्नाटिक मिल्स का निर्माण तीन मिलो के एकीकरण से किया गया है। इस दिशा मे बम्बई तथा अहमदाबाद में भी प्रयत्न किये गये हैं।

ए० सी० सी० एकीकरण का बहुत बडा उदाहरण है, जिसमें ११ कम्पनियो का सम्मिश्रण किया गया है।

विलयन (Merger) का उदाहरण बंगलौर ऊलन, कॉटन एण्ड सिल्क मिल्स कम्पनी लि०, जो दी केसर हिन्द ऊलन कम्पनी लि० तथा कॉटन एण्ड सिल्क मिल्स कम्पनी लि० के विलयन से बनाई गई है, मे मिलता है।

मदुरा मिल्स कम्पनी लि० का प्रादुर्भाव कोरल मिल्स, टिनवेली मिल्स तथा पण्ड्यान मिल्स के सम्मिश्रण के द्वारा सम्भव हुआ है। बराकर कोल कम्पनी लि० का निर्माण सात कम्पनियो के सम्मिश्रण से हुआ। १९१९ में उसमे एक और कम्पनी जोड दी गई तथा १९२० और १९३२ मे उसमें दो और कम्पनियाँ सम्मिलित की गईं। कुछ वर्ष पूर्व लोह एव इस्पात उद्योग में भी इस प्रकार के सफल प्रयत्न किये गये हैं। १ जनवरी १९५३ को राष्ट्रपति की आज्ञा से दी स्टील कॉरपोरेशन ऑफ बगाल तथा दी आइरन एण्ड स्टील कम्पनी का सम्मिश्रण किया गया। माचिस उद्योग मे भी दी वैस्टर्न इंडियन मैच कम्पनी का निर्माण अनेक माचिस उद्योगो के सम्मिश्रण से किया गया है।

उपर्युक्त निरीक्षण से स्पष्ट है कि भारतवर्ष में सयोग के प्रायः समस्त क्षेत्रो में प्रयत्न किये गये है और उनको बहुत बडी सीमा तक सफलता प्राप्त हुई है। मुख्यतः जूट, सीमेंट, चीनी, माचिस आदि उद्योगो में, किन्तु जब इसकी तुलना अमेरिका, जर्मनी, जापान, इगलैंड आदि से की जाती है तो हमारी यह प्रगति विशेष नही दिखाई देती। इसके अनेक कारण है, जिनका आगे विवेचन किया गया है।

भारतीय उद्योगों में संयोगिक प्रयत्न

(Combining efforts in Indian Industries)

इस शताब्दी के प्रथम दो दशकों के पश्चात् सयोग आन्दोलन में कुछ प्रबलता दिखाई देती है, क्योकि अब हमारे देश के उद्योग की प्रवृत्ति वृहद् संगठनों की ओर दिखाई देती है तथा औद्योगिक प्रबन्ध सम्बन्धी तथा व्यापारिक समस्याओ पर

नियन्त्रण करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। भारतवर्ष में कुछ उद्योगों में होने वाले संयोग आन्दोलन का विवेचन नीचे किया जाता है—

सीमेन्ट उद्योग (Cement Industry)—सीमेन्ट उद्योग में सर्वप्रथम १६२६ में सीमेंट उत्पादक एसोसियेशन का निर्माण किया गया। इसका उद्देश्य उद्योग में होने वाली प्रतिद्वन्द्विता को रोकना तथा विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना करना था। १६३० में सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी का निर्माण किया गया, जिसको पार्षद तथा सिण्डीकेट भी कहते हैं। १६३७ में ११ सीमेन्ट कम्पनियों के सहयोग से एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनी की स्थापना की गई, जिससे देश में सीमेंट उद्योग पर बहुत बड़ी सीमा तक नियन्त्रण हो गया। इस संस्था ने पटियाला सीमेंट कम्पनी लि० को भी अपने अधीन कर लिया। डालमिया सीमेंट कम्पनी के साथ प्रतिद्वन्द्विता होने के कारण १६३१ में इन दोनों संस्थाओं के बीच एक समझौता होगया, जिसके अनुसार बाजारों का क्षेत्र बाँट दिया गया। आधुनिक वर्षों में इस उद्योग में अधिक उत्पादन को प्रोत्साहन देना सम्भव हो गया है।

चीनी उद्योग (Sugar Industry)—चीनी उद्योगों में सन् १६३७ के बाद, जबकि शुगर सिंडीकेट की स्थापना की गई, संयोग का प्रारम्भ होता है। इस उद्योग में निर्माणियों की प्रगति बड़ी तीव्रता से हुई और सन् १६३५ तक उनकी संख्या १३० तक बढ़ गई तथा सन् १६५२ में यह संख्या १४५ हो गई। अस्तु, इनकी आपस की प्रतिद्वन्द्विता को रोकने के लिए उनका संयोगों में परिवर्तित होना आवश्यक सा हो गया। जावा से आने वाली शक्कर की प्रतियोगिता का सामना करने के लिए भी संयोग की आवश्यकता प्रतीत हुई। शुगर सिंडीकेट ने सन् १६३६ तक संतोषप्रद कार्य किया, किन्तु फिर भी द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हो जाने के कारण इसकी प्रगति रुक गई। सन् १६४० में इसने चीनी के मूल्यों पर नियन्त्रण किया तथा १६४२ में चीनी के उत्पादन तथा व्यापार पर नियन्त्रण करने के लिए एक केन्द्रीय चीनी बोर्ड की मीटिंग बुलाई गई। उसने इस दिशा में महत्वपूर्ण सुझाव दिये है, किन्तु सन् १६४३ से ४७ तक चीनी पर सरकारी नियंत्रण हो जाने के कारण सिंडीकेट का कार्य रुक गया। १६४० में फिर कार्य प्रारम्भ हुआ, किन्तु १६४६ से लेकर अब तक इस सिन्डीकेट के कार्यों की कटु आलोचना हो रही है और १६४६ में भारतीय सदन के सदस्यों ने तथा कई अन्य श्रमिक तथा व्यापारी संस्थाओं ने सदन में इसका घोर विरोध किया और १६५० में इसका समापन कर दिया गया।

जूट उद्योग (Jute Industry)—भारतवर्ष में जूट उद्योग सबसे पहला उद्योग है, जिसने संघ पद्धति (Pool System) को अपनाया गया। सन् १८६२ में जूट के उत्पादन पर नियन्त्रण करने के लिए "जूट मिल्स एसोसियेशन" की स्थापना की गई। इस एसोसियेशन ने उत्पादन के समस्त अंगों पर नियन्त्रण

किया। १६२६ मे जूट उद्योग मे विवेकीकरण अपनाया गया तथा उनका कार्य-काल, पालियों (Shifts), उत्पादन आदि पर नियन्त्रण कर दिया गया। सन् १६३० में फिर उसके कार्यकाल में कमी की गई तथा सन् १६४२ में करीब १०% जूट मिलों को बन्द कर दिया गया। १६४७ मे देश के विभाजित हो जाने के कारण इस संस्था को बहुत बडा धक्का लगा। किन्तु एसोसियेशन ने उसके पश्चात् भी उद्योग को दृढ बनाये रखने में बहुत बडी सहायता की। अब भारतवर्ष के सीमेन्ट उद्योग में, जिसमें लगभग ८५ कम्पनियां काम कर रही है पूर्ण रूप से नियन्त्रण कार्य हो रहा है।

सूती व वस्त्र उद्योग (Textile Industry)—भारत में सूती व वस्त्र उद्योग इतना अधिक फैला हुआ है कि इसमे संयोग लाना बड़ा कठिन है। हमारे देश में इस समय ४५२ सूत व वस्त्र मिल कार्य कर रहे है। फिर भी इनमे कुछ महत्वपूर्ण सयोग स्थापित किये गये हैं। मद्रास में बकिंघम कर्नाटक मिल्स तीन उद्योगों के सम्मिश्रण से बनाई गई है। बम्बई तथा अहमदाबाद में प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के द्वारा अनेक सयोगो की स्थापना की गई है। सन् १६२० में छः कम्पनियों कानपुर ऊलन मिल्स, कानपुर कॉटन मिल्स, न्यू एगर्टन ऊलन मिल्स, नार्थ-वेस्ट टेनरी, कूपर एलन एन्ड कम्पनी, एम्पायर इन्जीनियरिंग कम्पनी, के मिलने से ब्रिटिश इन्डिया कॉरपोरेशन की स्थापना की गई। सन् १६३० मे ३४ सूती कपडा मिलों के सयोग का विचार किया गया, किन्तु उसको सफलता नही मिली। बी० ऑय० सी० का निर्माण एलेक्स, लाल इमली, कॉक्रोम आदि के सधारण से हुआ। सन् १६४८ में सदर्न लैण्ड कम्पनी, के अन्तर्गत कम्पनियों के मिल जाने से बी० ऑय० सी० हिन्दुस्तान मे आज सबसे बड़ा कॉरपोरेशन बन गया है। इस दिशा मे अन्य सयोगो की भी स्थापना की जा रही है।

निजी क्षेत्र मे संयुक्त समझौते (Joint deals in Private Sector)—निजी क्षेत्र में इस प्रकार के नवीन समझौते प्रायः उत्तर युद्ध काल में प्रारम्भ हुए है और इनका विस्तार प्रायः सभी क्षेत्रों मे हुआ है। इनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—(१) मोटर कार कारखाने में नफील्ड-बिरला (२) कार तथा ट्रक कारखाने के लिये ऑस्टिन मोटर लि० तथा एक भारतीय कम्पनी (३) स्टम् तथा भारतीय साझेदारी में मोटरो को बनाने का कारखाना (४) भारी उद्योगो में इम्पीरियल केमीकल इन्डस्ट्रीज तथा टाटा, किरलोस्कर ऑयल लि०, किरलोस्कर बिजली कं० लि०, दि नेशनल मेनूफैक्चरिंग लि० तथा इण्डियन माइनिंग तथा कन्सट्रक्शन कं० लि० (५) स्मोक ट्यूब वॉयलर बनाने के लिये बिरला ब्रदर्स तथा ब्रिटेन के बेबूकाक तथा विलकोक्स (६) साइकिलो के कारखाने के लिये हरक्यूलिस, बी० एस० ए०, रेलिग कं० आदि के साथ (७) टिस्यू कागज को बनाने के लिये इम्पीरियल टुबेको कं० तथा बेमर लॉरी (८) सुगंधित पदार्थ बनाने के लिये इंडस्ट्रियल परफ्यूम्स (प्रा०) लि० का

फाम की एक फर्म के साथ (६) छापने की स्याही फिल्म आदि बनाने के लिये नेशनल रॉयन कॉरपोरेशन लि० तथा एक्मे अनमूनियम रोलिंग मिल लि० के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार की संयुक्त जोखिमों में विदेशी कम्पनियाँ या फर्में तान्त्रिक सहायता तथा कुछ पूँजी लाती हैं भारतीय फर्में पूँजी, प्रबन्ध, विपणन आदि में हिस्सा बँटाती हैं।

सरकारी क्षेत्र में संयुक्त समझौते (Joint deals in Public Sector)—भारत सरकार ने भी विदेशी निजी कम्पनियों के साथ समझौता करके अनेक नवीन उद्योगों की स्थापना करने का निश्चय किया है, इनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—(१) मशीन औजार फैक्ट्री के लिये स्विस फर्म के साथ (२) दुर्गापुर में लोह तथा स्पात का कारखाना चलाने के लिये ब्रिटिश स्टील सिंडिकेट के साथ (३) रूरकेला के स्पात कारखाने के लिए जर्मनी के क्रुपर तथा डेमग के साथ (४) भिलाई में स्पात कारखाने को चालू करने के लिये रूसियों के साथ (५) ब्रह्मा शैल क० के साथ ऑयल इण्डिया (प्रा०) लि० चलाने के लिये जिसकी पूँजी रुपये में होगी (६) मैसूर सरकार ने रासायनिक खाद के कारखाने के लिए न्यूयार्क की कैमीकल कंसट्रक्शन क० के साथ तथा (७) उड़ीसा सरकार ने ट्रैक्टर का कारखाना चलाने के लिये एक ब्रिटिश कम्पनी के साथ समझौता किया है।

संयोग के उपर्युक्त ढंग से भारतीय उद्योग में एक नया युग प्रारम्भ हुआ है। इनकी सहायता से लोह तथा स्पात, रासायनिक, मशीनों का उत्पादन, इन्जीनियरिंग, मोटर ट्रक उद्योग, जहाजी उद्योग, रेल कोच फैक्ट्री आदि को विशेष प्रोत्साहन मिला है।

भारतवर्ष में संयोग की प्रगति में शिथिलता
(Slow Progress of Combinations in India)

जिस प्रकार संयोगों की प्रगति विदेशों में हुई है, भारतवर्ष की औद्योगिक तथा व्यापारिक समस्याओं के कारण वह उस प्रकार से सम्भव नहीं हो पाई है। इसके निम्नलिखित कारण हैं—

(१) **व्यापारियों में व्यक्तिवाद** (Individualism in Business Magnets)—भारतीय व्यापारी शंकालु तथा व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का होता है, अतः वह अपने साथ किसी दूसरे व्यापारी को सहन नहीं कर सकता। लाभ होने की दशा में वह सारे लाभ का उपभोग स्वयं करना चाहता है, और यही कारण है जिससे भारतवर्ष में अभी तक एकाकी व्यापार को विशेष प्रोत्साहन मिल रहा है, तथा विदेशों की भाँति हम यहाँ पर विशालकाय व्यापारिक संगठनों का अभाव देखते हैं।

(२) प्रबन्ध-अभिकर्ता पद्धति (Managing Agency System)—भारतवर्ष के व्यापारिक सगठन में प्रबन्ध-अभिकर्ता पद्धति का महत्वपूर्ण स्थान है। उनकी आर्थिक तथा व्यापारिक स्थिति के सुदृढ होने के कारण ये जिन व्यापारों को प्रारम्भ करते हैं उनके संयोग करने में अपने आत्म-सम्मान का हनन समझते हैं। साथ ही आपसी प्रतिस्पर्द्धा तथा वैमनस्य के कारण वे दूसरों के साथ सम्मिलित होना हेय समझते हैं। प्रबन्ध-अभिकर्ता अपने लाभों का विभाजन तथा व्यापारिक गोपनीयता को खुलासा नहीं करना चाहते। यह अवश्य है कि कुछ दशाओं में इनके अधीन उद्योगों में सक्रिय तथा शीर्ष सयोग सम्भव हो सके हैं, किन्तु उनमें संयोग के सिद्धान्तों का सही रूप से पालन नहीं किया जाता और वे प्रायः अभीष्ट सिद्धि के लिये ही बनाये जाते हैं।

(३) उद्योग की परिवर्तनशील अवस्था (Changing Nature of Industry)—भारतवर्ष का औद्योगिक विकास विदेशों की भाँति नहीं हो पाया है। यहाँ के औद्योगिक विकास का इतिहास इस शताब्दी के प्रारम्भिक काल से ही गिना जाना चाहिये। प्रथम विश्व युद्ध ने अंग्रेजी सरकार को भारतवर्ष के औद्योगिक विकास के लिये प्रेरित किया और द्वितीय विश्व युद्ध में हमारे उद्योगों को विशेष रूप से प्रोत्साहन मिला, किन्तु अभी तक देश की प्राकृतिक सम्पदा तथा विकास के विस्तार को देखते हुए कतिपय उद्योगों को छोड कर समस्त उद्योगों में अभी परिवर्तन (Transition) की ही स्थिति है, इसलिये उनमें प्रतियोगिता आदि के लिये अभी विचार करने की आवश्यकता नहीं है। अस्तु सयोग का प्रश्न नहीं उठता।

(४) कुछ उद्योगों का बृहताकार (Big Size of Some Industries)—भारतवर्ष के कुछ उद्योग, जैसे लोह उद्योग, सरकारी उद्योग आदि पहले से ही इतने बड़े आकार पर प्रारम्भ किये गये हैं कि उनका सचालन एवं व्यवस्था आवश्यकता से बडी हो गई है, जिससे उनमें नवीन संस्थाओं को जोड कर उनका प्रबन्ध अत्यन्त कठिन हो सकता है। फिर उनमें प्रतिद्वन्द्विता करने वाली संस्थाएँ भारतवर्ष में नहीं है।

(५) विदेशी प्रतिद्वन्द्विता तथा अंग्रेजी-नीति (Foreign Competition and Britishers' Policy)—अंग्रेजों ने भारतवर्ष में डन्डी तथा लंकाशायर के लिये बाजारों को सुरक्षित रखने के लिए यहाँ पर भारतीय उद्योग का विकास बड़ा सीमित कर तक दिया। उन्होंने भारतीय उद्योगों के सरक्षण के लिये जो प्रयत्न किये वे केवल उन्हीं वस्तुओं के लिए थे, जिनमें उनके हितों को ठेस नहीं लगती थी और शेष वस्तुओं में हमारे उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता का पूर्ण रूप से सामना करना होता था, जिससे हमारे उद्योग पनपने नहीं पाते थे।। इसलिये संयोग का प्रश्न विचारणीय ही रहा।

(६) सरकारी नीति (State Policy)—ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि सन् १९४८ तक सरकार की औद्योगिक नीति अत्यन्त शिथिल रही, और केवल उन्हीं उद्योगों की ओर कुछ ध्यान दिया गया जो या तो विकसित हो चुके थे या जिनका विकास नहीं रोका जा सकता था। इसके विपरीत जर्मनी इंगलैण्ड, रूस आदि देशों में सरकार ने उद्योगों के सर्वाङ्गीण विकास के लिये पूरा-पूरा प्रयत्न किया तथा जिन उद्योगों में संयोग की आवश्यकता थी, उनमें सरकार की ओर से पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। सन् १९४८ में राष्ट्रीय सरकार ने सर्वप्रथम अपनी प्रगतिशील औद्योगिक नीति का स्पष्टीकरण किया।

(७) औद्योगिक अर्थ-नीति (Industrial Finance Policy)—सन् १९२१ के पूर्व भारतीय सरकार की औद्योगिक अर्थ-नीति किसी भी प्रकार से स्पष्ट नहीं थी तथा जो नीति अपनाई जा रही थी उसको संतोषप्रद नहीं कहा जा सकता था। यद्यपि इसके पश्चात कुछ सुधार हुए, किन्तु अधिकोषों की दीर्घकालीन आर्थिक सहयोग तथा राज्य अर्थ-संस्थाओं के अभाव के कारण औद्योगिक विकास को विशेष प्रोत्साहन नहीं मिल सका, जिससे संयोग की क्रियाओं में न तो प्रोत्साहन मिला और न उसका प्रश्न ही उठा।

भारतीय उद्योग में आर्थिक केन्द्रीयकरण
(Economic Concentration in Indian Industry)

हमको यह स्वीकार करने में किंचित मात्र भी संकोच नहीं है कि भारतवर्ष का औद्योगिक विकास अन्य औद्योगिक देशों से बहुत पिछड़ा हुआ है और इसकी औद्योगिक क्रान्ति अभी उस रूप से नहीं हो पाई है जितने कि इसके प्राकृतिक श्रोत उन्नतिशील हैं। जो कुछ भी औद्योगीकरण देश में हुआ है उसके विकास में भारतीय तथा विदेशी उद्योगपतियों का बहुत बड़ा हाथ है। जहाँ तक आर्थिक केन्द्रीयकरण का प्रश्न है, भारतवर्ष में तथाकथित औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व प्रायः समस्त व्यापार छोटे-छोटे व्यापारियों के अधीन ही था। इसका प्रमुख कारण यातायात की असुविधा तथा देश के पुराने रीति-रिवाज ही कहे जा सकते हैं। किन्तु बृहत् उत्पादन के बढ़ने, आवागमन के साधनों के सुधरने तथा व्यापारिक सुविधाओं के प्राप्त होने के कारण "देश का आर्थिक नियन्त्रण भूमि-स्वामियों से पूँजीपतियों के हाथों में चला गया"। इसका कारण देश की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ थीं। औद्योगिक विकास के कारण देश की आबादी गाँवों से हट कर शहरों में जाने लगी। अतः आर्थिक स्वामित्व भी बहुत बड़ी सीमा तक नगरों में चला गया। दूसरा कारण नवीन औद्योगिक साधनों का आविष्कार, बृहत् उत्पादन नियन्त्रित संगठन, बाजारों की विशालता आदि ने भी आर्थिक केन्द्रीयकरण को बहुत बड़ा योग दिया है। देश के प्राकृतिक श्रोतों के उपयुक्त शोषण के लिये भी आर्थिक

शक्तियों का केन्द्रीयकरण आवश्यक समझा जाने लगा। ये सब समस्याएँ देश में बड़े व्यापारों को जन्म देने में सफल हुईं।

कुछ अर्थशास्त्रियों के मतानुसार, जिन्होंने अपनी धारणा १९५० की राष्ट्रीय आय समिति की रिपोर्ट के आधार पर बनाई है, "यह सोचने के लिये कोई आधार नहीं है कि पूँजी का केन्द्रीयकरण कुछ ही पूँजीपतियों के हाथ में है", प्रायः आँकड़ों का असत्य विवेचन ही कहा जा सकता है। भारतीय प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के अध्ययन से स्पष्ट हो जायेगा कि प्रत्येक उद्योग में संचालकों अथवा प्रबन्ध-अभिकर्ताओं का व्यापक प्रभुत्व है।*

भारतवर्ष में औद्योगिक विकास में स्वामित्व तथा नियन्त्रण के केन्द्रीयकरण की एक विशेषता है। हमारे उद्योग में प्रबन्ध-अभिकर्ता पद्धति के द्वारा जितना आर्थिक तथा प्रबन्धकारिता का योग मिला है उतना संभवतः विश्व के किसी भाग में नहीं मिला। संस्थायें अपने अनुभव तथा कौशल के कारण नवीन उद्योगों के परिवर्तन में बहुत बड़ी सीमा तक सहायक हुई हैं उन्होंने उद्योग को उस समय उठाया जब कि देश उद्योग में प्रवेश करने में हिचकिचाता था तथा उस की जोखिम को लेने में सहमत नहीं था। इन्होंने समस्त जोखिम को अपने ऊपर उठाकर, स्त्रियों के गहने बेच कर तथा अपने सम्बन्धियों की पूँजी को लगा कर उद्योग की रक्षा की। शीघ्र ही इन्होंने देखा कि उनके उद्योग का क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण है तथा उसमें आशातीत लाभ है तो देश में बड़ी शीघ्रता से अनेक नवीन उद्योग प्रारम्भ किये जाने लगे। अतः उन्होंने भारत के हर प्रकार के उद्योगों में अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। इस प्रकार भारतीय उद्योगों का केन्द्रीयकरण कुछ ही लोगों के हाथ में हो गया। कपड़ा उद्योग की ४५८ मीलों का ⅓ लगभग ३० प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के हाथ में है। अहमदाबाद की कुल मीलों का ⅔ केवल १८ परिवारों के हाथ में है। इस प्रकार सन् १९४६ में जूट की ८५ मीलों में ३३ मीलें ४ प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के हाथ में थी तथा १६६ शक्कर उद्योगशालाओं में से ५१ का प्रबन्ध १६ प्रबन्ध-अभिकर्ता करते हैं, जिनमें से डालमिया, नारंग, थापर तथा सदरलैंड ३१ मीलों का नियन्त्रण करते हैं। कोयले की ६० कम्पनियों का प्रबन्ध १४ प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के हाथ में है, जिनमें से ३० का प्रबन्ध केवल ४ प्रबन्ध-अभिकर्ता करते हैं। इसी प्रकार चाय की १२० कम्पनियाँ ११ प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के अधीन हैं, जिनमें से ६६ छः कम्पनियों के

---

* डॉ० एम० एम० मेहता तथा प्रोफेसर वास्वानी ने जनवरी १९५२ में इण्डियन जरनल ऑफ इकॉनॉमिक्स (Indian Journal of Economics) में दो बड़े महत्वपूर्ण लेख दिये हैं। मेहता तथा श्री डेविड ने भी इस पर काफी प्रकाश डाला है।

हाथ मे है तथा ३ प्रबन्ध-अभिकर्ता क्रमशः २५, १६ और १८ कम्पनियों का प्रबन्ध करते है। एसोसियेटेट सीमेंट कम्पनीज, जिसका जन्म १६३६ मे ११ सीमेंट कम्पनियों का एकीकरण करके हुआ था आज वह प्रायः देश के अधिकाधिक सीमेंट उत्पादन का नियंत्रण करती है। इसमे सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड के ७०% अंशो पर अपना अधिकार किये है तथा बर्मा सीमेंट कम्पनी लिमिटेड मे भी बहुत बड़ा हित रखा है। ए० सी० सी० पाकिस्तान के २५% सीमेंट व्यापार का भी नियंत्रण करती है। लोहे मे ५०% उत्पादन केवल दो संस्थाओं के अधीन है—मार्टिन ब्यूरो एण्ड कम्पनी तथा टाटा इन्डस्ट्रीज लिमिटेड। मार्टिन ब्यूरो 'इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी' तथा स्टील कॉरपोरेशन ऑफ बगाल का नियंत्रण करती है। टाटा इण्डस्ट्रीज लिमिटेड की अपनी लोहे तथा कोयले की खाने है तथा स्वय टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी (टीस्को) के नाम से उत्पादन करती है। माचिस के उद्योग में 'स्वेडिस ट्रस्ट' एकाधिकार प्राप्त किये हुए है और उसने वेस्टर्न इण्डिया मेच फेक्टरी के अन्तर्गत बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, उत्तरप्रदेश तथा पंजाब में अपनी फैक्टरियाँ खोली हुई हैं।

भारतवर्ष में प्रबन्ध-अभिकर्ता लगभग ७०० औद्योगिक कम्पनियों का नियंत्रण करते है, जिसमें ५० कम्पनियाँ केवल एन्ड्रयुल तथा मैकलॉड के अधीन है। डालमिया करीब ५० कम्पनियों का नियंत्रण करते है। जुग्गीमल कमलापत ४५ कम्पनियों का, थापर्स ३२, बर्ड एण्ड कम्पनी २३ प्रमंडलो का, जे० पी० श्रीवास्तव १० प्रकार के उद्योगो का, किल्लिक इन्डस्ट्रीज लिमिटेड, पटियाला सीमेंट कम्पनी लिमिटेड तथा तथा ए० सी० सी० के मैनेजिंग एजेंट होने के साथ-साथ १० अन्य प्रकार के उद्योगो का भी नियंत्रण करती है। रामकुमार अग्रवाल एण्ड ब्रदर्स करीब १३ प्रकार के उद्योगों का नियंत्रण करते है। ए० बी० थामस एन्ड कम्पनी लिमिटेड करीब १५ कम्पनियों का नियंत्रण करते हैं। इसी प्रकार टाटा संस लिमिटेड ने लोह तथा स्पात, बिजली, तेल के कारखाने, साबुन के कारखाने, कपडे की मिलें, इन्जीनियरिंग कारखाने, होटल, वनस्पति कारखाने, बीमा-कम्पनियाँ, बैंक, एयरवेज आदि उद्योगो का नियन्त्रण किया है। इसी प्रकार बिड़ला ब्रादर्स ने कपडा, चीनी, कागज, साइकिल, मोटर, जहाज आदि उद्योगों के नियंत्रण के साथ-साथ बैंक, बीमा, एयरवेज आदि ३० कम्पनियों का प्रबन्ध अपने हाथ मे ले लिया है। जे० के० तथा डालमिया आटा, साबुन, तेल, इन्जीनियरिंग, रासायनिक, कपास, जूट, उन, चीनी, एयरवेज आदि उद्योगों का नियंत्रण कर रहे है। इसके अतिरिक्त उन्होंने बीमा-कम्पनियाँ, विनियोग मध, बैंक तथा विनियोग कम्पनियों का निर्माण भी किया है।

ऊपर हमने देखा कि शनैः शनैः भारत के उद्योग में प्रबन्ध-अभिकर्ताओं ने

शक्ति का बहुत बड़ी सीमा तक केन्द्रीयकरण कर लिया है। इसका एक प्रमुख कारण संचालकों का अधिकाधिक स्वामित्व भी है। भारतवर्ष का अन्य देशों की तुलना करने पर पता चलता है कि भारतवर्ष में अन्य देशों की अपेक्षा बहुत अधिक संचालकीय केन्द्रीयकरण पाया जाता है। इसका स्पष्टीकरण नीचे दी गई विभिन्न देशों की तालिका से स्पष्ट हो जायगा। प्रो० मार्जेंट फ्लोरेंस के अनुसार यू० के० मे २१५७ संचालकों का वितरण निम्नलिखित रूप से था—

संचालकों की संख्या	कुल का प्रतिशत	संचालकीय संख्या
६१०	४२	१
५४७	२६	२ या ३
३०६	१४	४ ,, ५
२५८	१२	६ से १०
१३८	६	१० से ऊपर

नेशनल रिसोर्सेज कमेटी के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका में युद्ध से पहले २५० कम्पनियों से संचालकीय विभाजन इस प्रकार था—

१ सचालक	६ कम्पनियों का संचालन
३ ,,	८ ,, ,, ,,
६ ,,	७ ,, ,, ,,
६ ,,	६ ,, ,, ,,
१९ ,,	५ ,, ,, ,,
४८ ,,	४ ,, ,, ,,
१०२ ,,	३ ,, ,, ,,
३०३ ,,	२ ,, ,, ,,

भारतवर्ष में इस प्रकार की अंकगणना नहीं की गई है, किन्तु १९३२ में टैरिफ बोर्ड के सामने जो सूचनायें दी गई थीं उनके आधार पर बम्बई में ६ संचालक क्रमशः ६५, ४२, ३४, २९, २६ और २६ कम्पनियों के संचालक थे। इतना ही नहीं, १९४७ तक भारतवर्ष में ५०० उद्योग २००० संचालकों द्वारा संचालित किये जा रहे थे, किन्तु संचालकीय कार्य केवल ७५० व्यक्तियों के हाथ में था और इनमें से १००० केवल ७० व्यक्तियों के अधीन था। १० व्यक्तियों के पास ३०० संचालकीय आफिस थे। भाभा कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में बताया है कि १९५३ में भी एक व्यक्ति के पास १५ से २० संचालकीय कार्यालय थे और कुछ दशाओं में तो ३० सचालकीय कार्यालय तक भी देखने को मिले। इन आँकड़ों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष में अन्य देशों की तुलना में संचालन या केन्द्रीयकरण बहुत अधिक है। इसी प्रकार

प्रबन्ध अभिकर्ता कुछ ही घन्टों मे पचासो कम्पनियो की वार्षिक आम साधारण सभाओं को वापिस कर देते है।

केन्द्रीयकरण की समस्या केवल प्रबन्ध एवं संचालन म ही नहीं, वरन् कम्पनियों की आर्थिक व्यवस्था मे भी उतनी ही तीव्र है। इसका कारण है कि प्रबध-अभिकर्ताओं के हाथो में बहुत बडी सख्या मे बैंक, बीमा-कम्पनियाँ तथा विनियोग प्रन्यास (Trusts) है। इसलिए उद्योगों की अर्थ व्यवस्था में इन संस्थाओं द्वारा वे बहुत बड़ी सीमा तक नियत्रण रखते हैं। इसके प्रमुख उदाहरण डालमिया, बिड़ला, सिंघानियाँ आदि है। अपने प्रभुत्व को चिरस्थायी रखने के लिये इन लोगों ने दैनिक तथा साप्ताहिक पत्रो को निकालना भी प्रारम्भ किया है, जिनके द्वारा वे बडी कुशलता के साथ प्रचार करते है तथा लाभ उठाते है। ये विनियोग प्रन्यासों के द्वारा भी देश के औद्योगिक जीवन पर पर्याप्त नियन्त्रण रखते है। जूट उद्योग की १८ करोड की पूँजी की ५५ मिले केवल १७ प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के द्वारा नियन्त्रित की जाती है, जब कि कुल १०० मिलो की पूँजी २३ करोड है। २४७ कोयला कम्पनियो मे से, जिनकी पूंजी १० करोड रुपया है, ६० कम्पनियाँ जिनकी पूंजी ६½ करोड है, १८ प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के द्वारा नियन्त्रित की जाती है। फिर भारतीय प्रबन्ध-अभिकर्ताओं ने विदेशों की भारतीय कम्पनियो को बहुत बडे मूल्य पर खरीद कर (जैसे जयपुरिया तथा डालमिया द्वारा) तथा विदेशी कम्पनियो मे साझा करके (जैसे बिड़ला, जेठिया ब्रदर्स तथा मुकर्जी द्वारा) भी उद्योग की अर्थ-व्यवस्था पर बहुत बड़ी सीमा तक नियत्रण किया है।

इस प्रकार प्रबन्ध अभिकर्ताओं तथा सचालकों के बीच एक सामुदायिक हित स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। प्रबन्ध-अभिकर्ता अपनी प्रबन्धित कम्पनियो पर अपने ही कुछ संचालकों द्वारा सुगमतापूर्वक नियन्त्रण रखते है तथा अपनी इच्छा के अनुसार प्रबन्ध करते है। फैले हुए अंशधारियो के द्वारा, जिनकी पूँजी काफी अधिक होती है और जिनको यथार्थ रूप से कम्पनी का प्रबन्ध करना चाहिए, अपने विस्तृत फैलाव के कारण संचालको के ऊपर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं कर सकते। इसके साथ-साथ प्रबन्ध अभिकर्ताओं के पास कितने ही ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा वे अंशधारियो के ऊपर पूरा-पूरा नियत्रण रखते है। यह केन्द्रीयकरण केवल उपरोक्त बातो तक ही सीमित नही रहता, वरन् कम्पनी के अंशों म भी बडी सीमा तक केन्द्रीयकरण हो जाता है। उदाहरणार्थ, कपड़ा उद्योगों मे प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के पास लगभग कुल अंको के ¾ अंश है। इसी प्रकार करीब ८ कम्पनियो मे, श्री मुरंजन के अनुसार, केवल ८% अंशधारियो के पास कम्पनियों के ८०% अंश थे।

उपर्युक्त अध्ययन के द्वारा इसमे भी आशंका नही रह जाती कि भारतवर्ष में कम्पनियो के नियंत्रण तथा अर्थ-व्यवस्था का बहुत बड़ी सीमा तक केन्द्रीयकरण हो

रहा है और इसके द्वारा साधारण अंशधारियों तथा उद्योगपतियों को आगे बढ़ने का अवसर नहीं मिलता। उनके नियंत्रित उद्योगों में श्रमिकों को भी यथोचित लाभ नहीं होता है, क्योंकि लाभ का अत्यधिक भाग इनकी जेबों में चला जाता है अथवा ये कम्पनियों की अर्थ-व्यवस्था को इस प्रकार निर्बल कर देते हैं कि उनको हमेशा इनकी ओर ताकना पड़ता है। इन्होंने अपनी स्थिति के कारण छोटे विनियोग-संघों का विलयन करके उनका स्वरूप वृहत् बना दिया है, जिसके द्वारा वे देश के उद्योग तथा व्यापार पर कुशलता से नियंत्रण कर रहे हैं। जो बात श्री अशोक मेहता ने १९४० में टाटा लोह कम्पनी के लिये कही थी कि उसका सालाना लाभ बिहार सरकार के राजस्व के बराबर है अभी भी ठीक बैठती है। डालमिया के कम्पनियों पर ७० लाख रुपये साल चढ़ जाते हैं। तथा कुछ प्रबन्ध-अभिकर्ता दिखाने के लिये ३ करोड़ रुपये तक कम्पनी की प्रगति के लिये छोड़ देते है और उससे तिगुने लाभ को कमा लेते हैं। प्रबन्ध अभिकर्ताओं तथा बड़ी कम्पनियों के आर्थिक लाभ का अनुमान इनके द्वारा दिये जाने वाले आयकर से भी लगाया जाता है। सरकार के वार्षिक राजस्व का ५०% जो करीब १६० करोड़ रुपया है इन्हीं लोगों के द्वारा दिया जाता है और यह कहना कि "देश में पूँजी के केन्द्रीयकरण का कोई भय नहीं है" न्यायसंगत बात नहीं दिखाई देती, इसीलिये पंचवर्षीय योजना आयोग ने दृढ़ शब्दों में राय प्रकट की है कि प्रबन्ध-अभिकर्ता व्यापार के विकास में किसी प्रकार भी सहायक नहीं है। ये तो केवल हमारे आर्थिक जीवन पर कठोर नियंत्रण करके मौज लूटना चाहते हैं। इतना ही नहीं इन्होंने बहुत बड़ी सीमा तक हमारे राजनीतिक वातावरण को भी अपने शिकंजे में कस लिया है।

कुछ बड़े उद्योगपतियों तथा औद्योगिक संगठनों के अनुसार भारतवर्ष का विशाल क्षेत्र, कच्चे माल की बहुतायत तथा आर्थिक हीनता को देखते हुए यह कहना असत्य होगा कि भारतवर्ष में औद्योगिक एकाधिकार अथवा आर्थिक एकीकरण देश में बहुत भयानक रूप ले लेगा, क्योंकि देश में अभी तक प्रायः समस्त क्षेत्रों में प्रतियोगिता के लिये पूर्ण सुविधा है। इसका कारण यह है कि अभी तक मध्यम श्रेणी के उद्योग भी देश में प्रबल है और विशाल उद्योगों में श्रमिकों की संख्या इतनी अधिक नहीं है जितनी इन छोटे-छोटे उद्योगों में है। अतः आर्थिक केन्द्रीयकरण में अभी तक हमारा केन्द्रीयकरण अप्रिय नहीं हुआ है और न उसमें किसी प्रकार की कठोरता ही आई है। देश की बेकारी की समस्या भी अभी तक पूर्ण रूप से नहीं सुलझ पाई है। हमारे उद्योग में अभी तक एकाधिकार की बुराइयाँ जैसे, छोटे उद्योगपतियों पर दबाव, ऊँची दरें, कानून का दुरुपयोग, क्रेताओं की स्वतंत्रता का अपहरण, नवीन विकसित साधनों पर रोक आदि नहीं आ पाई हैं। किन्तु पिछले अध्ययन से उनकी यह दलील तर्कहीन प्रतीत होती है। यदि हम यह मान भी लें कि

देश में एकाधिकार की भयंकर स्थिति पैदा नहीं हुई है, किन्तु यह तो सभी को मानना पड़ेगा कि उसकी प्रवृत्ति स्पष्ट है। इसलिये इस प्रवृत्ति को रोकना राष्ट्र में जनतन्त्रवादी सिद्धान्तों की रक्षा के लिये आवश्यक है। इस दिशा में कम्पनी-लॉ कमेटी अथा कम्पनी-लॉ मनेजट कमेटी ने अमूल्य सुझाव रखे हैं, जिनमें प्रबन्ध-अभिकर्ताओं का पूर्ण रूप से उन्मूलन किया जाना आवश्यक बताया गया है।

सरकार ने इस ओर सक्रिय कदम भी उठाया है। नवीन कम्पनी अधिनियम में स्थगित अंशों को साधारण अंशों में परिवर्तित करने की धारा रखी गई है। डा० थॉमस तथा गोरवाला कमेटी के स्कन्ध विनिमय बाजारों को नियन्त्रित करने के सुझावों को भी सरकार ने मान लिया है तथा सरकार का निजी कम्पनियों के कार्यों में हस्तक्षेप तथा नियन्त्रण करने का अधिकार है। शास्त्री कमेटी ने निजी कम्पनियों पर और अधिक दृढ़ नियन्त्रण रखने की योजना बनाई है। इस कमेटी के सुझाव १९६१ में कानून का रूप ले लेंगे।

इसके साथ-साथ सरकार को चाहिये कि अमेरिका के समान यहाँ पर भी औद्योगिक केन्द्रीयकरण की स्थिति का मूल्यांकन करने के लिये एक जाँच समिति की नियुक्ति करे, और हमारे देश में स्वास्थ्य प्रतियोगिता को जन्म दिया जाय, जिससे कि स्वतन्त्र उद्योग की स्थापना की जा सके।

औद्योगीकरण का उद्देश्य केन्द्रीयकरण न हो कर पूर्ण आजीविका उपार्जन होना चाहिये तथा प्रबन्ध-अभिकर्ताओं का पूर्ण रूप से उन्मूलन कर दिया जाना चाहिये।

इस प्रकार के भय की आशंका नहीं है कि उनके उन्मूलन के बाद देश को कुशल प्रबन्धक नहीं मिलेंगे। हमारे देश में योग्य व्यक्तियों की कमी नहीं है। केवल उनको अवसर मिलना चाहिये। देश की अर्थव्यवस्था में बहुमुखी विकास लाने के लिये यह आवश्यक है कि उसमें उत्साही किन्तु सामान्य स्थिति वाले व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व को दिखाने का सुअवसर दिया जाय।

विवेचन योग्य प्रश्न

1. Explain, how far the various forms of combinations are working in India? Give a brief note on each of them.
2. Explain the working of combinations in some of the Indian industries.
3. What are the main causes of slow growth of the combination movement in India? Give your suggestions to remove the defects.

4 Write a note on "Economic Concentration in Indian Industries". What efforts have been made to free the industries from the grip of the managing agents and directors ? Explain and give further suggestions

(Note for other questions see Chapter 13)

व्यावसायिक वित्त

औद्योगिक वित्त-व्यवस्था एवं प्रबन्ध १५

(Industrial Finance and Management)

उद्योग में पूँजी का महत्व
(Importance of Capital in Industry)

औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था का सामान्य अर्थ पूँजी का इस प्रकार से उत्पादन मे प्रयोग करना है, जिससे उत्पादन-कार्य निरन्तर चलता रहे। प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने तो पूँजी को ही सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया था और कहा कि भूमि तथा श्रम सम्पत्ति के उत्पादन मे केवल सहायक अग है और उनका स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नही है। किन्तु कार्ल मार्क्स तथा उसके बाद के अर्थशास्त्रियो ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि पूँजी (जो सम्पत्ति का एक भाग है) पहले किये गये श्रम का प्रतिफल है और उसको भविष्य को उत्पादन को आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रयोग मे लाया जाता है। दूसरे शब्दो मे पूँजी उत्पादन तथा उपभोग का बचा हुआ अन्तर है, जिसका उपयोग भविष्य मे उत्पादन की वृद्धि के लिये किया जाता है। इस प्रकार यद्यपि आजकल भूमि और श्रम ही हर प्रकार के उत्पादन मे स्वतन्त्र माने जाते है, किन्तु उत्पादन की वृद्धि के लिये पूँजी की सहायता का महत्व भी किसी प्रकार से कम नही किया जा सकता, क्योकि यह मनुष्य के हाथो को अधिक बल देने मे सहायक होती है और इससे उत्पादन मे निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

उत्पादन मे वृद्धि करने के लिये हमको भवन, मशीनें, औजार, कच्चा माल, सचय, मजदूरी, ईंधन, शक्ति, तथा अन्य सहायक शक्तियाँ, जिन से उद्योग को स्थापित किया जा सके तथा सेवायें जिनसे उद्योग मे गति लाई जा सके, आदि की अत्यधिक आवश्यकता पड़ती है और इनकी अर्थ-व्यवस्था करना ही औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था कहलाता है। इस प्रकार हम देखते है कि उद्योग की अर्थ व्यवस्था मे हमको कुछ इस प्रकार की पूँजी की आवश्यकता होती है, जिसका जीवन-काल बहुत अधिक होता है और वह तभी समाप्त होता है जब उद्योग ही समाप्त हो जाय (जैसे जमीन, भवन आदि) किन्तु कुछ को पूर्ति के लिये हमको केवल अस्थायी रूप से ही पूँजी की आवश्यकता होती है। पहले प्रकार की पूँजी को स्थायी पूँजी (Fixed Capital) या दीर्घकालीन पूँजी (Long-term Capital) तथा दूसरे प्रकार की पूँजी को कार्यशील पूँजी (Working Capital) या अल्पकालीन पूँजी (Short-term

Capital) कहते हैं। अल्पकालीन पूंजी को अनेक भागों में बाँटा जा सकता है (इसका वर्णन आगे किया जायेगा)।

अल्पकालीन पूंजी की व्यवस्था सुगम होती है, क्योंकि उसके लिये वाणिज्य-अधिकोष, अर्थ-व्यवस्थापक संस्थायें, साहूकार, बीमा कम्पनियाँ आदि अनेक श्रोत हैं, किन्तु दीर्घकालीन पूँजी के लिये कुछ विशेष कठिनाई उपस्थित होती हैं, क्योंकि साहूकार या सामान्य बैंक अपनी पूंजी को एक बहुत बड़े समय तक किसी उद्योग में नहीं दे सकते है। इसलिये पूंजी के विषय में सबसे पहले व्यापारी को पूर्ण रूप से अध्ययन कर लेना चाहिए। अध्ययन में पूंजी के लिये योजना, उसके श्रोतों के अध्ययन की व्यवस्था आदि का समावेश किया जाना चाहिये।

अर्थ-योजना
(Financial Planning)

उद्योग तथा व्यापार का कोई भी स्वरूप हो, उसको प्रारम्भ करने में पूर्व उसके लिये विवेकपूर्ण अर्थ-योजना बनाई जानी आवश्यक है। योजना बनाने में हमें उसमें होने वाले अलग अलग खर्चों का अध्ययन कर लेना चाहिए। व्यापार तथा उद्योग को प्रारम्भ करने में सामान्यतः निम्नलिखित खर्चों की आवश्यकता पड़ती है।

(१) प्रवर्तन व्यय (Promotion Expenses)
(२) स्थाई सम्पत्ति मूल्य (Fixed Asset Cost)
(३) व्यवस्थापन व्यय (Establishment Charges)
(४) व्यापार प्रवर्धक व्यय (Business Development Charges)
(५) अर्थ-व्यवस्था व्यय (Expenditure on Financing)

उपर्युक्त व्ययों का अनुमान लगाने के पश्चात् व्यापार अथवा उद्योग के प्रवर्तक को यह हिसाब लगाना चाहिये कि उसके लिये कुल कितनी तथा किस प्रकार की पूंजी की आवश्यकता होगी, तथा उसका किस प्रकार प्रबन्ध किया जायेगा। यह समस्यायें सबसे महत्वपूर्ण समस्यायें है।

पूंजी इतनी होनी चाहिए कि उससे व्यापार सुविधा से प्रारम्भ किया जा सके तथा उसमें ऊपर बताये गये समस्त व्यय सुगमता से पूर्ण हो सके। व्यापार में कम या अधिक पूँजी दोनों ही हानिकारक हैं। यदि पूंजी कम होगी तो व्यापार के प्रारम्भ में ही उद्योगपति को विषम कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा और उसका कार्य चलना कठिन हो जायेगा। इसी प्रकार यदि पूँजी अधिक हो जायगी तो व्यापार अथवा उद्योग में उसका अपव्यय होगा, बाजार में उसके अंशों का मूल्य गिर जायगा तथा अंशधारियों को बहुत कम लाभांश मिल सकेगा। पूँजी का आधिक्य (Over Capitalisation) प्रायः अधिक अंशों के निर्गमन, अचल सम्पत्ति

का अशुद्ध मूल्यांकन, बाहर से अधिक उधार माँगने, व्यापार स्फोति काल में प्रारम्भ करने, अधिक व्यवस्था व्यय आदि के करने से उत्पन्न होती है। इसलिये व्यापार को हर प्रकार से हानि होती है। अस्तु पूँजी केवल "उपयुक्त" ही होनी चाहिए। पूँजी का निर्धारण करने के लिये निम्नलिखित बातों पर विचार कर लेना आवश्यक है—

(१) **उद्योग का स्वरूप** (Form of Industry)—यदि किसी उद्योग में लाभ होने के पूर्व अधिक व्यय करना पड़े तो उसमें पूँजी की अधिक आवश्यकता होगी, क्योंकि जब तक उसकी वस्तु का निर्माण नहीं होगा तब तक उसको केवल व्यय ही करना पड़ेगा और इसलिये उसको उस समय तक केवल अपनी पूँजी के ही सहारे रहना पड़ेगा। इसके विपरीत यदि कोई व्यापारी वस्तुओं को कमीशन पर बेचता है अथवा विक्रय-क्रय पद्धति के अनुसार व्यापार करता है तो उसको बहुत कम पूँजी की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि व्यापार को प्रारम्भ करते ही उसको अर्थ-लाभ हो जायगा।

(२) **प्रवर्तन तथा व्यवस्था व्यय** (Promotion and Management Expenditure)—जिन उद्योगों तथा व्यापारों में प्रारम्भ में अनेक वैधानिक शिष्टाचारों की पूर्ति करनी होती है तथा यन्त्र एवं भवन-निर्माण पर व्यय करना होता है। उनको अधिक पूँजी की आवश्यकता होगी, क्योंकि उनका कार्य तब तक सुचारु रूप से नहीं चल सकता है जब तक उनकी इस प्रकार की व्यवस्था पूर्ण न हो जाय। विपरीत दशा में, जबकि वैधानिक शिष्टाचारों की पूर्ति की विशेष आवश्यकता नहीं होती तथा उनको स्थायी सम्पत्ति पर अधिक व्यय नहीं करना पड़ता, पूँजी की आवश्यकता कम पड़ती है।

(३) **क्रय-नीति** (Purchase Policy)—उद्योग में क्रय-नीति तथा अर्थ-नीति का बहुत बड़ा सम्बन्ध है। क्रय-नीति उद्योग की प्रकृति के अनुसार निश्चित की जाती है। उसमें यह आवश्यकता होती है कि माल इस प्रकार से मँगवाया जाय कि उत्पादन में किसी भी प्रकार की कमी अथवा अव्यवस्था न हो और क्रेताओं के आदेशों का भुगतान निश्चित समय पर किया जा सके। इसके लिये पहले ही इस प्रकार की योजना बनाई जानी चाहिये, जिसमें नगद तथा सम्भावित उधार का अनुमान लगाया जा सके। जब उद्योगपति को माल का संचय बड़ी राशि में करना पड़ता है, उस समय उसको अधिक पूँजी की आवश्यकता पड़ती है और विपरीत दशा में कम पूँजी की। अतः इसी अनुमान के अनुसार उसको पूँजी की योजना बनानी चाहिए।

(४) **उत्पादन-व्यवस्था व्यय** (Production Management Expenditure)—वस्तु के उत्पादन करने में यह अनुमान लगाया जाना आवश्यक है कि उसके अलग-अलग अंगों पर कितना व्यय किया जायगा। इसमें मजदूरी, शक्ति, ईंधन, मशीनों की

सरम्मत आदि अनेक व्यय सम्मिलित किये जायेंगे और उसका अलग अलग हिसाब लगा कर पूंजी की व्यवस्था की जायेगी। साथ ही साथ योजना बनाने वाले व्यक्तियों को इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि किस समय पर कितनी पूंजी की आवश्यकता होगी और उसको प्राप्त करने के क्या-क्या सम्भव साधन हो सकेंगे। उन साधनों को दृष्टिगत रखकर पूंजी की योजना बनाई जानी चाहिए।

(५) कार्यालय-व्यवस्था व्यय (Office Management Expenditure)—उद्योग में केवल उपर्युक्त व्ययों की ही आवश्यकता नहीं पड़ती, अपितु उद्योग को नियन्त्रित करने के लिये रखे गये अधिकारियों तथा कार्यालयों के ऊपर भी व्यय करने की आवश्यकता पड़ती है। यह व्यय भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना प्रवर्तन या उत्पादन-व्यय। इसलिये उद्योग के अनुरूप उसके कार्यालयों एवं कार्यकर्ताओं पर किये जाने वाले व्यय का भी अनुमान लगाया जाना चाहिये। यद्यपि आगे चलकर इस व्यय को पूंजीगत नहीं माना जाता, किन्तु प्रारम्भ में यह व्यय पूंजी में से ही करना होता है। इसलिये इसको भी पूंजी का अनुमान लगाने समय ध्यान में रखना आवश्यक है।

(६) विक्रय-नीति (Sales Policy)—उद्योग तथा व्यापार में उसके व्यवस्थापक को यह ध्यान रखना चाहिए कि उसकी विक्रय नीति भी उसके उद्योग के अनुरूप हो, जिससे उत्पादन के अनुसार उसकी खपत की भी उचित व्यवस्था की जा सके। जिनका उत्पादन अत्यन्त विशाल होता है तथा जो अपनी ही शाखाओं द्वारा विक्रय करना चाहते हैं उनको साधारण रूप से बहुत अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त जो लोग स्वयं विक्रय न करके अपनी उत्पादित वस्तु को अपने आढ़तियों के पास भेज देते हैं उनको कम पूंजी की आवश्यकता होती है दोनों ही दशाओं में इस बात का भी अनुमान लगाया जाना चाहिये कि उधार कितना माल बेचना पड़ेगा। इस प्रकार विक्रय नीति को बनाने के साथ-साथ उसकी अर्थ-नीति का भी आंकन किया जाना चाहिये।

(७) विज्ञापन नीति (Advertisement Policy)—उद्योगपति को कार्यशील पूंजी का अनुमान लगाते समय यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि अपने माल की प्रसिद्धि के लिये किस प्रकार की नीति अपनानी होगी। वह नीति उस वस्तु के बाजार के क्षेत्र पर निर्भर करेगी। यदि उसका बाजार बहुत सीमित हो तो विज्ञापन एवं प्रचार के लिये बहुत कम पूंजी की आवश्यकता होगी। यदि वस्तु का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र हो तो उसके विज्ञापन पर भी उतना ही अधिक व्यय करना पड़ेगा। विज्ञापन प्रायः उस समय से ही प्रारम्भ कर देना पड़ता है जबसे वस्तुओं के निर्माण का श्रीगणेश होता है। अतः यह धन प्रायः पूंजी में से ही व्यय किया जाता है। पूंजी के लिये योजना बनाते समय विज्ञापन पर भी पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए।

(८) **सामान्य अर्थ-व्यवस्था** (General Finance Policy)—पूँजी की योजना बनाते समय ऊपर दिये गये बिन्दुओं के साथ-साथ उद्योग तथा व्यापार मे होने वाले आकस्मिक व्ययो का ध्यान रखा जाना चाहिये। यह व्यय सामान्य व्ययो पर किस प्रतिशत मे लगाये जाने चाहिये, यह व्यय उद्योग के आकार के ही अनुरूप निश्चित होगा। कार्यशील पूँजी मे भी इसकी व्यवस्था की जानी आवश्यक है। इसमें पूँजी को एकत्र करने का व्यय विशेष उल्लेखनीय है।

पूँजी के प्रकार
(Kinds of Capital)

सामान्यतः व्यापार मे पूँजी के निम्नलिखित प्रकार होते है—

(१) **स्थायी पूँजी** (Fixed Capital)—जो पूँजी स्थायी सम्पत्ति पर विनियोग करने के हेतु ली जाती है उसको स्थायी पूँजी कहते है। इस प्रकार इस पूँजी का प्रयोग प्रायः उस सम्पत्ति के लिये किया जाता है, जिससे उत्पादन मे सहायता मिलती है। इसका अनुमान लगाने के लिये यह ध्यान मे रखना चाहिये कि जिस सम्पत्ति मे इसका व्यय किया जाता है वह यद्यपि बहुत बडे समय तक व्यापार मे रहती है, किन्तु उसका स्थायित्व भी परिवर्तनीय रहता है और उसमे समय के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है। औद्योगिक विकास तथा नवीन आविष्कारों के साथ-साथ स्थायी सम्पत्ति मे परिवर्तन करना आवश्यक होता है, किन्तु हर अवस्था में इसकी अवधि विशेष ही मानी जाती है। इस प्रकार की पूँजी के लिये दीर्घकालीन व्यवस्था की जानी चाहिये और उसमें उद्योग के स्थायित्व के अनुसार परिवर्तन होते रहते है। यदि वह एकाकी अथवा साझेदारी हो तो पूँजी प्रायः व्यापारियो की निजी पूँजी होती है अथवा उसको साहूकारो से प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु सार्वजनिक कम्पनियो मे यह पूँजी अंशधारियो अथवा ऋणपत्रधारियो से प्राप्त की जा सकती है। कभी-कभी अधिकोषण संस्थाये भी इस प्रकार की पूँजी मे सहायता देती है।

इस पूँजी का चक्रिक उपयोग करना प्रायः कठिन सा होता है, क्योंकि इसका विनियोग भी स्थायी सम्पत्ति मे ही किया जाता है। इसलिये उधार ली गई पूँजी पर आश्रित नही रहा जा सकता।

(२) **कार्यशील पूँजी** (Working Capital)—यह पूँजी उद्योग के साधारण कार्यो में लगाई जाती है। उद्योग मे कार्यकर्ताओं का वेतन, मजदूरी, विज्ञापन, यातायात-व्यय, चल सम्पत्ति के क्रय, उत्पादन-व्यय, विक्रय-व्यय, तथा अन्य सामान्य खर्चो मे लगाई जाती है। उस समय जबकि उत्पादित वस्तु के विक्रय मे देरी हो जाती है और विशेष पूँजी उसमें लगी होती है, उसके लिये भी अतिरिक्त कार्यशील पूँजी की आवश्यकता पडती है। इसलिये इस पूँजी को मोटे रूप से बराबर खर्चो अथवा आकस्मिक खर्चों के काम मे लाया जाता है। कभी-कभी कार्यशील पूँजी को

'यथार्थ कार्यशील पूंजी' कहते है। अर्थात् जो सम्पत्ति कम्पनी के उद्योग के दायित्वों मे अधिक होती है उसे स्थायी पूंजी कहा जाता है। दूसरे शब्दों मे दायित्वों के भुगतान के पश्चात् जो पूंजी शेष बच जाती है उसको वास्तविक या यथार्थ कार्यशील पूंजी कहते हैं। यह पूंजी उद्योग के आकार पर ही निर्भर करती है उसका प्रबन्ध निजी अथवा उधार ली गई पूंजी के द्वारा किया जाता है, क्योंकि इस पूंजी को आसानी से जल्दी ही प्राप्त किया जा सकता है। इसलिये जिन व्यक्तियों से यह पूंजी ऋण के रूप में ली जाय उनका समय पर भुगतान किया जा सकता है, किन्तु यह विचार हमेशा लाभदायक सिद्ध ही होता है कि व्यापार को कार्यशील पूंजी भी प्रायः स्थाई पूंजी के समान ही आवश्यक होती है। इसलिये उसके लिये भी दूसरो पर आश्रित नहीं रहा जा सकता। उस अवस्था मे जबकि पूंजी केवल आकस्मिक अथवा सामयिक कार्यों के लिये ली जाय, किसी सीमा तक ऋणों पर आश्रित रहा जा सकता है। कार्यशील पूंजी की योजना बनाते समय इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि कार्यशील पूंजी की किस प्रकार की आवश्यकता है।

(३) द्रवित पूंजी (Watered Capital)—जिस समय कम्पनी मे उसकी सम्पत्ति यथार्थ मूल्य से अधिक दिखाई जाती है उस समय तक अधिक धन के बराबर वाली पूंजी को द्रवित वाली पूंजी कहते है, इसका अर्थ यह हुआ कि पूंजी व्यापार से अधिक लाभ हो जाने के कारण लाभ के द्वारा बढा दी जाती है। इसका अर्थ यह नही होता कि व्यापार में पूंजी की अधिकता हो गई, बल्कि इसका अर्थ यह हुआ कि यद्यपि कुछ सम्पत्ति का मूल्य बढाकर लिखा गया है फिर भी कम्पनी का कार्य बहुत कुशलता से चल सकता है और कम्पनी के अंश वास्तविक अथवा प्रव्याजि मूल्य पर बेचे जा सकते है। दूसरे प्रकार की स्थिति में, जब कि पूंजी की अधिकता होती है तो उसकी व्यवस्था का सारा ढग बदल जाता है।

(४) *तरल पूंजी* (Liquid Capital)—*जिस सम्पत्ति का प्रयोग* अस्थायी होता है तथा सम्पत्ति के क्रय-विक्रय में किया जाता है उसको 'तरल पूंजी' कहते हैं। यह कार्यशील पूंजी का ही एक अंग है, किन्तु इसमें अंशों के उतार-चढाव के कारण प्रायः परिवर्तन होता रहता है, अर्थात कच्चे माल के खरीदने, कोयला-शक्ति आदि के व्यय के लिए जिस पूंजी का प्रयोग किया जाता है, उसे तरल पूंजी कहते हैं। दूसरे शब्दों में कम्पनी में लगे हुये धन को तरल पूंजी कहते हैं।

(५) ऋण पूंजी (Borrowed Capital)—जो पूंजी प्रतिभूतियों एवं ऋणपत्रों के निर्गमन से प्राप्त की जाती है, उसको ऋण पूंजी कहते हैं। ऋण पूंजी की आवश्यकता प्रायः उस समय पड़ती है जब उद्योग अथवा व्यापार को अंश पूंजी के अतिरिक्त धन की आवश्यकता होती है। यह प्रायः साहूकारों से प्राप्त की और उसकी प्रकृति भी उस कार्य की प्रकृति के अनुसार ही होती है, जिसमें

उसका उपयोग किया जाता है, अर्थात् यदि उसको किसी निश्चित समय तक के कार्य के लिये मांगा जाता है तो उस अवधि के पश्चात इसका भुगतान कर दिया] जाता है और यदि इसको स्थाई कार्यों में विनियोग के लिये मांगा जाता है तो इसका जीवन-काल भी कम्पनी के समाप्त होने पर ही होता है। उस प्रकार की पूँजी को प्राप्त करने के लिये उस सम्पत्ति अथवा साख-ऋणपत्र-धारियों को सुरक्षा के रूप में देनी होती है, जिस का प्रयोग यद्यपि कम्पनी करती है, किन्तु भुगतान के अवसर पर उनको उसमें प्राथमिकता दे दी जाती है। यह पूँजी अंश पूँजी से भिन्न होती है, क्योंकि इसके स्वामियों को कम्पनी में केवल साहूकारों के ही अधिकार प्राप्त होते हैं और उनको लाभांश न दिया जाकर एक निश्चित ब्याज दिया जाता है।

पूँजी मिलान
(Capital Gearing)

उद्योग में पूँजी की अधिकता एवं न्यूनता दोनों ही अहितकर होते हैं। इसलिये योजनाकर्ता को पहले ही पूँजी को इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिये कि उसका मिलान हो सके। पूँजी का मिलान कम्पनी की समस्त पूँजी में अलग-अलग अंशों में तथा प्रतिभूतियों के अनुपात से निश्चित किया जाता है। यदि सम्पूर्ण पूँजी के अनुपात से साधारण अंशों का निर्गमन किया हो और ऋणात्मक पूँजी का अनुपात अधिक हो तो उसको अंशों का अधिक मिलान कहा जाता है और यदि साधारण पूँजी अधिक हो तो उसको निम्न मिलान (Low Gearing) कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि संस्था की कुल पूँजी २५ लाख हो और इसमें निर्गमन किये हुये अंश एवं प्रतिभूतियाँ १५ लाख ऋण पत्र अथवा प्रतिभूतियों के द्वारा तथा १० लाख अंशों के द्वारा प्राप्त किये जायें तो उस अनुपात को 'अधिक-मिलान' कहा जायगा तथा उसकी उल्टी दशा में 'निम्न-मिलान' कहा जायगा।

यदि पूँजी का उचित मिलान कर दिया जाता है तो पूँजी की स्थिति दृढ़ रहती है और कम्पनी की साख भी दिनोंदिन स्थिर होती चली जाती है। किन्तु पूँजी में अधिक मिलान के कारण अंशों में परिकल्पना की वृद्धि होती है, जिससे प्रायः अंशों के मूल्य गिरने लगते हैं। इसलिये यह जरूरी है कि अंशों के मूल्य को उचित स्तर पर रखने के लिये प्रतिभूतियां अथवा ऋणपत्रों के निर्गमन की अपेक्षा अंशों का अधिक निर्गमन किया जाना चाहिये। ऋणपत्रों के निर्गमन की स्थिति में उद्योग के स्वामी को यह ध्यान रखना चाहिये कि उनमें मूलधन की सुरक्षा, उचित आय, उनकी विक्रयता, समान्नोदक मूल्य, कर मुक्ति, मान्य राशि, मान्य अवधि, मूल्य वृद्धि, आय की स्थिरता आदि कहाँ तक सम्भव है। इन सब बातों का ध्यान रखते हुए उद्योगपति को ऋणपत्रों तथा प्रतिभूतियों का प्रचार करना चाहिये तथा उनकी विक्रयता को ध्यान में रखते हुए उसकी स्थिति में परिवर्तन किया जाना चाहिये।

प्रत्येक अवस्था में यह ध्यान में रखना चाहिये कि साधारण पूँजी ऋण पूँजी से अधिक हो, जिससे पूँजी का स्तर ऊँचा रहे।

पूँजी के श्रोत
(Sources of Capital)

पूँजी का आकार व्यापार के आकार के ही अनुसार होता है। व्यापार जितना ही बड़ा होगा उसको उतनी ही अधिक पूँजी की आवश्यकता होगी। इस प्रकार एकाकी व्यापार, साझेदारी तथा सार्वजनिक कम्पनियों की पूँजी में प्रायः अन्तर रहेगा और इसी प्रकार उनके पूँजी प्राप्त करने के श्रोतों में भी भिन्नता रहेगी। पूँजी के श्रोत प्रायः निम्नलिखित होते हैं—

(१) **निजी पूँजी (Own Capital)**—एकाकी व्यापारी तथा साझेदार अपने व्यापार अथवा उद्योग के लिये पूँजी स्वयं लाते हैं। यह पूँजी (१) उनका निजी धन हो सकता है, या (२) दूसरों से लिया ऋण, या (३) अपनी प्रतिभूतियों तथा हुन्डियों द्वारा प्राप्त किया धन, या (४) बैंकों से लिया गया ऋण, या (५) सरकारी सहायता आदि। जो धन व्यापारी अपनी ही ओर से लाते हैं वह उनकी निजी पूँजी कहलाती है। यह पूँजी व्यापारी की आर्थिक स्थिति पर निर्भर रहती है। यदि उसकी आर्थिक अवस्था सुदृढ़ है तो वह अधिक पूँजी लगा सकेगा और यदि वह विशेष धनाढ्य नहीं है तो पूँजी कम होगी। इसलिये इस पूँजी की व्यवस्था भी उसकी आर्थिक स्थिति के अनुसार ही की जायेगी, अर्थात् उसे यह देखना होगा कि उसकी लाई हुई पूँजी उसके सामान्य तथा दैनिक खर्चों की पूर्ति करके इतनी शेष रह जाती है कि आवश्यकता के समय उसको धन की कमी न रहे, क्योंकि व्यापारी के आर्थिक श्रोत सीमित रहते हैं। इसलिये वह अपनी सम्पत्ति पर व्यापार की आकस्मिक अर्थ-पूर्ति की व्यवस्था भी कर सकेगा। इसलिये उसको अपनी आर्थिक स्थिति को तो सुदृढ़ बनाना ही चाहिये और साथ-साथ अपनी व्यापारिक साख को इस प्रकार बनाना चाहिये कि उसको कभी भी आर्थिक संकट का सामना न करना पड़े। व्यापार को बिना सोचे समझे बढ़ाना भी उसकी आर्थिक नीति के विरुद्ध होगा और एकाएक व्यापार के बढ़ जाने के कारण उस पर बहुत बड़ा आर्थिक संकट आ जायेगा। अतः उसको व्यापार उतना ही करना चाहिये, जितनी उसकी सामर्थ्य हो।

(२) **सम्बन्धियों अथवा मित्रों से ऋण (Loan from Relations or Friends)**—एकाकी व्यापार या साझेदार, अपनी निजी पूँजी के अतिरिक्त दूसरे व्यक्तियों से भी (जैसे, उसके सम्बन्धी या मित्र) आवश्यकता पड़ने पर ऋण के रूप में धन प्राप्त कर सकता है। इस धन से, इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यापारी की सामयिक आर्थिक कठिनाई कम हो जाती है, किन्तु उसका स्वामित्व नहीं रहता है। जब तक व्यापार चलता रहता है उनका भुगतान करना आसान होता

है, किन्तु जैसे ही व्यापार समाप्त होता है या उसमें किसी प्रकार की कमी आ जाती है या लोग अपना धन वापस माँगते है तो व्यापारी को एक भयकर संकट का सामना करना पडता है। सम्बन्धियों से जो धन लिया जाय उसके लिये भी उसी प्रकार का स्पष्टीकरण होना चाहिये, जिस प्रकार से सामान्य साहूकार के साथ होता है। यह रुपया व्यापार मे विशेष महत्व का होता है, क्योकि आय वालो को यह आभास नही होता है कि व्यापारी अथवा एकाकी उद्योगपति या साझेदारी की आर्थिक स्थिति सुदृढ नहीं है और उसके पास समय समय पर धन आता रहता है।

(३) **प्रतिभूतियों अथवा हुण्डियों द्वारा धन** (*Issue of Securities or Hundies*)—एकाकी व्यापारी अथवा साझेदार, (यदि उनकी व्यापारिक स्थिति अच्छी हो और बाजार मे पर्याप्त साख हो तो) अपनी प्रतिभूतियों का प्रवचन करके भी धन प्राप्त कर सकते है, किन्तु इन प्रतिभूतियों का क्षेत्र अत्यन्त सीमित होता है और उनके व्यक्तिगत प्रभाव पर भी निर्भर करता है। इसलिये उनसे पर्याप्त धन प्राप्त करने की विशेष आशा नही रहती है। हमारे देश मे हुण्डियों का प्रचलन पर्याप्त मात्रा मे है। हुण्डियाँ कई प्रकार की होती है और इस प्रकार धन की आवश्यकता को अवधि के अनुसार अलग-अलग हुण्डियाँ प्रचलित की जा सकती है। हुण्डियाँ प्रायः एक दिन की अवधि से ६ माह की अवधि तक की होती है। इनका बाजार अत्यन्त सकीर्ण होता है तथा इनका अस्तित्व भी व्यापारी की साख तथा प्रतिष्ठा पर निर्भर रहता है। हुण्डियो मे यह सुविधा अवश्य है कि हुण्डी सिकारने वाला आवश्यकता पडने पर अवधि से पहले ही हुण्डी को बेचकर रुपया प्राप्त कर सकता है और फिर उसकी निश्चित भुगतान अवधि पर हुण्डी के धारक को रुपया दिया जा सकता है। हुण्डियों से रुपया प्राप्त करने मे भी व्यापारियों को बहुत सतर्क रहना चाहिये। उनका प्रयास होना चाहिये कि हुण्डी का भुगतान उसकी ठीक मियाद पर किया जा सके। यह तभी सम्भव हो सकता है जब व्यापारी अपनी पूँजी तथा उसमें भुगतान की व्यवस्था किसी योजना के साथ करता है।

(४) **बैंको से ऋण** (Bank Loan or Overdraft)—व्यापारी एव उद्योगपति अपना व्यापारिक धन प्रायः बैंकों मे रखते है। बैंकों मे धन कितने ही प्रकार के खातों मे रखा जाता है, जैसे, निक्षेप खाता, चालू खाता, बचत बैंक खाता आदि। बैंक अपने ग्राहक की आर्थिक व्यवस्था, व्यापारिक स्थिरता तथा निजी सम्बन्धों के अनुसार समय-समय पर आर्थिक सहायता देता रहता है। व्यापारिक बैंक अपने ग्राहक को प्रायः अल्पकालीन ऋण ही दे सकता है। ये ऋण या तो चालू खाते मे धन के अतिरिक्त रुपया निकालने (Overdraft) से दिया जा सकता है या उसके निक्षेप स्थायी खाते की या स्थायी अथवा चल सम्पत्ति की या उसकी निजी जमानत पर दिया जाता है। यह ऋण ग्राहक को या तो अवधि के समाप्त होने पर वापिस

देना होता है या उनके निजी सम्बन्धों के अच्छे रहने पर उसका पुनः नवीनकरण कर दिया जाता है। नवीनकरण उसी अवस्था में सम्भव हो सकता है जब बैंक को विश्वास हो कि धन वापिस प्राप्त किया जा सकेगा। बैंक जो धन व्यापारी को देते हैं उस पर प्रायः अधिक ही ब्याज लेते हैं। ब्याज की दर पूंजी-बाजार की स्थिति के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है। हमारे देश में विदेशों की भांति उस प्रकार की संस्थायें नहीं हैं, जो व्यापारियों को समय-समय पर आर्थिक योग दे सकें। बैंकों से जो धन लिया जाता है उसको लेने में अनेक औपचारिक बातें करनी पड़ती हैं, जिससे व्यापारी को धन लेने में बड़ी कठिनाई होती है। किन्तु सामान्य संस्थाओं से ऋण सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु इन संस्थाओं के अभाव में व्यापारियों को यथेष्ट सहायता नहीं मिल पाती।

व्यापारिक बैंक केवल कार्यशील पूंजी में ही योग दे सकते हैं और व्यापारी को यदि स्थायी अथवा दीर्घकालीन कार्यों के लिये स्थायी पूंजी की आवश्यकता हो तो वह इन बैंकों से प्राप्त नहीं हो सकती। उसके लिये औद्योगिक बैंकों से ही पूंजी प्राप्त की जा सकती है। भारतवर्ष में औद्योगिक बैंक अभी उस रूप में नहीं बढ़ पाये हैं, जिस प्रकार विदेशों में। फिर भी इन बैंकों के द्वारा भी व्यापारियों को उचित जमानत पर ऋण प्राप्त होता रहता है। जो ऋण बैंकों के द्वारा प्राप्त होता है उसकी व्यवस्था भी विचार के साथ की जानी चाहिये, क्योंकि उनमें ऋण के भुगतान के लिये विशेष कठिन नियम होते हैं और इन नियमों का कठिनता से पालन किया जाता है।

(५) सरकारी सहायता (State Help)—व्यापारियों तथा उद्योगपतियों को समय-समय पर सरकारी सहायता भी प्राप्त हो सकती है। सरकार प्रायः अनुसूचित व्यापार एवं उद्योग को सहायता देती है। इस सहायता के लिये सरकार "सब्साइडी" (Subsidy) के रूप में धन देती है। उसमें कुछ प्रतिशत निश्चित कर दिये जाते हैं कि प्रथम वर्ष में सरकार कुल का कितना प्रतिशत देगी तथा दूसरे, तीसरे और चौथे सालों में कितना देगी। इसके अतिरिक्त सरकार ऋण के रूप में भी धन देती है, जिसका विशेष ब्याज नहीं होता। जिन उद्योगों अथवा व्यापारों को सरकार सब्साइडी देती है या ऋण देती है, उसके प्रबन्ध पर उसका पूरा-पूरा नियन्त्रण रहता है और उस धन का भुगतान भी नियमानुसार करना आवश्यक रहता है। सरकारी ऋणों में अवधि को परिवर्तित करने का कोई प्रश्न नहीं रहता। सरकारी सहायता अथवा ऋणों की कठिनाई यह है कि सरकार ऋण केवल विशेष कार्य करने वाली संस्थाओं को ही देती है। इसलिये हर प्रकार का व्यापारी या उद्योगपति उस ऋण की अपेक्षा नहीं कर सकता।

(६) जन निक्षेप (Public Deposits)—यदि व्यापारी की साख अच्छी

हो एवं लोगों को उसकी आर्थिक स्थिति पर पूरा-पूरा विश्वास हो तो लोग उसके पास अपनी धन-राशि को जमा कर देते हैं। इस प्रकार व्यापारी को बिना किसी प्रकार का ब्याज दिये हुए अथवा बहुत थोड़ा ब्याज देने पर भी एक बहुत अच्छी अतिरिक्त पूँजी प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार की पूँजी प्रायः व्यापारी के मुनीम, सम्बन्धी, मित्र आदि जमा कराते हैं। कभी अन्य लोग भी (बम्बई, अहमदाबाद आदि में) अपने धन को इन संस्थाओं को जमा करवा देते हैं। किन्तु इस धन पर विशेष भरोसा नहीं किया जा सकता, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर जमा-कर्ता (Depositor) कभी भी अपने धन को वापस माँग सकता है। ऐसी अवस्था में उनको वह धन वापिस करना ही पड़ता है, क्योंकि वापिस न करने पर उसकी व्यापारिक साख समाप्त हो जाती है तथा लोगों का विश्वास हट जाता है। आमतौर पर यह अवस्था उस समय आती है जब व्यापार में मन्दी का समय होता है। मन्दी के समय पहले ही व्यापारी आर्थिक संकट में रहता है और जमाकर्ताओं द्वारा धन माँगने पर उसके संकट और भी अधिक भीषण हो जाते हैं। अतः उन्हें अच्छे दिन का साथी (Fair Weather Friends) कहते हैं। अधिकांश रूप में इस प्रकार के उद्योगों का दिवाला निकलते देखा गया है। इसलिये व्यापारी को ऐसी पूँजी का प्रयोग जमाकर्ताओं की स्थिति का पूरा-पूरा अध्ययन करके करना चाहिये, जिससे समय पड़ने पर उसकी स्थिति न बिगड़ सके।

(७) बीमा कम्पनियों से ऋण (Loans From Insurance Companies)—आधुनिक बीमा कम्पनियाँ भी उद्योगपतियों को आर्थिक सहायता देती हैं। व्यापारी अपनी अर्थ-पूर्ति कम्पनियों से ऋण लेकर भी कर सकता है। बीमा कम्पनी बैंकों के समान व्यापारी की आर्थिक, व्यापारिक एवं औद्योगिक अवस्था को देखकर ही ऋण देती है। इसके लिये वे हर प्रकार उसके हिसाब-किताब की जाँच करती हैं, अतिरिक्त स्रोतों से जानकारी प्राप्त करती हैं तथा उससे आवश्यक अनुबन्ध लिखाकर किसी जमानत पर ऋण देती हैं। बीमा-कम्पनियाँ बैंकों से अधिक ब्याज लेती हैं और उनके ऋण का भुगतान भी अनुबन्ध के अनुसार किया जाना आवश्यक होता है। इन कम्पनियों से अल्पकालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन तीनों ही प्रकार से ऋण लिये जा सकते हैं। अलग-अलग प्रकार के ऋणों की ब्याज की दरें अलग-अलग होती हैं। कम्पनी के ब्याज की दरें भी द्रव्य बाजार की गतिविधियों पर निर्धारित की जाती हैं। यदि व्यापारी की व्यापारिक, औद्योगिक एवं आर्थिक स्थिति ठीक हो तो इन कम्पनियों से ऋण लाभप्रद हो सकता है।

(८) नये साझेदार की पूँजी (Capital by New Partner)—साझेदारी संस्थाओं में जब साझेदारों को अधिक रुपयों की आवश्यकता होती है और वे ऊपर दी गई रीतियों का उपयोग न करना चाहें तो वे व्यापार में नये साझेदार को

सम्मिलित कर आवश्यक पूँजी प्राप्त कर सकते हैं। नये साझेदार के प्रवेश करने पर यद्यपि अधिक पूँजी आ जाती है (यदि पूँजी के उद्देश्य से ही साझेदार सम्मिलित किया जा रहा हो) तथापि साझेदारी में अनेक इस प्रकार के परिवर्तन करने पड़ते हैं, जिसके द्वारा उसकी स्थिति में काफी अन्तर आ जाता है, जैसे पहले व्यापारियों की व्यापारिक साख, लाभ-हानि विभाजन तथा उत्तरदायित्व एवं अधिकारों में व्यापक परिवर्तन आ जाता है। नये साझेदार को यथार्थ पूँजी के अतिरिक्त साख का मूल्य भी चुकाना होता है, जो या तो व्यापार में लगकर पुराने साझेदारों की पूँजी में जोड़ दिया जाता है या साझेदार उस धन को अलग ले जाते हैं। इस प्रकार पूँजी के बढ़ जाने पर नये साझेदारों में लाभांश के विभाजन के अनुपात में अन्तर आ जाता है। इसके साथ-साथ उनके अधिकारों एवं कर्तव्यों पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। व्यापार में धन बढ़ाने की यह पद्धति उस अवस्था में अत्यन्त लाभपूर्ण है जब नया आने वाला साझेदार हानि होने के साथ-साथ सुयोग्य भी हो। इससे केवल व्यापार की आर्थिक स्थिति ही नहीं बढ़ेगी, अपितु व्यापारिक अथवा औद्योगिक कुशलता भी बढ़ जायगी और उनको बिना किसी बाहरी आश्रय के सहारे अपने उद्योग को बढ़ाने का अवसर प्राप्त हो सकेगा। सार्वजनिक कम्पनियों में आने वाली पूँजी के श्रोतों में तथा एकाकी या साझेदारी संस्थाओं के पूँजी के स्रोतों में कुछ भिन्नता होती है। सार्वजनिक कम्पनियों में पूँजी निम्नलिखित श्रोतों से प्राप्त की जा सकती है—(१) अंशों के निर्गमन द्वारा, (२) अल्पकालीन ऋण द्वारा, जो कि (अ) जनता से (ब) प्रबन्धक-अधिकारियों से (स) देशी बैंको, साहूकारों से, तथा (ई) व्यापारिक बैंकों द्वारा (३) ऋण पत्रों, प्रतिभूतियों तथा बन्धों द्वारा, (४) सरकार द्वारा, (५) औद्योगिक अर्थ कॉर्पोरेशन द्वारा, अथवा सीधा ऋण।

स्थायी पूँजी प्राप्त करने के सार्वजनिक साधन
(Public Means of Obtaining Fixed Capital)

अंशों द्वारा (By Issuing Shares)—सार्वजनिक कम्पनियाँ जनता में अपने अंशों का निर्गमन अनेक प्रकार से करके धन प्राप्त कर सकते है, जैसे या तो वे सीधे ही अपने अंशों को जनता के लिये प्रसारित कर सकती हैं, जिससे कि सर्वप्रथम विवरण पत्रिका के द्वारा जनता को कम्पनी की समस्त सूचनाओं को देकर अंशों को खरीदने के लिये प्रेरित करती है अथवा वे अपने अंशों को बेचने के लिये परोक्ष रीति भी अपना सकते हैं। इस रीति के अनुसार निर्गमन-योग्य अंश किसी अन्य पक्ष के नाम कर दिये जाते हैं और वह पक्ष उन अंशों का जनता में निर्गमन कर देता है। कभी-कभी बिना खरीदे हुए अन्य पक्ष अंशों का अभिगोपन (Underwriting) कर देते हैं। अभिगोपन करने में एक निश्चित अंश राशि को बेचने का उत्तरदायित्व ले लेते हैं और उस राशि को अपने प्रभाव के द्वारा जनता में बेचते हैं। यदि उसमें

से कुछ अंश नहीं बिकते हैं तो वे उनको स्वयं ही खरीद लेते है। इस प्रकार की पद्धति प्रायः विश्व मे सर्वत्र अपनाई जाती है, और अन्य पक्ष के द्वारा उनका प्रचलन केवल जनता मे ही नही होना, अपितु पूँजी-बाजारों मे भी यह बेची जाती है। जो कम्पनियाँ पूर्ण रूप से व्यवस्थित रहती है वे अपने पुराने अंशधारियों को नवीन अंशो को खरीदने के लिये प्रेरित कर सकती है। भारतीय कम्पनी कानून १९५६ की ८१वीं धारा के अनुसार अब नवीन अंशो के निर्गमन मे सर्वप्रथम अपने पुराने अंशधारियो को पूछ लेना आवश्यक है और जब पुराने अंशधारी नवीन अंशो को लेने से इन्कार कर दे तो उन नवीन अंशो को साधारण जनता मे निर्गमन किया जा सकेगा।

अंशो का निर्गमन वास्तविक मूल्य पर, अधिक मूल्य पर या कम मूल्य पर किया जा सकता है। जब अंशो का निर्गमन अधिक मूल्य पर कर दिया जाता है तो उसको प्रव्याजि (Premium) पर कहा जाता है, जैसे १०० रुपये का अंश ११५ रुपये मे बिके तो १४ रुपये प्रव्याजि के कहे जायेंगे। इस अतिरिक्त पूँजी को साधारण पूँजी नही माना जाता और उसको प्रायः अलग ही कोष में रखा जाता है। जो अंश कम मूल्य पर बिकते है उनको बटाव पर (At Discount) कहा जाता है, जैसे १०० रु० का अंश ८० रु० बिकता हो तो २० रु० बटाव कहलायगा। अंशो के मूल्यो पर प्रभाव अनेक कारणो से पडता है जैसे कम्पनी की व्यापारिक स्थिति, उद्योग की प्रकृति, कम्पनी की आन्तरिक अवस्था, कम्पनी के सचालक तथा प्रबन्ध-अभिकर्ता, सरकारी नियन्त्रण राजनीतिक स्थिति, अंशो की परिकाल्पनिक स्थिति, बाजार की मनोवृत्ति पर इसका मत, मुद्रा की दरें तथा प्रचलन आदि। (इसका विशेष वर्णन 'कम्पनी का प्रारम्भ' नामक अध्याय मे किया गया है।)

नवीन कम्पनी कानून के अनुसार अब अंश दो ही प्रकार के रह जायेंगे— (१) साधारण अंश (Ordinary Shares), तथा (२) पूर्वाधिकार अंश (Preferential Shares)।

साधारण अंशो का लाभांश देने की अवस्था मे सबसे अन्तिम स्थान रहता है। सही रूप में साधारण अंशधारी ही कम्पनी के वास्तविक स्वामी होते है। पूर्वाधिकार अंशधारी कम्पनी की प्रबन्ध-व्यवस्था मे उसी समय हस्तक्षेप कर सकते है, जब कि उनके लाभांशो मे किसी प्रकार का आक्षेप करना हो। किन्तु साधारण अंशधारी प्रत्येक अवस्था में हस्तक्षेप कर सकते है। साधारण अंशो को भी अनेक श्रेणियों मे बाँटा जा सकता है। ये श्रेणियाँ प्रायः लाभांश प्राप्त करने की प्राथमिकता के अनुसार होती है और उनके स्वामियो को अंशो की श्रेणियो के अनुसार ही लाभांश दिया जाता है। उनको पूर्वाधिकार साधारण अंश (Preferred Ordinary Shares) कहते हैं। जब पूर्वाधिकार अंशधारियों को लाभांश मिल जाता है

और साधारण अंशधारियों को लाभांश दिया जाता है तो पहले इन अंशों के धारकों को लाभांश मिलता है और फिर सामान्य अंशधारियों को।

इस प्रकार साधारण अंशधारियों में भी यथोचित विभाजन किया जा सकता है।

कम्पनियों में इन अंशों की प्रायः अन्य प्रकार के अंशों से अधिकता होती है। कुछ-कुछ में तो केवल इसी प्रकार के अंशों का निर्गमन किया जाता है।

पूर्वाधिकार अंश (Preference Shares)—वे अंश हैं जिनमें अंशधारियों को लाभांश का एक निश्चित प्रतिशत सर्वप्रथम दिया जाता है, अर्थात् जब तक इनके लाभांश के लिये वास्तविक पूरा लाभ न हो तब तक अन्य अंशधारियों को लाभ नहीं बाँटा जा सकता। अन्य अंशधारियों को दिया जाने वाला लाभ इनके लेने के बाद बचे हुए लाभ में से दिया जाता है।

यह लाभांश साधारण संचयी (Cummulative), आंशिक संचयी या आंशिक संचय होता है। जो लाभांश संचयी लाभांश होता है उसमें प्रति वर्ष लाभ *न दिये जाने की अवस्था में जिस वर्ष लाभ होता है तो सर्वप्रथम उनके लाभांश का* कुल योग दिया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि ऐसे अंशधारियों को, कम्पनी में लाभ न होने की अवस्था में भी, निश्चित प्रतिशत में लाभ मिलता ही रहता है। साधारण पूर्वाधिकार अंशधारियों को प्रति वर्ष के लाभ में से ही लाभ चुकाया जाता है और लाभ न होने की अवस्था में उनको लाभ नहीं मिलता है। जब अंश आंशिक संचयी होते हैं तो एक निश्चित अंश पर उनको संचयी लाभ दिया जाता है।

पूर्वाधिकार अंशों में कभी-कभी अनेक अंशधारियों को बचे हुए लाभ में से भी लाभांश पाने का अधिकार होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि निश्चित लाभांश को प्राप्त करने के पश्चात् जो शेष लाभांश बचता है उसमें भी अंशधारियों को लाभ पाने का अधिकार होता है। मान लिया जाय कि पूर्वाधिकार अंशधारियों को ६ प्रतिशत लाभांश मिलता है, उस लाभांश को देने के पश्चात् साधारण अंशधारियों को ८% लाभ दिया जाता है, तो शेष बचे हुए लाभांश में से पूर्वाधिकार तथा साधारण अंशधारियों को ३ : ४ के अनुपात में लाभांश दे दिया जायेगा।

पूर्वाधिकार अंशधारी अपने अंशों को परिवर्तित कर सकता है, परन्तु परिवर्तन का यह अधिकार केवल विमोचनशील पूर्वाधिकार अंशों (Redeemable Preference Shares) में ही दिया जाता है।

पूर्वाधिकार अंशधारियों को यह अधिकार केवल लाभांश में ही नहीं रहता, अपितु निश्चित समझौते के होने पर उनको यह अधिकार कम्पनी के समाप्त होने पर पूँजी के प्राप्त करने में भी रहता है। जिन अंशों का विमोचन निश्चित समय के

अन्दर होता है उनको या तो उस अवधि के पश्चात् धन दे दिया जाता है अथवा उनको दूसरे प्रकार के अंश दे दिये जाते है।

पूर्वाधिकार अंश उन व्यक्तियों के लिये उपयुक्त होते है जो अपनी सीमित पूँजी पर एक निश्चित लाभ कमाना चाहते है। इसलिये इन लोगों को प्रायः लाभ मे से एक निश्चित प्रतिशत दे दिया जाता है, जो कुछ अवस्थाओं मे कम तथा कुछ मे अधिक हो सकता है। व्यवहार मे इस प्रकार के अंशों का मूल्य साधारण अंशों की अपेक्षा अधिक होता है, जिससे सामान्य स्थिति वाले व्यक्ति अंशो को नही खरीद सकते और इसका लाभ विशेष रूप मे बडे पूँजीपतियों तथा प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के ही पास जाता है।

स्थगित अंश (Deferred Shares)—स्थगित अंश वे अंश होते है, जिनका लाभांश पूर्वाधिकारी तथा साधारण अंशधारियों का लाभांश चुका देने के पश्चात् दिया जाता है। ये अंश प्रायः कम्पनी के संचालकों, उच्च अधिकारियों तथा प्रबन्ध अभिकर्ताओं के लिये होते है, इसलिये इनको प्रबन्ध अंश (Management Shares) भी कहते है। इस प्रकार के अंशो द्वारा जो पूँजी प्राप्त होती है उसका उद्देश्य अर्थ-व्यवस्था न होकर संचालकों एवं कम्पनी के उच्च अधिकारियों की प्रबन्ध एवं व्यवस्था मे विशेष रुचि उत्पन्न करने का होता है। इन अंशो का मूल्य प्रायः बहुत अधिक होता है। व्यवहार मे जहाँ मतदान अंशों के अनुसार होता है, इनका मूल्य प्रायः १) फी अंश तक रहता है, जिससे प्रबन्ध-अभिकर्ताओं का कम्पनी के प्रबन्ध मे हर प्रकार से प्रभुत्व बना रहता है। नवीन कानून मे इन अंशो को पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया गया है।

अंश मूल्यों पर प्रभाव
(Effect on Share-Value)

कम्पनियों के अंश जब स्कन्ध विनिमय विपणि मे क्रय-विक्रय के लिये आते है तो उनकी माँग तथा प्रदाय के अनुसार उनके मूल्यों मे घटा-बढी होती है। साधारण स्थिति मे यदि अंश का प्रदाय अधिक तथा माँग कम हो तो उसका मूल्य मुख्य मूल्य मे घट जायगा और इसके विपरीत माँग अधिक और प्रदाय कम हो तो मुख्य मूल्य से बाजार मूल्य अधिक हो जायगा, और यदि प्रदाय-माँग समान हो तो अंश मुख्य मूल्य पर ही बिकेंगे। अंशो के लिये माँग और प्रदाय ही पर्याप्त नहीं है, अपितु कितनी ही ऐसी बातें है जिनका बहुत बडी हद तक अंशो के मूल्य पर प्रभाव पडता है, जैसे कम्पनी की व्यापारिक स्थिति, उद्योग की प्रकृति तथा प्रगति, कम्पनी की आन्तरिक व्यवस्था, कम्पनी के अभिकर्ता तथा संचालकों की स्थिति, कम्पनी के द्वारा दिया जाने वाला लाभांश, प्रेस की राय, सरकारी नियन्त्रण, राजनीतिक स्थिति आदि।

(१) **कम्पनी की व्यापारिक स्थिति**—कम्पनियाँ किसी प्रकार का प्रचलन किस प्रकार कर रही है तथा उनके व्यापार की क्या स्थिति है, इस पर बहुत बड़ी सीमा तक अंशों के मूल्यों का निर्धारण किया जा सकेगा। जो कम्पनी अपने व्यापार को ठीक प्रकार से चला रही हो तथा जिनका व्यावसाय प्रगति पर हो, लोगों को उस कम्पनी के प्रति विश्वास हो जाता है तथा लोग उसके अंशों को खरीदने का प्रयत्न करते हैं और उनके अंश प्रायः प्रव्याजि पर ही बिकते है, जैसे टाटा आइरन एन्ड स्टील कम्पनी के अंश। किन्तु जिनका व्यापार शिथिल हो तथा लोगों को उसके भविष्य की प्रगति पर विश्वास न हो, उस कम्पनी के अंशो की माँग धीरे-धीरे कम होती जायगी और इस प्रकार उसके अंश बट्टे पर बिकेंगे।

(२) **उद्योग को प्रकृति**—औद्योगिक कम्पनियों के उद्योग की प्रकृति का भी अंशों के मूल्यों पर प्रभाव पडता है। जो कम्पनी इस प्रकार की वस्तु का निर्माण कर रही हो, जिसकी अत्यधिक माँग है तथा जिसका भविष्य उज्ज्वल है, उनके अंश को कोई भी विनियोग खरीदना पसन्द करेगा, क्योंकि वह समझता है कि कम्पनी जिस प्रकार की वस्तु का निर्माण कर रही है उसका भविष्य स्थिर है तथा उसके उत्पादन में किसी प्रकार का घाटा नहीं आ सकता। अतः उसके अंशों का मूल्य निश्चित ही बढेगा। किन्तु विलासिता की वस्तुएँ तथा जिन वस्तुओं का भविष्य फैशन पर निर्भर हो उन कम्पनियों का भविष्य संदेहपूर्ण रहता है और विनियोगक उसमे सोच-विचार कर विनयोग करते हैं। इसलिये उनका मूल्य सामानतः कुछ कम होता है।

(३) **कम्पनी की आन्तरिक व्यवस्था**—कम्पनी को आन्तरिक स्थिति का भी कम्पनी के अंशों पर विशेष प्रभाव पडता है। यदि किसी कम्पनी की आतंरिक व्यवस्था सुदृढ हो, उनके कार्यकर्ता निष्पक्ष तथा विश्वसनीयता से कार्य करते हों, जिससे कि कम्पनी के धन का अपव्यय नहीं होता हो, तथा कम्पनी का हिसाब-किताब सही प्रकार से रखा जा रहा हो और उसकी वस्तु स्थिति को स्पष्ट रूप से जाना जा सके, तो कोई भी विनियोगक उसके अंशो को खरीदने मे संकोच नही करेगा। यदि गत वर्षों में उसने अच्छा लाभ दिया हो तथा अपने अंशधारियों को उपहार-अंश (Bonus Shares) दिये हो तो कम्पनी के अंशों के मूल्यों पर निश्चित ही प्रभाव पडेगा और वे मुख्य मूल्य से प्रव्याजि पर बिकेंगे।

(४) **कम्पनी के संचालक तथा अभिकर्ता**—अंशों के बिकने पर योग्य अभिकर्ताओं तथा संचालकों का भी बहुत प्रभाव पडता है। जिस कम्पनी के संचालक बहुत बड़ी साख वाले धनाढ्य एवं अनुभवी हों उस कम्पनी के भविष्य पर लोगों का विश्वास रहता है और वे उस कम्पनी में विनियोग करना पसन्द करते हैं यही कारण है कि भारतवर्ष में जिन कम्पनियों के अभिकर्ता तथा संचालक धनाढ्य एवं

व्यापारिक साख वाले हैं उनको आर्थिक संकट का सामना नहीं करना पड़ता। यही नहीं इन व्यक्तियों के प्रभाव के द्वारा कम्पनियों के अंशों की इतनी माँग बढ़ती है कि वे प्रव्याजि पर बिकने प्रारम्भ हो जाते हैं, किन्तु विपरीत परिस्थिति में अंशों का निर्गमन कठिन हो जाता है और बट्टे पर बेचने पड़ते हैं।

(५) **अंशों पर दिये जाने वाले लाभांश**—अंश अथवा प्रतिभूतियों पर दिये जाने वाले लाभांश का भी उनके मूल्यों पर विशेष प्रभाव पड़ता है। जिन अंशों पर अधिक लाभ बाँटा जाता है तथा जिसके अंशधारियों, विशेषकर पूर्वाधिकार अंशधारियों को, हर वर्ष नियमित रूप से लाभांश मिलता रहता है, तो उस कम्पनी के अंशों को खरीदना पसन्द करते हैं। और इस प्रकार उनके मूल्य बढ़ जाते हैं किन्तु इसके विपरीत यदि किसी कम्पनी के अंशधारियों को निश्चित रूप से लाभांश न मिल रहा हो तो इससे यह आभास होने लगता है कि उस कम्पनी को विशेष लाभ नहीं हो रहा है और उसके व्यापार की प्रगति कुछ रुक गई है। इसलिये उसके अंशों का मूल्य भी कम हो जाता है।

(६) **सरकारी नियन्त्रण**—सरकारी आर्थिक तथा औद्योगिक नीति का भी व्यापार के अंशों पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि सरकार की नीति उस व्यापार के हित में होती है और विनियोगकों को आशा होती है कि उसके कारण व्यापार को रक्षण तथा प्रोत्साहन मिल सकेगा तो वे उसके अंशों को खरीदना चाहेंगे और विपरीत दशा में वे अंशों को खरीदना पसन्द नहीं करेंगे। इस प्रकार अंशों के मूल्यों में घटा-बढ़ी चलती रहेगी।

(७) **राजनीतिक स्थिति**—किसी देश की राजनीतिक स्थिति का भी उस देश के उद्योग तथा व्यापार पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जिस देश की राजनीतिक स्थिति अनिश्चित रहती है उसका व्यापार भी अनिश्चित रहता है और व्यापार की अनिश्चितता के कारण कम्पनी के निर्गमित अंशों के मूल्यों पर भी विषम प्रभाव पड़ता है। जिस समय किसी देश में राजनीतिक उथलपुथल नहीं होती तथा उसकी औद्योगिक नीति स्पष्ट होती है तो देश की औद्योगिक उन्नति साफ दिखाई देती है और लोग कम्पनियों के अंशों को उत्साह के साथ खरीदते हैं, जिससे उनके मूल्यों में वृद्धि होती है।

(८) **परिकाल्पनिक स्थिति**—यदि कम्पनी की स्थिति अनुकूल हो तथा अन्य परिस्थितियाँ भी सामान्य हों किन्तु परिकल्पनायक किसी विशेष प्रकार के अंश का व्यापार परिकल्पित रूप में करना प्रारम्भ कर दें तो उन अंशों के मूल्यों पर उनके क्रय-विक्रय की परिस्थितियों के अनुसार प्रभाव पड़ने लगता है। जब परिकल्पनायक किसी प्रकार के अंशों को खरीदना प्रारम्भ कर देते हैं तो लोग समझते हैं कि उन अंशों में विशेष लाभ होगा और उनकी माँग बढ़ जाने के कारण उनके मूल्यों में

वृद्धि हो जाती है, किन्तु जब वे उनको बेचना आरम्भ कर देते हैं तो मूल्यो मे अपने आप कमी आ जाती है।

(९) **बाजार की मनोवृत्ति**—बाजार का जिन अंशो के प्रति अच्छा रुख रहता है, उनके मूल्य बढ जाते हैं और इसके विपरीत जिनके प्रति अच्छा रुख नहीं रहता उनके मूल्य गिर जाते हैं। बाजार की मनोवृत्ति दरअसल तेजड़ियो तथा मदडियो की गतिविधि पर निर्भर रहती है।

(१०) **प्रेस का मत**—किसी कम्पनी के अंशो के मूल्यो पर समाचार-पत्रो के मत का भी विशेष प्रभाव पडता है। व्यापारी इन समाचारों के द्वारा किसी संस्था के प्रति अपने मत बनाते हैं। यदि पत्रो मे उस कम्पनी की प्रशंसा की गई हो तथा उसके उज्ज्वल भविष्य की आशा प्रकट की गई हो तो उसके अंशो का मूल्य बढ जायेगा और विपरीत दशा मे मूल्य घट जायेगा।

(११) **मुद्रा की दरें तथा प्रचलन**—मुद्रा की दरों का भी व्यापार पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि उसमे स्फीति हो तो लोगो को अधिक धन देना पडेगा और विस्फीति की अवस्था मे उनको कम धन मिलेगा। इस प्रकार लोगों की क्रय-शक्ति पर भी प्रभाव पडेगा और उसके ही अनुसार अंशो के मूल्यो मे भी घटा-बढी होगी।

सामान्य स्थिति मे अंशो का मूल्य मुख्य मूल्य के ही बराबर रहेगा।

ऋण-पत्र निर्गमन
(Issue of Debentures)

अंशो के अतिरिक्त कम्पनी की पूंजी बढाने के लिये ऋणपत्रों (Debentures) का भी निर्गमन किया जाता है। ऋणपत्र कम्पनी के द्वारा प्रसारित वह पत्रक है, जिसके आधार पर लोगों से उस पर लिखित पूंजी प्राप्त की जा सकती है, अर्थात् यह साहूकार को उसके धन के प्राप्ति के प्रमाण में दिया जाता है। ऋणपत्र का धारक कम्पनी का साहूकार होता है और इस प्रकार उसका उत्तरदायित्व अंशधारियों पर होता है। ऋणपत्रो का निर्गमन प्रायः कम्पनी की दीर्घकालीन अर्थ-पूर्ति के लिये किया जाता है। इनका निर्गमन व्यापार को प्रारम्भ करने के बाद ही होता है और इसका उद्देश्य व्यापार को बढाना अथवा पूंजी को सुदृढ करना होता है। ऋणपत्र की व्यवस्था का उल्लेख कम्पनी के स्मरण-पत्र तथा अन्तर्नियमो मे किया होता है। उसमे यह भी स्पष्ट रहता है कि कम्पनी की व्यापक सभा ने *ऋणपत्रों के निर्गमन* का अधिकार संचालकों को दिया है। संचालक उस आधार पर ऋणपत्रों का निर्गमन करते हैं।

ऋणपत्रो का निर्गमन प्रायः दो प्रकार की संस्थाओं के लिये लाभदायक होता है—(१) वे संस्थायें, जिनकी सम्पत्ति का उपयोग कितने ही प्रकार से किया जा

सकता है, और (२) जिनकी सम्पत्ति का उपयोग निश्चित उद्योगों में बड़ी सुविधा के *साथ किया जा सकता है और उनसे एक निश्चित आय सम्भव होती है।* पहले प्रकार की संस्थाओं को धन सग्रह करने मे इसलिये सुविधा होती है कि आवश्यकता पडने पर सम्पत्ति का उपयोग किसी भी प्रकार से किया जा सकता है तथा दूसरी संस्थाओं से निश्चित आय की सुरक्षा के कारण उन पर भी धन-सग्रह करना सम्भव हो जाता है। बिजली, रेलवे, बडे-बडे उद्योग इसके लिये बडे उपयोगी सिद्ध होते है। जिन संस्थाओं का व्यापार परिकल्पित ढग का होता है, उनके द्वारा ऋणपत्रों का निर्गमन प्रायः कठिनाई के साथ किया जाता है।

ऋण-पत्रों के प्रकार
(Kinds of Debentures)

ऋणपत्र अनेक प्रकार के होते हैं—

(१) अरक्षित ऋणपत्र (Naked Debentures)—वे ऋणपत्र होते है, जिनका निर्गमन बिना किसी बन्धक के किया जाता है, अर्थात् कम्पनी उन ऋणपत्र-धारियों को किसी प्रकार का बन्धक नही देती है।

(२) अचल ऋणपत्र (Fixed Debentures)—वे ऋणपत्र होते है, जिनके लिये कम्पनी अचल सम्पत्ति को बन्धक के रूप मे रखती है, अर्थात् ऋण चुकाने की अवस्था मे उस सम्पत्ति पर अधिकार इन ऋणपत्रधारकों का होगा। उन ऋणपत्रों को भी अचल ऋणपत्र कहते है, जिनके लिये कोई निश्चित बन्धक रखा जाता है और भुगतान की अवस्था मे सर्वप्रथम उस सम्पत्ति पर उनका हक होता है।

(३) चल ऋणपत्र (Floating Debentures)—वे ऋणपत्र होते है, जिनके लिये कम्पनी चल सम्पत्ति अथवा अनिश्चित सम्पत्ति को बन्धक के रूप मे रखती है। इस सम्पत्ति के विक्रय का अधिकार कम्पनी को ही होता है, किन्तु ऋणपत्र-धारक के हस्तक्षेप करने पर कम्पनी उस सम्पत्ति को नहीं बेच सकेगी।

(४) पंजीयित ऋणपत्र (Registered Debentures)—वे ऋणपत्र है, जिसके धारणकर्ता का नाम कम्पनी के ऋणपत्र रजिस्टर मे लिख दिया जाता है और उसका हस्तान्तरण केवल उन्ही व्यक्तियों को किया जा सकता है जो रजिस्टर मे पहले से ही लिख लिये गये हो तथा हस्तान्तरण के लिये निश्चित शर्तों का पालन किया जाता है। यह रजिस्टर कम्पनी के कार्यालय मे ऋणपत्रधारियों की जाँच के लिये दो घंटे रोज खुला रहता है।

(५) वहक ऋणपत्र (Bearer Debentures)—वे ऋणपत्र होते है, जिनका हस्तान्तरण किसी भी समय हो सकता है तथा उनका कोई भी धारक ब्याज एवं भुगतान प्राप्त कर सकता है।

(६) विमोचनशील ऋणपत्र (Redeemable Debentures)—वे ऋणपत्र

जिनका भुगतान एक निश्चित समय के बाद किया जाता है। उस समय इनका भुगतान करना हर प्रकार से आवश्यक है। ऐसे ऋणपत्र-धारक इस बात की चिन्ता न करके कि कम्पनी ऋण के भुगतान करने के योग्य है अथवा नहीं अपने ऋण को वसूल कर सकते हैं। यह ऋण या तो निश्चित भागों में दिया जाता है अथवा इसका शोधन एक साथ करना पड़ता है।

(७) **अविमोचनशील ऋणपत्र** (Irredeemable Debentures)—वे ऋण पत्र होते हैं, जिनका भुगतान कम्पनी के अन्त होने पर ही किया जाता है और उनके बन्धक के रूप में कोई सम्पत्ति नहीं रखी जाती।

(८) परिवर्तनशील ऋणपत्र (Convertible Debentures)—वे ऋणपत्र होते हैं, जिनमें ऋणपत्रधारियों को अपने ऋणपत्रों को अंशों में परिवर्तन करने का अधिकार होता है। इससे ऋणपत्र-धारक को ऋणपत्र का लाभ तो प्राप्त होता ही है और जब कम्पनी की आर्थिक स्थिति ठीक हो जाती है तो वे अपने ऋणपत्रों को अंशों में परिवर्तित कर कम्पनी के लाभांश के साझेदार हो जाते हैं।

भारत में ऋणपत्रों की स्थिति

(Position of Debentures in India)

भारतवर्ष में अनेक कारणों से ऋणपत्रों को विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला है। इसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(१) बैंकों का विपरीत दृष्टिकोण (Adverse Attitude of Banks)—जो कम्पनियाँ ऋणपत्रों का निर्गमन करती हैं वे बैंकों की दृष्टि में गिर जाती है, जिससे बैंक उनके प्रतिभूतियों अथवा ऋणपत्रों को स्वीकार नहीं करते हैं। अतः उनको समय पर बैंकों से आर्थिक सहायता नहीं मिलती है। इसका कारण यह है कि बैंक समझते है कि उन कम्पनियों में धन लगाने में उनका धन सुरक्षित नहीं रहेगा, क्योंकि ऋण के भुगतान में पहला अधिकार ऋणपत्र-धारियों का होगा।

(२) **पूँजी-बाजार की अव्यवस्था** (Unorganised Capital Market)—भारतवर्ष में स्कन्ध विनिमय बाजार अभी तक इतने व्यवस्थित नहीं हैं कि उनमें ऋणपत्रों का विनियोग सुविधा के साथ किया जा सके। इसका कारण यह है कि इन पर होने वाला लाभ अनिश्चित रहता है। बीमा कम्पनियाँ, बैंकें आदि इनमें धन का विनियोग विशेष रूप से नहीं करतीं। ऋणपत्रों में धन का विनियोग उचित नहीं समझा जाता है, उनके हस्तान्तरण में मुद्रांक शुल्क (Stamp Duty) अधिक लिया जाता है। ऋणपत्रों का निर्गमन प्रायः कम होता है और इनका मूल्य बहुत अधिक होता है, जिससे बाजारों में इनका प्रचलन सुविधा के साथ नहीं किया जा सकता है।

(३) **बन्धक की कठिनाई** (Mortgage Difficulties)—ऋणपत्रों पर प्रायः

यथोचित बन्धक माँगा जाता है। बैंक भी ग्राहकों को व्यक्तिगत जमानत पर ऋण नहीं देते और न बीमा कम्पनियाँ इस दिशा मे प्रोत्साहन देती हैं।

(४) प्रचार का अभाव (Lack of Publicity)—भारत मे ऋणपत्रों का प्रचार उस प्रकार नहीं किया जाता जिस प्रकार अंशों का। बम्बई मे थोडा बहुत ऋणपत्रों का प्रचलन है और नेष जूट कम्पनियों के अलावा अन्य दिशाओं मे प्रचलन सम्भव नहीं होता है। इसका कारण मूल्यों की अधिकता तथा उनके प्रचार की कमी कहा जा सकता है।

(५) ऋणपत्रों की शर्तें (Conditions of Debentures)—जो ऋणपत्र निर्गमित किये जाते हैं, उनकी शर्त इस प्रकार की होती है कि जनता उनको खरीदने के लिए आकर्षित नहीं होती। विदेशों मे ऋणपत्रों पर अधिक प्रव्याजि का प्रलोभन अथवा उनके भुगतान की आकर्षक शर्तें होती हैं, किन्तु भारत मे यह नहीं दिया जाता। उनके ब्याज की दरें तथा भुगतान की शर्तें साधारण जनता की रुचि के अनुकूल नहीं होती हैं।

(६) ऋणपत्र-निर्गमन पर अधिक व्यय (Expensive Issue of Debentures)—इनका निर्गमन व्यय, पूंजी, बाजार की स्थिति तथा अभिगोपकों की प्रतिष्ठा पर निर्भर करता है। व्यय अभिगोपकों के कमीशन, ऋणपत्र-मुद्रांकन शुल्क, बाजार का अन्य खर्च आदि के कारण बढ जाता है।

(७) विनियोग करने वाली संस्थाओं का अभाव (Paucity of Investing Institutions)—भारतवर्ष मे अभी तक सार्वजनिक रूप मे विनियोग करने वाली संस्थाओं का पूर्ण रूप से अभाव है। व्यापारिक बैंक तथा बीमा कम्पनियों के विनियोग न करने के कारण अन्य साधारण संस्थायें भी विनियोग नहीं करतीं। भारत मे विनियोग बैंकों की भी कमी है।

(८) सलाहकार संस्थाओं का अभाव (Lack of Advisory Bodies)—भारत मे विनियोगकों की सहायता के लिये कोई ऐसी संस्था नहीं है, जो ऋणपत्रों पर विनियोग करने वाले व्यक्तियों तथा संस्थाओं को उचित सलाह दे सके। बडे व्यापारिक केन्द्रों मे इस प्रकार सलाह उपलब्ध हो सकती है, किन्तु वह सर्वसाधारण के लिये सम्भव नहीं है।

(९) सरकारी नीति (Government Policy)—भारत सरकार की अर्थ-नीति इतनी उदार नहीं है कि लोग ऋणपत्रों की ओर विशेष रूप मे आकर्षित हो सकें, क्योंकि कम्पनियों की सुरक्षा का भी सरकार की ओर मे कोई आश्वासन नहीं मिलता, जिससे लोगों मे कम्पनियों की प्रगति के प्रति विश्वास नहीं रहता है और वे उनके ऋणपत्रों मे विनियोग करना उचित नहीं समझते हैं।

अभिगोपन
(Underwriting)

जब कम्पनी के अंश, ऋणपत्र या प्रतिभूतियों का निर्गमन किया जाता है उस समय निर्गमनकर्ता उनको ऐसे लोगों के पास अभिगोपन (Underwriting) करता है जो उनका एक निश्चित राशि को जनता में निर्गमित करने की शर्त करते हैं। यह निर्गमनकर्ता के मध्य में एक अनुबन्ध होता है, जिसमे एक निश्चित कमीशन पर अभिगोपन अंश अथवा प्रतिभूतियों की एक निश्चित राशि को बेचने की शर्त की जाती है। इस प्रकार निश्चित समय में अभिगोपक उस राशि का निर्गमन कर सकें अथवा नहीं, उसको वह मूल्य कम्पनी को चुका देना होता है और उसको उनका कमीशन प्राप्त हो जाता है। यदि वह अपनी शर्तों को पूरा नहीं कर सकता है तो उसे कमीशन नहीं दिया जायगा।

प्रारम्भ में अभिगोपन का कार्य 'लायंड्स' संस्था के द्वारा प्रारम्भ किया गया था। इसमें जिस किसी व्यापारी को अपने माल अथवा व्यापार की सुरक्षा की इच्छा होती थी वह लायड्स के सदस्यों के पास जाकर अपने माल अथवा व्यापार की रकम की जोखिम को उठाने का उत्तरदायित्व सौंपता था। सदस्य अपनी शक्ति के अनुसार रकम के किसी भाग अथवा पूर्ण रकम की जोखिम अपने ऊपर उठा लेता था और क्षति होने की अवस्था में उसका चुकारा करता था। यदि वह उसका चुकारा नहीं करता था तो लायड्स की संस्था अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये उसको चुका देती थी। इस प्रकार व्यापार तथा माल की जोखिम बहुत बड़ी सीमा तक कम हो जाती था और उसकी व्यापारिक प्रतिष्ठा भी बढ़ जाती थी। सार्वजनिक कम्पनियों के प्रादुर्भाव के कारण यह पद्धति अश, प्रतिभूतियों तथा ऋणपत्रों के निर्गमन में भी कुशलता के साथ अपनाई जाने लगी है।

अभिगोपन का कार्य प्रायः दलाल, बीमा-कम्पनियाँ, बैंक, विनियोग संघ, बड़े-बड़े विनियोग-कार्य करते हैं। भारत में पहले तो विनियोगकों का अभाव है और दूसरे जो कुछ भी अभिगोपन किया भी जाता है उसकी राशि प्रायः नगण्य होती है। जो संस्थायें अभिगोपन का कार्य करती है वे इस कार्य को प्रायः यह निश्चित करके करती हैं कि यदि अशों का निर्गमन होगा तो भी वे अंशों को खरीद करके धीरे-धीरे उनका निर्गमन करती रहेंगी।

निर्गमन द्वारा कम्पनियों के प्रारम्भ करने में बड़ी भारी सुविधा होती है। जैसे प्रथम, कम्पनी के प्रवर्तक पूँजी की व्यवस्था के लिये निश्चित हो जाते हैं। दूसरे, जिन अंश तथा प्रतिभूतियों का अभिगोपन हो जाता है उनका बिकना प्रायः निश्चित सा ही रहता है, जिससे कम्पनी उसके अनुसार अपनी पूँजी की योजना बना सकती है। तीसरे, कम्पनी पूँजी का निश्चित समय में प्राप्त हो जाना

सम्भव हो जाता है। चौथे, अभिगोपकों की प्रतिष्ठा के कारण कम्पनी की प्रतिष्ठा भी बढ़ जाती है, जिससे कि लोग सरलता से उसके अंश तथा प्रतिभूतियों में विनियोग कर लेते हैं। पाँचवें, अभिगोपन के द्वारा कम्पनियों को अनुभवी बैंकों तथा विनियोगक संस्थाओं की सेवाएँ प्राप्त हो जाती है। छठे, अभिगोपन के द्वारा सर्वसाधारण विनियोगताओं को भी लाभ होता है, क्योंकि वे जानते है कि जिन कम्पनियों का अभिगोपन अच्छे बैंकों के द्वारा किया गया है उनकी स्थिति अच्छी होनी चाहिए। सातवें, अभिगोपन के द्वारा पूँजी का क्षेत्रीय वितरण हो जाता है, जिससे कि पूँजी-बाजार में अचानक उथल-पुथल नहीं होती और इसलिये पूँजी के मूल्यों पर भी विषम प्रभाव नहीं पड़ता।

अभिगोपक जब यह देखता है कि वह निर्धारित समय में अंशों का पूर्ण निर्गमन नहीं कर सकेगा तो वह उनका उप-अभिगोपन (Sub-Underwriting) कर सकता है। इसमें उप-अभिगोपकों को कुछ कम कमीशन मिलता है। इसके लिये अभिगोपकों को या तो अधिक कमीशन दिया जाता है अथवा अतिरिक्त कमीशन दिया जाता है। कभी-कभी अंश तथा प्रतिभूतियों के निर्गमन के लिये दलालों तथा प्रतिनिधियों की भी नियुक्ति की जा सकती है और उनकी सेवाओं के लिये एक निश्चित शुल्क लिया जाता है (कुछ अवस्थाओं में दलालों एवं प्रतिनिधियों की नियुक्ति कानून द्वारा मान्य नहीं होती)।

अभिगोपकों को दिया जाने वाला कमीशन अभिगोपन कमीशन (Under-writing Commission) कहलाता है। इसकी दर कम्पनी की स्थिति, प्रतिभूतियों की प्रकृति, द्रव्य बाजार की स्थिति के अनुसार कम-ज्यादा होती रहती है। कमीशन अभिगोपक तथा कम्पनी के बीच जो तय होता है उसके ही अनुसार निश्चित किया जाता है। जब अभिगोपक सारा भार अपने ऊपर नहीं उठाकर उसका उप-अभिगोपन करता है तो उप-अभिगोपक को दिया जाने वाला कमीशन उप अभिगोपक कमीशन (Sub-Underwriting Commission) कहलाता है। जब अभिगोपक इसका समझौता पहले ही कम्पनी से कर लेता है तो कम्पनी उसको कुछ अतिरिक्त कमीशन दे देती है, जिसको अतिरिक्त (Over-riding Commission) कहते हैं, किन्तु जिस अवस्था में कम्पनी अतिरिक्त कमीशन देने का अनुबन्ध नहीं करती और अभिगोपक का ही कमीशन बढ़ा दिया जाता है तो अभिगोपक उप-अभिगोपक को अपने ही पास से कमीशन देना है उसको उपरिस्त-कमीशन (Under-riding Commission) कहते हैं।

भारतवर्ष में अभिगोपन की स्थिति
(Position of Underwriting in India)

भारत के उद्योग पूर्ण रूप से विकसित न होने के कारण यहाँ पर अभिगोपन का कार्य बाहुल्यता से नही होता। इसके अनेक कारण हैं। भारत मे विदेशो (अमेरिका, इंगलैंड, जर्मनी आदि) के समान विनियोग करने वाली संस्थाओं का अभाव है। कुछ वर्षों से इनवेस्टमेण्ट कॉरपोरेशन ऑफ इण्डिया लिमिटेड, हिन्दुस्तान इनवेस्टमेण्ट कॉरपोरेशन आदि इस दिशा में कुछ कार्य कर रहे है और हाल ही मे करोडो की पूँजी लगा कर एक नवीन इन्डस्ट्रियल इनवेस्टमेन्ट कॉरपोरेशन लिमिटेड की स्थापना की जा रही है, किन्तु इन सस्थाओं के द्वारा अधिक कार्य नही हो सका है। अन्य संस्थायें, जैसे बैंक आदि भी अभिगोपन के कार्य को नही करती। इसका प्रमुख कारण यह है कि यहाँ पर अभिगोपन का कार्य अत्यधिक जोखिम का कार्य माना जाता है। भारतीय कम्पनियों के इतिहास मे कम्पनियों का इतना अधिक विलयन हुआ है कि लोगों का कम्पनी-सगठन से विश्वास उठ गया और इसलिये उनमे विनियोग किया जाना अविवेकपूर्ण समझा जाने लगा है। प्रवन्ध-अभिकर्ताओं का भी रहना इस कार्य मे बाधक हुआ है, क्योंकि वे लोग अश-अभिगोपन को अपना अपमान समझते हैं। कम्पनियाँ अपनी आर्थिक एव व्यापारिक स्थिति को गोपनीय रखना चाहती है। इसलिये बिना उनकी स्थिति को जाने अभिगोपन आमतौर पर जोखिम का कार्य होता है।

इतने पर भी हमारे देश मे अभिगोपन का महत्व धीरे-धीरे बढ रहा है, क्योंकि अभिगोपन के पीछे दिये गये अनेक लाभों के कारण उसका अपनाया जाना व्यापारिक प्रगति के लिये आवश्यक है। प्रवन्ध-अभिकर्ताओं के महत्व के घटने पर भारत मे इसका महत्व बढ जायगा, क्योंकि प्रवन्ध-अभिकर्ताओं की व्यक्तिगत साख समाप्त हो जायगी और कम्पनियों को इनकी अधिक से अधिक आवश्यकता होने लगेगी।

बैंकों से ऋण
(Loan from Banks)

विदेशों में बैंक उद्योगशालाओं के पूँजी संग्रह मे बडा महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, किन्तु भारतवर्ष मे (जैसे पहले कहा जा चुका है) बैंक उद्योग-धन्धों को बहुत कम आर्थिक सहायता देते हैं। टैरिफ बोर्ड इन्क्वायरी कमेटी के समक्ष उद्योग-पतियों ने बैंकों के इस व्यवहार की कटु आलोचना की।

किन्तु बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी मे समक्ष बैंकों ने यह सिद्ध किया कि वे उद्योगों को अनेक प्रकार से सहायता देते हैं, जिनमे से निम्नलिखित मुख्य प्रकार हैं—(१) उत्पादित माल की जमानत पर ऋण, (२) दो हस्ताक्षरों की व्यक्ति-

गत जमानत पर ऋण, (३) केवल उद्योगपति की व्यक्तिगत जमानत पर ऋण, (४) प्रतिभूतियो की जमानत पर ऋण, (५) हुण्डियाँ देना तथा बिल ऑफ एक्सचेन्ज का पूर्वप्रायण करके आर्थिक सहायता देना।

पहले प्रकार का ऋण प्रायः निर्मित अथवा अर्ध-निर्मित माल पर दिया जाता है। इस व्यवस्था मे कभी-कभी मूल्य का ७०% या ७५% तक ऋण दे दिया जाता है। अर्ध-निर्मित माल मे यह प्रतिशत कुछ कम होता है। दूसरे प्रकार का ऋण प्रायः उद्योगपति अथवा प्रबन्ध-अभिकर्ता के हस्ताक्षर के प्रोनोट पर दिया जाता है। व्यक्तिगत जमानत पर प्राय: उसी अवस्था मे ऋण दिया जाता है, जिसमे उद्योगपति की बहुत अधिक प्रतिष्ठा हो। प्रतिभूतियो पर भी उसी प्रकार बहुत बडा अन्तर रखा जाता है और प्रायः वही प्रतिभूतियाँ जमानत के रूप मे ली जाती है, जिनकी बाजार मे बहुत बडी प्रतिष्ठा हो। हुण्डियो का पूर्व प्रायण हुन्डी के भुगतान करने वाले की स्थिति पर निर्भर करता है।

बैंकों की आर्थिक सहायता में दोष
(Defects in Banks' Financial Help)

बैंको के ऋण देने की पद्धति मे निम्नलिखित दोष हैं—

(१) बैंक जमानत मे केवल ऐसी वस्तुओं को लेना चाहते है, जो कि आसानी मे बेची जा सके और स्थायी सम्पत्ति जैसे भूमि, भवन या मशीन को नही चाहते।

(२) वे जमानत के मूल्य पर केवल ५०% से ७०% तक ही ऋण देते है, जिससे कि मन्दी के उद्योगपतियों को बहुत बडी कठिनाई का सामना करना पडता है।

(३) कभी-कभी बैंक *जमानत मे एक विशेष प्रकार का ही माल लेना चाहते* है, जिससे उद्योगपतियों को अपने माल का पूरा मूल्य प्राप्त नही हो सकता है।

(४) जमानती माल को बैंक अपने गोदाम मे रखता है, जिससे कि माल के लाने-लेजाने पर बहुत बड़ा व्यय होता है और उद्योगपति को उस माल का प्रयोग करने मे बहुत बडी कठिनाई का सामना करना पडता है।

(५) बैंक की नं० ४ की क्रिया मे उद्योगपति का बाजार मे मान कम हो जाता है।

(६) रोकड उधार प्रायः देखने मे तो बहुत सुन्दर प्रतीत होती है, किन्तु व्यवहार मे उद्योगपति बैंक से उधार ली हुई राशि का केवल ५०% ही निकाल सकता है अथवा बैंक अपनी इच्छा पर कभी-कभी उसको बन्द कर सकता है। यदि ऐसे ऋण पर जमानत दी गई हो और जमानत का मूल्य कम हो गया हो तो बैंक आगे रुपया देना बन्द कर देती है।

(७) दो हस्ताक्षरो का अर्थ उद्योगो मे प्रबन्ध-अभिकर्ता पद्धति को प्रोत्साहन

देना है, क्योंकि बैंक प्रायः प्रबन्ध-अभिकर्ता से सम्बन्धित रहते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से वे उद्योगों मे प्रबन्ध-अभिकर्ता पद्धति को प्रोत्साहन देते हैं।

(८) बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी के सामने यह बात भी आई कि बैंक ऋण देने मे पक्षपात करते हैं और जिन लोगों से उनका स्वार्थ होता है उनको अनावश्यक ऋण भी दे दिया जाता है।

(९) बैंको के ऋण देने की पद्धति मे उनके मैनेजरों का बहुत बड़ा दोष रहता है, क्योंकि वे प्रायः जिन लोगों के प्रभाव मे होते हैं उनको ही अधिकांश ऋण मिलता है।

(१०) ऋण का भुगतान भी भारत मे बहुत शक्ति के साथ करवाया जाता है और ऐसी बहुत कम स्थिति होती है जब कर्जदार को कुछ छूट दी जाती है।

(११) बैंको मे दीर्घकालीन ऋण देने की बहुत कम व्यवस्था है।

किन्तु बैंको के सामने अनेक कठिनाइयाँ भी हैं, जिससे वे अधिक ऋण नही दे सकते। इसके लिये निम्नलिखित सुझाव हैं—

(१) यहाँ पर अधिक से अधिक औद्योगिक तथा विनियोग बैंको की स्थापना की जाय तथा इनके द्वारा उद्योग की पूँजी के अतिरिक्त ऋण देने की व्यवस्था होनी चाहिये।

(२) ऋण कम्पनी के ऋणपत्र, अंश, प्रतिभूति आदि की जमानत पर दिया जाना चाहिए और उनको बैंक के द्वारा पूँजी-बाजार मे वितरित किया जाना चाहिए।

(३) चल सम्पत्ति की जमानत के नियमों मे पर्याप्त सुधार किये जाने चाहिए।

(४) व्यापारिक बैंकों को ६ माह की अवधि मे अधिक के लिये ऋण देना चाहिए और ऋण देने की शर्तें सरल बनानी चाहिए।

(५) पाश्चात्य देशों के समान बैंकों को व्यक्तिगत जमानत पर ऋण देने की परम्परा चलानी चाहिए।

(६) बैंको की हुन्डियों आदि का प्रायण तथा रिजर्व बैंक को उनका प्रायण उदारता के साथ करना चाहिए।

(७) जमानती माल को रखने के लिये स्वतन्त्र तथा अच्छे गोदाम-गृहों की व्यवस्था अमरीकी पद्धति के अनुसार की जानी चाहिए, जिससे बैंक तथा उद्योगपति दोनों को लाभ हो सके।

विनियोग बैंक
(Investment Banks)

विनियोग बैंक उन संस्थाओं को कहते हैं, जो उद्योग तथा आम विनियोगाओं के आपस मे सम्बन्ध स्थापित करने मे सहायक होते हैं। ये संस्थाएँ उद्योग के भरा

नथा प्रतिभूतियों का अभिगोपन करके उनको पूँजी-बाजार मे प्रसारित करते हैं। इन बैंकों के कार्य तथा औद्योगिक बैंकों के कार्यों मे केवल यही विशेषता होती है कि औद्योगिक बैंक विनियोक्ता के रूप मे कार्य करते है, किन्तु ये बैंक अंश तथा प्रतिभूतियो के निर्गमन में मध्यस्थ का कार्य करते है तथा केवल औद्योगिक प्रतिभूतियो से ही सम्बन्ध रखते है। ये संस्थाये सामान्य विनियोक्ताओं से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे धन एकत्र करती है और उद्योग की अर्थपूर्ति मे बड़ी सहायक सिद्ध होती हैं। विदेशों मे इस प्रकार के बैंक नवीन कम्पनियो के लिए पूँजी इकट्ठा करने मे सहायक सिद्ध होते है। अमेरिका मे पूँजी का निर्गमन करने वाली संस्थायें विनियोग बैंक को अपनी आवश्यकता बता देती है और बैंक उसकी पूरी जाँच करके तथा उसके आवश्यक स्रोतों का अनुमान लगा कर उसके निश्चित अंशो का अभिगोपन कर लेती है और फिर अपने प्रभाव के कारण उसको जनता मे निर्गमन कर देती है। इस प्रकार प्रतिभूतियों का विनियोग बड़ी सरलता से हो जाता है।

जब यह बैंक किसी उद्योग के अंशों का अभिगोपन कर लेता है तो उसके प्रबन्ध के लिये कम्पनी को आवश्यक सलाह भी देता है तथा उसके विषय मे विनियोक्ताओं द्वारा होने वाली पूछ-ताँछ का भी सतोषप्रद उत्तर देता रहता है तथा कम्पनी को आयकर तथा अर्थ-सम्बन्धी सलाह भी देता रहता है। ये बैंक कभी-कभी कम्पनी के संचालक-मंडल मे अपने प्रतिनिधि को भेजते है, जो कि कम्पनी की आर्थिक व्यवस्था का समुचित नियन्त्रण करता है, जिससे कम्पनी की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो जाती है तथा साधारण विनियोक्ताओं का कम्पनी के प्रति विश्वास जम जाता है।

विनियोग बैंकों का उद्देश्य कम्पनियो की लम्बी अर्थ-पूर्ति का करना होता है। इसलिये इनके लिये वाणिज्य-बैंकों के कार्य सर्वथा अनुपयुक्त होते है, क्योंकि उससे उनके उद्देश्य की पूर्ति नही होती। साथ ही साथ इन बैंकों को कम्पनी के प्रवर्तन मे भी भाग नही लेना चाहिये, क्योंकि इससे या तो वे अस्वस्थ संस्था को जन्म दे सकते है अथवा अपना सम्बन्ध उससे प्रदर्शित करके आर्थिक हानि उठा सकते हैं। विनियोग बैंको को किसी प्रकार की प्रतिभूति लेने के पूर्व उसकी स्थापना की जाँच किसी विशेषज्ञ से करवा लेनी चाहिये, जिससे उनका निर्गमन सुविधाजनक हो सके और बैंक अपने ग्राहकों (विनियोक्ताओं) को सही प्रतिभूति दिलाने मे सफल हो सकें। विशेष परिस्थितियों मे बैंक का संचालक-मंडल मे अपना प्रतिनिधित्व रखना भी लाभदायक होता है।

भारत मे इस प्रकार की संस्थाओं का विशेष प्रचार नहीं है।

देशी बैंक तथा साहूकार
(Indigenous Banks and Money Lenders)

देशी बैंक तथा साहूकार लोग भी उद्योग-धन्धो को समय-समय पर आर्थिक योग देते रहते है। भारतवर्ष मे उद्योग के प्रारम्भिक समय मे इन संस्थाओं के द्वारा उद्योगो को बहुत बडी आर्थिक सहायता मिली है। बम्बई और अहमदाबाद की कपडा मिलों मे, आसाम तथा बंगाल के चाय उद्योग मे इन संस्थाओ के द्वारा दीर्घ-कालीन ऋण दिये गये हैं, ये संस्थायें उन उद्योगो के लिये अत्यन्त लाभदायक है, जो अपनी पूंजी साधारण जनता से प्राप्त नही कर सकते तथा जिनके यहाँ जन-निक्षेप सम्भव नही हो सकते हैं तथा जो जमानत के नियमो का कठोरता से पालन नही कर सकते। इन संस्थाओ के ब्याज की दरें प्रायः अधिक होती हैं, किन्तु उपरोक्त अवस्था मे इनकी ब्याज की दरें अनावश्यक प्रतीत नहीं होती। आधुनिक अर्थ-व्यवस्था पद्धति मे इन संस्थाओ का धीरे-धीरे लोप हो रहा है।

जन-निक्षेप
(Public Deposits)

भारतवर्ष मे जन-निक्षेप की व्यवस्था अत्यन्त प्राचीन व्यवस्था है, जिसमें जन-साधारण उद्योगपतियो की व्यापारिक आय एव प्रतिष्ठा के कारण अपने धन को उनके पास जमा कर देते है और आवश्यकता पडने पर उनसे यह धन वापस ले लेते हैं। इसके लिये कम्पनी उनको एक निश्चित प्रतिशत से ब्याज देती है। ब्याज की दर साधारण बैंको की अपेक्षा अधिक होती है अहमदाबाद, बम्बई, शोलापुर, आसाम तथा बंगाल मे कितनी ही कम्पनियो ने जन-निक्षेपो के द्वारा अपनी स्थायी पूँजी का ढाँचा तैयार किया है। इन कम्पनियो मे जन-निक्षेप छः महीनो से लेकर बारह-पन्द्रह साल तक के लिये किये जाते रहे हैं। यद्यपि इस पद्धति की बहुत आलोचना की गई है फिर भी हमारे औद्योगिक विकास मे उसका महत्वपूर्ण स्थान है। बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी के अनुसार सन् १९३६ मे बम्बई मे कुल औद्योगिक पूँजी का १० प्रतिशत, अहमदाबाद मे ५० प्रतिशत तथा शोलापुर मे ११ प्रतिशत धन जन-निक्षेप के द्वारा प्राप्त किया गया था जबकि बैंको के द्वारा बम्बई मे ९%, अहमदाबाद मे ६% तथा शोलापुर मे १८% अर्थ-व्यवस्था की गई थी। साधारण स्थिति मे इस प्रकार की पद्धति पूँजी को नीची रखने के लिये बहुत आवश्यक होती है। इसीलिए उन पर ऊँचा लाभांश दिया जा सकता है। इसके अनुसार उद्योग मे सामयिक आर्थिक सहायता आसानी से मिल जाती है।

इस पद्धति के अनेक दोष भी है, जिनके कारण शनैः-शनैः अब यह पद्धति समाप्त हो रही है—(१) अधिक पूँजी आकर्षित नहीं की जा सकती है। (२) जब अधिक पूँजी की जरूरत होती है तो जन-निक्षेपक कम्पनी की आर्थिक दुर्बलता समझ

कर उसमे धन जमा नही करते। (३) मन्दी के समय निक्षेपक अपने धन को वापस माँग लेते है, जिससे कम्पनी की स्थिति और अधिक बिगड जाती है। (४) जब तक कम्पनी का विकास होता रहता है उस समय बहुत आवश्यक धन मिल जाने मे इसका दुरुपयोग होता है जब कि कम्पनी मे अत्यन्त प्रभावशाली प्रबन्ध-अभिकर्ता रहते है। (६) इस धन में प्रबन्ध-अभिकर्ताओ का विशेष हित रहता है और वे कम ब्याज पर लेकर कम्पनी को अधिक ब्याज पर धन देते है। (७) प्रबन्ध-अभिकर्ता अपने द्वारा प्रतिबन्धित कम्पनियो मे एक-दूसरी कम्पनी का धन आपस मे जमा करते रहते हे और इसमे खूब कपट किया करते है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि निक्षेप विशेष रूप से प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के ही कारण सम्भव हो सके है। इसलिए अब उद्योग या व्यापार मे इस प्रकार के निक्षेपो की सभावना बहुत कम प्रतीत होती है। अब केवल वही निक्षेप सभव हो सकेंगे, जिनका कम्पनी मे सीधा सम्बन्ध होगा।

विनियोग प्रन्यास

(Investment Trusts)

विनियोग प्रन्यास विनियोग बैंको तथा कम्पनियो का दूसरा स्वरूप है। प्रन्यास उस संस्था को कहते है, जिसके द्वारा साधारण जनता मे बहुत बडे पैमाने पर किसी कम्पनी के अश तथा प्रतिभूतियों मे विनियोग करवाया जा सकता है। यह प्रन्यास अनेक प्रकार के अश तथा प्रतिभूतियो मे विनियोग करते है। तदुपरान्त उन अंश तथा प्रतिभूतियों को साधारण जनता मे निर्गमित कर देते हैं। यह उस स्थिति मे होता है, जब कम्पनी को शीघ्र ही धन की आवश्यकता हो तथा उनकी जोखिम को कम करने के लिए वे परोक्ष रूप से विनियोक्ताओ को आर्थिक योग भी देते रहते है। प्रन्यास अपने अंश तथा प्रतिभूतियों के बेच कर जो धन संचय करते है, उसका विनियोग दूसरी संस्थाओ के अंशों तथा प्रतिभूतियों मे कर देते है और उससे होने वाले लाभ मे वे अपनी अश तथा प्रतिभूतियों के धारकों मे लाभाश को बाँटते है। इन प्रन्यासों की सफलता और असफलता इनके उचित प्रबन्ध पर निर्धारित रहती है।

यूरोपीय देशों मे इस प्रकार के प्रन्यास बहुत पहले, १९वी शताब्दी के मध्य से ही, कार्य कर रहे है। अमेरिका मे ऐसे प्रन्यास प्रथम विश्व युद्ध के बाद तथा भारत मे १९३३ मे प्रारम्भ हुए।

विनियोग प्रन्यास अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे स्थायी प्रन्यास, विनियोग कम्पनी या प्रबन्ध प्रन्यास, सीमित प्रबन्ध प्रन्यास आदि। स्थायी प्रन्यास मे प्रबन्ध-कर्ताओं को विनियोग करने का अधिकार नही रहता, अपितु उनमे पहले से ही अश तथा प्रतिभूतियो का निश्चय कर दिया जाता है, जिनमे कम्पनी द्वारा विनियोग

किया जायेगा। आमतौर पर इनके द्वारा बहुत बड़ी संस्थाओं के अंश तथा प्रतिभूतियों में ही विनियोग किया जाता है। इसके विपरीत विनियोग कम्पनी या प्रबन्ध-प्रन्यास में प्रबन्धकर्ताओं को समय तथा स्थिति के अनुसार अच्छी प्रतिभूतियो को खरीदने की स्वेच्छा रहती है। सीमित प्रबन्ध प्रन्यास में पहले प्रकार के दो प्रन्यासों की कठिनाई को दूर करके प्रबन्धकर्ताओं के अधिकारों को नियंत्रित कर दिया जाता है, किन्तु वे एक सीमा के अन्दर विनियोग करने में स्वतन्त्र रहते हैं। भारत में इस प्रकार के प्रन्यासों का प्रादुर्भाव कम्पनी कानून के अन्तर्गत ही हुआ और उनका प्रबंध अभिकर्ताओं तथा संचालको के अधीन रहता है।

निजी लाभ का पुर्नविनियोग
(Plaughing Back of Profits)

उद्योग में पूँजी को बढाने की आवश्यकता हमेशा बनी रहती है। वह जिस समय बाहर के लोगो से ली जाती है, उसमें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पडता है। इसीलिये उन्नतिशील उद्योग अपनी पूँजी को बढाने के लिए प्रायः अपने लाभांश के एक निश्चित भाग को पुनः उद्योग में विनियोग करके बिना किसी बाहरी आश्रय के पूँजी को बढाने में सफल होते है। इसमें कम्पनी अपने लाभ का एक भाग संचित कोष में जमा कर देती है। प्रमंडल उस कोष को आवश्यकता पड़ने पर औद्योगिक कार्यों में लगा देती है, जिससे कि उद्योग आवश्यकता के समय माल को खरीदने, उद्योग को बढाने तथा सामयिक खर्चों को करने में एक व्यापक सुविधा अनुभव करता है और अपनी विकास-योजनाओं को बहुत सुन्दर तथा सुदृढ स्वरूप दे सकता है। अंशधारियों को यदि उन्नतिशील अवसर पर अधिक लाभांश न देकर यदि भविष्य में उनकी पूँजी को बढा दिया जाय अथवा उनको अधिक लाभांश देने की व्यवस्था की जाय तो यह व्यापारिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से अनुकूल ही होगी। जो देश औद्योगिक उन्नति कर रहे है, उनमें पूँजी को बढाने के लिए यह पद्धति बडी व्यापकता से अपनाई जाती है। पाश्चात्य देशों के औद्योगिक विकास में इस पद्धति का महत्वपूर्ण स्थान है। उस दशा में, जब कि पूँजी का प्राप्त करना कठिन हो, यह पद्धति अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हो सकती है।

यदि इसका सही रूप से नियंत्रण नहीं किया जाय तो यह लाभप्रद होने की अपेक्षा कम्पनी के सदस्यों को एक बड़ी हानि पहुँचा सकती है, क्योंकि कम्पनी के संचालक उस पूँजी को अनावश्यक तत्वों में खर्च कर सकते हैं। जो लोग कम्पनी में विनियोग इस उद्देश से करते है कि उनको अधिक लाभांश मिले, इस व्यवस्था से वह समाप्त हो जाता है और अंशधारी उद्योग से उदासीन हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त अंशधारी प्रबन्ध-अभिकर्ताओं तथा संचालको के चंगुल में फँस जाते है, किन्तु यह सब बुराइयाँ उस समय समाप्त हो जाती है जब संचित कोष का निस्वार्थ तथा

सामूहिक हित की भावना से उपयोग किया जाय । भारत में इस पद्धति का प्रयोग बहुत लाभदायक सिद्ध हो सकता है ।

पूँजी निर्गमन तथा नियमन नियम

(Capital Regulation and Control Issue)

पूँजी निर्गमन नियंत्रण का अर्थ यह है कि जिस पूँजी के लिये विवरण पत्रिका में विक्रय प्रस्ताव किया जाय उसमें केन्द्रीय सरकार की अनुमति प्राप्त कर ली जाय तथा निर्गमन विधानानुकूल हो । मई १९४५ में भारत सुरक्षा नियम के अनुसार इसको पूँजी निर्गमन के लिये लागू किया गया । इसके २ कारण थे—(१) युद्ध के लिये ऋण की आवश्यकता (२) उद्योगों के लिये आर्थिक सुरक्षा ।

भारतीय व्यापारी देश के बाहर भी विनियोग कर रहे थे और देश में अनेक काल्पनिक कंपनियों का निर्माण किया गया था । इसको रोकने के लिये भारतीय सुरक्षा अधिनियम का ९४ A अनुच्छेद लागू किया गया । किन्तु यह नियम सन् १९४६ तक ही चला और अप्रेल १९३७ में पूँजी निर्गमन (नियमन तथा नियंत्रण) अधिनियम पारित किया गया । इसके अनुसार किसी भी कंपनी को विवरण पत्रिका प्रसारित करने के पूर्व सरकार की आज्ञा लेना आवश्यक थी । इसका उद्देश्य कंपनी के स्फीति कालीन निर्माण को रोकना था और साथ ही उद्योगों में पूँजी का समान वितरण करना भी था । सन् १९४७ का अधिनियम भारतीय सुरक्षा अधिनियम के आधार पर ही चला किन्तु युद्ध के बाद उसकी आवश्यकता तब पड़ी जब व्यापारिक मन्दी चक्र की संभावनाएँ भारतीय उद्योग तथा व्यापार में स्पष्ट लक्षित होने लगी । प्रारंभ में यह नियम तीन वर्षों के लिये लागू किया गया था और उसके लिये एक प्रबन्ध समिति की स्थापना की गई ।

(१) इस समिति का कार्य सरकार को उद्योगों की स्थिति प्रगति तथा आर्थिक आवश्यकताओं की जानकारी करना था ।

(२) नई तथा पुरानी कंपनी के अंश तथा ऋणपत्रों की वास्तविकता बतलाना भी इसका कार्य था ।

(३) अधिनियम की उपयुक्तता तथा उसकी कार्य व्यवस्था का विवरण रखना भी इसी का दायित्व था ।

इस अधिनियम की धाराएँ उद्योग तथा व्यापार पर निम्न दशाओं में लागू नहीं होंगी—

(१) अधिकोषण तथा बीमा कंपनी को छोड़ कर अन्य कंपनी में जिनकी पूँजी ५ लाख से अधिक नहीं थी ।

(२) यदि प्रतिभूतियाँ तथा अंश व्यापार को बचाने के लिये निर्गमित किये जायें अथवा किसी बैंक को पेशगी के रूप में दिये जायें ।

- (३) यदि भारत स्थित कंपनी बाहर से पूँजी प्राप्त करे।

(४) यदि जमा किये गये अंशों का पुनर्निर्गमन किया जाय.

इस अधिनियम के अंतर्गत पूंजी निर्गमन करने वाली कंपनी को सरकार के पास आवेदन पत्र भेजते समय अपनी स्थिति की पूरी जानकारी देनी चाहिये। रिजर्व बैंक के द्वारा कंपनी का निरीक्षण भी किया जा सकेगा और कंपनी को विवरण पत्रिका में स्पष्ट करना होगा कि सरकार से अनुमति प्राप्त कर ली गई है।

केन्द्रीय सरकार निम्नलिखित बातों के आधार पर ही पूँजी निर्गमन की आज्ञा देती है—

(१) जब प्रवर्तक तथा सचालकों ने कम से कम पूँजी का $\frac{1}{5}$ भाग ले लिया हो।

(२) जब विनियोग प्रन्यास (Investment Trust) तथा अर्थ-कम्पनियों (Finance Companies) के अंशधारियों का मताधिकार उनकी पूँजी के अनुपात में हो। ये कम्पनियाँ न तो अपने प्रबन्ध-अभिकर्ताओं की नियुक्ति कर सकेंगी और न लाभ को अंशधारियों में बाँट सकेंगी।

(३) जब तक कोई कम्पनी किसी कम्पनी या सम्पत्ति को स्फीति मूल्यों पर खरीदकर या उसकी साख का उचित मूल्याकन नहीं कर पाती और उसके लिये किसी कुशल मूल्याकन विशेषज्ञ से प्रमाण-पत्र नहीं प्राप्त कर लेती, उसे पूँजी निर्गमन की आज्ञा नहीं मिल सकती।

इन रोकों के कारण कम्पनियों के कपटपूर्ण व्यवहार से विनियोगकों की रक्षा की जा सकती है। इसलिये सरकार उन्हीं कम्पनियों को इस प्रकार की आज्ञा प्रदान करती है, जो निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करती हों—

(१) जब कम्पनी का आयोजित व्यवसाय लाभप्रद एवं हितकर है तथा आवश्यक वस्तुओं का निर्माण करने वाला और औद्योगिक विभाजन सम्बन्धी विभाजन से सम्बन्धित है।

(२) जब उसके प्रमुख कार्यकर्ता तथा अधिकारी विश्वसनीय, अनुभवी तथा योग्य हों।

(३) उसके पास अपने कार्य-सचालन के लिये पर्याप्त धन हो तथा उसके द्वारा प्रचलित प्रतिभूतियाँ उसकी सेवाओं तथा सम्पत्ति के उचित मूल्याकन पर निर्भर हों।

(४) उसकी पूंजी का ढांचा अर्थ-समिति के सिद्धान्तों पर आधारित हो।

(५) उसके मतदान तथा अन्य अंशों के अधिकार सम्बन्धी समस्त अधिकार न्यायसंगत तथा स्पष्ट हों।

(६) उनकी साख प्रतिभूतियाँ, यदि कोई है, तो ऋण-पत्रों तथा बन्धो की ही भाँति धनोपार्जन की शक्ति से अधिक न हो।

(७) उनके प्रवर्तकों की योजनायें सशक्त तथा व्यवस्थित हो।

(८) उनके अशधारियो तथा साहूकारो के हित पूर्ण रूप में सुरक्षित हो।

(९) नवीन कम्पनियो की न्यूनतम पूँजी सर्वप्रथम भारत मे निर्गमित की जायँ तथा उसके न्यूनतम अशों मे पहले भारतीय सचालक हो।

(१०) कम्पनियाँ भारत के उद्योग में सहायक हो तथा जनता मे अंशो का उचित विक्रय प्रस्ताव करती हो।

अधिनियम की अवधि मे वृद्धि—मार्च १९५० मे एक आवश्यक अधिनियम के द्वारा १९४७ के अधिनियम की अवधि को ३१ मार्च १९५२ तक बढा दिया गया और फिर फरवरी १९५२ में ३१ मार्च सन् १९५६ तक इसकी अवधि को बढा दिया गया। १९५४ मे इस अधिनियम को एक सीमा तक स्थायित्व प्रदान किया गया क्योंकि १९५६ मे जब इसको संसद मे रखा गया तो योजना काल मे इसके महत्व को समझते हुए *सभी वर्गों की ओर से इसका स्वागत हुआ। कृष्णमाचारी* ने इस *बिल* को रखते हुए बताया कि सरकारी तथा निजी क्षेत्र मे उद्योगो के अनुचित विकास एव शक्ति के सम्पूर्ण उपयोग के लिये इस प्रकार के अधिनियम की बहुत बडी आवश्यकता है।

अधिनियम द्वारा रोक—(१) कोई भी कंपनी बिना केन्द्रीय सरकार की अनुमति के भारत मे पूँजी का निर्गमन नही कर सकती और जिन प्रतिभूतियो की मियाद पूरी हो जाय उनका नवीनीकरण अथवा भुगतान नही कर सकती।

(२) जिस कपनी का समामेलन भारत मे हुआ है वह सरकारी आज्ञा के बिना पूँजी का निर्गमन बाहर नही कर सकती।

(३) कोई भी कपनी तब तक अश पूँजी को प्राप्त करने के लिये विवरण पत्रिका का निर्गमन नही कर सकती जब तक सरकार द्वारा स्वीकृति प्राप्त न कर ले।

(४) केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना यदि निर्गमित अंशो पर कोई अनुदान करता हो तो उसको अवैध माना जायगा।

(५) Subscription—मई १९४५ के बाद कोई भी व्यक्ति किसी भी अश तथा प्रतिभूति मे तब तक विनियोग नही करेगा जब तक हम मालूम न करले कि कंपनी को आवश्यक स्वीकृति प्राप्त हो गई है या नही।

आज्ञा के आधार (१) संचालकों तथा प्रवर्तकों को पूँजी का $\frac{1}{2}$ भाग लेना होगा। (२) अंशधारियों का मताधिकार उनकी पूंजी के अनुसार मिलेगा। (३) सपत्ति का मूल्याकन विशेषज्ञो द्वारा किया जाना आवश्यक होगा आदि। इसके लिये सरकार उन्ही कंपनियो को आज्ञा देगी जिनका व्यवसाय लाभप्रद हो अधिकारी विश्वसनीय हो कार्य संचालन की वित्तीय स्थिति अच्छी हो, पूँजी का कलेवर उचित हो, मताधिकार

न्याय संगत एवं स्पष्ट हो, प्रवर्तन योजनाएँ व्यवस्थित हो और पूंजी का प्रारम्भिक निर्गमन भारत में किया जाय।

अधिनियम की कार्य प्रगति—जब से सरकारी कम्पनियां सामने आई हैं, पूंजी का निरन्तर विकास होता जा रहा है। सन् १९५० में भारतीय कम्पनियों की कुल पूंजी ७४.७५ करोड रु० थी और १९५८ में बढकर ४२२.९७ करोड़ होगई। १९५८ में इस पूंजी में करीब १०%की वृद्धि हुई है किन्तु इस बीच पुरानी कम्पनियों का निर्गमन भी ७ करोड से बढ कर ४८ करोड होगया है। नवीन कम्पनियों का क्रम इस प्रकार से रहा—१९५० में १३.६६ करोड, १९५५ में ४६.६० करोड, १९५८ में २०.८० करोड रुपया। इन आंकड़ो से स्पष्ट है कि इन वर्षों में नवीन कम्पनियों का अधिक विस्तार नहीं हुआ है। इसका कारण इस अधिनियम का लागू किया जाना तथा दूसरी योजना के अन्तर्गत पुरानी कम्पनियों को अधिक शक्तिशाली बनाया जाना है। ऋण पत्रों के निर्गमन में प्रायः वृद्धि होती रही है। सन् १९५० में इस निर्गमन की राशि ८.४५ करोड थी १९५७ में वह १५.४० करोड़, १९५८ में ९.८८ करोड तथा १९५९ में ६.२१ करोड रुपया रही। इसमें भी अश पूंजी के समान ही कुछ रुकावट दिखाई देती है। इसका कारण यह भी कहा जा सकता है कि विनियोगकर्ताओं को कम्पनियों के प्रति शंका हो रही है।

अधिनियम का मूल्यांकन—देश के स्वतन्त्र होने के पश्चात लोगों का विश्वास था कि इस अधिनियम को फिर से लागू नहीं किया जायगा क्योंकि आलोचकों के अनुसार इसमें औद्योगिक प्रगति पर सीधी रुकावट आ रही थी और नवीन कम्पनियों का प्रादुर्भाव कठिन हो रहा था। इसकी कार्यतन्त्री भी दोषपूर्ण बतलायी गई। सन् १९५० में 'फिसकल कमीशन' ने अधिनियम के पक्ष में अनेक बिन्दु रखते हुए इसको जीवित रखने की सिफारिश की क्योंकि इनके विचार में इससे पूंजी का दुरुपयोग होने की कम सम्भावनायें थीं, और साथ ही पंचवर्षीय योजनाओं के लिये पूंजी प्राप्त करने के लिये इसको आवश्यक बतलाया गया। इसलिये भारत सरकार ने १९५८ में उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम (संशोधन) पारित कर कम्पनियों के लिये लाइसस समिति का निर्माण किया।

पूंजी नियन्त्रण अधिनियम तथा पूंजी नियम अधिनियम (उद्योग) का विवेचन करते हुए आलोचकों का कहना है कि इन दोनों के कार्य क्षेत्रों में भिन्नता नहीं है और इस प्रकार अलग-अलग अधिनियमों को बना कर औद्योगिक विकास को दुविधा में डाला गया है। किन्तु विचार करने पर पता चलेगा कि दोनों अधिनियमों के सैद्धान्तिक उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं और जहां तक पूंजी का प्रश्न है औद्योगिक अधिनियम उसके सहायक के रूप में ही आया है। यह निश्चय है कि इन दोनों

अधिनियमो का स्पष्ट विवेचन करके उनके कार्य क्षेत्र का स्पष्टीकरण कर दिया जाना चाहिये।

औद्योगिक विकास एवं व्यवस्था के लिये इन नियमों का लागू किया जाना देश की समाजवादी नीति के लिये लाभदायक है।

कम्पनी लॉ कमेटी तथा अंश-पूंजी
(Company Law Committee and Share Capital)

भारत सरकार ने 'कम्पनी' लॉ कमेटी का निर्माण २८ अक्टूबर १९५० मे कम्पनी के विधान मे सशोधन एवं परिवर्तन करने के लिए किया। इस कमेटी ने १९३६ के कम्पनी कानून मे अनेक परिवर्तन किये। उनमे से पूंजी के अंशो का परिवर्तन अपना मुख्य स्थान रखता है।

सन् १९१३ के विधान मे कम्पनी के अशो के विषय मे किसी प्रकार का विशेष उल्लेख नही है, जिससे कि श्रेणी-बद्ध अशो का स्पष्ट निर्णय किया जा सके तथा अलग-अलग अंशो के अधिकारो का विवेचन किया जा सके। इसलिए कम्पनी लॉ कमेटी ने अंशो के अध्ययन को तीन भागो मे विभक्त कर दिया है— (१) पूर्वाधिकार अंश तथा साधारण अशो के अधिकारो मे समानता। (२) पूर्वाधिकार अशधारियो को वोट देने की अस्वीकृति। (३) स्थगित अंशधारियो की असमान वोट देने का अधिकार।

जहां तक इस कमेटी ने खोज की है, उनका मत है कि यह क्रिया समस्त भारत मे किसी न किसी रूप मे चल रही है। सर्वप्रथम उन्होने स्थगित अंशधारियों के वोट देने की विवेचना की है। स्थगित अंशधारियो को इस प्रकार के अधिकार संभवतः इसलिए दिये जाते है कि उनको जोखिम वाले व्यवसायो मे अपने धन का विनियोग करने के लिए प्रोत्साहन मिले तथा वे अधिक से अधिक मात्रा मे धन लगा सकें। किन्तु स्थगित अंशधारियों का इतिहास बताता है कि स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत रही है और इसके कारण कुछ ही व्यक्तियो का कम्पनी के ऊपर आधिपत्य हो गया जिससे कि पूंजी की स्थिति सन्तोषजनक नही हुई। अतः कमेटी का विचार है कि स्थगित अशो को पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया जाय।

जहां तक पूर्वाधिकार अशधारियो का प्रश्न है, पहले उनमे तथा सामान्य अंशधारियो के मतदान मे किसी प्रकार का अन्तर नही था, किन्तु धीरे-धीरे इनमें अन्तर आने लगा। यदि पूर्वाधिकारी को भी सामान्य अशधारियों के समान ही अधिकार दिये जायें तो वे अपनी स्थिति के अनुसार कम्पनी पर नियन्त्रण करके साधारण अंशधारियो के हित को नष्ट कर सकते है। इसलिए कम्पनी लॉ कमेटी ने पूर्वाधिकार अंशो तथा साधारण अशो को ही रख कर उनके अधिकारो के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये है—

(१) कम्पनी की पूँजी केवल दो भागों में विभक्त की जायगी—(अ) साधारण अंशो मे, तथा (ब) पूर्वाधिकारियों में। इसके अतिरिक्त कम्पनी के जितने भी अन्य अंश होंगे, उनको पूर्वाधिकार अंशों में ही सम्मिलित कर दिया जायगा।

(२) पूर्वाधिकार अंशधारियों को निम्नलिखित विशेष परिस्थितियों में ही मत देने का अधिकार होगा—(अ) जबकि कोई इस प्रकार का लाभांश या उसका कोई भाग न चुकाया गया हो, (ब) जबकि कोई इस प्रकार का प्रभाव प्रस्ताव पास किया गया हो, जिससे उनके अधिकारों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता हो अथवा कम्पनी का विलयन, या पूँजी मे कमी की जा रही हो।

पूर्वाधिकार अंशधारियों को भी वही अधिकार उस समय प्राप्त होंगे, जबकि उनका लाभांश पिछले दो वर्षों से न चुकाया गया हो या आगामी दो वर्षों तक उसका शोधन न हुआ हो।

(३) साधारण परिस्थिति मे पूर्वाधिकार अंशो तथा साधारण अंशो का अनुपात उनकी चुकाई गई पूँजी के आधार पर ही होगा।

(४) पूर्वाधिकार अंशों के अतिरिक्त किसी भी अंश मे निश्चित लाभांश तथा आनुपातिक मतदान का अधिकार तब तक नहीं दिया जा सकेगा, जब तक उसके लिए केन्द्रीय अधिकारी की अनुमति प्राप्त न की जाय।

(५) जिन कम्पनियों ने इसके पूर्व अन्य प्रकार के अंशों का प्रचलन तथा उस पर आनुपातिक मतदान का अधिकार दिया हो, कानून द्वारा यह निश्चित किया जाना चाहिए कि कानून बनने के तीन साल के अन्दर वे मतदान का अनुपात उपरोक्त सुझावों के अनुसार कर दें और उस अन्तरिम समय मे उनको अभिकर्ताओं से सम्बन्धित प्रस्तावों मे अपना यह अधिकार प्रयोग में नहीं लाना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में मतदान का अधिकार अंशो के अनुपात में ही रहेगा।

(६) केन्द्रीय अधिकारी को कम्पनी के अंशधारियों के मताधिकार में किसी प्रकार की छूट देने का अधिकार होगा, किन्तु इस प्रकार की छूट उन कम्पनियों को नहीं दी जायगी, जिन्होंने अनुपातिक लाभांश तथा मतदान का अधिकार १ दिसम्बर १९५६ के पश्चात् दिया हो।

जहाँ तक अंशों के विभाजन का प्रश्न है, सामाजिक दृष्टिकोण से तथा साधारण अंशधारियों की रक्षा के लिये इस प्रकार का विभाजन लाभदायक है। इससे साधारण अंशधारियों को कम्पनी के प्रबन्ध में विशेष अधिकार मिल सकेगा और उनको कम्पनी के संचालन मे महत्वपूर्ण हिस्सा लेने का अवसर मिलेगा। पूर्वाधिकार अंशों को रखना इसलिये आवश्यक है कि कितने ही विनियोगक अंशों को एक निश्चित लाभ की आशा से ही खरीदना पसन्द करते हैं और वे संदिग्ध लाभ को

लेना नही चाहते। इस प्रकार के अंशधारियो को विशेषाधिकार देने की आवश्यकता इसलिये नही है कि हर स्थिति मे उनको उनका निश्चित लाभाश तो मिलता ही रहेगा और यदि कम्पनी मे अधिक लाभ नही हो तो भी उनका लाभाश जुडता रहेगा और यथार्थ भार साधारण अंशधारियो पर ही पडेगा। यदि देखा जाय तो साधारण अंशधारी ही कम्पनी के सच्चे स्वामी होते है। इसलिये उनको अन्य अशधारियों की अपेक्षा कम्पनी के सचालन में अधिक हिस्सा लेने तथा उसका नियन्त्रण करने का विशेषाधिकार होना ही चाहिये, जहाँ तक लाभाश दिये जाने का प्रश्न है, 'जो व्यक्ति कितना गुड़ डालेगा उतना ही मीठा खायेगा' वाले सिद्धान्त से उनको लाभाश उनकी लगाई हुई पूँजी के अनुपात मे ही मिलना चाहिये। स्थगित अशधारियों को हटाने से निश्चित ही प्रारम्भ में पूँजी के आगमन मे असुविधा होगी तथा अधिक पूँजी वाले लोग जोखिम वाले व्यवसायो मे पूँजी लगाना उचित नही समझेंगे, किन्तु इस प्रकार के विशेषाधिकारो से कम्पनी का प्रजातन्त्री सिद्धान्त मूल से ही नष्ट हो जाता है और साधारण व्यक्तियों की सुरक्षा नही की जा सकती। इसलिये उनको हटाया जाना देश के सामान्य लोगो को उन्नति का प्रतीक है।

सन् १९५३ मे प्रस्तुत किया गया कम्पनी बिल कम्पनी लॉ कमेटी के सुझावों का पूर्ण रूप से अनुमोदन करता है।

उपर्युक्त कानून की अनेक धारायें निस्सन्देह लाभदायक व अच्छी हैं। केवल साधारण अंशधारियों को उनकी पूँजी के अनुसार मतदान के अधिकार की धारा विशेष पूँजी वालो के अधिपत्य को बनाये रखने मे सफल होगी और सामान्य पूँजी वालों की कम्पनी के प्रबन्ध में अपनी आवाज को उठाने का अवसर प्राप्त नही हो सकेगा। इसके विरुद्ध यह अवश्य कहा जा सकता है कि यदि कम पूँजी वालो को समान अधिकार दिया जायेगा तो अधिक पूँजी वालों के हितो की रक्षा नहीं की जा सकती। इस प्रकार दोनो अवस्थाओ मे यह धारा अहितकर है और विधान में इस प्रकार की धारा बनाई जाय, जिसमे कि छोटी राशि वालों को भी कम्पनी के प्रबन्ध मे व्यापक अधिकार प्राप्त हो सकें तथा बडी राशि वालो के हितों की भी रक्षा की जा सके। इसलिये इस धारा मे मतदान का अधिकार पूँजी के क्रमिक भागों के अनुपात में होना चाहिये और जितनी-जितनी अधिक पूँजी होती जाय उनके मतदान के अनुपात मे न्यूनता आनी चाहिये। इस प्रकार बहुत बडी सीमा तक मतदान की समस्या का हल किया जा सकेगा।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 What points should be noted for estimating capital for business? Explain.

2 Explain the different types of capital ? What do you understand by capital-gearing ? Explain with example.

3 What do you understand by 'fixed capital' and 'working capital' ? How the working capital is estimated ?

4 What are the main sources of obtaining fixed capital ? Explain critically their advantages and disadvantages.

5 Explain the necessity of issuing different kinds of shares by a company. What are the various factors that affect the prices of shares ? Explain.

6 In how many forms can you divide debentures ? Why debentures are not very popular in India ?

7 What is the importance of debentures and shares in the capital structure of Indian industries ? Compare these two forms and explain the importance of each in different circumstances.

8 Define underwriting ? What are its advantages and disadvantages ? What is its position India ?

9 How, why, and to what extent managing agents helped to provide finance for Indian industry ?

10 'Banks occupy most important place in providing finance for industry ' Explain, and write on what condition they advance loan. In order to make them more useful, what suggestions would you give for their future policy ?

11 "Public deposit is a fair-weather friend." Express your view on the above statement

12 Explain the opinion of 'Company Law Committee' regarding the share-capital of a company.

13 Explain—

(a) Investment Trust, (b) Plaughing Back of Profit, (c) Capital Issue Control Act, (d) Capital Structure, (e) Promotor.

औद्योगिक वित्त निगम

(Industrial Finance Corporation)

भारतवर्ष मे केन्द्रीय सरकारें तथा राज्य सरकारें बहुत पहले से उद्योगो को सहायता देती आयी है। केन्द्रीय सरकार ने प्रारम्भ मे उद्योगों को अनेक प्रकार से व्यापारिक एव औद्योगिक सहायता दी, जिससे उद्योगो को बहुत आर्थिक लाभ हुआ। केन्द्रीय सरकार ने उद्योगों मे विशेष योग देकर तथा उनको उत्पादन के लिये आर्थिक सहायता देकर तथा उनकी उत्पादित वस्तुएं खरीद कर उद्योगों को बहुत बडी सहायता दी है। इसी प्रकार राज्य सरकारो ने भी अनेक प्रकार से औद्योगिक अधिनियमो को बना कर उद्योगों को आर्थिक सहायता दी है। सन् १९४५ के बाद भारत सरकार की औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था की नीति अत्यन्त स्पष्ट हो गई। १९४६ मे हमारे केन्द्रीय सदन मे इन्डस्ट्रियल फाइनैन्स कॉरपोरेशन बिल रखा गया, जिसकी स्वीकृति सन् १९४८ में प्राप्त हुई और तब से हमारे देश मे इस कारपोरेशन की स्थापना हो गई है।

इन्डस्ट्रियल फाइनैन्स कॉरपोरेशन की व्यवस्था इन्डस्ट्रियल फाइनैन्स कॉरपोरेशन अधिनियम, १९४८ तथा संशोधित अधिनियम सन् १९५२ व ५५ के अन्तर्गत होता है। इसका निर्माण भारत के उद्योगो को दीर्घकालीन तथा अधि-दीर्घकालीन आर्थिक योग देने की व्यवस्था के लिये किया गया है। उन अवस्थाओ मे, जब कि बैंको के द्वारा उद्योगों को पर्याप्त आर्थिक योग न मिले तो इसका योग अत्यन्त लाभप्रद होगा। कॉरपोरेशन का संगठन निम्नलिखित प्रकार से है—

(१) पूंजी (Capital)—कॉरपोरेशन की अधिकृत पूंजी १० करोड रुपया है तथा निर्गमित पूंजी ५ करोड है। इसका विभाजन निम्नलिखित प्रकार से है: रिजर्व बैंक तथा केन्द्रीय बैंक एक करोड प्रति बैंक। अनुसूचित अधिकोष १'२५ करोड़ रुपया। बीमा कम्पनियाँ, विनियोग न्यास तथा अन्य १'२५ करोड रुपया। सहकारी अधिकोष ५० लाख रुपया। यह पूंजी केन्द्रीय सरकार तथा रिजर्व बैंक के द्वारा एक निश्चित अनुपात मे दी जायगी। अंशो का मूल्य ५ हजार रुपया रखा गया है। जून १९५२ मे अंशों का निर्गमन इस प्रकार हुआ—केन्द्रीय सरकार २०००, रिजर्व बैंक २०५४, अनुसूचित अधिकोष २४३५, बीमा कम्पनियाँ आदि २५६८ तथा सहकारी अधिकोष ९४३। कॉरपोरेशन के अंश केन्द्रीय सरकार के

द्वारा प्रतिभूत (Guaranteed) किये हुए हैं। इन पर २¼% सालाना लाभांश दिया जायेगा।

(२) कार्यशील पूंजी (Working Capital)—कॉरपोरेशन जन-निक्षेपों द्वारा तथा उधार लेकर अपनी कार्यशील निधि को बना सकेगा। इसके लिए वह अपने अनुबन्ध तथा ब्याज वाले ऋणपत्रों का निर्गमन कर सकेगा, किन्तु यह निर्गमन कॉरपोरेशन की पूंजी तथा कोषों के ५ गुने से अधिक नहीं हो सकता। इन पर दिया जाने वाला ब्याज केन्द्रीय सरकार के निर्धारित ब्याज से अधिक नहीं हो सकेगा। जन-निक्षेप १० करोड़ से अधिक नहीं हो सकेंगे और उनका भुगतान ५ वर्षों के अन्दर किया जाना चाहिए।

(३) प्रबन्ध (Management)—कॉरपोरेशन का प्रबन्ध संचालक-मंडल, कार्यकारिणी समिति तथा प्रबन्ध-संचालक के द्वारा किया जायगा। प्रबन्ध करने के लिये संचालक-मण्डल को सरकार की नीति का अनुसरण करना पड़ेगा। वह अपनी सहायता के लिये सलाहकार समिति नियुक्त कर सकेगा।

प्रबन्धक मण्डल मे १५ संचालक होंगे जिनमे ४ केन्द्रीय सरकार द्वारा, ३ रिजर्व बैंक के द्वारा, २ बीमा कम्पनियों आदि द्वारा, तथा २ सहकारी बैंको द्वारा चुने जायेंगे। प्रबन्ध संचालक तथा उपप्रबन्ध संचालक भी काम करेंगे। कार्यकारिणी समिति मे प्रबन्ध-संचालक, सभापति तथा संचालक-मण्डल मे से चुने हुए दो अन्य संचालक होंगे। प्रबन्ध-संचालक केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किया जायगा तथा उपसंचालक कॉरपोरेशन के द्वारा नियुक्त किया जायगा। यह दोनों पूर्ण समय के लिए अधिकारी होंगे।

(४) कार्य (Function)—कॉरपोरेशन के निम्नलिखित कार्य होंगे—

(१) कॉरपोरेशन ऋणपत्रों के ब्याज या मूलधन सम्बन्धी प्रतिभूति दे सकती है। इन ऋणों की अवधि १५ वर्ष से अधिक नहीं होगी। (२) सार्वजनिक सीमित कम्पनियों तथा सहकारी समितियों को २५ वर्ष की अवधि तक के लिए ऋण दे सकती है। (३) ५ वर्ष की अवधि के लिए १० करोड की सीमा तक जन-निक्षेप रख सकती है। (४) औद्योगिक संस्थाओं के अंश, अनुबन्ध, ऋणपत्र आदि का अभिगोपन कर सकती है। (५) एक संस्था को अधिक से अधिक एक करोड तक ऋण दिया जा सकता है। यदि ऋण केन्द्रीय सरकार द्वारा रक्षित हो तो उसकी राशि बढ़ाई जा सकती है। (६) कर्जदार उद्योगों को तान्त्रिक सलाह देने के लिए समितियों का निर्माण कर सकती है। (७) उद्योगों को (जिनको विदेशी पूंजी की आवश्यकता हो) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से ऋण दिलवा सकती है। (८) कम्पनी के ऋणपत्रों की गारंटी दे सकती है, खुले बाजार वाले ऋणपत्रों की गारन्टी २५ वर्ष से अधिक नहीं होगी। (९) जब तक संचित कोष प्रदत्त पूंजी के बराबर

न हो जाय, तब तक २३/४% से अधिक लाभांश नहीं दिया जायगा, ५ प्रतिशत अधिक से अधिक है। (१०) उद्देश्य की पूर्ति के लिए अधिक से अधिक कार्य। (११) किसी पूँजी के १० प्रतिशत या ५० लाख रुपये से अधिक दत्त पूँजी में नहीं दे सकता।

अपने इन सात वर्षों में इन्डस्ट्रियल फाइनैन्स कॉरपोरेशन ने १२५ उद्योगों को २६ करोड रुपये का ऋण दिया है। इसमें से १४ ५ करोड रुपया दिया जा चुका है। नये उद्योगों को १५ करोड २२ लाख ५० हजार तथा पुराने उद्योगों को १२ करोड ६५ लाख २५ हजार रुपया दिया गया है।

यह ऋण प्रायः कम्पनियों की स्थायी जमानत पर दिये गये है और इस प्रकार कॉरपोरेशन का ध्येय चल सम्पत्ति की जमानत पर ऋण देने का नही है। क्योंकि इस जमानत पर साधारण व्यापारिक बैंकों तथा अन्य संस्थाओं को ऋण देना चाहिये। कॉरपोरेशन जिस संस्था को ऋण देता है उसमे एक संचालक को नियुक्त करने का अधिकार सुरक्षित रखता है। ऋण १२ वर्ष से १५ वर्ष के लिए दिये जाते हैं। उन पर ५½ प्रतिशत ब्याज लिया जाता है। अवधि पर भुगतान करने वाले को छूट दी जाती है।

कॉरपोरेशन की असुविधायें (Difficulties of the Corporation)—कॉरपोरेशन की क्रियाओं मे निम्न प्रकार की असुविधाएँ सामने आईं, जिससे १९५२ मे उसके अधिनियम मे संशोधन करने पडे—(१) आवेदन पत्रों में उद्योग अपना पूरा विवरण नहीं देते, जिससे उन पर विचार नहीं किया जा सकता तथा उसकी भावी योजनायें निश्चित नहीं की जा सकती। (२) जमानत के रूप में जो स्थायी सम्पत्ति दी जाती है उस पर कम्पनी के अतिरिक्त अन्य लोगों का भी भी अधिकार हो जाता है। (३) कम्पनियों की भावी योजनायें अपूर्ण होती है। (४) बहुत सी ऋण लेने वाली कम्पनियाँ वैधानिक शिष्टाचारों का पूर्ण रूप से पालन नहीं करती। (५) छोटे उद्योग धन्धों को विशेष सहायता नहीं दी जा सकती। (६) ऋण देने मे कई स्थानों पर पक्षपात किया गया। इसके लिए जनवरी १९५३ में केन्द्रीय सरकार ने एक समिति नियुक्त की, जिसने अपनी रिपोर्ट में निम्नलिखित बातों पर विचार किया—(१) ऋण तथा उनके देने की पद्धति, (२) ऋण देने मे सावधानी, (३) क्या ऋण देने में सरकारी अधिनियम तथा सरकारी नीति का पालन किया गया है, (४) कॉरपोरेशन की कार्यशीलता को बढ़ाने के उपाय। हाल ही मे कॉरपोरेशन के अधिनियम मे संशोधन किये गये है।

कम्पनी तथा सहकारी संस्थाओं को ऋण देने की शर्तें—

(१) अचल सम्पत्ति को खरीदने के लिए जो ऋण दिया जायेगा उसके लिए अचल सम्पत्ति पर कॉरपोरेशन का पहला अधिकार होगा।

(२) कम्पनी के संचालकों को ऋण का सही व्यय करने के लिए जमानत देनी होगी।

(३) जिन कम्पनियों को ऋण दिया जायगा उनमे कॉरपोरेशन दो संचालक नियुक्त कर सकेगा।

(४) जब तक ऋण लेने वाली कम्पनी ऋण का पूर्ण भुगतान न कर देगी तब तक लाभांश ६ प्रतिशत से अधिक न दे सकेगी।

(५) ऋण की अवधि अभी १५ वर्ष रखी गई है, किन्तु साधारण तौर पर वह १२ वर्ष ही रहेगी।

(६) ऋण का भुगतान समान प्रभागों में किया जायगा। प्रभाग की राशि कॉरपोरेशन तथा ऋण लेने वाली कम्पनी के आपस के समझौते के अनुसार निश्चित होगी।

(७) जो सम्पत्ति कॉरपोरेशन के पास रखी जायगी, उसका बीमा करवाना आवश्यक होगा।

(८) ऋण का सही उपयोग करवाने के लिए कॉरपोरेशन आवश्यक कदम उठा सकेगी।

(९) कॉरपोरेशन को कम्पनी की किसी भी समय जांच करने का अधिकार होगा।

औद्योगिक वित्त निगम की प्रगति
(Progress of the Corporation)

करोड रु० ही दिया जा सका। अस्वीकृति के कारणों को २ भागों मे बांटा जा सकता है।

(१) तात्रिक (२) साधारण।

तात्रिक कारणों से अशुद्ध वित्तीय योजनाएँ जो कि अल्प पूँजी करज पर आधारित हो, वही खाते के सिद्धान्तों के अनुसार हिसाव न रखा हुआ हो या अश पूँजी का विधानानुकूल वितरण न किया गया हो। साधारण कारणों मे हम निम्न दोषों को गिन सकते हैं। जैसे कंपनी का (१) अस्वाभाविक प्रवर्तन एव विकास (२) उत्पादनशील एवं राष्ट्रीय हितों के अनउपयुक्त व्यवसाय (३) कच्चे माल की अपर्याप्तता (४) उत्पादन के बाजार का शिथिल भविष्य आदि।

अस्वीकृति उस समय दुर्भाग्यपूर्ण होती है जव ऋण उन संस्थाओं को दिया जाता है जो राजनीतिक अथवा अन्य प्रभावों के कारण धन प्राप्त करती है और यथार्थ आवश्यकता वाले उद्योग वंचित रह जाते है। इसीलिए ससद मे इसकी काफी आलोचना हुई। वित्त मत्री ने सर्व श्रीराम के विचारो से सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा कि निगम के व्यापार को एक निश्चित स्थिति मे पहुँचाने का प्रयत्न किया जा रहा है और अपने इन १२ वर्षो के अनुभव से निगम ने जो कुछ सीखा है उससे आशा की जा सकती है कि भविष्य मे निष्पक्षतापूर्ण कार्य किया जा सकेगा। अन्य वितरण की दशाओं मे निगम ने औद्योगिक परिषद की सहायता से ऋण प्रार्थी का स्थिति की जाँच करनी प्रारम्भ कर दी है।

ऋण का वितरण—निगम ने पिछले ५ वर्षों मे ४७·४४ करोड रु० का ऋण देने की स्वीकृति दी है और पिछले १० वर्षो मे ६३ करोड की स्वीकृति दी। सन् १९४८-५३ तक की प्रगति अधिक रही है। इससे ज्ञात होता है कि पिछले ११ वर्षों मे निगम ने अपने कार्य को बढा दिया है। सन् १९५६ में सबसे अधिक ऋण प्रदान करने की स्वीकृति दी गई है किन्तु अगले वर्ष मे यह स्वीकृति क्रमशः कम होती गई है। जहाँ तक ऋण वितरण का प्रश्न है उसमे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। सन् १९५७ की अपेक्षा १९५८-५९ मे ऋण वितरण की उपस्थिति उद्योगों के पक्ष मे रही।

राज्यों के अनुसार ऋण वितरण—सन् १९५८ तक निगम द्वारा राज्यों को ६२·९० करोड रु० के ऋण की स्वीकृति दी गई। यह स्वीकृति १८५ उद्योगों को मिली जिसमे सबसे अधिक ऋण बम्बई के ५८ उद्योगों को (१९·७० करोड़ रु० की स्वीकृति) दिया गया। दूसरा नम्बर मद्रास का आता है जिसमे १९ उद्योगों को ८·५७ करोड रु० की स्वीकृति दी गई। राजस्थान के ३ तीन उद्योगों को ७५ लाख रु० मिला।

उद्योगों के अनुसार ऋण वितरण—अपनी १९५८-५९ की रिपोर्ट में निगम

ने उद्योगो को निम्न प्रकार से ऋरण दिया है । (आधार वर्ष सूचनांक १००)—१९५५-५६ मे १२२·१, १९५६-५७ में १३२·६, १९५७-५८ मे १३७·१, १९५८-५९ मे १४०·३ । उत्पादन की वृद्धि का कारण विदेशी विनियोग के लिये मुद्रा की कमी रही है जिसके कारण निगम मे कई आवेदन पत्रों को रोकना पडा अथवा अनुज्ञा पत्रो पर प्रतिबन्ध लगाने पड़े । इन वर्षों मे सबसे अधिक ऋरण सूती वस्त्र (९·०८ करोड), दूसरा नम्बर रसायनिक उद्योगों को मिला (७·६६ करोड) । तीसरा नम्बर कागज उद्योग का आता है जिसे ५·७२ करोड की स्वीकृति दी गई ।

ऋरण-प्राप्त उद्योगों का विकास—सन् १९५७ में खाद्यान्न उद्योगो मे काफी वृद्धि हुई है । चीनी मे ८ लाख टन से अधिक की वृद्धि हुई । किन्तु खाद्यान्न उद्योगों में १९५८-५९ मे विशेष प्रगति न हो पाई । वस्त्र उद्योगो मे १९५६-५७ की अपेक्षा १९५७-५८ मे करीब १० लाख गज कपडे की वृद्धि हुई । फलस्वरूप सन् १९५७ मे २·३ करोड रु० भारत को अधिक मिले । द्वि० प० यो० मे वस्त्र उद्योग के उत्पादन की आशा की गई है । कागज उद्योग मे सन् १९५७ में ५६ के अपेक्षा ६६०० टन की अधिकता रही किन्तु १९५८ मे वृद्धि केवल ४९०० टन की ही हुई । रबड के उत्पादन मे १९५७ की अपेक्षा १९५९ में दुगना उत्पादन हुआ । द्वि० प० यो० मे ११·८० लाख टन के उत्पादन का अनुमान है ।

अनुमानतः रासायनिक उद्योगों मे ३००% की वृद्धि की आशा की जाती है । अन्य रासायनिको मे केवल १८% की वृद्धि को ही आँका गया है । सीमेंट तथा लोह उद्योग भी प्रगति पर है और आशा की जाती है कि तृतीय पंचवर्षीय योजना के पूर्ण होने पर देश इनमे आत्म-निर्भर हो जायगा ।

नये और पुराने उद्योगों के अनुसार—जून १९५९ तक १०३ नये उद्योगों तथा ८२ पुराने उद्योगो को निगम के द्वारा ऋरण देने की स्वीकृति दी गई है । १९५८ तक पुराने उद्योगों के १११ आवेदन-पत्र स्वीकृत किये गये और उन पर २१·९२ करोड रु० की स्वीकृति दी गई । नये उद्योगों के १७० आवेदन पत्र आये और उन पर ४०·९९ करोड़ की स्वीकृति दी गई । इस प्रकार निगम द्वारा १८·५ उद्योगो के २८% आवेदन पत्रो पर केवल ६२ करोड़ ९० लाख रु० के ऋरण की स्वीकृति प्रदान की गई है । यह ऋरण १० वर्षों के लिये ही दिया गया है ।

ऋरण देने की पद्धति—निगम के ऋरण देने की पद्धतियो को ४ भागो मे बाँटा जा सकता है । ऋरण की अवधि ब्याज की दर, ऋरण की शर्तें, ऋरण के भुगतान की क्रिया । ऋरण देने मे निगम ने निम्नलिखित अधिकार सुरक्षित रखे हैं—

(१) गिरवी के ५०% तक ही ऋरण दिया जायेगा ।

(२) गिरवी के साथ २ कंपनियों के प्रबन्ध अभिकर्ता की प्रत्याभूति आवश्यक होगी ।

(३) आवेदक कंपनी की आर्थिक स्थिति तथा व्यापारिक भविष्य के बारे मे निगम जानकारी प्राप्त कर सकेगा।

(४) आवेदक कपनी की कमाने की शर्तें तथा ऋण लेने की क्षमता का अनुमान लगाना आवश्यक होगा।

(५) अंशों के हस्तांतरण पर प्रतिबन्ध लगाना।

(६) कंपनी ६% से अधिक लाभाश नही बाँट सकती।

(७) गिरवी कपनी की सपत्ति का बीमा करवाना आवश्यक होगा।

(८) निगम कंपनी की व्यवस्था के लिये २ संचालक नियुक्त कर सकेगा।

(९) कपनी को अपनी प्रगति का आलेख क्रमिक रूप से देना होगा।

(१०) आवश्यकता पडने पर निगम कपनी के प्रबन्ध का अधिकार ले सकता है।

(११) निगम रहन पडी हुई संपत्ति को आवश्यकतानुसार बेच सकता है।

(१२) किश्तों के भुगतान की शर्तें पहले ही की जायगी।

ऋण की अवधि—नियमानुसार ऋण की अवधि १५ वर्ष की है किन्तु अब तक जो भी ऋण दिये गये है उनकी अवधि अधिक से अधिक १२ वर्ष रही है। सामान्य रूप मे निगम २५ वर्ष तक ऋण दे सकता है। ऋण को चुकाने की किश्ते पहले ही तय कर दी जाती है और उनका निश्चित समय भी तय किया जाता है। यदि किश्तें ठीक प्रकार से चुकाई गई तो उस पर ½% की छूट देने की व्यवस्था है।

ब्याज की दर—प्रारम्भ मे निगम द्वारा ५ से ५½% का ब्याज लिया गया। यह दर सन् १९५२ तक रही। इसमे बट्टे की दर ½% रही। सन् १९५३ में इस दर को ६½% कर दिया गया और बट्टे की दर ½% रही। १९५७ मे ब्याज दर ७% कर दी गई किन्तु बट्टे की दर में कोई अन्तर नही आया। ब्याज की दर की कडी आलोचना हुई किन्तु औद्योगिक विकास एव निगम के बट्टे में बढ़ते हुए कार्य भार को देखते हुए इस दर को लिया जाना आवश्यक समझा गया। ½% बटाव दे देने पर दर ६½% ही रह जाती है।

ऋण के भुगतान की क्रिया—निगम ने अलग-अलग ब्याज की दरो के अनुसार ७·३ करोड रु० कमाया है किन्तु उसमें से केवल ६·९४ करोड हीं प्राप्त हो सका। इस प्रकार प्राप्त न किया जाने वाला ब्याज कुल ब्याज का १४% रहा। नीचे दी गई तालिका से ज्ञात होगा कि भुगतान के कुल योग की प्रगति किस प्रकार रही तथा उसमें प्रति वर्ष किस प्रतिशत मे हानि होती रही है।

वर्ष	दूसरा प्रारम्भ से कुल योग	प्रारम्भ से कुल प्राप्ति	दूसरे, तीसरे खाने के अन्तर का %
१९५६	२८०.८६	२६२'६१	६'४%
१९५७	३७३'२४	३६४'३८	२'७%
१९५८	५१४'६७	५०७'०२	१'७%
१९५९	७०३'२२	६९३'२८	१'४%

इस प्रकार यद्यपि अन्तर क्रम रूप से कम होता जा रहा है किन्तु मूल पूंजी के भुगतान में % का अन्तर काफी अधिक है १९५७ में यह अन्तर ८'४% था। १९५८ में ९'१%, १९५९ में ५'४%, ब्याज की दर से मूल पूंजी के भुगतान में अन्तर की दर अधिक है।

सिफारिशें—(प्रशासन एवं सगठन)

(१) निगम का सगठन स्वायत्त प्रणाली पर किया जाना चाहिये किन्तु उसकी गतिविधियों पर मन्त्रालय की अपेक्षा ससद का नियन्त्रण आवश्यक है।

(२) जिस व्यक्ति को सगठन का प्रमुख बनाया जाय उसकी स्वीकृति संसद से ली जानी आवश्यक हो।

(३) ऋण के वितरण के लिये पूर्व निर्धारित नीति के अनुसार योजना बनाई जानी चाहिये।

(४) निगम के द्वारा किए जाने वाले ऋण का वितरण इस प्रकार किया जाना चाहिये जिससे अन्य वित्तीय निगमो की कार्य विधि मे अवरोध न आये।

(५) निगम के भिन्न भिन्न विभागो मे विभाजित करके उनका कार्य क्षेत्र निर्धारित कर दिया जाय।

(६) सुविधा के लिये जिससे ऋण के वितरण मे किसी प्रकार का विलम्ब न हो निगम के प्रमुख को अधिनियम के अन्तर्गत आवश्यक अधिकार दिए जाने चाहिये।

(७) वितरित ऋण की आलेख अथवा प्रत्याय (Return) त्रैमासिक अथवा अर्धवार्षिक निकाले जाने चाहिये और उन पर विचार के लिए ससद मे आवश्यक समय नियत कर दिया जाना चाहिये।

कार्य-प्रणाली—

(८) आवेदनकर्ताओं से प्राप्त ऋण आवेदनो की एक विशेषज्ञ समिति के द्वारा जांच करवानी चाहिये।

(९) ऋण देने मे विलम्ब न हो इसलिये विशेषज्ञ समिति का गठन स्थाई कर दिया जाना चाहिए।

(१०) ऋण देने से पूर्व ऋण प्रार्थी कंपनी की वास्तविक स्थिति का सही

मूल्यांकन किया जाना आवश्यक है और उन आलेखों कीवित्त मन्त्रालय द्वारा गम्भीरता पूर्वक जाँच की जानी चाहिये। ऋण आवश्यकता एवं उपयुक्तता के अनुसार ही दिये जाने चाहिए।

(११) निगम को ऋण की राशि एव अवधि में बिना ससद की आज्ञा के परिवर्तन नही करना चाहियें किन्तु उन अवस्थाओं मे जब इस प्रकार का परिवर्तन उद्योग एव राष्ट्र के हितानुकूल हो मन्त्रणालय की आज्ञा द्वारा परिवर्तन किया जाना उचित होगा परिवर्तन अधिनियम की धाराओं के अन्तर्गत ही होना चाहिये।

(१२) ऋण के क्षेत्र को बढाने के लिये निगम को ऋण प्रार्थी कपनी को विशेष तान्त्रिक एव प्रबन्ध सम्बन्धी सहायता देनी चाहिये।

(१३) जिन उद्योगों को निजी क्षेत्र प्रारम्भ करने मे हिचकता हो, अथवा जो National Development Council के द्वारा प्रारम्भ किया जा रहा हो उन्हे निगम का यथोचित आर्थिक योग दिया जाना चाहिये और यदि सम्भव हो सके तो यह योग बिना ब्याज के होना चाहिये।

नीति—

(१४) निगम को सभी प्रकार की वित्तीय सस्थाओं के साथ मे योग तथा समन्वय स्थापित कर अ० भा० स्तर पर औद्योगिक विलय नीति को अपनाना चाहिये।

(१५) निगम नीति सामान्य रूप मे लाभ कमाने की नही अपितु सहायता देने की होनी चाहिये।

(१६) जो उद्योग अविकसित हो और निगम के क्षेत्र मे नही आते हों उन्हे राज्य वित्तीय निगमो के द्वारा निगम को सहायता दी जानी चाहिए।

(१७) निगम को R. Bank के साथ भी आवश्यक समझौता करना चाहिये जिससे लघु अथवा कुटीर उद्योगो का विकास किया जा सके। इसके लिये भारत मे यद्यपि एक अलग निगम की स्थापना की जा चुकी है फिर भी देश का प्रमुख निगम होने के नाते इसको भी इस दिशा मे पथ प्रदर्शक के रूप मे कार्म करना चाहिये।

निगम की त्रुटियाँ एव अनुभव—निगम के कार्यारम्भ करने के पश्चात् अनुभवहीनता एवं तान्त्रिक अज्ञानता के कारण उसके कार्य मे निम्न त्रुटियाँ रहीं—

(१) निगम युद्धोत्तर औद्योगिक स्थिति का अनुभव नही लगा पाया इसलिए उसकी नीति मे लोच नही रही।

(२) योजनाएँ जो निगम के पास प्रस्तुत की गई उनका भावी सन्तुलन बिगडा किन्तु निगम इसका अनुमान नहीं लगा पाया।

(३) रहन रखी जाने वाली भूमि, सम्पत्ति या भवन का सही मूल्याकन नही किया गया।

(४) ऋण दिये जाने वाले उद्योगों की यान्त्रिक एव तान्त्रिक स्थिति का सही अनुमान नही लगाया गया।

(५) युद्धोत्तर काल मे अल्प पूँजीकरण के कारण उद्योगो की योजनाएँ अलाभप्रद रही किन्तु निगम ने उन्हे उसी रूप से स्वीकार किया।

(६) युद्ध के बाद पूँजी बाजार डाँवाडोल हुआ किन्तु निगम उसका सही रूप से अध्ययन नही कर पाया जिससे उसके मूलधन तथा व्याज के चुकारे मे क्षति पहुँची।

(७) कुछ कंपनियों की प्रत्यक्ष पूंजी ठीक थी परन्तु अभार अधिक होने के कारण उनकी वास्तविक स्थिति अच्छी नही थी और अपनी स्थिति को बढा चढा कर उन्होंने निगम से अच्छा ऋण प्राप्त किया।

(८) कपनी की कुछ योजनाओं मे उन्होंने अपनी आवश्यकताओं का कम अनुमान लगाया जिसके कारण निगम के वित्तीय योग देने पर भी उनकी स्थिति नही सुधरी।

(९) विदेशी मुद्रा के दुर्लभ हो जाने के कारण उद्योग के सारे अनुमान गलत हो गये जिसका पूर्व अनुमान नही लगाया गया।

(१०) Industrial Tribunal की सिफारिशो के कारण श्रम व्यय मे भी अधिक धन देने की आवश्यकता हुई और विनियोग करने वाली कंपनी संस्थाओं के सारे पुराने अनुमान समाप्त हो गये।

(११) निगम से ऋण लेने वाली कपनियों ने उद्योग की शान्तिकालीन व्यवस्था की ओर ध्यान नहीं दिया।

(१२) निगम द्वारा ऋणी सस्थाओं से अपनी योजनाओं तथा नियमों का पालन समुचित रूप से नही करवाया गया। इसलिये देश मे ऐसे बहुत कम उद्योग हैं जिसमे विवेकीकरण के सही स्वरूप को अपनाया जा सका है।

निगम की आलोचना—संसद के अन्दर तथा बाहर निगम की कार्यविधि तथा सगठन की व्यापक आलोचना हुई। उनमे से कुछ निम्नलिखित है—

(१) अन्य देशो के समान भारतीय उद्योगों की पूरी तरह सेवा नहीं कर सका क्योंकि उसने अपने कार्य मे कई 'अनियमितताएं' की है।

(२) निगम को पक्षपात तथा द्वेष पूर्ण नीति के लिए दोषी ठहराया गया।

(३) इसका ऋण केवल सार्वजनिक तथा सहकारी सस्थाओं को ही मिलता है जिससे अन्य सस्थाएँ वंचित रह जाती हैं।

(४) निगम क्योंकि सरकार के अधीन है इसलिये जिन पूंजीपतियों का सरकार पर प्रभाव है वे निगम को अपनी इच्छा के अनुसार चलाते हैं।

(५) निगम पिछड़े उद्योगों तथा राज्यो के अविकसित उद्योगो को समुचित सहायता नही दे पाया।

(६) अधिकांश उन उद्योगों को योग दिया गया है जो पहले से ही व्यवस्थित थे और जिनको सहायता की जानी चाहिये थी उनकी नहीं हुई।

(७) उन उद्योगों को भी सहायता दी गई है जो द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत नहीं आते। इस प्रकार आधारभूत उद्योगों को अधिक योग न मिल कर उपभोगों के उद्योगों को अधिक योग मिला।

(८) ऋणी कंपनी की गतिविधियों पर पूरा नियन्त्रण नहीं रखा जाता।

(९) निगम की गतिविधियों पर पूरा नियंत्रण नहीं रखा जाता।

(१०) निगम किसी भी अंश पूंजी में योग नहीं देता।

(११) निगम उस कंपनी को ऋण देता है जो पहले से ही अच्छा लाभ कमाती है और खुले बाजार में भी ऋण प्राप्त कर सकती है।

(१२) निगम की प्रबन्ध व्यवस्थाओं में भी अनेक त्रुटियाँ बताई गई हैं और कहा गया है कि उसमें व्यवस्था व्यय के नाम पर अपव्यय किया जाता है।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 Explain the organisation and working of Industrial Finance Corporation.

2 Are critics justified in their charges levies against the I. F. C.? Give your arguments

3 Explain the difficulties that are being faced by the I. F. C. during these years and give suggestion for making it more useful to Indian industries

4 How far do you think the establishment of the I. F. C. has been able to remove the drawbacks in the growth of industrialisation in the country.

5 Explain the procedure of loan disbursement by the I F. C. How the procedure has been classified ?

राज्य एवं अन्य वित्तीय निगम

(State and Other Financial Corporations)

राज्य वित्तीय निगम
(State Financial Corporations)

जिस प्रकार सन् १९४८ मे औद्योगिक अर्थ-संस्था का जन्म बडे-बडे उद्योगों को आर्थिक सहायता देने के लिये हुआ, उसी प्रकार अलग-अलग राज्यो मे उद्योगों को सहायता पहुँचाने के लिये राज्य आर्थिक-संस्थाओं का जन्म हुआ। इस उद्देश्य से सितम्बर १९५६ मे State Finance Corporation Act संसद मे पास किया गया। इसके लागू होने पर जम्मू तथा काश्मीर को छोड़ कर समस्त भारत के राज्यो को इस प्रकार के Finance Corporations की स्थापना करने का अधिकार प्राप्त हो गया। ये कॉरपोरेशन छोटे-बडे हर प्रकार के उद्योगो को आर्थिक योग दे सकते हैं। केन्द्रीय तथा राज्य आदि संस्थाओं मे आर्थिक योग देने के लिये पूर्ण रूप से सहकारिता है और इसीलिये उनके कार्यों मे किसी प्रकार की कठिनाई नही होती।

पूँजी—इन सस्थाओं की पूँजी राज्य सरकारों द्वारा निश्चित की जायगी, जो कम-से-कम ५० लाख तथा अधिक-से-अधिक ५ करोड़ हो सकती है। जनता उस पूँजी का केवल $\frac{1}{4}$ भाग ले सकती है और शेप राज्य सरकार, रिजर्व बैंक तथा अन्य इसी प्रकार की सस्थायें ले सकती हैं। इन अंशों का हस्तातरण राज्य सरकारें, बैंको के अतिरिक्त (जो पहले बनाये जा चुके है) नही दिया जा सकता। तथा वे अश प्रन्यासित प्रतिभूतियो (Trustee Securities) की भाँति मानी जायँगी। राज्य सरकार लाभाश की प्रत्याभूति (Guarantee) केन्द्रीय सरकार के समझौते के अनुसार दे सकेगी। लाभाश ५% से अधिक नही दिया जा सकेगा और शेप भाग राज्य सरकार को दे दिया जायेगा। ऋणपत्रों एव अनुबन्धो का निर्गमन संचित कोप के पाँचगुने से अधिक नही हो सकेगा। जन-निक्षेप कम-से-कम पाँच वर्षों के लिये रखे जायँगे और उनकी धन राशि प्रदत्त पूँजी से अधिक नही हो सकेगी।

प्रबन्ध—इसके संचालक-मंडल मे दस व्यक्ति होंगे, जिनमें से २ राज्य सरकार के द्वारा, १ रिजर्व बैंक के द्वारा, १ औद्योगिक अर्थ-पूर्ति निगम (*Industrial*

Finance Corporation) के द्वारा एवं ४ अनुसूचित तथा सहकारी बैंको एवं अन्य सस्थाओ द्वारा नियुक्त किये जायेंगे। १ प्रबन्ध संचालक राज्य के द्वारा ही नियुक्त किया जायेगा। यह सभा तीन व्यक्तियों की एक कार्यकारिणी का निर्वाचन कर सकती है और उसमे प्रबन्ध-सचालक अध्यक्ष रहेगा। सचालक-मण्डल अपनी सुविधा के लिये सलाहकार समिति का निर्वाचन कर सकता है। सचालक-मण्डल को राज्य सरकार की सूचनाये एव नियमो के अनुसार कार्य करना पडेगा।

इन सस्थाओं के अकेक्षण के लिये राज्य सरकार द्वारा अंकेक्षको की नियुक्ति कर दी जायगी तथा एक अकेक्षक अन्य संस्थाओ द्वारा भी भेजा जायगा। नियन्त्रण-कर्ता (Controller) तथा Auditor General of India अंकेक्षको को अपनी सलाह दे सकेंगे।

राज्य आर्थिक संस्थाओ को अपने प्रत्याय तथा अन्तिम लेखे राज्य सरकार तथा रिजर्व बैंक को भेजने होगे। इन संस्थाओ पर आय-कर सामान्य कम्पनियो की भाँति ही लगाया जायेगा। इन संस्थाओ का निस्तारण केवल राज्य सरकारो की आज्ञा द्वारा ही हो सकेगा।

कार्य—ये संस्थाये निम्न प्रकार के किसी भी व्यापार को कर सकती है: (१) औद्योगिक सस्थाओं को २० वर्ष के लिये ऋण देना तथा उतने ही समय के लिये किसी ऋण की प्रत्याभूति करना। (२) २० वर्ष के लिये ऋणपत्रो, अनुबन्धो आदि मे धन का विनियोग करना। (३) उद्योगो के अशो, स्कन्धो, ऋणपत्रो आदि का अभिगोपन करना। अभिगोपित अंश प्रतिभूतियो आदि को ७ वर्ष के अन्दर बिक जाना चाहिये। (४) कमीशन लेने का अधिकार, ऊपर लिखे गये कार्यो के अनुसार लिया जा सकता है। (५) अन्य कार्य, जो सरकार द्वारा अनुसूचित किये जायँ।

ऋण चल अथवा अचल सम्पत्ति की जमानत पर ही दिया जायेगा। यह सम्पत्ति सरकारी ऋणपत्र, प्रतिभूतियाँ अथवा स्वर्ण हो सकता है। किसी भी कम्पनी को १० लाख रुपये अथवा उसकी प्रदत्त पूँजी के १०% से, जो भी कम हो, अधिक नही दिया जा सकता। ये संस्थाएँ अपने धन का विनियोग किसी कम्पनी के अंशो मे नहीं कर सकती।

ऋण के भुगतान के लिये कुछ शर्ते रखी गई है और ऋण देने वाली संस्थाओ को उनका पालन करना आवश्यक होता है। यदि कोई संस्था उन शर्तो का उल्लंघन करे अथवा ऋण समय पर न दे तो कॉरपोरेशन को व्यापक अधिकार प्राप्त हैं।

राज्यों में अर्थ निगम की स्थिति—भारतवर्ष मे अभी तक १५ 'राज्य अर्थ निगम' खोले गये है। बम्बई के निगम की अधिकृत पूँजी ५ करोड, उत्तर प्रदेश की ३ करोड तथा अन्य निगमो को २ करोड के हिसाब से है। पूँजी का अनुपात

प्रायः सभी राज्यों में अधिनियम की सीमाओं में ही रखा गया है। पूँजी पर उत्तर प्रदेश में ३½% तथा अन्य राज्यों में ३% लाभांश देने की गारंटी दी गई है।

प्रबन्ध-व्यवस्था सभी राज्यों में समान सी है। राज्यों में संचालक सभाओं की सहायता के लिये कार्यकारिणी समितियाँ, जिनमें ३ से ५ सदस्य तक है, की स्थापना की गई है। कई राज्यों में सहकारी समितियाँ भी नियुक्त की गई है।

कार्य प्रगति—सन् १९५३ से निगमों का प्रारंभ हुआ और वे औद्योगिक संस्थाओं को तब से ही बड़ी मात्रा में ऋण देने लगे। १९५३-५४ में ऋण का वितरण केवल ३३ लाख रुपये था जबकि १९५७-५८ में ३ करोड़ ७१ लाख रुपया वितरित किया गया। १९५९-६० में इसमें शत प्रतिशत वितरण का अनुमान लगाया जाता है। किन्तु इस बदलते हुए प्रतिशत के साथ हमें यह भी देखना है कि विचाराधीन ऋण आवेदन पत्र भी वृद्धि की ओर हैं। सन् १९५३-५४ में केवल १०३ ऋण आवेदन पत्र विचाराधीन थे जबकि १९५७-५८ में उनकी संख्या ९५१ हो गई। इस प्रकार उसमें ९०० प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि वितरित ऋणों में केवल १००% की वृद्धि का ही अनुमान लगाया जाता है।

राज्यों के पुर्नगठन के अवसर पर सन् १९५६-५७ में राज्य निगमों का भी पुर्नगठन किया गया जिससे २ निगम कम कर देने पड़े। बम्बई और सौराष्ट्र का निगम बम्बई राज्य वित्तीय निगम के नाम से सम्मिलित किये गये और आन्ध्र तथा हैदराबाद के निगमों को आन्ध्र प्रदेश वित्तीय निगम नाम से स्थापित किया गया। आज देश के १५ निगम कार्य कर रहे हैं।

निगमों की व्यवस्था तथा कार्यशक्ति अभी तक अपनी आरम्भिक अवस्था में है। ऋण की इच्छा रखने वाले सभी उद्योगों की पूर्ति नहीं कर सकते। उनको आवेदन पत्रों को बहुत बड़ी मात्रा में अस्वीकार करना पड़ता है। फलस्वरूप उद्योगों को आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड रहा है। निगम को उद्योगों का सर्वांगीण विकास करने की व्यापक सुविधा का बनाना आवश्यक है। इसलिये लाल फीता शाही, पक्षपात पूर्ण रवैया एवं योजनाओं का अदूरदर्शितापूर्ण संपन्न करना रोक दिया जाना चाहिये।

सूचनाओं के अनुसार यह देखा गया है कि यद्यपि निगमों को विधानानुसार ऋण देने में अत्यंत सतर्क रहना पड़ता है और वे एक निश्चित योजना के अनुसार ही ऋण देते हैं किन्तु औद्योगिक संस्थाएँ या तो इस प्रणाली को समझ नहीं पाई हैं अथवा जान बूझ कर आवश्यक सूचनाओं को नहीं देती है। इसके कारण निगमों को उन औद्योगिक संस्थाओं को भी ऋण देने में कठिनाई होती है जिनको ऋण दिया जाना अत्यंत आवश्यक है और कई बार राजनीतिक प्रभाव के कारण भी ऋण देने में पक्षपात अथवा अनियमितता हो जाती है। इन बातों को ध्यान में रखते

हुए अ० भा० आधार पर इस प्रकार की योजना बनाई जानी चाहिये जिससे ऋण शुद्धतः पूर्ण आर्थिक एवं तान्त्रिक आधारों पर ही दिये जायँ।

ऋण की शर्तें—(१) ऋण १०-१२ वर्षों के लिये दिया जाकर उसका भुगतान निश्चित किश्तों में किया जायगा।

(२) ब्याज की दर ७ प्रतिशत होगी उसे उसका नियमित रूप से भुगतान आवश्यक होगा।

(३) ऋण आवेदन पत्रों की स्वीकृति का आधार निम्नलिखित होगा।

उद्योग की आर्थिक स्थिति लाभ लाभ प्राप्त करने की शक्ति ब्याज तथा मूल धन चुकाने की क्षमता प्रबन्ध एवं व्यवस्था करने की योग्यता नवीनता लाने के साधन एवं उनकी उपयुक्तता बाजार की साख, सपत्ति की स्थिति तथा उसका अधिकार।

(४) ऋण सपत्ति को प्रथम वैधानिक प्राधि पर ५ प्रतिशत का ब्याज दिया जायगा।

(५) ऋण की राशि उद्योगों की स्थिति पर दी जायगी किन्तु वह १० लाख रुपया से अधिक नहीं होगी।

निगमों की व्यावसायिक कठिनाइयाँ—भारतवर्ष में प्रायः सभी निगमों को एक ही प्रकार की कठिनाइयाँ है; जैसे—

(१) अपनी प्रारम्भिक स्थिति में होने के कारण यह उद्योगों की आर्थिक व्यवस्था का यथोचित प्रबन्ध नहीं कर पाते और उनका अभी तक विशेष औद्योगिक अनुभव भी प्राप्त नहीं हुआ है।

(२) ऋण लेने वाली कम्पनी की संपत्ति का अनुमान लगाना इनके लिये प्रायः कठिन होता है।

(३) ऋण देने वाली सस्थाएँ अपने बही खातों को शुद्ध सिद्धान्तों के आधार पर नहीं रखती और कई बार इनको अकेक्षित भी नहीं करवाया जाता।

(४) जिन उद्योगों का विकास अनिश्चित अथवा नये अनुभवों पर आधारित होना है उनको ऋण देना प्रायः कठिन होता है क्योंकि उनकी योजनाओं का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

(५) ऋण लेने की इच्छुक सस्थाएँ कभी इतनी छोटी होती है कि वे ऋण की शर्तों को पूरा नहीं कर सकती।

(६) एकाकी अथवा साझेदारी संस्थाएं जो कुछ ही व्यक्तियों की कुशलता पर चलती है उन्हें ऋण देना जोखिम से खाली नहीं होना।

(७) ऋण लेने वाली संस्थाएं ऋण की शर्तों को पूरा नहीं करती इसलिये उनकी अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति प्रायः कठिन होती है।

(८) अधिकांश राज्य निगमों में तान्त्रिक विशेषज्ञों का अभाव है जिससे वे ऋण आवेदन पत्रों के अनुसार सही मूल्यांकन नहीं कर सकते।

(९) कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिये निगमों को कई बार अपनी योजना के विरुद्ध जाना पड़ता है।

(१०) निगम प्रसाधनों की कमी के कारण उद्योग की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ रहते हैं और पूंजी बाजार की स्थिति गिरने के कारण यह कठिनाई और भी बढ गई है।

(११) आय कर की दर में वृद्धि हो जाने के कारण निगमों की बहुत बड़ी राशि आय कर में चली जाती है जिससे उनकी आर्थिक व्यवस्था पर विषम प्रभाव पड़ता है और राज्य सरकारें उस प्रभाव से दबी रहती हैं।

राज्य वित्तीय निगम अधिनियम तथा क्रमिक संशोधन—निगम अधिनियम को बनाने के पश्चात उसकी आलोचना अदूरदर्शितापूर्ण तथा अव्यावहारिक के रूप में हुई है। यह अधिनियम सन् १९५१ में पारित किया गया जिसमें राज्यों को अपनी सुविधानुसार राज्य निगमों को प्रारंभ करने की अनुमति दी गई है। किन्तु उनकी कार्य प्रणाली में अनेक कठिनाइयों के कारण १९५६ में एक संशोधित बिल संसद में प्रस्तुत किया गया और ११ अक्टूबर १९५६ में वह निम्न संशोधनों के साथ पारित किया गया—

(१) २ या २ से अधिक राज्यों के द्वारा राज्य वित्त निगमों की स्थापना करना अथवा किसी वित्तीय निगम की स्थापना करना अथवा किसी वित्तीय निगम के क्षेत्र को एक राज्य से दूसरे राज्य तक बढ़ाना।

(२) रिजर्व बैंक को वित्तीय निगमों की कार्य प्रणाली का निरीक्षण करने का अधिकार देना।

(३) रिजर्व बैंक की सलाह पर सरकारें वित्तीय निगमों को नीति सम्बन्धी आदेश दे सकती है।

(४) राज्य सरकार Schedule Bank या राज्य सरकारी बैंक की प्रत्याभूति पर निगम को ऋण दे सकेगी।

(५) केन्द्रीय राज्य या औद्योगिक वित्त निगम का प्रतिनिधित्व राज्य वित्त निगम अपने राज्य में कर सकेगो। यह प्रतिनिधित्व उपर्युक्त संस्थाओं को दिये गये ऋण के बारे में होगा।

(६) निगम Reserve Bank से ऋण ले सकेंगे।

(७) यदि कोई ऋणी नियमित रूप से मूल ऋण के प्रभाग अथवा ब्याज नहीं चुका सकेगा तो निगम उसके प्रबन्ध का अधिकार अपने अधीन कर सकेगा।

राज्य निगमों में आवश्यक सुधार—राज्य निगमों के आज तक के कार्य

से ज्ञात हुआ कि उनके द्वारा दिया जाने वाला ऋण औद्योगिक संस्थाओं को काफी मँहगा पड़ता है। अपने अंशधारियों को ३½% प्रत्याभूति लाभांश देने के लिये निगमों को ब्याज की दरें ६ से ७% तक रखनी पड़ती है फिर ऋणी को रजिस्टरी का व्यय टिकिट आदि का व्यय जो करीब ३% हो जाता है करना पड़ता है जिसमें ऋण का ब्याज ६ से १०% तक पहुँच जाता है। इसलिये छोटी संस्थाएँ साहूकारों के पास जाना पसंद करती हैं क्योंकि वहाँ अधिक शिष्टाचार की आवश्यकता नहीं होती और प्रारंभिक ब्याज में भी विशेष अन्तर नहीं आता। पंजाब में टिकिट आदि का व्यय छोड़ दिया गया है। इसलिये अन्य राज्यों को भी इस पद्धति को अपनाना चाहिये।

पंचवर्षीय योजना में उद्योगों की सामान्य औजार सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये रुपया सरकार द्वारा न दिया जाकर निगमों के द्वारा दिया जाना चाहिये। कर्वे कमेटी ने भी इस आशय की सिफारिश की है और लघु उद्योगों के लिये अन्तर्राष्ट्रीय योजना के विशेषज्ञों ने भी इसी प्रकार की शिफारिश की है। यदि उद्योग बहुत ही छोटे हों तो उनके लिये अलग अलग विभाग खोल दिया जाना चाहिये।

मतभेद तथा पक्षपात की नीति का राज्य निगमों में कोई स्थान नहीं होना चाहिये। आज तक इन निगमों के ५ सम्मेलन हुए हैं किन्तु इस विषय पर गंभीरता से विचार नहीं किया गया। और पक्षपात् के जो आरोप प्रमाण सहित आते हैं उनकी निष्पक्ष जाँच करवायी जानी चाहिये। राज्य सरकारों को निगमों की कार्य प्रणाली में उसी समय हस्तक्षेप करना चाहिये जब उनमें सैद्धान्तिक त्रुटियाँ हों। राजनीतिक दृष्टिकोण से सरकारी हस्तक्षेप दुर्भाग्यपूर्ण है।

यद्यपि राज्य निगमों तथा औद्योगिक वित्त निगमों के ऋण देने के क्षेत्र निर्धारित हो गये हैं किन्तु भुगतान एवं ऋण वसूल करने की अड़चनों के लिये उचित नियम बनाये जाने चाहियें और यह तभी संभव हो सकता है जब ऋणी संस्थाओं की कार्य प्रणाली पर निगमों के द्वारा पूरा नियंत्रण किया जा सके।

जहाँ तक रहन का प्रश्न है निगमों को यह विचार करना चाहिये कि उनको अधिकांश रूप से उन्हीं उद्योगों को ऋण देना होता है जिनकी स्थिति डांवाडोल हो। इसलिये न तो Land Mortgage Bank की तरह कठोर हो सकते हैं और न धन की वापसी के विचार को छोड़ सकते हैं। इसलिये निगमों को सामूहिक रूप से अपने अनुभवों के अनुसार सामूहिक नीति बनानी चाहिये जिससे उनकी धन राशि सुरक्षित रह सके। Reserve Bank of India ने इसमें महत्वपूर्ण योग दिया है उसकी अग्रिम योजनाएँ इस दिशा में हितकर सिद्ध हो सकती हैं।

अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋणों की भी उचित व्यवस्था की जानी चाहिये जिससे उनका वाणिज्य बैंकों से संघर्ष न हो और कुछ इस प्रकार की योजनायें

बनाई जानी चाहिये जिससे वाणिज्य में लगे हुए बैंक भी नियन्त्रित किये जा सकें और वे निगमों के कार्यों में सहायक सिद्ध हों। सामान्य रूप से निगमों को अपनी शक्ति दीर्घकालीन ऋण में लगानी चाहिये और अन्य ऋणों के लिये नियंत्रित वाणिज्य बैंकों को कार्य करना चाहिये।

(२) औद्योगिक साख तथा विनियोग निगम
(Industrial Credit and Investment Corporation)

सन् १९५४ में अमरीकी सरकार तथा विश्व बैंक के तत्वावधान में तीन व्यक्तियों का मिशन भारतीय उद्योग तथा आर्थिक स्थिति का अध्ययन करने के लिये भारतवर्ष में आया। इसने निजी क्षेत्र में वित्तीय व्यवस्था एवं सुधार के लिये भारत सरकार को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की और उसके आधार पर इस निगम की स्थापना की गई।

निगम की स्थापना करने के लिये पाँच व्यक्तियों की एक स्टेयरिंग समिति का निर्माण किया गया जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका, यू० के० तथा विश्व बैंक के व्यक्ति सम्मिलित थे। इस समिति ने ५ जनवरी १९५५ को इस निगम की स्थापना निजी सीमित कम्पनी के रूप में की।

विशेष्य भी इसमे सम्मिलित किये जायँ तो केन्द्रीयकरण की समस्या का समाधान सुविधापूर्वक हो सकता है।

अतिरिक्त धन की व्यवस्था—यदि निगम को अतिरिक्त धन की आवश्यकता हो तो वह २० लाख रुपया के अतिरिक्त अंशो का निर्गमन कर सकता है। इसके लिये ग्राम सभा की स्वीकृति आवश्यक होगी। इन अशो पर मताधिकार नही दिया जायगा किन्तु उन पर विशेषाधिकार देकर भुगतान मे उन्हे प्राथमिकता दी जा सकती है। विना ग्राम सभा की आज्ञा के पूर्वाधिकार अंशो से अधिक निर्गमित नही किये जा सकते किन्तु निगम को अशो के तिगुने ऋण लेने का अधिकार होगा। लाभाश बाँटने के समय २५% आकस्मिक व्यय के लिए संचय कोष में रखा जायगा। किन्तु यह योजना सन् १९६० के बाद ही प्रारम्भ की जा सकेगी। लाभाश देने मे सरकार द्वारा दिए गये ऋण तथा अन्य दायित्वों के पूर्व भुगतान की सुविधा का ध्यान रखा जा सकेगा।

प्रबन्ध व्यवस्था—निगम का प्रबन्ध ११ संचालको के संचालक मण्डल द्वारा किया जायगा। इसमे ७ सचालक विनियोक्ता के प्रतिनिधि एक केन्द्रीय सरकार द्वारा २ ब्रिटेन के विनियोक्ताओं द्वारा तथा एक अमेरिका के विनियोक्ताओ द्वारा नियुक्त किये जायेंगे। मण्डल की सहायता के लिए एक स्टेरिंग (Starring) समिति होगी। योजना के कार्यान्वित करने के लिए प्रबन्धक, सहायक प्रबन्धक तथा सचिव आदि भी नियुक्त किये जा सकेंगे।

केन्द्रीय सरकार के अधिकार—निगम पर नियंत्रण रखने के लिए केन्द्रीय सरकार ने व्यवस्था एव कार्य-क्रम सम्बन्धी अनेक अधिकारो को अपने पास रखा है। इन अधिकारो के विरोध मे अनेक दलीलें दी जाती हैं किन्तु जिस समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत इन नियमो का सस्थापन किया गया है उनमे यदि वित्तीय संस्थाओ पर सरकार का समुचित नियन्त्रण नही रहेगा तो देश के औद्योगिक विकास का पूरा होने मे कठिनाई आ सकती है और निगम का मूल उद्देश्य भी संभवतः समाप्त हो जायगा इसलिये सरकार के अधिकार आवश्यक प्रतीत होते हैं।

निगम का महत्व—प्रारम्भ से ही निजी क्षेत्र के लोग सरकार की औद्योगिक अर्थव्यवस्था की नीति के आलोचक रहे हैं उनके अनुसार सरकार ने निजी उद्योगो के साथ उचित व्यवहार नहीं किया है इसलिये देश के बड़े उद्योगपति विदेशो मे गये और वहाँ से इस नियम की स्थापना का श्रीगणेश किया गया और बाद को इसमे केन्द्रीय सरकार की सहायता की माँग की गई जो केन्द्रीय सरकार मे सहर्ष स्वीकार की है। संस्था का महत्व इस बात से ही ज्ञात हो जायगा कि अभी तक उसने २०.४० करोड रु० के ऋण की स्वीकृति दी है और उनमे ६५ औद्योगिक संस्थाओ को सहायता दी चुकी है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इसको ५५ करोड़ रु० व्यय करने का

अधिकार है। इसमे २०·२५ करोड वस्त्र एव जूट उद्योग तथा अतिरिक्त रुपया अन्य आधारभूत उद्योगो एवं नवीन उद्योगो के विकास मे लगाया जाता है। जहाँ तक कंपनी के प्रवर्तन का प्रश्न है निगम उनके लिए भी महत्वपूर्ण कार्य कर सकेगा क्योकि १९५६ के कंपनी कानून के पश्चात् प्रबन्ध अभिकर्ताओं की स्थिति अत्यन्त सीमित हो गई है और १९६० के बाद उसका अस्तित्व औद्योगिक रूप से समाप्त हो जायगा इसलिए औद्योगिक विकास के क्षेत्र मे निगम का अत्यन्त व्यापक स्थान हो गया है। वर्तमान स्थिति को देखते हुए स्पष्ट कहा जा सकता है कि निगम कुछ समय के बाद विनियोग प्रन्यास का रूप धारण कर लेगा जिससे देश की अर्थव्यवस्था मे काफी सहायता मिलने की आशा है।

निगम के जितने भी आलोचक हैं वे इस बात की आलोचना तो कर सकते है कि वह स्पष्ट रूप से पूँजीवादी व्यवस्था की प्रतीक है किन्तु उसके सफल होने का आरोप इसलिये गलत है कि एक तो यह नया प्रयोग है दूसरे अभी उसे कार्य करते हुए ६ वर्ष हुए है। विदेशो मे भी मुख्यतः अमेरिका मे इस प्रकार की जो सस्थाएँ कार्य कर रही है उनकी स्थिति भी इसी प्रकार की रही है।

कार्य प्रगति—निगम ने अपना कार्य सन् १९५५ मे प्रारम्भ किया और उस वर्ष मे उसने ११ आवेदन पत्र स्वीकार किये और २५ विचाराधीन रखे। ५ आवेदनपत्र अभिगोपन के लिये स्वीकृत किये गये। इसमे ५ लाख से १ करोड रु० तक की धन राशि सम्मिलित है। श्री रामास्वामी मुदालियर ने अभिगोपन के कार्य व्यवस्था पर सतोष प्रकट करते हुए कहा है कि निगम ने इस दिशा मे विशिष्ट कार्य किया है किन्तु स्कन्ध बाजार की अच्छी स्थिति न होने के कारण वह अपेक्षित कार्य नही कर सका।

१९५६ मे उसके पास सभी औद्योगिक क्षेत्रो के आवेदन पत्र आये और उसने २४ आवेदन पत्रो पर ६ करोड की राशि स्वीकृत की। किन्तु सन् १९५५ के समान इस वर्ष भी वितरण का कार्य प्रगति पर नही रहा। १९५७ मे निगम ने ४१ कपनियो को ११·६५ करोड रु० का ऋण देना स्वीकार किया। इसमें २·२१ करोड की विदेशी मुद्रा भी सम्मिलित है। इन ऋणो मे विश्व बैंक के योग का आधा रुपया व्यय हो जायगा। इस वर्ष में सन् १९५६ की अपेक्षा १६ नई योजनाओं को सहायता देने का निश्चय किया गया किन्तु खेद है कि इस वर्ष भी स्वीकृत किया गया ऋण पूर्ण रूप से वितरित नही किया गया और न विश्व बैंक की सहायता का ही लाभ उठाया जा सका।

सन् १९५८ मे निगम ने ४४ कम्पनियो को १३·३७ करोड के ऋण की स्वीकृति दी है। इस वर्ष मे २७ नई योजनाओ को योग देने का निश्चय किया गया।

सन् १९५५–५९ तक कुल २०·४० करोड के ऋण की स्वीकृति दी गई जिसमे से १०·२४ करोड़ ऋण तथा प्रत्याभूति के रूप मे ८·३० करोड़ अश ऋण पत्र

आदि के अभिगोपन मे तथा १'८६ करोड अंश तथा ऋणपत्रो मे सीधे विनियोग किये गये। सन् १९५९ में निगम मे ६'७४ करोड़ की विदेशी मुद्रा के ऋण स्वीकृत किये तथा रुपये के ९'५० करोड के ऋण स्वीकार किये। इस प्रकार विदेशी और देशी मुद्रा मे ६६% तथा ३४% का अनुपात रहा। सन् १९५८ में यह अनुपात ४८% तथा ५२% का था।

निगम का कार्य उपर्युक्त विवेचन को देखते हुए निरन्तर बढता जा रहा है। सन् १९५९ मे उसने २३ कंपनियों को विदेशी मुद्रा मे ऋण देने का वचन दिया है। अभिगोपन प्रत्याभूति तथा विनियोग मे ४'३२ करोड रु० लगाने का निश्चय किया है। इस प्रकार १९५५–५९ तक अभिगोपन मे ६'८० करोड का विनियोग किया गया।

निगम के प्रयत्न—निगम ने ऋण व्यवस्था मे सहायता देने के लिये जीवन बीमा निगम, औद्योगिक वित्त निगम, पुर्नवित्त निगम, राज्य वित्त निगम तथा वाणिज्य बैंको से सपर्क स्थापित किया है इस क्रिया से ऋण व्यवस्था मे सामजस्य लाने की सुविधा हो गई है। यदि वित्तीय संस्थाएँ आपस मे एक दूसरे की सहायक होकर कार्य कर सकें अथवा ऋण प्राप्त करने वालो की स्थिति से एक दूसरे को परिचित करवा सकें तो ऋण देने की क्रिया बडी सरल हो जाय और स्वीकृति तथा उसके भुगतान मे किसी प्रकार की रुकावट न आये। स्वीकृत राशि तथा यथार्थ भुगतान मे अभी तक कोई भी वित्तीय निगम स्वस्थ अनुपात नही रख पाया है। यह देश के विकास के लिये अनुचित ही कहा जायगा।

साख एव विनियोग निगम ने पूंजी बाजार को सुव्यवस्थित करने का भी प्रयत्न किया है। उसने अभिगोपिको तथा उपअभिगोपको को उत्साहित करके पूंजी बाजार का विस्तार बढाया है। इसके अलावा निगम विदेशी सस्थाओं जैसे अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम, सं० राज्य विकास वित्त कपनी U S. A. तथा जर्मनी के साथ भी वित्तीय सम्पर्क स्थापित करके देश की औद्योगिक साख को बढाने का प्रयत्न किया है।

देश मे वित्तीय सहायता के लिए बढ्ती हुई माग को देखते हुए निगम ने अपने श्रोतों को दुगना कर दिया है और केन्द्रीय सरकार से १० करोड तथा विश्व बैंक से ४'७६ करोड रु० का अतिरिक्त ऋण प्राप्त किया है। इस प्रकार निगम उद्योग की देशीय और विदेशी मुद्रा की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने मे भरसक प्रयत्नशील है।

१९५९ मे ५७ लाख रु० की आय हुई है किन्तु व्यवस्था व्यय, आय कर आदि की व्यवस्था करके १९५९ मे १९५८ की आय क्षेत्र ३·०१ लाख रु० की अधिक आय हुई है। १९५९ मे निगम को पूंजीगत लाभ मे भी १३·७३ लाख रु० का वास्तविक लाभ हुआ है जो कोष में ले जाया गया है।

राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (National Small Industries Corporation)—छोटे उद्योगों की आर्थिक सहायता के लिये सन् १९५५ में १० लाख की अधिकृत पूंजी से जिसे केन्द्रीय सरकार द्वारा चुकाया गया निगम की स्थापना हुई है। आज इसकी पूंजी ५० लाख रुपये हो गई है।

उद्देश्य—(१) छोटे उद्योगों को सतुलित रखना और उनका विकास करना (२) लघु उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की विक्रय सुविधा के लिये प्रयत्न करना (३) उनको विज्ञापन सुविधा देना (४) उद्योगों को तान्त्रिक सहायता देना (५) लघु उद्योगों को सहिकारता के आधार पर संगठित करना (६) उनको प्रबन्ध एवं व्यवस्था मे उचित मार्ग प्रदर्शन करना।

निगम के प्रयत्न—उनकी उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिये निगम ने १९५८-५९ तक अनेक विभाग खोले जैसे सरकारी क्रय विभाग विपणन विभाग, क्रय-क्रय विभाग, औद्योगिक विभाग योजना विभाग आदि इन विभागों के द्वारा उद्योगों को उनके उत्पादन से वतरण तक पूर्ण रूप से सगठित किया जाता है। इसके लिये सहायतार्थ संस्था निम्न कार्य कर रही है (i) विकास आयुक्त संगठन लघु उद्योग तथा सेवा संस्थाएँ (ii) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (iii) राज्य उद्योगों के सचालक (iv) State Bank of India तथा राज्य वित्तीय निगम। इन सब के सहयोग से उपर्युक्त विभाग अपनी योजनाएँ कार्यान्वित कर रहे हैं।

निगम की प्रगति—निगम ने १९५६ मे उद्योगों को वित्तीय सहायता देने का कार्य प्रारम्भ किया। १९५८ मे उसने ७६ लाख की मशीनें दी और १९५९ में *१.८४ करोड़ की मशीनों का भुगतान किया। आवेदन पत्रों की राशि को देखते हुए* १९५८ मे केवल १/५ भाग का ही भुगतान किया गया और १९५९ मे यह भुगतान २/७ रहा।

निगम ने U. S A. तथा अन्य देशों से भी सुविधायें प्राप्त करने के लिये संपर्क स्थापित किया। जिसके फलस्वरूप आज हमारे कुटीर उद्योगों की वस्तुएं दुनिया के बाजार मे अपना स्थान बना सकी हैं। निगम ने बाजार की दृष्टि से भारत को चार भागों मे बांटा है—

पश्चिम, पूर्व, दक्षिण और उत्तर। प्रत्येक क्षेत्र मे उपकार्यालय की स्थापना की गई है और वे कार्यालय अपने क्षेत्र मे प्रचार कार्य करते हैं फलतः १९५९ में इनका २½ लाख का व्यापार हुआ है।

निगम ने आगरा, बम्बई, कलकत्ता, खुरजा, अलीगढ आदि स्थानो में अपने डिपो खोले हैं। इनकी व्यापार प्रगति प्रतिस्पर्द्धा १९५७-५८ में ६.११ तथा ५८-५९ में १४.६७ लाख रही। इस प्रकार १९५९ तक इनकी व्यापार प्रगति २००% से भी अधिक रही है। वस्तुओं की अच्छाई को ध्यान में रखते हुए निगम ने निश्चित प्रभाव निर्धारित किये हैं और उद्योगों को माल उन्हीं प्रमापों के अनुसार बनाना पड़ता है।

उद्योगों की कार्य पद्धति अभी तक उस सीमा तक नही पहुँच पाई है जिससे उनमें सामंजस्य पैदा किया जा सके। अतः पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक फण्डो, Industrial estates बनाने का निश्चय किया गया है। इस योजना में ११ करोड रुपये का व्यय होगा और उनके विकास एवं संचालन का उत्तरदायित्व राज्य सरकारों पर होगा। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में दिल्ली तथा इलाहाबाद इन खण्डो का निर्माण किया गया है। इनके अन्तर्गत ३५ मिलें निर्माण कार्य कर रही हैं। अप्रैल १९५९ में उनका सम्पूर्ण प्रशासन द्वितीय खण्ड को दिया गया।

इन २ क्षेत्रों के अलावा भारत सरकार ने अन्य २ खन्डों को प्रारम्भ करने के लिये जापान तथा फ्रास की सरकारो से सम्बन्ध स्थापित किया है। १९५७ में जापान के प्रधान मंत्री ने भारत में ऐसे प्रशिक्षण केन्द्रों को चलाने का वचन दिया। इसमें एक केन्द्र की लागत ५० लाख रुपया आँकी गई है। १९५९ में फ्रास के विशेषज्ञों का एक दल लुधियाना में आया तथा उसने दक्षिण भारत के लघु उद्योगों का निरीक्षण किया। इसके लिये फ्रास की सरकार ५०-६० लाख रुपया देने को तैयार है। लघु उद्योगो को प्रोत्साहन देने के लिये सरकार अपनी आवश्यक वस्तुओ को इन्ही से खरीदती है और १९५५-५६ में उसने १ १३ करोड का माल खरीदा। रेलवे तथा अन्य सम्बन्धित संस्थायें भी निगम को सामयिक सहायता देती रहती हैं।

पुनर्वित्त निगम (Refinance Corporation)—अगस्त १९५६ में भारत सरकार तथा U. S A. के बीच एक समझौता हुआ जिसमें तय हुआ कि गेहूँ की बिक्री को २६ करोड़ रुपया की रशि अनुसूचित बैंको द्वारा दी जायगी। सन् १९५७ में इस विनियोग के लिये एक निगम की स्थापना की गई और १९५६ में कपनी कानून के अन्तर्गत इसको प्रायवेट लिमिटेड क रूप में स्थापित किया गया। निगम ने उद्योगों की मध्यकालीन आवश्यकताओं को पूरा करने का दायित्व लिया। निगम की अधिकृत पूंजी २५ करोड़ है १-१ लाख के २५०० अंश है अभी तक १२½ करोड की पूंजी निर्गमित की गई है जिसको Reserve Bank जीवन बीमा निगम तथा १५ बड़े अनुसूचित बैंको ने लिया है।

निगम के कार्य-क्रम—निगम का मुख्य उद्देश्य पंचवर्षीय योजनाओ मे सम्मिलित उद्योगों की वित्तीय व्यवस्था करना है। किसी व्यक्तिगत संस्था को ३ वर्ष

से कम और ७ वर्ष से अधिक अवधि का ऋण नही दिया जा सकता। ऋण की अधिकतम राशि ५० लाख रु० होगी। और यह उन्ही को मिलेगा जिनकी प्रदत्त पूँजी पाँच लाख से २½ करोड तक होगी। इसमें १५ अनुमूचित बंक साख की सुविधा का काम कर रहे है। इस सुविधा के विरोध मे अनेक चर्चाएँ है। सन् १९५८ के अत तक निगम ने ४ सदस्य बंक से १.९८ करोड के ७ आवेदन पत्र प्राप्त किये १.७८ करोड के स्वीकृत कर दिये गये। इसमे स्पष्ट है कि निगम के कोपो का शीघ्रता से उपयोग नही हो सका। कारण यह बताया जाता है कि निगम ने इस वर्ष विनियोग सीमाओं को कम कर दिया किन्तु वस्तु स्थिति विदेशी मुद्रा की कमी के कारण ही उत्पन्न हुई है।

१९५९ मे *निगम के कार्य का प्रारम्भिक पूर्व वर्ष था*। इस वर्ष ३ सदस्य बंकों से २.२३ करोड के १३ आवेदन पत्र प्राप्त हुए। एक पिछला आवेदन पत्र विचाराधीन था। उनमें से २.२५ करोड के १३ आवेदन पत्र स्वीकार किये गये। इसमे से २५ लाख रु० २ सदस्यो को दिये गये। १५५८-५९ तक ४.२१ करोड़ के आवेदनो पत्रों मे से ४.०३ के आदेश स्वीकार किये गये। ऋण मेगनीज, कपडा (सूती) उद्योग, बिजली मशीन, इजीनीयरिंग, खाद, चीनी, सीमेंट, भारी रसायन आदि उद्योगों को दिये गये। इस प्रकार १९५९ का वर्ष निगम के लिये महत्वपूर्ण रहा। इससे स्पष्ट है कि यह निगम अन्य द्वितीय निगमो के समकक्ष कार्य कर सकता है।

इसके ऋण मे यह महत्वपूर्ण बात अवश्य है कि (१) ऋण केवल ३ से ७ वर्ष तक ही दिया जा सकता है (२) बंको के निक्षेपो के बढ जाने के कारण निगम की प्रगति पर विषम प्रभाव पडा है। (३) लोग निगम की कार्य पद्धति पर भी सदिग्धता प्रकट करते है क्योकि अमेरिका के योग का औद्योगिक वित्त निगम के द्वारा भी उपयोग किया जा सकता था। और इस निगम की विशेष आवश्यकता नही थी किन्तु भारतवर्ष में पूँजी की स्थिति को देखते हुए निगम का आशिक महत्व स्वीकार किया जा सकता है।

आलोचनाओं को देखते हुए निगम ने निम्न योजना बनाई है।

(१) बंको के निगम के सदस्य बने पूर्व वित्तीय सुविधा दी जाय।

(२) जो उद्योग विकास योजना के अन्दर आते है उनको आर्थिक सहायता दी जाय।

(३) निगम मे ऋणी बंको मे वह प्रतिबन्ध हटा दिया है जिसमे वह १½% की छूट देते थे। यह छूट ऋण देने तथा लेने पर दी जाती थी।

(४) इस योजना को भारत सरकार तथा अमेरिका के टेक्नीकल कोरपोरेशन ने स्वीकार कर लिया है।

निगम को विदेशी संस्थाओं से ऋण लेने की सुविधा प्राप्त है। सरकार ने निगम को अपने २६ करोड़ के ऋण देने की योजना में कोई परिवर्तन नहीं किया है। सन् १९५८ में उसके ब्याज की दर १% है किन्तु ५९–६० में वह १¾% कर दी गई है। निगम के दिये हुए ऋण पर बैंकों को ५% ब्याज देना होता है और वह अपने अल्पकालीन निक्षेपों को इन्हीं बैंकों में रखता है। निगम ने सन् १९५९ से विनियोग नीति में परिवर्तन करके उस वर्ष २० लाख रु० अधिक कमाये।

वर्तमान समय में जब देश में विभिन्न प्रकार की वित्तीय संस्थाओं की स्थापना हो चुकी है उनमें इस प्रकार का समझौता होना चाहिये जिससे विनियोग नीति में कठिनाई न आये और औद्योगिक प्रगति में किसी प्रकार बाधा न पड़े।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation)—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद औद्योगिक विकास तथा औद्योगिक पुनरुत्थान का प्रश्न प्रायः सभी देशों में समान ही था। निजी क्षेत्र में धन का अभाव विशेष रूप से अनुभव किया जा रहा था। अविकसित देशों में यह स्थिति और भी गम्भीर थी इसलिए २० जुलाई १९५६ में विश्व बैंक ने सदस्य देशों को सहायता करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना की। यह निगम पुनर्निर्माण तथा विकास अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से सान्निध्य प्राप्त हुए भी अस्तित्व रखता है। इसकी सदस्यता उन्हीं देशों को प्राप्त है जो विश्व बैंक के सदस्य हैं।

निगम की अधिकृत पूँजी १००० डालर के प्रति अंश के हिसाब से १ लाख अंशों में बँटी है। इस पूँजी में ४७ देशों ने ९०'४ मिलियन डालर्स का अनुदान किया है। भारतवर्ष ने ४'३३ मिलियन डालर का अनुदान किया।

विनियोग के लिये बढ़ती हुई माँग तथा नये सदस्यों को स्थान देने के लिये संचालक मण्डल को अधिकृत पूँजी से १०% अधिक विनियोग करने का अधिकार दिया गया है। अनुदान की प्राथमिकता सदस्य देशों को ही प्राप्त होगी।

निगम के संचालक मंडल में वही लोग हैं जो विश्व बैंक की संचालिका के सदस्य हैं। विश्व बैंक का अध्यक्ष निगम के संचालक मण्डल का अध्यक्ष है और वही निगम अध्यक्ष के लिये अपनी इच्छा से नाम दे सकता है। निगम का अपना चार्टर है और वैधानिक स्वतन्त्र अस्तित्व भी। विश्व बैंक इसके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता। इसका प्रमुख कार्य अविकसित देशों के सरकारों की प्रत्याभूति पर उन्हें वित्तीय योग देना है।

आर्थिक विकास में सहयोग—अविकसित तथा अर्ध-विकसित देशों में निजी उद्योगों के विकास के लिये आवश्यक सहायता एवं प्रोत्साहन देने के लिये निगम ने सदस्य देशों के सहयोग की योजना बनाई है। इसके लिये निगम उत्पादन के साधनों की आवश्यक जाँच करेगा और पूँजी के निर्यात एवं उत्पादन के विकास के

लिए प्रयत्न करेगा वह देशी तथा विदेशी पूँजी मे सहकारिता लाने का प्रयत्न करता है किन्तु तान्त्रिक योग के लिये अभी उसने कोई योजना नहीं बनाई है प्रबन्ध सबंधी सहायता देने की योजना भी निगम के विचाराधीन है। निगम का विचार है कि उद्योगो का विकास तब तक संसद नही है जब तक उनके व्यापार तथा उद्योगो मे आधुनिक प्रबन्ध व्यवस्था एव नवीन तान्त्रिक योग को शामिल न किया जाय। इसके लिये प्रबन्ध तथा तत्र सम्बन्धी प्रशिक्षण की आवश्यकता है। इसके कारण व्यापारिक कुशलता तो बढेगी जनता तथा राजनीतिक नेतृत्व पर भी स्वस्थ प्रभाव पड़ेगा।

निगम के समस्त साधन उन देशो के आर्थिक विकास के लिये है जो औद्योगिक एव व्यापारिक विकास की ओर उन्मुख हो रहे हैं इससे यह नही समझना चाहिये कि यह विकसित देशो मे निजी क्षेत्रो को योग नही देगा। वह उद्योग, कृषि, वित्तीय व्यापारिक तथा अन्य सबंधित कार्यों के लिये व्यापक योग देता है इसके लिये ४८ करोड़ की पूँजी अलग निर्धारित की गई है।

निगम उन उपयोगी उद्योगो मे विनियोग नहीं करेगा जिनको विश्वबैंक के क्षेत्र मे रखा गया है और इस प्रकार इन दोनो के क्षेत्रो मे प्रतिस्पर्धा नही होती।

सहायता का माप दंड—किसी देश को सहायता देने के पूर्व निगम इस बात पर विचार करेगा कि इस देश की सरकार निजी क्षेत्र की ओर कैसी नीति रखती है ? निगम उन निजी उद्योगों को भी सहायता नही देगा जिन पर सरकार का नियंत्रण अथवा स्वामित्व है किन्तु यदि सरकार उसमें बहुत छोटी सहायता देती है तो निगम ऐसी संस्था को आर्थिक योग दे सकेगा। इसमे भी यह जानना आवश्यक होगा कि स्वामित्व पूर्ण रूप से निजी हाथों मे है। ऐसा योग ४० लाख रु० या ५ लाख अमरीकी डालर से अधिक तथा ४'८ लाख रु० या १ लाख अमरीकी डालर से कम नही हो सकता। निगम अश तथा स्कंधो मे विनियोग नही कर सकता।

निगम हर प्रकार की सहायता ऋण ही के रूप मे दे सकेगा। ऋण सामान्य ही होगा एव परिवर्तित ऋणपत्रों के लिये भी दिया जा सकेगा। निगम की यह नीति देशीय तथा विदेशी विनियोगो मे सहकारिता लाने का प्रयत्न है। इसीलिये वह विनियोगो मे परिवर्तन की सुविधा देता है। निगम ऋण लेने वाली सस्थाओ को बिना विदेशी विनिमय की सुविधाओं को ध्यान मे रखकर ऋण देगा और ऋणी संस्था पर आवश्यक नियंत्रण रखेगा किन्तु वह सस्था के अतिरिक्त प्रबन्ध में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही करेगा। संचालक मडल मे उसे अपना प्रतिनिधि रखने का अधिकर आवश्यक है इसके लिये निगम को वहां की सरकार से स्वीकृति लेने की भी आवश्यकता नही होगी।

कार्य प्रगति—Reserve Bank of India ने निगम की कार्य प्रगति का

सन् १९५९ तक का अध्ययन किया है। ३० सितम्बर १९५९ तक निगम के २३'८ डालर के विनियोग के २८ समझौते १३ सदस्यों के साथ किये हैं। इसमें २० समझौते Latin America (S of America) ; २ Australia, तथा ६ एशियाई देशों के साथ किये हैं। भारतवर्ष में इस वर्ष (१९५९) २'३५ Millin dollor का विनियोग किया गया। निगम के विनियोगों के क्रम को देखने से पता चलेगा कि उसने प्रायः निर्माण तथा खनिज उद्योगों में ही विनियोग किया है और विनियोग की राशि १ Million से ३ Million dollor तक रही है। इसका कारण यह है कि निगम किसी भी उद्योग की वित्तीय आवश्यकता की केवल आधी पूर्ति करता है।

विनियोग की राशि को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि निगम के अविकसित देशों की सहायता के लिये बहुत कम विनियोग किया है किन्तु क्योंकि उसने केवल निजी क्षेत्र को ही योग देना निश्चय किया है इसलिये उसको अधिक विनियोग करने की आवश्यकता नहीं है। निजी क्षेत्र में उसने प्रति डालर पर ३ डालर का विनियोग किया। इस प्रकार निगम के देशी तथा विदेशी निजी क्षेत्र की संस्थाओं को प्रोत्साहित करने के लिये अपनी सीमा का उल्लंघन किया है। यह विनियोग २ प्रकार का होता है—(१) सीधा विनियोग जो दूसरे देशों में व्यापार का प्रसार करने के लिये होता है। (२) विदेशी संस्थाओं तथा व्यक्तियों द्वारा सामान्य विनियोग। दूसरे प्रकार का विनियोग अमरीका तथा यूरोपीय देशों में काफी प्रचलित एवं विकसित है। अन्य देशों में यह अभी तक संभव नहीं हो पाया।

विदेशी विनियोगताओं के सामने एक कठिनाई यह है कि नये उद्योगों में प्रारम्भिक व्यय अधिक होने के कारण उनके धन का उत्पादन में उपयोग नहीं होता इसलिये उनके द्वारा दिये गये ऋण की सुरक्षा का विशेष ध्यान रखा जाता है।

निगम ने अपने ऋण पर आज तक ५ से ८% तक का ब्याज लिया है यह प्रतिशत काफी सोचपूर्ण रखा गया है और आवश्यकतानुसार घटाया-बढ़ाया जाता है।

भारतवर्ष निगम की विनियोग संबंधी गतिविधि को प्रोत्साहित करना चाहता है। निगम के विदेशी विनियोग के लिये उपयुक्त वातावरण बनाने का प्रयत्न इसलिये किया है कि वह जोखिम को सरकार की प्रत्याभूति पर न रखकर स्वयं वह न करता है। भारतवर्ष के लिये, जहाँ विदेशी मुद्रा की कठिनाई है निगम द्वारा दी जाने वाली सुविधायें अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होंगी।

औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था में सुधार के सुझाव

(Suggestions for Reforms in Industrial Finance)

ऊपर भारतवर्ष की औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था का विवेचन दिया गया है। हमारे उद्योग अभी तक उस प्रकार की सहायता नहीं पा रहे हैं, जिस प्रकार से विदेशों में उद्योगों को मिलती है। इंग्लैंड में उसके लिए बिल्कुल अलग संस्थायें हैं जिन्हें

निर्गमन गृह (Issue Houses) कहते हैं, जो उद्योगों की अर्थ-व्यवस्था का प्रबन्ध करती है। इसी प्रकार जर्मनी में भी बैंकों तथा औद्योगिक कम्पनियों में बहुत सुदृढ़ सम्बन्ध हैं और उनकी कम्पनियों को ऋण देने की अलग ही प्रथा है। किन्तु हमारे देश की स्थिति बिल्कुल ही भिन्न है। यहाँ पर उद्योगों के लिये या तो पर्याप्त पूँजी नहीं मिलती और यदि मिलती है तो उस पर इतने बन्धन होते हैं कि उसका उपयोग करना ही कठिन हो जाता है।

कुछ लोगों का कहना है कि भारत की पूँजी बहुत कम है। ये लोग अपने विचार की पुष्टि के लिए भारत की तुलना अन्य देशों से करते हैं। उस समय ये पूँजी को एक ही दृष्टिकोण से देखते हैं कि वह व्यापार में काम आती है। किन्तु उनको यह भी देखना चाहिए कि हमारी अभी कुछ आवश्यकताएँ ही कम हैं। और ज्यों-ज्यों वह बढ़ती जा रही है, पूँजी में भी वृद्धि निश्चित रूप से हो रही है। आज हमारे देश में पूँजी की कठिनाई नहीं, अपितु विनियोग करने वालों को सही दिशा दिखाने की कमी है। हमारे देश के विनियोग करने वाले धोखेबाज लोगों के हाथों में फँस कर अपना बहुत-सारा धन खो बैठते हैं और वह दोष उद्योगों पर मढ़ा जाता है। अतः लोग विनियोग करने में डरते हैं। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं—(१) व्यापारिक अधिकोषों के दृष्टिकोण में पर्याप्त परिवर्तन हो जाना चाहिये, जिससे आवश्यकता के समय विनियोगकर्ताओं तथा उद्योग में आर्थिक सम्बन्ध स्थापित किये जा सकें एवं वे उद्योग तथा विनियोग-कर्ताओं को उचित सलाह दे सकें। (२) देश में दीर्घकालीन अर्थव्यवस्था के लिए औद्योगिक बैंकों का विकास होना चाहिए, जिसके लिए सरकार को बैंकों की सहायता करनी चाहिए। (३) देश में विनियोग संघों एवं प्रन्यासों की स्थापना की जानी चाहिये, जिससे कि कम धन वाले व्यक्ति भी औद्योगिक अंश तथा प्रतिभूतियों में विनियोग कर सकें। (४) देश में अन्य प्रकार के बैंकों की स्थापना भी की जानी चाहिये। (५) विनियोग कॉरपोरेशन की स्थापना शीघ्रातिशीघ्र करनी चाहिये, जिससे अनेक उद्योगों को समय पर आवश्यक पूँजी प्राप्त हो सके।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 Write a note on the organisation and working of State Finanical Corporation ?

2 Explain the procedure of loan disbursement by State Financial Corporations. What are the main conditions for obtaining loan from S. F. C.

3 Enumerate the difficulties that are being faced by the S. F. C. Suggest necessary improvements in the working and organisation of S. F. C. in order to overcome the difficulties.

4 Write an essay on Industrial Credit and Investment Corporation.

5 *Briefly explain any one of the following—*

(a) National Small Industries Corporation

(b) Refinance Corporation

6 Critically discuss the organisation and working of the International Finance Corporation.

व्यापार की वित्त-व्यवस्था

(Organisation of Trade Finance)

प्रस्तावना (Introduction)—जिस प्रकार उद्योगपति को अपने उद्योग की अर्थ-व्यवस्था करने की समस्या रहती है, उसी प्रकार व्यापारी को व्यापार की आर्थिक समस्याओं का हल करना आवश्यक होता है। औद्योगिक तथा व्यापारिक अर्थ-व्यवस्था की समस्यायें समान होती है और उनका आपस में एक गहरा सम्बन्ध भी है, क्योंकि उद्योगपति अपने उद्योग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये व्यापार करता है, अतः व्यापारिक तथा औद्योगिक समस्यायें आपस में इस प्रकार मिली हुई रहती हैं कि उनकी समस्याओं का हल प्रायः एक ही होता है।

व्यापार को हम दो भागो में बाँट सकते है—(१) अन्तर्देशीय व्यापार, तथा (२) विदेशी व्यापार। अन्तर्देशीय व्यापार उस व्यापार को कहते हैं, जो एक ही राष्ट्र की सीमाओं के अन्दर किया जाता है और जिसमे उस राष्ट्र के व्यापारिक नियमो का पालन किया जाता है। विदेशीय व्यापार उस व्यापार को कहते हैं, जो दो राष्ट्रो के बीच में किया जाता है तथा जिसका नियन्त्रण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक नियमों के द्वारा किया जाता है। इन दोनों प्रकार के व्यापार की अलग-अलग समस्याये होने के कारण इनकी आर्थिक व्यवस्था में भी भिन्नता होती है। हम दोनों व्यापारों की अर्थ-व्यवस्था का विवेचन अलग-अलग करेंगे।

अन्तर्देशीय व्यापार की अर्थ-पूर्ति

(Home Trade Finance)

व्यापारी एव उद्योगपति अपनी आवश्यकता की अत्यधिक वस्तुएं खेती, खानों तथा वनो से लेते हैं। इन तीनों की अर्थ-व्यवस्था मे अनेक अलग-अलग समस्याएं होनी हैं और उद्योगपति तथा व्यापारी को उन समस्याओं का अध्ययन करके उनका निवारण करना आवश्यक होता है।

कृषक की अर्थ-व्यवस्था—अन्य प्रकार के उत्पादको के समान ही किसान को भी आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। किसान की आर्थिक समस्याओं का, कुछ मूल सिद्धान्तों में भिन्नता होने के कारण, अलग अध्ययन किया जाना आवश्यक है। किसान की खेती से अनेक प्रकार के कच्चे माल का, जैसे खाद्यान्न से लेकर कपास, तिलहन, जूट आदि का उत्पादन होता है। उसी प्रकार उनका बाजार

भी भिन्न होता है। किसान का उत्पादन इतना नही होता जितना उसमे श्रम तथा पूँजी का व्यय होता है। कृषि उद्योग मे संयोग लाना अत्यन्त कठिन होता है, उसमे होने वाली जोखिम प्रायः अनिश्चित सी रहती है। यह नहीं कहा जा सकता कि कब लहलहाती फसल समाप्त हो जाय, फिर किसान के लिये अपने उत्पादन मे माँग के अनुसार घटा-बढ़ी करने की सामर्थ्य नही रहती। इसके उत्पादन की आवश्यकता के अनुसार स्थानान्तरित करना भी प्रायः कठिन होता है। कृषि का उत्पादन कल-कारखाने के उत्पादन से बहुत अधिक होता है और उस पर मौसम का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त किसान बाजार की स्थिति का भी सही रूप मे अध्ययन नही कर सकता। इन समस्त कारणों से कृषि की अर्थ-व्यवस्था का वर्णन अलग रूप से करना अनिवार्य है।

उद्योगपति तथा व्यापारियो को इसलिए यदि अपनी आवश्यकताओं के अनुसार कृषि से सतत रूप से पर्याप्त माल पाने की इच्छा करनी हो तो उनको उसकी आर्थिक आवश्यकताओं की भी जानकारी कर लेनी चाहिये। किसान की आर्थिक व्यवस्थाएँ भूमि के सुधार, खेती के औजार, मशीन, बीज, खाद आदि तथा अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होती है। उसको केवल अपनी भूमि के सुधार एवं उत्पादन की वृद्धि के लिए ही आर्थिक आवश्यकतायें नही होती, अपितु अपने उत्पादन की बिक्री के लिए भी ऋण लेने की आवश्यकता पड़ती है। इसलिये उसके उधार को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है—उधार का कारण, उधार का समय तथा उधार के लिये प्रतिभूति (जमानत)। किसान अपने माल को कभी भी स्वतन्त्रतापूर्वक न तो उत्पादित ही कर सकता है और न बेच ही सकता है, क्योंकि उस पर अनेक पुराने ऋण होते हैं। अतः पहले अपने उत्पादन मे से उसको अपने पुराने साहूकारो को चुकाना होता है। शेष उसके स्वयं के उपयोग के लिए तथा अपनी खेती की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपयोग में लाना होता है। इसके अलावा जब किसान चाहता है कि उसको अपने माल को रोके रखने के लिए उधार की आवश्यकता होती है। जहाँ तक उधार के लिये जमानत आदि देने का प्रश्न है, वह भूमि की, फसल की तथा व्यक्तिगत हो सकती है। भारतवर्ष मे खेती के लिए ऋण की अवधि ५ साल से ३० साल तक की होती है। यह अवधि अन्य देशो मे ५०-६० तथा ७५ वर्ष तक की होती है। ऐसे ऋण प्रायः खेती की उन्नति के लिए लिये जाते हैं। कुछ ऋण जो सामान्य समय के लिये कृषि के योग देने मे लिये जाते हैं, उनकी अवधि २ से ५ या ७ साल तक की होती है। कुछ ऋण अत्यन्त अल्पकाल के लिये होते हैं, जिनकी अवधि एक फसल से दूसरी फसल तक के लिए होती है।

व्यापारी तथा उद्योगपति का सम्बन्ध प्रायः किसान के अल्पकालीन ऋण से ही होता है और वे अन्य प्रकार की जमानतो की अपेक्षा फसल की जमानत लेना

पसन्द करते है। इन लोगो की ऋण देने की विधि निम्नलिखित ढंग की होती है।

फसल के बोये जाने के समय अथवा खड़ी फसल के समय व्यापारी या उद्योगपति अपने प्रतिनिधियो के द्वारा किसानो को उनकी आवश्यकता के अनुसार ऋण दे देता है और जमानत के रूप मे उसकी फसल को ले लेता है। जिस समय फसल कटती है तो उसके आदमी किसान के खेत पर पहुँच जाते हैं और समझौते के अनुसार निश्चित किये गये मूल्य से अथवा बाजार भाव मे उसका मूल्यांकन करके माल को उठवा लेते हैं। सामान्य रूप से किसान अपने माल को गाँव से मण्डी तक ले जाने मे गाँव के जमींदार, महाजन तथा आढतियों की शरण लेते हैं। ये लोग किसान को नकद रुपया देकर उनके सारे माल को खरीद लेते है और उस माल को अपनी आवश्यकता के अनुसार बाजार मे, खुली मडी मे, अथवा अपने पक्के आढतियों को बेचते हैं। कभी-कभी ये लोग व्यापारिक बैंको से माल की जमानत पर ऋण ले लेते है। जिस समय ये लोग निर्यातकों, पक्के आढतियो तथा उद्योग-पतियो के प्रतिनिधि के रूप मे माल खरीदते हैं, उस समय उनको ¼% से १% तक कमीशन मिलता है और माल के मूल्य के लिये वे उन लोगो पर दर्शनी हुण्डी खींच कर उसका रुपया तुरन्त प्राप्त कर लेते हैं। प्रायः यह रुपया व्यापारिक तथा विनियोग बैंको मे दर्शनी हुण्डी का प्रापण करके प्राप्त किया जाता है।

कपडा, चीनी, तेल आदि उद्योग अपनी आवश्यकता का कच्चा माल या तो बाजार के पक्के आढतियो से खरीद लेते हैं अथवा सीधे किसानों से ही खरीद लेते है। जिस समय वे माल सीधा किसानों से खरीदते हैं, उस समय किसानो को पेशगी के रूप मे कुछ धन दे दिया जाता है और जैसे ही फसल कटती है उनका शेष रुपया जमा करा कर उनका सारा माल खरीद लिया जाता है। कुछ दशाओं में उनके लिये आढतियो से ही माल खरीदना हितकर होता है। इसलिए वे उन आढतियो से प्रायः अगाऊ सौदे कर लेते हैं और भुगतान के समय आवश्यक माल को लेकर उनको उसका मूल्य चुका दिया जाता है।

भारतवर्ष मे विदेशी संस्थाओ के द्वारा अनेक मुख्य केन्द्रो (जैसे दिल्ली, कानपुर, अमृतसर, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास आदि) मे अनेक शाखायें खोली गई है, जो पक्के आढतियो, सट्टोरियों, कच्चे आढतियों के साथ अनुबन्ध करती है तथा देश की कृषि अर्थव्यवस्था मे महत्वपूर्ण भाग लेती है।

इन संस्थाओ के अलावा सहकारी-संस्थाएँ, देशी बैंक, व्यापारिक बैंक, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, मद्रास के निधि तथा चेट्टी व सरकार आदि किसानो के माल के विक्रय तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आर्थिक सहायता देते हैं। इनमे सबसे महत्वपूर्ण सहायता सरकार तथा सहकारी संस्थाओ के द्वारा दी जा रही है।

खनिज की अर्थव्यवस्था (Finance of Mining Wealth)—जो उद्योगपति प्राकृतिक धातुओं मे वस्तुएँ उत्पादित करते है उनको खनिज पदार्थों की अर्थव्यवस्था का ध्यान भी उसी प्रकार रखना चाहिये जिस प्रकार सूती वस्त्र का व्यापारी कपास आदि का ध्यान रखता है। जो व्यक्ति खानो से उत्पादन करता है, उसको किसानो की अपेक्षा कई गुनी अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। खेती के समान खनिज मे भी अनेक प्रकार की पूँजी की आवश्यकता होती है; जैसे खान बनाने के लिये पूंजी, उसका यन्त्रीकरण करने के लिये पूँजी, खनिज धातु को किसी रूप से विक्रय योग्य बनाने का व्यय, यातायात व्यय, मजदूरी आदि। इन सबके लिये उसको अत्यन्त दीर्घकालीन, दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन पूंजी की आवश्यकता होती है। यहाँ पर केवल धातु की विक्रय सम्बन्धी अर्थव्यवस्था पर ही विचार किया जायगा।

जिन खानो से माल उत्पादन के लिये निकाला जाता है, आन्तरिक औद्योगिक तथा व्यापारिक स्थिति में ऐसी खानें प्रायः उद्योगपति के ही स्वामित्व मे रहती है और उनकी व्यवस्था, उस सारे उद्योग की आर्थिक व्यवस्था के अनुसार चलती है; जैसे लोहे तथा इस्पात उद्योग टाटा नगर मे, अभ्रक उद्योग ग्रेडी आदि मे। इन उद्योगो, मे जैसे टाटा नगर मे उनकी कोयले तथा लोहे की अपनी निजी खानें हैं। यातायात का बहुत बडी सीमा तक उनका अपना ही प्रबन्ध है। उसी प्रकार ग्रेडी मे कई अभ्रक उद्योग इस प्रकार के हैं, जिनमें अभ्रक को भूमि से निकालने से लेकर उसके अन्तिम निर्यात योग्य विच्छेदन तथा फिलमिंग का कार्य भी किया जाता है। अस्तु इस प्रकार के उद्योगों मे उद्योगपति को उस माल के कच्चे स्वरूप से लेकर उसके अन्तिम उत्पादन तक उसकी पूरी-पूरी अर्थव्यवस्था करनी पडती है। जिस अवस्था मे माल किसी अन्य पक्ष के द्वारा निकाला जाता है तो उस व्यक्ति के साथ क्रेता को पहले से ही अनुबन्ध करना पडता है और उस अनुबन्ध के रूप मे या तो उसका पेशगी रुपया दे दिया जाता है अथवा मूल्य चुकाने की अवधि का निश्चित समय निर्धारित कर दिया जाता है। ऐसा माल साधारणतः दलालों के द्वारा खरीदा व बेचा जाता है। दलाल दोनो पक्षो से समझौता करके सौदा तय करवा लेते हैं और उसके लिये उनको १ प्रतिशत से लेकर ५ प्रतिशत तक कमीशन मिल जाता है, किन्तु इस कमीशन का निश्चय नही है। यह व्यापारिक परिस्थितियों के अनुकूल बदलता रहता है।

जब खनिज पदार्थों का निर्यात बाह्य देशों को होता है तो इसकी व्यवस्था विदेशो के प्रतिनिधि करते हैं। वे देश के बड़े-बड़े सम्बन्धित आढ़तियो से अपना सम्बन्ध स्थापित करके उनसे माल मँगवा लेते हैं और माल की पूर्ति होने पर अथवा

बिल्टी पाने पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से खनिज-पदार्थ के उत्पादक का मूल्य चुका देते है। (इसका वर्णन आगे किया जायगा)।

खाल उद्योगो मे उत्पादित वस्तु के व्यापार की आर्थिक व्यवस्था के लिये उन सब व्यक्तियों की आवश्यकता होती है जिनका वर्णन "उद्योग की अर्थ व्यवस्था" नामक अध्याय मे किया है। इसमे विक्रेता क्रेता से मुद्दती हुण्डी प्राप्त करके उसका अपने बैंक के पास से पूर्व प्रापण कर लेता है और अपने बिके हुए माल का मूल्य ले लेता है। यदि वह हुण्डी की मियाद तक रुक सकता हो तो मियाद पर क्रेता हुण्डी का भुगतान कर देता है। इसको "हुण्डी सिकारना" कहते है। क्रेता को जब माल की बिल्टी मिलती है और उसे रुपया रोकड लेना पडता है तो वह बिल्टी की जमानत पर उधार रुपया ले सकता है। यह रुपया व्यापारिक बैंको अथवा विनिमय बको के द्वारा प्राप्त किया जाता है।

वनस्पति व्यापार की अर्थव्यवस्था (Finance of Forest Products)—भारतवर्ष वन सम्पत्ति मे अत्यन्त सम्पन्न है। इसका विस्तार एक लाख साठ हजार वर्ग मील से भी ऊपर है, जिनमें अनेक प्रकार के वन पाये जाते है और उनमे विविध प्रकार की व्यापार-योग्य वस्तुएँ प्राप्त होती है, जिनके द्वारा देश मे प्रति वर्ष पर्याप्त मात्रा मे धन आता है। इन वस्तुओ मे विशेष महत्वपूर्ण उपज लकडियों मे शीशम, सागवान, देवदार, चीड, साल, आबनूस, चन्दन, बबूल आदि है तथा अन्य उपजें लाख, कत्था और कच्चा चमडा कमाने के पदार्थ जैसे हर्रा, बहेडा, आँवला, टिमरू, बबूल, तुखद आदि की छालें हैं। कागज के लिये सबाई, भावल, बेव, हाथी घास, स्प्रूस, चीड आदि है। दियासलाई की लकडी, गोद, सुगन्धित घासें आदि भी पाई जाती है। इनका भारतवर्ष मे ही नही अपितु वाह्य देशो मे भी व्यापार किया जाता है।

वनस्पति के उत्पादन एवं व्यापार के लिये सरकार तथा वन स्वामियो (जमीदारो) के द्वारा ठेके दिये जाते हैं और ठेकेदार समझौते के अनुसार उसके मूल्य को चुकाते है। उसमे वन-स्वामियो या सरकार को इस बात की चिन्ता नही रहती कि ठेकेदार को उस ठेके मे लाभ होता है अथवा नही। ठेकेदार अपनी आवश्यकता के लिए श्रमिको को दूर तथा निकट के स्थानो से नियुक्त कर अपने काम पर लगाता है और वस्तु का उत्पादन करके उसको देशी तथा विदेशी बाजारो मे बेचता है। यह व्यापारी अन्य प्रकार के व्यापारियो के समान ही अपने व्यापार के लिये अर्थ-व्यवस्था करता है। जंगलों से माल को मण्डियों मे लाने के लिये लकडियो को नदियों मे बहाया जाता है तथा अन्य माल को सामान्य यातायात के साधनों के द्वारा मडियों मे अथवा निर्यात के स्टेशनो पर किया जाता है। जो लकडी नदियो से बहाई जाती है उसके लिये ठेकेदार वाहको को या तो मजदूरी देकर अथवा ठेके पर रखकर लकड़ी

बढ़ाने का कार्य करवाता है। इसके लिये उसको पर्याप्त धन व्यय करना पड़ता है। जब माल मंडियों तक पहुँच जाता है तो उसको उसकी बिक्री सम्बन्धी अर्थ-व्यवस्था के लिये सामान्य व्यापारियों की पद्धति अपनानी पड़ती है, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है।

देशी व्यापार का महत्व
(Importance of Home Trade)

देशी व्यापार भारतवर्ष का प्रमुख व्यापार है। भारत का देशी व्यापार विदेशी व्यापार से १० गुना अधिक है। इसका कारण यह है कि यूरोपीय देशों की अपेक्षा भारतवर्ष की आबादी तथा उसका क्षेत्रफल बहुत अधिक है तथा उसमें आत्म-निर्भर होने के लिये सभी प्रकार के सामान विद्यमान हैं। किन्तु अंग्रेजों के शासन-काल में हमारे आन्तरिक व्यापार को अनेक कारणों से बाह्य व्यापार से अधिक प्रोत्साहन नहीं मिल सका। यही कारण है कि भारतवर्ष का व्यापार-संतुलन हमेशा उसके विपक्ष में ही रहा। प्रोफेसर के० टी० शाह ने अपनी "योजना के सिद्धान्त" नामक पुस्तक में इस बात पर विशेष प्रकाश डाला है कि देश के वस्तु-उत्पादन तथा वितरण में विवेकीकरण को अपनाया जाना चाहिये। इसी प्रकार डा० नाइडू ने भी यह सुझाव दिया है कि देश का आन्तरिक व्यापार हर प्रकार से बढ़ाना चाहिये। यह व्यापार कितने ही प्रकार से बढ़ाया जा सकता है और यदि इस प्रकार से व्यापार की व्यवस्था क्षेत्रीय आधार पर की जाय तो बहुत सरलता से हमारा देशी व्यापार बढ़ सकेगा।'

श्री नेहरू द्वारा मद्रास में दिये गये वक्तव्य के अनुसार देश में उद्योग-धन्धों की वृद्धि कर देश को आत्मनिर्भर बनाना आवश्यक है।

हमारे उद्योग का क्या विस्तार है, यह न तो बैंकों के आँकड़ों में ही निश्चित किया जाता है और न ऋण द्वारा माल की ढुलाई के आँकड़ों से ही। किन्तु सन् १९४० की व्यापार की एन० पी० सी० सब कमेटी के अनुसार यह माना जा सकता है कि भारतवर्ष का आन्तरिक व्यापार ७००० करोड़ रुपये प्रति वर्ष से कम नहीं होता है, जबकि विदेशी व्यापार केवल ५०० करोड़ रुपये का ही होता है; और यदि हम १९४० को आधार मानकर आज का अनुमान लगायें तो हमारा देशी व्यापार २८ या ३० हजार करोड़ रुपया तक का हो सकता है। इसके लिए रेलवे ट्रैफिक बोर्ड का अनुमान भी सहायक सिद्ध हो सकता है। उसके अनुसार १९४६ में जब प्रथम श्रेणी की रेलों में ५२ लाख वेगन (भारत तथा पाकिस्तान में) भरी जाती थीं तो १९५२ में ही ७० लाख वेगन भरी जाने लगीं। १९४६ में इसी प्रकार जब रेलवे की आय २१५ करोड़ रुपया थी, वह आय १९३५-५४ में केवल भारत में ही १७२ करोड़ रुपये हो गई। इसी प्रकार नदियों द्वारा किये जाने वाले व्यापार में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है।

भारतवर्ष के औद्योगिक विकास, यातायान की उन्नति तथा समुचित अर्थ-व्यवस्था की पद्धति के कारण इस व्यापार मे अधिक प्रगति होने की सम्भावना है। किन्तु अभी तक हमारे देश मे व्यापारिक अर्थव्यवस्था के लिये अनेक कठिनाइयाँ है, जिनका शीघ्रातिशीघ्र निवारण किया जाना चाहिये। ये कठिनाइयां हुण्डियो के प्रचलन की कमी, सगठित द्रव्य-बाजारो का अभाव, अधिकाशो की उधार देने की कठिन शर्तें तथा सरकार की अनिश्चित अर्थ-नीति आदि है। इसलिये इनका हल एक निश्चित योजना के अनुसार किया जाना चाहिये। सरकार ने जिस प्रकार औद्योगिक अर्थसस्थायें खोल कर उद्योगों की अर्थव्यवस्था का प्रबन्ध किया है, उसी प्रकार व्यापारिक अर्थव्यवस्था के लिये सरकारी एव गैर-सरकारी व्यापार अर्थसंस्थाओ का निर्माण किया जाना चाहिये, तथा बैंको की भी उदार नीति होनी चाहिये।

विदेशी व्यापार और उसकी अर्थव्यवस्था
(Foreign Trade and its Finance)

विदेशी व्यापार की अर्थव्यवस्था साधारणतः हुण्डियो तथा बिल ऑफ एक्सचेन्ज के द्वारा की जाती है। इसमे व्यापारिक एव विनिमय बैंको का सबसे प्रमुख स्थान होता है। भारतवर्ष के विदेशी व्यापार की निम्नलिखित आर्थिक विशेषताएँ हैं—

यहाँ का अधिकाश व्यापार विदेशी बैंको के हाथ मे है, जोकि अपनी शाखाओ के द्वारा व्यापार को आर्थिक योग देते है। ये बैंक या तो देश के प्रमुख नगरो मे अपनी शाखायें खोले हुए हैं या अपने प्रतिनिधियो के द्वारा देश के आन्तरिक व्यापार से सम्बन्ध स्थापित किये हुए हैं।

भारतवर्ष के व्यापारिक बैंक केवल उसी अवस्था मे विदेशी व्यापार को आर्थिक योग देते हैं, जबकि व्यापार को विनिमय बैंको की सहायता नही मिलती। भारतीय बैंको मे पिछले कुछ वर्षो मे '५ बडो' के संघ की स्थापना करके तथा विदेशो मे अपनी शाखाओ को खोलने का प्रयत्न करके भारत के विदेशी व्यापार को आर्थिक योग देने का प्रयत्न किया है। इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण* करने के पूर्व मे ही वह विदेशी व्यापार को आर्थिक योग देता आया है।

भारतीय बैंक तथा विनिमय बैंको की अर्थव्यवस्था इस प्रकार मिश्रित है कि यह कहना कठिन है कि विदेशी व्यापार को आर्थिक योग देने मे भारतीय बैंको का क्या स्थान है। हमारे देश का विदेशी व्यापार दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(१) तटीय व्यापार, तथा (२) सुदूर का व्यापार। जो लोग बन्दरगाहों

---

* राष्ट्रीयकरण के उपरान्त इसका नाम "स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया" रख दिया गया है।

से व्यापार करते हैं, उनको अर्थ-व्यवस्था के लिये विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता, क्योंकि विनिमय बैंक उनके लिये दोनों देशों मे आर्थिक व्यवस्था कर देते हैं, किन्तु जो व्यापार देश के अन्दर के भागो मे किया जाता है वह विनिमय बैंको की शाखाओं के अभाव मे देश के विभिन्न प्रकार के बैंको द्वारा किया जाता है। वे लोग तुरन्त ही मांग परिपत्र (Demand Draft) अपने नाम पर लेकर उसको विनिमय बैंकों को बेच देते हैं। अतः कुछ अवस्थाओं को छोड़कर सारा व्यापार विनिमय बैंकों के द्वारा ही अर्थ-व्यवस्थित किया जाता है और स्वभावतः उसका सारा लाभांश भी उन्हीं बैंकों को प्राप्त होता है।

भारतवर्ष का समस्त आयात-निर्यात, कुछ देशो को छोड़कर, इंगलैंड के द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। भारतीय निर्यातक विदेशों को जो भी माल भेजते हैं उसके लिये बिल ऑफ एक्सचेन्ज स्टर्लिंग मे लिखते हैं और उनका भुगतान, इंगलैंड के द्वारा, विनिमय बैंक अलग-अलग देशों से ले लेता है। इस प्रकार विनिमय अधिकोष भारत के निर्यातकर्ताओं को बिल ऑफ एक्सचेन्ज का, बहुत कम व्याज पर, पूर्व प्रापए करते हैं उनके भुगतान की तिथि तक भारतीय व्यापारी प्रायः संकट मे पड़ जाते हैं, क्योंकि इन बिलो की अवधि सामान्य स्थिति मे तीन माह की होती है। माल के आयात की स्थिति मे बिल ऑफ एक्सचेन्ज प्रायः साठ दिन की अवधि के ही होते हैं। लन्दन के विनिमय अधिकोष उनको एकत्र करने के लिये भारतवर्ष में भेज देते हैं। किन्तु भुगतान की तिथि पर भी रखने पर भारतीय आयातको को निम्न दर के व्याज की सुविधा नहीं मिलती और उनको प्रायः उन बिलो के भुगतान मे मुद्रा विनिमय दरो के कारण कुछ अधिक ही देना पड़ता है। विदेशी आतकर्ताओं को बिल के यथार्थ मूल्य के साथ-साथ कुछ अतिरिक्त व्याज भी मिलता है। यह व्याज की दर प्रायः घटती-बढ़ती रहती है। इसलिये लन्दन के विनिमय बैंक भारतीय निर्यातकों के बिल का तुरन्त भुगतान कर देते हैं। किन्तु आयातको के बिल को उनके अन्तिम भुगतान की तिथि तक अपने ही पास रखते हैं, क्योंकि उनको रखने मे उनको व्याज की दर अधिक मिलती है। इसका श्री मुरजन ने अपनी भारत की आधुनिक बैंकिंग नामक पुस्तक मे इस प्रकार का उदाहरण दिया है—

उदाहरण—एक बिल जिसकी म्याद तीन महीने है तथा जिसके आने-जाने में १५ दिन लगते हैं, उसका व्याज इस प्रकार लगेगा—

	पौ०	शि०	पें०
(१) बिल के व्याज का मूल्य			
५०० पर ६% के हिसाब से १२० दिन का मूल्य	९	१७	३
भारतीय मुद्राकन	०	५	०
योग	१०	२	३

(२) साख स्वीकृति का मूल्य	पौ० शि० पें०
स्वीकृति कमीशन १$\frac{१}{२}$% प्र० व०	२ १० ०
२% मे १२० दिन के लिये प्रापण	३ ६ ८
मुद्रांकन	० ५ ०
योग	६ १ ८

यदि लन्दन मे पूर्व प्रापण की दर ५% हुई तो साख स्वीकृति का मूल्य ११ पौ० १ शि० ८ पें० हो जायगा। इसलिये लन्दन के बंको को भारतीय निर्यातकों के बिलों को रोकने मे लाभ रहता है।

अलग-अलग मुद्राओ के परिवर्तन का कार्य विनिमय बैंको के द्वारा किया जाता है और इसमे भी विनिमय बंक काफी लाभ कमा लेते है।

कमीशन प्रतिनिधियों द्वारा अर्थ-व्यवस्था (Finance by Commission Agents)—विदेशी व्यापार मे व्यापार में कमीशन प्रतिनिधि भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते है। प्रारम्भ मे अंग्रेजो के उपनिवेशों मे ये लोग अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करते थे, क्योकि उस समय विदेशी व्यापार अत्यन्त जोखिम का व्यापार था। सामान्य व्यापारी इस जोखिम को उठाने के लिए तैयार नही थे, किन्तु धीरे-धीरे औपनिवेशिक धन्धो के बढ जाने के कारण उनका महत्व उतना नही रहा। किन्तु विदेशी व्यापार की दूरी, क्रेता-विक्रेता के व्यक्तिगत सम्पर्क की कठिनाई, भाषा, व्यापारिक नियम, व्यापार पद्धति आदि की भिन्नता ने इन प्रतिनिधियों को आयात तथा निर्यात प्रतिनिधियों के रूप मे परिणत कर दिया। ये लोग आयातकर्ताओ तथा निर्यातकर्ताओ के व्यापारिक सम्बन्धो को स्थापित कर उन दोनो के बीच मे उधार सौदे की व्यवस्था कर लेते हैं और उनके भुगतान की जोखिम भी बहुत बडी सीमा तक अपने ऊपर लेते है। कभी-कभी वह निर्यात करने वाले देश के व्यापारियो से सामान खरीद कर उनका भुगतान कर देते हैं और आयात करने वाले व्यापारी पर विनिमय विपत्र लिख कर तथा उसकी स्वीकृति प्राप्त करके उसको विनिमय बंको के द्वारा भुना लेते हैं। इस प्रकार वह माल के उधार क्रय-विक्रय की समस्या को बहुत बड़ी सीमा तक हल कर देते है। आधुनिक युग मे इन प्रतिनिधियो की सेवाओ का उपयोग कम होता चला जा रहा है और विदेशी क्रेता एवं विक्रेता विनिमय बंको की सहायता से आपस मे सीधा व्यापार करने में सफल हो सकते है।

पत्रकों की सुपुर्दगी
(Delivery of Documents)

जहाजी बिल्टी को छुड़ाने के लिए व्यापार मे दो प्रकार की व्यवस्थाएँ हैं— (१) स्वीकृति परपत्रक (D. A.), तथा (२) भुगतान परपत्रक (D. P.)। भारतवर्ष मे निर्यातक विदेशी आयातकों पर हमेशा पहली प्रकार के बिल लिखते हैं। अर्थात् अब विदेशी आयातकर्ता विनिमय विपत्र को स्वीकार कर दे तो उनको जहाजी बिल्टी आदि समस्त पत्रक सुपुर्द कर दिये जाते हैं। विदेशी निर्यातकर्ता जब भारतीय आयातकर्ताओं को माल बेचता है तो वह उसके भुगतान के लिए प्रायः दूसरी पद्धति अपनाता है। इस व्यवस्था मे भारतीय क्रेता तब तक माल को हस्तगत नही कर सकता जब तक वह उसके मूल्य का भुगतान नही कर देता। इसलिए भारतीय क्रेता को माल के मँगवाने मे काफी आर्थिक कठिनाई का सामना करना पडता है। ये दोनो ही प्रकार के कार्य अलग-अलग देशो मे स्थित विनिमय बैंको के द्वारा सम्पन्न किये जाते है।

इन बिलो की स्वीकृति तथा भुगतान के लिए अन्य व्यवस्थायें भी हो सकती हैं, जैसे विक्रेता अपनी जोखिम से बचने के लिए विनिमय-विपत्र (Bill of Exchange) की स्वीकृति किसी बैंक के द्वारा ही करा लेता है और वह बिल क्रेता पर न लिखा जा कर बैंक पर ही लिखा जाता है। ऐसी दशा में क्रेता के उस बिल के मूल्य का भुगतान करने के लिए अपने बैंक से (जिसने बिल को स्वीकार किया है) व्यवस्था कर लेता है और बैंक उसके अनुसार बिल की स्वीकृति या उसका भुगतान कर देता है यह व्यवस्था बैंक तथा व्यापारी के व्यक्तिगत सम्बन्धो पर निर्भर करती है। यदि बैंक को व्यापारी के ऊपर विशेष भरोसा नही हो तो वह व्यापारी से जमानत ले सकता है, जिसके अनुसार व्यापारी की असमर्थता मे वह रुपया जमानतियों से ले सके। भारतवर्ष मे इसका प्रचलन है।

जब क्रेता और विक्रेता का नया सम्बन्ध होता है और वे एक-दूसरे को नही जानते तो भुगतान प्रायः नकद ही किया जाता है। इसके भुगतान का निम्नलिखित ढग है। (१) यदि धन पेशगी मे भेजा जाना हो तो क्रेता उस धन को अपने देश के बैंक के पास जमा कर देगा। वह बैंक उस धन के लिये निर्यातक के देश मे स्थित अपनी शाखा को एक ड्राफ्ट अथवा सूचना भेज देगा। सूचना प्राप्त करते ही विक्रेता के देश में स्थित बैंक उसकी सूचना विक्रेता अथवा विक्रेता के बैंक को दे देगा कि क्रेता के द्वारा रुपये प्राप्त हो गये है। इस सूचना के प्राप्त हो जाने पर विक्रेता अपने बैंक के द्वारा क्रेता के देश में स्थित बैंक को एक सूचना भेज देगा, जिससे क्रेता को जहाजी बिल्टी आदि मिल सके।

धन का भुगतान
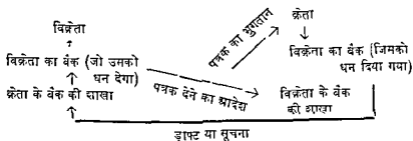
(२) यदि धन के भुगतान की स्वीकृति बैंक ने ले ली हो तो क्रेता उसके धन को अपने बैंक मे जमा कर देगा और बैंक अपनी शाखा के द्वारा विक्रेता के बैंक को एक निश्चित अवधि के लिए (जो अधिक से अधिक साठ दिन की होती है) एक बिल लिखने को कहता है और उसकी स्वीकृति हो जाने पर पहली बताई हुई विधि से क्रेता को माल छुडाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इसके अनुसार जब क्रेता को तत्काल मूल्य चुका देना हो तो वह किसी भी बैंक के पास रुपया जमा कर सकता है। बैंक उसको एक ड्राफ्ट दे देता है और वह उस ड्राफ्ट को अपने विक्रेता के पास सीधे ही भेज देता है। विक्रेता या तो उस ड्राफ्ट का रुपया उसमे दिये गये बैंक से सीधा ही प्राप्त कर सकता है अथवा अपने बैंक के द्वारा उस रुपये को ले सकता है।

ड्राफ्ट द्वारा भुगतान

विक्रेता ←——— क्रेता
↓ ↑
बैंक 'अ' बैंक (जिससे ड्राफ्ट खरीदा)
↓
→बैंक ('अ' की शाखा)
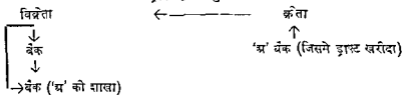
आयात-निर्यात की अर्थ-व्यवस्था के उदाहरण
(Examples of Import and Export Finance)

निर्यात (Export)—मान लिया बम्बई से कोई व्यापारी इगलैंड को ५ हजार का उधार माल बेचने के लिए राजी हो गया है और वह लन्दन के व्यापारी से किसी बैंक का उधारपत्र चाहता है तो उसकी अर्थ-व्यवस्था की विधि इस प्रकार होगी; लन्दन के व्यापारी अपने विनिमय बैंक मे एक साख पत्र (Letter of Credit) प्राप्त कर लेगा, जिसमें बम्बई के व्यापारी को उस पर एक निश्चित रकम तक बिल खींचने का अधिकार दिया जायगा। बम्बई का व्यापारी उस पत्र के आधार पर समस्त पत्रक एवं बिल ऑफ एक्सचेन्ज को लन्दन के व्यापारी के पास भेज देगा।

जब लन्दन के बैंक द्वारा स्वीकृत बिल ऑफ एक्सचेन्ज बम्बई के व्यापारी के पास पहुँच जायगा तो वह उसको अपने बैंक के पास से पूर्व प्राप्ति कर लेगा। भारत का बैंक उसको अपनी लन्दन की शाखा के पास भेज देगा। लन्दन की शाखा भुगतान की तिथि पर उस रुपये को लन्दन के विनिमय बैंक से प्राप्त करके उसका समायोजन भारतीय बैंक के खाते में कर देगी। कभी-कभी बम्बई का व्यापारी अपने बिल ऑफ एक्सचेन्ज को पत्रको सहित अपने बैंक द्वारा लन्दन स्थित शाखा में भेज देगा और वहाँ वह शाखा उस विनिमय बैंक से बिल ऑफ एक्सचेन्ज को स्वीकृत कराकर उसको जहाजी बिल्टी दे देगी। शाखा स्वीकृत बिल को भुगतान की तिथि तक अपने ही पास रखती है और भुगतान होने पर उसका समायोजन भारत के बैंक के खाते मे कर देती है। बम्बई का व्यापारी उस बिल का रुपया भुगतान पर व बैंक के कमीशन को देकर ले लेगा अथवा पूर्व प्राप्ति करके भुगतान पहले ही लेगा।

जब माल किसी अन्य यूरोपीय देश मे भेजा जा रहा हो तो उधार भुगतान की व्यवस्था निम्नलिखित प्रकार से होगी: (भारतवर्ष का यूरोपीय देशों का व्यापार लन्दन के द्वारा ही किया जाता है।) मान लिया बम्बई के व्यापारी ने लिसबन के व्यापारी को उसके साख-पत्र भेजते पर उधार माल बेचने का निश्चय किया है। उसके भुगतान की विधि इस प्रकार होगी: लिसबन का व्यापारी अपने बैंक से साख-पत्र का प्रबन्ध कर देगा और वह पहले उदाहरण के समान बम्बई के विक्रेता को एक निश्चित राशि तक अपने उत्तरदायित्व पर उधार माल देने का अधिकार दे देगा। यह पत्र लंदन के बैंक के द्वारा बम्बई के व्यापारी को भेजा जायगा। जिस पर बम्बई का व्यापारी लन्दन के बैंक पर हुण्डी लिखकर माल को लिसबन के व्यापारी के पास भेज देगा। भुगतान की तिथि पर लिसबन का व्यापारी अपने बैंक के पास रुपया जमा कर देगा, जिसे वह लन्दन के बैंक के पास उस धन का भुगतान कर दिया जायेगा। बम्बई का व्यापारी या तो भुगतान की तिथि तक रुक सकता है अथवा तिथि से पहले ही उसको पूर्व प्राप्ति करवा सकता है।

आयात (Import)—आयात की अर्थ-व्यवस्था दो प्रकार से की जा सकती है। (१) साठ दिन की हुन्डी लिखकर, तथा (२) लन्दन के बैंक की स्वीकृति पर। भारतवर्ष मे पूर्व प्रापण बाजार न होने के कारण भारतीय निर्यातकर्ता को प्रापण की सुविधा प्राप्त नही होती। इसलिये उसको लन्दन के द्वारा ही अपनी हुण्डियों का भुगतान करना पड़ता है। मान लिया कि लन्दन का व्यापारी बम्बई के *व्यापारी को उधार माल बेचना है। इस परिस्थिति में वह बम्बई के व्यापारी से किसी* बैंक का हवाला माँग लेता है। बम्बई के व्यापारी के हवाला दिये जाने पर लन्दन का व्यापारी अपने बैंक के द्वारा बैंक की भारतीय शाखा से बम्बई के व्यापारी की साख तथा आर्थिक विषय में जानकारी कर लेगा और उसके अनुसार बम्बई के व्यापारी

पर साठ दिन का बिल लिखकर उसको अपने लन्दन के बैंक में दे देगा और वह उस बिल को भारतीय शाखा मे भेज देगा। भारतीय शाखा जहाजी बिल्टी आदि सहित उस बिल को बम्बई के व्यापारी के पास स्वीकृति के लिए देगा और उसके स्वीकृत हो जाने पर जहाजी बिल्टी आदि बम्बई के व्यापारी के पास पहुँच जायगी। भुगतान का शेष कार्य पहले बताई गई विधि के अनुसार ही किया जायगा।

विनिमय बैंकों का अस्तित्व

(Existence of Exchange Banks)

आपने पहले देख लिया है कि भारत के विदेशी व्यापार में विनिमय बैंको का प्रमुख स्थान है, किन्तु यह बैंक भारतीय न होने के कारण उन पर हमारे प्रमंडल अधिनियम का किसी भी प्रकार से प्रभाव नही पडता। किन्तु इतना होने पर भी हमारा व्यापार प्रमुख रूप से इन्ही बैंको के द्वारा किया जाता है। इसलिये जब कभी इनका दिवाला निकलता है अथवा ये किसी प्रकार से बन्द हो जाते है तो भारतीय व्यापारियो को, जिनसे उनके व्यापारिक सम्बन्ध होते है अथवा जिसमे उनका धन लगा हुआ होता है, बहुत बडी हानि उठानी पडती है। उनकी अनेक शोषण की पद्धतियो से भारतीय व्यापारियो को बहुत बडी हानि उठानी पडती है, क्योंकि वे केवल विदेशी व्यापार में ही भारतीय बैंको से प्रतिद्वन्द्विता नही करते, अपितु आतरिक व्यापार मे भी उनसे प्रतिस्पर्धा करते है। आजकल भारतीय बैंक, अपने विदेशी व्यापार को बढाने में प्रयत्नशील है। अतः अब प्रत्यक्ष रूप से उनका सघर्ष दिखाई देता है।

आज भारतीय व्यापार में विदेशी बैंको का रहना असहनीय प्रतीत होता है और उनका हमारे देशी व्यापार मे इस प्रकार का सघर्ष हमारे अधिकोषो को कमजोर करने का कारण माना जाता है। इन बैंको के द्वारा हमारे देश की बहुत बडी पूँजी अनायास ही विदेशो मे चली जाती है। अपनी आर्थिक स्थिरता के कारण इन बैंको का भारतीय व्यापारियों पर, जिनकी विदेशो मे बड़ी-बडी शाखायें है, बहुत बडा प्रभाव है और वे बहुत सस्ती दरो पर उनका निक्षेप रख लेते हैं। 'अधिकोष शोध समिति' के अनुसार उनकी यह क्रिया भारतवर्ष मे विदेशी व्यापारियों को प्रोत्साहन देने की क्रिया है। पिछले वर्षों में भारतीय बैंको के बढ जाने के कारण तथा उनका विदेशो मे अपनी शाखाएँ खोलने के कारण विनिमय बैंको के भारतीय निक्षेप पर काफी प्रभाव पड़ा है। अब यह धारणा बनती जा रही है कि या तो इन बैंको से साख की सहायता माँगी ही नहीं जानी चाहिये और यदि माँगी जाय तो उनको वही सुविधाये देनी होंगी जो अन्य विदेशी व्यापारियो को दी जाती है। अब इन बैंको के भारतीय निक्षेप पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये है, क्योंकि पूँजी निर्गमन नियन्त्रण विधान के अन्तर्गत भारतीय पूँजी विदेशो मे एक सीमा से अधिक नही लगाई जा

सकती है और इन बैंकों का निक्षेप प्रायः विदेशो मे ही विनियोग किया जात है। यह प्रश्न यद्यपि विवादपूर्ण है, फिर भी उनके निक्षेपों पर नियन्त्रण किया जाना उचित ही समझा गया है।

यदि भारतीय अपने विदेशी व्यापार को बढाना चाहते है तो आवश्यक है कि विनिमय बैंको पर भारतवर्ष मे नियंत्रण कर दिया जाना चाहिये और उनके प्रबन्ध मे भारतीय प्रतिनिधित्व भी होना चाहिये। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि इससे हमारे विदेशी व्यापारी पर एक घातक प्रभाव पडेगा, फिर भी राष्ट्रीय हित के लिये भारतीय तथा विदेशी लोगों की आपस मे इस प्रकार की सहकारिता आवश्यक है।

विनिमय बैंको पर नियत्रण करने से तब तक हमारी अभीष्ट सिद्धि नही हो सकती, जब तक कि देश के बैंको की आर्थिक स्थिति सुदृढ न हो। हमारे देश के बैंको के पास यद्यपि देशी व्यापार की सहायता के लिये पर्याप्त साधन है, किन्तु कुछ ही बैंको को छोड कर शेष इस स्थिति मे नही हैं कि विदेशी व्यापार की साधारण तौर पर अर्थ-व्यवस्था कर सकें। इसलिये यह आवश्यक है कि हमारे बैंक अपनी स्थिति मे पर्याप्त सुधार करें। भारतीय बैंको को समस्त मुख्य-मुख्य देशों मे, जिनसे हमारा अधिकाश व्यापार होता है, अपनी शाखायें खोल देनी चाहिये तथा उनमे सुयोग्य प्रबन्धको को नियुक्त करना चाहिये। कुछ लोगो को भय है कि इससे राजनीतिक तथा व्यापारिक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जायेंगी, किन्तु यह प्रश्न सभी देशों पर समान रूप से लागू होता है। अतः इसका विचार नही किया जाना चाहिये। विदेशी व्यापार मे जब तक आपस मे सहकारिता नही आयेगी, कोई भी व्यापार सुगमता नही किया जा सकता। फिर हमने देखा है कि हमारी जितनी भी शाखायें विदेशों मे कार्य कर रही है, उन्होने पर्याप्त सफलता प्राप्त की है।

इसके साथ-साथ भारतीय बैंको मे विदेशी व्यापार के प्रशिक्षित एव विशेषज्ञो की नियुक्ति कर विदेशी व्यापार की तान्त्रिक जटिलताओं का समुचित हल किया जाना चाहिए। बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी के सामने यह स्पष्ट किया गया था कि यदि हमारी विदेशी शाखाओं मे इस प्रकार के लोग आ जायें तो हमारा विदेशी व्यापार खूब बढ सकता है और विदेशी विनिमय बैंक हमारे मार्ग मे बाधक नहीं हो सकते। यह लन्दन स्थित इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया (अब स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया कहलाता है) की शाखा से स्पष्ट हो गया है, क्योंकि उसने भी वही ख्याति प्राप्त कर ली है जो किसी भी बैंक को सम्भवतः मिल सकती है। इस प्रगति के कारण कुछ लोगों का विचार है कि उसको भारतीय विनिमय बैंक बना देना चाहिये बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी ने सुझाव दिया है कि उसके संचालक-मंडल के ३/४ संचालक भारतीय होने

चाहिये और उसके स्टाफ में विदेशियों की नियुक्ति रोक देनी चाहिये। इम्पीरियल बैंक के स्टेट बैंक में परिवर्तित हो जाने के कारण अब स्थिति बदल गई है।

भारत सरकार की बैंकों पर नियन्त्रण करने एवं उनका राष्ट्रीयकरण करने की नीति से यह स्थिति और भी अधिक सुदृढ हो गई है।

हमारी मुद्रा के स्टर्लिङ्ग से जुडे होने के कारण भी विदेशी व्यापार की अर्थव्यवस्था मे बहुत कठिनाई होती है। इसलिये अनुकूल स्थिति में हमारी मुद्रा का सीधा सम्पर्क अन्य देशो की मुद्राओं के साथ किया जाना चाहिये। इससे लेन-देन में पर्याप्त सुविधा रहेगी। इस दिशा मे भी सक्रिय कदम उठाये जा रहे हैं।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 What are the various sources of financing internal (Home) trade ? Explain with illustrations.

2 How is the foreign trade financed ? Discuss by taking examples of import and export.

3 Define a Foreign Exchange Bank, offer your criticism against them and suggest measures to make them more useful.

4 Assess the progress made by foreign trade in our country. What should be done to boost the exports ? You are required to offer suggestions on the basis of Gorwala Committee report.

वीमा संगठन

बीमा का अर्थ
(Meaning of Insurance)

बीमा जोखिम को कम करने का एक साधन है। इससे मनुष्य उन समस्त जोखिमों के दायित्व से बच जाता है, जो कि उसके जीवन तथा कार्यो मे आते रहते हैं। मनुष्य इस प्रकार के अनेक कार्य करता है, जिनके द्वारा वह भविष्य में ऐसी कठिनाइयों मे पड जाता है कि उसको उनमे बचना बहुत दुष्कर हो जाता है और उसको भारी हानि उठानी पडती है। यह हानि व्यक्ति की मृत्यु होने तथा असमर्थ होने मे अनेक आश्रितो को उठानी पडती है। व्यापार मे यह हानि व्यापारिक क्रियाओ मे किसी प्रकार की दुर्घटना होने पर व्यापारी को हो सकती है। आधुनिक व्यापार मे माल का सचय, उत्पादन सस्थाओं की जटिलता, माल को एक स्थान से दूसरे स्थान मे भेजने की कठिनाइयाँ, सामुद्रिक क्षतियाँ आदि मे अनेक संभावित दुर्घटनाएँ होती रहती है, जिनके कारण व्यापारी को बहुत बड़ी सीमा तक हानि उठानी पडती है और वह व्यापार से हाथ तक धो बैठता है। इन समस्त जोखिमों से बचने के लिये बीमा आवश्यक होता है। अतः बीमा शब्द की परिभाषा इस प्रकार से दे सकते हैं—"बीमा जीवन, अग्नि तथा सामुद्रिक संभावित क्षतियो की पूर्ति करने का एक साधन है, जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से निश्चित स्वार्थ के बदले यह अनुबन्ध करता है कि उसके क्षति होने की अवस्था मे वह क्षति की पूर्ति कर देगा।" इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि जो व्यक्ति जोखिम मे बचना चाहता है उसे एक निश्चित राशि उस व्यक्ति को देनी होती है, जो उसकी जोखिम को अपने ऊपर लेता है। इसलिए दूसरे शब्दो मे बीमा को 'क्षतिपूरक अनुबन्ध' (Contract of Indemnity) भी कहा जाता है।

बीमा का प्रश्न उमी समय उठता है, जबकि किसी प्रकार की जोखिम उत्पन्न होती है। बीमा का कार्य केवल एक व्यक्ति की जोखिम को अनेक व्यक्तियो मे फैला देना होता है। जो व्यक्ति जोखिम उठाते हैं उनकी जोखिम को यद्यपि रोका नहीं जा सकता, किन्तु जोखिम उठाने वाले पर उसका भार न पडे इसलिए उनको अन्य क्षेत्रों मे सहायता प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बीमा क्षति-पूर्ति करने

का एक सहकारी साधन है, जिसके द्वारा एक व्यक्ति की जोखिम को अनेक व्यक्ति उठा लेते हैं और जिसमे प्रत्येक सदस्य जोखिम को थोडा-थोडा ग्रहण कर प्रभावित व्यक्ति को संकट से दूर करता है। अस्तु बीमे का मूल उद्देश्य जोखिम को, चाहे वह जीवन की हो, अग्नि की हो अथवा समुद्र की हो, निवारण करना होता है।

बीमे की प्रणाली सर्वप्रथम १३वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुई। सर्वप्रथम बारसीलोना मे सामुद्रिक क्षतियो की पूर्ति के लिए इसका प्रारम्भ हुआ। इसके पश्चात् अग्नि मे, तथा आजकल सभी क्षेत्रो मे, बीमा प्रचलित हो गया है।

बीमे का संगठन
(Organisation of Insurance)

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि बीमा सहकारिता के कारण ही सम्भव हो सका है। इसलिये किसी भी जोखिम को दूर करने के लिए लोग आपस मे सम्मिलित होकर एक समझौता कर लेते है, जिसके द्वारा सम्बन्धित व्यक्ति की जोखिम की पूर्ति की जाती है। किन्तु इस पद्धति के द्वारा जोखिम लेने वालों के हिस्से का अनुपात निकालना, जोखिम का अनुमान लगाना तथा वर्ष मे कुल जोखिमों का हिसाब लगाना कठिन होता है। इसलिए बीमे का सगठन अधिक व्यक्तियो के हाथ मे व्यापारिक पद्धति के अनुसार किया जाना आवश्यक है। समय के साथ-साथ बीमा-संगठन बीमा-कम्पनियो के रूप मे बदल गया और वे जोखिम देने वालो और जोखिम उठाने वालों के बीच एक शृंखला बन गई है और इस प्रकार इसके द्वारा बहुत आसानी से जोखिम वहन करने का क्षेत्र बढ गया है। कम्पनियो के बन जाने से बीमा एक साधारण समझौता न होकर अनुबन्ध के रूप मे होने लगा और बीमा-संगठन की परिभाषा इस प्रकार हो गई—"यह वह संगठन है, जिसमे दो दल आपस मे एक अनुबन्ध कर लेते हैं, जिसके द्वारा एक दल निश्चित राशि के बदले मे किसी घटना के घटित होने पर आपस मे तय किया हुआ धन दूसरे दल को देने को आगे हो जाता है।"

संगठन के प्रकार
(Forms of Organisation)

बीमा सगठन कितनी ही प्रकार से किया जाता है। बीमा-संगठन के आगे लिखे अनुसार मुख्य ढंग हैं—

(१) सार्वजनिक कम्पनियाँ (Public Companies)—ये कम्पनियाँ, कम्पनी विधान के अन्तर्गत बीमा का व्यापार करने के लिये स्थापित की जाती हैं। इनका सगठन ठीक सीमित सार्वजनिक कम्पनियो के अनुसार ही चलाया जाता है। जो व्यक्ति कम्पनी में बीमा करवाना चाहता है वह कम्पनी के साथ एक निश्चित प्रव्याजि पर बीमा अनुबन्ध कर लेता है और वह केवल कम्पनी के ग्राहक के रूप

में ही रहता है, किन्तु वर्त्तमान प्रतिद्वन्द्विता के कारण बीमा करने वाले को भी कम्पनी के प्रबन्ध का अधिकार दिया जाने लगा है। आजकल प्रायः ८०-९० प्रतिशत लाभ कम्पनी के बीमा-कर्ताओं को बोनस के रूप में दे दिया जाता है।

(२) सहयोगी संस्थाएं (Mutual Associations)—सहयोगी कम्पनियां अपने बीमा-कर्ताओं के बीमा के लिये बनाई जाती है। इसमे प्रत्येक सदस्य बीमा-कर्ता होता है तथा उसको कम्पनी के प्रबन्ध और लाभ मे हिस्सा लेने का अधिकार होता है। ऐसी सस्थाओं मे इसके सदस्यों को बहुत कम प्रव्याजि (Premium) देनी पडती है। व्यवहार मे ऐसी सस्थाएँ बाहर के लोगो को भी बीमा कराने, का लाभ देती हैं। इसलिये इनको मिश्रित संस्थाएँ भी कहा जाता है।

(३) मिश्रित कम्पनियां (Mixed Companies)—जैसे कि ऊपर बताया गया है कि सहयोगी सस्थाएँ बाहर के लोगों को भी सम्मिलित कर लेती हैं। इसलिये इन्ही संस्थाओं मे लाभ सहित तथा लाभ रहित गोप-लेख (Policies) निर्गमित की जाती हैं। लाभ-सहित गोप-लेख बीमा-कर्ताओं को पॉलिसी के साथ-साथ लाभ प्राप्त करने का भी अधिकार होता है, किन्तु दूसरी मे वे लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिये इन संस्थाओं को मिश्रित कम्पनी के नाम से पुकारा जाता है।

(४) लॉयड सघ (Lloyds Associations)—इन सघों को अभिगोपक (Underwriter) भी कहते है। यह संस्था लॉयड कम्पनी के द्वारा अपनी सदस्य मस्थाओं की सामुद्रिक क्षति के लिये स्थापित की गई है। जो व्यक्ति जितना बीमा कराना चाहता है उसको सर्वप्रथम इसका सदस्य बनना पडता है। बीमा कराते समय सर्वप्रथम वह अभिगोपक के पास आता है, जो उसकी जोखिम का उत्तर-दायित्व अलग-अलग अशों में ले लेते है और जब गोप-लेख के भुगतान का समय आता है तो अभिगोपक अपने लिये गये उत्तरदायित्व के अनुसार भुगतान कर देते है। यदि अभिगोपनकर्ता भुगतान नही कर पाते तो उसका हिस्सा संघ के द्वारा दे दिया जाता है। यह संघ सर्वप्रथम १६९२ ई० मे लन्दन मे स्थापित किया गया था।

(५) सरकारी बीमा (State Insurance)—कुछ देशों मे बीमे का कार्य सरकार द्वारा भी किया जाता है। सरकार बीमे का कार्य उन्ही क्षेत्रों मे लेती है जो जनहित के लिये अत्यन्त आवश्यक है, क्योकि आम बीमे सरकार के द्वारा नही चलाये जा सकते, उनको केवल निजी सस्थाएं ही चला सकती है। भारतवर्ष मे सरकार के द्वारा पोस्टल इंश्योरेन्स, स्टेट एम्प्लाइज इंश्योरेन्स, वर्कमेन्स इंश्योरेन्स आदि चलाया जाता है।

(६) स्व बीमा (Self Insurance)—यह बीमा कम्पनी अपनी जोखिम के लिये स्वयं इंश्योरेन्स-निधि की स्थापना करके करती है। जब कोई वस्तु बीमा-योग्य होती है तो उसकी किश्त की रकम एक विशेष फड में जमा कर दी जाती है

और क्षति होने की अवस्था में उसकी पूर्ति इस कोष से कर दी जाती है। यदि क्षति नहीं होती तो उसका उपयोग सुगमता से अन्य क्षेत्रों में किया जाता है। यह पद्धति प्रायः विशाल संस्थाओं में, जिनके अनेक प्रकार के व्यापार हों, सुगमता से प्रयोग में लाई जा सकती है।

बीमे की आवश्यक शर्तें
(Necessary Clauses for Insurance)

बीमा का कार्य सुचारु रूप से चलाने तथा लाभप्रद रखने के लिये उसमें निम्नलिखित आवश्यक शर्तें होनी चाहिये—

(१) जिसका बीमा कराया जाय वह यथार्थ जोखिम होनी चाहिये अर्थात् घटना के हो जाने पर बीमा की हुई वस्तु पर विषम प्रभाव पड़ना ही चाहिए। इस प्रकार जोखिम जीवन या सम्पत्ति की होती है।

(२) जोखिम वाली वस्तु की सुरक्षा में अनिश्चितता होनी चाहिये। अर्थात् उसमें यह निश्चय नहीं होना चाहिये कि वह नष्ट हो ही जायगी। उसकी जोखिम का विवरण बीमा-कर्ता तथा बीमा-कम्पनी दोनों की शक्ति के परे होना चाहिये।

(३) जोखिम गम्भीर होनी चाहिये। अर्थात् इतनी नगण्य नहीं होनी चाहिये कि उसकी धन-राशि उस पर होने वाले व्यय से भी कम हो।

(४) बीमे का मूल्य निषिद्ध नहीं होना चाहिये। अर्थात् जोखिम की किश्त आदि इस प्रकार की होनी चाहिये कि बीमे का लाभ सर्व-साधारण उठा सकें और कम्पनी अधिक से अधिक जोखिमों की पूर्ति कर सके।

(५) जोखिमों के घटित होने का तात्विक अनुमान लगना संभव होना चाहिये। अर्थात् बीमा-कम्पनी उन जोखिम के विगत आँकड़ों से यह अनुमान लगा सके कि सामान्य परिस्थितियों में जोखिम के लिये कुल कितना भुगतान सम्भावित होगा। यह आवश्यक नहीं कि अनुमान पूर्णतया सत्य हो, किन्तु उसका निकटतम सत्य होना आवश्यक है।

बीमे के सिद्धान्त
(Principles of Insurance)

बीमा निम्नलिखित सिद्धान्तों पर आधारित है—

(१) विश्वसनीयता (२) बीमा-हित (३) जोखिम (४) स्वत्वाधिकार हस्तान्तरण।

(१) *विश्वसनीयता (Faith)*—साधारण व्यापार में क्रेता और विक्रेता के आपसी विश्वास की इतनी बड़ी आवश्यकता नहीं है और वहाँ पर "विक्रेता सचेत रहे" का सिद्धान्त लागू होता है, किन्तु बीमा में यह लागू नहीं किया जा सकता और इसको बीमा कराने के पूर्व अपनी वस्तुस्थिति को स्पष्ट कर देना आवश्यक होता

है। यदि बीमा-कर्ता किसी बात को छिपा देता है, जिसके कारण बीमे पर प्रभाव पड़े, तो वह प्रसंविदा अवैधानिक घोषित कर दिया जाता है। इसलिए बीमा करने वाले तथा कराने वाले दोनों को सच्चाई और विश्वास के साथ अनुबन्ध में समस्त बातें स्पष्ट कर देनी चाहिए।

(३) बीमा-हित (Insurable Interest)—बीमा के अनुबन्ध को वैधानिकता देने के लिए उसमें बीमा-हित का होना अत्यन्त आवश्यक है, अर्थात् बीमा कराने वालो को उस वस्तु के नष्ट हो जाने से आर्थिक हानि तथा रह जाने से आर्थिक लाभ होना चाहिए। बीमा-हित मे निम्नलिखित बातो का होना आवश्यक है— (१) बीमे के लिए भौतिक तत्व होना आवश्यक है, (२) उसको वस्तु या प्राणी होना चाहिए, (३) बीमा कराने वाले का उससे सम्बन्ध होना चाहिए। बीमा हित का होना सब अनुबन्धों मे एक ही समय पर आवश्यक नही होता, किन्तु जीवन-बीमा के समय यह आवश्यक है। अग्नि-बीमा कराते समय तथा हानि होने समय बीमा हित का होना आवश्यक है। सामुद्रिक बीमे मे यह हानि होने के समय आवश्यक होता है।

(३) जोखिम (Indemnity)—बीमे के सिद्धान्त मे जोखिम सबसे महत्वपूर्ण है। व्यक्तिगत बीमे के अतिरिक्त समस्त बीमों मे बीमा कराने वाला अपनी जोखिम के लिए ही अनुबन्ध करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह अपनी जोखिम को दूसरो के पास हस्तान्तरित कर देता है। यदि वह वस्तु के मूल्य से अधिक का बीमा कराता है तो हानि होने की दशा मे उसको वस्तु का मूल्य तथा बीमे पर होने वाला लाभ दोनो ही प्राप्त हो जाते है। इस प्रकार बीमा कराने वाला हर प्रकार की जोखिम से दूर हो जाता है। जब बीमा जीवन-बीमा होता है तो जोखिम का सिद्धान्त लागू नही किया जाता, क्योंकि इसमें निश्चित अवधि के उपरान्त हानि होने या न होने पर भी दे दिया जाता है। इसका कारण यह है कि जीवन का मूल्य वस्तु के मूल्य के समान नहीं आँका जा सकता। यह पूर्ण बीमा होता है।

(४) स्वत्वाधिकार हस्तान्तरण (Subrogation)—स्वत्वाधिकार हस्तान्तरण के अनुसार बीमा कम्पनी जब किसी निमित्त वस्तु की क्षति-पूर्ति कर देती है तो उसके पश्चात् उस वस्तु के समस्त अधिकार कम्पनी को प्राप्त हो जाते है। यह नियम अग्नि तथा सामुद्रिक बीमे मे प्रयोग किया जाता है। इसके लिए निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है—(१) बीमा कम्पनी को क्षति-पूर्ति कर देनी चाहिए, (२) बीमा कम्पनी को वही अधिकार प्राप्त होंगे जो बीमा कराने वालो को अन्य पक्ष के विरुद्ध हों; (३) न्यायालय मे यदि उस वस्तु के लिए मुकद्दमा किया जाना हो तो वह बीमा कराने वाले के नाम से ही कराया जाना चाहिए।

बीमा के प्रकार
(Different Types of Insurance)

आधुनिक युग में बीमे का क्षेत्र इतना व्यापक हो गया है कि उसका वर्गीकरण किया जाना बहुत कठिन है, क्योंकि साधारण बीमे से लेकर सुन्दरता तक का बीमा कराया जाता है, किन्तु प्रयोग में आने वाले कुछ मुख्य प्रकार के बीमे इस प्रकार हैं—

(१) **जीवन-बीमा** (Life Insurance)—मनुष्य अपनी मृत्यु हो जाने अथवा असमर्थ हो जाने की अवस्था में अपने परिवार की रक्षा तथा अपने भरण-पोषण के उद्देश्य से जीवन-बीमा कराता है। इस प्रकार जीवन-बीमा कम्पनी तथा बीमित के बीच एक अनुबन्ध होता है, जिसके कारण कम्पनी एक निश्चित राशि किश्त के रूप में लेकर बीमित को उसकी मृत्यु या निश्चित अवधि के बाद, जो भी पहले आये, एक निश्चित राशि देने का वचन करती है। यदि बीमा करने वाला जीवित रहता है तो उसको एक निश्चित राशि ऐसे समय पर मिलती है जब वह परिश्रम के अयोग्य रहता है और यदि उसकी मृत्यु हो जाती है तो उसके परिवार के भरण-पोषण के लिए एक निश्चित रकम मिल जाती है।

(२) **अग्नि-बीमा** (Fire Insurance)—अग्नि से सम्पत्ति की हानि को बचाने के लिए यह बीमा किया जाता है। अग्नि-बीमा कम्पनी तथा सम्पत्ति के स्वामी के बीच एक अनुबन्ध है, जिसके द्वारा कम्पनी एक निश्चित समय के अन्दर बीमित की सम्पत्ति का नुकसान हो जाने पर क्षति-पूर्ति का उत्तरदायित्व एक निश्चित राशि लेकर अपने ऊपर ले लेती है। इससे लाखों की सम्पत्ति की रक्षा की जाती है।

(३) **सामुद्रिक बीमा** (Marine Insurance)—सामुद्रिक बीमा भी अग्नि-बीमे के समान सिद्धान्तों ही पर किया जाता है। समुद्र में चलने वाले जहाजों के डूबने या नष्ट हो जाने का भय हमेशा बना रहता है। इसलिये सामुद्रिक जोखिमों से बचने के लिए बीमा-कम्पनियों से बीमा कराया जाता है। यह बीमा बीमित तथा बीमा-कम्पनी के बीच एक अनुबन्ध होता है, जिसके अनुसार बीमा-कम्पनी किसी जहाज अथवा उसके कुछ माल का एक निश्चित अवधि, अथवा माल को बन्दरगाह तक पहुँचने के लिए एक निश्चित रकम लेकर, सामुद्रिक जोखिमों की क्षति-पूर्ति करने का उत्तरदायित्व ले लेती हैं। सामुद्रिक बीमा करने से विदेशी व्यापार में बड़ी सीमा तक व्यापार की सुरक्षा हो गई है।

बीमा-अनुबन्ध
(Insurance Contract)

बीमा-अनुबन्ध उस अनुबन्ध को कहते हैं जिसमें बीमित तथा बीमा करने वाले दल हों और इनके बीच में किसी निश्चित भौतिक तत्व के लिये एक समझौता किया जाय, जिसके फलस्वरूप बीमित एक निश्चित राशि देकर एक बड़ी राशि की

क्षति-पूर्ति का दायित्व बीमा करने वाले के सुपुर्द कर दे और बीमा करने वाला उसको स्वीकार कर ले। इसलिए अन्य वैधानिक अनुबन्धों के समान बीमा-अनुबन्ध में भी निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है—

(१) दोनों पक्षों के बीच प्रस्ताव तथा स्वीकृति।

(२) उन पक्षों में अनुबन्ध करने की योग्यता।

(३) अनुबन्ध का वैधानिक उद्देश्य।

(४) समझौते के प्रति दोनों की स्वतन्त्र इच्छा।

(५) समझौते का वैधानिक प्रतिफल।

(६) समझौता कानून के अनुसार किया गया हो।

इस अनुबन्ध की विशेषतायें यह होती है कि उसमें महत्वपूर्ण तत्वों का स्पष्टीकरण कर दिया जाना चाहिए। उसमें बीमा-योग्य हित होना आवश्यक है तथा क्षति-पूर्ति की पूर्ण व्यवस्था होनी चाहिये तथा अनुबन्ध की सामान्य पूर्ति का पूर्ण प्रयोग किया जाना चाहिए। यह पूर्ति आम और पर दो प्रकार की होती है—(१) प्रत्यक्ष पूर्ति वे पूर्ति होती हैं, जो बीमा अनुबन्ध में स्पष्ट की जाती हैं, तथा (२) अप्रत्यक्ष पूर्ति वे पूर्ति होती हैं, जिनका स्पष्टीकरण अनुबन्ध में नहीं होता किन्तु वे लागू समझी जाती हैं।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 What is Insurance ? Give its basis and organisation.

2 What are the essential requirements and principles of insurance? Give the classification of insurance.

3 What are the insurance contracts and what are its forms? Explain.

जीवन-बीमा

(Life Assurance)

जीवन-बीमा का जन्म १६वीं शताब्दी में हुआ तथा वह धी[illegible]
व्यापकता से बढा है कि आज विश्व में प्रायः जितनी भी व्यापर करने वाला [illegible]
हैं, जीवन-बीमा उनके व्यापार का मुख्य अंग बन गया है। भारतवर्ष में ६५ प्रतिशत बीमा-कम्पनियाँ जीवन बीमा का कार्य कर रही हैं और धीरे-धीरे बढता ही चला जा रहा है।

जीवन-बीमा एक प्रकार का अनुबन्ध होता है, जो बीमित बीमा करने वाली कम्पनी के साथ करता है, *बीमा करने वाली कम्पनी एक निश्चित प्रतिफल या प्रब्याजि* को लेकर, जो उसको एक मुस्त अथवा किश्तों में दी जाती है, बीमित या उसके प्रतिनिधि को उसकी मृत्यु अथवा एक निश्चित अवधि के बाद (जैसा उनमें आपस में तय हुआ हो) एक मुस्त अथवा किश्तों पर निश्चित राशि को देने का अनुबन्ध करना है। प्रब्याजि प्रारम्भ में ही तय कर ली जाती है और भविष्य में उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जाता। बीमे का धन बीमित को निश्चित अवधि या उसकी मृत्यु के बाद, जो भी पहले हो, मिल जाता है।

जीवन का मूल्य निश्चित नहीं किया जा सकता। इसलिए जीवन का अनुबन्ध भी अन्य अनुबन्धों के समान क्षति-पूर्ति के सिद्धान्त के अनुसार नहीं किया जा सकता। इसलिये जीवन-बीमा में मनुष्य अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार जीवन-बीमे का मूल्य घटा या बढा सकता है।

जीवन-बीमे के प्रकार

(Forms of Life Insurance)

साधारणतया जीवन-बीमे दो प्रकार के होते है—(क) लाभ-सहित तथा (ख) लाभ-रहित। लाभ-सहित बीमे के अनुसार बीमा करने वाले को बीमा की राशि के साथ-साथ कुछ लाभ भी मिलते हैं, किन्तु लाभ-रहित बीमे में केवल बीमा किया हुआ धन ही मिलता है, इसलिये पहले बीमा की दर से दूसरे बीमा की दरें स्वाभाविक रूप से कम होती हैं।

बीमा करने के बाद बीमित अपने को सुरक्षित अनुभव करता है तथा उसको एक विनियोग करने का श्रोत भी प्राप्त होता है, जिसके द्वारा वह एक निश्चित समय

में एक निश्चित राशि बचा लेता है। आँकडो से पता चलता है कि ६५ प्रतिशत व्यक्ति अपनी अकर्मण्यता की अवस्था को प्राप्त करने पर भी कुछ नहीं जोड पाते और केवल उनमें १०-१२ प्रतिशत ऐसे व्यक्ति होते है जिनका जीवन आर्थिक सकटो मे नही गुजरता। इसलिए बीमा करने के कारण उनकी तथा उनके परिवार को एक निश्चित समय में धन-राशि मिल जाने के कारण आर्थिक संकट का सामना नहीं करना पड़ता। इसलिए सुरक्षा तथा विनियोग का सिद्धान्त जीवन-बीमा मे सर्वोपरि है। जीवन-बीमा के निम्नलिखित स्वरूप होते है—

(१) आजीवन बीमा (Whole Life Policy)—इस प्रकार के बीमे मे मनुष्य के जीवन-काल तक बीमे का धन प्राप्त नही किया जा सकता, अर्थात् बीमित राशि उसकी मृत्यु के बाद ही उसके उत्तराधिकारियो को मिलती है। इस बीमे की दर प्रायः कम होती है। इससे एक लाभ यह है कि बीमित को बहुत कम राशि प्रव्याजि के रूप मे देनी पड़ती है तथा अपने मरने पर उसको संतोष रहता है कि उसके परिवार का भरण-पोषण हो सके, किन्तु जब वह अधिक समय तक जीवित रहता है तो अन्तिम दिनो में उसको प्रव्याजि देने मे बहुत बडी कठिनाई होती है, जिसके कारण कभी-कभी बीमा रद्द भी हो जाता है। इसके अतिरिक्त बीमित को आवश्यकता के समय जमा किए हुए धन के उपयोग का अवसर भी नही मिलता। यह भी देखा गया है कि बीमित की मृत्यु के पश्चात् उसके बीमे का धन प्राप्त करना बडा कठिन हो जाता है।

(२) बन्दोबस्ती बीमा (Endowment Policy)—इस पद्धति के अनुसार बीमा एक निश्चित अवधि के लिये कराया जाता है और उसकी प्रव्याजि की राशि आजीवन बीमा से अधिक देनी पडती है। इस बीमे का रुपया उस अवधि के अन्त अथवा मृत्यु पर, जो भी पहले हो, दे दिया जाता है। इसकी प्रव्याजि बीमे के पूर्ण होने तक दी जाती है। इस पद्धति का प्रचार शीघ्रातिशीघ्र बढ रहा है, क्योंकि यह प्रणाली आजीवन बीमे की समस्त बुराइयों को दूर कर देती है। बीमित के जीवित रहने की अवस्था में उसको तथा उसकी मृत्यु पर उसके परिवार को आर्थिक योग देने मे सहायक सिद्ध होती है।

(३) प्रव्याजि शोधनानुसार बीमा प्रलेख (Policy According to Premium Payment)—इस पद्धति के अनुसार प्रव्याजि निश्चित समय के अन्दर निरन्तर दी जाती है। जब तक प्रव्याजि दी जाती है तब तक बीमा चलता रहता है। इसलिए इसको **नियमित प्रव्याजि बीमा** (Regular Premium Policy) भी कहते हैं। इसमे प्रीमियम निश्चित अवधि के लिए पहले ही दे दिया जाता है। दरें वार्षिक आधार पर उद्धरित की जाती है। यद्यपि प्रव्याजि का शोधन अर्ध-वार्षिक भी हो सकता है, इससे बीमित को यह कठिनाई रहती है कि वह यदि प्रव्याजि नहो

दे सकेगा तो उसकी पालिसी रद्द कर दी जायगी। जब तक वह प्रब्याजि देता रहेगा उसकी पालिसी चालू रहेगी। कभी-कभी वृद्धावस्था में इसको कठिनाई का सामना हो सकता है। इसलिए सीमित प्रब्याजि प्रलेख (Limited Premium Policy) निर्गमित की जाती है, जिसके द्वारा निश्चित अवस्था तक सीमित किश्तों में प्रब्याजि दे दी जाती है। इससे बीमित को किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती, किन्तु इसका रुपया भी बीमित की मृत्यु के बाद ही प्राप्त होता है। इसलिए बीमित को स्वतः कोई लाभ नहीं होता। इस पद्धति में एकाएक प्रब्याजि गोपलेख (Single Premium Policy) भी दिया जाता है, जिसमें बीमित को अनुबन्ध के प्रारम्भ में ही बीमे की समस्त प्रब्याजि चुका देनी पड़ती है, किन्तु इससे लाभ की अपेक्षा उस अवस्था में विशेष हानि होती है जब कि बीमित की शीघ्र मृत्यु हो जाय, अथवा भविष्य में उसको आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़े। इसलिए इस प्रकार की पालसियों का लाभ केवल अत्यन्त धनाढ्य व्यक्ति अथवा परिकल्पकों को ही हो सकता है। कम-से-कम प्रब्याजि की चाहना रखने वाले लोगों के लिए सौम्य जीवन गोप-लेख (Modified Life Policy) हितकर होता है। इसमें प्रारम्भ में तीन से पाँच साल तक कम प्रब्याजि देनी पड़ती है। इसके बाद जैसे-जैसे आय बढ़ती रहती है, प्रब्याजि की दर भी बढ़ती रहती है। किन्तु एक निश्चित अवस्था के बाद उसकी दर समान कर दी जाती है। इससे बीमित को बहुत सुविधा रहती है।

(४) **अनुबन्धित राशि के अनुसार बीमा** (Policy According to the Asssured sum)—इसमें एक निश्चित समय से बाद अनुबन्धित राशि का भुगतान कर दिया जाता है। जब तक बीमा चलता रहता है उस समय को विनियोग काल (Investment Period) कहते हैं तथा कम्पनी बीमित को ४ या ५ प्रतिशत ब्याज देती है। इसलिए उसको कभी-कभी 'ऋणपत्र बीमा' (Debenture Policy) 'स्वर्ण बन्ध बीमा' आदि भी कहते हैं। इससे यह लाभ होता है कि लाभकारी को धीरे-धीरे पूँजी जमा करने का चाव होने लगता है और वह अपने इच्छित व्यय को कम कर सकता है। इस पद्धति में बीमे की दरें कुछ अधिक होती हैं।

(५) **दोहरा बन्दोबस्ती बीमा** (Double Endowment Policy)—इसके अनुसार यदि बीमित अवधि से पूर्व ही मर जाता है तो उसके उत्तराधिकारियों को बीमे का रुपया प्राप्त हो जाता है, किन्तु इसके जीवित रहने पर बीमे का रुपया रकम से दुगना मिलता है। इस बीमे की दर प्रायः बन्दोबस्ती बीमे से अधिक होती है और यह स्वस्थ व्यक्तियों के लिए बहुत लाभप्रद है।

(६) **शुद्ध बन्दोबस्ती बीमा** (Pure Endowment Policy)—इस पद्धति के अनुसार यदि बीमित निश्चित अवधि तक जीवित रहता है तब ही बीमे की

राशि उसको दी जायेगी, किन्तु अवधि से पहले मृत्यु हो जाने पर इसके परिवार को कुछ भी नहीं दिया जायगा। इसकी प्रव्याजि साधारणतया कम होती है और यह केवल उन्हीं लोगों के लिये उपयुक्त है, जिनको अपने परिवार की सुरक्षा की चिन्ता नहीं होती, क्योंकि इसमें मृत्यु की सुरक्षा नहीं की जा सकती। कभी-कभी इस पद्धति को बच्चों की शिक्षा अथवा विवाह आदि के लिये प्रयोग में लाया जाता है। इसलिये इस पद्धति को 'अप्राप्ति-पद्धति' भी कहते है।

(७) **अस्थाई बीमा** (Interim Policy)—इसके द्वारा प्रायः एक से सात साल तक का ही बीमा किया जाता है। यदि बीमित इस अवधि के अन्दर मर जाता है तो बीमित धन उसके उत्तराधिकारियों को मिल जाता है, किन्तु जीवित रहने पर कुछ नहीं दिया जाता। इसलिये इस पद्धति को **अवधि बीमा** (*Term* Assurance) भी कहते हैं। यह 'शुद्ध बन्दोबस्ती बीमा' के बिलकुल विपरीत है। इस प्रकार का बीमा कुटुम्ब तथा वृद्धावस्था दोनों के लिए उपयुक्त नहीं है। इससे केवल एक लाभ यह हो सकता है कि यदि कोई कर्ज आदि ले तो उस निश्चित समय में शोधन सुगमता से किया जा सकता है।

(८) **परिवर्तित अवधि बीमा** (Convertible Term Assurance)—इस पद्धति में यदि बीमित चाहे तो अपनी पॉलिसी को बन्दोबस्ती अथवा आजीवन बीमा में परिवर्तित कर सकता है। यद्यपि इसके लिए उसे अधिक प्रव्याजि देनी होती है, किन्तु उसको डाक्टरी परीक्षा आदि में नहीं जाना पड़ता तथा उसकी तारीख उसी दिन से लगाई जाती है जब से उसने प्रारम्भ में बीमा करवाया था। इसका लाभ यह है कि यदि कोई व्यक्ति अपने स्वास्थ्य को गिरता हुआ देखता है तो इस बीमे से लाभ उठा सकता है।

(९) **संयुक्त जीवन-बीमा** (Joint Life Assurance)—जब एक से अधिक व्यक्ति, सामान्यतः पति-पत्नी, अपना सम्मिलित बीमा करवाना चाहते हैं तो उसको संयुक्त जीवन-बीमा करते है। इसमें यदि किसी एक व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो बीमे का धन जीवित व्यक्ति को मिल जाता है। इसको साधारण बीमे से अधिक प्रव्याजि होती है। इसका लाभ यह है कि पति या पत्नी की मृत्यु हो जाने पर कोई जीवित व्यक्ति आर्थिक सुविधा प्राप्त कर सकता है।

(१०) **अन्तिम शेष जीवन-बीमा** (Last Survivorship Assurance)—यह आजीवन बीमे का ही स्वरूप है, किन्तु जितने व्यक्ति इस बीमे को लेते है इसमें रुपया तभी प्राप्त होता है जब अन्तिम व्यक्ति ही जीवित रहता है। इसकी प्रव्याजि प्राय अधिक होती है और साझेदारी संस्थाओं में साझेदारों की सुरक्षा के लिए (मृत्यु हो जाने पर उसके आश्रितों को यथोचित आर्थिक योग दिया जा सके) अत्यन्त उपयुक्त होती है।

(११) परिवार रक्षरण बीमा (Family Protection Assurance)—यह 'दोहरी अवधि बीमा' तथा 'आजीवन बन्दोबस्ती बीमा' का मिश्रित स्वरूप है और इसको 'कुटुम्ब रक्षरण' 'पूर्ण सुरक्षा' 'गृह-आय' आदि के नामों से सम्बोधित किया जाता है। बीमा प्रायः २० वर्ष की अवधि के लिए होता है तथा इसमें पूर्व बीमित की मृत्यु हो जाने पर उसके परिवार को प्रति वर्ष एक क्रमिक प्रतिशत से धन दिया जाता है अथवा इस अवधि के अन्त होने के बाद शेष धन दे दिया जाता है। यदि बीमित जीवित रहता है तो उस अवधि के बाद उसको सारा धन प्राप्त हो जाता है।

(१२) प्रदत्त बीमा-लेख (Paid-up Policy)—जब बीमित अपने को प्रव्याजि देने में असमर्थ पाता है तो वह तीन वर्ष के बाद अपने बीमे को प्रदत्त करवा लेता है, जिसके काररण वह बीमे की किश्त देने से मुक्त हो जाता है, किन्तु बीमे का धन जो कि कुल राशि का एक अंश ही होता है उसको निश्चित अवधि के बाद ही मिल सकता है। इस प्रकार असमर्थ होने की अवस्था में वह प्रव्याजि के रूप में दी हुई पूंजी प्राप्त कर सकता है।

(१३) महिलाओं का बीमा (Female Assurance)—महिलाओं का बीमा प्रायः नहीं किया जाता, क्योंकि उनकी मृत्यु बहुत ही अनिश्चित रहती है। अत्यन्त स्वस्थ महिला भी प्रसव आदि के अवसर पर मर सकती है। किन्तु आजकल कुछ अधिक दरों पर उनका भी बीमा किया जा सकता है। प्राय: ५० साल की अवस्था के पश्चात् उनका साधारण दर पर बीमा हो जाता है।

(१४) वार्षिक वृत्ति बीमा (Annuity Assurance)—इस पद्धति में बीमा-कम्पनी बीमित को एक निश्चित प्रतिफल के प्राप्त होने के बाद रुपया किश्तों पर चुकाने के लिए तैयार हो जाती है। जो व्यक्ति इस बीमे की राशि प्राप्त करता है उसको मनोनीत कहा जाता है तथा जो रुपया प्रव्याजि के रूप में लिया जाता है उसको प्रतिफल कहा जाता है। यह बीमा-पद्धति उन लोगों के लिए लाभदायक है जो कुटुम्ब की विशेष चिन्ता न करके अपनी आय को निश्चित रखना चाहते हैं ताकि इनको बार-बार एक निश्चित रकम मिलती रहे, और उस दशा में जब उनकी आय के अतिरिक्त साधन समाप्त हो जायें तो भी उनकी आय बनी रहे। किश्ती बीमे के कितने ही रूप है, जिनमें से कुछ नीचे दिए जाते हैं।

किश्ती बीमा के प्रकार

(१) सामान्य जीवन वार्षिक वृत्ति बीमा (Ordinary Life Annuity)—यह अत्यन्त सरल विधि है। इसके द्वारा बीमित को जीवन भर किश्तों पर धन मिलता रहेगा। बीमित को अनुबन्ध के समय एक निश्चित रकम दे देनी होती है और उस

रकम के ही अनुसार उसे मासिक, त्रैमासिक, अर्द्धवार्षिक अथवा वार्षिक किश्त मितील रहती है। इन किश्तो की राशि प्रब्याजि की रकम के अनुसार ही आँकी जाती है।

(२) स्थगित वार्षिक वृत्ति बीमा (Defered Annuity)—इस पद्धति मे किश्तो का भुगतान कुछ वर्षो के बाद किया जाता है तथा इसमे प्रव्याजि कुल राशि के रूप मे अथवा किश्तो के रूप मे कम्पनी को दी जा सकती है। यदि बीमित अवधि से पूर्व ही मर जाय तो कम्पनी उसको कुछ नही देती। इस बीमे का उद्देश्य वृद्धावस्था मे आर्थिक सुविधा के लिए ही होता है।

(३) जीवित वार्षिक वृत्ति बीमा (Survivorship Annuity)—इसके अनुसार कम्पनी किश्ते तब देती है जब बीमित की मृत्यु के समय उसका मनोनीत व्यक्ति जीवित हो। मनोनीत उस समय तक किश्तें प्राप्त करता रहेगा जब तक वह जीवित रहे। यदि मनोनीत की मृत्यु बीमित के ही हो जाती है तो बीमा रद्द समझा जायगा और उसका रुपया किसी को प्राप्त नही होगा। यह उस समय लाभप्रद होती है, जबकि कोई व्यक्ति अपने अभिभावक के लिए एक निश्चित आय का प्रबन्ध करना चाहे।

(४) अवकाश-ग्रहण बीमा (Retirement Annuity)—यह वृद्धावस्था मे पेन्शन का कार्य करती है। इसमे पहले स्थगित अवधि निश्चित कर ली जाती है, और उसके बाद फिर किश्तें दी जाती है। यदि बीमित की मृत्यु हो जाती है अथवा वह इस व्यवस्था को नही चाहता, तो बीमे का समर्पित मूल्य (Surrender Value) मिल जाता है। जब बीमित की अवकाश-ग्रहण तिथि आ जाती है तो उस समय उसको अधिकार होता है कि वह बीमे का रुपया एक साथ ले ले अथवा किश्तो पर ले। यदि वह किश्तो पर लेता है तो वह किश्तें बीमा की किसी भी विधि के अनुसार प्राप्त कर सकता है।

बीमा करने में सावधानी

(Precautions in Affecting Assurance)

ऊपर अनेक प्रकार की बीमा-विधियो का वर्णन किया गया है। इसलिये बीमा करने वाले व्यक्ति को उनके चुनने मे बहुत सावधानी रखनी चाहिये। उन्हें चुनते समय उसके मस्तिष्क मे प्रायः इन बातों का होना आवश्यक है—

(१) उसको किस लिए और क्यो बीमा कराना है? (२) क्या वह बीमे की रकम चुका सकेगा? (३) क्या वह उसको लगातार चालू रख सकेगा? (४) उसके परिवार की क्या दशा है या आर्थिक रूप से वह इतना योग्य है कि परिस्थितियों का सामना कर सके? (५) क्या वह अपनी इच्छा से धन संचय कर सकता है या नही यदि नही कर सकता है तो क्या बीमा उसके लिए अच्छा साधक है? (६) कौन सा गोप-लेख उसके लिये लाभकर होगा और क्यो?

जीवन-बीमा के लाभ और हानियाँ
(Advantages and Disadvantages of Life Assurance)

जीवन-बीमा दुर्दिन का सहारा माना जाता है, क्योंकि यह मनुष्य को सामाजिक तथा आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि आधुनिक युग की सबसे बड़ी देन जीवन-बीमा है। इससे मनुष्य मौत के भय से मुक्त हो सकता है तथा उसको मरने के पश्चात् अपने परिवार की यह चिन्ता नहीं रहती कि वे दर-दर की ठोकरें खायेंगे। उसे विश्वास रहता है कि यदि वह जीवित रहा तो उसकी वृद्धावस्था में यह धन उसकी आर्थिक सुदृढ़ता का एक सहारा रहेगा और यदि उसकी मृत्यु हो गई तो उसकी स्त्री तथा बच्चे आर्थिक दिशा में यह अनुभव नहीं कर पायेंगे कि उसकी मृत्यु हो गई है।

उन व्यक्तियों के लिये, जो अपने पारिवारिक तथा अन्य सामाजिक व्यय के कारण धन-संचय नहीं कर सकते, बीमा एक बहुत बड़ा अवलम्बन हो जाता है और उनको प्रेरित करता है कि अपने व्यर्थ के खर्चे से कुछ धन बचा कर आड़े समय के लिये एक निधि संचित कर दे, क्योंकि जिस समय उसको प्रव्याजि दी जाती है तो कोई विशेष आर्थिक भार नहीं पड़ता, किन्तु जिस समय बीमे का भुगतान होता है तो यह बहुत बड़ी राशि प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार बिना अपने आवश्यक व्यय को कम किये ही वह अच्छा धन सचय कर लेता है।

सामाजिक दृष्टि से भी जीवन-बीमा विशेष हितकर सिद्ध हुआ है, क्योंकि आज के युग का प्रमुख गुण सम्पन्नता है और वह सम्पन्नता आर्थिक सुदृढ़ता से ही सम्भव हो सकती है, इसलिये साधारण मजदूर भी अपनी मजदूरी में से थोड़ा-थोड़ा बचा कर समाज में अपना अस्तित्व स्थापित कर सकता है।

जो व्यक्ति अपनी सन्तान की शिक्षा आदि के लिये पर्याप्त धन एकत्रित नहीं कर सकते उनके लिये भी बीमा बहुत सहायक सिद्ध हुआ है, क्योंकि बीमा-पद्धति में ऐसी भी व्यवस्था रहती है कि बालकों के शिक्षाकाल में उनको बराबर आर्थिक योग मिलता रहे तथा उनके युवा हो जाने पर विवाह आदि में उनको पर्याप्त धन मिल के सके ताकि पिता को शिक्षा अथवा विवाह भार-स्वरूप नहीं दिखाई दे। लॉयड जॉर्ज ने एक बार कहा था ब्रिटेन की सफलता प्रथम युद्ध में बहुत कुछ सीमा तक बीमा कम्पनियों से ही सम्भव हो सकी है।

वर्तमान युग में जीवन-बीमा व्यापारिक जगत में बड़ा महत्वपूर्ण हो गया है। यह व्यापार में साख का कार्य करता है। जिस समय व्यापार की स्थिति सुदृढ़ होती है व्यापारी बहुत बड़ी राशि में बीमा करवा लेते हैं। आवश्यकता के समय गोप-लेख पर राशि उधार लेकर अपनी कठिनाइयों का निवारण कर सकते हैं। साझेदारी में भी संयुक्त बीमा कराने में यदि एक साझेदार की मृत्यु हो जाती है तो उस समय जो

धन प्राप्त होता है, उससे साझेदारी की सम्पत्ति पर बिना आरोप किये ही मृतक के उत्तराधिकारियों को आर्थिक योग दिया जा सकता है। इसी प्रकार कर आदि की व्यवस्था भी बीमे से सरलतापूर्वक सुलझाई जा सकती है। कम्पनी के किसी महत्वपूर्ण कार्यकर्ता का जीवन-बीमा कर देने से उसकी मृत्यु पर होने वाली हानि की क्षति-पूर्ति भी की जा सकती है।

जीवन-बीमे की बुराइयाँ
(Ills of Life Assurance)

जीवन-बीमे की लोग बुराइयाँ करते हैं। प्रथम, धार्मिक आधारों पर जीवन, बीमा करना बुरा होता है। बीमा प्रमण्डल सूद खाने वाली कम्पनियाँ होती है, जो कि धर्मज्ञों की दृष्टि मे पाप होता है। वे समझते है कि इन कम्पनियों का उद्देश्य दूसरो के धन से लाभ कमा कर मौज उड़ना है। यह सिद्धान्त कि "जिसको सिर दिया है उसे सेर भी दिया है", प्रायः धार्मिक प्रवृत्ति वाले लोगों मे व्यापक रूप से रहता है और इसलिये वे अपने बाल-बच्चों की सुरक्षा भगवान पर छोड़ देते है। द्वितीय, बीमा-कम्पनियाँ किसी की मृत्यु होने पर दूसरो का धन मृतक के परिवार को दे देती हैं इस प्रकार वे अपने ऊपर किसी प्रकार की जोखिम लिये ही कार्य करती हैं। तृतीय, वे लोग यह भी समझते है कि बीमा-कम्पनियो मे दिया जाने वाला धन डूब जाता है, क्योंकि वे लोग धन के बदले मे तात्कालिक प्रतिफल कुछ भी नही देते। चतुर्थ, यह कहा जाता है कि यह पूँजीवादी व्यवस्था का एक दृढ स्तम्भ है, जिसके द्वारा गरीबों से धन एकत्रित कर अमीरों के उद्योग तथा व्यापार में लगाया जाता है, जिससे उनको लाखों का लाभ होता है। इस प्रकार उनके धन का बहुत बड़ी सीमा तक दुरुपयोग भी किया जा सकता है।

जीवन-बीमा की उपरोक्त कथित बुराइयाँ इस प्रकार की नही है कि वे उससे होने वाले लाभ के महत्व को किसी भी रूप मे कम कर सकें।

बीमा करने की विधि
(Methods of Life Assurance)

जब कोई व्यक्ति बीमा कराना चाहता है तो उसको सर्वप्रथम एक प्रस्ताव पत्र भरना पड़ता है, जिसमे कि उसको अपने जीवन, आदत तथा परिवार-सम्बन्धी अनेक प्रश्नो का उत्तर देना पड़ता है। प्रस्ताव-पत्र के उपरान्त उसकी डाक्टरी परीक्षा की जाती है। डाक्टर की परीक्षा अनुकूल होने पर कम्पनी के सचालक उसके जीवन-बीमा का प्रस्ताव स्वीकार कर लेते हैं। बीमे की स्वीकृति मिल जाने पर उससे प्रव्याजि की किस्त माँगी जाती है। यह प्रव्याजि बीमे की अलग अलग गोप-लेखों के अनुसार निर्धारित की जाती है। जैसे ही बीमित प्रथम प्रव्याजि भेजता है वैसे ही

उसका कम्पनी के साथ का अनुबन्ध पूर्ण समझा जाता है और कम्पनी के द्वारा 'जीवन-पॉलिसी' (Policy) भेज दी जाती है। बीमित व्यक्ति को अपनी अवस्था का प्रमाण-पत्र भी भेजना आवश्यक है। इसके साथ-साथ उसको यह भी लिखना होता है कि उसकी मृत्यु पर बीमे का रुपया किसको प्राप्त हो।

बीमा-कम्पनी जिस पॉलिसी को बीमित के पास भेजती है उस पर कम्पनी के प्रबन्धक के हस्ताक्षर तथा दो संचालकों के हस्ताक्षर होते हैं और उसके ऊपर कम्पनी की सार्व मुद्रा (Common Seal) लगा दी जाती है। गोप-लेख पर विधान के अनुसार रेवेन्यू टिकिट भी लगाना अगना आवश्यक है तथा उस पर बीमित का पूर्ण विवरण, बीमा की राशि तथा उसके उत्तराधिकारी आदि के नाम भी लिखे रहते हैं।

प्रव्याजि की गणना के लिए तीन बातों का ध्यान रखना पड़ता है–(१) मृत्यु, (२) बीमा-योग्य हित, (३) व्यय और लाभ। मृत्यु के प्रश्न को हल करते समय यह देखना पड़ता है कि बीमित की आयु वाले व्यक्तियों की प्रति वर्ष मृत्यु संख्या क्या है और उसी के अनुसार पहले ही इतनी प्रव्याजि लेने का प्रयत्न किया जाता है, जिससे कि उसकी मृत्यु होने के पूर्व बीमे का धन प्रव्याजि के रूप में प्राप्त किया जा सके। जहाँ तक बीमा-योग्य हित का प्रश्न है, मनुष्य की अवस्था के बढ़ने के कारण मृत्यु की सम्भावना भी बढ़ती जाती है। अतः आयु के बढ़ने के साथ-साथ प्रव्याजि की राशि भी बढ़ा दी जाती है अथवा बीमे के प्रारम्भिक काल में ही प्रव्याजि इस प्रकार दी जाती है कि भविष्य में मृत्यु की क्षति पूर्ति की जा सके। व्यय और लाभ का प्रश्न भी इसी प्रकार निश्चित किया जाता है। यह पहली प्रव्याजि पर कुछ अधिक प्रतिशत के रूप में तथा प्रव्याजियों के नवीनकरण होने पर समान प्रतिशत के रूप भी ले लेते हैं।

बीमित को अपनी आयु का प्रमाण देने में सच्चाई रखनी चाहिए, जो निम्न-लिखित प्रकार से दी जा सकती है। (१) नगरपालिका का जन्म-मरण रजिस्टर, (२) मूल जन्मपत्री, (३) स्कूल का सर्टिफिकेट, तथा (४) सर्विस रजिस्टर आदि।

जोखिम का प्रारम्भ
(Commencement of Risk)

जोखिम का प्रारंभ प्रायः प्रथम प्रव्याजि के चुका देने के पश्चात् हो जाता है। यदि बीमित चाहता हो कि उसकी जोखिम पूर्ण ब्याज चुकाने के पहले ही से प्रारंभ हो जाय तो वह पॉलिसी के दिन से पहले की तिथि डलवा सकता है। ऐसी दशा में उसको प्रव्याजि उसी तिथि से देनी पड़ती है।

यदि कोई पॉलिसी बराबर दो वर्ष तक चलती रहे तो महत्वपूर्ण बातों को छोड़कर पॉलिसी को रद्द करवाने की समस्त बातें अमान्य होंगी तथा कम्पनी उसमें दिये गये विवरण को झूठा सिद्ध नहीं कर सकेगी। यदि पॉलिसी के एक वर्ष के अन्दर कोई आत्मघात करके मर जाय तो पॉलिसी रद्द मानी जाती है, किन्तु उस अवस्था में

जबकि पॉलिसी का धन-प्राप्तकर्ता आत्महत्या की सूचना पहले ही देता है तो बीमा-कम्पनी उसके हित की राशि उसे दे सकती है।

जब कोई व्यक्ति बीमा के समय करने वाले व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय को ग्रहण करता है तो उसकी सूचना उसे तत्काल बीमा-कम्पनी को भेजनी पड़ती है, जिससे वह विचार कर उसकी प्रव्याजि को बढ़ा सकती है।

जोखिम स्थापित करने के लिए बीमित तथा उसके उत्तराधिकारियों को जोखिम की सूचना तुरन्त बीमा-कम्पनी के पास भेज देनी चाहिए। यदि बीमित की मृत्यु हो जाय तो डाक्टर के प्रमाण-पत्र सहित मृत्यु के कारण को लिखकर नियमित समय के अन्दर सूचना भेज दी जानी चाहिए, जिससे कम्पनी आवश्यक छानबीन कर उस सूचना की सत्यता को स्थापित कर सके तथा जोखिम की राशि का शोधन किया जा सके। जोखिम का भुगतान बीमे की राशि तक ही सीमित रहता है।

अतिरिक्त सचय तथा उसका वितरण

(Extra Saving and its Disbursement)

जीवन-बीमे का सामाजिक मूल्याकन करके प्रव्याजि तथा यथार्थ भुगतान में जो कुछ अन्तर होता है उसको अतिरिक्त सचय कहते है। इसका प्रयोग कम्पनी के दायित्वों की पूर्ति के लिए किया जाता है। यह अतिरिक्त धन प्रायः ब्याज, अधिक व्यय निधि, रद्द अथवा समर्पण मूल्य, अधिक बोनस निधि, मृत्यु सचय आदि द्वारा प्राप्त किया जाता है। बीमित को प्रायः ब्याज ३% दिया जाता है, किन्तु कम्पनी लोगों से करीब ६% ब्याज लेती है। इसलिए इस अन्तर में कम्पनी को अतिरिक्त धन बच जाता है। जीवन-बीमे के लिए कम्पनी के द्वारा कम्पनी कुछ निश्चित पूँजी प्रारम्भिक खर्चों के लिए रख देती है, किन्तु यह निधि इतनी अधिक होती है कि व्यय करने के पश्चात् भी बहुत कुछ धन शेष रह जाता है। इसके अतिरिक्त जैसे-जैसे व्यापार का जीवन-काल बढ़ता है उसके खर्चों में कमी आ जाती है और इस प्रकार कम्पनी को बहुत बचत हो जाती है। जिस अवस्था में बीमित प्रव्याजि का भुगतान नही कर सकता तो बहुत अवस्थाओं में उसकी पूर्व-दत्त प्रव्याजि समाप्त हो जाती है तथा कभी-कभी वह अपनी पॉलिसी का समर्पण करवा लेता है। ऐसी अवस्था में भी कम्पनी के पास बचत हो जाती है। लाभ सहित तथा रहित जीवन-बीमाओं के अतर से भी (जब लाभ-रहित बीमा अधिक हो) बचत हो जाती है। जब कम्पनी बन्दोबस्ती बीमा करती है और बीमित पूरे समय तक जीवित रहता है अथवा कोई आकस्मिक घटना नही घटती तो इस कारण से भी कम्पनी को बचत हो जाती है। प्रमंडल को प्रतिभूतियों तथा किश्ती व्यापार में भी बचत हो जाती है।

बचत का वितरण (Disbursement of Saving)—कम्पनी अपनी बचत

(७) **रोकड़ी बोनस** (Cash Bonus)—जब कम्पनी अपने बीमा-धारियों को बोनस नकद देती है तो उसको रोकड़ बोनस कहते है। इसके द्वारा बीमितों को नियमित रूप से आय हो जाती है।

बीमा-योग्य हित
(Insurable Interest)

जीवन-बीमा मे बीमा-योग्य हित की व्याख्या करना कठिन है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने अथवा अपने किसी सम्बन्धी के जीवन की उपयोगिता का मूल्याकन नही कर सकता, किन्तु उनके हित का अनुमान प्रायः उनकी आर्थिक अवस्थाओं पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दो मे यह कहना चाहिये कि बीमा-योग्य हित का अर्थ यह है कि बीमा करवाने वाले व्यक्ति का बीमित के जीवन से कितना आर्थिक स्वार्थ है तथा उसकी मृत्यु हो जाने पर उसकी कितनी आर्थिक हानि हो सकती है वही धनराशि बीमा-योग्य हित कहलायेगी। सामान्यत. व्यक्ति या तो स्वय अपना बीमा करवाता है अथवा उन व्यक्तियो का करवाता है जिनसे उसका निकटतम सम्बन्ध हो। यह निकटतम सम्बन्ध कितने ही प्रकार का हो सकता है, जैसे पिता पुत्र का, पति पत्नी का, स्वामी सेवक का, धनी ऋणी का, सरक्षक अभिभावक का आदि।

बीमा कराने वाले व्यक्तियो का ऊपर बताये गये सम्बन्धो मे अलग-अलग प्रकार का हित होता है, जैसे अपने जीवन में जो हित होता है उसमें धन-राशि की सीमा निश्चित नही की जा सकती, क्योंकि यह उस व्यक्ति की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है और वह अपनी शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक राशि का बीमा करवा सकता है।

जब पिता अपने पुत्र का जीवन-बीमा करवाता है तो यह स्वाभाविक है कि पुत्र का अपने पिता के जीवन मे हित होगा। पिता पुत्र के लिये बीमा इसलिये कराता है कि उसके भविष्य के लिये कुछ आर्थिक सुदृढता की जा सके तथा उसकी मृत्यु हो जाने पर ही व्यवस्थित रूप से चल सके। इसी प्रकार यदि पति पत्नी तथा पत्नी पति के लिये जीवन-बीमा कराती है तो उसमे भी एक-दूसरे का हित निहित रहता है। उनका उद्देश्य भी संकट से सुरक्षा करना है।

धनी और ऋणी मे भी धनी को ऋणी के जीवन मे हित रहता है, क्योंकि उसको ऋणी से ऋण दिया हुआ धन वापस लेने की इच्छा रहती है। इसलिये यदि ऋणी की मृत्यु हो जाती है तो उसको धन मिलने मे कठिनाई हो जाती है। इसलिये वह चाहता है कि उसकी दी हुई रकम सुरक्षित रहे और ऋणी की मृत्यु हो जाने पर भी धनी धन वापस प्राप्त कर सके। इस प्रकार जमानत देने वाले को जमानती मे हित होता है, सरक्षक का अभिभावक मे हित होता है आदि।

जीवन-बीमा का अनुबन्ध तब तक पूर्ण नही समझा जाता जब तक उसमें

बीमा-योग्य हित न हो, क्योंकि बीमा-योग्य हित न होने से वह एक साधारण विनियोग समझा जायेगा, और उसमे प्रसंविदे के समस्त तत्व पूर्ण नही होंगे। अस्तु, अन्य प्रकार के अनुबन्धों के समान जीवन-बीमे मे भी बीमा-योग्य हित होना आवश्यक है।

जीवन-बीमा का राष्ट्रीयकरण

(Nationalisation of Life Assurance)

[१८ जनवरी १९५६ को राष्ट्रपति द्वारा] 'जीवन-बीमा आपत्तिकालीन आदेश' (Life Insurance Emergency Provision) प्रसारित किया गया। यह आदेश बीमा-उद्योग के राष्ट्रीयकरण की ओर प्रथम कदम था। इसके अनुसार जीवन-बीमा व्यवसाय का सारा कार्य उसी दिन से सरकार के हाथ मे चला गया और जो बीमा-कम्पनियाँ केवल जीवन-बीमा का व्यवसाय कर रही थी उनका सारा प्रबन्ध, तथा जो कम्पनियाँ अन्य व्यवसाय भी कर रही थी उनका जीवन-बीमा से सम्बन्धित प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार द्वारा होने लगा। इस आदेश के अनुसार सरकार ने शीघ्र ही अपने प्रतिनिधि, जिसको सरक्षक (Custodian) कहा जाता है, जीवन-बीमा के व्यवसाय का प्रबन्ध करने के लिए मनोनीत किये। इस आदेश मे यह बतलाया गया था कि बीमा-कम्पनियाँ सरकार के एजेंट के रूप मे कार्य करेंगी, लेकिन उन्हे विनियोग (Investments) का अधिकार नही होगा। यह भी बतलाया गया कि जब तक कम्पनी सरक्षकों (Custodians) के प्रबन्ध मे रहेगी सरकार अंशधारियों के लाभ की पूर्ति पिछले लाभों के अनुसार करेगी।

जीवन-बीमा कॉरपोरेशन बिल मई १९५६ मे संसद द्वारा पास कर दिया गया है। अब सारे बीमा व्यवसाय का प्रबन्ध इसी कॉरपोरेशन द्वारा होता है। कॉरपोरेशन का मुख्य कार्यालय बम्बई मे रखा गया है, क्योंकि कुल बीमा व्यवसाय का अधिकांश भाग इसी क्षेत्र से था। कॉरपोरेशन का कार्यालय बम्बई मे रखते हुए भी जीवन-बीमा व्यवसाय का केन्द्रीयकरण नही किया गया है और उसको अलग-अलग क्षेत्रों (Zones) मे विभाजित कर दिया गया है। केन्द्रीय कार्यालय के द्वारा केवल विनियोग एवं प्रमुख नीतियों (Important Policy Matters) पर विचार किया जायगा।

राष्ट्रीयकरण के कारण (Causes of Nationalisation)—आकाशवाणी से भाषण देते हुए श्री देशमुख ने निम्नलिखित कारण राष्ट्रीयकरण के लिए उपस्थित किये थे—

(१) **बचत को इकट्ठा करने का साधन**—योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना बनाते समय साधन-पूर्ति का उल्लेख करते हुए बीमा को भी इसका साधन बताया था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जीवन-बीमा का राष्ट्रीयकरण किया

गया। इससे मनुष्यों की बचत मे वृद्धि होकर विनियोग बढेंगे, जो द्वितीय योजना मे साग्व की पूर्ति करेंगे। जीवन-बीमा कम्पनियों की कुल सम्पत्ति ३८० करोड रुपया है, जिस पर वे १२ करोड रुपया प्रति वर्ष लाभ कमाती है। निजी साहस के द्वारा यह अनुमान लगाया गया था कि व्यवसाय को ८०००० करोड रु० तक बढाना चाहिये। इस प्रकार से भारतवर्ष में बीमा व्यवसाय का विकास करने मे महायता मिल सके।

(२) **बीमा कम्पनियों का अन्त हो जाना**—श्री देशमुख ने बतलाया कि राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध मे दो प्रकार की विचारधाराएं थी। कुछ राष्ट्रीयकरण का पूर्ण समर्थन कर रहे थे और कुछ बीमा-कम्पनियों के चेयरमेन यह दलील उपस्थित कर रहे थे कि भारतवर्ष मे अन्य देशों की तरह राज्य की योजनाएं सफल नहीं हुई हैं। इसलिये राष्ट्रीयकरण के द्वारा उसकी कार्य क्षमता एवं लोच मे कमी होगी। श्री देशमुख ने बतलाया कि जो राज्य-योजनाएँ पूर्ण लगन एव उत्साह से चलायी जा रही है वे पूर्णतया सफल हुई हैं और उनमें अधिक कार्यशीलता एवं लोच के साथ कार्य किया गया। आगे उन्होंने बतलाया कि निजी साहस कार्यक्षमता पर चिल्लाते हैं, लेकिन उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि बीमा प्रमडल, जिसका कभी अन्त नहीं होना चाहिये, तो भी हम देखते हैं कि गत १० वर्षो मे २५ कम्पनियो को विलयन करना पडा तथा २५ इस बुरी दशा में फँस गई कि उन्हे अपने व्यवसाय को दूसरी कम्पनियो के साथ करना पडा और पालिसी-धारियों को क्षति उठानी पडी। अतः बीमा कम्पनियो का समापन रोकने के लिए राष्ट्रीयकरण करना पडा।

(३) **धन के विनियोग मे कपट**—राष्ट्रीयकरण का यह भी कारण है कि बीमा कम्पनियों ने अपने विनियोगो मे अत्यन्त कपटपूर्ण व्यवहार किया। ऐसी कम्पनियों की प्रतिभूतियाँ ले ली जाती थीं, जो बुरी दशा में थीं। अपने चिट्ठे (Balance Sheet) मे जो प्रतिभूतियाँ ये बतलाती थीं वे केवल नाम-मात्र की थीं, वास्तविक प्रतिभूतियाँ नहीं रहती थी। आपत्तिकालीन आदेश के जारी करने समय ही जब बीमा-कम्पनियो की जाँच की गई तो 'भारत बीमा-कम्पनी' में २ करोड़ रुपयों का गबन मिला। इस प्रकार से इसको रोकने के लिए राष्ट्रीयकरण किया गया।

(४) **सलेखधारी के हितों की सुरक्षा के लिये**—जीवन-बीमा कम्पनियो के पास जो जीवन बीमा कोष रहता है वे उसको अपनी पूँजीगत आवश्यकताओं के लिए उपयोग मे लाती हैं। यद्यपि वे कानून द्वारा ऐसा नहीं कर सकती थी तो भी धोखा देकर वे इस प्रकार का कार्य करती थीं। इन पूँजीगत आवश्यकताओं मे प्रबन्धकों का हित रहता था। अतः पॉलिसी होल्डरों की रक्षा के लिए यह कदम उठाना पड़ा।

राष्ट्रीयकरण से उत्पन्न समस्याएँ एवं उनका समाधान

(Problems of Nationalisation and their Solution)

बीमा के राष्ट्रीयकरण से अनेकानेक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं, लेकिन निम्नलिखित तीन प्रमुख समस्याएँ है—

(१) दावों का निर्णय (Settlement of Claims)।

(२) अधिलाभांश का भविष्य (Future of Bonuses)।

(३) प्रबन्ध के लिये उपयुक्त व्यवस्था (Evolution of a Suitable Pattern for Administration)।

(१) **दावों का निर्णय**—राष्ट्रीयकरण के पश्चात् यह आपत्ति उत्पन्न हो गयी है कि दावो के निर्णय करने में काफी देर होगी। मनुष्यों का संदेह इसलिये भी दृढ हो गया है कि सरकार द्वारा सचालित पेन्शन एवं प्रोविडेन्ट फन्ड के दावो का निर्णय करने मे काफी देर लग जाती है। इसी प्रकार मे सरकार को दिये गए माल का भुगतान प्राप्त करने मे पोस्टल बीमा एव रेल्वे सम्बन्धी दावो के निर्णय मे, करदाता को आय कर वापिस करने के सम्बन्ध मे काफी देरी एव कठिनाइयो का सामना करना पडता है और सरकारी कार्य मे लालफीताशाही (Red Tapism) का बोलवाला होने के कारण जनता सरकारी विभागों से व्यवहार करने मे उदासीन रहती है। साथ ही साथ निजी बीमा-प्रमडलो ने दावो के शोधन एव निर्णय करने के सम्बन्ध मे अच्छा रेकार्ड स्थापित किया है। इस प्रकार राष्ट्रीयकरण करने के कारण दावो के निर्णय एव शोधन मे काफी देरी होगी। जनता सरकारी विभाग से व्यवहार करने मे सकोच करेगी। फलस्वरूप बीमा-व्यवसाय कम होगा, क्योकि जो मनुष्य एक वार असतुष्ट हो जाता है वह तथा उसका उत्तराधिकारी बीमा उद्योग के विपक्ष मे काफी प्रचार करेगा। अगर बीमित किसी दरिद्र परिवार से है तो दावों का शोधन न होने से उसे काफी यातनाओं का सामना करना पडेगा।

यह समस्या अवश्य उत्पन्न होगी, लेकिन पूरे बीमा-व्यवसाय का केन्द्रीयकरण न करके विकेन्द्रीयकरण किया गया है और अलग-अलग क्षेत्रो (Zones) मे कार्य का विभाजन कर दिया गया है। अतः दावों के शोधन एव निर्णय का कार्य क्षेत्रो (Zones) द्वारा होगा और उसी प्रकार से शीघ्रातिशीघ्र हो यह कार्य हो जावेगा।

(२) **अधिलाभांश का भविष्य**—अधिलाभाश पहले ९२½% सलेखधारियो को तथा ७½% अशधारियों को दिया जाता था, लेकिन अब सारे लाभ पर सरकार का अधिकार होगा और यह बतलाया जाता है कि सलेखधारियो का हित अधिक होगा। लेकिन व्यवहार मे ऐसा नही होगा, क्योकि खर्च की प्रवृत्ति, मृत्यु-दर, ब्याज-दरें ही बचत (Surplus) का निश्चय करते हैं और अब खर्चा बढ जायगा और इसके लिये एजेन्टो की कमीशन दर में कमी करने का विचार सरकार करेगी, जिससे एजेण्ट

पूर्ण उत्साह एवं लगन से कार्य करेंगे और व्यवसाय को धक्का पहुँचेगा। स्वतन्त्र साहस अपने धन को अधिक आय वाले कार्य मे लगाता है, लेकिन साथ ही साथ धन की सुरक्षा पर भी ध्यान देता है और वह यह नही सोचता कि किसी विशेष प्रकार के विनियोग मे राष्ट्र का हित होगा। लेकिन सरकार जीवन-बीमा कोष के धन को उन कार्यों मे, जो राजनीतिक दृष्टि मे अच्छे है लेकिन आर्थिक दृष्टि मे अच्छे नहीं है, लगायेगी। उदाहरण के लिये हो सकता है कि सरकार उस धन को आज भवन निर्माण-योजना मे, कल अन्य योजनाओं पर, जो हानि पर चलती है, लगाये। हानि होने पर करदाता पर भार बढ़ेगा और संलेखधारियों (Policy Holders) को भी दुख होगा कि उनका पैसा अच्छे विनियोग मे नहीं लगाया जा रहा है।

इस समस्या का समाधान इस प्रकार हो जाता है कि कॉरपोरेशन एक स्वतंत्र संस्था के रूप मे कार्य करेगी। सरकार का हस्तक्षेप बहुत कम होगा और यह भी बतलाया गया है कि जिस अनुपात मे राष्ट्रीयकरण के पहले निजी विभाग एवं सरकारी विभाग में रुपया लगाया जाता था, उतने ही अनुपात मे अब लगाया जावेगा। अतः सरकार भी धन की सुरक्षा एव अच्छी आय दोनों को दृष्टि मे रखती हुई अपने विनियोग करेगी।

(३) **प्रबन्ध के लिये उपयुक्त व्यवस्था**—कॉरपोरेशन बनने के पूर्व यह समस्या भी थी कि अगर एक ही सगठन बनाया गया तो कितनी ही अव्यवस्थाओं का सामना प्रबन्ध मे करना पडेगा।

हमारी यह समस्या हल हो जाती है जब हम देखते है कि व्यवसाय के प्रबन्ध के लिये सारे देश को कुछ क्षेत्रों (Zones) मे विभाजित किया गया है और कार्यों का केन्द्रीयकरण कर दिया गया है। प्रव्याजि को इकट्ठा करना, कर्मचारियों की समस्याओं का निर्णय करना, दावों का निर्णय एवं भुगतान, समर्पण मूल्य (Surrender values) तथा कर्ज देने के कार्यों का विकेन्द्रीयकरण कर दिया गया है। कॉरपोरेशन मे संलेखधारियों का भी प्रतिनिधित्व होगा। इस प्रकार जो संगठन बनाया गया है वह स्वतन्त्र, प्रजातान्त्रिक एव लोचदार है।

'जीवन-बीमा-निगम' का काम अभी तक सँभल नहीं पाया और निकट भविष्य मे सँभल जाने के लक्षण नही दिखाई पडते, यह तथ्य छिपना कठिन है। यद्यपि इतने बडे काम को सुव्यवस्थित करने की दृष्टि से ६ माह का समय बहुत अधिक नही माना जा सकता, तथापि जनसाधारण के लिए यह समझना सरल नही है कि वित्तमंत्री श्री कृष्णमाचारी ने गत दिसम्बर १९५६ मे जो यह आश्वासन लोकसभा में दिया था कि राष्ट्रीयकरण जाने वाला नहीं और उसका विकास होगा वह किस प्रकार पूरा होगा।

राष्ट्रीयकरण हो जाने से जादू हो जायगा और हालत कई गुनी अच्छी हो जायगी, इस तरह की आशा बीमा कम्पनियों के २७ हजार कर्मचारियों ने की थी। उनमें से कुछ की आशा पूरी हुई होगी। लेकिन अधिक ऐसे नहीं, जो अपने को पक्षपात एवं लालफीताशाही की चपेट में आया हुआ अनुभव कर रहे हैं। सबको खुश कर देना अथवा सब की मर्जी के मुताबिक सुविधायें दे देना किसी के लिये भी सम्भव नहीं, लेकिन जितना असन्तोष आजकल दिखायी देता है, इतना बना रहना और ६ माह बीत जाने पर भी उसके भीतर ही भीतर सुलगने के लक्षण बने रहना चिन्ता का विषय है।

बीमा-निगम के कार्यालयों में व्याप्त सुस्ती एवं उदासीनता का अनुभव बीमा कराने वालों को अनेक रूपों में हो रहा है। पत्रों का उत्तर अथवा पूछताछ करने पर जानकारी मिलने में जो चुस्ती दिखाई देती थी, उसका पता नहीं। निगम के कर्मचारियों का व्यवहार ऐसा हो रहा है, मानो यह प्रतिष्ठान संचालक-विहीन हो गया हो। हम मानते हैं कि यह स्थिति सदा नहीं रहेगी, लेकिन दूसरी पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में ही इसके अधिक दिनों तक बने रहने पर वह लाभ कैसे मिल सकेगा कि जिसको दृष्टि में रख कर राष्ट्रीयकरण हुआ ?

राष्ट्रीयकरण की आलोचना एवं उत्तर
(Nationaisation Criticized and Appreciated)

यद्यपि संसद में भाषण करते हुए राष्ट्रपति वित्तमंत्री, कांग्रेस अध्यक्ष ने यह बतला दिया था कि जीवन-बीमा का राष्ट्रीयकरण समाजवादी ढांचे की स्थापना करने में सहायक सिद्ध होगा, एवं अनेक तर्क उपस्थित किये, लेकिन प्रमुखतया निम्न आलोचनाएँ राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में की जाती हैं—

(१) **बीमा व्यवसाय की प्रगति में बाधक**—राष्ट्रीयकरण का विरोध करते हुए यह कहा जाता है कि राष्ट्रीयकरण वास्तव में समाजवादी उन्नति की अन्तिम सीमा है। राष्ट्रीकरण और समाजवादी व्यवस्था की उन्नति दोनों के बीच कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। अगर यह मान भी लिया जाय कि समाजवादी व्यवस्था उचित एवं व्यावहारिक आदर्श है और उस आदर्श को प्राप्त करने के लिए राष्ट्रीयकरण एक साधन है, लेकिन यह नहीं भूल जाना चाहिये कि ब्रिटेन ने कभी नहीं सोचा था कि बीमा का राष्ट्रीयकरण समाजवादी व्यवस्था के लिए आवश्यक है, क्योंकि जिस राज्य ने समाजवादी व्यवस्था को अपना लिया है वहां के नागरिकों की प्रवृत्ति, अपने भविष्य के लिए बचाने की प्रवृत्ति, शक्तिशाली नहीं होगी जितनी वह स्वतन्त्र साहस व्यवस्था और व्यक्तिगत प्रवृत्तियों में होती है। कल्याणकारी राज्य व्यक्तिगत बचत का विरोध है, क्योंकि व्यक्ति यह सोचते हैं कि हमें बचाने की क्या आवश्यकता है, जब राज्य हमारी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए विश्वास दिलाती है। इस प्रकार

से समाजवादी व्यवस्था में बीमा उद्योग का भविष्य, जबकि राष्ट्रीयकरण कर लिया गया है, उज्ज्वल होने के स्थान पर अन्धकार में है।

इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि समाजवादी व्यवस्था, साम्यवादी व्यवस्था नहीं है। समाजवादी व्यवस्था में भी व्यक्तिगत प्रवृत्तियों, व्यक्तिगत बचत का स्वागत किया जावेगा और बीमा उद्योग का भविष्य उज्ज्वल होगा।

(२) सरकार ने राष्ट्रीयकरण के लिए यह दलील दी है कि कुछ कम्पनियों ने जीवन-कोष के विनियोग में गोलमाल किया है, लेकिन यह दलील निरर्थक है। संरक्षकों (Custodians) ने, जिनके समक्ष सारे श्रक उपस्थित है, उनमें भी कोई विशेष गलतियाँ नहीं पायी हैं। अगर कुछ थोड़ी-बहुत गलती हो भी जाती है तो सरकार के हाथों वे गलतियाँ बहुत अधिक होंगी। अगर बीमा-कम्पनियों ने धन का दुरुपयोग किया तो यह कानून की गलती थी, जो दुरुपयोग को नहीं रोक सका। दुरुपयोग को रोकने के लिए राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता न थी। सरकार कानून में परिवर्तन करके इसको रोक सकती थी और काले कारनामे करने वाले व्यक्तियों एवं कम्पनियों को, जिनकी संख्या नगण्य थी, बीमा उद्योग में हटाया जा सकता था। इस सम्बन्ध में आलोचना करने वाले व्यक्ति एक सुझाव यह भी देते हैं कि जिन कम्पनियों ने कोष का दुरुपयोग किया है उनको सरकार अपने अधिकार में कर लेती और अच्छी कम्पनियों को उसी प्रकार में चलने देती। इस प्रकार से सरकारी एवं व्यक्तिगत साहस बीमा-उद्योग में होना और स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा रहती, ताकि जनता को उचित कम्पनियों में बीमा करवाने का अवसर दिया जा सकता और सरकार भी इस निन्दा से बच सकती कि बीमा उद्योग पर एकाधिकार हो गया है। सरकार के लिये भी यह अवसर होता कि वह यह सिद्ध करे कि व्यक्तिगत साहस उनके हित में नहीं है।

(३) राष्ट्रीयकरण होने से सभी प्रकार के गोपलेखों में एक ही प्रकार की शर्तें मिलेंगी। ओरियन्टल बीमा कम्पनी की दर में प्रव्याजि दर ५% कम होगी, लेकिन इसमें पॉलिसी-होल्डर्स को कुछ भी लाभ नहीं होगा। इण्डियन चेम्बर ऑफ कॉमर्स ने बतलाया कि १०१ कम्पनियों में २० वर्षीय बीमा जो ३० वर्ष की अवस्था में किया जाता था उनमें ७८ कम्पनियों की दर ओरियन्टल कम्पनी की दर में कम थी और कहीं कहीं तो यह दर १००० रु० के बीमे पर १ रु० और २ रु० तक कम थी। अतः अगर सरकार राष्ट्रीयकरण नहीं करती तो भी प्रतिस्पर्द्धा के कारण दरों को कम होना पड़ता। ये दरें पहले ही कम हो जाती, लेकिन जब बीमा कम्पनियों ने दरों को कम करने का प्रयत्न किया तो सरकार ने ऐसा नहीं होने दिया और इस प्रकार प्रतिस्पर्द्धा को सीमित करने के फलस्वरूप अनार्थिक तत्व बीमा उद्योग में आ गये। इस प्रकार से राष्ट्रीयकरण करने से प्रव्याजि कम करने का कोई सुपरिणाम नहीं हुआ।

(४) क्षति-पूर्ति के सम्बन्ध मे भी राष्ट्रीयकरण की आलोचना की गई है, क्योकि बुरी और अच्छी कम्पनियो को एक ही सिद्धान्त के अनुसार क्षति-पूर्ति मिलेगी और अच्छी कम्पनियों को जितनी क्षति-पूर्ति मिलनी चाहिये उतनी नही मिलेगी। उदाहरण के लिए गणितक मूल्यांकन (Acturial Valuation) के आधार पर ओरियन्टल कम्पनी के प्रति अंश की कीमत ८८००) रुपये है, जबकि मुआवजा की रकम ४१५०) रु० ही प्राप्त होगी। विदेशी कार्यालयो क्षति पूर्ति के सम्बन्ध मे भी कठिनाइयां होगी।

(४) विभिन्न बीमा-कम्पनियो की एक सगठन मे मम्मिलित होने की समस्या जटिल एवं अव्यावहारिक है। कॉरपोरेशन को यह अधिकार दिया गया है कि वह बीमित राशि मे कमी भी कर सकती हैं। इस प्रकार मे गोपलेखधारियों को हानि होगी।

राष्ट्रीयकरण की औचित्यता

(Nationalisation Justified)

श्री देशमुख ने बतलाया कि राष्ट्रीयकरण देश के हित मे है और प्रबन्धक, कर्मचारी, गोपलेखधारी उसी प्रकार से कार्य करते रहेगे। केवल भिन्नता यह होगी कि प्रबन्धक सरकार के एजेन्ट के रूप मे कार्य करेंगे और उनके कुछ अधिकारो पर प्रबन्ध होगा। कम्पनी के दैनिक कार्यों में सरकार का कम से कम हस्तक्षेप होगा। अतः डरने की कोई बात नही है। जब कभी भी हस्तक्षेप किया जावेगा वह गोपलेख-धारियो के हितो की रक्षा के लिए होगा। बुराई को समाप्त करने का प्रयत्न किया जायेगा। अतः राष्ट्रीयकरण से कोई आपत्ति नही है।

गोपलेखधारियों को पॉलिसी सुरक्षित होगी। निजी साहस फेल हो सकता था, लेकिन अब सरकार की पूर्ण शक्ति उनके गोपलेखों की रक्षा करेगी। कर्मचारियो की छटनी नही की जायेगी, लेकिन जो कर्मचारी आलसी है उनकी नौकरी बनी रहे, इसके लिए सरकार गारन्टी नही लेगी।

उद्योगपतियो को भी यह जान लेना चाहिए कि जितना धन बीमा कोष मे सरकारी कार्यों मे पहले लगाया जाता था उतना ही अब भी लगाया जायेगा, उससे अधिक नही, और वैयक्तिक क्षेत्र (Private Sector) को मिलने वाले धन की राशि में भी कमी नही होगी, लेकिन उस धन का दुरुपयोग नही होने दिया जायेगा। निजी उद्योगपतियो को ध्यान रखना चाहिये कि अधिकारों एवं स्थिति का दुरुपयोग ही एक प्रमुख कारण है जिसने सरकार को रराष्ट्रीयता के लिये प्रेरित किया।

राष्ट्रीयकरण से बीमा व्यवसाय की किरणे न केवल शहरी क्षेत्रो तक ही सीमित रहेगी, लेकिन अब उन्हे ग्राम-मार्ग भी दिखाया जावेगा। सभी कम्पनियों को मिला कर एक शक्तिशाली सगठन की स्थापना की गयी है जिसमे प्रत्येक योग्य

मनुष्य की सेवाओं को लिया जावेगा और प्रत्येक मनुष्य की बचत को गतिशील बनाया जायेगा और इनकी कार्यकुशल सेवा की जावेगी। इस प्रकार से राष्ट्रीयकरण उस सड़क पर, जिस पर जाने के लिए हमने समाजवादी व्यवस्था को चुना है, एक दूसरा पत्थर-चिन्ह होगा।

संगठन को अनेकानेक भागों में विभाजित कर प्रबन्ध का विकेन्द्रीयकरण कर दिया गया है।

अग्नि-बीमा

(Fire Insurance)

अग्नि-बीमे का ऐतिहासिक विवेचन

(Historical Explanation of Life Insurance)

अग्नि-बीमे का इतिहास बहुत प्राचीन नहीं है। इसका जन्म सन् १८६६ में लन्दन के भीषण अग्निकाण्ड के पश्चात् ही हुआ है। प्रारम्भ में इसका व्यापारिक महत्व अधिक नहीं था, और जो अग्नि-बीमा कम्पनियाँ प्रारम्भ में स्थापित की गई थी उनके पास न तो यथेष्ट आंकडे ही थे और न उनको इस आपदा का विशेष अनुमान ही था, इसलिए वे विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर सकी। किन्तु जैसे ही लोगों को इस दिशा मे अनुभव हुआ, अग्नि-बीमा की व्यापकता भी बढने लगी और अनेक न्यायालयीन झगडों ने इसमे स्थिरता स्थापित कर दी। फिर प्रतियोगिता ने भी अग्नि-बीमा को विशेष प्रोत्साहन दिया। लोग अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए अधिक उत्सुक रहने लगे और इसको उपयुक्त सुरक्षा का साधन समझ कर व्यापारियों ने बडे उत्साह से अग्नि-बीमे को अपनाया।

अग्नि से प्रति वर्ष संसार मे करोडो की सम्पत्ति की हानि होती है। लॉर्ड ब्रुक के अनुसार यह सत्य है कि अग्नि एक अच्छी सेविका है, स्वामिनी नही, क्योंकि जब तक यह नियंत्रित रहती है तब तक मनुष्य के जीवन मे अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती है, किन्तु इसके अनियन्त्रित हो जाने से मानवता के लिए अभिशाप बन जाती है। इसलिए इससे होने वाली हानि को रोकने के लिए सरकार तथा जनता दोनों ही उत्सुक रहते है और उसको नियंत्रित रखने के हर प्रकार के प्रयत्न किये जाते हैं। फिर भी दैवयौगिक घटनाओं को रोकना मनुष्य के वश की बात नहीं होती। अग्नि-बीमा का महत्व इसलिए भी बहुत बडी सीमा तक बढ जाता है। यह सम्पत्ति के स्वामियों तथा अग्नि द्वारा हानि सहने वाले व्यक्ति के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है और उसकी क्षति का क्षेत्र विस्तृत कर देता है, जिससे नष्ट होने वाली सम्पत्ति की क्षति-पूर्ति आसानी से की जा सकती है। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप के सम्बन्धित व्यक्ति की क्षति-पूर्ति हो जाती है किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से वह क्षति सारे समाज की होती है। अग्नि बीमे का सबसे बड़ा लाभ यह है कि जिस व्यक्ति की अग्नि से क्षति होती है उसको योग मिल जाने के कारण से उस क्षति का विशेष घातक प्रभाव नहीं पड़ता, और थोड़ा सा व्यय

करने पर ही उसको बहुत बड़ी सुरक्षा की आशा रहती है। आधुनिक युग में अग्नि-बीमा में बहुत बड़ी सीमा तक वैज्ञानिकता आ गई है।

भारतवर्ष में अग्नि-बीमे का व्यापार अभी तक उस सीमा तक नहीं पहुँच सका है जितना दूसरे देशों में। किन्तु भारत में अग्नि-बीमा धीरे-धीरे उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है और आशा की जाती है कि शनैः-शनैः वह पूर्ण रूप धारण कर लेगा।

अग्नि-बीमा के सिद्धान्त

(Principles of Fire Insurance)

(१) अग्नि-बीमा प्रमुख रूप से क्षति-पूर्ति के सिद्धान्त (Principle of Indemnity) पर चलता है और अग्नि-बीमा अनुबन्ध का यह सबसे प्रमुख अंग माना जाता है। इस अनुबन्ध में बीमाकर्त्ता एक निश्चित प्रतिफल के लिए सम्पत्ति की क्षति होने की अवस्था में उसके मूल्य का भुगतान करने की शर्त करता है। अस्तु इससे यह स्पष्ट है कि अग्नि-बीमा किसी प्रकार के लाभ के लिये न किया जाकर केवल हानि से सुरक्षा करने के लिये ही किया जाता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि अग्नि-बीमा केवल क्षति-पूर्ति का ही अनुबन्ध है, क्योंकि यदि जिस संपत्ति का बीमा कराया गया है निश्चित समय के अन्दर उसकी क्षति नहीं होती तो बीमा-कम्पनी उसकी जमा की हुई प्रव्याजि स्वयं रख लेती है और उसको कुछ भी नहीं दिया जाता। उसको सम्पत्ति की क्षति का उतना ही धन दिया जाता है जितनी उसकी यथार्थ क्षति हुई हो। कुछ स्थितियों में बीमित को क्षति न होने की अवस्था में भी कुछ लाभ दिया जाना चाहिये, जिससे वह जान-बूझ कर आग लगाने का प्रयत्न न करे और उससे समाज को केवल उस सम्पत्ति की ही हानि न हो अपितु उसका श्रम भी नष्ट न हो जाय। इसके साथ-साथ सम्पत्ति का व्यर्थ नष्ट होना भी बच जायेगा।

सुरक्षा के लिये कम्पनी बीमित से प्रव्याजि के रूप में एक निश्चित धन ले लेती है और उसका हिसाब सम्पत्ति के मूल्य के अनुसार लगाया जाता है। सम्पत्ति के नष्ट हो जाने की अवस्था में यह निश्चित रूप से माना जाता है कि अधिक से अधिक नुकसान उतना ही होगा जितना कि उस सम्पत्ति पर कुल व्यय हुआ है। इसलिए यदि उस सम्पत्ति का नुकसान होता है तो कम्पनी उसकी क्षति-पूर्ति अधिक से अधिक उसी धन-राशि तक कर सकती है जितने का बीमा किया हो, या जो उसका यथार्थ मूल्य हो। जिन अवस्थाओं में सम्पत्ति का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता उस समय क्षति-पूर्ति के लिये औसत मूल्य (Average Value) की पद्धति का प्रयोग किया जाता है।

पहले क्षति-पूर्ति का अर्थ केवल भौतिक क्षति से लगाया जाता था, किन्तु

) अब क्षतिपूर्ति का अर्थ कुछ विस्तृत हो गया है और उसमें उस सम्पत्ति का यथार्थ मूल्य, उससे प्राप्त होने वाला लाभ तथा उससे प्राप्त होने वाला किराया आदि भी सम्मिलित किया जाता है। इसलिये सम्पत्ति को क्षति मे पूर्ण रूप से सुरक्षित रखने के लिये आजकल कम्पनियाँ क्षति मे उपर्युक्त सभी बातें सम्मिलित कर लेती हैं।

(२) **विश्वास का सिद्धान्त** (Principle of Faith)—यह अग्नि-बीमा का अत्यन्त प्रमुख सिद्धान्त है, क्योंकि बीमित तथा बीमा कम्पनी मे यह अनुबन्ध सद्भावनायुक्त (Good Faith) होता है। इसका यह अर्थ है कि बीमा करने वाले तथा बीमा कराने वाले दोनो पक्षों में अनुबन्ध होते समय अपनी-अपनी समस्त बातें स्पष्ट रूप से कही जानी चाहिए। जहाँ तक कम्पनी का प्रश्न है उसकी बातें स्पष्ट ही रहती हैं और उनका पूर्ण रूप से विज्ञापन कर दिया जाता है। प्रस्तावक की बातों का स्पष्टीकरण प्रायः कठिन होता है, क्योंकि सम्पत्ति की इस प्रकार की परिस्थितियाँ होती हैं कि उनका निश्चय करना सर्वथा कठिन सा होता है। इसलिये सत्यता का भार अधिकतर प्रस्तावक पर ही होता है। यदि कम्पनी प्रस्तावक के अनुसार बीमा करने की स्वीकृति दे देती है अथवा इससे पूर्व सम्पत्ति का निरीक्षण भी कर लेती है तो भी प्रस्तावक के ऊपर सम्पत्ति की वस्तुस्थिति की सत्यता का भार बना ही रहता है और भविष्य में यदि किसी प्रकार की असत्यता प्रकट होती है तो उसका उत्तरदायी प्रस्तावक ही समझा जाता है। अतः प्रस्तावक यदि गोपनीय रहस्यों को प्रकट नही करेगा तो बीमा करने वाली कम्पनी कभी भी उसके बीमे को रद्द कर सकेगी या उसके लिए प्रव्याजि का निर्धारण करना कठिन हो जायगा। यदि प्रस्तावक की ओर से किसी प्रकार का धोखा दिया जायेगा तो बीमा कम्पनी सम्पत्ति सम्बन्धी सभी उत्तरदायित्वों से मुक्त हो जावेगी। इसलिये इसमे आपसी विश्वास और सद्भावना का होना आवश्यक है।

(३) **व्यक्तिगत अनुबन्ध** (Personal Contract)—करते समय प्रस्तावक के विषय मे हर प्रकार की जानकारी कर लेना आवश्यक हो जाता है। यदि प्रस्तावक का चरित्र ठीक नही होता तो उससे अनुबन्ध करना सर्वथा हानिकारिक होगा। प्रस्तावक बीमे की सम्पत्ति का सुगमता से हस्तातरण नहीं कर सकता। अतः उसके साथ का अनुबन्ध केवल व्यक्तिगत अनुबन्ध ही रहता है। सम्पत्ति के हस्तातरण और परीक्षण हो जाने की अवस्था मे कम्पनी को पहले उसकी सत्यता की जाँच करके ही उसे स्वीकृति देनी होती है। यदि कम्पनी चाहे तो हस्तांतरण होने की अवस्था मे अनुबन्ध रद्द कर देती है।

(४) **बीमा-योग्य हित** (Insurable Interest)—होना भी अग्नि-बीमा का एक प्रमुख सिद्धान्त है। सम्पत्ति का बीमा करवाने वाले व्यक्ति का उस सम्पत्ति मे बीमित हित होना चाहिए। 'अग्नि-बीमा' का अनुबन्ध व्यक्तिगत होने के कारण

सम्पत्ति की क्षति होने की अवस्था में उसके मूल्य का अधिकारी वही व्यक्ति होता है जिसका सम्पत्ति पर अधिकार हो अथवा उस सम्पत्ति के मूल्य में किसी न किसी प्रकार का अनुबन्ध हो।

बिना बीमा-हित (स्वार्थ) के यदि सम्पत्ति का कोई समझौता किया जाता है तो वह समझौता अवैधानिक माना जाता है। इस अनुबन्ध में प्रायः सम्पत्ति का स्वामी कोर्ट ऑफ वार्ड्स (Court of Wards) तथा उसकी गिरवी रखने वाला व्यक्ति सम्मिलित हो सकता है, क्योंकि उनका किसी न किसी रूप में सम्पत्ति में हित होता है। यदि बीमित सम्पत्ति का धारक उसे किसी दूसरे आदमियों को हस्तांतरित कर देता है तो उसके लिये सर्वप्रथम बीमा कम्पनी की अनुमति ले लेनी चाहिये। इस प्रकार की सुविधा में बीमा का अनुबन्ध नवीन समझा जाता है, अर्थात् प्रमण्डल का सम्बन्ध हस्तांतरिणी (Transferee) से हो जाता है। ध्यान रहे बीमा-योग्य हित सम्पत्ति का बीमा कराते समय तथा क्षति हो जाने की अवस्था में एक ही व्यक्ति के पास रहना चाहिये। इसमें परिवर्तन किसी विशेष स्थिति में ही सम्भव है।

अग्नि-बीमा के प्रकार
(Types of Fire Insurance)

प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् अग्नि-बीमा के प्रकारों में व्यापक वृद्धि हुई है। इससे पहले अग्नि-बीमा प्रायः सामान्य बीमे के अन्दर ही लिया जाता था। अग्नि की आपत्ति के बढ़ने तथा बीमा प्रमण्डलों में आपसी प्रतिद्वन्द्विता बढ़ने के कारण अग्नि-बीमा कम्पनियाँ निम्न प्रकार के बीमा प्रलेखों का निर्गमन करने लगीं।

(१) निश्चित बीमा प्रलेख (Fixed Policy)—इसमें बीमा करने वाले व्यक्ति को बीमा की हुई सम्पत्ति पर आग लग जाने से सम्पत्ति की बीमित हानि दी जाती है और उसमें सम्पत्ति के यथार्थ मूल्य का ध्यान नहीं रखा जाता। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति की सम्पत्ति का कुल मूल्य २००००) रु० है, किन्तु उसने बीमा १५०००) रुपये का ही करवाया है तो यदि सम्पत्ति जलकर नष्ट हो जाय तो भी कम्पनी उसे केवल १५००) रुपये तक ही देगी, उससे अधिक नहीं। यदि सम्पत्ति केवल ५०००) रु० की ही जली है तो केवल ५०००) रु० ही दिये जायेंगे।

(२) मूल्यांकित बीमा प्रलेख (Valued Policy)—इसमें बीमा करते समय ही सम्पत्ति का मूल्य निश्चित कर दिया जाता है और इसलिये सम्पत्ति के नष्ट होने तक उसका दुबारा मूल्यांकन करने की आवश्यकता नहीं होती। कम्पनी, चाहे सम्पत्ति का कुछ भी नुकसान हुआ हो, उतना ही मूल्य देगी जितने के लिये उन्होंने अनुबन्ध किया हो। साधारणतः यह बीमा मूल्यवान आभूषण, कलात्मक सम्पत्ति आदि के लिये प्रयोग में लाया जाता है और इस प्रकार उनके मूल्य को पहले ही तय

कर लिया जाता है। घरेलू सामान के लिये भी इस प्रकार के बीमा प्रलेख लाभदायक होते हैं, *क्योंकि उसमें भी मूल्यांकन करना सर्वथा असम्भव हो जाता है। नष्ट हो जाने* की अवस्था में कम्पनी उन समस्याओं पर अवश्य विचार करती है, जिनके कारण अग्नि लगी हो।

(३) **चल बीमा प्रलेख** (Floating Policy)—यह बीमा उन वस्तुओं का कराया जाता है जिनकी प्रकृति मे परिवर्तन होता रहता है तथा जिनका हस्तातरण भी किया जाता है। प्रायः ये गोदामों मे रखे हुए तथा एक जगह से दूसरी जगह ले जाये जाने वाले माल के लिए उपयुक्त होता है। इसके स्वामी के लिए बहुत कठिन होता है कि वह अलग-अलग स्थानों पर रखे हुए माल का बीमा करवा सके। इसलिये उनके लिए चल बीमा ही लाभदायक होता है। इसके लिए उसको औसत दर पर प्रव्याजि देनी होती है। प्रव्याजि का प्रति वर्ष मूल्यांकन किया जाना आवश्यक होता है।

(४) **लिखित बीमा प्रलेख** (*Express Policy*)—*कभी-कभी व्यापारी* अपनी वस्तु का एक निश्चित सीमा पर बीमा करवा लेता है, किन्तु उसके स्टॉक स्कन्ध मे प्रायः परिवर्तन होता रहता है। इसलिए वह अपने माल की अधिक से अधिक सीमा का बीमा करवाता है और उसी बीमा के आधार पर प्रव्याजि देता है। कभी-कभी वह दो सीमाओं पर बीमा करवाता है। उसमे से एक तो उसकी सम्पत्ति मे कम होती है और दूसरी उसकी सम्पत्ति से अधिक होती है। उदाहरण के लिये, यदि व्यापारी समझता है कि स्टॉक २००००) रु० से नीचे और ३००००) रु० से ऊपर नहीं जाता तो वह एक २००००) रु० की तथा दूसरी ३००००) रु० की पॉलिसी ले लेगा। यदि उसकी हानि होती है तो वह पहली पॉलिसी द्वारा वसूल की जायगी और इसे अधिक हानि नहीं होती है तो दूसरी हानि से वसूल की जायगी। उसका २००००) रु० से अधिक बढ़ने वाला स्टॉक प्रति मास घोषित कर दिया जावेगा और अधिक माल का औसत उसी घोषणा के अनुसार किया जावेगा।

(५) **घोषित बीमा प्रलेख** (Declaration Policy)—जिस व्यापारी के स्टॉक स्कन्ध मे परिवर्तन होता रहता है, उसके लिये यह पद्धति अधिक लाभदायक सिद्ध होती है। इसमें स्टॉक के अधिक से अधिक मूल्य का बीमा कर दिया जाता है तथा उसकी प्रव्याजि साधारण ढग पर ही निकाली जाती है, जिसका ७५% अनुबन्ध के समय दिया जाता है। शेष हानि होने की दशा मे दिया जाता है। व्यापारी को प्रति मास अपने स्टॉक का विवरण कम्पनी को भेजना होता है। यह विवरण घोषित तिथि के १४ दिन के अन्दर-अन्दर दे दिया जाता है। वर्ष के अन्त मे कुल स्टॉक का औसत मूल्य निकाल लिया जाता है और फिर उसी के अनुसार प्रीमियम का

हिसाब कर दिया जाता है और उसको दी गई प्रब्याजि के साथ समायोजित कर दिया जाता है।

(६) **समायोजित बीमा प्रलेख** (Adiustable Policy)—यह बीमा निश्चित शर्तों पर तात्कालिक स्टॉक के लिए किया जाता है। इसकी प्रब्याजि साधारण रीति से लगायी जाती है तथा स्टॉक की जाँच करने पर एक मुश्त चुका दी जाती है। जिस समय स्टॉक में किसी प्रकार का परिवर्तन होता है तो उसकी सूचना तुरन्त कम्पनी को भेज दी जाती है। सूचना पाकर कम्पनी प्रब्याजि में आवश्यक समायोजन कर देगी। प्रब्याजि का निर्णय प्रायः गोपलेख के समाप्त होने पर ही दिया जाता है। इस प्रकार स्टॉक का बीमा हमेशा अन्तिम स्टॉक पर ही रहता है और कम्पनी तथा सम्पत्ति के स्वामी दोनों को लाभ मिलता है। मान लिया जाय कि किसी स्टॉक का मूल्य बीमा के समय १००००) रु० था, कुछ समय के बाद १५०००) रु० हो जाता है और फिर १२०००) रु० रह जाता है तो पॉलिसी १२०००) रु० की ही मानी जायेगी।

(७) **औसत बीमा प्रलेख** (Average Policy)—इस प्रकार के गोपलेख में सम्पत्ति का औसत मूल्य निकाला जाता है और उसके ही अनुसार उसका बीमा किया जाता है। यदि बीमा सम्पत्ति के वास्तविक मूल्य से कम राशि का होता है तो बीमा कम्पनी उस हानि को देगी जो हुई हो। यदि किसी आदमी ने अपनी सम्पत्ति का बीमा ५०००) रु० का कराया हो और उसमें उसको ४०००) रु० की हानि हो गयी हो, किन्तु सम्पत्ति का असली मूल्य ८०००) रु० हो तो बीमा कम्पनी केवल २५००) रु० ही देगी और १५००) रु० सम्पत्ति के स्वामी को सहन करनी पड़ेगी*। इस प्रकार औसत बीमा में दोनों कम्पनी तथा सम्पत्ति का स्वामी मिल कर हानि को बर्दाश्त करते हैं।

(८) **पुन व्यवस्थित बीमा-प्रलेख** (Re-instatement Policy)—इस पद्धति के अनुसार नष्ट हुई सम्पत्ति का मूल्य बाजार भाव से आँका जाता है। इसलिये सम्पत्ति का मूल्य उसके वास्तविक मूल्य से घट बढ सकता है (प्रायः घटने की सम्भावना अधिक रहती है) इसलिये पूर्ण हानि से सुरक्षा प्राप्त करने के लिए पुनः व्यवस्थित

---

* औसत निकालने की रीति— $\frac{\text{हानि} \times \text{बीमे की राशि}}{\text{यथार्थ मूल्य}}$

$= \frac{४००० \times ५०००}{८०००} = \frac{५}{२}$

$= २\frac{१}{२}$ हजार

पद्धति को अपनाया जाता है, जिसके द्वारा नष्ट हुई सम्पत्ति के मूल्य का शोधन न करके उस सम्पत्ति को उसी रूप में बना दिया जाता है। यह पद्धति प्रायः मशीन मोटर आदि के बीमे मे बड़ी उपयुक्त होती है।

(६) विशाल बीमा प्रलेख (Comprehensive Policy)—इस प्रकार का बीमा प्रायः गृहस्थियों के प्रयोग का होता है। किन्तु इसमे यह नहीं समझना चाहिए कि इसमें हर प्रकार की जोखिम को एक साथ ले लिया जाता है। प्रायः आग लगना, बिजली गिरना, दंगे आदि मे मृत्यु हो जाना, दिवालियापन, मकान नष्ट हो जाने मे किसी प्रकार की दुर्घटना तथा अपाहिज हो जाने मे जो क्षति होती है उसे इसमे सम्मिलित किया जाता है।

(१०) सम्भावित हानि प्रलेख (Consequential Policy)—इसके अनुसार व्यापारियो की सम्भावित हानियों से सुरक्षा की जाती है इसका उद्देश्य यह है कि अग्नि लग जाने के कारण व्यापारी को जो आर्थिक हानि होती है उससे वह मुक्त हो सके और उसको व्यापार मे किसी प्रकार की कठिनाई प्रतीत न हो, इसमे साधारण अग्नि-बीमे की प्रव्याजि का एक निश्चित प्रतिशत दिया जाता है। इसमें कुछ दशाओं में यथार्थ हानि तथा प्रव्याजि का कोई निश्चित अनुपात नहीं रहता है।

(११) दोहरा बीमा (Double Insurance)—इसके अनुसार एक ही सम्पत्ति का दो कम्पनियो मे बीमा करवाया जाता है, किन्तु हानि होने की दशा में दोनों कम्पनियो के द्वारा उसका यथार्थ मूल्य ही दिया जाता है। उदाहरण के लिए २००००) रु० की सम्पत्ति का बीमा; एक कम्पनी से १००००) रु० मे, दूसरी कम्पनी मे १५०००) रु० मे करवाया गया। यदि सम्पत्ति जल जाती है तो २ : ३ के अनुपात में २००००) रु० देवेंगी, न कि २५०००) रु०। दोहरा बीमा प्रायः धन प्राप्त होने की निश्चिन्तता के लिए ही किया जाता है।

(१२) बीमा प्रलेख का नवीनकरण (Renewed Insurance Policy)—जब किसी सम्पत्ति का पहला बीमा प्रलेख समाप्त हो जाता है तो कम्पनी के पास आवश्यक प्रव्याजि भेजकर प्रलेख का नवीनकरण करवा लिया जाता है। इस नवीनकरण करने की अवस्था में सम्पत्ति के स्वामी को न तो प्रस्तावपत्र-भरने की जरूरत होती है और न कोई अन्य प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति की। कम्पनी के निरीक्षक आवश्यक सम्पत्ति का निरीक्षण करके अपनी वृत्त कम्पनी को प्रस्तुत करते हैं।

(१३) पुनः बीमा (Re-insurance)—जब कोई बीमा-कम्पनी बहुत बड़ी राशि का बीमा लेती है और उसको प्रतीत होता है कि क्षति की अवस्था मे उस पर बहुत अधिक बोझ पड़ेगा तो अपनी जोखिम को कम करने के लिये वह कम्पनी उस प्रलेख के किसी भाग को दूसरी कम्पनी के पास बीमा करा लेती है, जिससे क्षति होने

के अवसर पर दोनों कम्पनियों को उसकी पूर्ति करनी पड़ती है। बीमा कम्पनी की इस क्रिया को 'पुनः बीमा' कहते हैं।

अग्नि-बीमा की विधि तथा दावा

(Method of Fire Insurance and its Claim)

यदि कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का अग्नि बीमा कराना चाहता है तो उसको भी सर्वप्रथम प्रस्ताव पत्र (Proposal Form) भरकर भेजना पड़ता है। बीमा कराने वाले व्यक्ति को चाहिये कि सर्वप्रथम यह निश्चय कर ले कि बीमा कराने के योग्य कौनसी कम्पनी होगी। इसके पश्चात् उसे उस कम्पनी के प्रस्ताव-पत्र को भरना चाहिये। प्रस्ताव-पत्र में सम्पत्ति सम्बन्धी सभी बातें स्पष्ट कर देनी चाहिए। जिस समय बीमा राशि को निश्चित किया जाय, यह आवश्यक है कि वह राशि इतनी हो कि हानि होने की अवस्था में कम से कम सम्पत्ति की वास्तविक हानि प्राप्त हो सके।

क्योंकि अग्नि-बीमा विशेष रूप में व्यक्तिगत विश्वास पर चलता है, इसलिए सम्पत्ति के विषय में पूर्ण सच्चाई का प्रयोग होना चाहिए और यदि इसके लिए कम्पनी प्रमाण-पत्र माँगती है तो किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति का प्रमाण-पत्र दिया जाना चाहिए।

जब प्रस्ताव सप्रमाण कम्पनी के पास पहुँच जाता है तो कम्पनी सम्पत्ति की अवस्था तथा मूल्यांकन के लिए अपने विशेषज्ञों को भेजती है। विशेषज्ञ उस सम्पत्ति के विषय में हर प्रकार से सूक्ष्म से सूक्ष्म जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और फिर उसकी सम्भावित हानि का अनुमान लगा कर कम्पनी को इस प्रस्ताव के स्वीकार करने या न करने की राय देंगे। कम्पनी इस पर यह अनुमान लगायेगी जो जो जोखिम साधारण है या असाधारण। इन सब बातों का अनुमान लगाने के पश्चात् प्रव्याजि की दर निश्चित की जायेगी और प्रस्ताव को स्वीकार कर दिया जावेगा।

प्रथम प्रव्याजि के प्राप्त होने के बाद अनुबन्ध पक्का समझा जाता है और सम्पत्ति की क्षति-पूर्ति का भार कम्पनी के ऊपर आ जाता है।

प्रथम प्रव्याजि प्राप्त करने के पश्चात् कम्पनी की ओर से एक पूरक पत्रक (Cover Note) दे दिया जाता है, जिसका उपयोग गोपलेख के न मिलने की अवधि तक सुगमता से किया जा सकता है। जैसे ही गोपलेख तैयार हो जाता है कम्पनी सार्वमुद्रा तथा योग्य हस्ताक्षरों सहित उसको प्रस्तावक के पास भेज देती है। प्रत्येक प्रलेख के पीछे निम्नलिखित शर्तें लिखी रहती हैं—

(१) यदि प्रस्ताव में जोखिम का कोई असत्य वर्णन किया हो तो अनुबन्ध रद्द समझा जावेगा।

(२) सम्पत्ति में हुए परिवर्तन की सूचना तुरन्त कम्पनी के पास भेज देनी होगी तथा उसका लेखा पॉलिसी में कर दिया जावेगा।

(३) कम्पनी इन वस्तुओं की जोखिम अपने ऊपर नहीं लेगी—धरोहर, कमीशन पर बिकने वाला माल, फूटने वाला सामान, बारूद का सामान, हस्तलिखित पुस्तकें, दस्तावेज आदि तथा अप्राकृतिक घटनाओं से होने वाली हानि।

(४) यदि सम्पत्ति का हस्तांतरण बिना कम्पनी की अनुमति के किया जावेगा तो बीमा-प्रलेख रद्द समझा जावेगा।

(५) हानि होने की परिस्थिति में कम्पनी को तुरन्त सूचना भेज देनी चाहिए, तथा उसका समस्त विवरण १५ दिन के अन्दर पहुँच जाना चाहिए।

(६) हानि होने की दशा में कम्पनी सम्पत्ति का पॉलिसी मूल्य दे सकती है अथवा सम्पत्ति का पुनर्स्थापन करा सकती है।

(७) यदि पॉलिसी का स्वत्व कपटपूर्ण होगा तो समस्त लाभों का अपहरण कर लिया जावेगा।

(८) प्रवंचनापूर्ण दावों का रुपया नहीं दिया जावेगा।

(९) कम्पनी चाहे तो हानि होने की दशा में बीमित सम्पत्ति पर अपना अधिकार कर सकती है अथवा सम्पत्ति को उस स्थान से हटा सकती है।

(१०) हानि होने वाली सम्पत्ति का दुहरा बीमा होने पर कम्पनी अनुपातिक हानि की पूर्ति की उत्तरदायी होगी।

(११) यदि दूसरा बीमा औसत मूल्य के अनुसार हुआ है तो इस बीमा-प्रलेख में भी वह लागू होगा।

(१२) हानि-पूर्ति के समस्त झगड़े पंचायत द्वारा सुलझाये जायेंगे।

(१३) पॉलिसी के रद्द होने पर दी गई समस्त प्रव्याजियों का अपहरण कर लिया जावेगा।

(१४) कम्पनी की छपी रसीद ही मान्य समझी जावेगी।

(१५) जब बीमा-कम्पनी किसी दूसरी बीमा-कम्पनी पर अथवा अन्य व्यक्ति पर दावा करेगी तो बीमा कराने वाले को उसकी सहायता करनी होगी।

(१६) यदि बीमा कराने वाला व्यक्ति उपरोक्त शर्तों का पालन नहीं करेगा तो उसकी हानि की पूर्ति नहीं की जावेगी, अर्थात् पॉलिसी रद्द कर दिया जावेगा।

"औसत" शब्द बीमा-कम्पनी में अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथा इसका कितने ही प्रकार से प्रयोग किया जाता है। इसलिए औसत शब्द को बड़े विचार के साथ प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि बीमा करते समय बीमे का सिद्धान्त आम तौर पर सम्भावना

सम्पत्ति को जानबूझ कर आग लगा देता है और यह सिद्ध हो जाता है तो कम्पनी सम्पत्ति के स्वामी की क्षति-पूर्ति करके वह रुपया आग लगाने वाले व्यक्ति से वसूल कर सकती है और इस वसूली में भी सम्पत्ति के स्वामी को कम्पनी की सहायता करनी चाहिए।

जीवन तथा अग्नि-बीमा में अन्तर
(Life and Fire Insurance Differentiated)

अग्नि बीमा तथा जीवन बीमा मे निम्नलिखित अन्तर है—

(१) अग्नि-बीमा क्षति-पूर्ति का अनुबन्ध (Contract) होता है और इसलिए हानि होने की अवस्था मे क्षति-पूर्ति की जाती है, किन्तु जीवन-बीमा मे यदि वह आजीवन न हो तो निश्चित् अवधि के पश्चात् मृत्यु न होने पर भी धन प्राप्त हो जाता है।

(२) अग्नि-बीमा में सम्पत्ति का बीमा सम्पत्ति के वास्तविक मूल्य अथवा बाजार मूल्य तक ही किया जा सकता है, किन्तु जीवन का कोई मूल्य निश्चित नही किया जा सकता।

(३) अग्नि-बीमा मे एक मात्र सुरक्षा का ही तत्व रहता है, किन्तु जीवन-बीमा में सुरक्षा के साथ विनियोग का तत्व भी रहता है।

(४) अग्नि-बीमा की अवधि अधिक से अधिक १ वर्ष रहती है, किन्तु जीवन बीमा की अवधि अनेको वर्ष चलती है।

(५) अग्नि-बीमा मे जोखिम होने की अवस्था मे भुगतान किया जाता है और यदि क्षति नही होती तो बीमित को कुछ भी नही दिया जाता, किन्तु जीवन-बीमा मे क्षति न होने की अवस्था मे भी पूर्ण बीमित धन दिया जाता है।

(६) अग्नि-बीमे मे जोखिम होने की अवस्था मे जोखिम का विभाजन करना बहुत कठिन होता है, किन्तु जीवन-बीमे मे जोखिम के विभाजन करने का प्रश्न ही नही उठता। यद्यपि सम्पत्ति तथा जीवन से सम्बन्धित अलग-अलग प्रकार के बीमों की दरें भिन्न होती है, किन्तु सम्पत्ति के समान जोखिम की बाहुल्यता जीवन में नही रहती और वह साधारणतः औसत आय के अनुपात से ही निश्चित की जा सकती है।

(७) अग्नि-बीमा मे बीमा करने पर उसके समाप्त होने की तिथि के पूर्व उसे प्रदत्त नही किया जा सकता, किन्तु जीवन-बीमा मे २–३ वर्ष के पश्चात् यदि बीमित प्रव्याजि देने के अयोग्य है तो आसानी से बीमा-प्रलेख को प्रदत्त (Paid up) कराया जा सकता है।

(८) अग्नि-बीमा मे सम्पत्ति के स्वामी का बीमा-योग्य हित होना बीमा

कराने के समय तथा क्षति-पूर्ति के समय आवश्यक है, किन्तु जीवन-बीमा मे केवल बीमा कराते समय ही बीमा-योग्य हित होनो आवश्यक है।

(९) अग्नि-बीमा मे यदि सम्पत्ति का हस्तातरण (Transfer) किया जाय तो उसकी स्वीकृति कम्पनी से ली जानी आवश्यक होती है, किन्तु जीवन-बीमा मे अपने जीवन का अधिकार किसी भी व्यक्ति को दिया जा सकता है। उनमे कम्पनी से कोई भी स्वीकृति लेने की आवश्यकता नही होगी।

(१०) अग्नि-बीमा मे कपटपूर्ण क्षति की सम्भावना रहती है, क्योंकि धन पाने के उद्देश्य से सम्बन्धित व्यक्ति स्वय क्षति कर सकता है, किन्तु जीवन-बीमा का धन प्राप्त करने की लालसा के बीमित स्वयं मर जाय, यह कठिन प्रतीत होता है।

(११) अग्नि-बीमा एक निश्चित सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए ही किया जाता है, किन्तु जीवन-बीमा अपने तथा अपने परिवार की सुरक्षा, भविष्य मे आर्थिक सहायता, वृद्धावस्था मे आर्थिक योग आदि के लिए भी किया जा सकता है।

(१२) जीवन-बीमा करने वाली कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण भारतवर्ष मे कर दिया गया है, किन्तु अग्नि-बीमा कम्पनियों का नही किया गया।

(१३) सारिणी तैयार करने, प्रव्याजि निश्चित करने तथा दावों के दृष्टिकोण से जीवन-बीमा अग्नि-बीमा की तुलना मे सरल है।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 Give the origin of Fire Insurance and mention its fundamental principle How can you prove it to be a contract of indemnity ?
2 What are the different kinds of policies that can be undertaken in fire insurance ?
3 Write down the process of getting a property insured. Explain how a claim is settled in case of accident.
4 Distinguish between fire and life insurance.
5 What is insurable interest in Fire Insurance ? With whom should it remain at the time of insurance and at the time of loss ? Are there some exceptions ? Explain.
6 Compare the insurable interest in life and fire insurance. Discuss the different stages in both.

सामुद्रिक बीमा

(Marine Insurance)

सामुद्रिक बीमे का इतिहास
(History of Marine Insurance)

विश्व मे सामुद्रिक बीमे का सबसे पुराना रूप है। यह सुगमतापूर्वक नही कहा जा सकता कि इसका प्रारम्भ किसने किया, किन्तु यह सत्य है कि सामुद्रिक व्यापार के प्रारम्भ होने पर जब वह बहुत बडी मात्रा मे होने लगा और उसमे जोखिम का बल अधिक बढने लगा तो सामुद्रिक बीमे का जन्म हुआ। प्राचीन काल मे जब यातायात की सुविधाएँ अच्छी न थी तथा माल के आने मे भयानक खतरे थे, जहाजी कम्पनियो को बहुत बडी हानि का सामना करना पड़ता था। इसलिये इटली मे कुछ जहाज बनाने वालो ने बीमे की एक योजना बनाई, जिसके अनुसार वे आपस मे ही जहाजी जोखिमो को बाँटने लगे और धीरे-धीरे सामुद्रिक बीमा अन्य प्रकार के व्यापार के समान उन्नति करने लगा।

यह कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम इटली मे भागने वाले लेम्बोर्डस, जो १३वी शताब्दी के मध्य मे ब्रिटेन गये, उन्होने इस प्रकार का व्यापार किया, किन्तु धीरे-धीरे उनके हाथ से यह व्यापार चला गया। सन् १६६६ ई० तक उस प्रकार का व्यापार लन्दन तथा इटली के होटलो मे अलग-अलग प्रकार के लोग अभिगोपन (Underwriting) का कार्य करने लगे थे। सन् १६२६ मे लन्दन के एक जनपानगृह से, जिनके स्वामी एडवर्ड लॉयड थे। 'लॉयड समाचार-पत्र' निकाला जाने लगा। इस पत्र मे प्राय: जहाजी समाचार रहते थे। सन् १७७४ मे लॉयड्स के सदस्यो ने एक सघ की स्थापना की जिसके द्वारा सामुद्रिक बीमे की स्थापना हो गई और यह आज भी कार्य कर रही है। सन् १७३६ के पश्चात् अनेक सामुद्रिक बीमा कम्पनियो की स्थापना हुई, किन्तु सामुद्रिक बीमा कम्पनियो मे कोई विशेष प्रगति न दिखलाई दी। आधुनिक युग में यह व्यापार काफी उन्नति पर है।

भारतवर्ष मे इस व्यापार की ओर अभी तक कोई व्यापक कदम नहीं उठाया गया है।

सामुद्रिक व्यापार के सिद्धान्त
(Fundamentals of Marine Insurance)

समुद्री व्यापार भी भारतीय अनुबन्ध विधान के अनुसार ही चलाया जाता है। इसलिये इसमें साधारण अनुबन्ध की सभी शर्तों का होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित बातों का होना भी अनिवार्य रूप से आवश्यक होता है—

(१) **विश्वसनीयता** (Good Faith)—अग्नि-बीमा की भाँति समुद्री बीमे में भी विश्वसनीयता का होना आवश्यक है, क्योंकि उसमे प्रायः माल, जहाज तथा भाड़े का बीमा किया जाता है। जहाज के समुद्र मे हजारों मील यात्रा करने के उपरान्त बीमा कम्पनी उसके विषय मे कुछ भी नहीं जान सकती, इसलिए बीमित का यह कर्तव्य हो जाता है कि वस्तु सम्बन्धी जितनी भी बातें हों बीमा कम्पनी को बताये। यदि किसी अवस्था मे कोई महत्वपूर्ण बात गुप्त रखी जाती है तो दोनों हो दलों को उससे हानि होती है। जब बीमा दलाल के द्वारा किया जाता है तो उसको महत्वपूर्ण सूचना देने के साथ-साथ यह भी बताना चाहिए कि उसको बीमित वस्तु की पूर्ण जानकारी है।

(२) **बीमा योग्य हित** (Insurable Interest)—सामुद्रिक बीमे में भी बीमा योग्य हित का होना आवश्यक है। यह 'हित' क्षति होने के अवसर पर होना चाहिये। यदि बिना 'हित' वाला व्यक्ति बीमा करवाता है तो वह अवैधानिक माना जायगा। बीमा-हित निम्नांकित व्यक्तियों को ही प्राप्त होता है—(१) जहाज के मालिक का जहाज मे, (२) माल के स्वामी का माल मे, (३) भाड़े के अधिकारी का भाड़े मे, (४) फिर से बीमा कराने वाले का बीमित माल मे, (५) जहाज के कर्मचारियों का उनके वेतन मे, (६) जहाज को ऋण देने वाले का लदे माल मे (उस सीमा के मूल्य तक जितना उन्होंने ऋण दिया है), (७) बन्धक माल रखने वाले का बन्धक माल मे, तथा (८) यात्रियों का अपनी वस्तु मे।

(३) **परोक्ष साधारण शर्तें** (Implied Warranties)—इन अप्रत्यक्ष शर्तों का बीमित को अवश्य पालन करना चाहिए नहीं तो अनुबन्ध रद्द समझा जायेगा। ये शर्तें लिखित अथवा ध्वनित हो सकती है। लिखित मे शर्तों का स्पष्टीकरण कर दिया जाता है, किन्तु ध्वनित मे ये परम्परागत होती हैं। दोनों ही परिस्थितियों मे बीमित को उन्हें मानना चाहिए। ध्वनित शर्तों में जहाज का समुद्री-यात्रा योग्य होना तथा यात्रा का वैधानिक होना होता है। कोई भी समुद्री जहाज समुद्र के लिए तभी योग्य समझा जाता है जब उसकी पूर्ण मरम्मत हो गई हो तथा उसको मार्ग मे सुरक्षित रखने की पूर्ण व्यवस्था की जा चुकी हो और वह मार्ग मे सुगमता से चल सके। जहाँ तक वैधानिकता का प्रश्न है बीमित उसमें यह उत्तरदायित्व लेता है कि

बीमे का प्रयोजन वैधानिक होगा तथा माल के भेजे जाने में किसी प्रकार का धोखा नहीं किया जा रहा है।

(४) क्षति-पूर्ति (Indemnity)—सामुद्रिक बीमा अनुबन्ध में क्षति-पूर्ति का स्थान अग्नि-बीमा के समान ही महत्वपूर्ण है। इसमें भी माल का या तो वास्तविक मूल्य दिया जाता है या उसमें लाभ आदि जोड़ कर भी मूल्य दिया जा सकता है। किन्तु वस्तु का मूल्य निश्चित न होने के कारण क्षति-पूर्ति वस्तु के मूल्य के निर्धारण के बाद ही तय की जावेगी। यदि बीमित राशि क्षति-पूर्ति से अधिक है तो कुछ अवस्थाओं में अभिगोपक को अधिक प्रव्याजि वापिस करनी होती है। इसलिए जहाजी संस्थाएँ प्रायः मूल्य का ही बीमा करवाती है और जहाजी क्षति-पूर्ति एवं साधारण क्षति-पूर्ति में अन्तर हो जाता है, क्योंकि उसमें मूल्य के साथ-साथ सम्भावित लाभ भी जोड़ दिया जाता है।

सामुद्रिक बीमा के प्रकार
(Kinds of Marine Insurance)

समुद्री बीमा में प्रलेखों के अनेक प्रकार हैं, किन्तु मूल रूप से उनमें प्रायः समानता ही रहती है। विविध प्रलेखों में से कुछ का वर्णन नीचे दिया जाता है—

(१) अवधि प्रलेख (Time Policy)—यह प्रलेख एक निश्चित समय के लिए ली जाती है और उसकी अवधि प्रायः एक वर्ष तक होती है। इस प्रकार का बीमा प्रायः जहाज के स्वामियों के लिए हितकर होता है, क्योंकि वे यात्रा में अपने जहाज को समय पर विशेष रूप से सँभाल सकते हैं। कभी-कभी जो माल कई जगह भेजा जाता है उसके लिए भी यह पॉलिसी लाभप्रद होती है।

(२) जलयात्रा प्रलेख (Voyage Policy)—इसके द्वारा एक निश्चित जलयात्रा का बीमा कराया जाता है और ऐसी दशा में यात्रा का मार्ग निश्चित कर दिया जाता है तथा आयात और निर्यात के बन्दरगाह भी निश्चित कर दिये जाते हैं। इन पॉलिसियों में बीमा-कम्पनियों का दायित्व समस्त यात्रा में निश्चित होता है। ये माल के लिए अच्छी पॉलिसी होती हैं।

कभी-कभी जलयात्रा तथा निश्चित अवधि दोनों का सम्मिश्रण कर दिया जाता है।

(३) मूल्य बीमा प्रलेख (Valued Policy)—इस पद्धति के अनुसार बीमित वस्तु का मूल्य निर्धारित करके प्रलेख पर लिख दिया जाता है। इसमें यह आवश्यक नहीं कि वस्तु के वास्तविक मूल्य का ही बीमा लिया जाय। मूल्य में प्रायः जहाजी खर्च, भाड़ा, माल पर होने वाला लाभ (जो १०% से अधिक नहीं होता) आदि यथार्थ मूल्य में जोड़कर उनका बीमा करवा दिया जाता है।

(४) अनिश्चित मूल्य प्रलेख (Unvalued Policy)—इसके अनुसार बीमा करते समय मूल्य का निर्धारण नही किया जाता और मूल्य उसी समय निश्चित किया जाता है जब क्षति-पूर्ति का प्रश्न आवे । ऐसी अवस्था मे मूल्य का हिसाब लगाने के लिए वस्तु का यथार्थ मूल्य, भाडा, जहाजी खर्चे तथा बीमा के खर्चे आदि जोडे जाते है और इनमें लाभ को सम्मिलित नही किया जाता। आजकल इस प्रकार की बीमा की पद्धति समाप्त हो गई है।

(५) मनोनीत प्रलेख (Name Policy)—इस पद्धति के अनुसार बीमा करते समय प्रलेख मे जहाज का नाम, उसमें लदा हुआ माल तथा उसके यात्रा प्रारम्भ करने और अन्त करने के स्थान का नाम दिया होता है । इसलिए इसको मनोनीत प्रलेख कहा जाता है ।

(६) चल प्रलेख (Floating Policy)—इस पद्धति को **प्रकट प्रलेख** (Open Policy) भी कहते है। यह प्रलेख उन व्यापारियो के लिए अधिक लाभप्रद होता है जो अपना माल प्रायः एक ही बन्दरगाह को भेजते है। इसलिए वे हर माल का अलग-अलग बीमा न कराकर सबके लिए ही बीमा करवा लेते है। इस प्रलेख में बीमित वस्तु का साधारण विवरण रहता है और साथ-साथ जहाज का भी विवरण दे दिया जाता है। यह प्रलेख प्रायः अनिश्चित मूल्य प्रलेख के समान ही होता है। इसका लाभ यह है कि व्यापारियों को बीमा कराने की बार-बार असुविधा नही होती और दर भी कम देनी पडती है।

(७) एकाकी जलयान प्रलेख (Single Vessel Policy)—जब जहाज का स्वामी व्यक्तिगत रूप से अपने जहाज का अलग बीमा करवाता है तो उसको एकाकी जलयान बीमा कहते है।

(८) सामूहिक जलयान प्रलेख (Fleet Vessel Policy)—आधुनिक युग मे कम्पनियो के अनेक जहाज रहते है और इसलिए वे अपने जहाजों का सामूहिक रूप से बीमा करवाती है, जिससे कि उनको बीमे की दर कम देनी पड़ती है।

(९) मुद्रा प्रलेख (Currency Policy)—इस पद्धति के अनुसार बीमे का मूल्य विदेशी मुद्रा मे दिया जाता है, क्योकि मुद्रा की दरो मे होने वाले परिवर्तन से बचने के लिए बीमित तथा बीमा-कम्पनी दोनो को ही यह लाभप्रद होती है।

(१०) परिकल्पित प्रलेख (Wager Policy)—इस बीमे मे बीमा कराने वाले व्यक्ति का बीमा-योग्य हित नही होता। इसलिये प्रलेख के द्वारा कोई भी व्यक्ति हानि-पूर्ति का अधिकारी नही माना जा सकता, किन्तु बीमा-कम्पनी अपनी प्रतिष्ठा को रखने के लिए ऐसे बीमे की क्षति-पूर्ति कर देती है। जिस अवस्था मे बीमित को बीमा-हित बताने मे कठिनाई होती है तो इस प्रकार का नियम बहुधा लाभप्रद होता है।

सामुद्रिक बीमा प्रलेख की धाराएं

(Clauses of Marine Insurance)

सामुद्रिक बीमा प्रलेखों में सबसे महत्वपूर्ण प्रलेख 'लॉयड्स संघ' का माना जाता है और आज भी प्रायः उसके प्रलेख की धाराओं के ही अनुसार सामुद्रिक बीमा कम्पनियों की गोपलेख बनाई जाती हैं। इनकी मुख्य धाराएँ निम्नलिखित प्रकार की हैं—

(१) बीमित व्यक्ति या उसके प्रतिनिधि का नाम (Name of the Insured or his Representative)—पॉलिसी को प्रारम्भ करने के पश्चात् बीमित या उसके प्रतिनिधि का नाम लिखा जाता है। वह प्रायः इस प्रकार होता है। "यह विदित हो कि··· ·· ·" (रिक्त स्थान में बीमित का नाम लिखा होता है। यदि बीमित एक से अधिक व्यक्ति हों तो प्रलेख में उन सबके नाम अथवा उनके प्रतिनिधियों के नाम लिखे जाते हैं। नाम उन्ही व्यक्तियों के लिखे जाते हैं, जिनका गोपलेख में बीमा-योग्य हित हो।)

(२) रक्षित अथवा अरक्षित धारा (Not Lost or Lost Clause)—जब कभी माल जहाज मे लादकर भेज दिया जाता है तो उस समय बीमित को यह जानना कठिन रहता है कि मार्ग में माल सुरक्षित होगा अथवा नही। ऐसी दशा में सुरक्षित या असुरक्षित धारा को जोडकर बीमा करवा दिया जाता है और बीमा-कम्पनी को नष्ट होने की स्थिति में क्षति-पूर्ति करना आवश्यक हो जाता है, किन्तु यदि बीमा कराने से पूर्व ही क्षति हो चुकी है और इसका ज्ञान बीमित को बीमा कराते समय था तब कम्पनी पर क्षति-पूर्ति का कोई उत्तरदायित्व या भार नही रहेगा। यदि बीमा-कम्पनी माल के नियत स्थान पर पहुँचने के बाद बीमे का अनुबन्ध करती है तो कम्पनी द्वारा ली हुई प्रव्याजि को बीमित वापिस लेने का अधिकारी होगा।

(३) जलयात्रा का वर्णन (At and From)—इस शब्द का अर्थ दो प्रकार से लिया जा सकता है। एक, जहाँ से माल का लदान होता है वही से जोखिम का प्रारम्भ हो जाता है। और वह जब तक दूसरे बन्दरगाह तक पहुँचता है जोखिम चलती रहती है। इसलिए ये दोनों शर्तें इस प्रकार प्रलेख में दे दी जाती है: "कथित माल पर जोखिम · जहाज पर लदने के पश्चात् से ही प्रारम्भ हो जावेगी"।

(४) जहाज का नाम (Name of the Vessel)—पॉलिसी में जिस जहाज पर माल लादकर भेजा जाता है उसका नाम दिया जाना आवश्यक है। इसलिए लिये कम्पनी का उत्तरदायित्व तभी तक रहता है जब तक माल उसी जहाज में रहता है, जिससे कि माल लादा गया है। यदि किसी कारणवश माल दूसरे जहाज मे लाद दिया जाय तो बीमा-कम्पनी की अनुमति के बिना वह गोपलेख अमान्य समझा जावेगा।

(५) **मार्ग परिवर्तन** (Change of Voyage)—जब वस्तु का बीमा करा दिया जाता है तो उस जहाज के लिये निश्चित मार्ग होता है जिस पर जहाज यात्रा करेगा। इसलिये किसी भी दशा मे मार्ग परिवर्तन होने पर बीमा-कम्पनी की अनुमति ली जानी आवश्यक है, नहीं तो कम्पनी का उत्तरदायित्व समाप्त हो जावेगा। ऐसे अवसर पर यह नहीं देखा जाता है कि मार्ग घट या बढ गया है। यदि जहाज उस बन्दरगाह पर, जिस पर कि बीमा के अनुसार रुकना चाहिये, न रुककर किसी अन्य बन्दरगाह पर रुक जाता है तो भी कम्पनी का उत्तरदायित्व समाप्त हो जावेगा।

(६) **जोखिम का प्रारम्भ** (Commencement of Risk)—बीमा कम्पनी का उत्तरदायित्व इस धारा के अनुसार तब से ही प्रारम्भ होता है जब बीमित माल जहाज पर लद जाय। कभी कभी यथार्थ जोखिम तब प्रारम्भ होती है जब जहाज रवाना हो जाय।

(७) **देरी** (Delay)—बीमा होने के पश्चात् यदि नियत समय के अन्दर जहाज बन्दरगाह को छोडकर यात्रा के लिये प्रस्थान नहीं करता तो बीमा-कम्पनी अपने दायित्व से मुक्त हो जावेगी। उसी प्रकार यदि जहाज उचित समय के अन्दर निश्चित बन्दरगाह पर नहीं पहुँच पाता तो भी बीमा-कम्पनी अपने दयित्व से मुक्त हो जावेगी। 'उचित' शब्द जलयात्रा की परिस्थितियों तथा जहाज की स्थिति पर निर्भर रहेगा।

(८) **मूल्यांकन** (Valuation)—इस धारा के अनुसार बीमा करने के पूर्व ही जिस वस्तु का बीमा किया जाना है उसका मूल्य निर्धारण करके गोपलेख के ऊपर लिख दिया जाता है और हानि होने की दशा मे अधिक से अधिक उतनी ही क्षति-पूर्ति की जा सकेगी जितनी पॉलिसी के ऊपर लिखी गई है।

(९) **सुरक्षित खतरे** (Perils Insured Against)—इस धारा के अनुसार बीमित जिस प्रकार की क्षति-पूर्ति करवाना चाहता है उसका वर्णन देगा। पहले दैविक घटनाएं, शत्रु तथा समुद्र की जोखिम ही इसमे सम्मिलित की जाती थीं, किन्तु धीरे-धीरे इनमे वृद्धि हुई और अब इनको निम्नलिखित भागो मे बाँटा जाता है: (१) सामुद्रिक जोखिम—जैसे तूफान, चट्टान से टकराना, बिजली गिरना या अन्य प्रकार से पानी के द्वारा क्षति होना, (२) दुश्मनों के द्वारा—जैसे शत्रु देश जहाज को किसी प्रकार से नष्ट कर दें; (३) अग्नि द्वारा—जैसे अधिकांश रूप मे समुचित अग्नि-सुरक्षा की व्यवस्था करने पर भी जहाजो में आग लग जाती है, जिसमे कि बहुत बडी सीमा तक हानि होती है, (४) सामुद्रिक डाकुओं के द्वारा भी हानि की सम्भावना हो सकती है; (५) जब जहाज का कप्तान कुछ माल को जहाज की रक्षा के लिये समुद्र मे डलवा देता है; (६) जब जहाज पर सरकार युद्ध के लिये बीच मे ही कब्जा करले और उसका माल नष्ट कर दिया जाय; (७) जब जहाज के

मल्लाह जानबूझ कर माल को नष्ट कर दें ; (८) इसके अतिरिक्त अन्य जितने भी जल द्वारा भय हो सकते हैं वे इसी धारा के अन्तर्गत लिये जाते है।

(१०) जहाज का ठहरना (Touch and Stay)—इस धारा के अनुसार जहाज को उन सब बन्दरगाहों को छूना पड़ेगा तथा रुकना पड़ेगा जिनका वर्णन गोपलेख में किया गया है। इसके प्रायः निम्न प्रकार के शब्द होते हैं : "और यह वैधानिक होगा कि कथित जहाज बिना बीमे के विरोध के सब बन्दरगाहों को छुयेगा और रुकेगा ··· "। इसका यह अर्थ होता है कि जहाज उन्ही बन्दरगाहों को छुयेगा या उन्ही पर रुकेगा, *जिन पर रुकना आवश्यक हो।*

(११) वैधानिक कार्यवाही का दावा (Sue and Labour Clause)—इस धारा के अनुसार बीमा करने वाले को यह अधिकार होता है कि वह बीमा की हुई वस्तु की सुरक्षा के लिए जो कुछ भी उपयुक्त कार्यवाही कर सके करे और इसके लिए जो कुछ भी अनुकूल व्यय हो वह बीमा-कम्पनी से वसूल कर सके। इस प्रकार के व्यय का बीमा-राशि से सम्बन्ध नही होता।

(१२) प्रव्याजि (Premium)—इस आधार के अनुसार निश्चित की हुई प्रव्याजि पर कम्पनी बीमे की जोखिम को अपने ऊपर ले लेगी। यदि दलाल समय पर प्रव्याजि जमा न भी करा सके तो भी प्रलेख चालू ही रहेगा।

(१३) स्वत्व का खंडन *(Waiver Clause)*—इस धारा के अनुसार बीमा-कम्पनी तथा बीमा करने वाले को अधिकार है कि वे जोखिम को कम करने के लिये जो भी उचित कार्यवाही हो करें। इसका गोपलेख पर किसी प्रकार का प्रभाव नही पड़ता।

(१४) प्रतिफल (Consideration)—इस धारा के अनुसार प्रव्याजि, जो बीमा-कम्पनी को प्राप्त होती है, की रसीद बीमित को देनी पड़ेगी।

(१५) स्मरण-पत्र (Memorandum Clause)—लॉयड् प्रलेख मे यह एक सूचना के रूप मे दिया जाता है, जिसके द्वारा बीमा कराने वाला छोटी-छोटी हानियों से भी सुरक्षित हो जाता है और इसमें हर प्रकृति की वस्तु को सम्मिलित किया जा सकता है , जैसे मछली, नमक, फल, अनाज आदि अथवा जहाज का भाग, मशीनें, शक्कर, तम्बाकू आदि भी इसमें सम्मिलित किये जाते हैं।

(१६) आंशिक हानि रहित (Free of Particular Average)—इस धारा के अनुसार बीमा-कम्पनी आंशिक हानि से मुक्त रहती है।

(१७) विदेशी साधारण हानि (Foreign General Average)—इस धारा के अनुसार यदि यात्रा पूर्ण हो गई हो तो निश्चित बन्दरगाह तथा यदि यात्रा मार्ग में ही भंग हो गई हो तो सम्बन्धित बन्दरगाह मे प्रचलित कानून के अनुसार

आनुपातिक हानि का विवरण बनाया जावेगा और यह दोनों पक्षों पर समान रूप से लागू होगा।

(१८) **विशेष आनुपातिक हानि युक्त** (With Particular Average)—इस धारा के अनुसार बीमा-कम्पनी विशेष आनुपातिक हानि के लिए भी उत्तरदायी रहती है।

(१९) **सर्व हानिधारक** (Against All Risks)—इस धारा के अनुसार बीमित हर प्रकार की हानि से सुरक्षित रहता है, किन्तु सब हानियों को भी पहले ही निश्चित कर लिया जाता है।

(२०) **सर्व आनुपातिक हानि-मुक्त** (Free of All Average)—इस धारा के अनुसार विशेष लाभ साधारण आंशिक हानियों से बीमा-कम्पनी मुक्त हो जाती है।

(२१) **बन्दी तथा अधीन की जोखिम से मुक्त** (Free of Capture and Seizure)—इस धारा को युद्धकालीन अवसरों पर बीमा-कम्पनियाँ जोड दिया करती है। इसके अनुसार जब जहाज शत्रुओं के अधीन हो जाय तो उस समय कम्पनी हानि की उत्तरदायी न होगी।

(२२) **खिन्नता की धारा** (Frustration Clause)—इस धारा के अनुसार बीमा-कम्पनी यदि जहाज नष्ट कर दिया गया हो, अथवा किसी अन्य कारण से समाप्त हो गया हो, तो जहाजी कम्पनी को कुल हानि देगी, किन्तु अवशेष माल से जो कुछ उपार्जन होगा वह उसके हानि मूल्य मे से कम कर दिया जावेगा।

(२३) **डूबने से हानि** (Running Down Clause)—इस धारा को 'टकराने की धारा' भी कहते है। यदि कोई जहाज समुद्र मे डूब जाय या टकरा जाय तो जहाज का स्वामी बीमा-कम्पनी से ७५% तक हानि वसूल कर सकता है, किन्तु अब इस धारा के अनुसार सम्पूर्ण हानि भी वसूल की जा सकती है।

(२४) **चालू धारा** (Continuation Clause)—इस धारा के अनुसार यह यत्न किया जाता है कि यदि गोपलेख जहाज के मार्ग मे होने की अवस्था मे ही समाप्त हो जाय तो जब तक जहाज निश्चित स्थान पर न पहुँचे पॉलिसी उसी प्रकार चालू रहेगी और उसके लिए पूर्व निश्चित आधार पर प्रव्याजि दी जावेगी। इसकी सूचना बीमा-कम्पनी को तत्काल ही दे देनी चाहिए।

(२५) **पुनः बीमा धारा** (Reinsurance Clause)—इस धारा के अनुसार जब कम्पनी अपनी शक्ति से बाहर बीमा कर लेती है और वह समझती है कि हानि होने की दशा मे वह हानि को न सम्हाल सकेगी तो कुछ बीमा पुनः दूसरी कम्पनियों से करा लेती है, जिससे कि हानि के समय रक्षा की जा सके।

(२६) साधारण शर्तें (Warranties)—गोपलेखों में ऊपर दी गई धाराओं के अतिरिक्त साधारण शर्तों (लिखित या ध्वनित) की भी धाराएँ होती है। इन शर्तों का पालन करना प्रत्येक परिस्थिति मे आवश्यक होता है। यदि शर्तों का उल्लंघन किया जाता है तो प्रलेख रद्द समझा जावेगा।

(२७) कप्तान द्वारा ऋण (Loan by the Captain of the Ship)—इस धारा के अनुसार जहाज का कप्तान आवश्यकता पड़ने पर मार्ग में किसी से भी जहाज अथवा जहाज के माल पर ऋण लेने का अधिकारी होता है और उसका वैधानिक कार्यों के लिए लिया गया ऋण सबके लिये मान्य होता है।

(२८) जमानत पर ऋण (Bottomry)—यह जहाज के कप्तान द्वारा लिखा पत्रक होता है, जो कि ऋणदाता को दिया जाता है। इस पत्रक को कप्तान उसी अवस्था में लिख सकता है जब बिना ऋण के आगे की यात्रा कठिन हो, बिना बन्धक के ऋण न मिल सके और ऋण का लिया जाना अति आवश्यक हो। यह ऋण उमी समय वापस किया जाता है जब जहाज सुरक्षित अवस्था मे लक्षित स्थान पर पहुँच जाय। यदि जहाज डूब जाता है तो ऋण वापस नहीं किया जाता।

(२९) माल की जमानत (Respondentia)—जब ऋण माल की जमानत पर दिया जाता है उस समय कप्तान के द्वारा ऋणदाता को यह पत्रक दिया जाता है। माल की जमानत पर ऋण उसी समय दिया जाता है जब वह माल की रक्षा के लिए आवश्यक हो। माल बेचने पर धन की प्राप्ति हो सके इसके लिए संभवतः माल के स्वामियों की अनुमति ले ली जानी चाहिये।

(३०) हेग नियम (Hague)—सन् १९२१ मे सामुद्रिक विधान कमेटी के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधान सघ मे "हेग" मे इस नियम को बनाया गया था, ताकि सामुद्रिक झगड़ो का सुविधापूर्वक निर्णय किया जा सके। इसके अनुसार माल के स्वामियों तथा जहाज के स्वामियो के अधिकार तथा दायित्व निर्धारित कर दिये गये थे।

सामुद्रिक हानियाँ
(Marine Losses)

सामुद्रिक यात्रा मे हानि की सम्भावना अन्य प्रकार की यात्रा से अधिक होती है। यह हानियाँ प्रायः पहले बताये गये कारणों से होती है, किन्तु यह निर्णय करना कि यह हानि किस प्रकार की है काफी कठिन होता है। यदि हानियाँ न्यायोचित हैं तभी बीमा-कम्पनी उनकी क्षति-पूर्ति करेगी, अन्यथा नहीं। इसके लिए प्रायः निकटतम कारण का सिद्धान्त (Principle of Causa Proxima) अपनाया जाता है।

यह सिद्धान्त बीमा-क्षेत्र मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार हानि होने पर हानि के निकटतम कारणों को देखा जाता है और परोक्ष कारणों पर उतना ध्यान नही दिया जाता। जब हानि के कारण एक से अधिक होते हैं तो उस समय यह निश्चित करना कठिन होता है कि हानि का वास्तविक कारण क्या है। इसलिये इस समय यही निश्चित किया जाता है कि हानि होने मे सबसे अधिक प्रभाव किस कारण का है। जब कारण निश्चित हो जाता है और वह कारण बीमित तथा बीमा कम्पनी की शक्ति से बाहर होता है तो बीमा-कम्पनी को उसकी क्षति-पूर्ति करनी पड़नी है।

निकटतम कारण का निश्चय करना कठिन होता है और ऐसी अवस्था मे प्रायः बीमित तथा बीमा-कम्पनी के बीच झगड़ा हो जाता है। इसलिए उनके बीच का निर्णय प्रायः पहले तय किये गये आधारो पर ही किया जा सकता है। इस दिशा मे आंग्ल सामुद्रिक बीमा विधान (English Marine Insurance Act) प्रायः लाभदायक है। इसमे बीमा-कम्पनी तथा बीमित के हानि सम्बन्धी अधिकार बहुत बड़ी सीमा तक स्पष्ट रूप मे दिये गये हैं। प्रायः हानि को सिद्ध करने का भार बीमित के ऊपर ही रहता है।

हानि के प्रकार—हानियाँ दो भागो मे विभाजित की जाती हैं—(१) सम्पूर्ण हानि (Total Lass), तथा (२) आंशिक हानि (Partial Loss)। सम्पूर्ण हानि को फिर दो भागों में विभाजित किया जाता है—(१) वास्तविक पूर्ण हानि (Actual Total Loss), (२) रचनात्मक पूर्ण हानि (Constructive Total Loss) आंशिक हानि को चार भागो में विभाजित किया जाता है—(१) विशेष आंशिक हानि (Particular Average Loss), (२) साधारण आंशिक हानि (General Average Loss), (३) विशेष व्यय (Particular Charges), (४) मुक्ति व्यय (Salvage Charges)।

सम्पूर्ण हानि
(Total Loss)

सम्पूर्ण हानि को दो भागो मे बाँटा गया है : वास्तविक तथा रचनात्मक। वास्तविक हानि निम्नलिखित दशाओं मे होती है—(१) यदि बीमित वस्तु का अस्तित्व समाप्त हो गया हो, (२) यदि बीमित वस्तु का रूप परिवर्तन हो गया हो और वह फिर मूल रूप में नही बनाई जा सकती, (३) यदि बीमित वस्तु का स्वामी उस वस्तु के स्वामित्व से वंचित हो गया हो। ऐसी दशा मे वास्तविक क्षति समझी जावेगी। जहाज के खो जाने पर बीमित वस्तु की सम्पूर्ण हानि समझी जाती है।

रचनात्मक हानि की अवस्था मे माल वास्तविक हानि के समान नष्ट नहीं हो

जाता। किन्तु माल इस प्रकार से खराब हो जाता है कि उसको ठीक करने में इतना अधिक व्यय होगा कि वह मूल्य के बराबर अथवा उससे भी अधिक हो सकता है। इसलिए बीमा-कम्पनी अथवा व्यापारी उस माल पर व्यय करने की मूर्खता नहीं करेगा और इस प्रकार बीमा-कम्पनी से उस माल का पूर्व निश्चित मूल्य ले लिया जावेगा। यदि गोपलेख का मूल्य पहले निर्धारित नहीं किया गया हो तो वस्तु का मूल्य तथा अन्य उचित व्यय बीमा-कम्पनी से लिये जावेंगे।

हानियों को वसूल करने की विधि

(Settlement of Loss)

उपर्युक्त हानियों के वसूल करने की विधि निम्नांकित है—

(१) **अधिकार छोड़ने की सूचना**—जब माल की सम्पूर्ण हानि निश्चित हो जाती है तो बीमा कराने वाले को बीमा-कम्पनी के पास नष्ट हुए माल को अपने स्वामित्व को मुक्त करने की सूचना देनी पड़ती है। इस सूचना से उस माल पर बीमा-कम्पनी का अधिकार हो जाता है। यदि उस सम्पत्ति से किसी प्रकार का लाभ होता है तो वह लाभ बीमा-कम्पनी को होगा। यह सूचना बिना शर्त की सूचना होती है और हानि के उचित समय के अन्दर दे दी जाती है।

(२) **विरोध-पत्र** (Letter of Notation)—माल के स्वामी को हानि होने की अवस्था में बीमा-कम्पनी को एक विरोध-पत्र भेजना आवश्यक होता है। विरोध-पत्र को विरोध-लेखक (Notary Public) से प्रमाणित करा लेना चाहिए।

(३) **बीजक प्रस्तुत करना** (Presentation of Invoice)—विरोध-पत्र के साथ-साथ माल के स्वामी को माल का बीजक भी भेजना चाहिए, जिससे माल का वास्तविक मूल्य जाना जा सके।

(४) **जहाजी बिल्टी** (Bill of Lading)—आवेदन के साथ जहाजी बिल्टी को भी भेज जाना चाहिये, जिससे यह प्रमाणित हो जाय कि जहाज पर कितना माल का लदान हुआ है।

(५) **बीमा प्रलेख** (Insurance Policy)—आवेदन पत्र के साथ ही बीमा-कम्पनी के साथ किया गया अनुबन्ध भी कम्पनी के दायित्व की पुष्टि करने के लिये अवश्य भेजना चाहिये।

(६) **स्थान-ग्रहण पत्र** (Letter of Subrogation)—इस बात का स्पष्टीकरण करने के लिये कि क्षति-पूर्ति करने के पश्चात् वस्तु से प्राप्त होने वाले लाभ पर बीमा कम्पनी का अधिकार होगा यह पत्र भी दावे के साथ भेजा जाना आवश्यक है, क्योंकि कानून के अनुसार जब कम्पनी क्षति-पूर्ति कर लेती है तो बीमित वस्तु पर उसका अधिकार हो जाता है।

आंशिक हानि

(Partial Loss)

आशिक हानि को निम्नलिखित भागो मे बाँटा गया है—

(१) **विशेष आशिक हानि** (Particular Average Loss)—वह हानि होती है जो बीमा की हुई जोखिम के द्वारा हुई हो। यह हानि किसी विशेष कारण से होती है तथा उसमे निम्नांकित विशेषताएँ होती हैं—

(१) यह आशिक हानि होती है, (२) इसमे किसी विशेष बात की क्षति होती है, (३) यह आकस्मिक दुर्घटना के कारण होती है, (४) यह किसी निकटतम जोखिम मे उत्पन्न होती है, (५) यह अनुबन्ध के सभी पक्षो के हित मे नही होती, तथा (६) इसका भार केवल बीमा प्रण्डलो, बीमा कराने वालो पर ही पडता है।

विशेष आशिक हानि माल के किसी अश को नष्ट हो जाने अथवा किसी हिस्से के समूल नष्ट हो जाने के कारण होती है। यदि सम्पूर्ण भाव का बीमा किया गया हो और उसमे माल के किसी भाग की क्षति हुई हो तो क्षति-पूर्ति विशेष आशिक हानि पद्धति के अनुसार की जावेगी और उसके लिये माल का मूल्य निम्न लिखित पद्धति के अनुसार निकाला जावेगा—

(१) माल के पहुँच जाने पर उसकी वास्तविक हानि या छीजन का मूल्य निकालकर ;

(२) माल के कुल मूल्य के नष्ट हुए माल का मूल्य घाटा देने मे क्षति हुए माल की वास्तविकता निकाल कर ;

(३) यथार्थ मूल्य तथा क्षति हुए मूल्य का अनुपात निकाल कर, तथा

(४) अनुपातिक दर को नष्ट हुए माल के मूल्य मे लगाकर विशेष आशिक हानि का पता लगाया जावेगा। इस प्रकार निकाली गई राशि को बीमा कम्पनी क्षति पूर्ति के रूप मे देगी। उदाहरण—मान लिया जाय कि किसी माल का मूल्य २००००) रु० है तथा उसमे से आधा माल नष्ट हो गया है, जिसका मूल्य अधिक से अधिक ३०००) रु० होगा तो विशेष आशिक हानि, इस प्रकार निकाली जायेगी। यदि ठीक अवस्था मे उस माल की कीमत १२०००) रु० होती तो कुल हानि इस प्रकार होती :

नष्ट हुए माल का विक्रय मूल्य	१२०००) रु०
" का प्राप्त मूल्य	३०००) रु०
	९०००) रु०

इसलिये नष्ट हुए माल का औसत $\frac{९०००}{१२०००} = \frac{३}{४}$ हुआ। बीमित मूल्य १००००) का $\frac{३}{४}$ = ७५००) रु० कम्पनी को देना पड़ेगा। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि बीमा-कम्पनी को यथार्थ हानि से कम या ज्यादा देना पड़ता है।

किराये की विशेष आंशिक हानि (Particular Average Loss for Freight)—जब माल का भेजने वाला जहाज का किराया पहले ही चुका देता है तो माल के मूल्य में जहाज का किराया जोड़कर ही उसका बीमा कराया जाता है। इस प्रकार यदि हानि हो जाय तो किराये की हानि भी वसूल हो जाती है। यदि माल निश्चित स्थान पर पहुँचने के पूर्व किसी प्रकार नष्ट हो जावे और जहाज का स्वामी किराया वापस न करे तो माल का स्वामी उस क्षति को जहाजी कम्पनी से वसूल कर सकता है, किन्तु जहाजी कम्पनी को यह रुपया बीमा-कम्पनी को देना पड़ेगा।

जहाज पर विशेष आंशिक हानि (Particular Average Loss on Ship)—जब माल के जहाज पर किसी प्रकार की हानि हो जाती है अथवा जहाज की हानि होती है तो बीमा करने वाला माल की मरम्मत या हानि बीमा-कम्पनी से वसूल कर सकता है। यह ध्यान में रखना चाहिये कि ऐसी अवस्था में जहाज का बीमा इन खर्चों से किसी प्रकार से प्रभावित नहीं होता और बीमा-कम्पनी को ये खर्चे प्रलेखन की सम्बन्धित धाराओं के अन्तर्गत देने पड़ेंगे।

(२) साधारण आंशिक हानि (General Average Loss)—साधारण आंशिक हानि प्रायः विशेष परिस्थितियों में, जब कि जहाज का कप्तान सर्वहित के लिये जानबूझ कर माल को नष्ट कर देता है, प्राप्त होती है। अतः जो हानि जानबूझ कर उठाई जाती है उसे आंशिक हानि कहते हैं। आंशिक हानि की निम्नलिखित विशेषताएं होती है—

(१) हानि असाधारण प्रकृति की होनी चाहिये तथा उसमें कुछ माल का नष्ट कर देना आवश्यक होना चाहिए।

(२) सारे जहाज को पूर्ण रूप से क्षति-ग्रस्त होना चाहिए, जिसकी सुरक्षा के लिए आर्थिक व्यय या बलिदान करना अनिवार्य होना चाहिए।

(३) हानि स्वेच्छापूर्वक उठायी जानी चाहिए तथा स्वाभाविक हानियों का इसमें कोई कोई सम्बन्ध न होना चाहिए।

(४) बलिदान या व्यय उचित, विवेक तथा निस्वार्थ भाव से किया जाना चाहिए तथा इसका निर्णय जहाज के कप्तान को ही करना चाहिए।

(५) त्याग अथवा बलिदान का उद्देश्य सार्वजनिक हित होना चाहिए।

(६) हानि उस व्यक्ति के दोष के कारण नहीं होनी चाहिए।

(७) जो उस हानि के लिए दावा करता हो उसका उस क्षति में किसी प्रकार का अपराध न होना चाहिए।

(८) उस त्याग अथवा व्यय के कारण जहाज के स्वामी की रक्षा होनी चाहिए।

साधारण आंशिक हानि दो प्रकार की होती है : (१) साधारण आंशिक त्याग (General Average Sacrifice), (२) *साधारण आंशिक व्यय* (*General* Average Expenditure) ।

साधारण आंशिक त्याग का उदाहरण जहाज के कप्तान का किसी विशेष परिस्थिति के कारण जहाज मे लदे माल का समुद्र मे फिकवा देना अथवा माल का ईंधन के रूप मे प्रयोग करना है । इसी प्रकार साधारण आंशिक व्यय जब जहाज में किसी प्रकार की मरम्मत करनी होती है, जिसमें जहाज सुरक्षित रूप मे आगे बढ़ सके और उसके लिए कुछ माल बेच देना हो अथवा कुछ माल दूसरे जहाज मे लदवाया जा रहा हो और उसका व्यय दिया जाना हो, तो आवश्यक होता है ।

साधारण आंशिक शुल्क—साधारण आंशिक हानि का समायोजन करना प्रायः कठिन होता है, क्योंकि इसमें निम्नलिखित समस्याओं का हल आवश्यक होता है—

समस्या-हल
(Solution of the Problem)

(१) शुल्क देने वाला हित (Interest of the Contributor)—जब इस प्रकार की हानि होती है तो वह सभी हितों की रक्षा करने के लिये की जाती है अर्थात् माल के स्वामी जहाज के स्वामी तथा किराया पाने वाले सभी का उसमे हित रहता है । इसलिये उनको इस हानि का भार सहना पड़ता है, क्योंकि यदि वे लोग हानि को सहन नही करते तो हानि होने की अवस्था मे उनको सम्पूर्ण हानि हो सकती है ।

(२) हानि की राशि (Amount of Loss)—हानि की राशि का समायोजन करने के लिये जहाज, माल तथा भाड़े का विशिष्ट वर्णन आवश्यक होता है और उनके अपनी-अपनी उपयोगिता का महत्व तथा अनुपात के कारण साधारण हानि की दर निर्धारित की जाती है ।

(३) ऐच्छिक योग (Voluntary Contribution)—जहाज का मालिक, माल का स्वामी तथा किराया पाने वाला जिन आधारों पर अपनी सहायता देते हैं उनका सीमित मूल्य से किसी प्रकार का सम्बन्ध नही रहता वे अपने-अपने हित के अनुसार उसमे योग देते है—जैसे जहाज का स्वामी उस सीमा तक योग देगा जहाँ तक जहाज की क्षति का बचाव होता हो , माल का स्वामी उसी सीमा तक योग देगा जहाँ तक बाजार के वास्तविक मूल्य के अनुसार उसके माल की रक्षा हुई हो और इसी प्रकार किराये का पाने वाला अपने किराये की सीमा तक ही योग देगा, अर्थात् जितना उस हानि मे उसके किराये मे कमी आती है वही राशि वह योग के रूप में दे सकेगा ।

साधारण आंशिक हानि का समायोजन
(Computation of General Average Loss)

जब साधारण आंशिक हानि हो जाती है तो जहाज के स्वामी को निश्चित बन्दरगाह अथवा बीच के बन्दरगाह पर अलग-अलग हानियों का विस्तृत वर्णन देना होता है और उसके ही अनुसार हानि का समायोजन किया जाता है। यह समायोजन आंशिक समायोजक (Average Adjuster) के द्वारा किया जाता है। इस पर होने वाला व्यय समस्त हित वालो को देना होता है। यदि समायोजन मे अधिक समय लगता है तो माल के स्वामियो को माल साधारण आंशिक बंध (General Average Bond) के भरने पर दिया जाता है। किन्तु जब हानि विशेष होती है तो उसके लिये पहले साधारण आंशिक राशि जमा (General Average Deposit) कराना होता है।

उदाहरण—(१) एक जहाज का आंशिक मूल्य ४५०००) रु०, भाडा ५०००) रु० तथा माल २००००) रु० का है। इसमें से एक आदमी के माल को, जिसका मूल्य १४०००) रु० है, जहाज की सुरक्षा के लिये गिरा दिया गया, तो माल की कुल हानि इस प्रकार से विभाजित की जायेगी—

जहाज ४५ हजार, माल २० हजार, भाड़ा ५ हजार=कुल योग ७० हजार।
योग का अनुपात ९, ४, १ = १४

इसलिए इन तीनो मे योग का विवरण इस प्रकार से होगा—

जहाज	$\frac{९}{१४}$ × १४००० = ९०००	शुल्क राशि
माल	$\frac{४}{१४}$ × १४००० = ४०००	शुल्क राशि
भाडा	$\frac{१}{१४}$ × १४००० = १०००	शुल्क राशि

कुल साधारण आंशिक क्षति = १४००० रुपये

(२) मान लिया कि जहाज का मूल्य ४० हजार रुपया, माल का २० हजार रुपया जिसमे ४, ४ हजार रुपये का ५ आदमियों का माल है और भाडा २० हजार रुपया है। उसमे से एक आदमी का माल डुबो दिया गया है तो उसको रुपया इस प्रकार मिलेगा।

अनुपात	४० : २० : २० = २ : १ : १
जहाज	$\frac{२}{४}$ × ४००० = २०००) रु०
माल	$\frac{१}{४}$ × ४००० = १०००) रु०
भाड़ा	$\frac{१}{४}$ × ४००० = १०००) रु०
	४०००) रु० कुल

१००० ÷ ५ = २०० प्रत्येक व्यक्ति का हिस्सा जो उसको चुकाना होगा। इस प्रकार जिस व्यक्ति का माल नष्ट हो चुका है उसको ४००० – २०० = ३८०० रुपये प्राप्त होंगे।

(१) बिक्री पर साधारण आंशिक हानि (General Average Loss on Sales)—जहाज के माल की सुरक्षा के लिए कभी-कभी माल को बेचकर व्यय-पूर्ति करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में माल के स्वामी को माल के विक्रय-मूल्य को लेने का अधिकार होगा। उस माल को बेचने में लाभ-हानि का उत्तरदायित्व माल के स्वामी पर ही होगा।

(२) आवश्यक व्यय (Necessary Expenditure)—जिस समय जहाज किसी प्रकार से क्षति-ग्रस्त हो जाता है और उसकी मरम्मत करना आवश्यक होता है। उस समय का मरम्मत का खर्च, माल के चढ़ाने-उतारने का खर्च आदि जहाज के कप्तान को करना पड़ता है और इसके लिए आवश्यकता पड़ने पर वह माल को बेच सकता है या गिरवी रख सकता है। ऐसी अवस्था में वह सारा व्यय साधारण आंशिक व्यय कहलावेगा।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि साधारण आंशिक हानि बीमे से बिल्कुल भिन्न होती है और यदि बीमा में इस हानि का उल्लेख रहता है तो बीमा कम्पनी को इस हानि की पूर्ति करनी पड़ेगी। यदि बीमित अन्य हित वालों से उस हानि का हिस्सा वसूल नहीं कर सकता तो वह अपनी हानि बीमा-कम्पनी से भी वसूल नहीं कर सकेगा।

(३) विशेष व्यय (Special Expenditure)—विशेष व्यय उन खर्चों को कहते हैं जो बीमित व्यक्ति के द्वारा अथवा उसके लिए बीमित माल की रक्षा के लिए किये जाते हैं। ये व्यय विशेष आंशिक हानि में सम्मलित नहीं किये जाते। वे वैधानिक कार्यवाही के दावों के अन्तर्गत किये जाते हैं, जिससे कि बीमा की क्षति रोकी जा सके। निम्नलिखित दशाओं में यह व्यय बीमा-कम्पनी से वसूल किया जा सकता है—

(१) यदि खर्चा जोखिम को मिटाने या कम करने के लिए किया गया हो;

(२) यदि किसी निश्चित हित के लिए किया गया हो,

(३) खर्चा बीमित अथवा उसके प्रतिनिधि द्वारा किया गया हो, तथा

(४) वह खर्चा किसी छोटे फासले के लिए किया गया हो।

(४) मुक्ति व्यय (Salvage Expenditure)—यह व्यय उस व्यक्ति के लिए किया जाता है जो जहाज पर माल की रक्षा करता है। इस व्यक्ति को रक्षक (Salvor) कहते हैं। यह निम्नलिखित दशाओं में दिया जाता है—(१) यदि रक्षक अन्य व्यक्ति हो और उसका सम्पत्ति से किसी प्रकार का सम्बन्ध न हो,

1 Give a historical note on Marine Insurance. What are the fundamental principles that govern the Marine Insurance ?
2 State the different types of Marine Insurance policies and give a short explanation of each of them.
3 Write a note on—
Floating Policy, Single Vessel Policy, Currency Policy, Wager Policy.
4 Explain the various clauses of a marine insurance policy with special reference to Lloyde's policies.
5 Give a note on marine losses and also a full explanation of Total and Partial losses.
6 What is 'Total loss' and what are its divisions. Explain the procedure of calculating the losses and settling them.
7 In how many parts the partial losses can be divided ? How is it calculated.
8 Write a note on—
Particular Average Loss, Particular Charges, General Average loss, Salvage Charges.

औद्योगिक क्षमता एवं कुशलता का प्रयत्न

विवेकीकरण

(Rationalisation)

२२

अर्थ—विवेकीकरण शब्द जर्मनी के अर्थशास्त्रियों की देन है। यदि इसका शाब्दिक अर्थ किया जाय तो हम कह सकते है कि कोई भी कार्य जो विवेक के साथ किया जाय विवेकीकरण है। विवेक मनुष्य के बौद्धिक स्तर की नियंत्रित क्रिया है। अर्थशास्त्र मे औद्योगिक कार्यों के लिए इस शब्द का प्रयोग उद्योग की गतिविधि को एक क्रमिक रूप से लाभार्थ नियन्त्रित करने के लिए किया जाता है, अतः विवेकीकरण के लिए सुविधा के साथ 'औद्योगिक क्रान्ति' का भी प्रयोग कर सकते हैं। इसका उद्देश्य उद्योग का इस प्रकार का सगठन करना है, जिसमे उसमे निरन्तर विकास होता रहे। विवेकीकरण की सही परिभाषा देना कुछ कठिन है, किन्तु उद्योग तथा व्यापार मे इसके परम्परागत होने के कारण इसकी बहुत-सी परिभाषाये मिलती हैं।

डॉ० डी० एच० मेकगिरीगोर ने इसका अर्थ बताते हुए कहा है—"विवेकीकरण औद्योगिक सगठनों का ऐसा स्वरूप है, जो राज्य के न्यायोचित नियमो पर निर्धारित रहता है तथा जिसके उत्पादनकर्ताओ मे इस प्रकार का सम्बन्ध होता है कि वे कार्य मे विशिष्टता ला सकें एव शिथिलता के विच्छेदन पर तथा नवीन उद्योगों पर भली प्रकार से नियन्त्रण रख सकें।" श्री उरविक के शब्दो मे "विवेकीकरण एक विधि तथा उद्देश्य है। इस उद्देश्य के अनुसार ससार की समस्त आर्थिक स्थितियो का अधिक से अधिक वैज्ञानिक नियत्रण आवश्यक है तथा विधि के अनुसार वह उत्पादन, वितरण तथा उपभोग के सगठनों की समस्याओ की एक वैज्ञानिक विधि है।" श्री मोण्ड के अनुसार "उद्योग का विवेकीकरण उत्पादन को उपभोग के अनुसार समायोजित करना तथा व्यापारिक उतार-चढाव के होने हुए भी मूल्य को इस प्रकार सचालित करना है कि *वाणिज्य को एक प्रशस्त मार्ग मिल सके।" जर्मनी के 'नेशनल बोर्ड फॉर इकानॉमी एण्ड एफीशिएन्सी (National Board* for Economy and Efficiency) मे विवेकीकरण की परिभाषा इस प्रकार की गई है : "विवेकीकरण उद्योग के विकास के लिए तात्रिक योग्यता एवम् योजनाओ का समुचित रूप से प्रयोग करना तथा कम व्यय पर सुन्दर तथा अधिक माल का

उत्पादन करना है। इसका उद्देश्य विकास के स्तर को सस्ते, अधिक तथा सुन्दर माल के उत्पादन से ऊपर उठाना है।"

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन ने विवेकीकरण की परिभाषा इस प्रकार दी है, "परिश्रम एवं वस्तुओं के अपव्यय को कम करने की संगठनात्मक तान्त्रिक विधि वैज्ञानिक है। इस श्रम का वैज्ञानिक संगठन, वस्तु तथा उत्पादन का प्रमापीकरण, व्यावसायिक क्रिया का साधारणीकरण, तथा यातायात एवं विपणन की पद्धति में सुधार का समावेश किया जाना है।"

सन् १९३७ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन समिति ने विवेकीकरण की परिभाषा निम्नलिखित ढंग की है—

"विवेकीकरण प्राचीन चालू पद्धतियों में वर्तमान तर्कपूर्ण तथ्यों के आधार पर सुधार करना है। इसके सकीर्ण अर्थ में यह सार्वजनिक अथवा निजी कार्यों व्यवसायों तथा प्रबन्ध के लिए क्रमिक सुधार की पद्धति है तथा व्यापक अर्थ में यह व्यापारिक एवं औद्योगिक संयोगों में विकास तथा मितव्ययता लाने का साधन है। इसके अत्यन्त व्यापक अर्थ में यह सामाजिक एवम् आर्थिक संगठनों में एक व्यापक कार्यशीलता, विकास तथा उत्थान की योजना है।"

इन परिभाषाओं से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) विवेकीकरण का ध्येय है उत्पादन, कार्यकुशलता तथा प्रबन्ध में कुशलता प्राप्त करना तथा विकास करना।

(२) उत्पादन, कार्यशीलता तथा प्रबन्ध में मितव्ययता करना।

(३) श्रमिकों को कार्य में निपुण बनाना तथा उनके जीवन-स्तर को उठाना।

(४) उत्पादन तथा माँग में संतुलन करना।

(५) व्यापारियों की आपस की प्रतिस्पर्द्धा को रोककर उनमें सामूहिक रूप से सोचने की क्षमता प्रदान करना।

(६) आर्थिक तथा सामाजिक तत्वों का विकास करना।

हमारी दृष्टि में विवेकीकरण का आधुनिक रूप उत्पादन, श्रम तथा पूँजी के विभिन्न स्रोतों को इस प्रकार नियन्त्रित करना है, जिसमें व्यापार-व्यवसाय में उत्पादन सामयिक माँग के अनुकूल होकर उत्पादक, श्रमिक एवम् उपभोक्ताओं के लिए लाभप्रद हो।

उद्देश्य (Objects)—उपर्युक्त विवेचन से विवेकीकरण का उद्देश्य जानना कठिन नहीं है। सन् १९२७ के अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन में विवेकीकरण के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये हैं—

(१) श्रमिकों के कम से कम प्रयत्न के द्वारा अधिक से अधिक कार्यक्षमता पैदा करना।

(२) शक्ति तथा कच्चे माल के अपव्यय को रोकना।

(३) माल के वितरण को सरल बनाने के लिए निम्नलिखित प्रयोग करना—

(अ) अनावश्यक यातायात को कम करना, आर्थिक भार को हटाना तथा अनावश्यक मध्यस्थों से मुक्त करना।

(आ) वस्तुओं की विभिन्नता को कम करना, निर्माण में अनुसधान करना तथा उत्पादन के साधनों का प्रमापीकरण (Standardisation) करना।

(४) समाज का स्थायी तथा उच्च जीवन-स्तर सम्भव करना।

(५) उपभोक्ताओं को कम-मूल्य पर वस्तुएँ उपलब्ध कराना।

(६) अलग-अलग प्रकार के छोटे तथा बडे उत्पादन के लिए उचित लाभ सम्भव कर देना।

इनके साथ-साथ उत्पादन की शैली पर नियन्त्रण करना, क्रय-विक्रय को क्रमबन्धित करना तथा समाज का सामूहिक आर्थिक विकास करना भी विवेकीकरण के उद्देश्य में सम्मिलित है।

विवेकीकरण के सिद्धान्त
(Principles of Rationalisation)

यद्यपि विवेकीकरण सर्वप्रथम जर्मनी में आया, किन्तु वह आज समस्त देशों के औद्योगिक संगठनों का एक महत्वपूर्ण अग बन गया है और उसकी प्राप्ति के लिए अलग अलग देशों ने अपनी सुविधानुसार अलग अलग प्रकार के ढग अपनाए है। किन्तु उन सबका उद्देश्य समान ही है और वे केवल उसको प्राप्त करने के उपालम्भ है। इसके मूल सिद्धान्त प्रमापीकरण, विशिष्टीकरण, यन्त्रीकरण एवम् अनुसन्धान है—

(१) प्रमापीकरण (Standardisation)—वस्तुओं में कुशलता लाने के लिए एवम् उनकी प्रतिष्ठा बढाने के लिए प्रमापीकरण किया जाना आवश्यक है। यदि वस्तुएँ एक निश्चित प्रमाप के अनुसार बनाई जाती है तो उनके गुण तथा मूल्य के विषय मे विशेष कठिनाई नहीं पडती और उनका बाजार प्रायः निश्चित सा हो जाता है। डॉ० मेयर्स के अनुसार इस सिद्धान्त के द्वारा केवल उत्पादन की कार्यक्षमता ही नही बढ़ती, अपितु उत्पादन की शक्ति में वृद्धि होती है तथा वस्तु और धन का अपव्यय नही होता।

कारण उसके राष्ट्रीय उद्योग मे सर्वत्र विवेकीकरण के सिद्धान्तो को अपनाया जाने लगा।

सन् १९२९ की विश्वव्यापी मन्दी के कारण विवेकीकरण को समस्त संसार मे प्रोत्साहन मिला और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विवेकीकरण किया जाने लगा। जर्मनी के बाद विवेकीकरण को अपनाने वाला दूसरा देश जापान था। उसने अपनी तान्त्रिक तथा व्यापारिक योग्यता के कारण इतनी अधिक उन्नति की कि उस समय के प्रमुख औद्योगिक राष्ट्रो से बराबरी करना जापान के लिए अत्यन्त सुगम हो गया।

यूरोपीय देशो मे विवेकीकरण को अपनाने वाला दूसरा देश इंगलैण्ड था। प्रथम विश्व-युद्ध के कारण इंगलैण्ड को भी औद्योगिक क्षेत्र मे पर्याप्त क्षति हुई और अपनी अस्त-व्यस्त अवस्था को सुधारने के लिये वहाँ पर 'वैलफेयर कमेटी' की नियुक्ति की गई, जिसने उत्पादन के नियन्त्रण तथा सन्तुलन के अनेकों सुझाव प्रस्तुत किये। इन सुझावो के कारण इंगलैण्ड मे व्यापक वृद्धि हुई।

सन् १९३९ मे द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ हो जाने के कारण विवेकीकरण मे पुनः बहुत बडी शिथिलता आ गई। क्योंकि युद्ध-काल मे माँग के आधिक्य के कारण उत्पादन मे किसी प्रकार की स्थिरता स्थापित करना सम्भव नही था। द्वितीय विश्व-युद्ध सन् १९४५ मे समाप्त हो गया और ३ साल मे ही व्यापार मे फिर मन्दी के कारण स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगे। इस बार प्रायः सभी देश इस समस्या का अनुभव करने लगे और दुनिया मे हर देश मे किसी न किसी प्रकार का विवेकीकरण किया जाने लगा। राष्ट्रो ने पुर्नविकास के लिये अनेक योजनाएँ बनाई तथा सरकारी नियन्त्रण किये जाने लगे। इन योजनाओ के द्वारा ससार को सन् १९२९ वाली परिस्थिति का सामना नही करना पडा तथा उत्पादन को इस प्रकार नियन्त्रित किया गया, जिसमे वस्तुओं के मूल्य एक साथ नही गिरे और व्यापारी जगत में होने वाले विनाश बहुत बडी सीमा तक रुक गये।

इसी उद्देश्य से सन् १९४९ में मुद्रा-अवमूल्यन करना पड़ा। जिन देशो मे आवश्यक भाव गिर रहे थे उनमे मूल्यो पर नियन्त्रण किया गया, अनार्थिक उद्योगों को समाप्त करके आर्थिक उत्पादनो को विशेष प्रोत्साहन दिये गये, औद्योगिक विकास के लिये योजनायें बनाई गई तथा श्रमिकों, औद्योगिक उत्पादनों, वित्तीय व्यवस्थाओ एवं विपणन की पद्धतियो पर नियन्त्रण किया गया और उनमे जहाँ कही हुआ नियमन भी किया गया। साथ ही प्रायः सभी उद्योगों में प्रबन्ध एवं उत्पादन की क्रियाओं को वैज्ञानिक रूप से चलाये जाने पर जोर दिया जाने लगा।

मुद्रा-नियन्त्रण, औद्योगिक श्रम की खपत, उत्पादन तथा विक्रय बाजारो की

अव्यवस्था आदि पर नियन्त्रण पाने का एकमात्र उपाय विवेकीकरण था और उसको अलग-अलग राष्ट्रों ने अपनी सुविधा के अनुसार अपनाया ।

विवेकीकरण को अपनाने के कारण

(Causes Responsible for Rationalisation)

ऊपर दिये गये इतिहास से विवेकीकरण के कारणों को ढूंढने में विशेष कठिनाई नहीं होती और हम सुगमता से उन कारणों को निम्नलिखित भागों में बाँट सकते हैं—

(१) प्रथम विश्व युद्ध के बाद उद्योगों में प्रायः सर्वत्र **शिथिलता** (Slackness) आ गई जिसके कारण कच्चा माल, मशीनें, श्रम, पूँजी आदि सभी में एक व्यापक कमी का अनुभव होने लगा। इस कमी के कारण उत्पादन की वृद्धि होना प्रायः कठिन ही था। अस्तु अपने उद्योग को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता में जीवित रखने के लिए विवेकीकरण अत्यन्त आवश्यक हो गया।

(२) कुछ देशों में बेकारी बढ़ने तथा **मुद्रा-स्फीति** (Inflation) के कारण उद्योग तथा व्यापार का सन्तुलन बिगड़ गया और उसको नियन्त्रित करने के लिये भी इसका उपयोग करना अनिवार्य था।

(३) **श्रमिकों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन** (International Labour Organisation) तथा राष्ट्रीय श्रमिक आन्दोलनों के कारण भी औद्योगिक समस्याओं में गम्भीरता आई। श्रमिकों का कार्यकाल घटा दिया गया तथा उनकी मजदूरी में वृद्धि कर दी गई। इसलिये उत्पादन की शैली में यथोचित परिवर्तन करने के लिये विवेकीकरण का अपनाया जाना आवश्यक हुआ।

(४) विश्वव्यापी व्यापारिक **मन्दी** (Depression) ने भी विवेकीकरण अपनाने में बहुत बड़ी सुविधा दी। घटते हुए मूल्यों तथा बिगड़े हुए उत्पादन पर उचित नियन्त्रण करने के लिए विवेकीकरण का अपनाया जाना आवश्यक हो गया।

(५) उत्पादन पद्धति में **वैज्ञानिकता** (Scientification) लाने के लिए भी विवेकीकरण का अपनाया जाना आवश्यक समझा गया।

(६) सामाजिक दृष्टिकोण से उपभोक्ताओं को वस्तु **उचित मूल्य** (Reasonable Price) पर दिलाने के लिये भी विवेकीकरण का अपनाया जाना आवश्यक समझा गया।

(७) देश के आर्थिक ढाँचों को सुदृढ़ रखने के लिए भी वैज्ञानीकरण की सहायता प्राप्त करनी पड़ती है। पाश्चात्य देशों ने वैज्ञानीकरण से ही अपनी रक्षा की। वर्तमान में हमारे देश के उद्योगों में ही नहीं, वरन् अन्य क्षेत्रों में भी वैज्ञानीकरण की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है।

मे वृद्धि करना, परिकल्पित व्यापार करना आदि होता है, किन्तु विवेकीकरण का अर्थ इससे सर्वथा भिन्न है।

विवेकीकरण तथा श्रमयोग या आजीविका
(Rationalisation and Labour Aid or Livelihood)

विवेकीकरण में सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न श्रमिकों का आता है, क्योंकि इसमें काम की पालियों (Shifts) मे घटा-बढ़ी, कार्य-अवधि मे परिवर्तन, मजदूरी की समस्या आदि अनेक बातों का विवेचन किया जाता है। कभी-कभी उद्योग का यन्त्रीकरण करने के कारण बहुत-सारे मजदूर बेकार हो जाते हैं, उत्पादन पर नियंत्रण करने के हेतु कितनी ही उद्योगशालाओं को या तो बंद करना पड़ता है या उनकी पालियाँ कम कर देनी पड़ती है। इसके कारण भी बहुत से मजदूर बेकार हो जाते हैं और देश के सामने बेकारी का एक भयंकर प्रश्न उपस्थित हो जाता है। इन प्रश्नों को लेकर लोगों ने प्रायः विवेकीकरण की बहुत आलोचना की है और उनकी धारणा है कि विवेकीकरण किसी भी हालत मे श्रमिकों के लिये हितकर नहीं है। यदि यह किसी अवस्था मे श्रमिकों के लिये हितकर है, (जैसे, कार्य की अवधि कम कर देना) तो उद्योगपतियों के लिये हितकर है और यदि उद्योगपतियों को लाभदायक है, (जैसे, छटनी करना या नई मशीनों को लगाना) तो मजदूरों को हानि होती है। यदि उपर्युक्त कथन पर विचार किया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि प्रारंभ मे अवश्य कुछ असुविधा प्रतीत होती है, किन्तु आगे चलकर इस प्रकार की कोई असुविधा नहीं रहती।

इसको जानने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने खोज की, किन्तु आँकड़े आदि न मिलने के कारण वे किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। यह इंगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति के इतिहास से कहा जा सकता है कि यन्त्रीकरण मे अस्थायी कठिनाई अवश्य होती है, किन्तु यह समय के साथ-साथ हल की जा सकती है। आगे चलकर श्रमिकों का निश्चित रूप से आर्थिक स्तर बढ़ जाता है, क्योंकि विवेकीकरण को हम हमेशा राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ही आँकते हैं। जो लोग विवेकीकरण को बेकारी का उत्तरदायी बनाते हैं वे यह नहीं देखते कि बेकारी के लिए विवेकीकरण के अतिरिक्त कितने ही और कारण भी हैं और इस प्रकार उनकी व्यापकता को कम नहीं किया जा सकता। विवेकीकरण के द्वारा वस्तुएँ सस्ते मूल्यों पर प्राप्त होने लगती हैं, जिससे वस्तु की माँग व्यापक रूप से बढ़ जाती है। इसी प्रकार नौकरी तथा मजदूरी में भी वृद्धि होने लगती है। कभी-कभी मूल्य की कमी यथार्थ मजदूरी मे वृद्धि का कारण होती है। उन्नत यन्त्रीकरण के कारण कुशल श्रमिकों की आवश्यकता पड़ती है, जिससे उनकी माँग जो अकुशल हैं कम हो जाती है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि विवेकीकरण के द्वारा कोई हानि हुई है। यदि

रोकने के लिए भी अनुकूल व्यवस्था का आश्रय लिया जाना आवश्यक है तथा सम्बन्धित व्यापार तथा उद्योग मे योग्यता लाने के लिए उनका अनुकूल संयोग किया जाय। उद्योगो के विकास तथा नियन्त्रण के लिए सुन्दर योजनाएँ तथा बजट का बनाया जाना भी आवश्यक होता है।

उदाहरण के लिए, यदि साइकिल निर्माण उद्योग मे विवेकीकरण किया जाय तो उसमे प्रमापीकरण लाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके उत्पादन के प्रत्येक अग पर केन्द्रीय नियन्त्रण होना चाहिए। मान लिया जाय कि उसके अलग-अलग हिस्सो को बनाने के लिए अलग-अलग विभाग हैं तो केन्द्रीय संगठन को देखना चाहिए कि उन अलग-अलग हिस्सो का उत्पादन सस्ती व अच्छी रीति से किया जाय, जिससे उनको मिलाकर जल्दी साइकिल तैयार की जा सके। इसके लिए अलग-अलग विभागो मे अधिक व्यक्ति तथा सामग्री का उपयोग किया जा सकता है और साथ ही साथ उत्पादन मूल्य मे मितव्ययता भी की जा सकती है। यदि उत्पादन बढाने की दृष्टि से विवेकीकरण किया जायगा तो एक घटे मे आसानी से साइकिल तैयार की जा सकेगी। इसके लिए पहले ही उसके अलग-अलग अगों को पूर्व निर्धारित एक किसी निश्चित नाप के अनुसार बनाया जाता है, उन अंगो के महत्व के अनुसार उनके ऊपर लगे हुए खर्चे का अनुमान किया जाता है और उस खर्चे के ही अनुसार उन पर व्यय होने वाला श्रम तथा समय का अनुमान लगाकर यह देखा जाता है कि वह कार्य पूर्व अनुमानित विधि के ही अनुसार सम्पन्न किया जा सके। इन हिस्सो को बनाने के लिए यह आवश्यक नही है कि वे एक ही छत के नीचे बनाये जायें। यदि उनका सही प्रमापीकरण कर दिया जाता है तो उनका निर्माण किसी भी स्थान मे हो सकता है।

विवेकीकरण के लिए अनुसन्धानशाला का होना अत्यन्त आवश्यक है, जिसमे कि वस्तुओ के उत्पादन की सरलता तथा समय की बचत के लिए निरन्तर प्रयोग किये जाने चाहिये। समय की बचत के लिए यह देखना चाहिए कि उनमे किस सीमा तक सरलता लाई जा सकती है और यह लाने के लिए जो फॉर्मूला तैयार हो जाय उसको सभी विभागो मे समान रूप से लागू किया जाना चाहिए।

लागू करने के पश्चात् यह प्रयोग भी करना चाहिए कि तुलनात्मक दृष्टि से उसमे कितना लाभ होता है और उसमे तान्त्रिक कठिनाइयो का क्या अनुमान रहता है।

यह देखने के लिए कि मशीनों की उत्पादन शक्ति क्या है, उसमे यह हिसाब लगाया जाना चाहिए कि उत्पादन में मशीनो की कितनी शक्ति का व्यय होता है तथा उसमे किस प्रकार से मितव्ययता लाई जा सकती है। इसके साथ-साथ क्रय शक्ति

(Labour Efficiency) बढ़ती है, क्योंकि यन्त्रीकरण के कारण केवल कुशल श्रमिकों की ही आवश्यकता रह जाती है और अकुशल श्रमिकों को आजीविका के लिये परिश्रम करना पड़ता है। इस प्रकार कुशल श्रमिकों की संख्या में वृद्धि होती है और साथ ही साथ मजदूरों का वेतन भी बढ़ जाता है।

आर्थिक लाभ (Economic Advantages)—(१) विवेकीकरण के अन्तर्गत पूँजी की व्यवस्था उत्पादन के अनुसार की जानी सम्भव होती है और संयोग के कारण उत्पादन मूल्य को देखते हुए उद्योगों के सामान्य व्ययों को नियन्त्रित किया जा सकता है। इसके लिये अनुसन्धानशाला में प्रत्येक उद्योगों के सम्भावित व्यय का अनुमान लगा दिया जाता है, जिससे भविष्य में उद्योगों को किसी प्रकार की कठिनाई का सामना न करना पड़े। (२) विवेकीकरण में अनुमानित व्यय (Proportional Expenditure) कम होता है, क्योंकि उद्योग का यन्त्रीकरण करने से उत्पादन का औसत उस पर होने वाले व्यय से बढ़ जाता है, जिससे पहले की अपेक्षा वस्तुएँ सस्ती पड़ती हैं। (३) यातायात (Transport) तथा संदेशवाहक (Communication) साधनों पर सामूहिक नियन्त्रण करके अपव्यय अथवा अनावश्यक खर्चे कम किये जा सकते हैं। (४) विज्ञापन (Advertisement) तथा बाजार के अन्य खर्चों में भी बहुत कुछ सीमा तक मितव्ययता की जा सकती है। (५) विवेकीकरण का मूल उद्देश्य उत्पादकों को वस्तु-विक्रय पर लाभ दिलाना होता है। यह लाभ नियन्त्रित विक्रय (Controlled Sales) तथा केन्द्रीय क्रय (Centralised Purchases) से सम्भव होता है, क्योंकि इसके कारण बहुत सी अनावश्यक सेवाओं को अलग किया जा सकता है। (६) विवेकीकरण की अवस्था में बाहर की संस्थाओं के द्वारा भी आसानी से धन उधार (Loan) लिया जा सकता है, क्योंकि इनके द्वारा उद्योग की स्थिति दृढ़ हो जाती है।

सामाजिक लाभ (Social Advantages)—(१) इसमें श्रमिकों को काम करने के लिये बहुत अच्छा वातावरण (Good Atmosphere) मिलता है, जिससे उत्साह के साथ कार्य करके वे इनकी योग्यता बढ़ा सकते हैं तथा उत्पादन में वृद्धि कर सकते हैं। (२) उनके कल्याण (Welfare) के लिये अधिक साधन होने के कारण श्रमिकों का स्वास्थ्य अच्छा रह सकता है तथा वे कार्य करने में सुस्ती अनुभव नहीं करते या उनमें अकर्मण्यता नहीं आती। (३) काम करने के घन्टों में कमी आ जाने से श्रमिक की मासपेशियों पर विशेष बोझ नहीं पड़ता, जिससे वे काम को दुगने उत्साह से कर सकता है। (४) उपभोक्ताओं को अपनी आवश्यक वस्तुएँ सस्ते दामों पर प्राप्त हो जाती हैं, जिससे उनका जीवन-स्तर बढ़ता है। (५) उत्पादन में कच्चे माल, श्रम तथा पूँजी की बचत हो जाने से राष्ट्रीय बचत (National Saving)

होती है, जिससे उत्पादन मे अधिक वृद्धि की जा सकती है तथा परोक्ष रूप में राष्ट्रीय आय मे भी वृद्धि होती है।

अन्य लाभ (Other Advantages)— (१) विवेकीकरण मे **शोध** (Research) तथा प्रयोग कार्यो मे बहुत बडी सफलता मिलना मिलती है। (२) आवश्यकता पडने पर उत्पादन को **बढ़ाया या घटाया** (Flexible) जा सकता है। (३) सरकार की **औद्योगिक तथा आर्थिक नीति** (Finacial Policy) के अनुसार उत्पादन की व्यवस्था की जा सकती है, जिसमें उत्पादन तथा मांग अनुकूल बनी रहे। (४) विवेकीकरण के उपयोग से व्यापार तथा उद्योग राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय **प्रतियोगिता** (Competition) शक्ति प्राप्त कर सकता है।

बम्बई टेक्सटाइल लेबर इन्क्वायरी कमेटी (१९४१) ने विवेकीकरण के लिए निम्न सिफारिशे की है—(१) विवेकीकरण मे विनियोगकर्ताओं, श्रमिकों तथा राज्य को लाभ होना चाहिये। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब उनके बीच *सहकारिता हो।* (२) *उद्योगपतियो तथा श्रमिकों मे विवेकीकरण की सफलता के* लिए सुन्दर समझौता होना आवश्यक है। (३) इसके लिए कुशल तथा विश्वासी श्रमिकों का होना आवश्यक है। (४) कार्यशीलता तथा अन्य योग्यताओं को बढाने के लिए पारस्परिक तान्त्रिक तथा व्यावहारिक विचार-विनिमय किया जाना आवश्यक है।

इस प्रकार लार्ड मेलचेढ के अनुसार पूंजी का वैज्ञानिक प्रबन्ध, उत्पादन तथा वाणिज्य का विशिष्ट नियन्त्रण, अनुसधान, बाजार तथा मूल्य की निश्चितता तथा सामाजिक अर्थ लाभ विवेकीकरण के मूल लाभों में से हैं।

हानियाँ
(Disadvantages)

आदर्शवादी विचारधारा के अनुसार विवेकीकरण से ऊपर बताये गये लाभ होते है, किन्तु विवेकीकरण के प्रयोगात्मक स्वरूप को देखते हुए उसमे अनेको दोष भी पाये जाते हैं, जिनमे से कुछ नीचे दिये जाते है। इसी कारण इसका श्रमिकों, उपभोक्ताओं तथा उद्योगपतियों की ओर से बहुत बडा विरोध होता है। इसकी बुराइयाँ निम्नलिखित प्रकार से गिनी जा सकती हैं—

(१) विवेकीकरण मे **अत्यधिक पूंजीगत व्यय** (Excess Capital Expenditure) होता है, और उसके अनुसार उत्पादन मे उतनी ही वृद्धि करना कठिन हो जाता है। धन का व्यय हो जाने पर भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उस प्रयोग मे मितव्ययिता होगी ही, क्योंकि कई बार नवीन पद्धतियाँ अत्यन्त खर्चीली होती हैं।

(२) विवेकीकरण मे श्रमिकों को बहुत बड़ी हानि का सामना करना

पड़ता है, क्योंकि उद्योगों का यन्त्रीकरण करने से मजदूरों में बेकारी (Labour unemployment) फैल जाती है। किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के इतिहास से यह स्पष्ट है कि यह बेकारी केवल अन्तरिम काल के लिए ही होती है और आगे चल कर उसमें अधिक लोगों को नौकरियाँ भी मिल जाती हैं तथा उनकी आय में भी वृद्धि हो जाती है।

(३) उपभोक्ताओं की दृष्टि से विवेकीकरण के द्वारा उद्योग तथा व्यापार में संयोग की समस्त बुराइयाँ (Abuses of Combination) आ जाती हैं, जिससे उद्योग तथा व्यापार में एकाधिकार हो जाने से मूल्यों में वृद्धि, उपभोक्ताओं तथा श्रमिकों का शोषण और पूँजी का केन्द्रीयकरण आदि सम्भव हो जाता है।

(४) विवेकीकरण के द्वारा उद्योग का आकार बढ़ जाता है, जिससे उसका नियन्त्रण करना बहुत कठिन है, क्योंकि उसके अलग-अलग अंगों पर समान नियन्त्रण रखने के लिए जितनी शक्ति का व्यय होता है उस अनुपात से लाभ नहीं होता।

(५) विवेकीकरण के अन्तर्गत रहने वाली संस्थाओं के भविष्य का विशेष निश्चय नहीं रहता (Uncertainty of Future)। इसलिये बाहर की संस्थाएँ उनको ऋण देने में संकोच करती हैं।

(६) विवेकीकरण का सबसे अधिक जोर विशिष्टीकरण की ओर रहता है, जिसके कारण मनुष्य एक ही प्रकार के उद्योग या व्यवसाय करने के योग्य रहता है और यदि उसकी नौकरी छूट जाती है तो वह अन्य कार्य करने के योग्य नहीं रहता।

(७) विवेकीकरण में एक सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उस पद्धति के अनुसार उद्योगों के संचालन के लिये योग्य व्यक्तियों (Efficient Persons) का मिलना अत्यन्त कठिन होता है और ऐसी अवस्था में संचालन कठिन हो जाता है।

(८) विवेकीकरण के कारण व्यापार एवं उद्योग में एकाधिकार (Monopoly) का जन्म होता है, जिससे कि कई बार उद्योग में असामाजिक नीति का अवलम्बन किया जाता है, जैसे अधिक माल को जला देना या समुद्र में डाल देना इत्यादि।

(९) विवेकीकरण का मिश्रित व्यापार भी एक अंग है, किन्तु अलग-अलग प्रकार के व्यापारों को मिलाना तथा उनका प्रबन्ध करना अत्यन्त कठिन कार्य है और उसमें कभी-कभी लाभ के बजाय नुकसान दिखाई देता है।

(१०) उद्योगों का नियन्त्रण अधिकांश अवस्थाओं में अत्यन्त खर्चीला होता है और इसके कारण बहुत सारी पूँजी तथा मशीनों का अपव्यय (Wastage of Machinery) हो जाता है।

यदि इन हानियों को लाभ के साथ तुलना की जाय तो हम देखेंगे कि विवेकीकरण से होने वाली अधिकाश हानियाँ प्राय: अल्प काल के लिये ही होती हैं और विवेकीकरण यदि यथार्थ रूप से विवेक के साथ किया जाय तो राष्ट्रोन्नति में अत्यन्त सहायक सिद्ध होगा, क्योंकि विवेकीकरण उद्योग के समाजीकरण की एक व्यवस्था है।

विवेकीकरण को सर्वप्रिय बनाने की योजना

(Plan to make Rationalisation Popular)

विवेकीकरण की अनेक बुराइयों के होते हुए भी आज यह सर्वत्र मान्य है कि बिना इनके आज का जटिल औद्योगीकरण तथा उत्पादन का लाभप्रद निवारण सम्भव नहीं है। इसलिये जिन किसी उद्योग में विवेकीकरण अपनाया जाय उसके लिये एक निश्चित योजना बनाई जानी चाहिये। योजना का प्रारूप इस प्रकार दिया जा सकता है—

(१) उत्पादन के साधनों का समुचित विकास—विवेकीकरण को अपनाने के लिये उत्पादन के साधनों की आर्थिक उपयोगिता को देखकर उनका उपयोग किया जाना चाहिये। उनमें कच्चे माल, शक्ति का उपयोग, आधुनिक नवीनतम मशीनों तथा औजारों का प्रयोग, उत्पादन की नवीन प्रणाली का अपनाना, आदि आवश्यक है।

(२) वैज्ञानिक प्रबंध तथा श्रम एवं पूँजी का सहयोग—वैज्ञानिक प्रबन्ध को अपनाने में सामान्य रूप से पूँजी तथा श्रम का सहयोग कठिन होता है किन्तु दोनों के उचित समझौते, एकता की भावना, सामूहिक उन्नति की लालसा आदि के कारण केवल वैज्ञानिक प्रबन्ध ही अपनाना सम्भव नहीं होगा। अपितु पूँजी और श्रम में भी अच्छे सम्बन्ध रहेंगे।

(३) औद्योगिक संयोग—विवेकीकरण को अपनाने के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उस उद्योग में जितनी भी संस्थायें कार्य कर रही हों उनको किसी न किसी रूप में अपने उत्पादन से वितरण की किसी भी सीमा पर सामूहिक नियंत्रण करना चाहिये। किसी एक व्यक्ति अथवा संस्था के अपनाने से इनका कार्यान्वित होना सम्भव नहीं है।

अनुसंधान एवं प्रयोगों का किया जाना आवश्यक—एक ही प्रकार के किसी उद्योग में कार्य करने वाली सभी संस्थाओं को मिलाकर अनुसंधानात्मक तथा प्रयोगात्मक कार्य करने चाहिए। इनके परिणामों में सभी को लाभ होता है, इसलिये उनके लिए सभी को पूँजी लगानी चाहिये तथा सभी कुशल व्यक्तियों (इंजीनियरों, वैज्ञानिकों, कारीगरों आदि) को उनमें लगा दिया जाना चाहिये।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 What is rationalisation ? Give its principles and scope.
2 State the origin and history of Retionalisation. Give the causes for the adoption of rationalisation in different countries. Is it 'neo-industrial revolution' ?
3 State and establish the relationship and distinction between rationalisation and nationalisation.
4 'Rationalisation is a glittering word for scientific management'. Do you agree ? Give your reasons.
5 In what way the relationship between the rationalisation and employment can be established ? Give its criticism.
6 Examine the method of rationalisation that is to be in an industry.
7 Discuss the advantages of rationalisation.
8 'Rationalisation is not an unmixed blessing ' Discuss.
9 'The greatest opposition to rationalisation has been from the *side of labour* ' *Show what measures should be taken to* get the support of labour in any scheme of rationalisation.

स्पष्ट रूप से देखने को मिलते हैं। जूट निर्माण में भारतवर्ष को विश्व में बहुत बड़ी सीमा तक एकाधिकार प्राप्त है। अतः १६२६ के अवसाद काल (Depression period) में जूट के उद्योग मे उत्पादन तथा काम के घन्टे कम कर दिये गये, जिससे कि उत्पादन मांग के ही सन्तुलन मे रहे। सरकार का हस्तक्षेप तथा कुछ मिलों का बन्द कर देना भी इसी दिशा में एक कदम था। एसोसिएटेड सीमेन्ट कम्पनीज का संयोग एकाधिकार की दिशा में ही किया गया, किन्तु इसमें अधिक सन्तोषजनक कार्य नहीं हुए। कपड़ा तथा चीनी उद्योग में किये जाने वाले विवेकीकरण का इतिहास भी संतोषजनक नहीं है, क्योंकि इसके द्वारा उत्पादकों को बहुत बड़ी सीमा तक हानि ही रही। लोह उद्योग में, जमशेदपुर तथा मैसूर में, जो विवेकीकरण हुआ उसके लिये कहा जा सकता है कि यह बहुत कुछ सीमा तक विवेकीकरण के सिद्धान्तों पर ही हुआ।

भारतवर्ष मे विवेकीकरण की आवश्यकता बहुत पहले से ही अनुभव की जा रही थी और प्रायः १६२६ से 'रायल कमीशन आफ एग्रीकल्चर' के बाद जितनी भी औद्योगिक कमीशन या कमेटियां बैठी उन्होंने इस ओर अपने सुझाव दिये। द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारम्भ होते ही भारतवर्ष के उद्योग में विवेकीकरण लाने के लिये अनेक प्रयास किये गये, किन्तु लड़ाई की बढ़ती हुई मांग के कारण उनको १६४५ तक दृढ़तापूर्वक नहीं अपनाया गया। सन् १६४० मे भारतवर्ष में एक 'उद्योग परिषद' बुलाया गया, जिसने भारतवर्ष में भारतीय प्रमाप संस्था (Indian Standard Institute) की स्थापना का सुझाव रक्खा। उसके सुझाव पर १६४६ में भारत सरकार ने इसका प्रधान कार्यालय दिल्ली में खोला। यह संस्था उद्योगपतियों तथा सरकार की मिश्रित संस्था है और इसका अध्यक्ष वाणिज्य मंत्री होता है। संस्था के कार्य कृषि, गृहनिर्माण, वस्त्र एवं मुख्य उद्योगों का नियत्रण तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर प्रमापीकरण करना है। इसके साथ-साथ इस संस्था के अन्य कार्य सरकार को वस्तुओं के प्रमाप के लिये सुझाव देना, उत्पादन के प्रमापों को सरल बनाना, उद्योगों के बीच अच्छा सम्बन्ध स्थापित करना, उद्योगपतियों तथा उपभोक्ताओं की रुचि को सतुलित करते हुए वस्तु में सुधार करना, प्रमाप चिन्ह बनाना, वस्तुओं की जांच करना, आवश्यक प्रयोग करना, विदेशों में संस्था का मान बढ़ाना, प्रमापीकरण के लिए आवश्यक आंकड़े संग्रह करना तथा प्रदर्शनी आदि का आयोजन करना है। इस संस्था को वैधानिक स्वरूप देने का प्रयास भी किया जा रहा है। इसके अन्तर्गत बिजली, तेल आदि में प्रमापीकरण किया जा रहा है। यह संस्था संतोषजनक कार्य कर रही है।

सन् १६४१ में बम्बई में "टेक्सटाइल लेबर इन्क्वायरी कमेटी" ने विवेकीकरण

के लिए अनेक सुझाव दिये। जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं—इसके अनुसार उपभोक्ताओं, श्रमिकों तथा उद्योगपतियों, को समान रूप से लाभ होना चाहिये और इसका कार्य श्रमिकों, उद्योगपतियों तथा राज्य के आपस के मेल पर चलना चाहिये। श्रमिकों को उद्योग के प्रति विश्वासी, दिलचस्पी लेने वाला बनाया जाना चाहिये। विवेकीकरण को अपनाने के लिए श्रमिकों की कार्यक्षमता बढानी चाहिए तथा उनमे तात्रिक योग्यता को लाया जाना भी आवश्यक होना चाहिये। कमेटी के सुझाव सन् १९४५ तक नही अपनाये जा सके। इसके बाद विवेकीकरण का प्रयोग बम्बई और अहमदाबाद मे विशेष रूप से हुआ और उसकी सिफारिशो के अनुसार भारतीय सरकार ने भी इस ओर बहुत दिलचस्पी ली।

सन् १९५१ में औद्योगिक विकास समिति ने उद्योगो मे उत्पादन मूल्य कम करने तथा कुशलता लाने के लिये विवेकीकरण को अपनाना स्वीकार किया किन्तु श्रम का हित ध्यान मे रखते हुए उसने प्रारम्भ मे यह निश्चय किया—(१) खाली स्थानो पर नियुक्ति न की जाय (२) अतिरिक्त श्रमिकों को (बिना नौकरी तोडे हुए) अन्य विभागों में स्थान दिया जाय (३) ऐच्छिक अवकाश ग्रहण करने की वलि को ग्रेचुटी दी जाय (४) मशीनो का विस्तार बढाया जाय जिससे बेकार श्रमिकों को आजीविका दी जा सके। (५) प्रमापि कार्य-भार निश्चित किया जाय (६) मशीनो तथा औद्योगिक क्रियाओं को तात्रिक पद्धति से रक्षित किया जाय (७) बेकार लोगों के लिये सरकार को नवीन कार्य प्रारम्भ करने चाहिये (८) श्रमिक को विवेकीकरण के लाभ का भाग दिया जाना चाहिये। इस योजना को सभी वर्गों ने स्वीकार किया और १९५४ मे लोक सभा ने इसको सूती वस्त्र एवं जूट उद्योग मे लागू करने का प्रस्ताव पास किया।

सन् १९५७ मे 'कार्यकर्ता प्रबन्ध भारतीय संस्थान' (Indian Institute of Personnel Management) के सातवें अधिवेशन मे विवेकीकरण पर स्वामी-कार्यकर्ता के सम्बन्धो को ध्यान मे रखते हुए चर्चा हुई और निश्चय किया गया कि उसके लिये निम्नलिखित सुझाव दिये जायें—(१) विवेकीकरण के अपनाने से पूर्व उस उद्योग की सभी समस्याओं का पूर्ण विवेचन तथा पड़ताल होने चाहिये (२) योजना को, श्रमिकों तथा उनके संगठनो का विश्वास प्राप्त करके, खण्डों मे लागू किया जाना चाहिये (३) योजना को अपनाने से पहले उसको सम्बन्धित पक्षो के साथ तय किया जाना चाहिये, जिससे सुविधा से लागू की जा सके (४) श्रमिकों को नवीन परिस्थितियों में जाने तथा व्यवस्थित करने के लिये उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिये (५) विवेकीकरण का लाभ मालिक, श्रमिक तथा उपभोक्ताओं को दिया जाना चाहिये (६) विवेकीकरण को इस प्रकार से अपनाया जाय कि श्रमिकों को कम से कम हानि हो।

भारत सरकार ने १६५७ में विवेकीकरण को अपनाने का एक उपाय निकाला, जिसके अन्तर्गत विवेकीकरण को अपनाने से पूर्व मालिक को श्रमिकों को ३ सप्ताह से ३ माह तक का नोटिस देना पड़ेगा और उसमें सारी योजना का विधिवत् वर्णन होगा और समझौता हो जाने पर उसको लागू किया जायेगा या मध्यस्थों के सुपर्द करके फैसला किया जायेगा। किन्तु यह योजना विशेष लाभदायक नहीं हो सकी।

प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में भी विवेकीकरण का उल्लेख है। प्रथम योजना में कार्य भार निश्चित करने, रिक्त स्थानों की पूर्ति न करने समय निर्धारण करने, अवकाश तथा विनोद का प्रबन्ध करने, प्रशिक्षण, अतिरिक्त श्रम का सरकारी कार्यों में उपयोग आदि का विवेचन किया गया है किन्तु दूसरी योजना में योजना आयोग के अनुसार श्रम तथा मालिकों ने इसको उपेक्षा की इसलिये उसने विवेकीकरण की योजना को कार्यान्वित करने पर विशेष बल दिया है। तीसरी योजना में भी पूर्व योजनाओं की पुनरावृत्ति ही की गई है। किन्तु न तो द्वितीय योजना में ही कुछ सफलता मिली है और इन दशाओं में न तीसरी योजना में कुछ आशा दिखाई देती है, फिर भी कुछ प्रयत्न किये जा रहे हैं और हमको आशावादी रहना चाहिये।

एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह कि लोग अभी तक विवेकीकरण के महत्व को पूरी तरह नहीं समझ पाये हैं। १६५४ में टेक्सटाइल कमेटी ने सही ही कहा था कि विवेकीकरण के अन्तरिम समय के सब को ही कुछ न कुछ त्याग करना पड़ेगा। यदि हम अपने उद्योग निर्यात के योग्य बना सकने का प्रयत्न करें तो उसके लिये इस त्याग की बहुत बड़ी आवश्यकता है।

अनुसन्धान तथा प्रयोग (Research and Experiments)—भारतवर्ष में बहुत पहले से ही औद्योगिक अनुसन्धान को राष्ट्रीय स्तर पर करने का विचार किया जा रहा था, क्योंकि बिना खोज किये हुए यह जानना कि किस उद्योग में किस प्रकार विवेकीकरण अपनाया जाय, प्रायः बहुत कठिन होता है। भारतवर्ष में प्रथम विश्व युद्ध से पहले देहरादून, पूना तथा बंगलौर में वन, कृषि तथा विज्ञानशालायें थीं। १६२६ में इम्पीरियल कृषि अनुसन्धानशाला का निर्माण किया गया तथा १६३३ में कानपुर में इम्पीरियल शक्कर अनुसन्धानशाला को जन्म दिया गया। ये दोनों उत्पादन के अलग क्षेत्रों में प्रयोग किया जाते हैं तथा समय-समय पर उद्योग के उत्थान के लिये सलाह देते रहते हैं। शक्कर अनुसन्धानशाला के अन्तर्गत १६४० में शक्कर प्रमाप संस्था (Sugar Standard Institute) का निर्माण हुआ और शक्कर उद्योग में प्रमापीकरण किया जाने लगा। सन् १६४८ में केन्द्रीय गन्ना कमेटी ने चीनी तान्त्रिक अनुसन्धानशाला तथा गन्ना अनुसन्धानशाला का निर्माण करने का निश्चय किया और उसके अनुसार लखनऊ में अनुसन्धानशाला

की स्थापना की गई। यह अनुसन्धानशाला एशिया की सबसे बडी प्रयोगशाला है। १९३९ मे नारंग, सदरलेण्ड, थापर तथा डालमिया प्रबन्ध-अभिकर्ता संस्थाओ के अन्तर्गत रहने वाली कम्पनियो ने अपने-अपने शक्कर का उद्योग को काफी बडी सीमा तक वैज्ञानिक तरीको से नियंत्रित किया।

राष्ट्रीय सरकार ने देश की औद्योगिक प्रगति को ध्यान मे रखते हुए तथा औद्योगिक कमेटी और मशीनो की सिफारिशो पर एक अलग वैज्ञानिक अनुसन्धान विभाग स्थापित किया। इस विभाग के अन्तर्गत अनेक प्रयोग एवं अनुसन्धानशालाओं का निर्माण किया जा चुका है।*

धनबाद मे माइनिंग रिसर्च स्टेट की स्थापना करने का विचार किया जा रहा है। कलकत्ता तथा हैदराबाद मे क्रमशः इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ मेडिकल रिसर्च तथा सेन्ट्रल लेबोरेटरी ऑफ साइन्टीफिक एण्ड एण्डस्ट्रियल रिसर्च की स्थापना की जा रही है।

अन्य क्षेत्रो मे अनुसन्धानशालाओं का निर्माण करने के लिए सरकार की प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में पूर्ण व्यवस्था है। इस विभाग ने अपने छोटे से ही जीवन काल में बहुत-कुछ सफलता प्राप्त कर ली है और आशा की जाती है कि उसके द्वारा औद्योगिक दिशा में व्यापक विकास होगा। 'अणु शक्ति कमीशन' की स्थापना हो जाने पर इस विभाग का कार्य और भी प्रगति पर रहेगा। अगस्त

---

१ पूना—नेशनल केमिकल लेबोरेटरी।
२ नई दिल्ली—नेशनल फिजीकल लेबोरेटरी।
३ जेलगोरा—सेन्ट्रल फ्यूअल रिसर्च इन्स्टीट्यूट।
४ जादवपुर—सेण्ट्रल ग्लास एण्ड केरमिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट।
५ मैसूर—सेण्ट्रल फूड टेक्नोलॉजीकल इन्स्टीट्यूट।
६ जमशेदपुर—नेशनल मेटालर्जिकल लेबोरेटरी।
७ लखनऊ—सेन्ट्रल ड्रग रिसर्च इन्स्टीट्यूट।
८ नई दिल्ली—सेन्ट्रल रोड रिसर्च इन्टीट्यूट।
९ कराइकुण्डी—सेन्ट्रल एलक्ट्रो केमिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट।
१० मद्रास—सेन्ट्रल लेदर रिसर्च इन्स्टीट्यूट।
११ रुड़की—सेन्ट्रल बिल्डिंग रिसर्च इन्स्टीट्यूट।
१२ पिलानी—सेन्ट्रल इलक्ट्रोनिक इन्जीनियरिंग इन्स्टीट्यूट।
१३ लखनऊ—नेशनल बॉटॉनिकल गार्डेन्स।
१४ भावनगर—सेन्ट्रल सॉल्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट।
१५ कलकत्ता—मैकेनिक इंजीनियरिंग रिसर्च इन्स्टीट्यूट।

१९५५ में होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति परिषद के अध्यक्ष पद मे भाषण देते हुए भारतीय अणुशक्ति के प्रतिनिधि श्री भाभा ने भारतीय दृष्टिकोण को बताते हुए इस बात पर जोर दिया है कि यह शक्ति 'जीवनोपयोगी' बनाई जानी चाहिए। भारत का उद्देश्य इसको औद्योगिक उन्नति के लिये उपयोग मे लाना है।

इस विभाग के अन्तर्गत जो 'वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद' बनाया गया है, उसका कार्य देश के विभिन्न प्रकार के उद्योगों में अनुसंधान करके उनके विकास के लिए प्रयोग करना है। इस परिषद के अन्तर्गत २४ विशेषज्ञ कमेटियो की स्थापना की गई है। इनमे से बहुत कुछ संस्थाओ की तो स्थापना हो चुकी है और अन्य संस्थाओं की स्थापना की आशा की जाती है।

राष्ट्रीय अनुसंधान विकास निगम

(National Research Development Corporation)

हमारी अनुसंधानशालाओं मे किये गये प्रयोगों तथा खोजों को कार्यरूप देने के लिए कुछ उद्योगों को सामने आना चाहिये, किन्तु जोखिम की अधिकता के कारण निजी क्षेत्र के उद्योगपति आगे कदम नही उठाते। इसलिए भारत सरकार ने निश्चय किया है कि नवीन प्रयोगों तथा खोजों का वाणिज्य महत्व जानने के लिए इस निगम के अन्तर्गत नई औद्योगिक मशीनें लगाई जायँगी और देखा जायगा कि उसमे सफलता किस सीमा तक मिलती है।

सरकारी नीति—सरकार ने विवेकीकरण को अपनाने के लिये शर्त रखी है कि उसके लिये श्रमिकों तथा मालिको को एक साथ होना चाहिये और उसको लेबर ऐपिलेट ट्रिब्यूनल के अनुसार होना चाहिये। मालिकों को उचित मुआविजा देने के लिए तैयार रहना चाहिये।

इस योजना को प्रारम्भ करने के लिये सरकार ने पहले एक ऑर्डिनेन्स पास करके मजदूरों को कमी में आने का मुआविजा देने की योजना बनाई। उसका विचार था कि इस क्रिया से लोग विवेकीकरण के अभ्यस्त हो जायेंगे और फिर उसे लागू करने में कोई कठिनाई नही आयेगी। अब ऑर्डिनेन्स ने विधेयक का रूप ग्रहण कर लिया है। सरकार ने यह स्वीकार कर लिया है कि बिना विवेकीकरण के नौकरी, जीवन स्तर, आय आदि में वृद्धि नही हो सकती तथा उत्पादन मूल्य कम करके उसके गुणों को नहीं बढ़ाया जा सकता।

यहाँ पर अब हम भारतवर्ष के कुछ प्रमुख उद्योगों का वर्णन करेंगे, जिनमें विवेकीकरण अपनाया गया है।

जूट उद्योग

(Jute Industry)

हमारे देश मे विवेकीकरण सर्वप्रथम १९२१ में जूट उद्योग मे अपनाया गया।

इसका उद्देश्य उद्योग की उन्नति के लिए कृषि को सुधारना, अच्छा जूट पैदा करना, तथा जूट कम्पनियों की आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ करना है। भारतवर्ष में ८५ जूट मिलें हैं, जो कि प्रायः बंगाल में ही स्थित हैं। 'एन्ड्यू-यूल' और 'मेकलॉयड्स' प्रबन्ध-अभिकर्ता उत्पादन के ½ भाग पर नियन्त्रण करते हैं तथा अन्य मिलें चार अन्य प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के अधीन हैं। इस प्रकार उनमे आसानी से नियन्त्रण किया जा सकता है। फिर भी जूट मिलो मे विवेकीकरण की स्थापना सही रूप से नही हो सकी। 'रॉयल कमीशन ऑन एग्रीकलचर' के सुझावों पर १९३६ में 'सेन्ट्रल जूट कमेटी' का निर्माण किया गया, जिसने उद्योग मे कृषि, आर्थिक तथा तांत्रिक प्रयोगात्मक योग दिया है। इसके अन्तर्गत कृषि अनुसंधानशाला (Agriculture Research Laboratory) तथा 'टेकनॉलॉजिकल रिसर्च लेबोरेटरी' का निर्माण किया जा चुका है, जिसमे कि जूट तथा निर्माण का अनुसंधान कार्य होता है। सन् १९२९ में मन्दी के कारण जूट उद्योगो में केवल ५४ घटे ही काम करने को कहा गया तथा १९३० के तीन सप्ताह तक मिलों को बन्द कर दिया गया। १९३० के समझौते के अनुसार जूट मील एसोशियेशन ने अपने सदस्यो को केवल ४० घंटा प्रति सप्ताह काम करने तथा १५% मिलों को बन्द करने का आदेश दिया, किन्तु १९३६ मे इस समझौते का अन्त हो गया। १९४० मे जूट सम्मेलन ने तय किया कि उद्योग का नियन्त्रण सरकार के हाथ में रहे।

इन समस्त कारणों से जूट उत्पादन सन् १९४७ मे १७ लाख गांठो से बढकर १९५३ मे ४७ लाख गाँठें हो गया। हमारी वार्षिक आवश्यकता ६० लाख गाँठों की है, जिसमे कि प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ५४ लाख गाँठो के निर्माण का लक्ष्य बनाया गया है तथा यह योजना की गई है कि भारतवर्ष कच्चे जूट मे भी आत्मनिर्भर हो सके। निर्मित जूट, जिसका उत्पादन १९५२-५३ मे ८'९ लाख टन था, पचवर्षीय योजना के अनुसार आशा की जाती है कि वह १९५५–५६ मे १२ लाख टन के लगभग हो गया। द्वितीय योजना मे यह निश्चित किया गया है कि १९६०-६१ तक ५५ मील गाँठों तक आंका गया है और १९६० तक उद्योग अपने योजना के लक्ष्य तक भी नही पहुंच पाया है। यह अवश्य हर्ष का विषय है कि १० वर्ष के पश्चात् १९५९ मे जूट का निर्यात पुनः प्रारम्भ हो गया है।

सीमेंट उद्योग
(Cement Industry)

सीमेट उद्योग भारतवर्ष के उद्योग मे काफी नया है। सन् १९३० में इस उद्योग की आन्तरिक प्रतियोगिता को रोकने के लिए 'सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड' की स्थापना की गई। इसके द्वारा मूल्यों पर नियन्त्रण कर दिया गया तथा उद्योगशालाओं का उत्पादन-परिमाण निश्चित कर दिया गया। इसने

यातायात की सुविधा, दरों का नियन्त्रण तथा माँग को बढ़ाने का प्रयत्न किया। सन् १९३६ में ११ सीमेंट कम्पनियों के सम्मिश्रण के द्वारा 'एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनीज लिमिटेड' (A. C. C.) की स्थापना की गई, जिसने सिंध, मद्रास तथा बिहार में अपनी उद्योगशालाओं का निर्माण किया, जिसके द्वारा सन् १९३७ में देश की ६७% माँग की पूर्ति होने लगी। A. C. C. ने 'सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड' के ७०% अंशों को खरीद कर उस पर तथा पटियाला सीमेंट कम्पनी पर अपना नियन्त्रण कर लिया है। बर्मा सीमेंट कम्पनी लिमिटेड से सम्बन्ध स्थापित करके इस संस्था ने बहुत बड़ी सीमा तक देश के सीमेंट उद्योग पर एकाधिकार प्राप्त कर लिया है।

द्वितीय विश्व युद्ध में सीमेंट की माँग बढ़ जाने के कारण उद्योग को बहुत बड़ा प्रोत्साहन मिला। किन्तु लड़ाई के बाद उत्पादन गिरने लगा और १९५३ में केवल ३७·३ लाख टन ही रह गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत उत्पादन को सन् ५५–५६ में ४५·५ लाख टन करने की योजना थी। अपनी योजना के अनुसार उत्पादन इस सीमा तक बढ़ गया है।

कपड़ा उद्योग
(*Textile Industry*)

कपड़ा उद्योग की समस्यायें—कपड़ा उद्योग के सामने प्रमुख रूप से निम्न लिखित समस्यायें हैं, जिनका निवारण विवेकीकरण के द्वारा ही सम्भव हो सकता है—

(१) अभी भी उद्योग में करीब १२५ अनार्थिक इकाइयाँ हैं जिनसे द्वितीय योजना की प्रगति में बाधा पड़ी।

(२) उत्पादन व्यय अधिक और उत्पादनशीलता कम होती जा रही है। इसका प्रमुख कारण मशीनों का पुरानापन, उत्पादन पद्धति में दोष, माल की अनुपयुक्तता आदि हैं।

(३) निर्यात की समस्या भी अपना नया ही रूप ले रही है। सरकार ने देशी व्यापार में हाथ करघा उद्योग को प्रोत्साहन दिया है और कपड़ा उद्योग से चाहती है कि इसके द्वारा ७५-८० करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा इस निर्यात से प्राप्त करे। यदि सरकार उद्योग से कुछ चाहती है तो उसको देखना होगा कि उसको विदेशी मुद्रा की सुविधा प्राप्त हो तथा देश में उत्पादित माल की दशा सुधारी जाय। सूती वस्त्र में अब जापान, पाकिस्तान, इटली, स्पेन, पश्चिमी जर्मनी आदि देश प्रतिद्वन्द्विता में आ रहे हैं।

(४) इस उद्योग में नवीनतम मशीनों तथा औजारों को लाने की बहुत बड़ी आवश्यकता हो गई है। युद्ध काल में इन मशीनों से अधिक कार्य ही नहीं लिया गया है अपितु इनकी दशा को सुधारने का कोई भी ध्यान नहीं रखा गया है। सन् १९५० में

बम्बई मिल एसोसियेशन ने बतलाया था कि वहां पर करीब ६०% मशीनें पुरानी हैं। योजना आयोग ने भी मशीनों के नवीनकरण की ओर विशेष ध्यान देने का सुझाव रखा है और दूसरी योजना में तो इसकी व्यवस्था भी की गई है।

विवेकीकरण के प्रयास—कपड़ा उद्योग भारत का सबसे महत्वपूर्ण उद्योग है। इसकी प्रबन्ध-व्यवस्था विशेषकर प्रबन्ध-अधिकर्ताओं के अधीन होने के कारण इसमें विवेकीकरण करने की पर्याप्त सुविधा रही। १९३६ में आन्तरिक तथा बाह्य प्रतियोगिता होने के कारण इसमें सबसे पहले विवेकीकरण का प्रयोग किया गया। कुछ प्रबन्ध-अभिकर्ताओं तथा उद्योगपतियों के तीव्र विरोध के कारण प्रारम्भ में विशेष सफलता नहीं मिली। इसलिए १९४१ में बम्बई में टेक्सटॉइल लेबर इन्क्वायरी कमेटी की नियुक्ति की गई और उसने विवेकीकरण के लिए अनेक सिफारिशें की (सिफारिशें पीछे दी गई हैं।) समिति के सुझावों के अनुसार बम्बई तथा अहमदाबाद की मिलों में विवेकीकरण का प्रयोग किया गया। कोहिनूर मील में भी इसको सफलता के साथ अपनाया गया। सन् १९४५ में कपड़े पर नियन्त्रण रखने के लिये सरकार ने 'नियन्त्रण आदेश' (Control order) घोषित किया। इस आदेश के कारण भी विवेकीकरण को एक विशेष सीमा तक प्रोत्साहन मिला। इसी समय में बम्बई तथा अहमदाबाद में बहुत सारे कारखानों ने पूर्ण तथा आंशिक रूप से विवेकीकरण को अपनाया। हॉवर्ड एण्ड ब्लो लिमिटेड के तान्त्रिक विशेषज्ञ श्री हेरोड हिव ने कुछ वर्ष पूर्व भारतीय मिलों का निरीक्षण करके बताया कि बहुत सारी मिलों में उत्पादन-मशीनों को पूर्ण रूप से बदलने की आवश्यकता है तथा कुछ में संचालक तथा प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के अयोग्य तथा स्वार्थी होने के कारण मिलों के प्रबन्ध में भी यथोचित सुधार करने की आवश्यकता है। कुछ मिलों की आर्थिक व्यवस्था अत्यन्त शोचनीय है। सारांश में यह कहना उपयुक्त होगा कि उद्योगों का सारा प्रबन्ध तथा संगठन-व्यवस्था में पर्याप्त सुधार करने की आवश्यकता है तथा उनके वर्तमान साधनों के अनुसार उनका पुनर्गठन किया जाना अनिवार्य है। प्रो० सी० एन० वकील के इस दिशा में प्रगति लाने के लिये 'संयुक्त केन्द्रीय संस्था' के लिये सुझाव दिया। भारतीय सरकार ने विशेषज्ञों तथा उद्योगपति-संघों के सुझाव पर १९४८ में श्री भवानीशंकर एम० बोरकर को जापान के कपड़ा उद्योग का अध्ययन करने के लिये जापान भेजा। उन्होंने सन् १९४९ में अपनी वृत्त सरकार के सामने प्रस्तुत की जिसमें जापान के उद्योग का विवेचन करते हुए उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि भारतीय उद्योग प्रतियोगिता के क्षेत्र में तब ही टिक सकता है जब उनमें पर्याप्त विवेकीकरण किया जाय। विवेकीकरण का अपनाया जाना इसलिये भी आवश्यक है कि विश्व के प्रत्येक कपड़ा उद्योग में विवेकीकरण को अपनाया जा रहा है। योजना

प्रयोग ने भी अनार्थिक इकाइयों को सुधारने के लिये नवीनीकरण तथा यंत्रीकरण की योजना बनाई।

भारतवर्ष में बम्बई, अहमदाबाद, शोलापुर, नागपुर, कानपुर* तथा दिल्ली के मिलों मे विवेकीकरण के प्रयोग सफलतापूर्वक किये जा रहे है, जिसके कारण कपास का अपव्यय रोका जा सका है तथा पूंजी, प्रबन्ध, उत्पादन आदि पर सफल नियन्त्रण सम्भव हो सका है। सरकार ने १९४९ मे कपडे का नियन्त्रण करके उत्पादन मे स्थिरता तथा समता लाने मे बडी मदद की। इससे यद्यपि उपभोक्ताओं को काफी कठिनाई हुई, किन्तु उत्पादन का ह्रास बहुत बडी सीमा तक समाप्त हो गया और उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि हुई। फलस्वरूप १९५३ मे ४९०५·२ मिलियन गज कपडा तथा १५११ लाख पौंड सूत का उत्पादन हुआ। १९५४ मे यह सख्या क्रमशः ६००६ लाख गज तथा १५.३४ पौंड रही। प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत १९५५-५६ में १७२२ लाख पौंड सूत तथा ४७०९ लाख गज कपडे के उत्पादन की आशा की जाती है। द्वितीय योजना मे १९६०-६१ तक ८५०० मिलियन गज तथा १९५० मी० पौंड उत्पादन लक्ष रखा गया है, किन्तु कर आदि की असुविधाओं से क्या यह सम्भव हो सकेगा लोगों को अंदेशा है। यदि विवेकीकरण को सही प्रकार से अपनाया गया तो कपड़ा उद्योग का भविष्य निश्चित उज्ज्वल प्रतीत होता है।

कपड़ा उद्योग की समस्याओं का अध्ययन करने के लिये १९५८ में केन्द्रीय सरकार ने श्री डी० एस० जोशी की अध्यक्षता मे एक समिति का निर्माण किया। समिति ने बतलाया कि मशीनें ४० वर्ष पुरानी हैं और उनका महत्व समाप्त हो गया है। किन्तु नवीनीकरण पर विशेष बल नहीं दे सकी। क्योंकि नियुक्तिकर्ताओं तथा केन्द्रीय श्रम-मन्त्रालय के १९५७ के समझौते के अनुसार नवीनीकरण तभी सम्भव हो सकता था जब कि उद्योग के छूटने वाले श्रमिकों को कोई दूसरी नौकरी दी जा सके। फिर भी उसने ३०० स्वचलित कर्घों को लगाने की सिफारिश की और सरकार ने उसको स्वीकार भी किया किन्तु व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण अभी तक कोई हल नहीं निकल पाया है।

लोह उद्योग
(Iron and Steel Industry)

भारतवर्ष मे लोह उद्योग का कुछ ही हाथों मे केन्द्रीयकरण होने के कारण उसके विवेकीकरण मे पर्याप्त उन्नति हुई है। लोह उद्योग ने सन् १९२१ से ही विदेशी

---

* सन् १९४५ में नैनीताल में हुए त्रिदलीय सम्मेलन मे यह तय किया गया था कि कानपुर की कपड़ा मिलों में विवेकीकरण अपनाया जाय। इससे उद्योगों तथा श्रमिकों को लाभ हुआ।

प्रतियोगिता का अनुभव किया जिसके कारण १९३३ तक सरकार ने इस उद्योग की सुरक्षा के लिये पर्याप्त प्रयत्न किया। १९३३ में टैरिफ बोर्ड की सिफारिशों पर सरकार ने उद्योग को प्रोत्साहन देने की अपेक्षा अपना कार्य केवल बाहरी प्रतियोगिता की रोक तक ही सीमित रखा। १९३६ में 'इण्डियन-आइरन-एण्ड-स्टील कम्पनी' का पुनर्गठन किया गया तथा १९३९ में 'स्टील-कॉरपोरेशन' का निर्माण किया गया। इन कॉरपोरेशन ने लोह उद्योग के विकास में काफी योग दिया तथा उत्पादन की क्रियाओं में सरलता लाने का प्रयत्न किया है। लोह उद्योग में अन्य उद्योगों की अपेक्षा विशेष विवेकीकरण की योजनाओं को अपनाया गया है। जिससे निरर्थक क्षय को रोकने के लिये प्रयोग तथा अनुसंधानशालायें स्थापित की गई। १९४६ तक रद्दी, कार्बन स्टील का प्रयोग किया जाने लगा, जिसमे उत्पादन मे वृद्धि हुई। इस उद्योग में ईंधन में मितव्ययिता लाने के लिये गैस का ईंधन के रूप में प्रयोग किया जाना है तथा जले हुए कोयलों को दुबारा ठीक करके पुनः जलाने के काम मे लाया जाता है। इसके साथ-साथ टाटा आइरन एण्ड स्टील कम्पनी, मैसूर आइरन एण्ड स्टील कम्पनी तथा अन्य लोह-कम्पनियों के उत्पादन के नियोजन का पहला प्रयत्न सन् १९४७ मे तथा दूसरा सन् १९५० में किया गया। इनमें सबमें प्रमुख बात यह है कि उद्योग के हर क्षेत्र में अनुसंधान तथा प्रयोग के द्वारा मितव्ययिता लाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इन प्रयोगों के द्वारा कोयले की ईंधन शक्ति में आशातीत वृद्धि की गई है। श्रम बचत साधनों का भी प्रचुर मात्रा मे प्रयोग किया जा रहा है। यह प्रयोग टाटा-इन्डस्ट्रीज लिमिटेड तथा मार्टिन ब्यूरो एण्ड कम्पनी के द्वारा किये जा रहे हैं। इन दोनों कम्पनियों के अधीन करीब-करीब भारतवर्ष का ९०%लोह-उत्पादन है।

भारतीय सरकार ने देश की लोह तथा इस्पात की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिये केन्द्रीय तथा राज्य सरकारी स्तर पर दो बड़े-बड़े लोह उद्योग को प्रारम्भ करने की तजवीज की है, जिससे आशा की जाती है कि लोह उद्योग में वृद्धि के साथ-साथ पर्याप्त प्रतिस्पर्द्धा भी होगी। कुछ भी हो, सन् १९४९ के बाद उत्पादन की गिरावट को रोकने के लिये काफी प्रयत्न किये गये हैं और ६ लाख टन प्रति वर्ष अधिक उत्पादन की योजना बनाई गई। हाल ही में केन्द्रीय सरकार ने क्रुप्स डायमंड कम्पनी साथ समझौता करके ९० करोड़ की लागत से एक नवीन इस्पात कार्य को प्रारम्भ करने का समझौता किया है। उस कम्पनी का नाम 'हिन्दुस्तान स्टील कम्पनी' होगा तथा इसकी अधिकृत पूँजी १०० करोड़ रुपया होगी। सन् १९५२ में बंगाल स्टील कॉरपोरेशन का इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी में विलयन हो जाने से विवेकीकरण को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। और उत्पादन सन् १९४१–४२ में १३ लाख ९० हजार टन से बढ़ कर सवाया हो गया है। इन प्रयोगों के द्वारा पंच-

वर्षीय योजना के अन्तर्गत १९५५–५६ तक उत्पादन १५ लाख ५० हजार टन तक हो जाने की आशा की जाती है सन् १९६०–६१ में ४०.६९ लाख टन के उत्पादन का निश्चय है और इसके लिए सरकारी तथा गैर-सरकारी क्षेत्र मे प्रयत्न हो रहे है, किन्तु जब तक इस उद्योग की आधारभूत समस्याओं का हल नही होता लक्ष्य प्राप्त करना कठिन है। प्रमुख समस्यायें कच्चे माल, यातायात की सुविधा तथा उचित कार्यकर्ताओं को प्राप्त करना है। इसके लिए निम्नलिखित प्रयत्न किये जा रहे है: कच्चे माल के लिए सरकार बरमुआ, तालदी, ठालो-राजहारा आदि लोह खानो से माल निकाल रही है। टाटा ने नवामण्डी की खान का मंत्रीकरण किया है और जोडा मे नई खान लगाई है। देश से मेगनीज का निर्यात बन्द करने के प्रयत्न हो रहे है तथा उत्पादन की नवीन प्रणालियो का प्रयोग किया जा रहा है कोयले की कमी की पूर्ति के लिये कृत्रिम कोयले तथा गेस का उपयोग किया जा रहा है। इसके साथ ही हलके कोयले को धुल कर उसको उपयोगी बनाया जा रहा है।

लोह कारखानो के पूर्ण विकसित हो जाने पर कम से कम उनमे तथा उनसे ६०–७० लाख टन माल लाना तथा ले जाना पडेगा, इसके लिये द्वितीय तथा तृतीय योजना मे रेलो के विस्तार की योजनायें बनाई गई है और उस दिशा मे सफल प्रयत्न हो रहे है।

सरकारी उद्योगों मे प्रत्येक कारखाने मे करीब ७०० इन्जीनियर तथा ६३०० कुशल श्रमिकों की आवश्यकता होगी। जमशेदपुर, बरणपुर, भादरवती आदि स्थानों में २१०० इन्जीनियरो तथा १९००० कुशल श्रमिको के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है। इसके अलावा अमेरिका ९००, रूस ६००, यू० के० ३००, पश्चिमी जर्मनी १५० तथा आस्ट्रेलिया १०० इन्जीनियरों को प्रशिक्षित करेगे। अभी तक विदेशो मे १२०० इन्जीनियर भेजे जा चुके है।

इन प्रयत्नो से हमारी योजनायें सफल हो सकेगी और उसके समस्त अंगो को विवेक के साथ विकसित किया जा सकेगा।

अभी भी यह मानना पड़ेगा कि अन्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष की लोह-उत्पादन शक्ति कुछ भी नही है।

अन्य उद्योग
(Other Industries)

ऊपर बताये गये उद्योगों के अतिरिक्त माचिस, चाय, कोयला, इन्जीनियरिंग आदि उद्योगों मे भी विवेकीकरण को अपनाया जा रहा है। कोयले की १०० कम्पनियों में से ३० कम्पनियाँ चार प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के अन्तर्गत रहने के कारण उनके उत्पादन में वृद्धि तथा कार्यक्षमता को बढाने के लिए सामूहिक प्रयत्न किये जा रहे हैं। चाय उद्योग मे डेकिन्स, तथा अन्ड्रयू य्यूल और मैकलॉयड्स आदि द्वारा नियन्त्रित

कम्पनियों में भी विवेकीकरण की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। भारत के माचिस उद्योग मे स्वेडिश ट्रस्ट के द्वारा भारत के समस्त माचिस उद्योग का संयोग करके उसकी उत्पादन क्षमता को बढाने का और साथ ही बाजार पर यथोचित नियन्त्रण करने का भी प्रयत्न किया जा रहा है। इस ट्रस्ट के अधीन बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, यू० पी० तथा पंजाब में माचिस के कारखाने कुशलता के साथ चलाये जा रहे हैं। इन्जीनियरिंग उद्योग मे भी काफी हद तक विवेकीकरण को स्थान मिला है। उसमे श्रम बचत साधनो, अतिरिक्त लाभांश, मासिक मजदूरी पद्धति को लागू किया गया, जिससे उद्योग को काफी सीमा तक लाभ हुआ है।

सुझाव—भारतीय उद्योग में विवेकीकरण, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, केवल उद्योग में एकाधिकार प्राप्त करने तथा श्रमिकों का शोषण करने की दृष्टि से ही विशेष रूप से अपनाया गया है और उसके असली उद्देश्य की ओर लोगों का विशेष ध्यान आकर्षित नही हो सका है। इसलिये उसके सही प्रयोग के लिए सरकार तथा उद्योग को सामूहिक रूप से प्रयत्न करना चाहिए, जिससे उत्पादन में वृद्धि हो, *श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़े, उद्योग उपभोक्ता तथा श्रमिकों को समान* रूप से लाभ हो। प्रबन्ध-योग्यता बढ़े तथा उद्योगों का वर्तमान स्वरूप सुधारा जा सके। इसके लिए सरकार का हस्तक्षेप आवश्यक है। सरकार ने श्रमिक सम्बन्धी विधेयकों को बना कर तथा इन्डस्ट्रियल ट्रिब्यूनल्स की स्थापना करके इस क्षेत्र में पर्याप्त सुधार किया है और वर्तमान कानून कम्पनी में प्रबन्ध-अभिकर्ताओं की शक्ति को नियन्त्रित करना भी इस दिशा मे एक व्यापक कदम है। आर्थिक दिशा में बैंकों को भी उद्योगों को यथेष्ट सहायता करनी चाहिए।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 Write a note on rationalisation movement in Indian industry.

2 Under what circumstances the Indian Standard Institute came into existence? What services have been rendered by the Institute?

3 What progress has been made so far by the Scientific Research Department towards the development of Indian industry?

4 How far the rationalisation has been adopted in (1) Jute industry (2) Cotton industry (3) Iron industry, and (4) Cement industry in India.

5 Discuss the efforts made by the Government of India to introduce Rationalisation and the success achieved.

वैज्ञानिक प्रबन्ध

(Scientific Management)

वैज्ञानिक प्रबन्ध का अर्थ
(Scientific Management defined)

वैज्ञानिक प्रबन्ध दो शब्दो से बना है—विज्ञान और प्रबन्ध। यदि साधारण रूप से देखा जाय तो विज्ञान और प्रबन्ध मे कुछ भी समानता प्रतीत नही होती, क्योंकि विज्ञान के सिद्धान्त प्राकृतिक तत्वो पर आधारित समस्त संसार मे समान रूप से लागू होते है, किन्तु प्रबन्ध का सम्बन्ध मनुष्य के भावो, धर्म, अवस्था तथा देश और काल के साथ रहता है। इसलिये अलग-अलग देशो मे ही नही, अपितु एक ही देश के अलग-अलग भागो मे प्रबन्ध की व्यवस्था भिन्न होती है इस प्रकार एक के सिद्धान्त यदि वास्तविक है तो दूसरे के बहुत बड़ी सीमा तक व्यावहारिक। अस्तु सामान्य रूप मे उनमे किसी प्रकार का अन्तर प्रतीत नहीं होता, किन्तु यदि हम इस शब्द का अर्थ दूसरी प्रकार से करें तो हमको शब्द की अनुरूपता का बोध हो सकता है। यह जानने के लिये *'विज्ञान' शब्द के खण्ड करने होंगे—'वि ज्ञान': 'वि' का अर्थ अधिक अथवा योग से है और 'ज्ञान' का अर्थ हमारी साधारण* जानकारी से है। इस प्रकार हमारे अर्थ मे विज्ञान साधारण ज्ञान की अभिवृद्धि है, जो कि नये प्रयोगो के द्वारा हमारे सामान्य ज्ञान मे जुड जाती है।[1] प्रबन्ध किसी भी कार्य को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने की क्रिया को कहते है। इन दोनों शब्दो के समावेश से स्वत: ही एक नये शब्द का बोध होता है—लक्ष्य। किसी भी कार्य को अभिवृद्धित ज्ञान के साथ सुव्यवस्थित रूप से चलाने की आवश्यकता तभी अधिक पडती है जब हमारे सामने कोई निश्चित लक्ष्य हो और हम उसकी अनुकूल प्राप्ति करना चाहते हो। इस प्रकार किसी भी कार्य को अभिवृद्धित ज्ञान की सहायता से योजनाबद्ध रूप से किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सुव्यवस्थित रूप से चलाने को वैज्ञानिक प्रबन्ध कहना चाहिये।

---

[1] **वैज्ञानिक प्रबन्ध के जन्मदाता डॉ० टेलर ने इस वाक्य का विवेचन केवल उद्योग *अथवा रोजगार की प्रबन्ध-सम्बन्धी व्यवस्था तक ही सीमित नहीं रखा,* अपितु कहा है कि हर क्षेत्र मे इसका प्रयोग किया जा सकता है। उन्होंने एक इन्जीनियर होने के नाते इसका अर्थ ढूंढने का प्रयत्न नही किया।**

यह स्वयंसिद्ध है कि किसी भी योजना को बनाने के लिये हमको उसके सम्बन्ध में पूर्व जानकारी होनी चाहिये तथा उसकी कार्यशीलता का ज्ञान भी किया जाना चाहिये। किसी भी योजना को लागू करने से पहले उसके हर पहलू का प्रयोगशाला में प्रयोग करके अध्ययन किया जाना चाहिये कि उसको उपयोगिता के साथ काम में लाया जा सकेगा। यह प्रबन्ध का वैज्ञानिक अङ्ग हुआ। प्रबन्ध को भी इसी प्रकार हम सामान्य रूप में न लेकर विशेष रूप में प्रयुक्त करते हैं। यह किसी कार्य के कुछ पहले से उसके समाप्त होने के कुछ बाद तक की व्यवस्था से लिया जाता है।

व्यापार में वैज्ञानिक प्रबन्ध का प्रयोग व्यापार की समस्त क्रियाओं को इस प्रकार संगठित करने के लिये किया जाता है कि वे कुशलता के साथ संचालित की जा सकें तथा उनके परिणामों को इस प्रकार प्रमापित किया जा सके कि उनमें एक सामञ्जस्य बना रहे और उसके अनुसार व्यापारिक कार्य में उत्तरोत्तर वृद्धि की जा सके। इस प्रकार इस वाक्य का अर्थ यह है कि किसी भी व्यापारिक संगठन में उसकी समस्त क्रियाओं को पूर्व निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार सामूहिक क्रम से इस प्रकार किया जा सके कि उसमें सबकी क्रियाओं का विधिवत् अध्ययन करके उनका निश्चय तथा सुधार किया जा सके।

वैज्ञानिक प्रबन्ध की लोगों ने अलग-अलग देशों में उस देश की व्यापारिक स्थिति के अनुसार अनेक परिभाषायें दी हैं जिनमें से कुछ नीचे दी जाती हैं—

श्री एफ० डब्ल्यू टेलर ने अपने वैज्ञानिक प्रबन्ध नामक निबन्ध में वैज्ञानिक प्रबन्ध को समझाते हुए कहा है कि किन्हीं विशेष रोजगारों की प्रमुख पद्धतियों का निर्धारण करने, अनावश्यक प्रयत्नों को दूर करने तथा श्रमिक के परिश्रम को कम करके अधिक उत्पादनशील बनाने की पद्धति को वैज्ञानिक प्रबन्ध कहते हैं।

श्री एच० एफ० परसन के अनुसार, "वैज्ञानिक व्यवस्था वह व्यवस्था है जो वैज्ञानिक विश्लेषण एवं प्रयोग के द्वारा प्राप्त तत्वों पर आश्रित सामूहिक प्रयत्नों के संगठन के गुण और दोष उस पद्धति के द्वारा स्पष्ट करती है, जो प्रयोगों के अनुसार किसी निश्चित नीति और आकस्मिक प्रयोगों तथा पूर्व क्रियाओं के द्वारा निर्धारित की जाती है।"

श्री जोन्स के द्वारा वैज्ञानिक प्रबन्ध की परिभाषा इस प्रकार दी गई है, "यह उत्पादन की क्रिया में कुछ नियमों का एक समूह है, जिसके द्वारा उसकी तान्त्रिक तथा प्रबंध-तंत्री में इस प्रकार की विशिष्टता लाई जा सके जिससे उसके नियन्त्रण में समन्वयता तथा उचित कठोरता लानी सम्भव हो।

श्री मार्शल के अनुसार वैज्ञानिक प्रबंध "बड़े व्यापार के संचालन की एक रीति है, जिससे वे अपने कार्यकर्ताओं की कार्यक्षमता को बढ़ाकर उनके उत्तरदायित्व

की सीमा कम करते हैं तथा उनके साधारण शारीरिक परिश्रम का कुशल अध्ययन करके उनको अनुकूल आदेश देते हैं।"

श्री हेनरी पी० केन्डाल ने वैज्ञानिक प्रबन्ध की व्याख्या करते हुए अव्यवस्थित (Unsystematic) प्रबन्ध, व्यवस्थित (Systematic) प्रबन्ध तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध (Scientific Management) का अन्तर बताते हुए कहा है कि इनमें कार्यकर्ताओं की कार्यक्षमता में अन्तर होता है तथा उसकी प्रत्येक पद्धति हानिकारक होती है, किन्तु उन क्रियाओं को व्यवस्थित रूप से चलाकर उनमें हर प्रकार का लाभ तथा मितव्ययिता लाना वैज्ञानिक प्रबन्ध है। वैज्ञानिक प्रबन्ध में नियन्त्रण का केन्द्रीयकरण होकर कर्मचारियों की कार्यक्षमता की वृद्धि के लिये विभिन्न प्रकार के प्रयत्न किये जाते हैं तथा अधिक उत्पादन के लिये उत्पादन की क्रियाओं में समयोचित आवश्यक सुधार किये जाते हैं।

श्री सेलडन के अनुसार, 'वैज्ञानिक प्रबन्ध किसी उद्योग में उसके प्रबन्धकों के द्वारा निर्धारित योजना को इस प्रकार चलाता है, जिससे कि उनके उद्देश्य की पूर्ति सुविधा के साथ की जा सके।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य परिभाषायें इस प्रकार हैं: वैज्ञानिक प्रबन्ध का अर्थ यह है कि प्रबन्ध में उस व्यापार के पुराने अनुभवों तथा उनमें वैज्ञानिक खोजों के द्वारा बनाई गई पद्धति ही वैज्ञानिक प्रबन्ध है। वैज्ञानिक प्रबन्ध-कार्यकर्ताओं तथा संचालकों के आपस की सहकारिता, श्रमिकों को पारिश्रमिक देने के ढंग तथा उद्योग में सही तात्विक योग का प्रबन्ध करना है। वैज्ञानिक प्रबन्ध श्रमिकों तथा प्रबन्धकर्ताओं के मस्तिष्क में एक क्रान्ति लाता है। कच्चे माल की क्षति को रोककर, श्रमिकों को अधिक मजदूरी देकर तथा कम-से-कम व्यय में अधिक से-अधिक उत्पादन करने की पद्धति को वैज्ञानिक प्रबन्ध कहते हैं।

अन्त में एफ० डब्ल्यू० टेलर की परिभाषा के अनुसार वैज्ञानिक प्रबन्ध "आपके यह जानने की कला है कि आप लोगों से यथार्थ में क्या कराना चाहते हैं तथा यह देखना चाहते हैं कि वे उसको सुन्दर-से-सुन्दर तथा सस्ते-से-सस्ते ढंग से करें।' इस प्रकार सामान्य शब्दों में वैज्ञानिक प्रबन्ध में अनुसंधान, प्रयोग तथा विवेक द्वारा उत्पादन के अलग-अलग अंगों का समीकरण करके उनका इस प्रकार उपयोग करना है जिससे उद्योगपति, श्रमिक, शान्ति, गतिशीलता आदि का समन्वय हो सके तथा सभी वर्गों का आवश्यक लाभ हो सके।

विशेषताएँ
(Requisites)

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन से हमको वैज्ञानिक प्रबन्ध की निम्नलिखित विशेषताएँ मिलेंगी—

(१) निर्धारित योजना (A Definite Plan)—अर्थ यह हुआ कि कार्य को कराने के पूर्व प्रबन्धको को उसके संचालन की पूरी योजना बना लेनी होती है और उसके ही अनुसार कार्य किया जाता है।

(२) वैज्ञानिक विश्लेषण एवं प्रयोग (Scientific Analysis and Experiment)—योजना को लागू करने से पूर्व कुशल प्रबन्धक उसके प्रत्येक अङ्गों का वैज्ञानिक विश्लेषण करके तथा यथोचित प्रयोग करके यह देख लेते हैं कि उसकी उपयोगिता तथा प्रयुक्तता किस सीमा तक यथेष्ट होगी।

(३) नियमो का समूह (A set of Rules)—प्रबन्ध की वैज्ञानिक व्यवस्था के लिये निश्चित की हुई योजना के अनुसार ही नियमो का निर्माण हो तथा उनका प्रयोग सामूहिक रूप से ही किया जाय। किन्तु इसका अर्थ यह नही होना चाहिये कि व्यक्तिगत रूप से उनका प्रयोग न हो सके, नियमो का लक्ष्य प्रबन्ध को तन्त्री मे पूर्ण विशिष्टता लाना होता है।

(४) सामयिक प्रयोग (Timely Study)—वैज्ञानिक प्रबन्ध मे यह भी आवश्यक समझा जाता है कि उत्पादन अथवा व्यापार के कार्यकाल मे पैदा होने वाली सारी समस्याओ का हल तात्कालिक यथोचित प्रयोगो के द्वारा निकाला जा सके तथा उनका उचित प्रयोग किया जाय।

(५) मितव्ययिता (Economy)—वैज्ञानिक प्रबन्ध का आधार ही मितव्ययिता को माना गया है, इसको लाने के लिये उत्पादन के समस्त अनावश्यक तत्वो को मिटाया जाता है और यह प्रयत्न किया जाता है कि प्रयुक्त तत्वो के द्वारा अधिक से अधिक उत्पादन मे वृद्धि हो सके।

(६) उत्तरदायित्व की सीमा (Limit for Liability)—सीमा का निर्धारण तथा उसमे क्रमिक कमी लाना भी वैज्ञानिक प्रबन्ध की एक विशेषता है। इसमे यह प्रयत्न किया जाता है कि कार्यकर्ताओं की अधिक से अधिक कार्यक्षमता बढाई जाय तथा उनके उत्तरदायित्वो को कम किया जाय, जिससे वे अपनी रुचि से ही कार्य करें।

(७) सहकारिता (Co-operation)—प्रबन्ध मे उन्नति के लिये यह आवश्यक माना गया है कि प्रबन्धक तथा कार्यकर्ताओ मे आपस का समझौता हो और उनके विचारो मे भी एकता ही रहे, जिससे कार्य मे सामूहिक प्रवृत्ति की भावना आ सके।

(८) कठोरता (Strictness)—नियमों का सही रूप से पालन करने के लिये प्रबन्धक को अपने व्यवहार मे वैज्ञानिक की निश्चितता लानी आवश्यक होगी और उसमे एक बार निश्चित हो जाने के बाद फिर किसी प्रकार का अनावश्यक परिवर्तन नही किया जा सकेगा।

(९) **उद्देश्य की निश्चतता** (Definite Object)—प्रबन्धक के सामने कार्य का संचालन करने से पूर्व एक निश्चित उद्देश्य होना जरूरी होता है और उसके सारे प्रयत्न उसकी पूर्ति करने के लिये ही होते है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध का क्षेत्र
(Scope of Scientific Management)

वैज्ञानिक प्रबन्ध के जन्मदाता डॉ० एफ० डब्ल्यू० टेलर ने इस पद्धति का प्रयोग सर्वप्रथम बैथलेहम लोह उद्योग तथा इन्जीनियरिंग उद्योग मे किया और उनके द्वारा भागित दर पद्धति (Price Rate System) को प्रकाश मे लाये। इसी प्रकार उन्होने क्रमश: दुकान की व्यवस्था (Shop Management) तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध (Scientific Management) का विचार भी बढाया। यद्यपि प्रारम्भ मे अन्य उद्योग वाले जहाँ पर पुरानी पद्धति थी वैज्ञानिक प्रबन्ध को अपनाने के लिये सहमत नही थे, किन्तु धीरे-धीरे प्राय: अनेक विवेकशील व्यक्ति जैसे एच० एस० परसन, फ्रैंक, गिलबर्थ, एच० पी० केराडल, सी० ई० वार्य, एच० के० हेमले आदि ने प्रबन्ध मे वैज्ञानिक शब्द के प्रयोग का महत्व समझा और इसका क्षेत्र इन्जीनियरिंग उद्योग मे सीमित न रह कर प्राय: सभी प्रकार के व्यापार तथा उद्योग मे अपना जाने लगा। इतना ही नही, डॉ० टेलर की प्रेरणा से इसको साधारण कार्यालय मे भी अपनाया जाने लगा। डॉ० टेलर ने इसकी व्यापकता पर जोर देते हुए कहा है। "वैज्ञानिक प्रबन्ध जिस प्रकार इन्जीनियरिंग तथा अन्य उद्योगों मे अपनाया गया है, उसी प्रकार वह समान रूप से हर प्रकार की सामाजिक क्रियाओं, घरेलू प्रबन्ध, छोटे-छोटे तथा बड़े-बड़े व्यापारिक प्रबन्ध, गिरजाघरो, दान सम्बन्धित संस्थाओ मे अपनाया जा सकता है।"

वैज्ञानिक प्रबन्ध यद्यपि तर्क के अनुसार प्रत्येक क्षेत्र मे अपनाया जा सकता है किन्तु सही रूप से इसका प्रयोग अन्य क्षेत्रो की अपेक्षा औद्योगिक क्षेत्र मे ही अधिक उपयुक्त है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध का ऐतिहासिक विवेचन
(History of Scientific Management)

वैज्ञानिक प्रबन्ध का उदय सबसे पहले सन् १८८० मे अमेरिका मे डॉ० एफ० डब्ल्यू० टेलर के द्वारा हुआ। डॉ० टेलर ने सन् १८७८ मे एक छोटे से इंजीनियरिंग उद्योग में एक मजदूर के रूप मे कार्य प्रारम्भ किया और उसको लगा जैसे मजदूर अपनी शक्ति के अनुसार कार्य नही कर रहे हैं, इसलिये उसने इस प्रकार की पद्धति निकालने का प्रयत्न किया जिसमे उद्योग की उत्पादनशीलता तथा श्रमिक की कार्य कुशलता बढ़े। उन्होंने सन् १८८० में अपने उत्पादन को बढाने तथा मजदूरो की कार्य कुशलता बढाने के लिये उत्पादन के नवीन तरीको को अपनाना चाहा, किन्तु श्रमिको ने

उनका भारी विरोध किया। आरम्भ में वे अपनी इस क्रिया में सफल नहीं हो सके। धीरे धीरे अपने सहयोगियों की सहायता से (जिनके नाम पीछे दिये जा चुके हैं) उन्होंने वैज्ञानिक प्रवन्ध के तरीकों को अपनाने में सफलता प्राप्त की। सन् १८९५ में उन्होंने भागिक दर पद्धति (Price Rate System) पर एक निवन्ध लिखा, जिसमें उन्होंने श्रमिकों की कार्यक्षमता तथा वेतन की वृद्धि का विवेचन किया। इसके बाद १९०३ में उन्होंने 'दुकान का प्रवन्ध' नामक एक अन्य निवन्ध लिखा और १९११ में उन्होंने एक निवन्ध 'वैज्ञानिक प्रवन्ध' के नाम से प्रकाशित किया। किन्तु इस शब्द की ख्याति जसटिस लूइस० डि० ब्रे ण्डिस के होइयो तथा ओटोमिक नदी के उत्तर में स्थित रेल्वे के भाडा बढाने के निर्णय के अवसर पर किये जाने के कारण विशेष रूप से हुई। इस प्रकार श्री टेलर के सिद्धान्त को प्रकाश में लाने वाले जस्टिस ब्रे ण्डिस थे। सन् १९१५ में डॉ० टेलर के देहान्त हो जाने के कारण आदोलन का अन्त हो गया, किन्तु प्रथम विश्व युद्ध ने उद्योगों की समस्याओं को इतना पेचीदा बना दिया कि उनको सही रूप से योजनाबद्ध किया जाना आवश्यक हो गया।

लडाई के बाद अमेरिका तथा अन्य देशो मे इसके अन्वेषण किये गये तथा १९१८ मे रूस मे लेनिन के द्वारा इसको अपनाया गया।* १९२९ में संसार व्यापी मन्दी तथा १९३० में श्रमिको के विरोध के कारण इसकी प्रगति में बहुत बडी बाधा पडी। इसलिये वैज्ञानिक प्रवन्ध मे सन्तुलन नहीं आ सका और लोगों को प्रवन्ध मे इस नाम का प्रयोग खटकने लगा। इसलिये इसको प्रोत्साहन देने के लिये यूरोप के अनेक देशो में प्रयोगशालाओ तथा विज्ञापनशालाओं का स्थापन किया गया। सन् १९२७ मे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने इस सिद्धान्त को कृषि तथा घरेलू समस्याओं मे प्रयोग करने की सिफारिश की। इस प्रकार इस सिद्धान्त को दिनोंदिन प्रोत्साहन मिलने लगा, क्योंकि डॉ० टेलर ने इस पद्धति मे शान्ति से सोचने की तथा प्रयोग करने की ओर विशेष ध्यान दिया। अमेरिका मे २६ वर्षों के अन्दर १½, २ लाख डालर का व्यय करके करीब ५० हजार प्रयोग हुए और उन प्रयोगों मे उनको बहुत बडी सीमा तक सफलता मिली।

फ्रांस ने वैज्ञानिक प्रवन्ध में औद्योगिक मनोविज्ञान को मिला कर इसको एक नवीन रूप दिया। ब्रिटेन ने उसको उसी प्रकार से स्वीकार किया। फिर इसको यूरोप के अन्य देशों तथा एशिया मे जापान मे अपनाया गया। पर ध्यान रखने की बात यह है 'विज्ञान' शब्द का लोगों ने विरोध किया और उसको 'नवीन प्रवन्ध' के नाम से पुकारा गया।

---

* लेनिन ने कहा कि "हमको अपने उद्योगों में टेलर के अध्ययन तथा शिक्षा को प्रचारित करना चाहिये तथा उसको विधिवत् क्रियाओं को पूर्णरूपेण अपनाना चाहिये।"

यद्यपि इस सिद्धान्त का अभी भी वैसा ही महत्व है, किन्तु आधुनिक युग में उद्योग तथा व्यापार में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गये हैं। इसलिये अब इस पद्धति का नवीन प्रबन्ध पद्धतियों की आधारशिला के रूप में अध्ययन किया जाना चाहिये।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के तत्व
(Fundamentals of Scientific Management)

किसी भी उद्योग में वैज्ञानिक प्रबन्ध का प्रयोग तभी किया जा सकता है जब उसमें निम्नलिखित तत्व हों—

(१) **श्रमिकों का चुनाव एवं प्रशिक्षण** (Selection of Labour and their Training)—जैसे जो कोई कार्य किया जाय उसका पूर्ण रूप से अनुसंधान का प्रयोग किया जाय। श्रमिकों का वैज्ञानिक तरीकों से चुनाव किया जाय तथा चुनाव करने के पश्चात् उनकी यथोचित प्रशिक्षा दी जाय। श्रमिकों को काम देने समय उनकी योग्यता के अनुसार काम को बाँटा जाय, जिससे कि वे उस काम को कुशलता से कर सकें। कभी-कभी यह आवश्यक नहीं है कि श्रमिक पहले से ही उस कार्य में कुशल हों। इसलिये उसको काम देने के पूर्व यह देख लेना चाहिये कि वह उस काम में रुचि रखता है तथा प्रशिक्षण के बाद कुशलतापूर्वक काम चला सकता है।

(२) **अच्छे एव आवश्यक माल की व्यवस्था** (Arrangement of Good Material)—श्रमिकों की कार्यक्षमता बहुत बडी सीमा तक उस उद्योग में प्रयोग किये जाने वाले माल पर निर्भर रहती है इसलिये कच्चा माल बहुत सोच-विचार कर अच्छे से अच्छा लिया जाना चाहिये जिससे उत्पादन में प्रमापीकरण रहे तथा उत्पादन निश्चित सीमा तक बना रहे अथवा उसमें वृद्धि हो। फिर यह भी आवश्यक है कि जो माल काम में लाया जाय उसका सही सही रूप से उपयोग हो जिसमें कि माल का अपव्यय न हो सके तथा उसके उत्पादन में पर्याप्त मितव्ययिता तथा वृद्धि हो।

(३) **अनुकूल तथा अच्छे औजार** (Good and Proper Tools and Implements)—उत्पादन की वृद्धि जिस सीमा तक कुशल तथा योग्य कार्यकर्ताओं पर निर्भर रहती है उसी सीमा तक अच्छी मशीनों तथा अच्छे औजारों पर भी। यदि उद्योग में अच्छे तथा नवीनतम औजारों का प्रयोग किया जायगा तो कार्यकर्ता की कार्यक्षमता में पर्याप्त वृद्धि होगी। इसके लिये यह आवश्यक है कि श्रमिकों को जो औजार दिये जायें उन औजारों का पहले निरीक्षण किया जाना चाहिये तथा अलग-अलग कार्यों के लिये उपयुक्त औजार दे दिये जाने चाहिये। यदि उपयुक्त औजारों की व्यवस्था नहीं की जावेगी तो उत्पादन में प्रमापीकरण सम्भव नहीं हो सकता। इस कार्य को करने के लिये विशेषज्ञों की सेवाओं का उपयोग किया जाना चाहिये।

(४) मशीनों की शक्ति का नियन्त्रण (Control of Machines)—यथेष्ट उत्पादन के लिये जिस प्रकार सही कच्चा माल, कुशल श्रमिक तथा आवश्यक औजार और मशीनों की आवश्यकता होती है उसी प्रकार मशीन की कार्य-शक्ति का भी नियन्त्रण आवश्यक है। यह कार्य कुशल इन्जीनियरों के द्वारा ही किया जा सकता है। उनको कार्य करने से पूर्व प्रयोग के पश्चात् सही हिसाब करके ही मशीन की चाल निश्चित करनी चाहिये।

(५) उद्योगशाला का अनुकूल वातावरण (Conducive Atmosphere in the Factory)—इन सबके बाद यह भी आवश्यक है कि जिस उद्योगशाला में कार्य किया जाय उसका वातावरण अनुकूल होना चाहिये, अर्थात् उसमें गर्मी, सर्दी, नमी, प्रकाश, आबहवा आदि का ढंग उस उत्पादन के अनुकूल होना चाहिये। साथ ही साथ कार्यकर्ताओं को कार्य करने के लिये स्वस्थ वातावरण मिलना चाहिये जिससे कि कार्य करने से उनको किसी प्रकार की थकान का अनुभव न हो। इसलिये उद्योगशाला का निर्माण करते समय इन तमाम सूक्ष्म तत्वों का ध्यान रखा जाना आवश्यक है, जिससे कि कार्यकर्ताओं की कार्यक्षमता में वृद्धि हो।

(६) श्रमिकों की कार्य-शक्ति का अध्ययन (Study of the Working Capacity of the Labourers)—मजदूर को चाहे कैसा ही वातावरण मिले लेकिन उसकी शक्ति की एक सीमा होती है, जिस सीमा के आ जाने पर वह उस कुशलता से कार्य नहीं कर सकता जैसी कि उससे आशा की जाती है और तब हम कहने लगते हैं कि मजदूर थक गया। इसलिये यदि मजदूर को अधिक समय तक कार्य में लगाया जाता है तो वह अपनी थकान के कारण विशेष सीमा तक कार्य नहीं कर सकता और यदि वह कार्य करता है तो उसकी कुशलता पर घातक प्रभाव पड़ता है तथा उद्योगपति को भी वह बहुत खर्चीला हो जाता है। इस प्रकार माल के मूल्य में भी व्यापक वृद्धि हो जाती है। अतः उद्योग में इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये कि उस सीमा तक मजदूर से कार्य लिया जाय जिस सीमा तक वह पर्याप्त कुशलता के साथ कार्य कर सकता है। (इसका विशेष वर्णन आगे पढ़ें)

(७) अच्छी मजदूरी की व्यवस्था (Management of Good Wages)—डॉ० टेलर के सिद्धान्त के अनुसार श्रमिक की कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिये उसको अच्छा पारिश्रमिक दिया जाना आवश्यक है। उसके लिये जितनी भी सम्भव रीतियाँ हों उनका प्रयोग किया जाना चाहिये, जैसे कार्य के अनुसार मजदूरी, समय के अनुसार मजदूरी, समय-समय पर मजदूर को बोनस आदि देने की व्यवस्था। पहले निश्चित समय में निश्चित उत्पादन के लिये कम से कम मजदूरी दी जानी चाहिये। उसके बाद अतिरिक्त उत्पादन पर अतिरिक्त मजदूरी दी जानी चाहिये, जिससे कुशल मजदूर अधिक कमा सकेगा। साथ ही साथ कुशल तथा अकुशल

मजदूरों को अलग-अलग श्रेणियों में बांट कर उनके वेतन उसी प्रकार के कर दिये जाने चाहिये।

नियन्त्रण के प्रकार
(Methods of Control)

उद्योगशाला में श्रमिकों के द्वारा सही रूप मे कार्य किया जा सके, इसके लिये कुछ विशेष योग्य तथा अनुभवी श्रमिकों अथवा व्यक्तियों को देखभाल के लिये नियुक्त किया जाना चाहिये, जिनके द्वारा उन पर उचित नियन्त्रण रखा जा सके। नियन्त्रण कितने ही प्रकार मे रखा जा सकता है।

इनमें से पहला **'शीर्ष नियन्त्रण'** (Line Control) है, जिसके द्वारा श्रमिकों पर एक प्रकार का सैनिक नियन्त्रण रहता है। उद्योग को स्वावलम्बी विभागों मे बांट दिया जाता है तथा उनमे अलग-अलग विभाग वाले अपने विभाग के लिये पूर्ण रूप से उत्तरदायी रहते है। वे अपने विभागों में सैनिक पद्धति द्वारा कार्य करते हैं।

दूसरा **'स्टाफ नियन्त्रण'** (Staff Control) है, जिसमे कि उद्योगशालाओं के विभिन्न कार्यों की देखभाल के लिये कुछ 'विशेषज्ञों' की नियुक्ति की जाती है, जो कार्यकर्ताओं तथा प्रबन्धकर्ताओं को आवश्यक सलाह देते रहते है। यद्यपि उनको विशेष अधिकार प्राप्त नही होते तथापि उनके सुझावों को प्रायः मान लिया जाता है। इस 'विशेषज्ञ मण्डल' को कार्यों में अनुसंधान तथा प्रयोग करने की सुविधा भी दी जाती है, जिससे वे उत्पादन कार्य मे दिनोंदिन वृद्धि करते रहते है।

इसके अलावा **'कार्यशील नियन्त्रण'** (Functional Control) के अनुसार भी उद्योगशाला के कार्यों की देखभाल की जा सकती है। इसमें प्रत्येक कार्य के लिये एक-एक निरीक्षक नियुक्त किया किया जाता है, जो कि अपने कार्य की पूर्ण रूप मे निगरानी रखता है। इस व्यक्ति को प्रायः सभी अधिकार प्राप्त होते हैं। डॉ० टेलर ने इसको आठ भागों मे बाँटा है: (१) टोली अधिकारी (Gang Boss), (२) गति अधिकारी (Speed Boss), (३) निरीक्षक (Inspector), (४) मरम्मत अधिकारी (Repair Boss), (५) कार्यक्रम लेखक (Routine Clerk), सूचना पत्रकर्त्ता (Instruction Cardman), (७) समय एवं परिव्यय लेखक (Time and Cost Clerk), तथा (८) अनुशासक (Shop Disciplinarian)।

परिव्यय लेखांकन (Cost Accounting)—ऊपर बताये गये तत्वों के निरीक्षण के लिये 'परिव्यय लेखों' (Cost Accounts) का प्रयोग किया जाना आवश्यक है। इसके लिये विशेष व्यक्ति नियुक्त किये जाते हैं। ये लोग आवश्यकता के अनुसार परिव्यय लेखे रखते है। परिव्यय मे उत्पादित माल पर होने वाला व्यय तथा उसके उत्पादन के ढंग, उसके व्यय तथा माल पर नियन्त्रण करने की पद्धति, उद्योग का प्रबन्ध, वस्तु-वितरण तथा साधारण व्यय की आर्थिक दशा की देखभाल,

संभावित व्यय तथा उत्पादित वस्तु के संभावित मूल्य का अनुमान आदि लिया जाता है। इन सब सूचनाओं को प्राप्त करने के लिये यथोचित, रिकार्ड, प्रलेख, रजिस्टर आदि को बराबर तैयार किया जाना चाहिये, जिससे हमेशा उत्पादन के व्यय का कुल अनुमान लगाया जा सके।

मानसिक क्रान्ति (Mental Revolution)—अन्तिम महत्वपूर्ण तत्व उद्योग मे मानसिक क्रान्ति लाना है। यह वैज्ञानिक प्रबन्ध की मानसिक दिशा है। इसके द्वारा प्रबन्धकर्ताओं तथा श्रमिकों के दृष्टिकोण मे एक व्यापक परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाता है, जिससे श्रमिक अपने उत्तरदायित्व तथा महत्व को भली प्रकार समझ सकें और साथ ही प्रबन्धक भी अपनी इच्छानुसार अवस्था का सच्चा मूल्याकन कर सके। मानसिक क्रान्ति का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि श्रम तथा पूँजी मे किसी प्रकार का विरोध नही होता, अपितु एक-दूसरे की शोषण प्रवृत्तियाँ ही उनके सम्बन्धो में अवरोध पैदा करती है। पूंजीपति यह समझता है कि उसने अपनी पूँजी के द्वारा श्रमिकों को खरीद लिया है और श्रमिक यह समझता है कि उसके पसीने तथा श्रम का प्रतिफल उद्योगपति बिना किसी प्रयत्न के ले रहा है और उद्योग मे उसका पूर्ण रूप से शोषण किया जाता है। वैज्ञानिक प्रबन्ध पूँजी तथा श्रम में एक सामजस्य स्थापित करना चाहता है, जिसके द्वारा इन दोनो के बीच के अन्तर को कम किया जा सके तथा दोनो यह समझें कि उनका एक-दूसरे के बिना निर्वाह नही हो सकता। इसके लिये पूँजीपति को श्रमिक के कल्याण की ओर विशेष रूप से जागरूक रहना चाहिए तथा यह प्रयत्न करना चाहिये कि श्रमिक उस उद्योग मे अपना हित समझें तथा उसके विकास मे अपने विकास का अनुभव करें। श्रमिकों को भी ऐसा मार्ग अपनाना चाहिये, जिससे उद्योग मे उत्पन्न कटुता समाप्त हो जाय। इस दशा मे श्री हन्ट ने दोनो के सुन्दर सम्बन्धों का महत्व बताते हुए सही ही कहा है कि सुन्दर तथा नवीनतम औजारों तथा मशीनों का प्रयोग तब ही सुखद परिणाम दे सकता है जब पूँजीपति तथा श्रमिकों के मानवीय सम्बन्ध सुदृढ हों तथा उनके बीच की बढ़ती हुई विषमता को दूर किया जा सके। डॉ॰ टेलर ने अपने 'शॉप मैनेजमेन्ट' मे एक जगह कहा है कि वैज्ञानिक प्रबन्ध की सफलता तब है, जबकि कार्यकर्ता यह समझने लगे कि उस उद्योग की वृद्धि उनकी वृद्धि है तथा उसका मानसिक झुकाव उद्योगपति के आदर की ओर हो।

यह सब सम्भव तभी हो सकता है जब कि पूँजीपति अपने व्यवहार मे स्पष्टता तथा न्यायपूर्ण दृष्टिकोण रखे, जिससे कि दोनो मे सहकारिता की भावना पैदा हो तथा वे कन्धे से कन्धा मिलाकर औद्योगिक विकास में अग्रसर हो सकें।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के उद्देश्य और मान्यतायें

(Objects and Assumptions of Scientific Management)

डॉ० टेलर ने अपने दीर्घ अनुभव तथा प्रयोग के उपरान्त उद्योग के प्रबन्ध मे एक नवीन दिशा दिखाने का प्रयत्न किया। सन् १९०३ तथा १९११ में उन्होंने 'शॉप मैनेजमेन्ट' तथा 'प्रिन्सिपिल ऑफ साइन्टिफिक मैनेजमेन्ट' नामक दो निबन्धों के द्वारा अमेरिका तथा दुनिया के उद्योगपतियों को यह सोचने के लिये विवश कर दिया कि समाज तथा संसार के सामूहिक विकास के लिये यह आवश्यक है कि दुनिया में 'प्रभुत्व' का स्थान 'प्रेम' ले, 'शोषण' का स्थान 'बलिदान' ले, 'वैमनस्य' का स्थान 'सहकारिता' ले। इसलिये उन्होंने बताया है कि उपर्युक्त लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जो लोग प्रबन्ध मे हैं उनको चाहिये कि वे श्रमिकों मे काम लेने मे बजाय अप्रिय प्रभाव के वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करें। श्रमिकों के चुनाव मे इस बात का ध्यान रखे कि श्रमिक उनकी योग्यता के अनुसार, बिना किसी पक्षपात के, चुने जायँ तथा उनको समुचित रूप से कार्य करने के लिये शिक्षित बनाया जाय। साथ ही साथ उनको चाहिये कि वे श्रमिकों मे से ही नेताओं को उठाकर उनके कार्य मे सहकारिता तथा सामंजस्य की स्थापना करें। इन समस्त कार्यों के लिये आवश्यक है कि प्रबन्धक का कार्य योजनाबद्ध होना चाहिये और प्रबन्धकों को यह मानकर चलना चाहिये कि श्रमिक तभी कुशलता से कार्य कर सकता है जब उसके हित का पूर्ण रूप से ध्यान रखा जाय और वह समझे कि उसको उसके परिश्रम का यथोचित पारिश्रमिक मिलेगा तथा वह जितना ही अधिक परिश्रम करेगा उसी अनुपात से उसकी आय मे सतत् वृद्धि होती रहेगी। उनको यह भी मानकर चलना चाहिये कि अच्छा उत्पादन तभी सम्भव हो सकता है, जबकि श्रमिकों का स्वास्थ्य ठीक हो, उसके हृदय मे उत्साह हो तथा वे उसको अपना कार्य समझें। मनुष्य की प्रकृति प्रायः इस प्रकार की होती है कि वह अधीनता स्वीकार नहीं करता। इसलिये लोग देखभाल करने या आदेश देने वाले हो, उनको इस प्रकार से कार्य करना चाहिये कि वे उनके प्रिय नेता के रूप मे कार्य करें। यदि उद्योग में प्रबन्ध करने वाले यह मानकर चलेंगे तो उद्योग मे उद्योगपति तथा श्रमिक दोनों की ही समान रूप से उन्नति होगी।

सूक्ष्म रूप से हम इनका अंकीकरण निम्नलिखित प्रकार से कर सकते है—

(१) वैज्ञानिक प्रबन्ध के द्वारा श्रमिकों और संचालकों को इस प्रकार से 'प्रशिक्षित' (Trained) किया जा सकता है, जिससे उनको प्रत्येक दिशा में वृद्धि हो सके।

(२) इसके द्वारा व्यापार की समस्त क्रियाओं में एक 'क्रमिक परिवर्तन' (Systematic Charge) किया जाता है, जिससे कि पहले की रीतियों में सुधार किया जा सके तथा उद्योग में नवीनतम साधनों का प्रयोग लाभ सहित हो।

वैज्ञानिक प्रयोग (Scientific Experimentation)—वैज्ञानिक प्रबन्ध मे प्रयोगों का बहुत अधिक महत्व है। इसमें मुख्य रूप मे तीन प्रकार के प्रयोग किये जाते है। समय का अभ्यास, गति अध्ययन तथा श्रम अध्ययन।

समय अभ्यास (अध्ययन)
(Time Study)

वैज्ञानिक प्रबन्ध के तत्वो मे सबमे प्रमुख तत्व प्रयोग का तत्व है, क्योंकि जब तक किसी उद्योग मे प्रयुक्त की जाने वाली मशीनें, सामान, औजारो आदि की उपयोगिता का पूर्ण रूप मे अध्ययन नहीं किया जाय तब तक कार्य मे सही रूप से गति नही लाई जा सकती। इसलिये उस कार्य मे सबमे पहला प्रयोग समय की बचत का किया जाता है। इसको करने के लिए अलग-अलग योग्यता वाले व्यक्तियों को एक ही कार्य मे लगा कर एक निश्चित समय के अन्दर यह देखना चाहिये कि वे अलग-अलग व्यक्ति उस समय के अन्दर कितना अधिक से अधिक उत्पादन कर सकते हैं, उस उत्पादन पर कितना व्यय लगा तथा उसको घटाने या बढ़ाने मे उसके मूल्य मे किस प्रकार का परिवर्तन हो सकता है। साथ ही साथ श्रमिको की मजदूरी का भी ध्यान रखा जाना आवश्यक है।

समय-अध्ययन के अनेको तत्व है। इसलिये उसके अध्ययन के लिये यह आवश्यक है कि अलग-अलग कार्यों को अलग-अलग लिया जाय तथा उनमे इस प्रकार के व्यक्तियो को लगाया जाय जो उच्च, मध्यम तथा निम्न योग्यता वाले हो। उन सबको स्वतन्त्र रूप मे एक ही समय पर काम पर लगा देना चाहिये और उनका काम भी एक ही समय पर समाप्त कर देना चाहिये (यह काम की दशा पर निर्भर करेगा कि उसमें कितना समय दिया जाय)। अलग-अलग काम करने वालो ने जितना-जितना काम किया हो उसका हिसाब लगा कर औसत निकाल लिया जाना चाहिये। यह अनुमान सामान्य श्रमिक की कार्यक्षमता मानी जायेगी। इस कार्यक्षमता को निकालने के लिये इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि श्रमिकों को कुछ सुस्ताने का समय तथा अन्य कारणों से कुछ विलम्ब हो जाने का समय भी देना चाहिये। साथ ही साथ जिस काम मे श्रमिकों की क्षमता निर्धारित की जाय उसमे यह भी आवश्यक है कि जिस उत्पादन का अध्ययन किया जाता हो वह एक ही प्रकार का समान गुण वाला तथा समान प्रमाप वाला हो।

इस प्रकार समय तथा कार्यक्षमता का निर्धारण करके व्यक्ति सुविधा के साथ अपने उत्पादन मे प्रमापीकरण तथा निश्चितता ला सकता है, किन्तु जो समय इस प्रकार मे निर्धारित कर दिया जाता है वह चिरस्थायी नहीं रह सकता, क्योंकि समय के साथ-साथ उत्पादन के साधनो तथा कलाओं मे परिवर्तन होता रहता है। इसलिये समय-निर्धारण के लिये यह प्रयोग बराबर चलना चाहिये, जिससे कि

परिवर्तित परिस्थितियों में सामान्य श्रमिक को देखते हुए समय का निर्धारण सुविधा के साथ किया जा सके। डॉ० टेलर ने यह प्रयोग करके देखा कि उत्पादन में इसके द्वारा कम से कम तिगुनी वृद्धि हो जाती है और इसलिये उन्होंने इसके लिये विशेष जोर दिया।

डॉ० टेलर ने ठीक ही कहा है कि यदि कार्य कुशलता से नहीं किया जाता है "तो प्रत्येक फिजूल कार्य, त्रुटि, अपव्यय के लिए किसी को चुकाना पड़ता है और इस प्रकार लम्बी अवधि में मालिक तथा श्रमिक दोनों को ही इस हानि का सामना करना पड़ता है" इसलिये कार्य में समय का सबसे अधिक सदुपयोग किया जाना चाहिये।

समय के निर्धारण के द्वारा उत्पादकों व श्रमिकों को समान रूप से लाभ होता है। श्रमिकों को उनके अधिक उत्पादन पर अधिक वेतन दिया जा सकता है। इसलिये एक निश्चित समय तथा उत्पादन के बाद जो अतिरिक्त उत्पादन करता है उसको उस पर अतिरिक्त मजदूरी मिल जाती है, और उद्योगपति को भी एक निश्चित व्यय करना पड़ता है तथा उसे औसत लाभ ही रहता है। यदि श्रमिक उतना काम नहीं कर सकता तो उसको उसके उत्पादन के अनुपात से ही मजदूरी दी जायगी तथा अनावश्यक तत्वों को हटाया जा सकेगा। डॉ० टेलर तथा गिलवर्थ ने इसकी उपयोगिता को बताते हुए कहा है कि इसके द्वारा केवल अनिश्चितता को ही दूर नहीं किया जा सकता, अपितु उसमें एक निश्चितता आ जाती है और उद्योग तथा श्रमिक के बीच किसी प्रकार का मतभेद नहीं रहता। इसलिये काम करने का यह एक बहुत सुन्दर तरीका है।

गति अध्ययन
(Motion Study)

श्रमिकों के चुनाव करने में जो दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है वह उनकी कार्य-क्षमता तथा गति का अध्ययन करना है। गिलवर्थ ने गति अभ्यास का अर्थ इस प्रकार किया है : "गति अभ्यास वह विज्ञान है, जिसके द्वारा अनावश्यक, अनिर्देशित तथा अकुशल गति से होने वाली क्षति को रोका जा सके।" इसका उद्देश्य श्रम में होने वाली क्षति को कम करके उसको अधिक से अधिक उपयोगी और आवश्यक बनाना है। इसका अर्थ यह है कि श्रमिकों के श्रम में एक समान प्रकार का बहाव लाना है, जिसमें उनके कार्य कुशलता के साथ सम्पन्न किये जा सकें।

इसके लिये मनुष्य को प्रत्येक गति का अध्ययन करना चाहिये और देखना चाहिये कि उसमें अनावश्यक गति कौन सी है, जिसको कि दूर किया जा सकता है तथा जिसके लिये मशीनों का प्रयोग किया जा सकता है। गिलवर्थ ने इन गतियों को सत्रह प्रकार का बनाया है। डॉ० टेलर ने अपनी कम्पनी में इसका प्रयोग करके

देखा कि जब श्रमिकों को उनके कार्य-काल में समय-समय पर कुछ विश्राम दिया जाता है तो वे अपनी खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त कर लेते हैं और फिर कार्य में कुशलता एवं उत्पादन में वृद्धि सम्भव होती है। इसलिये उन्होंने कहा है कि श्रमिकों की गति में तीव्रता लाने के लिये उनके कार्य-काल में कुछ विश्राम अवधि होनी चाहिये। इसी प्रकार गिलवर्थ ने भी अपने श्रमिकों की गति को बहुत कुछ सीमा तक सुलझाया और उसके द्वारा उन्हें भी काफी सफलता मिली।* इसलिये यदि श्रमिकों की गति का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाय तथा उसके अनुसार ही उनसे काम लिया जाय तो उसमें निस्सन्देह उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है तथा प्रबन्धकों को भी उनसे कार्य लेने में सुविधा रहती है।

श्रम अध्ययन
(Fatigue Study)

वैज्ञानिक प्रबन्ध में जितना महत्व श्रम-अध्ययन का है उतना महत्व अन्य प्रकार के साधनों का नहीं है, क्योंकि इसके ही द्वारा उद्योग में व्यापक प्रगति लाई जा सकती है। मनुष्य को काम करने का आदेश दिया जा सकता है, किन्तु उसकी शक्ति की कोई सीमा होती है, जिसके बाद वह कार्य नहीं कर सकता। उदाहरण के लिये यदि किसी व्यक्ति को लगातार १२ मील चलाओ तो पहिले ४ मील वह सुविधा से कम समय में पूरा करेगा, दूसरे ४ मीलों में उसको समय भी अधिक लगेगा और चलने में कठिनाई भी होगी और सम्भव है कि बिना विश्राम किये हुए वह तीसरे चार मील बिलकुल भी नहीं चल सके।

इसलिये डॉ० केट ने इसकी परिभाषा बताते हुए लिखा है : "श्रम उस प्रबंध की ह्रास-कुशलता है, जिसके द्वारा श्रम किया जाता है"; अर्थात् मनुष्य की कार्य करने की शक्ति की एक सीमा आ जाती है जो कि विश्राम न मिलने के कारण इतनी व्यापक हो जाती है कि मनुष्य उसके बाद उस कुशलता से कार्य नहीं कर सकता, जितना कि पहले। डॉ० टेलर ने कहा है कि यदि कोई श्रमिक अधिक परिश्रम करता है तो उसकी कार्यक्षमता में व्यापक शिथिलता आ जाती है। इसलिये ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिये, जिससे उसको कार्य करने में थकावट का अनुभव न हो। इस योजना के द्वारा श्रमिक के विश्राम की अवधि बढ़ा दी जानी चाहिये और उनको अन्य सुविधायें भी प्राप्त होनी चाहिये, जिनके द्वारा उसकी मासपेशियों पर आवश्यकता से अधिक बल न पड़े। इसके लिये उद्योगशाला का वातावरण अत्यंत शांत एवं

---

* गिलवर्थ ने मानवीय गति को १७ भागों में बाँटा है। उनका कहना है कि मनुष्य की प्रत्येक क्रिया में विशेष 'कम्पन' (Therbling) होती है। उस कम्पन में साम्य आना चाहिये जिससे उसकी गति मशीनों की गति के साथ मिल सके।

स्वस्थ होना चाहिये तथा दुर्घटनाओं की रोक के लिये समुचित व्यवस्था की जानी चाहिये। उनके मनोविनोद की भी पर्याप्त सुविधा होनी चाहिये एवं उनमे नवीन यन्त्रों के आविष्कार के लिये निरन्तर प्रयोग किया जाना आवश्यक है। साथ ही साथ उनके निवास स्थान पर पर्याप्त सुविधा होनी चाहिये तथा उनके लिये औषधि, आर्थिक सहायता आदि का भी समुचित प्रबंध किया जाना चाहिए। डॉ॰ टेलर ने सत्य ही कहा है कि यदि श्रमिकों को काम के भार से न लादा जाय तथा उनको आवश्यक सुविधायें दे दी जायें तो साधारण श्रमिक भी आशातीत सफलता प्राप्त कर सकता है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध का उद्देश्य—सर्वांगीण उन्नति

(All Sided Progress—Aim of Scientific Management)

वैज्ञानिक प्रबंध का प्रयोग औद्योगिक सर्वांगीण उन्नति के लिये किया गया। *इसका उद्देश्य उद्योग का प्रबन्ध इस प्रकार से करना है कि उससे सम्बन्धित प्रत्येक* तत्व पूर्ण रूप से सफलता पा सकें। इसके प्रयोग का उद्देश्य तब ही सफल हो सकता है, जब उससे निम्नलिखित लाभ हो सकें—

(१) उत्पादन के **'व्यय में कमी'** (Cut in Expenditure) होने से उद्योगपति अधिक उत्पादन कर सकें तथा वस्तुओं को अधिक लाभ पर बेच सकें।

(२) **'मूल्यों में इस प्रकार से कमी'** लाई जाय कि उपभोक्ताओं को अच्छी तथा सस्ती वस्तुएं प्राप्त हो सकें तथा विक्रेता अधिक माल को बेचकर अधिक लाभ कमा सकें।

(३) उत्पादन-क्रियाओं का इस प्रकार से **'नियन्त्रण'** (Control) किया जाय कि उनको मासपेशियों पर अधिक भार न पड़े, और उनमे कार्य करने का उत्साह तथा स्फूर्ति रहे।

(४) कार्य मे इस प्रकार से 'प्रमापीकरण' (Standardisation) किया जाय कि साधारण श्रमिक भी कुशलता से कार्य कर सकें तथा उसके सम्पादन के लिये श्रमिकों को सुविधा से प्रशिक्षित किया जा सके।

(५) 'वेतन देने की पद्धति' (Wage System) **'इस प्रकार की हो कि श्रमिक अपनी कुशलता तथा योग्यता के अनुसार अधिक धन कमा सकें।**

(६) उद्योग मे इस प्रकार की 'मानसिक क्रान्ति' (Mental Revolution) *लाई जाय कि उत्पादक तथा श्रमिकों के आपस मे सम्बन्ध सुदृढ़ रहें तथा औद्योगिक* शान्ति बनी रहे।

(७) **'उद्योगपति का उद्देश्य सेवा'** (Service Object) का अधिक हो, अर्थात् कम लाभ लेकर अधिक-से अधिक माल को उपभोक्ताओं तक पहुँचाया जा सके।

(८) इसके द्वारा उद्योग के समस्त सूक्ष्म से सूक्ष्म **'तत्वों का पूर्ण निरीक्षण'**

(Full Inspection of Elements) करके उनका इस प्रकार से संचालन तथा नियन्त्रण किया जाय कि उसमें कार्य में किसी प्रकार की असुविधा या अड़चन न रहे।

वैज्ञानिक प्रबन्ध की आलोचना

(Scientific Management Criticised)

यह तो स्पष्ट ही है कि वैज्ञानिक प्रबन्ध में समस्त उत्पादन अंगों में कुशलता आयेगी, किन्तु यह कुशलता सतोष तथा सहनशीलता के ही द्वारा आ सकती है, क्योंकि इसमें जो भी कार्य किया जाता है वह प्रयोग व अनुसंधान के अनुसार पूर्ण रूप से निश्चित करके ही किया जाता है और उसमें अधिक समय लगना स्वाभाविक ही है। इसलिये जो लोग चाहते हैं कि वैज्ञानिक प्रबन्ध के द्वारा तात्कालिक प्रगति हो, उनको प्रायः निराश ही होना पड़ता है और इसलिये उद्योगपति, श्रमिक तथा विचारक इसका विरोध करते हैं।

विनियोक्ताओं का विरोध

(Investor's Objection)

जो लोग उद्योगों में पूँजी लगाते हैं उनका विचार है कि वैज्ञानिक प्रबन्ध द्वारा उद्योग में इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं जो प्रायः **अत्यन्त खर्चीले** (Expensive) तथा **पूँजी को बाँधने वाले** (Capital Blocking) होते हैं। उद्योग में अत्यधिक योजनाओं को बनाने के लिये एक अलग योजना विभाग खोलना पड़ता है, जिससे उद्योग के ऊपर एक अतिरिक्त भार पड़ता है तथा मन्दी के समय में अनुत्पादक संस्थायें असहनीय हो जाती हैं। फिर श्रमिकों की योग्यता, मानसिक शक्ति आदि के भिन्न होने कारण उत्पादन में **प्रमापीकरण** (Standardisation) लाना अत्यन्त कठिन होता है तथा प्रमापीकरण एवं श्रमिकों के हित के लिये जो प्रयोग किये जाते हैं वे अत्यन्त खर्चीले तथा कभी-कभी अनावश्यक होते हैं। किन्तु उनका यह मत विशेष महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि यद्यपि प्रारम्भ में वे कठिनाइयाँ बहुत व्यापक प्रतीत होती हैं, परन्तु शनैः शनैः वे समाप्त हो जाती हैं और वैज्ञानिक प्रबन्ध के द्वारा उत्पादन-व्ययों में पर्याप्त कमी लाई जा सकती है। इसलिये उत्पादन में पर्याप्त मितव्ययिता तथा वृद्धि की जा सकती है तथा उद्योग में कुशल श्रमिकों तथा उपालम्बों का प्रयोग किया जा सकता है। उनका यह कहना कि इसके द्वारा जो परिवर्तन होता है उसमें तात्कालिक लाभ नहीं होता, गलत है, क्योंकि जो कार्य बिना विचार के किया जाता है उसमें हमेशा अधिक जोखिम की सम्भावना रहती है। इसलिये काम को सोच-विचार के पश्चात् ही किया जाना चाहिये। यदि कोई विनियोक्ता अपने व्यापार में असफल रहता है तो इसका मूल कारण उसका उतावलापन ही हो सकता है। **वैज्ञानिक प्रबन्ध** प्रबन्ध ही अपने दीर्घ समय में उद्योग तथा व्यापार के लिये लाभ-

कारी सिद्ध हुआ है और इसके ही कारण विवेकीकरण के सिद्धान्त को सफलता मिली है।

श्रमिकों का विरोध
(Labourers' Objection)

वैज्ञानिक प्रबन्ध का उतना विरोध किसी क्षेत्र मे नहीं हुआ जितना श्रमिकों के द्वारा किया गया। उन्होंने इसका विरोध निम्नलिखित आधारों पर किया है—

(१) प्रमापीकरण (Question of Standardisation)—प्रमापीकरण के द्वारा केवल वही श्रमिक रखे जाते है जो उतना उत्पादन करने के योग्य होते है और शेष को काम से हटा दिया जाता है। जिसके कारण बहुत-से लोग बेकार हो जाते हैं तथा श्रमिकों के मध्य मे मतभेद बढ जाता है। किन्तु यह आरोप विशेष महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि प्रमापीकरण मे सामान्य व्यक्ति की कार्यक्षमता को लिया जाता है। इसलिये जो व्यक्ति परिश्रमी तथा कार्य मे रुचि रखने वाला हो उसके हटाये जाने का प्रश्न ही नही उठता। इसके साथ श्रमिकों से यह आशा की जाती है कि वे *अपने कार्य मे विशेष रुचि रखें तथा अपने कार्य को तत्परता के साथ करें।*

(२) वेतन का प्रश्न (Question of Wages)—श्रमिक वर्ग का कहना है कि उनको वेतन उस अनुपात मे नहीं मिलता जिस अनुपात से वे कार्य करते हैं। यह किसी सीमा तक सही है और अनेक उद्योगों मे देखा गया है कि उत्पादन-शक्ति के बढ जाने के अनुपात मे श्रमिकों को वेतन नहीं दिया जाता। उत्पादन के बढ जाने से प्रति इकाई का दर कम हो जाता है और इस प्रकार श्रमिकों को दिये जाने वाले वेतन की दर भी कम हो जाती है। वैज्ञानिक प्रबन्ध मे कार्य करने की अवधि को कम किया जाता है, जिससे कि श्रमिकों को अन्य सुविधायें दी जा सकें। इससे यह अवश्य है कि मुद्रा में उनको अधिक न मिले, किन्तु उनकी वास्तविक आय निश्चित ही बढ जाती है और वे अपनी शक्ति का प्रयोग अधिक लाभप्रद कार्य मे कर सकते है। इसके साथ ही साथ उत्पादन की वृद्धि केवल श्रमिकों के ही कारण नहीं होती, अपितु उसमे नवीनतम मशीनों के प्रयोग का बहुत बड़ा भाग होता है। इसलिये उत्पादन के अनुपात मे वेतन दिये जाने का प्रश्न नहीं उठता।

(३) अधिक परिश्रम (Excessive Labour)—श्रमिकों का अन्य आरोप यह है कि वे इस पद्धति के द्वारा अधिक परिश्रम करते है और इस प्रकार उनसे आवश्यकता से अधिक कार्य करवाया जाता है, जिससे उनके स्वास्थ्य पर विषम प्रभाव पड़ता है। किन्तु जब हम समय तथा उत्पादन की परिभाषा का निश्चय कर देते हैं तो कार्य अधिक लेने का प्रश्न नहीं उठता।

(४) कठिन नियन्त्रण (Strict Control)—श्रमिकों की ओर से यह भी आरोप है कि इस पद्धति के अनुसार उद्योग की जनतन्त्रीय अवस्था समाप्त हो जाती है

(६) श्रम-आन्दोलन के विरुद्ध (Against Labour Movement)—वैज्ञानिक प्रबन्ध के जन्मदाता डॉ० टेलर के उन शब्दों पर, जिसमें उन्होंने कहा है कि इसके द्वारा उद्योगपति तथा श्रमिकों में सामूहिक कार्य करने की शक्ति का जन्म होगा तथा श्रम संगठनों का प्रश्न समाप्त हो जायगा लोगों का कहना है कि इससे उद्योगपतियों का प्रभुत्व जमा रहेगा और श्रमिक अपने हितों की रक्षा नहीं कर पायेंगे। किन्तु श्रमिक संगठनों का उद्देश्य ही यह होता है कि वे श्रम तथा पूँजी में सामुदायिक भावना पैदा कर सकें और इसी प्रकार वैज्ञानिक प्रबन्ध का उद्देश्य भी सामुदायिक भावना पैदा करना है और इसके द्वारा श्रमिकों तथा उद्योगपतियों की सारी समस्याएँ हल हो जाती हैं।

वैज्ञानिक प्रबन्ध का स्थायित्व
(Stability of Scientific Movement)

उद्योग में वैज्ञानिक प्रबन्ध का प्रयोग करने में सफलता मिलने में अधिक समय लगता है, क्योंकि इसमें जो भी कार्य किया जाता है उसका पहले ही पूर्णरूप से अन्वेषण तथा प्रयोग कर लिया जाता है, जिससे कि भविष्य में किसी प्रकार की कठिनाई न हो। एक निश्चित योजना के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को कार्य करना पड़ता है तथा उनको समस्त कार्यों में पहले से ही पूर्ण रूप से प्रशिक्षित कर दिया जाता है। इसलिये इसके प्रयोग में तात्कालिक परिणाम की सम्भावना नहीं रहती। पुराने ढंग से नवीन परिवर्तनों के होने में यदि उनमें शीघ्रता लाई जाय तो उनका कुशलतापूर्वक चलना सम्भव नहीं होता, क्योंकि वैज्ञानिक प्रबन्ध का उद्देश्य प्रत्येक कार्य में एक स्थायी, प्रगतिशील परिवर्तन लाना होता है। इसलिये यह नहीं समझना चाहिये कि वैज्ञानिक प्रबन्ध में केवल प्रबन्ध की समस्त अच्छाइयों को ला देना होता है। अपितु उसमें जो कुछ भी परिवर्तन लाये जाते हैं वे कार्य, समय तथा परिस्थिति के अनुसार ही लाये जाते हैं। इसलिये डॉ० टेलर ने इस पद्धति के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को ही विशेष प्रधानता दी है, ताकि उद्योग का कार्य स्थायी रूप से चल सके। यदि कोई कार्य बिना वैज्ञानिक विश्लेषण के कठोरता के साथ किया जायगा तो उसका सुखद परिणाम निकलना प्रायः कठिन होता है, क्योंकि उससे श्रम तथा पूँजी में बराबर संघर्ष तथा भय बना रहता है। इसी के साथ-साथ यदि कर्मचारी तथा श्रमिकों का सही चुनाव नहीं किया जाता तो भी उद्योग की स्थायी प्रगति में बाधा पड़ती है और उसके उत्पादन में प्रमापीकरण की सम्भावना समाप्त-सी हो जाती है। अतः वैज्ञानिक प्रबन्ध के प्रयोग के द्वारा स्थायित्व का आना हर प्रकार से सम्भव है। यही कारण है कि आधुनिक उद्योग में इस पद्धति को सैद्धान्तिक रूप से अपनाया गया है और आज इसका सही रूप में वैज्ञानिक न होने पर भी इस पद्धति को वैज्ञानिक माना जाता है।

भारतीय औद्योगिक प्रबन्ध में नवीनीकरण की आवश्यकता
(Need for Modernisation in Indian Industrial Managements)

भारतवर्ष में औद्योगिक नीतियों की घोषणा तथा उनको कार्यान्वित करने के लिये पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण किया गया है। सरकारी तथा गैर सरकारी आधार पर अनेक सभायें, सेमीनार तथा संगठनों का निर्माण किया जा रहा है। सरकार ने अपनी नीति की सफलता के लिये आवश्यक अधिनियम पारित किये हैं और साथ ही औद्योगिक व्यवस्था के लिये निर्देशन भी प्रसारित किये हैं। सरकार के तथा उद्योग के अनेक प्रमुख व्यक्ति विदेशों में औद्योगिक उन्नति तथा व्यवस्था का अध्ययन करने के लिये सदाकदा विदेशों का भ्रमण कर भारतीय सर्वांगीण उन्नति के लिये अच्छे आकार के आलेख और वृत प्रस्तुत करते रहे है, किन्तु इन सब प्रयत्नों का देश को कितना लाभ हुआ है यह औद्योगिक उत्पादन व्यवस्था तथा उसके उत्पादन के अन्य साधनों के साथ सम्बन्ध और अनुपात पर निर्भर करेगा।

जीवन स्तर को बढ़ाने का प्रश्न तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध

इसमें कोई भी सन्देह नही कर सकता कि किसी देश के आर्थिक विकास के लिये उसके औद्योगिक विकास के साथ साथ उत्पादन में भी पूर्ण वृद्धि होनी चाहिये तभी वह देश अपने जीवन स्तर को बढ़ा सकता है। जीवन-स्तर को बढ़ाने के लिये आवश्यक है कि उस देश में बेकारी की समस्या न रहे, लोगों को जीविका की पूरी सुविधा हो, अच्छे वेतन और मजदूरी से, विनियोग, औद्योगिक साधनों तथा मात्रा में आवश्यक सन्तुलन हो और साथ ही लोगों की क्रय शक्ति तथा वस्तु प्रदाय में भी उचित अनुपात रहे। उपर्युक्त तत्वों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हर औद्योगिक इकाई लाभ सहित अत्यन्त मितव्ययिता के साथ अपना उत्पादन कार्य सम्पन्न कर सके जिससे उसके सभी अंगों में समायोजना सम्भव हो सके। अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों पर आधारित उत्पादन की प्रगति इसके उत्तर में तभी सम्भव हो सकती है, जब श्रम, साहस, पूँजी और संगठन पूर्ण रूप से व्यवस्थित तथा अनुशासित हो, कुशल श्रमिक हो, उपयुक्त पूँजी हो, वैज्ञानिक संगठन तथा उसका वैज्ञानिक प्रबन्ध हो और अन्त में दूरदर्शी साहस हो। भारतवर्ष में सैद्धान्तिक रूप से तो इसको माना गया है किन्तु व्यावहारिक रूप से यह तभी सम्भव हो सकता है जब प्रत्येक इकाइयों में वैज्ञानिक प्रबन्ध को समुचित रूप से अपनाया जाय।

वैज्ञानिक प्रबन्ध का उद्देश्य उत्पादन की वृद्धि होनी है और उसके लिये प्रमुख रूप से पूर्व अनुसन्धान, प्रयोग तथा वैज्ञानिक खोज आवश्यक होती है किन्तु इस पर अत्यधिक व्यय होता है। इसके अलावा उद्योगों का पूर्ण रूप से 'नवीन यन्त्रीकरण' भी एक उपाय है जिससे उत्पादन में वृद्धि हो सकती है किन्तु यह भी अपेक्षाकृत महँगा ही होता है और उनके प्रयोग के लिए कुशल व्यक्तियों की आवश्यकता

होती है। उद्योगों में अधिक पूँजी लगाने से भी उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। किन्तु उसका समुचित उपयोग हो यह समस्या हमेशा ही बनी रहती है और साथ ही पूँजी प्राप्त करने के साधन भी सीमित होते हैं। इसलिए यदि कोई राष्ट्र या उद्योग अपने उत्पादन में मितव्ययिता के साथ-साथ वृद्धि करना चाहता है तो उसके लिए उत्पादन के सभी तत्वों का उचित संगठन एक प्रबन्ध करना आवश्यक है।

औद्योगिक आकार और प्रबन्ध व्यवस्था

प्रबन्ध की व्यवस्था उत्पादन के हर एक आकार में उचित रूप से की जानी चाहिए और उसकी वृद्धि बढ़ते हुए आकार के साथ-साथ सुविधा के साथ की जा सकती है। भारतीय उद्योगों में आज सबसे बड़ी कमी उचित प्रबन्ध व्यवस्था की है। कभी-कभी उत्पादन की कमी का दोष मजदूरों के माथे मढ़ा जाता है पर वस्तु स्थिति का सही अध्ययन करने से पता चलेगा कि इस कमी का अधिक उत्तरदायित्व अकुशल प्रबन्ध व्यवस्था पर ही है। हमारे देश में इस प्रकार के उद्योग भी हैं जहाँ मजदूरों को २५०) प्रति माह तक मिलता है और उद्योग लाभ में निरंतर वृद्धि करने पर भी वस्तुओं के मूल्यों में सुविधा के साथ कमी कर पाया है किन्तु इसके विपरीत जहाँ मजदूरों को केवल ६०) प्रति माह मिलता है उद्योग वस्तुओं के मूल्यों को निरंतर बढ़ाते रहने पर भी मजदूरी तक नहीं चुका पा रहे हैं। यह भी निर्विवाद सत्य है कि मजदूरों की स्थिति और कुशलता सर्वत्र एक सी है वे एक से वातावरण में रहते हैं और उनकी एक सी परिस्थितियाँ हैं। यह दूसरी बात हुई कि राजनीतिज्ञों के चक्र में श्रम-संस्थाओं को कुचक्र में डाला जाता रहा है किन्तु सत्यता यह है कि उसका अधिकांश दोष प्रबन्ध पर है। उद्योगों का प्रबन्ध अत्यधिक शिथिल और अकुशल है। डा० टेलर ने अपने 'औद्योगिक प्रबन्ध' नामक निबन्ध में आज से ५० वर्ष पहले कहा था कि उत्पादन की वृद्धि के लिये आवश्यक है कि प्रबन्ध कुशल हो और उसमें योग्यता वाले व्यक्ति ही रहें इससे पूँजी श्रम तथा समाज सब को ही लाभ होगा। हम इस सिद्धान्त को अभी तक कार्य रूप नहीं दे सके हैं। इस शताब्दि के प्रारम्भ से यूरोप तथा अमेरिका ने प्रबन्ध की दिशा में अनेक महत्वपूर्ण सुधार कर दिये गये हैं और आज वहाँ पर व्यापार एवं उद्योग प्रबन्ध अनुकरणीय माना जाने लगा है। क्या इस प्रकार के प्रयोग भारतवर्ष में सम्भव नहीं हो सकते? क्या हमारे व्यापारी एवं औद्योगिक वर्ग को प्रशिक्षित करने के लिये योजना नहीं बनाई जा सकती।

आज देश में सबसे बड़ी बात तो यह है कि उद्योगपति अभी तक शिक्षा के महत्व को नहीं समझ रहे हैं। वे समझते हैं कि जैसे उनके बाप-दादाओं ने कमाया था, इस तान्त्रिक एवं जटिल युग में वे भी सेठ बन सकेंगे, पर यह एक बहुत बड़ी भूल होगी। उन्हें चाहिए कि आधुनिक नवीनतम उपकरणों का प्रयोग करें, श्रमिकों को

उनके लिए प्रशिक्षित करें, कार्य और समय पर नियन्त्रण रखें, नवीन प्रयोग का सहारा लेकर अत्यन्त उदार भाव से श्रमिकों की थकान एवं मशीनों की गतिशीलता का अध्ययन करके अनुकूल योजना बनायें। यह योजना श्रम संगठनों के द्वारा भी स्वीकृत हो जानी चाहिए। सरकार भी इसमें बड़ा योग दे सकती है। उसको चाहिए कि सरकारी क्षेत्र के उद्योगों में पूर्ण रूप से वैज्ञानिक प्रबन्ध को अपनाये और अन्य नियन्त्रित उद्योगों में उसके लागू कराने का प्रयत्न करे। इस प्रकार के प्रयत्नों से ही देश की औद्योगिक दशा सुधर सकती है।

विवेचन योग्य प्रश्न

1. What do you understand by scientific management? Define it and give its scope.
2. Give a historical note on scientific management. What are its chief elements? Explain.
3. What are the essential aims and assumptions of scientific *management according to Dr. F. W. Taylor?*
4. Write a note on 'Time', 'Motion' and 'Fatigue' study.
5. "The principle object of scientific management should be to secure the maximum prosperity for the employer, coupled with the maximum property for each employee." Discuss the statement.
6. "The principle of scientific management must rest upon justice *to both sides and it is not scientific management until both sides* are satisfied and happy." Comment.
7. Scientific management has been condemned both by the employers and employees. How far their criticism is justified? Give your views.
8. "Inspite of severe criticism, scientific management will exist so long the industry exists." What is the justification for the above statement.
9. Do you feel any need for modernisation in Indian industrial management? Give the points that you will keep in mind while formulating a plan for such a modernisation.

मजदूरी का वितरण

(Distribution of Wages)

इसको इतना होना चाहिये कि श्रमिक अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और "वह जीने के लिए काम करे न कि काम के लिए जीये।"

(३) *योग्यता के अनुसार मजदूरी दी जानी चाहिए।* इससे योग्य श्रमिक को अधिक काम करने की प्रेरणा मिलेगी तथा अन्य लोग अधिक धन प्राप्ति के लिए अधिक परिश्रम कर सकेंगे। समय समय पर श्रमिकों का उत्साह बढाने के लिये तथा उनमे यह भावना भरने के लिए कि यह अपना कार्य है, अतिरिक्त मजदूरी दी जानी ही आवश्यक है।

(४) **मजदूरी शाश्वत (Permanent) होनी चाहिए।** इससे मजदूरों के जीवन मे सुरक्षा का अनुभव होगा और वे अपने कार्य मे दत्तचित्त होकर लग सकेंगे। यदि इसमे समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हो तो श्रमिक वर्ग मे विश्वास उत्पन्न नही किया जा सकता।

(५) **वेतन पद्धति (Wage System) साधारण होनी चाहिए।** यदि पद्धति सरल होगी तो श्रमिक उसको सरलता के साथ समझ सकेगा और उसको अपने वेतन की वृद्धि का निश्चित पता रहेगा। यदि पद्धति कठिन होगी तो श्रमिकों का उसमे सन्देह उत्पन्न हो सकता है, जिससे उनकी कुशलता पर विषम प्रभाव पडना स्वाभाविक है।

(६) **मजदूरी उद्योगपति की इच्छा पर आधारित नहीं होनी चाहिए;** अपितु श्रमिकों की कार्यशीलता, उद्योग के कार्य की प्रकृति, जीवन-स्तर आदि पर निर्भर रहनी चाहिए, जिससे मजदूरों को वास्तविक मजदूरी मिल सके।

(७) **मजदूरी औद्योगिक शान्ति (Industrial Peace) के लिये उपयुक्त होनी चाहिए।** यदि मजदूरी श्रमिकों की आवश्यकतानुसार उचित रूप से दी जायेगी तो श्रमिक और उद्योगपति मे बहुत सुन्दर सम्बन्ध रहेंगे और उद्योग मे प्रगति के लिए प्रशस्त मार्ग सम्भव हो सकेगा।

(८) **मजदूरी का क्रमिक विभाजन (Systematic Division) किया जाना चाहिए,** जिससे अलग-अलग प्रकार के कार्यों को करने वाले व्यक्तियों को कार्य के अनुसार वेतन दिया जा सके, श्रम का सही विभाजन सम्भव हो सके और उसमे उत्तरदायित्व की भावना जाग्रत हो सके।

(९) **मजदूरी अन्य उद्योगों के अनुरूप प्रतियोगात्मक (Competitive) होनी चाहिए।** इससे श्रमिकों को दूसरे उद्योगों मे भागने का चाव नही रहेगा और वे उद्योग मे ही टिके रहेंगे। उद्योग की प्रगति तथा श्रमिकों की संतुष्टि इसी मे है कि समान उद्योगों मे उनके वेतन एक दूसरे से कम न हों।

(१०) **लाभ विभाजन का उद्देश्य (Object of Profit Disbursement)**—मजदूरी देते समय उद्योगपति को यह सोचना चाहिए कि उसको उद्योग

में जो लाभ प्राप्त होना है वह श्रमिकों के ही कारण हो सकता है। इसलिए यदि उसको अधिक लाभ की इच्छा हो तो श्रमिकों को भी अधिक वेतन दिया जाना चाहिये।

श्रमिकों की श्रम पद्धति में उपयुक्त विशेषताएँ रहेंगी तो उनको जीवन में स्वामित्व का अनुभव होगा, और वे अपना तन-मन कार्य में लगा सकेंगे, जिसमें अच्छा और अधिक उत्पादन होना निश्चित है। अधिक उत्पादन होने पर उत्पादन-व्यय में आनुपातिक कमी आ जाती है और इस प्रकार उपभोक्ताओं को वस्तुएँ सस्ते दामों पर प्राप्त हो जाती है। अतः अच्छी वेतन प्रणाली से सभी वर्गों को लाभ पहुँच सकता है। कार्ल मार्क्स के प्रसिद्ध नारा "दुनिया के मजदूरो एक हो" का कारण यह था कि मजदूरों को पूँजीपतियों की ओर से पर्याप्त सुविधाएँ नहीं मिल सकी। पूँजीपतियों ने अपनी सशक्त अवस्था के कारण मजदूरों का पर्याप्त शोषण किया। किन्तु समय के साथ मजदूर वर्ग में जागृति हुई और उसने पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध आवाज उठाई। पुराने अर्थ-शास्त्रियों तथा विचारकों के सैद्धान्तिक 'इटोपिया' प्रायः समाप्त हो गये और पूँजीपतियों को श्रमिकों की महत्वपूर्ण अवस्था को मानने के लिये बाध्य होना पड़ा तथा परिश्रम, कुशलता एवं उत्पादन वृद्धि के अनुसार उनको वेतन देने की अनेक पद्धतियाँ बनानी पड़ीं। लगातार प्रयोग के कारण अनेक प्रकार की वेतन पद्धतियाँ बनीं। ये पद्धतियाँ अलग-अलग दशाओं में अनुकूल उतरती हैं, जिसमे उत्पादन, श्रमिक तथा उपभोक्ताओं को लाभ होता है।

मजदूरी दर पर प्रभाव
(Effect on Wage Rate)

मजदूरी को प्रभावित करने वाले कारण प्रायः माँग और प्रदाय होते हैं। इनके साथ सरकारी नियन्त्रण, उत्पादन स्थिति, क्षेत्रीय श्रमिक अवस्था, रहन-सहन का स्तर, श्रम संगठन आदि भी भृति निर्धारण में अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं। इनके अलावा किसी कार्य में उत्पादन तथा समय, व्यवस्था-नीति, श्रम विभाजन, विभिन्न कार्यों की महत्ता आदि भी मजदूरी की दरों को निश्चित करने में प्रभावशाली होते हैं। इन कारणों का अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग प्रभाव होता है।

मजदूरी निर्धारण में कभी-कभी कोई निश्चित समझौता नहीं किया जाता। उदाहरण के लिये, 'यू० पी० श्रम जाँच समिति' (१९४६ व १९४८) में अनेक क्षेत्रों की न्यूनतम मजदूरी की विवेचना करके साधारण श्रमिकों के लिये ५०) रु० तथा अत्यन्त कुशल श्रमिकों के लिये ७५) रु० प्रति माह देने की सिफारिश की है। किन्तु मद्रास में २६) रु०, बम्बई में ४५) रुपये, केन्द्रीय वितरण कमीशन में ३५) रुपये, ३०) रुपये १९५० तथा ३४) रुपये १९५५ के लिए निश्चित किये। १९४६ में

(१) जहाँ कार्य के परिणाम का निश्चित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता, इस पद्धति से वेतन देने मे सुविधा रहती है।

(२) मजदूर जितने समय तक कार्य करता है, उसका हिसाब आसानी से रखा जा सकता है।

(३) यदि कार्य समाप्त करने मे समय का महत्व अधिक हो तो यह रीति अत्यन्त लाभदायक होती है।

(४) श्रमिक को कार्य को शीघ्र समाप्त करने की शीघ्रता नहीं रहती और वह अपना कौशल दिखा सकता है।

(५) इससे श्रमिक को यह विश्वास रहता है कि उसको अचानक मुक्त नहीं किया जायेगा और न उसके किसी प्रकार से अस्थायी रूप से अयोग्य होने पर उसके वेतन में कमी आयेगी।

(६) वस्तु का उत्पादन एक निश्चित ढंग से किया जा सकेगा और उनके प्रभाव मे किसी प्रकार की न्यूनता नही आयेगी।

(७) मशीनो की अनावश्यक घिसाई रुक जायेगी और उनका जीवन-काल भी बढ सकेगा।

(८) इसके द्वारा श्रमिकों पर विशेष नियन्त्रण की आवश्यकता नही रहेगी।

(९) श्रमिक को कम्पनी की शक्ति के अनुसार मजदूरी दी जाती है, अतः उसकी आजीविका बहुत समय तक के लिये सुरक्षित रहती है।

(१०) यह पद्धति उन कार्यों के लिये अत्यन्त उपयोगी है, जिनमे श्रमिक को अलग-अलग प्रकार के कार्यों को करना पड़ता है और इसके श्रम का सही मूल्यांकन नही किया जा सकता।

(११) सरकार को भी इसमे निश्चित आदेश देने मे सुविधा रहती है।

बुराइयाँ (Disadvantages)—(१) श्रमिको की योग्यता मे कोई अन्तर नहीं किया जा सकता और अकुशल श्रमिको को अपेक्षाकृत अधिक वेतन मिलता है।

(२) श्रमिको को अधिक कार्य करने का उत्साह समाप्त हो जाता है, जिससे उत्पादन मे कमी आ जाना स्वाभाविक है।

(३) श्रमिको से कार्य लेने मे प्रबन्ध-व्यवस्था को बढाना पडता है, जिससे प्रबन्ध पर अधिक व्यय हो जाता है।

(४) कुशल श्रमिको की सेवाएँ सम्भव नहीं होती और उनमे नैतिक गिरावट आ जाती है।

(५) उद्योगपति को आनुपातिक अधिक वेतन पडता है; उसको उसके अनुसार लाभ नही होता।

(६) उद्योगपति यह निश्चित नहीं कर पाता कि श्रमिकों की उत्पादन-शक्ति

बया है, क्योंकि उसमें श्रमिकों के व्यक्तिगत उत्पादन का कोई हिसाब नहीं रखा जाता।

(७) जब किसी निश्चित काम के बाद श्रमिक को हटाया जाना है तो श्रमिक उस काम को अधिक से अधिक बढ़ाना चाहता है, जिससे धन, समय तथा श्रम का व्यर्थ दुरुपयोग होता है।

(८) उत्पादन व्यय में मजदूरी की स्थिति को अच्छी तरह नहीं आंका जा सकता।

(९) इन सब बुराइयों का फल यह होता है कि विभिन्न कुशलताओं के श्रमिक आपस में मिल जाते हैं। कुशल श्रमिकों के पास अधिक काम न होने के कारण वे उद्योगपति के विरुद्ध सोचते हैं तथा उसकी बुराइयाँ उनके सम्मुख शीघ्र आ जाती हैं। इससे औद्योगिक शक्ति को बहुत बड़ा खतरा पहुँचता है।

२ भागिक मजदूरी

(Piece Rate System)

इसके अनुसार मजदूरी काम की मात्रा के अनुसार निश्चित की जाती है और उसके समय का ध्यान नहीं रखा जाता है। इसमें दो प्रकार की पद्धतियाँ अपनाई जाती हैं। (१) वृद्धिकर भागिक दर—(Increasing Piece Rate), तथा (२) ह्रासित भागिक दर (Decreasing Piece Rate)। पहले प्रकार में श्रमिक ज्यों-ज्यों अपने उत्पादन की मात्रा बढ़ाता है उसके ही अनुसार उसकी मजदूरी भी बढ़ती जाती है, किन्तु श्रमिक की कार्यशक्ति की एक सीमा होती है जिसके बाद वह काम नहीं कर सकता है। फलस्वरूप उसकी मजदूरी प्रायः समान ही रहती है। उनके लिए जो जीवन में काफी उत्साही होते हैं यह पद्धति काफी लाभदायक है और इसी प्रकार उत्पादकों को भी वस्तु की अधिक मांग के अवसर पर यह लाभप्रद हो सकती है, किन्तु इसके द्वारा मजदूरी का व्यय अधिक बढ़ जाता है। दूसरी पद्धति के अनुसार जैसे-जैसे काम बढ़ता है मजदूरी की राशि को क्रमशः प्रति इकाई घटा दिया जाता है। इससे उद्योगपति को पर्याप्त लाभ हो जाता है, क्योंकि उसको उत्पादन-व्यय कम करना पड़ता है। श्रमिकों को इसमें प्रायः नुकसान ही होता है, क्योंकि उनके काम के अनुसार उनको वेतन नहीं मिलता। जहाँ तक दर के निश्चित करने का प्रश्न है इसके लिए कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है और यह अनुभव के द्वारा ही तय किया जा सकता है। इसके तय करने में पहले औसत मजदूरी निकाली जाती है और कुशल तथा अकुशल श्रमिकों को उनकी उत्पादन शक्ति के अनुसार वेतन दिया जाता है।

लाभ

(Advantages)

(१) योग्यता के अनुसार मजदूरी (According to Merit)—श्रमिकों को

योग्यता के अनुसार मजदूरी दी जाती है, जिससे कि सभी श्रमिकों में अपनी योग्यता बढ़ाने का चाव उत्पन्न हो जाता है।

(२) **उत्पादन में वृद्धि** (Increase in Production)—योग्यता बढ़ाने के साथ-साथ उत्पादन-पद्धति में कुशलता आ जाती है और उत्पादन का परिमाण बढ़ जाता है।

(३) **नियन्त्रण आवश्यक नहीं** (Control Not Necessary)—श्रमिकों को अधिक नियन्त्रण में रखने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि वे स्वत. ही उत्पादन वृद्धि करना चाहते हैं।

(४) **मशीनों का सदुपयोग** (Good Use of Machines)—श्रमिक मशीन तथा औजारों का सदुपयोग नहीं करते, क्योंकि उनके खराब होने से उनके अधिक उत्पादन में असुविधा हो जाती है, जिससे उनके वेतन में भी कमी आ सकती है।

(५) **उत्पादन-व्यय में कमी** (Reduction in Production Expenditure)—उत्पादन बढ़ जाने से उत्पादन-व्यय में कमी आ जाती है, जिससे उत्पादन को लाभ होता है।

(६) **प्रबन्ध-व्यय में कमी** (Reduction in Management Expenditure)—उत्पादक को प्रबन्ध-व्यवस्था में अधिक व्यय नहीं करना पड़ता और उस व्यय को वह दूसरे उन्नत कार्यों में लगा सकता है।

(७) **श्रमिकों में उत्साह** (Encouragement to Labourers)—इसके द्वारा श्रमिकों में कार्य करने का अधिक उत्साह बढ़ता है।

(८) **उपभोक्ताओं को लाभ** (Advantages to Consumers)—उत्पादन-व्यय में कमी होने के कारण उपभोक्ताओं को भी अच्छी वस्तु सस्ते दामों पर दी जा सकती है।

हानियाँ
(Disadvantages)

अधिक मजदूरी पर स्वामियों की ईर्ष्या तथा व्यय की इकाई में कमी—

(१) उद्योगपतियों द्वारा मजदूरी की दर में सुविधा से कमी की जा सकती है, जिससे मजदूरों को यद्यपि कुछ अधिक वेतन मिलता है, किन्तु आनुपातिक वेतन में उनको प्रायः हानि ही रहती है।

(२) यदि श्रमिकों को अधिक वेतन मिलता है तो उद्योगपति यह सोचने लगता है, कि उनको अनावश्यक वेतन दिया जा रहा है।

(३) उद्योगपति प्रायः बढ़ते हुए उत्पादन की इकाइयों के व्यय को धीरे-धीरे ह्रास करता है।

(४) वस्तु के गुण मे कमी—श्रमिकों को उत्पादन बढाने की लगी रहती है, जिससे वे वस्तु के गुणों की ओर विशेष ध्यान नहीं देते और वस्तु का प्रमाण (Standard) दिनों-दिन गिरता चला जाता है।

(५) हस्तक्षेप असहनीय है—श्रमिक प्रायः प्रबन्धक के हस्तक्षेप को सहन नहीं कर सकते।

(६) उन कामों के लिए जिनमे कल्पनात्मक बारीकियो की आवश्यकता है यह पद्धति विशेष हितकर नहीं होती।

(७) स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव—श्रमिक अधिक कमाने के उद्देश्य मे अटूट परिश्रम करते है, जिससे उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडता है।

(८) मशीनों तथा औजारो के अधिक प्रयोग में उनका जीवन-काल कम हो जाता है, क्योंकि श्रमिक केवल उत्पादन की ही वृद्धि मे लगा रहता है तथा औजारो की सुरक्षा की ओर ध्यान नहीं देता।

(९) जहाँ तक श्रम-संगठनों का प्रश्न है वह उसको कभी भी सहन नहीं कर सकते, क्योंकि इससे श्रमिको की एकता भंग हो जाती है और श्रमिक अधिक कमाने की चिन्ता में अपने साथियों का ध्यान नहीं रखते।

(१०) श्रमिको मे श्रेणियाँ बना देने मे उनमें एक मनोवैज्ञानिक अन्तर आ जाता है और वे अपने स्वार्थ के लिए अपने साथियों की माँगों की उपेक्षा कर सकते हैं।

(११) इस पद्धति के कारण श्रमिकों की आय मे आय मे निश्चितता नहीं रहती और प्रायः घटती-बढती रहती है, जिसका प्रायः उनके जीवन-स्तर पर विषम प्रभाव पड सकता है।

३. हेलसे प्रव्याजि योजना
(Halsev Premium Plan)

श्री एफ० ए० हेलसे की मजदूरी वितरण की पद्धति जो "प्रव्याजि" (बोनस) के नाम से भी पुकारी जाती है भागिक दर पद्धति (Piece Rate System) की बुराइयों को दूर करने के लिए बनाई गई। यह पद्धति समय तथा क्रिया अध्ययन के आधार पर बनाई गई है। भागिक पद्धति में जब उद्योगपति यह देखता था कि उत्पादन का बहुत बडा भाग श्रमिकों के पास चला जाता है तो वह मजदूरी में कटौती करने का प्रयत्न करता था, जिससे उद्योगपति तथा श्रमिको मे हमेशा संघर्ष बना रहता था, किन्तु हेलसे ने इस कठिनाई को दूर करके यह तय किया कि मजदूरों को एक निश्चित समय के लिए एक निश्चित मजदूरी तो मिलनी ही चाहिये और यदि वह निर्धारित कार्य से अधिक काम करता है तो उसको उसके लिए अधिक मजदूरी दी जानी चाहिये। यह मजदूरी बोनस के रूप में दी जायगी। इसके लिए उद्योगपति

निश्चित समय के लिए काम निर्धारित कर देगा और अधिक कमाने के लिए मजदूर को उतने समय में निश्चित काम से अधिक काम करना होगा। दूसरे शब्दों में उसको निर्धारित काम निर्धारित समय के पूर्व समाप्त कर देना होगा। इसमें जब तक निर्धारित काम पूरा नहीं किया जायगा, चाहे कोई कितना ही काम करे उसको कोई मान्यता नहीं दी जायगी। मान लिया निर्धारित समय १० घंटे है और उसमें २० इकाई काम पूरा करना है। यदि एक व्यक्ति १५ इकाई काम करता है और दूसरा १६ इकाई काम करता है तो भी दोनों को समान मजदूरी मिलेगी। काम का निर्धारण उद्योगपति अपने अनुभव के अनुसार निश्चित करता है और इसके लिए कोई वैज्ञानिक नियम नहीं है।

यदि कोई व्यक्ति निश्चित समय के पूर्व ही काम समाप्त कर देता है और शेष समय में अधिक काम करता है तो उसको हेलसे के अनुसार ५०% मजदूरी अधिक दी जायगी (श्री हेलसे ने अपने उदाहरण में इसको केवल १/३ ही रखा था।) समय 'निश्चित समय' तथा 'कार्यकाल' के गुणनखण्ड से निकाला जाता है और उसी के अनुसार मजदूर को बोनस दिया जाता है। इसका स्पष्टीकरण इस उदाहरण से हो जायगा।

हेलसे पद्धति के यहाँ पर दो उदाहरण दिये जाते हैं—शुद्ध तथा आधुनिक। मान लिया एक मजदूर को १० घन्टे में २० इकाई काम करना है और उसको ५० नये पैसे प्रति इकाई के हिसाब से १०) रु० मिलने हैं, यदि कोई मजदूर २० या उससे कम इकाइयों को पूरा करता है तो उसको १०) रु० ही मिलेंगे (न्यूनतम मजदूरी मिलेगी)। किन्तु जिस समय वह सम्पूर्ण इकाइयों को नियत समय से पहले कर देता है तो उसको अधिक राशि दी जायेगी। माना उसने वह सारा कार्य ८ घण्टे में पूरा कर दिया तो उसको मजदूरी इस प्रकार मिलेगी—

(१) शुद्ध हेलसे पद्धति—

८ घण्टे का वेतन ८) रु० + (२ घन्टे का १/३) ६६·७ न० पैसे

= ८ रु० ६६·७ न० पै० बोनस सहित

शेष २ घण्टे का = २६/३ रु० × २/८ = या ६/४ = १३/६ रु० = २ रु० १६ ७ न० पै०

∴ १० घण्टों का कुल वेतन = ८ रु० ६६·७ न०पै० + २ रु० १६·७ न० पै०

= १० रु० ८३ ४ न० पै०

(२) आधुनिक हेलसे पद्धति—

८ घण्टे का वेतन ८) + शेष २ घण्टों का ५०% १)

= ९) बोनस सहित

शेष २ घण्टे का वेतन ९ × २/८ = २·२५ रु०

∴ कुल १० घण्टे का वेतन ९ + २·२५ रु०

= ११·२५ रु०

इस प्रकार यदि मजदूर शेष समय में निर्धारित उत्पादन से अधिक पैदा करता है तो उसको समय की बचत के हिसाब से अधिक मजदूरी मिल जायगी और ज्यो-ज्यो वह अधिक समय बचाता जायेगा उसकी मजदूरी बढती जायगी। इसमें मजदूर अपने वेतन तथा मजदूरी का अनुमान सुगमता से लगा सकते है तथा उसमे कटौती का अवसर नहीं रहता। किन्तु इसमे निम्नलिखित कठिनाई आ जाती है—

काम की पूर्ति का समय	मजदूरी	बोनस	शेष घण्टो का वेतन	योग
१०	१०)	×	×	१०)
८	८)	१)	२·२५	११·२५)
६	६)	२)	५·३४	१३·३४)
४	४)	३)	१०·५०	१७·५०)
२	२)	४)	२४·००	३०)

इस प्रकार इसमें भागिक दर पद्धति के दोष ज्यो के त्यो रहते है और वेतन अलाभप्रद भी होता है।

४. रोवन की पद्धति

(Rowan System)

यह पद्धति हेल्से पद्धति का सुधार है। इसलिए इसको रोवन सुधार पद्धति (*Rowan Modification*) भी कहते है। इसके अनुसार श्रमिक को उस समय जिसमे उसने काम किया है साधारण दरों पर मजदूरी मिलती है और बचे हुए समय पर बोनस दिया जाता है। इसके अनुसार मजदूर अपने समय को बचा सकता है। इसके बचे हुए समय की मजदूरी उसी प्रतिशत से बढ़ेगी, जिससे कि कार्य मे कमी आई है। श्री रोवन के अनुसार बचाये हुए घण्टो की प्रव्याजि कुल प्रमाणित मजदूरी से अधिक नही हो सकती और इस प्रकार मजदूर चालाकी से आवश्यकता से अधिक नहीं कमा सकता। श्री रोवन ने इसके लिए इस प्रकार का फार्मूला दिया है।

$$\text{प्रव्याजि} = \text{काम का कुल समय} \times \text{मजदूरी की दर प्रति घण्टा} \times \frac{\text{प्रमाणित समय} - \text{किये हुए काम का समय}}{\text{प्रमाणित समय}}$$

$$\text{अथवा, प्रव्याजि} = \text{काम का कुल समय} \times \text{मजदूरी दर प्रति घण्टा} \times \frac{\text{बचा हुआ समय}}{\text{प्रमाणित समय}}$$

मान लिया उदाहरण पहले के ही अनुसार है और उसने अपना कार्य ८ घण्टे में ही समाप्त किया तो रोवन पद्धति के अनुसार उसको मजदूरी इस प्रकार मिलेगी—

८ घण्टे का वेतन ८) रुपया + बोनस ($८ \times १ \times \frac{२}{१०}$) = १·६० रु०

= ९·६० रु०

२ घण्टे का वेतन $\frac{९.६०}{८} \times \frac{२}{१}$ = २·४० रु०

∴ १० घण्टे का वेतन = १२ रु०

(अथवा हेलसे पद्धति से इसमे ७५ न० पै० अधिक मिले)

इसमें एक विशेषता यह है कि बचा हुआ समय प्रमाणित समय से कम होता है और बोनस भी किसी दशा मे प्रमाणित मजदूरी से अधिक नही बढ सकता। यह निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगा—

काम की पूर्ति का समय	मजदूरी प्रति घण्टा	बोनस	शेष समय का वेतन	योग
१०	१०)	×	×	१०)
८	८)	१·६०	२ ४०	१२)
६	६)	२·६०	५·६७	१३·२७)
४	४)	२·६०	९·९०	१६·५०)
२	२)	१·६०	१४ ४०	१८)

इस प्रकार यह पद्धति हेलसे की पद्धति से अधिक सुन्दर है और जहाँ तक काम का $\frac{३}{४}$ रहता है यह पद्धति लाभप्रद रहती है, किन्तु जैसे-जैसे वह बढता जाता है इसमे कठिनाई आरम्भ हो जाती है, क्योंकि जैसे-जैसे अधिक समय होता है मजदूर की औसत प्रव्याजि कम मिलती है।

मान लिया उसने काम ५ घन्टे मे समाप्त कर दिया तो उसको कुल मजदूरी इस प्रकार मिलेगी। $५ \times १ \times \frac{१०-५}{१०}$ = २·५०। इसलिए ५ घण्टे की कुल मजदूरी ७·५०) रुपया हुई। उसको १० घण्टे की मजदूरी इस हिसाब से १५ रुपया मिलेगी (अर्थात् $\frac{१५}{२} \times ५ \times ५ = \frac{१५}{५} + \frac{१५}{२}$) और इस प्रकार हम कह सकते है कि यह पद्धति श्रमिकों के अधिक हित मे नहीं है, क्योंकि श्रमिक को एक बढते हुए धन का एक निश्चित भाग ही मिलता है। इस प्रकार जैसे-जैसे समय अधिक बढता जाता है इस पद्धति से श्रमिक को नुकसान होता है।

५. शेष पद्धति

(Balance Method)

इस पद्धति मे भी सामयिक तथा भागिक पद्धति का सम्मिश्रण है। इसके अनुसार न्यूनतम साप्ताहिक दर निश्चित कर दी जाती है। और साथ-साथ मासिक दर भी निश्चित रहती है, जिससे मजदूर उत्साह के साथ कार्य कर सके। सामयिक दर से अधिक जो काम होता है उसको भागिक दर के अनुसार निकाला जाता है। यदि भागिक दर मजदूरी सामयिक दर मजदूरी से कम होती है तो उसका साप्ताहिक

मजदूरी दी जाती है किन्तु इसके साथ यह शर्त होती है कि मदूरों का शेष कार्य अगले सप्ताह में पूर्ण कर देना होगा। यह पद्धति सच्चाई तथा वैज्ञानिक आधार पर ही चल सकती है, क्योंकि उसको जो भागिक दर से अधिक मजदूरी दी जाती है वह उसके खाते में उसके नाम लिख दी जाती है और जैसे ही वह इतने कार्य को पूर्ण कर देता है वह बरोबर कर दी जाती है। इसीलिए इसको 'नाम पद्धति' (Debit Method) भी कहते हैं। *मान लिया मजदूर को १०) रुपये कमाने के लिए १० घन्टा प्रतिदिन काम करके २० इकाई माल का उत्पादन करना आवश्यक है। यदि किसी दिन २५ इकाई माल का उत्पादन कर देता है तो उसको १२॥) रुपया मिल* जायेगा, किन्तु जब वह १८ इकाई उत्पादन करता है तो उसको न्यूनतम वेतन १०) तो मिलेगा किन्तु १ रुपया जो भागिक दर के अनुसार उसको अधिक मिलता है उसके नाम कर दिया जायगा और वह अगले सप्ताह में अधिक उत्पादन करके नाम की रकम जमा करवा देगा। इससे मजदूर को काम को पूरा करने लिए समय मिल *जाता है और अधिक उत्पादन में उसको अधिक वेतन पाने का अधिकार भी रहता है।*

उपर्युक्त पद्धतियों को अवैज्ञानिक कहा जाता है क्योंकि इनके पीछे किसी प्रकार का निश्चयात्मक प्रयोग नहीं है जिससे मजदूरी का निर्धारण किया जा सके। *डा० टेलर की भेदकर पद्धति और उसके बाद की पद्धतियों को वैज्ञानिक माना जाता है। इनका वर्णन अगले पृष्ठों में किया गया है।*

६. भेदकर पद्धति
(Differential Piece Rate)

इस पद्धति के अनुसार जब श्रमिक प्रमाणित समय के अन्दर निश्चित कार्य को कर लेता है तो उसको निश्चित दर से मजदूरी दी जाती है, किन्तु जब वह *प्रमाणित समय के अन्दर कार्य समाप्त नहीं कर सकता तो उसकी दरें प्रमाणित दरों से कम रहेंगी और इस प्रकार उसको बहुत कम मजदूरी मिलेगी।* इस पद्धति को **'टेलर दर पद्धति'** भी कहते हैं। टेलर ने *अपने वैज्ञानिक प्रबन्ध में यह देखा कि* 'भागिक दर' प्रणाली प्रमाणित कार्य के लिए सन्तोषपूर्ण नहीं है, क्योंकि उससे उसको प्रायः कम वेतन मिलता है। उन्होंने यह प्रयोग करके देखा कि मजदूरों के कार्य में ३५% वृद्धि हुई तो उनके वेतन में केवल २५% वृद्धि ही हो सकी। इसलिए उन्होंने 'भेदकर पद्धति' को अपनाया। इसके अनुसार यदि मजदूर १० इकाई काम आठ आने फी इकाई के हिसाब से करे तो उसे ५ रुपए मिलेंगे। यदि वह ६ इकाई का उत्पादन प्रति इकाई ६ आने से करे तो उसे ३ रुपये और ६ आने मिलेंगे। एक इकाई अधिक कार्य करने से उसको १ रुपया १० आने का लाभ हो सकता है और इस प्रकार श्रमिकों को अधिक कमाने का उत्साह रहता है, उद्योगपति भी श्रमिकों के साथ अन्याय नहीं कर सकता। इसमें भागिक दर के समस्त लाभ मिल सकते हैं।

इस पद्धति को अब कहीं नहीं अपनाया जाता, क्योंकि आधुनिक औद्योगिक जटिलता में यह केवल अध्ययन का ही विषय रह गया है। डॉ० टेलर ने अपनी योजना में प्रव्याजि देने का प्रबन्ध भी किया है। उन्होंने कार्य के अनुसार दैनिक मजदूरी का ⅓ तक प्रव्याजि देने की योजना बनाई। जिससे योग्य व्यक्तियों को अधिक कार्य करने का प्रोत्साहन मिले। यह प्रव्याजि केवल उन्हीं व्यक्तियों को दी जा सकेगी जो अपने कार्य को निश्चित समय के अन्दर समाप्त कर दें और जो कार्य को समाप्त न कर सकें उनको कुछ भी नहीं मिलेगा। इसमें न्यूनतम मजदूरी का कोई विधान नहीं है। यदि कोई व्यक्ति पूरा काम कर देता है तो उसकी साधारण दर से अधिक दर होगी और काम पूरा न करने पर यह दर और भी घट जायगी। मान लिया पूरा काम करने की साधारण दर ≥) है। यदि कोई मजदूर नियत समय में उस काम को पूरा कर देता है तो प्रव्याजि मिलाकर उसको तीन आना प्रति इकाई मिल सकेगी। यदि वह काम पूरा न कर सके तो वह दर ~)॥ या ~) ही रह सकती है। मजदूरों ने टेलर की पद्धति को मान्यता नहीं दी।

नहीं दी जाती, अपितु जो काम किया जाता है उस काम के अनुसार कमायी गई मजदूरी का २५% से ५०% तक दिया जाता है। यह नीचे दिये गये उदाहरण में स्पष्ट हो जाता।

माना, दैनिक कार्य १० इकाई है तथा दर १) फी इकाई है, न्यूनतम दैनिक मजदूरी १० रु० है तो गैन्ट के अनुसार मजदूरी इस प्रकार मिलेगी—

(बोनस भागिक मजदूरी का ५०%)

कुल इकाई	भागिक मजदूरी	दैनिक दर	बोनस	कुल योग
८	८)	१०)	×	१०)
१०	१०)	१०)	५)	१५)
१२	१२)	१०)	६)	१८)
१४	१४)	१०)	७)	२१)
१६	१६)	१०)	८)	२४)

गैंट पद्धति के लाभ
(Advantages of Gantt System)

(१) न्यूनतम मजदूरी सुरक्षित—गैन्ट के अनुसार यदि कोई व्यक्ति निश्चित काम को निश्चित समय में कर देता है तो उसका निश्चित मजदूरी के अतिरिक्त अधिक लाभांश भी दिया जाता है। इससे मजदूरों में **कार्य करने का उत्साह रहता है,** क्योंकि उनका निश्चित वेतन सुरक्षित रहता है।

(२) कटौती समाप्त—*इससे उद्योगपतियों की भी बचत होती है* **और उनकी** कटौती करने की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है।

(३) मितव्ययिता—मजदूरी की दर क्रमिक न्यूनता के कारण उत्पादन व्यय में मितव्ययिता आ जाती है।

(४) श्रमिक तथा उद्योगपति में मेल—दोनों के आपस में मेल रहने के कारण इसको प्रगतिशील दर (Progressive Rate) भी कहते हैं, क्योंकि इसमें श्रमिकों का वेतन बढ़ता जाता है।

गैन्ट पद्धति की हानियाँ
(Disadvantages of Gantt System)

गैन्ट की पद्धति टेलर की पद्धति पर आधारित है और इसमें केवल न्यूनतम मजदूरी निश्चित की गई है, किन्तु इसमें एक बड़ी कठिनाई यह होती है कि यदि **मजदूर देखता है कि वह निश्चित समय में काम को समाप्त नहीं कर सकता तो वह**

अपने काम की गति कम कर देता है, क्योंकि वह जानता है कि न्यूनतम मजदूरी तो सुरक्षित है ही। दूसरी कठिनाई यह है कि लम्बी अवधि में कभी-कभी मजदूर निर्धारित कार्य से कम काम करता है और उसको मजदूरी अधिक मिल जाती है। इन कारणों का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि गैन्ट की पद्धति भी दोष से परे नहीं है। इन बुराइयों को इमर्सन ने दूर करने का प्रयत्न किया है।

६. इमर्सन योग्यता पद्धति
(Emerson Efficiency Plan)

श्री इमर्सन ने अपनी पद्धति का नाम 'योग्यता पद्धति' इसलिए रखा कि वे मजदूरों की मुस्ती को कम करना चाहते थे। उन्होंने टेलर तथा गैन्ट की रीति में केवल यह अन्तर पाया कि उनमें मजदूरों को प्रेरणा दिलाने के लिए कोई योजना नहीं थी। इसलिए उन्होंने यह तय किया कि यदि कोई मजदूर $\frac{2}{3}$ काम को समाप्त कर देता है तो उसको प्रव्याजि दी जानी चाहिये और वह तब तक बढ़ती रहनी चाहिए जब तक उसकी योग्यता १००% नहीं हो जाय। इस प्रकार उसमें 'समय' तथा 'भागिक दर' के अनुसार मजदूरी निश्चित की जाती है और मजदूरों को उनकी योग्यता के अनुसार मजदूरी दी जा सकती है।

श्री इमर्सन ने प्रव्याजि का हिसाब प्रति इकाई के उत्पादन पर न लगाकर मासिक आधार पर लगाया, जिससे गैंट की पद्धति का दोष समाप्त हो गया और मजदूर प्रव्याजि कमाने के लिये सतत प्रयत्न करने लगा। मान लिया वह कुछ दिन पूरा काम नहीं कर सका। शेष दिनों में अपने काम की मात्रा को बढ़ाकर वह अपनी कमी को बहुत बड़ी सीमा तक पूरा कर सकता है। इस प्रकार उसने गैंट पद्धति तथा हेलसे पद्धति का मिलान करके काफी सरलता प्राप्त की। इसके अनुसार जैसे-जैसे कार्य-कुशलता बढ़ती रहती है सामयिक दरों में भी परिवर्तन कर दिया जाता है। निश्चित किये हुए समय तथा मजदूर द्वारा लिए गए कुल समय का अनुपात आसानी से निकाला जाता है और उस अनुपात के अनुसार ही बोनस दिया जाता है। प्रमाणित दरें बीमा बोनस की हो दी जाती हैं और उसके बाद धीरे-धीरे बोनस बढ़ाया जाता है। बोनस काम के अनुसार बढ़ता है। यदि कोई व्यक्ति निश्चित काम को निश्चित समय के अन्दर करता है तो उसको बोनस का १००% मिलता है। यदि वह $\frac{3}{4}$ काम कर सकता है तो बोनस घट जाता है और उसको ७५% या उससे कम मिलता है। किन्तु जब वह काम को निश्चित समय से बहुत पहले ही समाप्त कर देता है तो उसका बोनस १००% से अधिक हो जाता है। यह पद्धति तब तक ही उपयोगी है जब तक मजदूर वैज्ञानिक प्रबन्ध का अभ्यस्त न हो। इसके पश्चात् टेलर तथा गैन्ट पद्धति ही उपयुक्त है।

१० क्रमिक दर
(Sliding Scale)

इस पद्धति के अनुसार श्रमिको की मजदूरी वस्तु के मूल्य की घटा-बढी के अनुसार निर्धारित की जाती है। यदि वस्तु का विक्रय मूल्य बढता है तो श्रमिको की मजदूरी बढ़ जाती है और यदि घट जाता है तो घट जाती है। इस प्रकार व्यापार के उत्थान-पतन मे उद्योगपति तथा श्रमिक समान रूप मे हिस्सा लेते है, किन्तु उसमे श्रमिको के लिये एक निश्चित सीमा होती है और उनकी मजदूरी उसके नीचे नहीं लगाई जा सकती।

क्रमिक दर से लाभ और हानियाँ
(Advantages and Disadvantages of Sliding Scale)

क्रमिक दर से निम्नलिखित लाभ हैं—

(१) समान अनुपात—इसमे लाभ-विभाजन आनुपातिक रूप मे होना है, जिससे उद्योगपति तथा श्रमिकों को समान अनुपात मे लाभ तथा हानि होती है। इसलिए दोनों उसके उत्थान-पतन मे सहायक रहते है।

(२) औद्योगिक शान्ति—इसमे श्रमिक तथा उद्योगपतियों मे मजदूरी के विषय मे झगडा नही होता, क्योंकि दोनों ही उद्योग में अपने को साझेदार समझते है।

(२) कार्य सुरक्षा—श्रमिको के कार्यों मे सुरक्षा तथा निश्चिन्तता आ जाती है और वे निश्चिन्त होकर अपना कार्य कर सकते है।

(४) व्यापार की पूर्ण जानकारी—श्रमिक को अपने अकेक्षको के द्वारा व्यापार की समस्त जानकारी प्राप्त करने का अधिकार रहता है और इस प्रकार समय-समय पर वह व्यापार मे होने वाले चढाव तथा उतारों को सुविधा से जान सकता है और उसके अनुरूप कार्य मे रत रह सकता है।

किन्तु इस पद्धति मे अनेक बुराइयाँ भी है, जिनका वर्णन नीचे किया जाता है—

(१) अनिश्चित जीवन-स्तर—इससे आय का ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इसलिये मजदूर के जीवन-स्तर मे किसी प्रकार की निश्चिन्तता नही लाई जा सकती।

(२) अनिश्चित लाभ—व्यापार का लाभ केवल उत्पादन पर ही निश्चित नहीं किया जा सकता। कभी-कभी व्यापार का उत्पादन मूल्य तो बढ जाता है, किन्तु उस ही अनुपात मे लाभ नहीं बढता। कभी इसके विपरीत मूल्य कम हो जाने पर भी लाभ बढ सकता है। इस प्रकार श्रमिक मूल्यों की तुलना करके किसी नतीजे पर नहीं पहुँच सकता।

(३) बिना दोष का बोझ—मूल्य की घटा-बढी श्रमिक की उत्पादन शक्ति

की अपेक्षा वस्तु की बाजार मे मांग तथा प्रदाय पर निर्भर करती है। जब मूल्य गिरता है तो श्रमिक के दोषी के न होने पर भी उसको बोझ वहन करना पड़ता है।

(४) मूल्य के गिरने पर मजदूरों को हानि—मन्दी के समय उद्योगपति अपने माल को सुविधा के साथ हानि का हिस्सा मजदूरो पर डाल करके बेच सकता है, और मजदूरो को बिना किसी दोष के कभी-कभी उद्योगपति की परिकल्पना का शिकार होना पडता है।

(५) श्रमिकों का शोषण—उपभोक्ताओ की दृष्टि मे भी इसके अनुसार शोषण बढ जाता है।

क्रमिक दर पद्धति का उद्देश्य पहले श्रमिको को उद्योग की उन्नति में ही योग देना था, किन्तु बाद को इसका उद्देश्य मजदूरी को जीवन-यापन के अनुकूल रखना था। इसमें पहले वस्तु के विक्रय मूल्यो का आधार निश्चित किया जाता है और फिर उसके अनुसार मजदूरो को समय-समय पर मूल्य के विषय मे सूचित कर दिया जाता है और उसके ही अनुसार मजदूरी का दर निश्चित किया जाता है, किन्तु व्यवहार मे देखा गया है कि इस प्रकार मजदूरी का निश्चय करना प्राय: बहुत कठिन हो जाता है।

यह पद्धति उन उद्योगों में लाभकर हो सकती है जिनका सम्बन्ध अन्य उद्योगो से होता है, जैसे, मूल उद्योग (Key Industries) जिनके द्वारा अन्य उद्योगो को सहायता मिलती है, किन्तु स्वतन्त्र उद्योगो मे वह कभी भी लाभदायक नही होती, क्योंकि उनका अन्य उद्योगो पर कोई प्रभाव नही पड़ता और इस प्रकार मजदूरी मे विषमता आ जाती है।

११ सामूहिक मजदूरी पद्धति
(Collective Wage System)

यह पद्धति उन कार्यो मे लागू की जाती है जहां पर कार्य कितने ही व्यक्तियों द्वारा सामूहिक रूप से किया जाता है। इसमें सामूहिक भागिक तथा सामूहिक उन्नतिशील प्रमाण निश्चित कार्य कर दिये जाते हैं। प्रमाण व्यक्तियो की सख्या अथवा सप्ताह के घण्टो पर आधारित होता है। श्रमिको के कार्य के घन्टो से श्रमिको की मजदूरी मे भी आनुपातिक घटा-बढी की जाती है और इस प्रकार काम करने पर उन्हें बोनस नही मिलता और बढने पर बोनस मिलता है। इसके द्वारा उत्पादन मे वृद्धि करने का प्रयत्न किया जाता है। सामूहिक मजदूरी पद्धति में अनेक पद्धतियाँ अपनाई गई हैं, जिनमे से यहाँ पर केवल तीन का वर्णन किया जायगा—

(१) प्रिस्टमैन बोनस पद्धति (Pristman Bonus System)—इसमे केवल श्रम के उत्पादन के अनुसार निर्धारित अनुपात से अधिक उत्पादन निकाल दिया जाता

है और उसको व्यक्तियो मे बाँट दिया जाता है। यदि यह उत्पादन निर्धारित सीमा से अधिक होता है तो उसका आनुपातिक प्रतिशत निकाल दिया जाता है। ध्यान रहे इस अनुपात को निकालते समय श्रमिक के व्यक्तिगत वेतन का ध्यान नहीं रखा जाता और यह सामूहिक रूप से ही लगाया जाता है। कभी कभी इस पद्धति के अनुसार श्रमिकों को १००% अधिक मजदूरी तक मिल जाती है।

(२) **अतिरिक्त भागिक कार्य पद्धति** (Overhead Piece Work System)—इसके अनुसार कुछ मजदूरो को अतिरिक्त व्यय के अनुसार अधिक मजदूरी मिलती है, अर्थात उनका बोनस तब ही बढ़ता है जब अतिरिक्त व्यय मे अधिकता हो। इसके लिए उत्पादन की मात्रा निश्चित कर दी जाती है और जैसे ही उत्पादन उस सीमा से आगे बढ़ता है, श्रमिकों को बढ़ते हुए अनुपात के अनुसार अधिक वेतन दिया जाता है। इससे मजदूरी मे विषमता बनी रहती है और वे लोग आपस मे मेल से रहते है।

(३) **सघ-प्रबन्ध उत्पादन पद्धति** (Union Management Production System)—इस पद्धति को अमेरिका मे श्री जोसेफ स्केनपोन ने प्रारम्भ किया। उनका उद्देश्य केवल सामूहिक वेतन वृद्धि ही नहीं था, अपितु श्रमिको तथा उद्योग पतियो मे सुन्दर सम्बन्ध स्थापित करना भी था। इसके अनुसार श्रमिको का स्थान भी उतना ही उत्पादनशील हो जाता है जितना प्रबन्ध का और अपने बचाये हुए समय मे वे अधिक-से-अधिक लाभ कमा सकते है। किसी भी महीने मे वे जितना अधिक समय बचायेंगे उसके अनुसार उनको काम मिलेगा और उसका कोई भी भाग प्रबन्धकर्ताओं को नही मिल सकेगा। उसको उत्पादन के उसी भाग से काम मिलेगा जिससे उत्पादन व्यय मे वृद्धि नही होती हो। इसमे कुशलता लाने के लिए तथा समय को बचाने के लिए श्रमिक अपनी सलाह दे सकते है और उनकी राय का पूरा स्वागत किया जाता है। अनुभव से देखा गया है कि इस प्रकार के सुझाव श्रमिको की ओर से कम ही आते है, क्योंकि उनको इसमे अपनी मजदूरी को दरो मे कटौती का भय रहता है और अकुशल श्रमिको के साथ अन्तर हो जाने का भी भय रहता है। फिर भी यह पद्धति अन्य से इस दशा मे उत्तम है कि इसके द्वारा लाभ समस्त उद्योगों को मिलता है। उद्योग के प्रत्येक अग मे कुशलता लाने के लिए तथा बचत करने के लिए श्रमिको को पूर्ण रूप से बोलने तथा निर्णय देने का अधिकार रहता है।

१२ न्यूनतम मजदूरी
(Minimum Wages)

पोप लुई तेरहवें के अनुसार 'न्यूनतम मजदूरी वह मजदूरी है जो आत्म-रक्षा सम्भव कर सके'। अर्थात् इसके द्वारा उन सब चीजो को पाने का अधिकार मिलता

है कि भारतवर्ष में समय-समय पर न्यूनतम वेतन के लिए अनेक प्रकार की सिफारिशें की गई हैं। जस्टिस डौगिन्स ने इस मजदूरी की विवेचना करते हुए लिखा है कि सभ्य समाज में रहने के लिए न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साधारण मजदूरी दी जानी आवश्यक है।

आधुनिक सभ्यता के ऊपर यह उत्तरदायित्व है कि मनुष्य को पशुवत् जीवन से मुक्त करके मानवीय जीवन के स्तर पर ले आये। वह सरकार जो श्रमिकों की स्थिति को नहीं सुधारती उसको कोई भी योग्य सरकार नहीं कह सकता और उसको शासन करने का कोई अधिकार नहीं रहना चाहिये।

१३ जीवन-यापन मजदूरी
(Living Wages)

इसके अनुसार **मजदूरी को जीवन-यापन अनुक्रमणिका के अनुसार** ही उनको मजदूरी का हिसाब तय किया जाता है। यह रीति श्रमिकों को उस समय बचाती है जब मुद्रा में स्फीति रहे और उनकी क्रयशक्ति घट जाय। इसके द्वारा मजदूरी में भी उतनी ही वृद्धि हो जायगी, जितनी मुद्रा में स्फीति हो गई हो, जिससे मजदूर अपने जीवन-स्तर को भी उसी प्रकार बना रखे, जिस प्रकार पहले था। इसका दूसरे शब्दों में यह अर्थ हुआ कि इस पद्धति के द्वारा श्रमिकों के वास्तविक वेतन पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता और हर स्थिति में उनको आवश्यक वेतन मिलता रहता है।

लाभ (Advantages)—(१) मजदूरी काम के अनुसार नहीं, वरन् वस्तु के भावों के अनुसार निश्चित की जाती है। (२) मजदूरों को बाजार की तेजी-मन्दी की चिन्ता नहीं रहती, क्योंकि उसके ही अनुसार उनके वेतन में घटा-बढ़ी होती है। (३) श्रमिकों को संगठन के विरुद्ध किसी प्रकार का असन्तोष नहीं रहता। (४) उद्योगपति को भी सन्तुष्ट कार्यकर्ता मिलते है, जिससे उसके उत्पादन में कभी भी असुविधा नहीं होती। (५) बढ़ते हुए मूल्यों के कारण जो लाभ होता है, उसका उचित विभाजन किया जा सकता है।

हानियाँ (Disadvantages)—(१) श्रमिकों की आवश्यकता के अनुसार तत्काल ही मजदूरी में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। (२) मजदूरों की सही जीवन-यापन अनुक्रमणिका (Cost of Living Index) भी आसानी से प्राप्त नहीं होती, जिससे उनके वेतन की घटा-बढ़ी का हिसाब सही नहीं रखा जा सकता। (३) मूल्य के अनुसार एकाएक वेतन में घटा-बढ़ी करना बहुत कठिन होता है। (४) इस प्रकार की क्रिया से मजदूर अपनी अवस्था का अध्ययन नहीं कर सकता, क्योंकि जब मजदूरी में वृद्धि हो तो श्रमिक प्रसन्न होगा, किन्तु मजदूरी में कमी उसको कभी सहन नहीं होगी।

यह पद्धति भारतवर्ष मे विशेष उपयोगी नहीं है, क्योंकि सर्वप्रथम हमारे देश मे अभी तक श्रमिक अनुक्रमणिका का यथेष्ट प्रकाशन नहीं होता। अब भारत सरकार का श्रम मत्रणालय इस ओर सक्रिय कदम उठा रहा है और अन्य श्रम सस्थायें भी इस ओर सफल कदम उठा रही है। यद्यपि मॅहगाई मे इस प्रकार की व्यवस्था को आसानी से अपनाया गया है, किन्तु मजदूरी की घटा-बढी मजदूरों को सहन नहीं हो सकती, जिससे श्रमिक तथा उद्योगपति मे असन्तोष बढने की सम्भावना रहेगी। इसीलिये भारतवर्ष मे इसको विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला है।

१४. अच्छी मजदूरी
(Fair Wages)

न्यूनतम मजदूरी से कुछ अधि[illegible] मजदूरी अच्छी मजदूरी कही जाती है। अर्थात् परिभाषा के रूप में, **अच्छी मज[illegible] मजदूरी है जो श्रमिकों की सामान्य आवश्यकताओं के साथ कुछ अन्य [illegible]वश्यकताओ की पूर्ति भी कर सके।** *भारतीय श्रम सघ काग्रेस के अनुसार, [illegible] इस [illegible]जदूरी जीवित रहने की मजदूरी से एक* अगला कदम है, जोकि हमको सम्यन[illegible] [illegible] ले जाता है। यह मजदूरी प्रायः श्रमिक की उत्पादन-शक्ति, देश की अर्थ-[illegible]स्था आदि पर निर्भर रहती है। भारत सरकार का ध्यान सन् १९४७ मे इस ओर आकर्षित हुआ और उसके लिये 'अच्छी मजदूरी जाँच समिति' की नियुक्ति की गई। समिति के सुझावों के आधार पर सन् १९५० में अच्छी मजदूरी बिल (Fair Wages Bill) बनाया गया, किन्तु वह सन् १९५० मे समाप्त हो गया। उसके पुनः प्रभाव मे आने की सम्भावना है। बिल के **अनुसार *अच्छी मजदूरी न्यूनतम मजदूरी से कुछ अधिक मजदूरी है।*** सरकार का ध्यान इस ओर पूर्ण रूप मे है और यह आशा की जाती है कि इसके द्वारा देश की पूँजी तथा आर्थिक स्थिति पर किसी प्रकार का प्रभाव न पड कर श्रमिक की अवस्था अधिक बढ जायगी। कुछ लोगों का यह कहना है कि मजदूरी मे वृद्धि करने से उत्पादन-व्यय में वृद्धि हो जायगी। इसलिये मजदूरों को वास्तविक लाभ नहीं हो सकेगा। किन्तु भारतवर्ष का ही नहीं, अनेक देशों का अनुभव बताता है कि मजदूरी के बढ जाने से न तो उत्पादन-व्यय ही बढता है और न मजदूरों को वास्तविक हानि ही होती है। इसलिये उद्योगों को अपनी आर्थिक शान्ति, औद्योगिक क्षमता तथा उत्पादन की विशेषता के अनुसार मजदूरों के वेतन मे वृद्धि करनी चाहिये।

योजना आयोग के सुझाव
(Suggestions of Planning Commission)

योजना आयोग ने इस दिशा मे निम्नलिखित सुझाव दिये है—

(१) *जितनी भी मजदूरी दरों का समायोजन किया जाय वह देश के*

सामाजिक सिद्धान्तों के आधार पर किया जाय। श्रमिक को राष्ट्र की आय में अपना लाभांश लेने का पूरा अधिकार है।

(२) श्रमिकों की माँग की पूर्ति उस उद्योग में अलग-अलग मजदूरी दरों के अनुसार समायोजित की जानी चाहिये, किन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जीवित मजदूरी (Living Wages) दरें सबको प्राप्त होनी चाहिये।

(३) मजदूरी की दरों का प्रमाणीकरण यथासम्भव बहुत विस्तृत क्षेत्र में किया जाना चाहिये।

(४) दरें निर्धारित करने के लिये काम के स्तर का वैज्ञानिक अनुमान लगाया जाना चाहिये।

(५) न्यूनतम मजदूरी अधिनियम को [illegible] रूप से लागू करना चाहिये।

(६) लाभ-विभाजन पद्धति को [illegible]या जाना चाहिये, किन्तु स्फीति-काल में लाभांश मुद्रा में नहीं दिया जाना च[illegible]। सरकार, उद्योगपति तथा श्रमिकों के द्वारा एक "स्थाई मजदूरी नियन्त्रण बो[illegible] स्थापना की जानी चाहिये।

(७) श्रमिकों के लिये प्रॉविडेन्ट [illegible]ड की योजना लागू की जानी चाहिये।

आयोग का विश्वास है कि इन सुझावों को कार्यान्वित करने में श्रमिकों की मजदूरी की समस्या बहुत बड़ी सीमा तक हल हो जावेगी और देश में औद्योगिक शान्ति रह सकेगी, सरकार की औद्योगिक समाजवादी व्यवस्था तभी सम्भव हो सकती है जब मजदूरों को उचित वेतन मिले तथा उनको उद्योग के विकास में बोलने का अधिकार रहे। आयोग के सुझावों को बहुत बड़ी सीमा तक अपनाया गया है और आशा की जाती है कि उद्योगों के राष्ट्रीयकरण से इसको अपनाने में और भी अधिक सुविधा हो जायगी, हमारे देश में मजदूरी की स्थिति तथा प्रकृति द्वितीय विश्व युद्ध के बाद क्या रही है, इसका सूक्ष्म विवेचन आगे किया जायगा।

१५ फोर्ड पद्धति
(Ford System)

संसार-प्रसिद्ध मोटर उद्योगपति श्री फोर्ड ने श्रमिकों तथा प्रबन्धकर्ताओं को वेतन देने की एक साधारण किन्तु प्रभावशाली पद्धति निकाली है। इसकी संसार में 'फोर्ड पद्धति' के नाम से प्रसिद्धि हुई। इसके अनुसार समय तथा गति का अध्ययन करके प्रत्येक कार्य का एक निश्चित प्रमाप निकाल लिया जाता है और इस प्रमाप के अनुसार कार्यकर्त्ताओं का न्यूनतम दैनिक कार्य निश्चित किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति निश्चित कार्य को निश्चित समय में पूरा कर देता है तो उसको साधारण वेतन से ५० या ७५ प्रतिशत अधिक वेतन दिया जाता है, किन्तु जो लोग कार्य को निश्चित समय में पूर्ण नहीं कर सकते उनको न्यूनतम साधारण वेतन मिल जाता है और निश्चित समय में निर्धारित कार्य को करने में असमर्थ होने के कारण उनको

को उत्पादन की एक निश्चित राशि दी जाती है। किन्तु अब वस्तु की अपेक्षा श्रमिक को द्रव्य के रूप में ही लाभांश दिया जाता है। इस पद्धति के लक्षण (Requisites) निम्नलिखित हैं—

(१) लाभ के अनुपात को पहले ही निश्चित कर लिया जाता है।

(२) श्रमिकों को उसी लाभ में से धन दिया जाता है, जो कम्पनी के अंशधारियों में वितरित किया जाय, अर्थात् रेवेन्यू लाभ में से (न कि पूँजीगत लाभ में से)।

(३) लाभ मजदूरी के अलावा दिया जाता है।

(४) यह लाभ श्रमिक को ही दिया जाता है, प्रबन्धकर्त्ता वर्ग को नहीं।

(५) यह श्रमिकों तथा उद्योगपतियों में हुए किसी निश्चित समझौते के अनुसार ही दिया जाता है।

(६) इस लाभ-प्राप्ति का ज्ञान समस्त पाने वाले श्रमिकों को होता है।

इसके ही अनुसार लाभ का विभाजन सभव हो सकता है। कुछ लोग लाभ-विभाजन को मजदूरी का स्वरूप नही मानते, क्योंकि उनको यह लाभ उसी अवस्था में प्राप्त होता है, जब कम्पनी को लाभ हो। इसलिए यह एक असाधारण मजदूरी मानी जानी चाहिए। साधारण स्थिति में जब अधिक उत्पादन होता है और श्रमिक वेतन बढ़वाना चाहते है तो इस पद्धति के अनुसार उनमें आपस में किसी प्रकार की मलिनता आने का प्रश्न नहीं रहता। वे यह जानकार कि इससे उनके वेतन में वृद्धि होगी वे अधिक परिश्रम करते है तथा कम्पनी के प्रति स्वामिभक्ति का परिचय देते है। इसलिए यदि यह माना जाय कि यह मजदूरी का ही अंश है तो अनुचित नही होगा।

यह अवश्य है कि योजना से अधिक से अधिक व्यक्तियों को लाभ होना चाहिए। सामान्य मान्यता है कि कम से कम संस्था के ⅔ मजदूरों को तो लाभ होना ही चाहिये।

एक बात और ध्यान में रखने की है कि इसको अब उपहार के रूप में नहीं माना जाता और न माना ही जाना चाहिये। मेक्सिको, पेलिस्टाइन, न्यूजीलेन्ड आदि देशों में इसको आवश्यक माना जा चुका है और अन्य प्रगतिशील देशों में भी इसको बराबर प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

लाभ
(Advantages)

(१) **उत्साह एवं वफादारी**—इससे श्रमिकों में कार्य करने का एक उत्साह आ जाता है और वे उद्योग के प्रति स्वामिभक्त रहते है।

(२) **उत्पादन में वृद्धि**—श्रमिक मेहनत से कार्य करता है और उत्पादन को बढ़ाने में प्रयत्नशील रहता है।

(३) **औजारों का सदुपयोग**—उसको उद्योग में अपनत्व प्रतीत होता है और इसलिए उसको मशीनों तथा औजारों का वह भली प्रकार प्रयोग करता है।

(४) **योग्यता में वृद्धि**—उसकी आय में वृद्धि होने के कारण उसकी योग्यता में भी वृद्धि होती है।

(५) **परोक्ष स्वामित्व**—अतिरिक्त लाभ उसको केवल उसकी कुशलता के लिए ही नहीं मिलता अपितु उद्योग के प्रति उसका परोक्ष स्वामित्व दर्शाता है।

(६) **वफादारी**—उद्योगपति के दृष्टिकोण से यह लाभ श्रमिकों को इसलिये दिया जाता है कि वे वर्ष भर तक उद्योग के प्रति वफादार रहें।

(७) **कठिन परिश्रम**—क्योंकि श्रमिक यह जानता है कि लाभ होने की स्थिति में ही उसको लाभांश दिया जायगा, इसलिये वह कठिन परिश्रम करता है और इससे उद्योगपति को भी लाभ पहुँचता है।

(८) **अपव्यय की कमी**—इस लाभ को देकर उद्योगपति कितने ही प्रकार के अपव्यय से, जो श्रमिकों की उपेक्षा के कारण होते हैं, बच जाता है।

(९) **सम्बन्धों में सरलता**—इसके कारण औद्योगिक सम्बन्धों में सरलता आ जाती है।

(१०) **माल की सामयिक प्राप्ति**—सामाजिक दृष्टिकोण से उपभोक्ताओं को समय पर आवश्यक माल मिल जाता है। तथा

(११) **क्षति नहीं होती**—राष्ट्र के श्रम, समय तथा उत्पादन की क्षति नहीं होती है।

कठिनाइयाँ तथा दोष
(Difficulties and Disadvantages)

(१) परिश्रम तथा पारितोषिक में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता तथा लाभांश साल के अन्त में ही मिलता है। इसलिए श्रमिक विशेष उत्साहित नहीं रहते। (२) श्रमिक केवल लाभ के ही भागी होते है, हानि के नहीं। (३) हानि के वर्षों में जब श्रमिकों को लाभ नहीं मिलता तो वे प्रबन्ध के विरुद्ध हो जाते है। (४) कभी कभी श्रमिकों के विद्रोह के डर से उद्योगपति को लाभ न होने पर भी लाभांश बाँटना पड़ता है। (५) जिन उद्योगों में अधिक श्रमिक होते हैं उनमें लाभांश की राशि कम होने के कारण श्रमिक कार्य करने में विशेष उत्साहित नहीं रहते। (६) कभी-कभी श्रमिकों को लाभ न देने की इच्छा से उद्योगपति हिसाब में गड़बड़ कर देते हैं, जिससे श्रमिकों की मेहनत बेकार हो जाती है। (७) श्रम-संगठन इस पद्धति को बुरा समझते हैं, क्योंकि इसके द्वारा श्रमिकों को उद्योगपति के प्रति स्वामिभक्त रहना पड़ता

है। (८) उद्योगपति श्रमिकों को इस प्रकार का लाभ देने का विरोध करते है, क्योकि इसके द्वारा प्रबन्धकर्त्ताओं को लाभ नही दिया जाता, जबकि उत्पादन की वृद्धि में उनका भी पूरा-पूरा हाथ होता है। (९) श्रमिक इस प्रकार के लाभ को प्राप्त करना अपना अधिकार समझते है। इसलिये वे अधिक परिश्रम करना आवश्यक नहीं समझते।

लाभ-विभाजन के प्रकार तथा पद्धति

(Kinds and Methods of Profit-Sharing)

लाभ-विभाजन के निम्नलिखित स्वरूप हैं—

(१) औद्योगिक आधार (Industrial Basis)—इसमें किसी उद्योग के अनेक अंगो का लाभ मिलाकर श्रमिकों का लाभ निश्चित किया जाता है, जिससे इस उद्योग के समस्त श्रमिकों को समान आधार पर लाभ दिया जा सके।

(२) स्थानीय आधार (Locality Basis)—एक ही स्थान पर स्थापित उद्योग अपने लाभों का योग करके श्रमिकों का लाभांश निकालते हैं, जिससे उस स्थान के समस्त उद्योगों में समान रूप में बाँटा जा सके।

(३) इकाई आधार (Unit Basis)—इसके द्वारा उद्योग के अलग-अलग विभागों का लाभ निकाल करके उन इकाइयों के श्रमिकों को लाभ बाँटा जाता है।

(४) विभागीय आधार (Departmental Basis)—कभी-कभी औद्योगिक इकाई के अलग विभागो का लाभ अलग-अलग निकाल कर उन विभागों के मजदूरों को बाँट दिया जाता है।

(५) व्यक्तिगत आधार (Individual Basis)—इसके अनुसार किसी श्रमिक विशेष को उसका किसी कार्य के आधार पर एक निश्चित लाभांश दे दिया जाता है।

लाभांश देने की अनेक रीतियाँ हैं और अलग-अलग स्थितियों में उनकी अलग उपयोगिता है। सामान्यतः लाभांश या तो नकद दिया जा सकता है अथवा श्रमिकों के खाते खोलकर उनको उसमें से रुपया निकालने का अधिकार रहता है या उनको प्रॉविडेण्ट फण्ड या पेन्शन आदि के रूप में दिया जाता है। लाभांश को देने के लिये सर्वप्रथम लाभ को निश्चित करना होता है। लाभ प्रायः औद्योगिक व्यय को कम करके निश्चित किया जाता है। कभी-कभी आयकर को काटकर तथा कभी पूँजी पर दिया जाने वाला कर निकालकर निश्चित किया जाता है। वह रीति कुछ ठीक है और श्रमिकों को लाभ का आधार मालूम रहता है। यह रीति प्रायः असन्तोषप्रद होती है जब प्रबन्धकर्ता अपनी ही इच्छा से प्रति वर्ष श्रमिकों के लिये एक निश्चित रकम निर्धारित कर देते है क्योंकि इस रीति के अनुसार श्रमिकों को तब तक कुछ

भी ज्ञात नहीं रहता जब तक लाभांश की घोषणा न की जा सके। जिस समय यह लाभांश पेन्शन के रूप में दिया जाता है, तो मजदूर के वेतन अथवा पद से बचाने की क्षमता के अनुसार निश्चित होता है। कभी-कभी पेन्शन के लिये फण्ड बनाया जाता है और उसके ही अनुसार श्रमिकों को पेन्शन दी जाती है।

लाभांश देने के लिये कुछ अवस्थाओं में श्रमिकों को समान श्रेणियों में बाँट दिया जाता है। ये श्रेणियाँ उनके कार्यकाल के अनुसार या कार्य के अनुसार निश्चित की जाती हैं। इसके अलावा लाभांश देने के लिये श्रमिकों के लिये कुछ नियम भी बनाये जाते हैं और जब वे उनके अनुसार कार्य करते हैं तभी उनको लाभांश दिया जाता है। विश्व के बहुत देशों में इस पद्धति को अपनाया गया है। इंगलैण्ड में इसको शुद्ध रूप से १९१६ में अपनाया गया तथा १९२० में लाभांश तथा सहभागिता पर विस्तृत रिपोर्ट लिखी गई। इसका प्रयोग करने में सबसे पहले फ्रांस का नाम आता है। वहाँ यह पद्धति १९२० में अपनाई गई थी।

भारत में लाभ विभाजन पद्धति के प्रयत्न—भारतवर्ष में यह प्रश्न सन् १९४७ में औद्योगिक सम्मेलन के सामने उपस्थित हुआ। औद्योगिक शान्ति को रखने के लिए पूँजीपतियों के लाभांश का विभाजन एक निश्चित योजना के अनुसार किया जाना तय हुआ। इस नीति का स्पष्टीकरण भारत सरकार ने क्रमिक आय पद्धति का लाभांश में प्रयोग करके किया। इसके लिये सन् १९४८ में इस पद्धति के प्रयोग का अध्ययन करने के लिये एक विशेषज्ञ समिति (Expert Committee) की नियुक्ति की गई, जिसने दि० १९४८ को सुझाव दिये कि लाभांश विभाजन पद्धति का प्रयोग एक निश्चित श्रमिक माप के अनुसार किया जाना चाहिये, क्योंकि यदि उसमें किसी प्रकार की असावधानी रखी जायेगी तो औद्योगिक शांति के लिये संकट आ सकता है। इसीलिये लाभांश की दर का निर्णय करने के लिये एक पंचायत की नियुक्ति की जानी चाहिए। समिति ने पहले ५ वर्षों में सूती उद्योग, जूट, सीमेन्ट, टायर, सिगरेट तथा लोह उद्योगों में इस पद्धति के प्रयोग का सुझाव दिया है। समिति के अनुसार इसके लिये पूँजी का ध्यान रखा जाना भी आवश्यक है और इसके लिये ६०% लाभांश दिया जाना उपयुक्त समझा गया। पूँजी पर यह लाभांश देने के अलावा कम्पनी घिसाई कोष, प्रचार कोष, आयकर आदि के लिए भी लाभ में से एक निश्चित राशि (जो कम से कम लाभ का १०% हो) निकाल ली जायेगी। इन सबके बाद जो धन बचेगा उसको पूँजीपति तथा श्रमिकों में समान रूप से विभाजन कर दिया जाना चाहिए। समिति ने यह भी सुझाव दिया है कि समस्त देश में लाभांश विभाजन एक निश्चित योजना के अनुसार किया जाना चाहिये तथा उस विभाजन का दृष्टिकोण उत्पादन में प्रगति, औद्योगिक शान्ति तथा प्रबन्ध-कुशलता होनी चाहिए।

समिति की रिपोर्ट में सदस्यों ने अपने विभिन्न मत व्यक्त किये है। लगता है जैसे सदस्य अलग-अलग स्वार्थों को लेकर चले है, समिति ने बतलाया है श्रमिक अच्छी मजदूरी प्राप्त करने के इच्छुक है, लाभ विभाजन के नहीं। किसी सीमा तक यह सत्य भी है।

भारत सरकार ने समिति के सुझावों को ध्यान में रखते हुए एक केन्द्रीय सलाहकार समिति की नियुक्ति की और उसको उचित मजदूरी देने की योजना सुपुर्द की गई। इसलिये केन्द्रीय सलाहकार परिषद (जिसका यह प्रमुख कार्य है) को चाहिये वह इस दिशा में औद्योगिक नीति के अनुसार कार्य करके सरकार को उचित सुझाव दे। इस समिति के सुझावों को बहुत बडी सीमा तक कार्यान्वित किया गया है।

१७. सह-साझेदार पद्धति
(Co-partnership System)

सह साझेदारी लाभांश विभाजन पद्धति में एक प्रगति है, **जिसमे सब श्रमिक, किसी सीमा तक, व्यापार के लाभ, पूँजी तथा प्रबन्ध मे भाग लेंगे** और इस प्रकार उनको अपनी नियमित मजदूरी के अतिरिक्त व्यापारिक लाभ में भी एक हिस्सा मिलेगा। श्रमिक उस भाग को व्यापार की पूँजी में जोड़ देगा और वह भी इस प्रकार साधारण अंशधारियों का स्थान प्राप्त कर सकेगा। दूसरे शब्दों में जिस उद्योग में कार्य करेगा उसको एक निश्चित सीमा तक उसका स्वामित्व भी प्राप्त हो सकेगा और इस प्रकार वह व्यापार की सर्वाङ्गीण उन्नति में बहुत बडा योग दे सकेगा।

सह-साझेदारी का प्रयोग
(Application of Co-partnership)

सन् १९२० की लाभ-विभाजन तथा श्रमिक सह-भागिता की यू० के० की रिपोर्ट के अनुसार निम्नलिखित सुझाव दिए गए है—

(१) लाभ-विभाजन उद्योग के अच्छे तथा बुरे लाभ का समन्वय करता है। मन्दी के समय में लाभ न दिये जाने पर यदि व्यापार में सह-भागिता रहेगी तो प्रबन्ध में कठिनाई भी आ सकती है।

(२) लाभ-विभाजन पद्धति से कुछ उद्योगों ने आशातीत सफलता प्राप्त की है।

(३) पूर्व योजनाओं में प्रायः उद्योगपतियों को असन्तोष ही रहा; क्योंकि वे समझते थे कि इसके अनुसार औद्योगिक शान्ति को प्राप्त करना सर्वथा कठिन होगा। किन्तु सह-साझेदारी में श्रम-संगठनों तथा उद्योगपतियों का असन्तोष समाप्त हो जाता है।

(४) लाभ-विभाजन पद्धति में इस बात पर भी असन्तोष रहा कि इसको स्वेच्छिक रहना चाहिये अथवा कानूनन लागू कर दिया जाना चाहिए।

भारत में सह-साझेदारी के प्रयत्न
(Efforts for Copartnership in India)

भारतवर्ष मे सह-साझेदारी पद्धति को कागजो पर तो स्वीकार कर लिया गया है किन्तु उसका कार्यान्वित करना अभी बहुत दूर प्रतीत होता है। सरकार ने अपनी औद्योगिक नीतियों मे, योजनाओं मे इसका उल्लेख किया है किन्तु इसको अभी तक ठीक रूप से सहकारी क्षेत्र मे भी लागू नही किया गया। सन् १९५६ मे भारत सरकार ने ब्रिटेन, फ्रान्स, जर्मनी, स्वीडन, बेलजियम, युगोस्लॉविया आदि देशो मे, इस पद्धति का अध्ययन करने के लिये एक शिष्टमण्डल भेजा और उसने जून १९५७ में सरकार को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें निम्नलिखित सिफारिशें की गईं—

(१) यह पद्धति सर्वश्रेष्ठ उद्योगो मे लागू की जानी चाहिए और श्रमिक किस प्रकार के उद्योगो मे भाग लें इसका निर्णय सरकार के अधिकार में रहना चाहिए।

(२) अधिक शाखाओ वाले उद्योगों मे केन्द्रीय संयुक्त प्रबन्ध परिषद होना चाहिए जो विभिन्न शाखाओ मे समन्वय स्थापित कर सकें। इस प्रकार की समितियाँ क्षेत्रीय, प्रान्तीय तथा अखिल भारतीय आधार पर होनी चाहिये।

(३) परिषदों मे श्रमिको और मालिको की संख्या का बराबर होना आवश्यक नही है और जहाँ तक हो सके निर्णय सर्व सम्मति से पास किये जाने चाहिए। इन इन परिषदो मे तान्त्रिक योग्यता वाले लोगो को भी स्थान दिया जाना चाहिए।

(४) संयुक्त-प्रबन्ध परिषद मे उन सभी समस्याओ पर विचार किया जाना चाहिये जो उद्योग मे उठती हो और सामूहिक हित वाली हो।

(५) परिषद को उद्योग की प्रगति की समस्त जानकारी होनी चाहिए और उसके आर्थिक एव प्रबन्ध सम्बन्धी मामलो पर उसे उचित परामर्श भी देनी चाहिए जिससे उद्योग का समस्त कार्यक्रम संतुलित चलें।

(६) परिषद को श्रम तथा पूँजी मे स्वस्थ सम्पर्क स्थापित करना चाहिए तथा श्रमिकों के ग्राम विकास के लिये योजना बनानी चाहिए और उचित प्रेरणा देनी चाहिये।

(७) परिषदों को संचालन का कुछ काम सौंप दिया जाना चाहिए जिससे औद्योगिक कार्यों मे वे रुचि ले सकें तथा श्रम कल्याण, प्रशिक्षण एवं अन्य सम्बन्धित बातों मे अपने विचार प्रस्तुत कर सकें।

(८) भारतवर्ष में, विदेशो के समान, श्रमिकों को तान्त्रिक एवं आर्थिक विषयों पर शिक्षा देने का प्रबन्ध करना चाहिए। इसके लिए रात्रि पाठशालायें, गोष्ठियाँ, प्रचार, पुस्तक प्रकाशन आदि अनेक कार्य किये जा सकते हैं।

(९) श्रमिकों की शिक्षा के लिये विशेषज्ञों, विश्वविद्यालयों, श्रम-संगठनो तथा

अन्य गैर-सरकारी संस्थाओं का सहयोग प्राप्त करना चाहिये। इसी प्रकार उनको कारखानों में पूर्ण तान्त्रिक शिक्षा दी जानी चाहिये।

(१०) प्रबन्ध परिषदों तथा श्रम सगठनों की सीमायें विधिवत् निर्धारित कर दी जानी चाहिये जिससे किसी भी पक्ष का अहित न हो।

प्रायः सभी समाजवादी देशों मे इस योजना को चलाया जा रहा है, जर्मनी, यू० के० आदि देशों में भी इस योजना का सफलता के साथ प्रयोग किया जा रहा है। भारत मे इस योजना को पूर्ण रूप मे लागू करने मे किसी भी प्रकार की कठिनाई नही दिखाई देती।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 "To the worker wages are his life. If wages are good they would lead to efficiency, and efficiency in its turn means low *cost to the consumer.*" *Comment*

2 What are the factors that affect the wages? Discuss fully.

3 Discuss the various methods of wage-payment to workmen in Industrial establishments. How far are they conducive in the efficiency of labour?

4 What is daily wages and time wages system? Explain its advantages and disadvantages.

5 Discuss the piece rate scheme in wage payment and critically examine its uses and abuses. Do you suggest its adoption? Give reasons.

6 Write a note on differential piece-rate system How far has it been adopted?

7 Write *short notes on*
Premium Bonus System, Halsey System, Rowan System, Multiple Piece Rate, Balance, Method, Emerson Efficiency plan, Collective Wage System and Sliding Scale.

8 What do you understand by the cost of living wage? Give its advantages and disadvantages

9 Explain 'Profit Sharing' and 'Co-partnership' Distinguish between *the two* and discuss the *advantages which profit* sharing holds out to employees. Can you suggest any practical difficulty likely to be experienced in the working of profit-sharing scheme?

10 · Define Minimum Wages. How far would its adoption result in bringing about harmonious relation between capital and labour? Discuss living wages in this connection.

11 Write a note on 'Fair Wages'. Discuss, how for it has been adopted in India.

12 What is the 'Wage Trend' in Indian industries during the recent years? Explain.

व्यापारिक प्रचार एवं प्रसार

विज्ञापन कला २६

(Art of Advertisement)

विज्ञापन का अर्थ
(Meaning of Advertisement)

विज्ञापन अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग प्रकार से परिभाषित किया गया है। बहुत पहले से विज्ञापन शब्द का अर्थ "सूचना" देना ही समझा जाता था, किन्तु व्यवसाय में इसका अर्थ जानने को किसी प्रकार का समाचार या सूचना देने की उस क्रिया को कहा जाता है, जिससे लोग उस व्यापार के लिए धन का विनियोग कर सकें तथा उसकी वस्तु के विक्रय में वृद्धि हो सके। आजकल इस शब्द का अभिप्राय: प्राय: पुरानी परिभाषा से बिल्कुल भिन्न हो गया है। इस तरह इस शब्द का अर्थ आजकल उस कला से है जिससे व्यापार में **उत्पादित वस्तुओं की अधिक से अधिक जानकारी हो सके, उनको खरीदने की लालसा बढ़ सके, वस्तुओं की उत्तमता का विश्वास बढ़ सके तथा उसके कारण लोगों के हृदय में उस वस्तु के प्रति चाह उत्पन्न हो और इस प्रकार उसकी माँग अधिक से अधिक बढ़ सके।** इस प्रकार विज्ञापन केवल विक्रय कला का एक लिखित रूप है। जोन्स ने विज्ञापन कला की परिभाषा देते हुए लिखा है कि, "यह कला उत्पादित-विशाल उत्पादन-क्रिया की विक्रय पद्धति है, जो कि कुशल विक्रेता की व्यक्तिगत आवाज को बढ़ाने में सहायक होती है। यह कला विक्रेता की ठीक उसी प्रकार से सहायता करती है जिस प्रकार निर्माणशाला में मशीन किसी कारीगर की सहायक होती है।" इस परिभाषा को यदि साधारण शब्दों में कहा जाय तो हम कहेंगे कि विज्ञापन मनुष्य की क्रियाओं को प्रभावित करने तथा उनको किसी वस्तु पर अधिकार प्राप्त करने की लालसा को जाग्रत करने की कला है।

यदि हम किसी वस्तु के लिये स्थायी बाजार बनाना चाहते हैं तो उसके लिए वैज्ञानिक रूप से तथा नियमित रूप से विज्ञापन करना आवश्यक होता है। विज्ञापन के लिये हर प्रकार के व्यापारी को चाहे वह बहुत ईमानदार हो, बाजार में उसकी अत्यधिक प्रतिष्ठा हो तथा अपने व्यापार में पूर्ण योग्यता तथा अनुभव प्राप्त किये हो, हमेशा सतर्क रहना चाहिये ; क्योंकि विज्ञापन किसी भी वस्तु के प्रति माँग बढ़ाने का एकमात्र आश्रय माना गया है। विज्ञापन के आधार पर ही उत्तम वस्तुओं

की श्रेष्ठता का प्रचार हो सकता है तथा बहुत कम व्यय पर उत्पादक अपनी वस्तु की विशेषताएँ सारे संसार को बता सकता है। विज्ञापन की ही सहायता से इच्छा न करने वाले व्यक्ति भी किसी वस्तु को खरीदने की इच्छा बना सकते हैं, क्योंकि इसके द्वारा उनके सोचने का ढंग ही बदल जाता है। इसके द्वारा लोगों में नई-नई वस्तुओं के लिए नये-नये चाव उत्पन्न होते हैं और इस प्रकार वे सारी वस्तुएँ जिनके लिये पहले कोई बाजार नहीं रहता, बहुत बड़ी मात्रा में अपने लिए बना लेती हैं। इस प्रकार आजकल के व्यापारिक जगत् में विज्ञापन एक अत्यन्त प्रभावशाली अंग माना जाता है। जो लोग विज्ञापन कला के विरोध में कहते हैं, वे इसके कुछ अवगुणों को ही दृष्टि में रखकर कहते है। कुछ बुरे प्रकार के लोगों ने अनेक बुराइयाँ उत्पन्न करदी हैं, किन्तु उनको विज्ञापन की बुराइयाँ नहीं मानना चाहिये।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि विज्ञापन, जिनमें सत्यता, विश्वसनीयता का अभाव है, वे बुरे हैं। किन्तु आजकल उन सारे अवगुणों को दृष्टि में रखते हुए भी विज्ञापन का महत्व किसी भी प्रकार से कम नहीं किया जा सकता। साधारण जनता के लिये यह वस्तुओं की जानकारी के लिये तथा उनके प्रति अपनी स्वस्थ राय स्थापित करने के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन है। विज्ञापन में एक विद्युत शक्ति है, जिसको आधुनिक शताब्दी के लोगों ने समझकर इसका उपयोग किया। आजकल व्यापार का पुराना सिद्धान्त "क्रेता अपनी जोखिम पर क्रय करे" (Caveat Emptor) समाप्त हो गया है और विज्ञापन के द्वारा यह बदल कर "बेचने वाला अपने वचनों का पालन करे" हो गया है, क्योंकि "कोई आदमी सब लोगों को कुछ समय के लिए मूर्ख बना सकता है, कुछ को हमेशा, किन्तु सबको हमेशा मूर्ख नहीं बना सकता।" विज्ञापन के प्रभाव से कोई मनुष्य माल को खरीद कर एक बार ही हानि उठा सकता है, और यदि वह वस्तु विज्ञापन के अनुसार न होगी तो हमेशा के लिए उसका बाजार समाप्त हो जायेगा।

सामान्य शब्दों में विज्ञापन उत्पादक की नव-निर्मित वस्तुओं के विषय में जानकारी देता है, लोगों में किसी वस्तु की बराबर जानकारी करता रहता है जिससे उसकी माँग बनी रहे और इसके साथ-साथ वस्तु का स्वस्थ प्रचार करके उसकी बिक्री में वृद्धि करने में सफल होता है।

विज्ञापन की आवश्यकता
(Need of Advertisement)

यद्यपि प्राचीन-काल में भी किसी न किसी रूप में विज्ञापन का अस्तित्व था, किन्तु आधुनिक युग में उसको एक नया रूप दिया गया है। आधुनिक वृहद् उत्पादन में बाजारों में इतना अधिक प्रदाय होता है कि बाजार इसकी माँग संभव नहीं रहती, नये आविष्कारों के कारण उत्पादक बिना वस्तु के माँग की चिन्ता किये ही माल का उत्पादन करता है और इसलिये उस वस्तु के प्रयोग तथा उपयोगिता

की जानकारी होने के कारण उपभोक्ताओं में उसके प्रति माग न० आधुनिक काल में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने के कारण तथा विभिन्न देशों में ए० प्रकार के वस्तु उत्पादन होने से उत्पादकों तथा व्यापारियों के बीच एक प्रतिस्पर्धा रहती है और वही व्यक्ति बाजी मारता है जो अपनी वस्तु की जानकारी अधिक से अधिक लोगों को करवा सके। कभी-कभी प्रतिस्पर्धा न होने पर भी विज्ञापन की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है, क्योंकि किसी वस्तु में एकाधिकार प्राप्त होने पर भी इसकी सफल बिक्री तभी सम्भव हो सकती है जब लोगों को इस वस्तु का पता रहे। आधुनिक विज्ञापन लोगों को केवल वस्तु के होने की ही बात नहीं बताता, अपितु लोगों को वस्तुओं के गुण तथा उनमें होने वाले लाभों में भी अवगत कराता है। इसलिए आज के युग में हर प्रकार की व्यापारिक स्थिति में विज्ञापन का होना अत्यन्त आवश्यक है।

विज्ञापन लेख की विशेषताएँ

(Speciality of an Advertisement Copy)

विज्ञापन का मनोवैज्ञानिक उद्देश्य जनता को—(१) देखने, (२) चाहने, (३) सीखने तथा खरीदने के लिए प्रेरित करना है। दूसरे शब्दों में वैज्ञानिक ढंग से लिखे गये विज्ञापन लेख में सर्वप्रथम लोगों को आकर्षित करने की शक्ति, उनमें उसके प्रति चाव जाग्रत करने की क्षमता, उनको पूर्ण रूप से प्रभावित करने का कौशल, उनको सन्तुष्ट, प्रेरित, तथा प्रतिगमित करने की कला तथा उस वस्तु को खरीदने का निर्णय करने की योग्यता होनी चाहिए।

जहाँ तक किसी को आकर्षित करने का सम्बन्ध है यह 'इच्छित' तथा 'अनिच्छित' हो सकता है। किन्तु विज्ञापन में ऐसी शक्ति होती चाहिये कि देखने वाला व्यक्ति तत्काल आकर्षित होकर उसको पढ़ने के लिये प्रेरित हो सके। विज्ञापन को पढ़कर उसमें 'चाव' उत्पन्न हो जाना चाहिए। इसलिये विज्ञापन को चित्र तथा रंगों द्वारा सुसज्जित करने के साथ इस प्रकार की भाषा में लिखना चाहिए कि पाठक उसको आद्योपान्त पढ़ ले। उसका शीर्षक इतना सूक्ष्म एवं स्पष्ट होना चाहिए कि वह आँखों के सामने आते ही स्पष्ट हो जाय। यदि पाठक पहली ही दृष्टि से आकर्षित न हो सका तो विज्ञापन का उद्देश्य ही समाप्त हो जायगा।

दूसरी समस्या अपनी वस्तु के प्रति चाव उत्पन्न करने की है। इसके लिये नीचे दिये चार सिद्धान्तों को ध्यान में रखना चाहिए—(१) प्रभाव-पूर्णता (Forcefulness), (२) नवीनता (Novelty), (३) विषमता (Distinctive), तथा (४) आकर्षण (Attractive)।

जिस विज्ञापन में इन चारों सिद्धान्तों का पूर्णतया पालन किया जायगा, उसकी सफलता निश्चित-सी समझनी चाहिये। इसलिये आजकल नये-नये साधनों का उपयोग किया जाता है।

यह निश्चित करने के लिये कि विज्ञापन का व्यापक प्रभाव लोगो पर पड़ा है तथा लोगो को उसकी जानकारी हो रही है, विज्ञापन का क्रमिक रूप से प्रचार किया जाना आवश्यक है। जिससे वस्तु का नाम लोगों के हृदयों पर अपनी छाप लगा दे। इसके लिये लोगो की आदत, रीति-रिवाज, फैशन, वातावरण आदि का मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक विवेचन करके विज्ञापन इस प्रकार से किया जाना चाहिये कि वह उस देश या क्षेत्र के लोगो की रुचि के अनुकूल हो। यह हास्यास्पद व्यंगात्मक या कभी-कभी महत्वपूर्ण हो सकता है। किसी विज्ञापन के साथ बड़े नाम का उल्लेख कभी-कभी |महत्वपूर्ण हो सकता है। किन्तु उस नाम का उपयोग सही एव सच्चा होना चाहिए। उपर्युक्त बातो के अतिरिक्त विज्ञापन लेख मे नीचे लिखी बातो का होना भी आवश्यक है—

(१) उसकी शर्तें, विश्वास पैदा करने वाली तथा विद्वत्तापूर्ण होनी चाहिए।

(२) विज्ञापन पाठको की पूर्ण मनोवृत्ति के अनुकूल होना चाहिए। कभी-कभी किसी घटना के आधार पर भी हो सकता है।

(३) विज्ञापन मे वही बातें होनी चाहिये जिनको पढकर पाठक लाभ उठा सके। इसमे भाषा उपभोक्ताओ को देखते हुए, गम्भीर, सरल तथा सुगम होनी चाहिये।

(४) उसमें इच्छित भावनाओ का प्रदर्शन कम मे कम किया जाना चाहिए और उसको सक्षिप्त होना चाहिए।

(५) उसकी प्रति शीघ्र समझ मे आने वाली, भावपूर्ण तथा मनन करने के योग्य हो।

(६) उसकी भाषा तथा शैली पाठको पर अभूतपूर्व प्रभाव डालने वाली होनी चाहिए, ताकि वे सन्तुष्ट हो सके।

(७) उसमें ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि लोग स्वय उसे खरीदने आवे।

(८) विज्ञापन का शीर्षक तथा डिजाइन (Design) प्रभावोत्पादक होना चाहिए, जिससे पढने वाले की दृष्टि उस पर जम सके।

(९) विज्ञापन की भाषा चातुर्यपूर्ण न होकर सीधी व सच्ची होनी चाहिए।

विज्ञापन लेख तैयार करने मे ध्यान देने योग्य बातें

(Point to be noted in Writing an Advertisement Copy)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विज्ञापन को अति कुशलता से लिखा जाना चाहिए। लेखक को निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

(१) आडम्बर पूर्ण तथा असत्य बात नहीं की जानी चाहिए।

(२) भाषा लच्छेदार तथा कठिन नही होनी चाहिए।

(३) विश्वास उत्पन्न करने लिए सत्य का उद्घाटन करना चाहिए।
(४) अतिशयोक्ति तथा नकारात्मक विवरण नहीं देना चाहिए।
(५) बेकार बातों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।
(६) सरलतापूर्ण तथा शिक्षापूर्ण बातों का प्रयोग किया जाना चाहिए।
(७) ऐसी भाषा का प्रयोग न किया जाय, जो कि किसी को बुरी लगे।
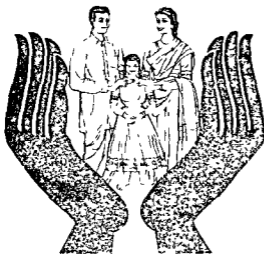
इन हाथों को आपकी सुरक्षा करने दीजिये !!
LIFE INSURANCE CORPORATION OF INDIA

ये हाथ जीवन बीमा के प्रतीक है जो सुरक्षा के प्रतीक है

विज्ञापन के साधन तथा उसका चुनाव
(Means of Advertisement and Their Selection)

विज्ञापन करने वाले के लिये विज्ञापन के साधनों की जानकारी आवश्यक है, क्योंकि सही प्रकार के साधनों के चुनाव से ही उसको अपने व्यापार की प्रसिद्धि मे पूर्ण सफलता मिल सकती है। यदि विज्ञापन वस्तु के उद्देश्य के लिए उपयुक्त नहीं है तो चाहे देखने में वह कितना ही ठीक हो, लक्ष्य के प्रतिकूल रहेगा। और इस प्रकार से जो कुछ भी उस पर व्यय किया जायेगा वह मँहगा तथा अनुपयुक्त ही सिद्ध होगा। सही साधन का चुनाव एक जटिल समस्या है, क्योंकि इसका अर्थ केवल सही साधन का चुनाव ही नहीं, अपितु सही साधनों में सही चुनाव है। उदाहरणार्थ यदि चुनाव प्रेस सम्बन्धी हो तो उसमे देखना यह होगा कि विज्ञापन किसी समाचार-पत्र, पत्रिका अथवा व्यापारिक पत्र मे दिया जाय या उसके लिए एक विशिष्ट पत्र देखा जाय। अतएव चुनाव करते समय किसी व्यक्ति को अत्यन्त आलोचनापूर्ण होना चाहिये। प्रत्येक विज्ञापन को विज्ञापन के लिए कौन-सा साधन स्वीकार करना है, यह उसके व्यापारिक क्षेत्र, ग्राहकों के प्रकार, वस्तु के गुण तथा

आकार, तथा विज्ञापन की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करेगा। विज्ञापन करने के लिए पहले उसकी भावी रूप-रेखा बना लेना चाहिये। जिसमे अनुमानित व्यय, विज्ञापन का क्षेत्र तथा प्रकार, उसका समय तथा शैली आदि का विधिवद् विश्लेषण किया जाना चाहिये।

आजकल विज्ञापन के अनेक साधन हैं; और इनका अलग-अलग स्थानों पर निजी महत्व है। इसलिए विज्ञापन को अपनी निजी आवश्यकताओं के अनुसार साधनो को चुनना चाहिये. इन साधनों मे मुख्य-मुख्य नीचे दिये जाते हैं—

(१) गश्ती चिट्ठियाँ (Circulars)।

(२) प्रेस, व्यापारिक तथा औद्योगिक पत्रिकाएँ, समाचार पत्र, सामयिक पत्रिकाएँ (Press, Business and Industrial Journals, News-papers, Magazines)।

(३) इश्तहार, पर्चे आदि (Posters, Handbills etc.)।

(४) विवरण-पत्रिका तथा सूची-पत्र (Prospectus and Price Lists)।

(५) चल-चित्र एवं नाट्य आयोजन (Cinema and Dramas)।

(५) दीवारों, भवनो, ट्रामों, रेलगाड़ियों, विद्युत प्रकार, आकाश लेखो के द्वारा (Mural, Buildings, Trams, Railways, Electric lights, Sky-lights)।

(७) विक्रय-गृहो तथा प्रदर्शनियों द्वारा (Sales House and Exhibitions)।

(८) हर घरो पर नमूने तथा साहित्य छाप कर (Samples and Printed Literature)।

(९) आकाशवाणी द्वारा (Radio)।

(१०) व्यापारिक फिल्मों को बनाकर, कलेंडर, ब्लॉटिंग पेपर, डायरी आदि का वितरण कर तथा भ्रमणकर्ताओं के द्वारा (Trade Films, Calendar, Diary, Blotting paper etc)

(११) औद्योगिक प्रदर्शनियों द्वारा (Industrial Fairs)।

इन साधनो को एक अन्य प्रकार से भी बाँटा जा सकता है; जैसे—(१) प्रदर्शन (Display), (२) आन्तरिक, (३) सामूहिक, (४) प्रत्यक्ष, (५) भाषण, (Oration) तथा (६) सामयिक।

ऊपर बताये गये साधनो से अपने अनुकूल किसी भी साधन को चुनकर उसके अनुसार वस्तुओं का संग्रह करके विज्ञापन के क्षेत्र के सभी मनुष्यों का परिचय होने

हुए विज्ञापन करना चाहिये। विज्ञापन के साधनों को अपनाते समय नीचे लिखी बातों का रखना आवश्यक है—

(१) विज्ञापन का कौन-सा साधन जनता के लिये प्रभावशाली, आकर्षक तथा सुगम हो सकता है।

(२) उस विज्ञापन को किस प्रकार के लोग पढ़ेंगे? इसलिए पढ़ने वालों की सामाजिक स्थिति, धर्म, शिक्षा तथा कार्यों का ध्यान में रखना आवश्यक है।

(३) किस प्रकार के सुझावों से मनुष्य प्रभावित हो सकते हैं तथा उनकी क्या विचारधारा है आदि के अनुसार विज्ञापन किया जाना चाहिये।

(४) किस प्रकार के साधन की अनेक बार पुनरावृत्ति की जा सकती है?

(५) किस प्रकार के साधन में उसकी उपयोगिता को देखते हुए मितव्ययता की जा सकती है?

(६) उसके तर्कपूर्ण प्रभाव एवं विचार जनता पर किस प्रकार का प्रभाव डाल सकते हैं।

(७) उस साधन के द्वारा हम कितने समय तक जनता को आकर्षित कर सकते हैं?

(८) विज्ञापन के अन्य साधनों का क्या स्वरूप है तथा जनता को आकर्षित एवं प्रभावित करने में वे कहाँ तक सफल होते हैं?

(९) किस साधन का जनता में अधिक प्रचलन तथा आदर किया जाता है?

+ समाचार-पत्र तथा सामयिक पत्रिकाओं से सम्बन्धित गुण-दोष
(Merits and Demerits of Paper and Magazine Advertisement)

(१) समाचार पत्र—प्रातःकालीन तथा मध्याकालीन होते हैं। पत्रिकाएँ—साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, अर्द्धवार्षिक तथा वार्षिक होती हैं। इसलिये तात्कालिक मूल्य परिवर्तन की सूचना देने के लिये दैनिक पत्र ही अधिक उपयुक्त होते हैं, क्योंकि इनका द्रुत प्रचलन होता है। यह बहुत कम समय में अधिक से अधिक लोगों के पास पहुँचता है। किन्तु स्थायी समाचार तथा लम्बे जीवन के लिए पत्रिकाओं का आश्रय उपयोगी सिद्ध होता है।

(२) दैनिक पत्र प्रायः समाचारों के लिए महत्वपूर्ण होते हैं, इसलिए उनमें विज्ञापन दिये जाते हैं। उनको या तो पाठक देखते ही नहीं अथवा एक सरसरी दृष्टि से देखते हैं। किन्तु पत्रिकाएँ अधिकांशतः शोधपूर्ण होने के कारण उनमें दिये

विज्ञापनों को भी चाव के साथ पढ़ा जा सकता है।

(३) पत्रिकाओं में व्यापार का नाम, व्यापार चिह्न आदि को विशेष महत्व दिया जाता है, तथा इनमें विज्ञापन देने से विज्ञापन में स्थायित्व रहता है।

(४) पत्रिकाओं में अधिक स्थान, चित्र, वैविध्य आदि के लिये विशेष अवसर रहता है, जब कि दैनिक पत्रों में इस प्रकार के विज्ञापन के लिए अधिक व्यय करना पड़ता है।

(५) दैनिक पत्रों की अपेक्षा सामयिक पत्रों में विज्ञापन देने में कम खर्च पड़ता है, परन्तु उनका स्थायित्व अधिक रहता है।

विज्ञापन के कुछ साधन और उनका विवेचन
(Some Means of Publicity and Their Explanation)

आधुनिक व्यापार में अपने माल की प्रसिद्धि के लिये व्यापारियों ने अनेक साधन बना दिये हैं। अलग-अलग प्रकार के व्यापार के लिये अलग-अलग साधनों की आवश्यकता होती है। व्यापारी को विज्ञापन के किसी साधन का प्रयोग करने से पूर्व यह अवश्य सोचना चाहिये कि क्या उस साधन में वे सब गुण हैं जो उसके माल की प्रसिद्धि के लिये आवश्यक हैं तथा उससे क्या उसके माल का मूल्य यथार्थ रूप में बढ़ सकता है। साइकिल के थोक व्यापारी के लिये विज्ञापन का साधन ढूँढते समय उसको सर्वप्रथम यह देखना होगा कि साइकिल का प्रयोग कौन लोग करते हैं तथा किन स्थानों में अधिकाधिक होता है। इसके साथ-साथ उस क्षेत्र में विज्ञापन के कौन-कौन से साधन उपलब्ध हैं तथा उस पर कितना व्यय करना पड़ेगा। साइकिलों के थोक व्यापारी के लिये नीचे लिखे साधन उपयोगी सिद्ध होंगे—

(१) प्रेस का विज्ञापन, (२) विद्युत प्रकाश के द्वारा विज्ञापन, (३) बस, ट्राम तथा ट्रेन का विज्ञापन, (४) डाक द्वारा विज्ञापन, तथा (५) अन्य साधन।

(१) प्रेस का विज्ञापन (Press Advertisement)—इस विज्ञापन के अन्तर्गत दैनिक समाचार-पत्र, साप्ताहिक तथा पाक्षिक पत्रिकाएं, व्यापारिक तथा औद्योगिक मासिक पत्रिकाएँ सम्मिलित हैं। साइकिल का थोक व्यापारी इन सभी साधनों का सरलता से प्रयोग कर सकता है। दैनिक पत्रों में अधिक लाभ की दृष्टि से तथा शीघ्र ध्यान आकर्षित करने के लिये विज्ञापन दिया जाता है। इसमें व्यापारी उन सब लोगों को अपना विज्ञापन पहुँचा सकेगा जो दैनिक पत्र पढ़ते हैं। प्रायः हर शिक्षित व्यक्ति देश तथा संसार के समाचारों को जानने की दृष्टि से दैनिक पत्र

प्रबन्ध पढ़ना चाहता है और यदि उसमें कहीं विज्ञापन दिया हो तो वह भी उसकी दृष्टि से अवश्य गुजरेगा। विज्ञापन का उद्देश्य केवल किसी को आकर्षित करना होता है। यदि विज्ञापन लेख में उन विशेषताओं का ध्यान रखा गया है, जिसके कारण पाठक उसको पढ़ने के लिये प्रेरित हो सके तो व्यापारी का विज्ञापन करने का उद्देश्य पूरा हो जाता है। दैनिक समाचार पत्रों में विज्ञापन देने से वस्तु की जानकारी बहुत अधिक लोगों को हो जाती है। किन्तु इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि दैनिक पत्रों का जीवन कुछ ही घण्टों का होता है। पढ़ने के बाद बहुत ही थोड़े लोग उसकी रक्षा करते हैं, अथवा उनको फिर पढ़ने की आवश्यकता नहीं समझते। इसलिये दैनिक पत्रों में दिया गया विज्ञापन यदि एक बार किसी की नजरों से चूक जाय तो फिर वह उसको दुबारा नहीं देख सकेगा और विज्ञापन का उद्देश्य समाप्त हो जायगा। दैनिक समाचार पत्रों में एक बड़ी कठिनाई यह होती है कि उनका विज्ञापन मूल्य अधिक होता है तथा उसमें बहुत कम स्थान मिलता है। इसलिए उसमें विज्ञापन देते समय विज्ञापक को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कुछ ही शब्दों तथा संकेतों से उसका पूर्ण उद्देश्य आ जाय। जो पत्र संध्या को प्रकाशित किये जाते हैं उनमें दिये जाने वाले विज्ञापन का केवल स्थानीय महत्व होता है। उस नगर में रहने वाले लोगों को उस वस्तु की जानकारी हो जाय तथा वे उसको खरीदने के लिये प्रेरित हो सकें। इसलिए यह विज्ञापन सामयिक एवं उपयुक्त होना चाहिए। जो विज्ञापन स्थानीय महत्व के होते हैं उनका ऐसे पत्रों में प्रकाशन अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। दैनिक पत्रों से इन पत्रों की दरें प्रायः कम होती हैं।

इन पत्रों में जो विज्ञापन किया जाता है उसका स्थानीय महत्व होने के कारण वस्तु की माँग का विस्तार अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता तथा उससे बहुत बड़े क्षेत्र के लोगों को आकर्षित नहीं किया जा सकता। दैनिक तथा संध्याकालीन पत्रों में दिये गये विज्ञापन का जीवन अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इनमें केवल तत्कालीन उपयोग की वस्तुओं का ही विशेष प्रचार किया जा सकता है। साइकिल का व्यापारी इनसे अवश्य लाभ उठा सकता है, किन्तु उसके लिये उसको इसमें बार-बार विज्ञापन करना होगा।

साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पत्रिकाओं में विज्ञापन देने से उनका जीवन-काल अधिक बढ़ जाता है। क्योंकि ऐसी पत्र-पत्रिकाएं पाठक के समक्ष अधिक अवधि तक रहती हैं और वह उनको कई बार पढ़ सकता है। कभी-कभी पाठक के पास पत्रिका में पढ़ने के लिये जब यथेष्ट सामग्री नहीं रहती तो वह विज्ञापन को ही पढ़ने लगता है। सामान्य पत्रिकाओं को प्रायः वे लोग पढ़ते हैं जिनका व्यापार-विशेष से सम्बन्ध नहीं होता तथा जो किसी वस्तु को उपभोग के लिए ही पढ़ना पसन्द करते

है। इसलिये विज्ञापक को उन वस्तुओं की उपयोगिता तथा गुण की ओर विशेष ध्यान देकर विज्ञापन को लिखना चाहिये।

व्यापारिक तथा औद्योगिक पत्रिकाओं में दिये जाने वाले विज्ञापन का उद्देश्य मुख्य रूप से उन वस्तु के व्यवसाय करने वालों के लिए होता है। साइकिल के थोक विक्रेता को इन पत्रिकाओं का उपयोग विशेष रूप में करना चाहिये, क्योंकि इससे वह अपना विज्ञापन उन लोगों तक पहुँचाने में सफल होगा जो उसमें व्यापार करते हैं तथा बड़ी मात्रा में साइकिलों का क्रय कर सकते हैं। इसलिए विज्ञापक को चाहिये कि वह व्यापारियों के उपयोग तथा हित का ध्यान रखते हुए इन सारी सूचनाओं को दे, जिससे कि वे उसकी वस्तुओं को खरीदने के लिए उत्साहित एवं लालायित हो सकें।

(२) विद्युत प्रकाश के द्वारा विज्ञापन (Light Display)—दुकानों तथा नगर के प्रमुख भागों में स्वतः जलने तथा बुझने वाले विद्युत प्रकाश से जनता का

ध्यान विज्ञापन की ओर विशेष रूप में केन्द्रित किया जा सकता है। आधुनिक युग में इस साधन का प्रयोग समस्त संसार में प्रचुर मात्रा में किया जाता है। भारत में भी बड़े बड़े नगरों में इसका उपयोग किया जाने लगा है। रंग-बिरंगे विद्युत प्रकाश का प्रयोग बड़ा आकर्षक होता है। इसलिए एक थोक व्यापारी को, जिसका व्यापारिक क्षेत्र विशाल होता है तथा जो विज्ञापन में अधिक धन व्यय कर सकता है, रंगीन विद्युत विज्ञापन करना चाहिये। हिन्द साइकिल, ईस्टर्न स्टार, फिलिप्स, हरक्यूलिस का विद्युत विज्ञापन प्रायः भारतवर्ष के प्रमुख नगरों में मिलता है। इस विज्ञापन में अत्यन्त सूक्ष्म शब्दों तथा चिन्हों का ही प्रयोग किया जा सकता है। इसलिए इस प्रकार के विज्ञापन के साथ-साथ विज्ञापन की विस्तृत जानकारी के लिए व्यापारी को अन्य साधनों का उपयोग करना आवश्यक होता है।
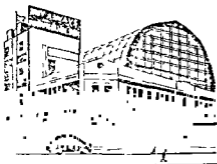
विद्युत विज्ञापन थोक व्यापारियों की अपेक्षा फुटकर व्यापारियों के लिये अधिक उपयोगी होता है। इसलिए यदि थोक व्यापारी इसके द्वारा विज्ञापन करना

इस विज्ञापन में आमतौर पर दो प्रकार की पद्धतियाँ अपनाई जाती है—

(अ) विक्रय पत्र—इनके द्वारा अलग-अलग ग्राहकों को अपनी वस्तु के बारे में जानकारी करवाई जाती है; और आवश्यकतानुसार सूची-पत्र, दस्ती-पत्र आदि भेजे जाते हैं। कभी-कभी इसमें वस्तु का पूर्ण साहित्य भी भेजा जाता है। जिससे खरीदार को वस्तु के विषय में पूर्ण जानकारी हो सके।

(ब) *व्यक्तिगत पत्र—यह विक्रय-पत्र की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता* है, क्योंकि इसकी भाषा व्यक्तिगत तथा व्यावहारिक होती है, और इसमें किफायत का प्रश्न ही नही उठता। इसमें बिक्री सम्बन्धी सभी सूचनाएँ सूक्ष्म रूप से दी जा सकती है तथा पत्र पर विज्ञापक के हस्ताक्षर रहते हैं, जिससे पत्र में आत्मीयता बढ जाती है। इसमे प्रेष्य के साथ शर्तें भी की जा सकती हैं। साइकिलो का थोक व्यापारी इस प्रकार के विज्ञापन का विशेष लाभ उठाकर अत्यधिक प्रचार कर सकता है तथा दूर स्थानो मे रहने वाले फुटकर विक्रेताओ से सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। डाक द्वारा सूची-पत्र, लघु पुस्तिका तथा अन्य प्रपत्रो का खुला प्रयोग किया जा सकता है। इसलिये इसका प्रयोग थोक व्यापारी के लिये अन्य विज्ञापनों की अपेक्षा विशेष हितकर है।

(५) अन्य विज्ञापन (Other Advertisements)—साइकिल के थोक व्यापारी ऊपर बताये गये साधनो के अतिरिक्त, मेला, प्रदर्शिनी, सेनविच, कलेंडर नोटबुक, ब्लॉटिंग पेपर आदि का प्रयोग भी सफलता के साथ कर सकता है। औद्योगिक मेलो तथा प्रदर्शिनियों में अपना प्रदर्शन-गृह लगाकर थोक व्यापारी का बहुत बडा विज्ञापन हो सकता है तथा अधिक से अधिक जनता जानकारी प्राप्त कर सकती है। उसमें साइकिलो को इस प्रकार से प्रदर्शित किया जाना चाहिये कि देखने वाले एकाएक उससे आकर्षित हो जायें और उसके बारे मे विशेष जानकारी की इच्छा करें। इनमे जनता को साइकिल-सम्बन्धी साहित्य आसानी से दिया जा सकता है, और इस प्रकार साइकिलो का प्रचार वृहद् रूप मे किया जा सकता है।

सेनविच पद्धति जिसमे कि लोगो के चारो ओर कार्डों पर बड़े-बड़े पोस्टर लगाने का प्रयोग भी सफलता से किया जा सकता है। अलग-अलग शहरो मे उपयुक्त बाद्यो के साथ इस प्रकार जुलूस निकालना सफल हो सकता है, क्योंकि इससे आम जनता आसानी से आकर्षित तथा प्रभावित की जा सकती है।

स्थायी विज्ञापन के लिये कलेण्डर, नोटबुक (जिनमें कलेण्डर आदि छपा हो) ब्लॉटिंग पेपर अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं, क्योंकि इनको लोग अपने पास अधिक समय तक रखना पसन्द करते हैं। अतः वह विज्ञापन उसके सामने बार-बार आता रहता है। किन्तु इस विज्ञापन की सीमा अत्यन्त संकुचित है और यह एक विशेष वर्ग के लिये ही उपयुक्त होते हैं।

साइकिलो का थोक व्यापारी उपर्युक्त साधनों को अत्यन्त सुविधा के साथ अपना सकता है, क्योंकि इसके लिये उसके पास पर्याप्त साधन तथा सामग्री होती है। कुछ विज्ञापनों को उत्पादकों की सहायता से ही किया जा सकता है। इसलिये थोक व्यापारी को अपने विज्ञापन सम्बन्धी सुझाव उत्पादकों को भी देने चाहिये।

विज्ञापन पर किये जाने वाले व्यय की आलोचना
(Money Spent on Advertisement Criticised)

कुछ लोगों का कथन है विज्ञापन मे जो धन लगाया जाता है, उसका केवल अपव्यय ही होता है। वे अपने इस कथन की पुष्टि निम्नलिखित बातों मे करते है—

(१) इसके कारण बहुत से लोग उन वस्तुओं को लेने की इच्छा करते है जो कि उनके लिए निरर्थक होती है। व्यक्तियों को इस प्रकार का सुन्दर चित्र दिखाया जाता है कि वे व्यर्थ मे ही अनुपयोगी वस्तुओं को खरीदने के लिए तैयार हो जाते हैं। इस तरह से उनका सीमित धन अनावश्यक चीजो मे खर्च हो जाता है।

(२) विज्ञापन करने मे बहुत सा धन व्यय होता है, जिससे मण्डियों मे वृद्धि हो जाती है; परन्तु उसका अन्तिम भार उपभोक्ता को सहन करना पड़ता है।

(३) विज्ञापन के कारण ऐसी वस्तुओं का भी प्रचार होता है, जो अनावश्यक तथा मिथ्या होती है। इससे ठग-विद्या का भी खूब प्रचार होता है। लोग इसके द्वारा अनेक प्रकार की झूठी प्रशंसाएँ करके धन को कमाते हैं। इस प्रकार के झूठे प्रचार हमारे देश मे आजकल किये जा रहे है, जिससे गरीब तथा अज्ञान लोग उनके चंगुल मे आकर बहुत सा धन नष्ट करते है।

(४) विज्ञापन के द्वारा निर्धन तथा पुराने विचार के व्यापारियो का व्यापार कम हो जाता है और वह व्यापारी बाजी मार लेता है, जिसके पास अधिक धन एवं अच्छे विज्ञापन के साधन होते है।

(५) जिन वस्तुओं का चिन्हित विज्ञापन होता है, वे प्रायः बाजार मे अपना एकाधिकार प्राप्त कर लेती हैं और इस प्रकार फिर उत्पादक या व्यापारी अपनी इच्छानुसार धीरे-धीरे मूल्य परिवर्तन (बढावा) करते रहते हैं।

(६) विज्ञापन के द्वारा अत्यधिक प्रतिस्पर्धा को जन्म मिलता है, जिससे वस्तुओं के मूल्य मे अनायास कमी करनी पड़ती है।

(७) इससे उपभोक्ता की स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है। वह वस्तु के खरीदने मे अपना व्यक्तिगत निर्णय नही ले सकता, क्योंकि उसके मस्तिष्क पर विज्ञापन का व्यापक प्रभाव पड जाता है।

(८) किसी देश की आर्थिक स्थिति का विचार न करके विलासिता तथा सुख की चीजों का प्रचार करना ; अधिकांश मनुष्यों के आर्थिक सन्तुलन को बिगाड़ देना

है। उपभोक्ता अपनी आवश्यक वस्तुओं को छोड़कर उन वस्तुओं को खरीद लेता है, जो कि उच्च-स्तर वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक होती हैं।

(९) विज्ञापन के द्वारा व्यक्तियो के रहन-सहन तथा व्यवहार मे एक व्यापक परिवर्तन हो जाता है। जिससे समाज को एक आर्थिक हानि का सामना करना पडता है। विज्ञापन के द्वारा समाज मे अलग-अलग स्तर वाले व्यक्तियो की आवश्यकता का उचित वर्गीकरण नही किया जा सकता।

(१०) विज्ञापन हर प्रकार की वस्तु के लिए आवश्यक नही होता, क्योंकि जिस वस्तु का विज्ञापन हो चुका है उसका पर्याप्त प्रचलन भी है, उसके लिये विज्ञापन की आवश्यकता नही होती।

(११) कई बार ऐसा देखा गया है कि व्यापारी विज्ञापन के हेतु खूब प्रयत्न करता है, धन भी व्यय करता है, परन्तु उचित प्रतिफल प्राप्त नहीं होता है। विज्ञापन व्यय अधिक होने के कारण भारस्वरूप मालूम पड़ने लगता है और उसका विश्वास "विज्ञापन पर किया गया व्यय अपव्यय है," वाले कथन मे बढ जाता है।

आलोचना का खण्डन
(Criticism Assailed)

विज्ञापन के विरोध मे ऊपर दिये गये तर्कों का विवेचन करने पर कोई भी विचारशील व्यक्ति, जिसने आधुनिक व्यापार का अध्ययन किया हो तथा जिसको संसार के आर्थिक विकास का बोध हो, इन आलोचनाओं का आसानी से खण्डन कर सकता है। नीचे आलोचनाओं के विरोध मे तर्क दिये जा रहे हैं, जो कि व्यापार की आधुनिक परिस्थितियों को देखते हुए न्यायसंगत हैं—

(१) जहाँ तक हैसियत या इच्छा का प्रश्न है, आर्थिक शास्त्र का माना हुआ सिद्धान्त है कि समय के साथ साथ मनुष्य की आवश्यकताएँ भी बढती रहती हैं, और उनको पूर्ति करना उसके जीवन-स्तर मे वृद्धि करना है। यदि हम चाहते हैं कि व्यक्तियों का जीवन-स्तर बढे तथा उनको मनोरंजन एव आर्थिक समानता प्राप्त हो सके तो विज्ञापन बहुत बडा सहायक सिद्ध हो सकता है। क्योंकि नई मांगो की पूर्ति के लिए वे नया प्रयत्न करेंगे और उस प्रयत्न से उनकी आर्थिक स्थिति बढेगी, जिसके फलस्वरूप उनके जीवन-स्तर मे भी वृद्धि होगी।

(२) जहाँ तक धन के व्यय का प्रश्न है, वे लोग भूल जाते हैं कि विज्ञापन मांग मे वृद्धि करता है। मांग मे वृद्धि के कारण प्रदाय में वृद्धि होती है। बढता हुआ आर्थिक प्रदाय हमेशा वस्तु के मूल्य में कमी करता है। इसलिए विज्ञापन को व्यय न समझकर विनियोग समझा जाता है।

(३) झूठे प्रचार का प्रश्न किसी सीमा तक सही हो सकता है, किन्तु झूठा प्रचार करना विज्ञापन के सिद्धान्तो के विरुद्ध है। यह कटु सत्य है कि सबको हमेशा

धोखा नहीं दिया जा सकता। अतः धोखे से कमाने वाले व्यक्ति का कभी न कभी अवश्य भण्डाफोड हो जायगा, जिससे उसको बहुत बड़ी निन्दा, अपवाद तथा यातनाएँ सहन करनी पडेगी।

(४) व्यापार छिन जाने का प्रश्न इसलिए नहीं उठता कि मुद्रा की क्रय-शक्ति स्थिर नहीं है तथा मुद्रा ही केवल एक साधन नहीं है, जिससे कि किसी व्यक्ति को व्यापार में पछाड़ दिया जाय। जितनी भी सेवाएँ तथा वस्तुएँ उपभोक्ता लेते हैं वे केवल मुद्रा की क्रय-शक्ति पर ही निर्भर नहीं करती, अपितु उसकी उपयोगिता, ग्राहिता तथा निकटता पर भी निर्भर करती है। इस प्रकार जो व्यक्ति कलकत्ता रहकर अहमदाबाद वाले व्यक्ति से प्रतिस्पर्धा करेगा, वह पूर्ण रूप से कभी भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

(५) आधुनिक व्यापार पद्धति में एकाधिकार का प्रश्न इसलिये नहीं उठता कि विश्व में प्रति दिन नए-नए आविष्कारों तथा वस्तु सुधारों के कारण आज की वस्तु कल के लिए पुरानी हो जाती है। फिर व्यापारियों के बीच इतनी प्रतिस्पर्धा रहती है कि किसी को किसी वस्तु पर एकाधिकार प्राप्त करने का अवसर भी नहीं मिलता।

(६) जहाँ तक मूल्य परिवर्तन का प्रश्न है, प्रतिस्पर्धा के युग में वह मूल्य हमेशा उपभोक्ताओं के हित में होगा। जहाँ तक व्यापार का व्यावहारिक स्वरूप है, विज्ञापन के अनुभव से देखा गया है कि व्यापार में मूल्य का प्रश्न बाजार की अनेक परिस्थितियों के कारण उठाना है और उसमें विज्ञापन का नगण्य हाथ होता है।

(७) जो लोग कहते हैं कि विज्ञापन के प्रभाव में आकर लोगों की वस्तु चुनने की स्वतन्त्रता छिन जाती है, वे यह भूल जाते हैं कि विज्ञापन उपभोक्ताओं को अलग-अलग वस्तुओं की उपयोगिता तथा गुणों की जानकारी कराता है। विज्ञापन को पढ़कर लोगों को वस्तुओं का सही चुनाव करना आसान हो जाता है।

(८) जहाँ तक विलासिता तथा सुख की वस्तु के प्रचार का सवाल है, हम जानते हैं कि मनुष्य सर्वप्रथम अपनी आवश्यकता की वस्तु की पूर्ति करता है और उसके पास जो धन शेष बच जाता है, उसी को वह सुख तथा विलासिता की वस्तुओं में खर्च करता है। जिस समय उसकी आर्थिक स्थिति बढ़ती है, विलासिता तथा सुख की वस्तुएँ उसकी आवश्यकताएँ हो जाती है और उनके लिए उसको व्यय करना ही पड़ता है।

(९) समाज में विचार परिवर्तन भी एक सीमा में होना आवश्यक होता है, क्योंकि समाज का ढाँचा समय के साथ साथ बदलता रहता है। आज जिन वस्तुओं को बेकार या अनुचित कहा जाता है, वे ही कल उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। इसमें किसी भी दशा में आर्थिक हानि होना सम्भव नहीं। क्योंकि किसी भी वस्तु का अधिक

प्रचलन करने के लिए उसके मूल्य मे कमी लाना आवश्यक है, जिससे उसका उपयोग सर्वसाधारण के लिए हो सके।

(१०) यह कहना अनुचित है कि हर प्रकार की वस्तु का विज्ञापन नही करना चाहिए। जैसे यदि कोई व्यक्ति पेन खरीदता है तो उसको स्याही खरीदना भी आवश्यक है। इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि स्याही का विज्ञापन न किया जाय। यदि स्याही का विज्ञापन किया जायगा तो उपभोक्ता यह जान सकेगा कि कौनसी स्याही अधिक अच्छी तथा चलने वाली है, और इन दोनो बातो को ध्यान मे रखकर किसका मूल्य अपेक्षाकृत सस्ता है।

(११) वास्तव मे विज्ञापन अकेली कला ही नही, अपितु शास्त्र भी है। यदि हमारा काम शास्त्रोक्त नहीं है तो प्रतिफल भी ठीक न होगा। विज्ञापक को चाहिए कि वह विज्ञापन करते समय अपने व्यापार, आर्थिक स्थिति, ग्राहक, विज्ञापन के उचित साधन के चुनाव तथा उसकी प्रति आदि की ओर विशेष ध्यान दे। यदि विज्ञापन नियोजित है और व्यापार-गृह का अन्तर्शोभन तथा बहिर्शोभन आकर्षक है तथा विक्रेता कुशल तथा गुणवान् है तो विज्ञापन से ग्राहकों और बिक्री की संख्या के साथ ही साथ लाभ भी अवश्य बढ़ेगा।

निर्णय
(Judgment)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञापन कभी भी निरर्थक तथा अपव्यय खर्चा नहीं कहा जा सकता और उचित विज्ञापन करने से व्यापारिक तथा आर्थिक प्रगति निश्चित है। विज्ञापन विक्रय बढ़ाने का एक ऐसा शस्त्र है जिसका उपयोग सतर्कता तथा बुद्धिमानी से करना चाहिए, अन्यथा धन तथा धर्म (उद्देश्य) दोनों को ही हानि पहुँचती है। इसलिए हमारे विचार में यह वाक्य कि "विज्ञापन मे धन व्यय करना व्यर्थ है" न्यायसंगत नही है।

वैज्ञानिक विज्ञापन का महत्व
(Importance of Scientific Advertisement)

व्यापार मे एक साधारण धारणा है कि विज्ञापन पर सही प्रकार से व्यय तथा उसका सही संगठन करने से व्यापार को निश्चित लाभ होगा। इसी के आधार पर उत्पादन तथा व्यापारी विज्ञापन पर बहुत धन व्यय करते हैं। विज्ञापकों को सोचना है कि वस्तु के प्रचार के लिए जितना अधिक धन व्यय किया जायगा उतना ही अधिक उनको लाभ के रूप मे प्रतिफल प्राप्त होगा। व्यापार के विकास के इतिहास को देखते हुए यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि जो लोग विज्ञापन की आलोचना करते हैं, वे या तो उसके सही सिद्धान्तों से परिचित नहीं हैं अथवा उसका शास्त्रोक्त अनुशीलन नहीं करते।

विज्ञापन के द्वारा वस्तु की माग मे पर्याप्त वृद्धि होती है। साधारणत: सतत् विज्ञापन के द्वारा वस्तु की वर्तमान माँग तो निश्चित रहती ही है, उसके साथ-साथ उसकी नई माँग भी बढती है। इस प्रकार माँग के बढने से उत्पादन को बहुत अधिक लाभ होता है, क्योकि जितनी अधिक माँग बढेगी उतनी ही उसके माल की बिक्री होगी। माल की बिक्री होने से उसको माल का उत्पादन बढाना पडेगा और इस प्रकार उसको अधिक से अधिक लाभ होगा। इसके लिए यह कहा जा सकता है कि अधिक माँग बढने पर यदि उत्पादक उसके अनुरूप न रहा तो वस्तु का मूल्य बढ जायगा और इस प्रकार उपभोक्ताओ को उस वस्तु के लिए अपेक्षाकृत अधिक धन देना पडेगा। लेकिन जो व्यापारी यह चाहता है कि उसका व्यापार स्थायी रूप मे चले तथा उसकी आय स्थायी रहे, वह कभी भी वस्तु के मूल्य मे वृद्धि नही चाहेगा, अर्थात् कम मूल्य पर अधिक से अधिक वस्तु उत्पादित करके उसका प्रसार चाहेगा। उदाहरण के लिए यदि किसी चीज के १०० नग का, जिसका मूल्य ८ रु० प्रति नग या १० रु० किया जाय और माना कि वह १० रु० पर ७० नग बेच सकता है तो उसको १४० रु० अतिरिक्त लाभ होगा। किन्तु यदि उसी वस्तु का मूल्य ८ रु० हो जाने पर उसके १०० नग बिकते है तो उसको ५०० रु० का लाभ हुआ। इस प्रकार माल की वृद्धि एव मूल्य की कमी से व्यापारी को अधिक लाभ होगा। यह लाभ उसको विज्ञापन के द्वारा ही प्राप्त हो सकेगा।

विज्ञापन के द्वारा विक्रेता को एक बहुत बडी सहायता मिलती है, यद्यपि बिक्री-कर्ता के साथ दुकान का नाम तथा वस्तु का महत्व रहता है। फिर भी वह समय-समय पर अपनी बिक्री तथा वस्तुओ के प्रचार के लिए एक विश्वास चाहता है जो कि उसको एक सही विज्ञापक के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। यह उस समय और भी आवश्यक हो जाता है जब कि वह क्रेता के समक्ष खडा हो। यदि उसका सही रूप से विज्ञापन किया गया हो, तो उसको ग्राहक को वस्तु खरीदने के लिए प्रेरित करने मे किसी प्रकार की असुविधा न होगी, अर्थात् वह आसानी से अपनी वस्तु को बेच सकेगा। इस प्रकार उसकी आय मे व्यापक वृद्धि होगी।

सही विज्ञापन करने से व्यापार की दिनोदिन प्रतिष्ठा बढती है, और इस प्रकार यह भविष्य के लिए नीवं का कार्य करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि विज्ञापन के द्वारा व्यापारी को अधिक से अधिक कार्य मिलता है, जिससे ख्याति तथा लाभ मे अधिकाधिक वृद्धि होती है।

हो सकता है कि समय-समय पर उसकी माँग मे कमी हो जाए, परन्तु अधिक आकर्षक विज्ञापन करने से व्यापारी अपनी वस्तु के लिए अधिक ग्राहकों को प्राप्त कर सकता है, जिससे उसकी आय में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार के विज्ञापन को करने के लिये कि वह लाभकारी सिद्ध हो, व्यापारी को सूचनात्मक एव

रचनात्मक विज्ञापन करना चाहिये। उसमें सद्भावना, सेवा-भाव, कार्य-क्षमता, उत्पादन आदि के सिद्धान्त निहित हों, तो विज्ञापन निस्सन्देह लाभकर सिद्ध होगा।

ऊपर किये गये विवेचन से हम निश्चित रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि विज्ञापन यदि छल तथा कपटपूर्ण न हो और वस्तु का सही एवं सच्चा विज्ञापन करे, तो व्यापारी को लाभकर सिद्ध हो सकता है।

भीत विज्ञापन
(Mural Advertisement)

बाह्य विज्ञापन मे दीवारों पर किये जाने वाले विज्ञापन को भीत विज्ञापन (Mural Advertisement) कहते है। नगर तथा ग्रामों में उपयुक्त स्थानों को चुनकर विज्ञापन दीवारों पर लिखकर, पोस्टर चिपकाकर, बिजली का कलात्मक प्रकाश करके तथा बस, ट्राम आदि पर लिखकर किया जाता है। इस प्रकार के विज्ञापन मुख्य रूप मे सलाह देने वाले होते है। इनका उद्देश्य जनता मे उस वस्तु के नाम एवं गुणों का प्रभाव जमाना होता है। प्रत्येक मुख्य स्थान इनके होने के कारण वस्तु का नाम तथा गुण लोगों की दृष्टि मे आते रहते हैं। जिससे कि वस्तु के लिये एक व्यापक वातावरण तैयार हो जाता है। विज्ञापन का यह साधन सबसे पुराना साधन है। जब आधुनिक साधनों का अभाव था, उस समय प्रचार का साधन पत्थरों की शिलाएँ थीं, जिन पर अपने विचार खुदवाकर लोगों में उनका प्रचार किया जाता था। किन्तु प्रचार का यह साधन राजकीय कार्य ही हो सकता था। साधारण व्यक्ति के लिए इसका प्रयोग सर्वथा असम्भव था, किन्तु विज्ञापन की आवश्यकता ने लोगों को इस साधन मे सुधार की ओर सोचने के लिए बाध्य किया और समय के साथ-साथ तथा वाणिज्य के विस्तार के कारण इसमें आशातीत विकास हुआ है। आज के युग मे दीवारों पर लिखना, विज्ञापन का एक अलग ही विषय ही बन गया है और उसमें इतने प्रकार के प्रयोग हो गये है कि लोग इसके जन्म की कल्पना आसानी से नहीं कर सकते।

दीवारों पर किये जाने वाले विज्ञापन हमेशा समाचार पत्रों तथा पत्रिकाओं के पूरक होते हैं। समाचार पत्रों के विज्ञापन सब लोगों को प्राप्त नहीं हो सकते और जो लोग उन समाचार पत्रों को पढ़ते भी है, कभी-कभी वे स्वयम् उसमे दिये गये विज्ञापनों की ओर विशेष ध्यान नही देते। किन्तु दीवारों पर लिखे हुए या टंगे हुए विज्ञापन को शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो, जो न पढ सके। फिर विज्ञापन इस प्रकार से तथा ऐसी उपयुक्त जगह पर लिखे जाते हैं कि पथिक की दृष्टि अवश्य उस पर पड़े और वह उसको पढ़े बिना नहीं रह सके। जब वह इन विज्ञापनों को पढ लेता है तो फिर समाचार पत्रों मे उस विज्ञापन पर दृष्टि पड़ते ही वह उसको अवश्य पढ़ेगा और उसकी विशेष बात जान सकेगा। जो लोग अखबार आदि को नहीं पढ़ते, उनको उस

विज्ञापन को पढने से वस्तु का बोध हो जायगा, और वह किसी दूकान पर उस वस्तु को देखकर उसे अवश्य खरीदने के लिए लालायित हो उठेगा।

दीवारों पर किस प्रकार का विज्ञापन किया जाना चाहिये ?
(How to Display Walls ?)

दीवारों पर किस प्रकार का विज्ञापन किया जाना चाहिए यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। कुछ वस्तुओं का उत्पादन किसी वर्ग विशेष के लिए होता है, और कुछ का सर्वसाधारण के लिये। जिन वस्तुओं का उत्पादन सीमित वर्ग के लिये है उनका दीवारों पर विज्ञापन करना व्यर्थ है, क्योंकि उनके पास तो व्यक्तिगत रूप से भी व्यवहार स्थापित किया जा सकता है। किन्तु उन वस्तुओं का जिनका उत्पादन सर्व साधारण के हित की दृष्टि से किया जाता है, दीवारों का विज्ञापन उनके लिये सर्व श्रेष्ठ होगा। अतः जिन वस्तुओं का जनता में अधिक प्रचलन हो तथा जिनका अधिक प्रचलन किया जा सके, उनका ही इस प्रकार का विज्ञापन किया जाना चाहिए। जैसे–घी, साबुन, कपड़ा तेल, धूप, सिगरेट आदि का विज्ञापन दीवारों के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। कुछ समय तक चलने वाली चीजों के लिये भी यह उपयोगी सिद्ध होता है, जैसे—सिनेमा का कोई नया खेल, नाच गाना, सरकस, थियेटर का नाच तथा कार्यक्रम। साधारण औषधियों के लिये भी यह साधन उपयुक्त सिद्ध हुआ है। इस प्रकार यह निश्चित है कि दीवारों पर वही विज्ञापन अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकता है, जिसका उद्देश्य किसी वर्ग विशेष को आकर्षित न करके साधारण जनता को आकर्षित करना हो। किसी नगर में कोई नई दूकान खुलती है, कोई नया डाक्टर या हकीम आता है तो उसका विज्ञापन भी दीवारों पर सलाभ किया जा सकता है। किसी सीमित क्षेत्र में भी इसका उपयोग लाभकारी सिद्ध हो सकता है। यद्यपि सर्वसाधारण के लिये अन्य साधन भी हैं जिनसे उनको प्रभावित किया जा सकता है, किन्तु दीवारों पर लिखे जाने से विज्ञापन का जीवन बढ़ जाता है और इसलिये यह विज्ञापन उन अन्य प्रकार के विज्ञापनों का सहायक ही सिद्ध होता है।

स्थान का चुनाव (Selection of Site)—दीवारों पर कहां व किस स्थान पर विज्ञापन किया जाना चाहिये ? यह विज्ञापक को पहले ही सोच लेना चाहिये। इसका विचार करते समय विज्ञापक को अलग-अलग प्रकार के मनुष्यों की प्रकृति के विषय में जान लेना आवश्यक है। मार्ग पर चलते समय कुछ लोग नीचे देखने वाले होते हैं, कुछ सामने, तथा कुछ ऊपर। इसलिए नीचे देखने वाले लोगों के लिये विज्ञापन सड़कों पर या दूकानों के निचले भाग पर, सामने देखने वालों के लिए दीवारों के बीचों-बीच; तथा ऊपर देखने वालों के लिए दूकानों के ऊपर तथा दीवारों के सबसे ऊँचे भाग में विज्ञापन लिखे जाने चाहिये। रेल्वे प्लेटफार्म, बस स्टैण्ड तथा

प्रदर्शिनी क्षेत्र पर विज्ञापन १०-१२ फीट की ऊँचाई पर किये जाने चाहिए। चौड़ी-चौड़ी सड़कों पर जहाँ की दीवारें काफी दूर पर हों, मुख्य चौराहों पर बड़े-बड़े साइनबोर्डों पर विज्ञापन किया जाना चाहिए। उन स्थानों पर जो अधिक से अधिक जन-गम्य हों; जैसे—रेल्वे स्टेशन, धर्मशालाएँ, मन्दिर, नदियों के घाट, व्यस्त बाजारों के चौराहे, नदियों के पुल आदि पर ऊपर बताये गये तीनों स्थानों पर किए जाने चाहिए। बस, ट्राम तथा रेलगाड़ियों में विज्ञापन उनके बाहर तथा भीतर आसानी से किया जा सकता है। गलियों के प्रवेश द्वारों पर विज्ञापन इस प्रकार से किया जाना चाहिये कि उनमें से आने-जाने वाले व्यक्ति भी विज्ञापन को भली प्रकार देख सकें तथा उसके द्वारा आकर्षित हो सकें।

इस चुनाव में मनुष्य के देखने का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना आवश्यक है। इस विश्लेषण के द्वारा ही विज्ञापक अपने विज्ञापन के लिए सही स्थान का चुनाव कर सकता है।

विज्ञापन किस प्रकार लिखा जाना चाहिए ?
(How to Write an Advertisement ?)

(२) लक्ष्य तथा उपयोगिता।

(३) विशेषताएँ।

बिना चित्र वाले विज्ञापन में अत्यन्त सूक्ष्म तथा आकर्षक विवरण दिया जाना चाहिए। अक्षर इतने बड़े होने चाहिये कि उनको दूर से ही पढ़ा जा सके। कभी-कभी इस प्रकार के विज्ञापन में नारों का प्रयोग भी लाभप्रद होता है।

भीत विज्ञापन के लाभ

(Advantage of Mural Advertisement)

(१) इसके द्वारा अधिक से अधिक जनता को अपनी वस्तु की सूचना दी जा सकती है।

(२) यात्रा करने वाले लोगों का ध्यान वस्तु की ओर सुगमता से आकर्षित किया जा सकता है।

(३) इसके द्वारा विज्ञापन अत्यन्त कलात्मक ढंग तथा कई प्रकार से किया जा सकता है।

(४) इसके द्वारा फुटकर विक्रेताओं तथा साधारण उपभोक्ताओं पर विशेष प्रभाव पड़ता है, तथा वे वस्तु के लिए माँग पैदा कर सकते हैं।

(५) चूँकि वस्तु का नाम अत्यन्त बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा जाता है, इसलिए वस्तु का नाम तो सभी लोगों के ध्यान में आ जाता है।

(६) विज्ञापन के आकार को बढ़ाने का अवसर भी इस प्रकार के विज्ञापन में सम्भव हो सकता है।

(७) इसमें अनेक प्रकार के रंगों का प्रयोग बहुत कम मूल्य पर तथा सुगमता के साथ किया जा सकता है।

विज्ञापन का उद्देश्य

(Object of Advertisement)

विज्ञापन का सिद्धान्त अपनी वस्तु की सच्ची उपयोगिता बताकर पाठकों को उसको खरीदने के लिये प्रेरित करना है। इसलिए विज्ञापन में इसी प्रकार की बातों का उल्लेख किया जाता है जो क्रेताओं को उस वस्तु की सही-सही जानकारी करा सकें तथा उस वस्तु को प्राप्त करने की लालसा उत्पन्न कर सकें। किन्तु आजकल कुछ व्यापारी एक निम्न श्रेणी का विज्ञापन भी करते हैं, जिसमें वे अपनी वस्तु की जानकारी कराने की अपेक्षा अपने प्रतियोगी की वस्तु की निन्दा कर उसकी वस्तु से अपनी वस्तु की श्रेष्ठता बताने का प्रयत्न करते हैं। विज्ञापन का यह दूषित भाग है। प्रायः देखा गया है कि 'अ' अपनी वस्तु का प्रचार करते समय 'ब' की वस्तु से अपनी वस्तु को श्रेष्ठ बताता है, तथा इसी प्रकार 'ब' भी 'अ' की वस्तु के विरुद्ध विज्ञापन

करता है। इस प्रकार वे दोनो एक-दूसरे के विज्ञापनो को समाप्त कर देते हैं और विज्ञापन पर व्यय किया धन व्यर्थ जाता है।

ऊपर बताये गये कथन से यह सिद्ध होता है कि ये दोनो प्रतियोगी स्वस्थ विज्ञापन की कला मे पूर्ण रूप मे अनभिज्ञ है, और समाज मे भ्रमात्मक प्रचार कर रहे है। इस प्रकार के प्रचार करने मे व्यापारी आमतौर पर आवश्यकता से अधिक असत्य प्रचार करते हैं तथा वस्तु के गुण-दोषो को बताने की अपेक्षा व्यक्तिगत टीका-टिप्पणी करने पर उतारू हो जाते है। जिसके फलस्वरूप उन दोनो को तो हानि होती ही है, किन्तु पाठको के ऊपर इनका बडा विषम प्रभाव पड़ता है। लोग उनकी वस्तुओ तथा इस प्रकार की अन्य वस्तुओ के प्रति सशंकित हो जाते है और उनकी वस्तु मे विश्वास नहीं रहता। जो व्यापारी इस निन्दनीय कार्य को करते है उनको सर्वदा यह इच्छा रहती है कि वे अपने प्रतियोगी को गिराकर उस वस्तु मे एकाधिकार प्राप्त कर लें। किन्तु वह भूल जाता है कि बुरा कहने वाले को भी बुरा कहा जाता है और लोग उसका भी उतना अविश्वास करने लगते है, जितना उसका जिसके विरुद्ध उसने बुरा प्रचार किया है। इससे व्यापारिक प्रगति को एक बहुत बडी चोट पहुँचती है, क्योंकि इस प्रकार के विज्ञापन से वस्तु की माँग गिर जाती है और उसके उत्पादन तथा प्रदाय को एक बहुत बडा धक्का लगता है। इस हानि के कारण अनेकों उत्पादन व्यवसाय समाप्त हो जाते है, जिसमे कि उन व्यवसायो द्वारा जीविका कमाने वाले व्यक्ति बेकार हो जाते है एव उसमे लगी हुई पूँजी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार समाज को एक आर्थिक हानि का सामना करना पडता है। इस प्रकार 'अ' और 'ब' के आपस के कुचलन मे उनको ही नहीं, वरन् सारे समाज को एव व्यवसाय को हानि उठानी पडी। इसलिए उनके इस प्रकार के विज्ञापन से केवल धन का ही दुरुपयोग नहीं हुआ, अपितु समाज की मानसिक शक्ति का भी एक विशेष सीमा तक ह्रास हुआ।

तटस्थ विज्ञापन—उस विज्ञापन को कहते है जिसमे किसी दूसरे की वस्तु का उल्लेख न करके केवल अपनी वस्तु के गुण तथा उपयोगिता का उल्लेख किया जाय। इस विज्ञापन को इस ढग से लिखा जाता है कि लोग जिस वस्तु का विज्ञापन पढ रहे हों उसके विषय मे पूर्ण जानकारी प्राप्त कर सकें तथा उसको खरीदने के लिए प्रेरित हो सकें। इस प्रकार के विज्ञापन मे क्रेता एक ही प्रकार की उन समस्त वस्तुओ के गुण तथा उपयोगिताओं की जानकारी प्राप्त करके उनमें सबसे अधिक उपयोगी, सस्ती तथा टिकाऊ वस्तु को खरीदने के लिए एक निश्चित निर्णय पर पहुँच सकेगा और इस प्रकार उसको अपने व्यय किये हुए धन की पूर्ण उपयोगिता प्राप्त हो सकेगी। उत्पादक की दृष्टि से भी इस प्रकार का विज्ञापन लाभदायक सिद्ध होता है। क्योंकि यदि विज्ञापन निष्पक्ष तथा स्पष्ट है, और साथ ही वस्तु भी विज्ञापन,

के अनुरूप है तो लोगो मे उसकी माँग बढ़ेगी। अतः उत्पादक अधिक से अधिक उत्पादन करके अधिक लाभ कमा सकेगा और उसको अपने व्यापार को बढ़ाने तथा वस्तु मे सुधार करने का अवसर प्राप्त हो सकेगा। सरकार को भी इस बढ़ते हुए व्यापार के कारण प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप मे लाभ हो सकेगा। इस प्रकार सामाजिक दृष्टि से तटस्थ विज्ञापन अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है, क्योंकि इससे समाज तथा राष्ट्र के सभी अगो को किसी न किसी रूप मे लाभ होता ही है। अस्तु विज्ञापन को सर्वदा निष्पक्ष तथा तटस्थ विज्ञापन होना चाहिये। ऐसे विज्ञापन को प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिये, जिससे व्यापारिक तथा समाजिक प्रगति मे बाधा उत्पन्न हो।

सहकारी विज्ञापन
(Co-operative Advertisement)

आपस मे प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त करने, विज्ञापन पर कम व्यय करने, स्वस्थ वातावरण बनाने के लिये तथा वस्तु की प्रसिद्धि के लिये अधिक धन जुटाने के लिये जब एक ही प्रकार के सब निर्माता या व्यापारी आपस मे मिलकर सहकारी पद्धति के अनुसार विज्ञापन करना प्रारम्भ करते है, तो उसको सहकारी विज्ञापन कहा जाता है। जब व्यापारी अपनी वस्तु का विज्ञापन स्वतन्त्र रूप से करता है तो उसे उसके लिये क्षेत्र बनाना होता है और अपने प्रतिद्वन्द्वी को मार्ग मे से हटाने के लिए प्रयत्न करना होता है। इसकी पूर्ति के लिये विज्ञापन मे नवीन साधनों को प्रयोग मे लाना आवश्यक है। प्रतिद्वन्द्वी भी इसी प्रकार की विज्ञापन प्रणाली अपनाता है। अतः उनके इस प्रकार के क्रम से विज्ञापन मे भारी व्यय शुरु हो जाता है, जिसका वहन भी कभी-कभी व्यापार के लिए असह्य हो जाता है। इसके साथ ही साथ विज्ञापन स्वस्थ न रहकर अस्वस्थ हो जाता है और उसमे बहुत-सी अनावश्यक बातो का समावेश हो जाता है। इस प्रकार से विज्ञापन के सारे सिद्धात समाप्त हो जाते है। यदि अलग अलग स्वतंत्र विज्ञापन मे प्रतिस्पर्धा का प्रश्न भी नही हो, तो भी उसमें एक व्यक्ति के द्वारा उतना विज्ञापन नही किया जा सकता, जिससे उसकी वस्तु का विज्ञापन सर्वत्र हो सके। वह अपनी निजी कठिनाइयो के कारण भी नवीनतम साधनों का प्रयोग नहीं कर सकता है तथा उसको विज्ञापन की नई रीतियो का अन्वेषण करने का अवसर भी प्राप्त नहीं हो सकता।

उपर्युक्त समस्याओ के निवारण करने तथा व्यापार को उन्नत बनाने के लिए एव आपस मे संगठन तथा सद्व्यवहार स्थापित करने के लिए कई व्यापारी या व्यापारिक संस्थाएँ आपस मे मिलकर एक संयुक्त मोर्चा बना करके विज्ञापन को कर सकते है। इसमे यह आवश्यक है कि संयुक्त मोर्चा बनाने वाले व्यापारी या उत्पादक एक ही व्यवसाय के हों। अथवा सम्बन्धित व्यवसायो (वे व्यवसाय जो एक-दूसरे के पूरक हो) के हो इस प्रकार की पद्धति के अपनाने के लिये व्यापारी या व्यवसायियो

भारतवर्ष में सहकारी विज्ञापन पद्धति का प्रयोग बीमा कम्पनियों, रेल्वेज, जूट मिल्स आदि में किया जाता है।

X सूचीपत्र
(Price List)

सूचीपत्र तैयार करने के लिए हमें किन-किन बातों का विचार कर लेना चाहिए तथा उसकी रूपरेखा किस प्रकार की होनी चाहिए ? अतएव सर्वप्रथम हमको यह विचार कर लेना चाहिए कि सूचीपत्र में प्रायः किन-किन बातों का उल्लेख किया जाता है तथा उसका प्रयोग किन-किन अवस्थाओं में किया जाता है। सूचीपत्र निर्माताओं या थोक व्यापारियों के द्वारा छापा जाता है। इसमें निर्माता या व्यापारी का नाम, वस्तु का नाम तथा विस्तृत वर्णन, वस्तु का मूल्य तथा उस पर दी जाने वाली छूट आदि दिया होता है। इसमें समय-समय पर परिवर्तन भी किया जाता है, जिसके कारण इसका समय-समय पर प्रकाशन होता रहता है। इन सूचीपत्रों को डायरी के साथ भी जोड़ दिया जाता है। व्यापारी सूचीपत्रों के द्वारा अपने पक्के या भावी ग्राहकों को बनाये रखने तथा बनाने का प्रयत्न करता है। उन लोगों के लिए भी सूचीपत्र बड़ी सुविधा के साथ भेजे जा सकते हैं, जो उस वस्तु या उस व्यापार के द्वारा व्यवहारित वस्तुओं के लिये किसी प्रकार की पूछ-ताछ करें। किसी ग्राहक के पूछ-ताछ करने पर व्यापारी यदि उस वस्तु की जानकारी कराते हुए अन्य वस्तुओं की भी जानकारी करवाता है तो उसके व्यापार में भविष्य में वृद्धि होने की संभावना बन जाती है।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए सूचीपत्र के बनाने वालों को नीचे दी गई बातों का ध्यान रखना आवश्यक होगा—

(१) सूचीपत्र का आवरण आकर्षक तथा प्रभावशाली हो, क्योंकि इस प्रकार के विज्ञापन का उद्देश्य एक सीमित क्षेत्र में व्यक्तिगत रूप से लोगों को प्रभावित करके उनको ग्राहक बनाना होता है। जैसा प्रायः आवरण को देखकर ही सूचीपत्र का मूल्यांकन कर लेते हैं। इसलिए आवरण का आकर्षक होना आवश्यक है।

(२) सूचीपत्र के लिये जिस आवरण का प्रयोग किया जाय उसका कागज अपेक्षाकृत अच्छा होना चाहिए। भारतीय व्यापारी सूचीपत्र के कागजों की ओर विशेष ध्यान नहीं देते। विदेशी सूचीपत्रों तथा भारतीय सूचीपत्रों में यह अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। यदि कागज सुन्दर हो व उस पर अच्छी छपाई की गई हो तो वह साधारण कागज तथा साधारण छपाई वाले सूचीपत्र की अपेक्षा अधिक चित्ताकर्षक तथा प्रभावशाली होते हैं।

(३) पुस्तक में वस्तु के समस्त आवश्यक गुण तथा उपयोगिताओं का उल्लेख

किया जाना चाहिये, यह उल्लेख किसी निश्चित क्रम से किया जाना चाहिये। गुणों की प्रशंसा करते समय प्रायः उसके लिए अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों की क्या राय है—यह भी देना चाहिये। इसमे विवरण देते समय यह ध्यान मे रखना चाहिये कि विवरण मे अधिक से अधिक सूक्ष्म रूप मे सारी बातो का उल्लेख कर देना चाहिये जो आवश्यक है।

(४) मूल्य का उल्लेख करते समय वस्तु का मूल्य तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली बातें, बटाव आदि का उल्लेख भी किया जाना चाहिये। मूल्य-सम्बन्धी उल्लेख इस प्रकार का होना चाहिये कि वह सही तथा प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण हो।

(५) सूचीपत्र की भाषा अत्यन्त सरल तथा स्पष्ट होनी चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो सके प्रावैधिक शब्दों का उपयोग कम से कम करना चाहिये। उन सूचीपत्रों में, जिनका उद्देश्य किसी विशिष्ट समुदाय के लिए, जो उन वस्तुओं की प्रावैधिकता की अच्छी जानकारी रखते हैं, कठिन तथा विशिष्ट शब्दों मे भी दिया जा सकता है। ऐसे सूचीपत्र सर्वसाधारण के लिये नहीं होते।

(६) भाषा अत्यन्त रोचक तथा आकर्षक होनी चाहिये, तथा उसमें पाठकों के हृदय मे जिज्ञासा उत्पन्न करने की शक्ति होनी चाहिये, जिससे सूचीपत्र को पढ़ने वाला उस वस्तु को मँगवाने के लिए प्रेरित हो सके।

(७) सूचीपत्र का आकार उचित तथा आकर्षक होना चाहिए।

सूचीपत्र का प्रयोग
(Use of Price List)

सूचीपत्र को उत्पादक तथा व्यापारी अपने ग्राहकों के बीच वितरित करते है। सूचीपत्र के बनाते समय उसमे लिखी गई बातो को बहुत सावधानी से विचार लेने के पश्चात् ही लिखा जाना चाहिए, क्योंकि इसमें दिये गये अंकों और सूचनाओं से वस्तु की माँग के घटने-बढ़ने का बड़ा डर रहता है। फिर उन सूचीपत्रों को लोग हवाले के लिए रखते है, इसलिए यह अनिवार्य है कि इसमें दी हुई सूचना स्पष्ट एवं सच्ची हो। यह सूचना विज्ञापन तथा पुराने ग्राहकों या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा वस्तु के विषय मे पूछ-ताछ किये जाने पर उत्तर के रूप मे भेजी जा सकती है। समय-समय पर अपनी नई वस्तु के विज्ञापन के लिये तथा अपने ग्राहकों को समय-समय पर याद दिलाने के लिए इस प्रकार के सूचीपत्रों को भेजना लाभप्रद होता है। ग्राहक वस्तु के मूल्यों से अवगत होते रहे, इसलिए इस प्रकार के सूचीपत्रों का प्रयोग किया जाना चाहिये।

सूचीपत्रों को बनाना तथा उनका प्रचार करना उन व्यापारियों के लिए बहुत आवश्यक है, जो एक ही प्रकार की कई वस्तुओं का निर्माण तथा व्यापार करते

है। पुस्तक विक्रेता, मशीनों के हिस्से बनाने वाले तथा विक्रेता आदि को सूचीपत्रों का विज्ञापन करना आवश्यक होता है।

व्यापार की स्थिति और विज्ञापन—विज्ञापन सामान्य रूप में तीन प्रकार के व्यापारी करते हैं—निर्माता, थोक व्यापारी तथा फुटकर व्यापारी।

निर्माता को यों तो अपनी वस्तु के लिए उपभोक्ताओं से सीधा सम्पर्क करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह अपना माल थोक व्यापारियों या प्रतिनिधियों द्वारा बेचता है, किन्तु उसके हित में हमेशा यही रहता है कि उसकी वस्तु की अधिकाधिक जानकारी हो सके। इसलिये वह भी अत्यन्त व्यापक आधार पर विज्ञापन करता है। उसके विज्ञापन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है और प्रायः वस्तु की विशुद्ध जानकारी करवाने का प्रयत्न करता है। जहाँ तक 'चिन्हों' 'वाक्यों' 'मोटो' आदि का प्रश्न है वह उन्हीं को अपनाता है जो उसके थोक व्यापारियों अथवा प्रतिनिधियों द्वारा अपनाये जाते हैं और जिनसे उसके माल को प्रसिद्धि मिलती है तथा उपभोक्ता जानते हैं।

थोक व्यापारी सामान्य रूप से माल सीधा उपभोक्ताओं को न बेच कर फुटकर व्यापारियों को बेचता है। इसलिये वह अपने माल की प्रसिद्धि अधिकांश फुटकर विक्रेताओं तक ही सीमित रखता है। इसके लिये उसको व्यक्तिगत सम्पर्क के लिए पत्र व्यवहार, सूचीपत्र, विक्रय साहित्य, नमूने आदि का प्रयोग करना पड़ता है।

फुटकर व्यापारी का कार्य उस समय प्रारम्भ होता है जब वस्तु का व्यापक प्रचार हो गया हो। उसको तो प्रचार केवल अपनी बिक्री के संकुचित क्षेत्र में ही करना होता है, जिसमें उसके ग्राहकों को वस्तु की उपलब्धता का ज्ञान रहे तथा ग्राहक उसकी ओर आकर्षित हो सकें। इसके लिये हेन्ड-बिल, सिनेमा स्लाइड, ट्राम, बस, रेलवे स्टेशनों आदि का विज्ञापन करके काम चलाता है। भीत विज्ञापन भी उसके लिये महत्वपूर्ण होता है।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 What do you understand by scientific advertising? Explain clearly the essentials of a scientifically drafted copy of an advertisement, *or*
'Advertising is a sort of machine-made, mass-production method of selling'. Comment, *or*
What are the requisites of a good copy for a magazine advertisement.

2 What are the possible media of business advertisement? Enumerate the factors that govern their selection, *or*
State the various ways in which goods are brought to the notice

of the public to induce or enhance sales. Bring out the merits and demerits of newspapers and magazines as advertising media.

3 Estimate the value of business publicity on modern lines. Mention a few forms of publicity with their merits which could be advantageously adopted by a wholesale dealer in bicycles.

4 'Money spent on advertisement is wasteful'. Do you agree? Give reasons for your answer.

5 'It pays to advertise.' Do you agree? Justify your views by specific reasons

6 Write a short essay on 'Mural Advertisement'.

7 'X in effect announces that his product is superior to Y; and Y announces the contrary The announcements cancel each other out, and are shear waste . . . Comment on this description of advertising. If advertising is neutral in its effects, how would you justify it from the point of view of society as a whole?

8 Write a note on Co-operative Advertisement.

9 Draft a copy of an advertisement for Fountain Pen Ink in a daily newspaper and point out the essential element the copy should have to serve the purpose.

10 State what points would you consider and what details would you note when preparing a catalogue for advertisement purposes.

विक्रय कला

(Salesmanship)

अर्थ (Meaning)—साधारण शब्दों में विक्री कला का अर्थ माल को बेचना होता है। किन्तु विक्री कला का यह सही अर्थ नहीं हुआ कि किसी अनिच्छित वस्तु का, जिसके लिये न तो माँग है और न आवश्यकता ही, तथा जिसका प्रदाय आवश्यकता से अधिक है, सैद्धान्तिक तथा नैतिक दृष्टि से उसका व्यापार किया जाना अनुचित है, क्योंकि इस प्रकार की विक्री स्थाई नहीं रह सकती और कुछ समय के अन्दर उसकी बिक्री बढने के बजाय घटनी निश्चित है। इस प्रकार की विक्रय-वृद्धि से व्यापार तथा विक्रेता की प्रतिष्ठा में भारी अन्तर आ सकता है। उचित और अनुचित विक्री का अन्तर एक अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर है और इसमें निश्चित रूप से कोई सीमा निर्धारित करना कठिन होता है। अपनी व्यापारिक वस्तु के लिये व्यक्तियों को उकसाने में विक्रेता को केवल उस वस्तु का विशिष्ट ज्ञान ही नहीं होना चाहिये, अपितु विक्री कला की मनोवैज्ञानिक जानकारी होना भी आवश्यक है। इसके लिये विक्री कला की अनेक प्रकार से परिभाषा दी गई है। कुछ कहते है "अपनी वस्तु को क्रेता के पास प्रस्तुत करने तथा प्रदान करने की उस कला को विक्री कला कहते हैं, जिसमें क्रेता उसकी आवश्यकता तथा उपयोगिता की प्रशंसा करने लगे और जिसमें स्वतः ही वस्तु की बिक्री बढ जाय।" श्री ब्लेक के "अनुसार विक्री कला क्रेता के विश्वास को जीतने की कला है, जिसमें उसको विक्रेता की व्यापार शैली में विश्वास उत्पन्न हो जाय तथा वह उसका पक्का ग्राहक बन सके।" निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि अपनी वस्तु को अत्यन्त उत्तम ढंग से प्रस्तुत करना, क्रेता का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके वार्तालाप करना तथा अपनी वस्तु को अत्यन्त आकर्षक ढङ्ग से बेचने की शैली को 'विक्री-कला' कहेंगे।

अच्छे विक्रेता की विशेषताएं
(Requisites of Good Salesman)

(१) सर्वप्रथम यदि कोई व्यक्ति अपने विचारों को सफलतापूर्वक बेच सकता है तो वह माल को भी बेच सकेगा। विद्वानों का कहना है कि यदि कोई अपने जीवन में सफल होना चाहता है तो उसको अपने आसपास तथा जिन लोगों से उसका सम्पर्क हो उनमें उसे अपने विचारों को सफलतापूर्वक बेचने की कला

है। कहावत है कि यदि कोई व्यक्ति हँसमुख न हो तो उसे दुकान नहीं खोलनी चाहिए। यदि मनुष्य व्यावहारिक तथा हँसमुख है तो बड़ी सरलता तथा शीघ्रता से अपने मित्र बना सकेगा और यदि वाक्पटुता में कुशल है तो उनको प्रभावित कर स्थिरता में स्थिरता लाने में सफल हो सकेगा। यह बिक्री कला के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

(७) कुशल विक्रेता को एक 'धैर्य पूर्वक सुनने वाला' भी होना चाहिए। उसको श्रोताओं के विचारों को सुनने में एक चाव उत्पन्न करना चाहिए। यदि वह उनके सुझाव व आलोचनाओं को सुनना पसन्द नहीं करता तो वह अपने ग्राहकों को खो बैठेगा और धीरे धीरे लोग उससे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर देंगे। उसको यह मान कर चलना चाहिये कि ग्राहक हमेशा सत्य बोलता है और इसलिये उसको वार्तालाप ग्राहक के दृष्टिकोण को रखकर ही करना चाहिए और उन बातों से उसको यह प्रदर्शित कर देना चाहिए कि ग्राहकों के विचारों का पूर्ण आदर किया जा रहा है एक बार डिजरैली ने कहा, "किसी आदमी से उसके विषय में बात करो, वह तुमसे घण्टों तक सुनता रहेगा।" इस विवाद में उसको उन तमाम प्रश्नों को छोड़ देना चाहिए जो विवादास्पद प्रश्न हैं।

(८) कुशल विक्रेता में 'उत्साह' होना अत्यन्त आवश्यक है। जब तक वह उत्साही तथा उद्योगी न होगा, तब तक उसके लिये बिक्री कला में सफलता प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि उत्साह ही मनुष्य में नई आकांक्षाएँ पैदा करता है तथा उसकी पूर्ति के लिये कठिन परिश्रम करवाता है यह व्यापार में उसी प्रकार है जिस प्रकार सैनिक को सेना में देश-भक्ति। एक उत्साही व्यक्ति अनेकों व्यापारियों का कार्य बड़ी सफलतापूर्वक कर सकता है।

(९) अच्छे विक्रेता को एक अच्छा 'महत्वाकांक्षी' होना भी आवश्यक है, क्योंकि महत्वाकांक्षा ही उसको अपने कार्य में उत्साह दिलायेगी तथा उसमें उत्पन्न करने के लिये उसको प्रेरित करेगी। मनुष्य तब तक जीवन में प्रगति नहीं कर सकता, जब तक कि उसमें महात्वाकांक्षा न हो।

जार्ज वाशिंगटन ने एक बार कहा था कि उसकी सफलता का एक मुख्य कारण उसकी जीवन में महात्वाकांक्षा ही है। प्रायः कितने ही महान् व्यक्ति हुए, यदि उनमें कोई और आकांक्षा न रही हो, पर महात्वाकांक्षा अवश्य थी और तभी वे जीवन में बड़े काम कर सके। कुशल विक्रेता के लिये यह आवश्यक है कि वह महत्वाकांक्षी हो।

(१०) कुशल विक्रेता को जीवन में 'उन्नति करने की लालसा' रखनी चाहिए। जिस व्यक्ति के जीवन में उन्नति की लालसा नहीं होती वह कोई कार्य नहीं कर सकता। जीवन में चाव उत्पन्न करने तथा उसको सघर्षमय बनाने के लिये यह

आवश्यक है कि मनुष्य को अपने जीवन को उन्नत बनाने की अभिलाषा बनी रहे। यह उन्नति आर्थिक तथा समाजिक दृष्टि से होती है। यदि विक्रेता अच्छा कार्य करेगा तो उसका उसके व्यापार क्षेत्र में सम्मान होना निश्चित है। इस सम्मान के कारण उसकी व्यापारिक प्रतिष्ठा बढ़ सकेगी तथा उसका कार्य-मूल्य भी बढ़ जायगा और उसकी आजीविका सुरक्षित होने के साथ-साथ उसको भविष्य में उन्नति करने के अवसर भी प्राप्त होंगे।

अच्छी बिक्री के लिये ध्यान देने योग्य बातें

(Points to be Noted to Increase Sales)

किसी भी व्यापार में विक्रेता का सुयोग्य होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि व्यापार में किसी व्यक्ति को विक्रेता के स्थान पर नियुक्त किया जाय तो उसके लिये यह आवश्यक है कि वह वस्तु के विक्रय को अधिक से अधिक बढ़ाये। बिक्री को बढ़ाने के लिये प्रत्येक विक्रेता को निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी होंगी—

(१) ध्यान आकर्षित करना (Attract Imagination).

(२) रुचि उत्पन्न करना (Create Interest).

(३) विश्वास जमाना (Establish Confidence).

(४) खरीदने के लिये प्रेरित करना (Induce to Purchase),

(५) अपना पक्का ग्राहक बनाना (Make Permanent Customer),

(१) ध्यान आकर्षित करना—कोई भी विक्रेता क्रेता से व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करने के लिये उसको अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करता है, क्योंकि जब तक ग्राहक उसके निकट नहीं आयेगा तब तक वह अपना विक्रय-कौशल उसे नहीं दिखा सकता। इसलिये उसका आकर्षित करने का सबसे पहला उद्देश्य होना चाहिए। इसके लिये विक्रेता को ध्यान में रखना चाहिए कि वह सफल विक्रेता तभी बन सकता है, जब वह आकर्षित करने के सिद्धान्त का पूर्ण रूप से पालन कर सके। इसके लिये उसे देखना चाहिए कि दूकान ठीक प्रकार से सजी हुई है तथा आम आवश्यकता की वस्तुएँ इस प्रकार से लगी हुई हैं कि मार्ग पर चलने वालो का ध्यान केन्द्रित कर सकें। दुकान इस प्रकार सजी हुई होनी चाहिये कि ग्राहक उन वस्तुओं को देखते ही आकर्षित हो सकें तथा उनके विषय में जानने की इच्छा करें। रात्रि में दुकान में पूर्ण रूप से प्रकाश होना चाहिए। दुकान के द्वार, खिड़की तथा उसका सारा स्वरूप इस प्रकार से सुसज्जित होना चाहिए कि ग्राहक अन्दर आने की इच्छा कर सके। जहाँ वह दुकान के अन्दर आ जाता है तो विक्रेता की अभीष्ट सिद्धि हो जाती है। इसके लिए खिड़की प्रदर्शनी (Window Dressing) आज कल का बहुत अच्छा साधन है। इसमें वस्तुओं को इस प्रकार से सजाया जाता है कि

उनको देखने के लिये दर्शकों की भीड़ भी लग जाती है और जो कोई वस्तु उनकी रुचि के अनुकूल होती है वे उसको खरीद लेते हैं।

जनता को आकर्षित करने के उद्देश्य से जो सजावट की जाती है उसके लिये सर्वप्रथम ग्राहक उन्हीं वस्तुओं को देखता है। इस वस्तुओं पर कभी मूल्य लिखा होता है, कभी नहीं। मूल्य लिखने से ग्राहक को तुरन्त यह पता चल जाता है कि पसन्द होने पर भी वह उस वस्तु के मूल्य को देने में समर्थ हो सकता है या नहीं। यदि मूल्य उसकी सामर्थ्य के अनुसार हुआ तो वह उसके लिये पूछताछ कर सकता है। किन्तु यदि उसमें इतना धन देने की सामर्थ्य नहीं है, तो वह दुकान के अन्दर जाकर अपना और विक्रेता का समय नष्ट न करेगा। जब उन पर मूल्यांकन नहीं होता और दर्शक के वस्तु पसन्द आ जाती है तो उसको दुकान में जाना पड़ता है और न खरीदने की अवस्था में अपना और विक्रेता का समय नष्ट करना है। इसलिये मूल्यों को लिख देना सर्वथा उचित है।

भारतवर्ष में इस प्रकार की क्रियाएँ कुछ बड़े-बड़े शहरों में ही अपनाई जाती हैं। किन्तु विक्री की दृष्टि से इस व्यय को विनियोग समझकर प्रत्येक व्यापारी को किसी न किसी रूप में अपनी दुकान को आकर्षित बनाना ही चाहिए।

(२) रुचि उत्पन्न करना—दूकान को चटकीला-भटकीला बनाकर आकर्षित ही पर्याप्त नहीं होता , वरन् उसको देखकर देखने वाले में रुचि उत्पन्न हो जाने से उसका कार्य पूरा हो जाता है। इसलिए उसमें रुचि को बढ़ाने वाली वस्तुओं को श्रेणीबद्ध रखना आवश्यक है।

मनुष्य की रुचियाँ तीन प्रकार की होती है--(१) मानवीय रुचि, (२) समाचार सम्बन्धी रुचि; तथा (३) नवीन रुचि। यदि हम किसी व्यक्ति की मूर्ति को एक पोशाक पहिने हुए देखते हैं तो उसमें हमको अपने लिए भी वैसी ही पोशाक बनाने की रुचि पैदा हो सकती है। इसको हम 'मानवीय रुचि' कहेंगे। किंग-काग को हरक्यूलस साइकिल के ऊपर चित्रित करके हरक्यूलिस की ओर आकर्षित करने को 'समाचार रुचि' कहेंगे। जैसे—कोई साइकिल आवश्यकता पड़ने पर मोटर साइकिल बनाई जा सके और उसमें कोई विशेष व्यय न हो इस प्रकार का प्रदर्शन 'नई रुचि' कहलायेगा।

ग्राहकों की वस्तु में रुचि बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी रुचि को ध्यान में रखते हुए प्रदर्शन अत्यन्त कलात्मक ढंग से किया जाय।

(३) विश्वास जमाना—तीसरी बात जो विक्रेता को सैद्धान्तिक रूप में ध्यान में रखनी चाहिए, वह ग्राहक को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट कर उसका विश्वास दुकान तथा वस्तु में जमाना है। जब ग्राहक बाह्य आकर्षण से दुकान में प्रवेश पाता है तो वहाँ से विक्रेता का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। उसको अपने व्यवहार, नम्रता तथा

कौशल से ग्राहक को इस प्रकार से सन्तुष्ट करना चाहिए कि वह स्वयं तो उस दुकान का पक्का ग्राहक बने ही। इसके साथ-साथ वह अपने मित्रों को भी उस दुकान से सामान लेने के लिए प्रेरित करे। व्यापारियों के बीच कहावत है कि एक सन्तुष्ट ग्राहक सबसे बड़ा विज्ञापन होता है। क्योंकि वह जहाँ पर भी जायगा, वहाँ उस दुकान की तथा उसके विक्रेता की प्रशंसा अवश्य करेगा। विज्ञापन द्वारा जो प्रचार किया जाता है उससे यदि १० प्रतिशत आदमी प्रभावित हो सके तो ९९ प्रतिशत आदमी विक्रेता के प्रभाव से सन्तुष्ट होते हैं। अस्तु विक्रेता को निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए—

(१) वस्तु का पूर्ण संग्रह हो तथा उसका ठीक विवरण दिया जा सके।

(२) माँगी जाने वाली वस्तुएँ निकट से निकट की रखी जायँ, जिससे माँगने पर तुरन्त दी जा सकें।

(३) दुकान अत्यन्त स्वच्छ तथा व्यवस्थित रखनी चाहिए तथा उसके तापमान में जहाँ तक हो सके अनुकूलता आनी चाहिए। जिससे किसी अवसर पर कोई व्यक्ति सुविधा से बैठकर दुकान से वस्तु खरीद सके।

(४) वस्तुओं को क्रमानुसार रखना चाहिए जिससे ग्राहकों को उनमें से वस्तु चुनने में सुविधा हो सके।

(५) उसका व्यवहार, वाक्पटुता तथा नम्रता इस प्रकार की होनी चाहिए कि वह व्यापारी को संतुष्ट कर सके।

(६) व्यापारी को सतुष्ट करने के लिए सहनशीलता तथा ईमानदारी आवश्यक है। ग्राहक जिस प्रकार की भी बातें करता हो, उसको शान्ति से सुनना विक्रेता का कार्य है।

(४) खरीदने के लिए प्रेरित करना—चौथा प्रश्न विक्रेता को वस्तु को खरीदने के लिए प्रेरित करता है। यह कितने ही प्रकार से किया जा सकता है। यदि क्रेता उस वस्तु की माँग करे, उसका तुरन्त वृतान्त यदि बाजार ऊँचा जा रहा है तो विक्रय की समाप्ति तुरन्त करके, या ग्राहक को कुछ प्रलोभन देकर, यदि माल की माँग अधिक हो और उतना प्रदाय न हो तो ग्राहक को कुछ दिन रुकने की प्रार्थना करके कि उसका माल शीघ्र ही जाने वाला है, आदि। इसके अलावा विक्रेता के सामने कुछ ऐसे भी कार्य होते हैं जिन पर उसे नियन्त्रण रखना चाहिए, जैसे—ग्राहक से अधिक बातें न करना तथा उसे सोचने के लिए समय देना, ग्राहक की बातों पर क्रोध न करना तथा उसमें अशिष्ट व्यवहार न करना, ग्राहक के सामने वस्तु के गुण की इस प्रकार प्रशंसा न करना जिससे वह ऊब जाय तथा अनावश्यक सुझाव न देना।

विक्रेता को उचित सुझाव भी देने चाहिए। कभी-कभी ग्राहक वस्तु के चुनाव में असफल रहता है और उसको सलाह की आवश्यकता होती है—ऐसे समय में

हुए भी वह अपने पक्के ग्राहक बनाने में सफल नहीं हो सकेगा। अस्तु ग्राहकों को अपना बनाने के लिए यह आवश्यक है कि ग्राहकों को सही और सच्चा माल दिया जाय।

भारतवर्ष में पिछले कुछ वर्षों में यह कपटपूर्ण व्यवहार बहुत बढ़ने लगा है। आजकल हमारे देश में घी, दूध, तेल आदि में प्रायः इस प्रकार की मिलावट की जाने लगी है कि लोगों को अब हर प्रकार के घी, दूध, तथा तेल पर सन्देह होने लगा है और वे यह मानकर चलते हैं कि हर एक वस्तु में मिलावट है। इस प्रकार के कपटपूर्ण व्यवहार से भारतीय व्यापार बदनाम हो रहा है। अभ्रक में इस प्रकार का व्यवहार होने के कारण अमेरिका का विश्वास भारतीय अभ्रक व्यापारी से उठ गया और इसका प्रभाव यह हुआ कि भारत के अभ्रक निर्यात में एक व्यापक मन्दी आ गई। इसलिए ग्राहकों को पक्का बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि उनको अच्छा माल दिया जाय।

लाभ उठा सकता है तथा अनेकों कठिनाइयों एवं असफलताओं के बीच भी अपने प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के कारण उन्नति का मार्ग पर अग्रसर होता रहता है।

(इ) प्राविधिक ज्ञान (Technical Knowledge)—जिस वस्तु की बिक्री करने के लिये वह नियुक्त किया जा रहा हो, उसको उसमें पूर्ण योग्यता प्राप्त होनी चाहिए तथा उसको उसकी बारीकियों की भी अच्छा ज्ञान होना चाहिए, जिससे वह अपनी वस्तु के बारे में बताते हुए कहीं पर न रुक सके। इसके साथ-साथ उसको कुछ विदेशी भाषाओं का ज्ञान होना भी लाभप्रद है। इस योग्यता को प्राप्त करके वह उस देश के लोगों से उसकी भाषा में वार्तालाप करके उनको सन्तुष्ट कर सकता है।

(ई) अन्य ज्ञान (Other Informations)—उपर्युक्त योग्यताओं के अलावा उसको अच्छा अनुभव, मनोवैज्ञानिक, वस्तु का जानकार तथा विदेशों की *जानकारी होना भी आवश्यक है।*

(२) **स्वास्थ्य** (Health)—साधारणतया अस्वस्थता अनेक व्यक्तियों को अयोग्य बना देती है और वे अपने कार्य में असफल हो जाते हैं। उसकी शारीरिक कमजोरी उसके जीवन से उत्साह, महत्वाकांक्षा, कार्य-क्षमता सभी कुछ का हनन कर देती है और इसलिये वह वस्तु विक्रय की ओर भी उदासीन हो जाता है, जिससे बिक्री को बहुत बड़ा धक्का पहुँचता है।

इसलिये विक्रेता की नियुक्ति में उसके स्वास्थ्य का विशेष ध्यान रखना *आवश्यक है। इसलिये उनसे मेडिकल प्रमाण-पत्र भी प्राप्त किया जाना चाहिये।* क्योंकि इससे उनका स्वास्थ्य ही अच्छा नहीं रहेगा, अपितु समस्त व्यापार का वातावरण स्वस्थ रहेगा और सब लोग उमंग के साथ कार्य कर सकेंगे। जिससे व्यापारिक असफलताएँ बहुत बड़ी सीमा तक कम हो जायेंगी और उनसे लाभ होने की पूर्ण आशा बनी रहेगी।

(३) **स्वभाव** (Nature)—व्यापार में मनुष्य का स्वभाव अपना निजी महत्व रखता है। यदि कोई व्यक्ति हँसमुख तथा व्यावहारिक है तो उसके मित्र *आसानी से बन सकेंगे और जो व्यक्ति चिन्तित या अधिक गम्भीर दिखाई देता है, लोग* उससे मित्रता करना पसंद नहीं करते अथवा उससे एक साधारण-सा परिचय ही रखना चाहते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य सर्वदा अपने व्यस्त जीवन में जब अन्य लोगों से मिलता है तो उसको उनसे एक उत्साहपूर्ण तथा नवीन वातावरण की आशा रहती है और इसलिये वे ऐसे व्यक्ति से अधिक सम्बन्ध बनाये रखना नहीं चाहते जो चिन्तित या उदासीन हो।

विक्रेता को प्रायः इस प्रकार के लोगों से वास्ता पड़ता है जो जिद्दी, मुँहफट या झगड़ालू होते हैं और सौदा करने में अपनी बात को ही अधिक महत्व देना चाहते

है। ऐसे अवसरों पर विक्रेता में एक अपार सहन-शक्ति का होना आवश्यक है और उसमें इतनी क्षमता तथा योग्यता होनी चाहिए कि वह इस प्रकार की बातों को हँसी में बदल सके। उसको इतना योग्य होना चाहिए कि दूकान से या अपनी विक्री करने के काम से जब घर लौटे तो उसके दिल में कोई बोझ नहीं हो और फिर दूसरे दिन उसी जोश तथा उत्साह से वह उनमे मिले।

इसके साथ-साथ उसके स्वभाव में एक बात यह भी होनी चाहिए कि वह किसी दल-विशेष से न मिले अथवा उसका प्रभाव अपने ऊपर न पड़ने दे, अन्यथा वह काम पर अधिक ध्यान न देकर उस प्रभाव की ओर अधिक ध्यान देगा और व्यापार को हानि होगी।

(४) **अवस्था (Age)**—कुछ व्यापारी प्रायः न्यूनतम अवस्था को अंकित कर देते हैं। यह अवस्था सामान्य तौर पर न तो बहुत कम और न बहुत अधिक होनी चाहिए। जो व्यक्ति कम अवस्था के होते हैं और इस व्यवसाय को लेना चाहते हैं उनको अवश्य इससे निराशा होगी। किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि कम अवस्था वाले लोग अधिक अवस्था वाले क्रेताओं के सामने उस समय बिल्कुल असफल सिद्ध होते हैं, जब उनसे किसी वस्तु के सम्बन्ध में खुला तर्क करना पड़े तथा अपने विचार की पुष्टि करने का अवसर हो। छोटी अवस्था वालों में गम्भीर बातें कुछ अटपटी-सी प्रतीत होती है और उनकी ओर अधिकतर कोई ध्यान नहीं देता या उनका उपहास किया जाता है। इसका व्यापार पर बड़ा विषम प्रभाव पड़ता है।

अधिक अवस्था वाले लोगों को विक्रेता बनाना इसलिए उपयुक्त नहीं है कि उनके जीवन में विशेष महत्वाकांक्षा नहीं होती तथा वे प्रायः गम्भीर हो जाते हैं, जिससे छोटी उम्र वाले लोग तो उनके व्यक्तित्व से ऊब जाते हैं और बड़ी अवस्था वाले लोगों को उनमें नवीनता नहीं मिलती। इसलिये व्यापार को अधिक लाभ की सम्भावना नहीं रहती।

इसलिये विक्रेता को सामान्यतः मध्यम अवस्था का होना चाहिये, क्योंकि उसमें एक अच्छे विक्रेता की सभी योग्यताएँ मिल सकती हैं। उन व्यापारों में जो पूर्ण रूप से जमे हुए हैं तथा जहाँ पर विशेष तर्क की आवश्यकता नहीं होती; कम अवस्था वाले लोगों की नियुक्ति सफलता से की जा सकती है। जो लोग न्यून अवस्था वाले लोगों को इस दृष्टि से चुनते हैं कि वे सस्ते मिलते है, बड़ी भारी भूल करते हैं।

(५) **चरित्र (Character)**—जिसका चरित्र अच्छा होगा वह सब कामों में सफलता प्राप्त करता है और उसको जीवन में कभी भी नीचा नहीं देखना पड़ता। चरित्रहीन व्यक्ति शीघ्र ही बुरी संगति में पड़कर अपने काम में रुचि नहीं रखेगा तथा उसको जीवन में अधिक असफलताएँ प्राप्त होंगी। वह रोगों का शिकार हो

जायेगा और लोग उससे घृणा करना प्रारम्भ कर देंगे यह व्यापार की प्रतिष्ठा पर एक घातक प्रभाव डालेगा। इसलिए विक्रेता की नियुक्ति करते समय उसके चरित्र के विषय मे भी अच्छी छानबीन करनी आवश्यक है।

उसमे व्यापारिक चरित्र भी होना आवश्यक है। उसको ग्राहको मे इस प्रकार का व्यवहार नही करना चाहिए जिससे उसकी बातो पर सन्देह होने लगे या अविश्वास हो जाय। अनुत्तरदायित्वपूर्ण लोगो को व्यापार मे रखना हमेशा घातक तथा हानिप्रद होता है।

(६) **मनोवैज्ञानिक** (Psychologist)—कभी-कभी प्रार्थी ऊपर बताई गई सब बातो मे ठीक होता है, किन्तु उसको मनुष्य के मनोविज्ञान का ज्ञान नही होता। इसलिए वह यह नही समझ सकता कि किस मनुष्य से किस प्रकार की बात करनी चाहिए, किसको किस प्रकार की वस्तुएँ बतानी चाहिए तथा किससे कम और किससे अधिक व्यवहार रखना चाहिए। इसलिए व्यापार मे आवश्यक है कि विक्रेता को चुनने से पूर्व यह भली प्रकार जान लेना चाहिए कि उसको मानव-विज्ञान का अनुभव है या नही।

यह ठीक है कि यह ज्ञान अनुभव के साथ-साथ प्राप्त हो जाता है, किन्तु जिस व्यक्ति को इसका पूर्व अध्ययन हो, उसको अनुभव के साथ मनुष्य को समझने मे कोई कठिनाई नही होगी और वह बिक्री का कार्य अधिक सफलता के साथ कर सकेगा।

(७) **दम्भ तथा आसक्ति** (Pride and Leaning)—इसमे सन्देह नही कि विक्रेता के लिए प्रभावशाली व्यक्तित्व की आवश्यकता है और केवल "श्रेष्ठ" लोग ही इस कार्य के लिए चुने जाने चाहिए। किन्तु कभी-कभी इस आशा से कि उनको श्रेष्ठ बनाया जा सकेगा, कुछ अन्य लोगो को भी चुन लिया जाता है। इन लोगो को श्रेष्ठता का पाठ पढ़ाने से उसमे अनावश्यक दम्भ आ जाता है और उनका चलन तथा व्यवहार समाज के साधारण जीवन से बिल्कुल भिन्न हो जाते है।

इस प्रकार के "बने हुए" लोग यदि विक्रेता की नौकरी प्राप्त कर लेते है तो सोचने लगते है कि उनकी श्रेष्ठता तथा व्यक्तित्व ने ही उनको यह नौकरी दिलाई है और इस विचार को लेकर ही वे ग्राहको मे अप्रिय ढग से व्यवहार करते हैं, जिससे *व्यापार का अनुशासन तथा प्रतिष्ठा की बहुत बड़ी क्षति होती है।* इसलिए विक्रेताओ की नियुक्ति करते समय यह आवश्यक है कि प्रबन्धक होने वाले विक्रेता मे देख लें कि उसमे इस प्रकार का दम्भ तो पैदा नही हो जायेगा ? इसलिये उस होने वाले विक्रेता *को एक ग्राहक की दृष्टि से देखना भी उचित होगा कि वह उस पर ग्राहक की हैसियत* से कितना प्रभावित कर सकेगा।

यह देखना भी आवश्यक है कि वह व्यावहारिक जीवन का व्यक्ति है या नही।

जिनको किसी विशेष अवस्था से आसक्ति है, ऐसे लोगों की नियुक्ति भी व्यापार के लिये घातक सिद्ध होगी।

(८) जातीयता (Nationality)—प्रायः लोगों की धारणा है कि विक्रेता के पद पर अपने ही निकट के व्यक्ति को रखना चाहिए। यह नीति उस समय अधिक सफल होती है जब कोई अपने विक्रेता को विदेशों में भेज रहा हो। अपने देश में रहकर भले ही किसी में अधिक देश-भक्ति दिखाई न दे, किन्तु विदेशों में जाकर वह व्यक्ति अवश्य ही अपने देश के सम्मान के लिये प्रत्येक ऐसा कार्य करेगा जो प्रशसनीय हो तथा जिससे उसके व्यापार का महत्व बढ़े।

जिस देश में इस प्रकार का विक्रेता व्यापार करने के लिये जाता है उसको वहाँ पर इस बात की कठिनाई अवश्य होती है कि लोग उसमें अधिक महत्व अपने ही व्यक्तियों को देते हैं तथा उसमें और वहाँ के व्यक्तियों में बहुत कम साधारण बातें होती हैं। किन्तु अत्यन्त निकटता न होने में लोग उसको सुन सकते हैं तथा उसकी बातों को महत्व दे सकते हैं। क्योंकि जो कुछ वह अपने देश के लिए जान सकता है, अन्य देश का व्यक्ति उतना उस देश के लिए नहीं जान सकता।

इससे राष्ट्रों में आपस का प्रेम बढ़ता है तथा व्यापारी आपस में सुन्दर सम्बन्ध स्थापित करने में सफल होते हैं। व्यापारिक सम्बन्धों के साथ-साथ राजनैतिक सम्बन्ध भी सुदृढ़ होते रहते हैं और इस प्रकार के राष्ट्रों की मैत्री बढ़ने के सुन्दर अवसर रहते हैं।

जातीयता का अर्थ संकीर्ण रूप में नहीं लिया जाता, क्योंकि राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति इसमें आता है। जातीयता का अर्थ मारवाड़ी व्यापारियों का-सा अर्थ नहीं है, जिसमें कि वे चाहते हैं कि कर्मचारी चाहे कुशल या अकुशल कैसा भी हो सर्वप्रथम उनकी ही जाति का होना चाहिये। यदि ऐसा कोई न मिल सके तो उसको कम से कम मारवाड़ी तो अवश्य ही होना चाहिए। ऐसे विचार किसी देश के अन्दर या स्थानीय व्यापार के लिये आवश्यक है।

विक्रेताओं की विभिन्न क्रियायें (Various acts of Salesmen)—सामान्य रूप से विक्रेता या तो निर्मित वस्तु को बेचता है या सेवा को। वस्तु बेचते समय उसको वस्तु का स्थूल प्रदर्शन करना होता है किन्तु सेवा की बिक्री के समय यह प्रदर्शन पूर्ण रूप से परोक्ष ही रहता है। इस प्रकार की बिक्री का अधिकाश कार्य विज्ञापन द्वारा किया जाता है किन्तु जहाँ पर विज्ञापन की पहुँच नहीं होती विक्रेताओं का कार्य आरम्भ हो जाता है।

इन सभी प्रकार के विक्रेताओं को तीन भागों में बाँटा जा सकता है एक थोक व्यापारी के विक्रेता जो फुटकर व्यापारियों को माल बेचते हैं, दूसरा फुटकर व्यापार के विक्रेता जो माल को उपभोक्ताओं के पास बेचते हैं तथा तीसरा निर्माताओं के

प्रतिनिधि जो अपनी वस्तुओं का प्रचार या प्रसार करना चाहते हैं। इन सबको ही अपना माल बडी सावधानी से बेचना पडता है क्योंकि इनकी जरा सी भूल से व्यापार को बहुत बडी हानि हो सकती है। जो लोग स्थूल माल का व्यापार करते हैं यद्यपि उनको भी बहुत अधिक सावधानी रखनी पडती है किन्तु सेवा का व्यापार करने वाले विक्रेताओं को इसमें अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता होती है। उनको चाहिये कि वे ग्राहक की प्रकृति, अवस्था, रहन-सहन, वातावरण जिसमे वह रहता हैं, उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण वह भावुक है या विचारशील, क्रोधी है या शान्त स्वभाव, बातूनी है या चुप्पी साधने वाला, दम्भी है या नम्र आदि सभी बातों की ओर विशेष रूप से ध्यान दें और अपने मनोवैज्ञानिक अध्ययन के अनुसार उसके साथ व्यवहार करें। यह कार्य बीमा एजेन्टो, बॉन्ड बेचने वालो आदि के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

थोक विक्रेताओं तथा निर्माता-विक्रेताओं को उतना अधिक सावधान रहने की आवश्यकता नही रहती जितनी फुटकर विक्रेताओं को। क्योंकि पहिले विक्रेताओं का सम्बन्ध केवल फुटकर व्यापारियों तक ही सीमित रहता है जब कि दूसरे विक्रेताओ को अन्तिम उपभोक्ताओं को माल बेचना होता है। इसलिये उनको चाहिये कि यह जान सकें कि ग्राहक वास्तव मे किस माल को खरीदना चाहता है, उसको माल खरीदने के लिये किस प्रकार की स्वस्थ प्रेरणा दी जा सकती है और फिर अपना पक्का ग्राहक बनाने के लिये उसके साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय।

थोक व्यापारियों के विक्रेताओं को आमतौर पर शहर-शहर घूमकर व्यापारी ग्राहकों को अपनी वस्तु की जानकारी करानी होती है। इसलिये उन्हें उचित ग्राहक खोजने पड़ते है जिनको अपने व्यापार के लिये प्रेरित किया जा सकता है और साथ ही समय का भी अपव्यय न हो और वे उससे उचित 'आदेश' भी प्राप्त हो सके। इन विक्रेताओं को इतना अधिक सलभा हुआ होना चाहिये कि वे ग्राहकों के सभी प्रश्नो का सन्तोषजनक उत्तर दे सके और तर्कपूर्ण तथ्यों द्वारा अपनी वस्तु की बिक्री बढाने मे समर्थ हो सकें।

सेवा के विक्रेताओं के इनसे भी अधिक सावधान रहना पडता है क्योंकि वह बिना कुछ स्थूल वस्तु दिये ही मन प्राप्त करना चाहता है जिसका क्रेता को भविष्य मे लाभ होगा। दूसरे शब्दों मे वह केवल विचार बेचता है इसलिये उसमे स्थिति को सही रूप से समझने तथा उसके अनुरूप कार्य करने मे दक्ष होना चाहिये और उन सारी बातो को जानना चाहिये जो एक कुशल विक्रेता के लिये आवश्यक होते है। साथ ही उसको बहुत बडा मनोवैज्ञानिक भी होना चाहिये।

विक्रेता का पारिश्रमिक
(Remuneration of Salesman)

विक्रेता को पारिश्रमिक देने के अनेक साधन हैं और वे अलग-अलग व्यक्तियों के अनुभव तथा प्रयोग पर निर्भर रहते है। किन्तु साधारणतौर पर विक्रेता को तीन प्रकार से पारिश्रमिक दिया जाता है—(१) वेतन, (२) कमीशन, (३) व्यय तथा भत्ता। व्यय को किसी प्रकार से भी पारिश्रमिक नही कहा जा सकता, क्योंकि यह उसके किये गये व्ययों के हो अनुकूल दिया जाता है और विक्रेता को उसके लिए यथेष्ट बीजक तथा रसीदे पेश करनी होती हैं।

विक्रेता को साधारण तौर पर ऊपर बताई गई रीति के अनुसार तथा उनके संयुक्त क्रम से पारिश्रमिक दिया जाता है। यह क्रम इस प्रकार से है—(१) केवल वेतन, (२) वेतन तथा उसके द्वारा प्राप्त आदेश पर कमीशन, (३) वेतन तथा कुल बिक्री (वर्ष भर की) पर कमीशन, (४) वेतन तथा व्यापार द्वारा जो धन प्राप्त हुआ है उस पर कमीशन, (५) केवल कमीशन, (६) कमीशन तथा वार्षिक अधिलाभांश (Bonus)। ऊपर बताई गई रीतियाँ पारिश्रमिक देने की आम रीतियाँ हैं, और इन रीतियों से व्यापारी अपनी-अपनी स्थिति के अनुकूल किसी भी पद्धति को अपना सकते हैं। रीति को अपनाने के पूर्व प्रत्येक व्यापारी को उसके गुण-दोषों का सही-सही ज्ञान हो जाना चाहिए, क्योंकि वह रीति व्यापार के साधारण नियमों के अनुकूल होनी आवश्यक है।

मासिक या साप्ताहिक वेतन के द्वारा विक्रेता को अपने निश्चित् बजट (आय व्ययक) बनाने में काफी सुविधा रहती है, इसलिये अपनी अर्थ व्यवस्था से निश्चिन्त होने के कारण वह व्यापार में अधिक कुशलता एव योग्यता से कार्य कर सकता है। यदि इसके साथ उसको कुछ विशेष पारितोषिक भी मिलता रहे तो वह अपने फुटकर खर्चों को उनसे पूरा कर सकता है।

वेतन या तो किसी विकास क्रम के अनुसार दिया जाता है अथवा एक निश्चित राशि के रूप मे दिया जाता है। जिन व्यापारो मे वेतन एक निश्चित् राशि के रूप मे दिया जाता है वहाँ इसके अतिरिक्त कमीशन या बोनस देने की व्यवस्था रहती है। इस व्यवस्था के अनुसार विक्रेता हमेशा एक अनिश्चितता मे कार्य करता है और उसको यह विश्वास नही रहता कि उसको नियमित रूप से बोनस या कमीशन दिया जा सकेगा या नही। क्योंकि बिक्री की घटा-बढी मे केवल विक्रेता के कौशल की ही कमी नही होती, अपितु कई ऐसे भी प्रश्न होते है जिन पर विक्रेता का वश नही चल सकता और उनके कारण बिक्री मे घटा-बढी हो सकती है। इसलिए

इस प्रकार का कमीशन भी घटता-बढ़ता रहता है और इसमे उनके आय मे हमेशा अनिश्चितता बनी रहती है।

कमीशन के अनुसार जिस समय व्यापार मे यदि बहुत बड़ी मन्दी आ जाय तथा बिक्री न बढ़ सके तो विक्रेता को बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ती है, क्योंकि उसके ही अनुसार उसका कमीशन भी घट जाता है। ऐसी स्थिति मे यदि विक्रेता कुशल व्यक्ति है तो दूसरे व्यापारी उसको अधिक धन का प्रलोभन देकर अपने पास खीच लेगे और इस प्रकार व्यापार मे एक बहुत योग्य व्यक्ति चला जायगा। इसलिये व्यापारी को उन व्यक्तियों मे एक सुरक्षा अनुभव कराने के लिए तथा हर प्रकार की स्थिति मे व्यापार की सेवा करने के लिए यदि प्रेरित करना हो तो कमीशन की व्यवस्था करने मे पूर्व उनको एक निश्चित् तथा उपयुक्त वेतन देने की व्यवस्था करनी चाहिये।

वेतन की दर निश्चित करना प्रायः कठिन कार्य होता है। क्योंकि किसी की योग्यता और कार्य-क्षमता आदि के अनुसार उसका निश्चित मूल्यांकन करना प्रायः कठिन कार्य होता है। इसके लिए प्रायः दो साधन काम मे लाये जाते हैं—(१) व्यापारी नियुक्ति करने से पूर्व वेतन देने की दर को घोषित कर दे, या (२) आवेदन-कर्त्ताओं से स्वयं ज्ञात करे कि वे कितना वेतन लेंगे।

वेतन-दर पहले ही घोषित *कर दी जाने पर यदि वेतन-दर कम है तो योग्य* तथा अनुभवी व्यापारी (विक्रेता) आना पसन्द नही करेंगे, और यदि अधिक हो तो सम्भवतः उसके अनुसार योग्य व्यक्ति न मिल सके। दूसरी रीति के अनुसार व्यापारी के पास अनेक प्रकार की दरें आयेगी। व्यापारी को उनमे से दो कुशल आवेदन-कर्ताओं की बताई हुई दर मालूम करके उसकी औसत-दर निकाल लेनी चाहिए और उस औसत-दर पर उसकी नियुक्ति की जानी चाहिए। उसके अतिरिक्त कमीशन की व्यवस्था की जा सकती है। यदि विक्रेता-दुकान के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी विक्रेताओं की नियुक्ति करनी हो तो उन अलग-अलग क्षेत्रों की परिस्थितियों के अनुसार उनकी वेतन-दर निश्चित की जानी चाहिये।

विक्रेताओं की नियुक्ति के पश्चात् व्यापारी को समय-समय पर उनके वेतन *की जाँच करनी चाहिये तथा व्यापार की वृद्धि के साथ-साथ विक्रेताओं के वेतन मे भी* वृद्धि करनी चाहिये। उनको यह नही सोचना चाहिए कि जिस व्यक्ति की नियुक्ति एक बार हो सकी है वे फर्म के दास हो गये हैं, और उनको विवश किया जा सकता है। इसलिए विक्रेताओं के असंतोष को रोकने के लिए तथा व्यापार के प्रति उनकी सच्ची निष्ठा बनाए रखने के लिए उनके वेतन मे सामूहिक वृद्धि करना आवश्यक है। यदि व्यापारी इस प्रकार कार्य नही करेंगे तो विक्रेताओं मे धीरे-धीरे असंतोष बढ़ने लगेगा। और चूंकि उनका बाहर के लोगो से सम्पर्क रहता है, इसलिए वे प्रत्यक्ष तथा परोक्ष मे व्यापारी की निन्दा करेंगे। जिससे व्यापारी की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा को एक व्यापक

कोई निश्चित क्षेत्र नही है । किन्तु इसमे अधिक कुशल तथा योग्य व्यक्तियो को व्यापार मे लाने के लिए कोई आकर्षण नही मिलेगा तथा व उन ग्राहकों से सम्पर्क स्थापित करना नही चाहेंगे, जो कम्पनी से सीधा व्यवहार करने वाले हो और इस प्रकार कभी-कभी बहुत अच्छे ग्राहक भी छूट सकते है ।

(३) केवल व्यापार परिचय कराने पर भी कमीशन देने की व्यवस्था की जाती है । इस प्रकार विक्रेता को केवल उसके किये हुए परिश्रम का ही कमीशन मिलता है और जो आदेश सुरक्षित रहते हैं उनका कमीशन बच जाता है । इस प्रकार केवल नये ग्राहकों को बनाने पर ही विक्रेता को कमीशन की आशा रह सकती है । इस पद्धति के कारण विक्रेता पुराने ग्राहको की ओर ध्यान नही देता और केवल नये ग्राहकों को ही बनाने मे लगा रहता है । जिसके कारण सामान्यत: पर पुराने ग्राहक कम होने लगते हैं ।

(४) कभी-कभी विक्रेता को निश्चित वेतन पर एक निश्चित सीमा तक बिक्री करना आवश्यक होता है और यदि वह सीमा से अधिक बिक्री करता है तो उसको कमीशन दिया जाता है । यह पद्धति उस समय लाभदायक होती है जब विक्रेता को बहुत अच्छा वेतन दिया जा रहा हो और उस क्षेत्र मे अच्छे व्यापार की आशा हो तथा उसके लिए सम्भावना हो । निस्सन्देह इससे बिक्री-पद्धति मे अनेक सुधार किये जा सकते है , जैसे—यदि एक माह मे पूरा न हुआ तो अन्य महीनो मे उसको ठीक किया जा सके आदि । किन्तु इसमे प्राय: विक्रेताओ को अच्छा वेतन मिलने के कारण वे कमीशन की ओर ध्यान नही देते ।

(५) कभी विक्रेता को उसकी सारी बिक्री पर तो कमीशन दिया ही जाता है, किन्तु एक निश्चित सीमा से अधिक बिक्री पर अतिरिक्त कमीशन, और उस सीमा से अधिक पर फिर अतिरिक्त कमीशन दिया जाता है । इसमे बिक्री की अनेक सीमाएँ बाँध दी जाती हैं और विक्रेता जैसे-जैसे उनको पार करता रहता है उसका कमीशन बढता जाता है । इसके द्वारा कुशल विक्रेताओ का अकुशल विक्रेताओं की अपेक्षा अधिक काम होता है और अकुशल विक्रेता भी प्रतिस्पर्धा के कारण शीघ्र कुशलता प्राप्त कर लेते हैं ।

'केवल कमीशन' पर आमतौर पर वे लोग बिक्री का काम लेते हैं जिनके पास अन्य बहुत सारे काम हैं और वे किसी एक व्यापारी के साथ बँधना नहीं चाहते । यह पद्धति सैद्धान्तिक रूप से व्यापार के लिए लाभ प्रद है, किन्तु विक्रेता उसी दशा मे इस प्रकार की बिक्री की ओर ध्यान देगा जब उसकी दरें अधिक हो या वह बेकारी मे पड़ा हो ।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 What do you understand by salesmanship? Enumerate the essential qualities of a good salesman.

2 You have been appointed salesman in a business concern. What important points would you consider to effect a good sale?

3 You being a manager of a sales department of some big business and want to appoint some salesmen under you. What points will you keep in your mind while making their selection?

4 How can a salesman be remunerated? Discuss the common methods of remuneration.

5 Do you think that modern industrial management is more concerned with salesmanship than with productive efficiency? Illustrate your answer from any industry you are familiar with.

परिकल्पना

परिकल्पना का अर्थ (Meaning of Speculation)—साधारणतया व्यापार मे लेवा-बेची होती है अर्थात् कोई माल का क्रय करते है और कोई विक्रय। क्रय और विक्रय केवल उपभोक्ताओं तथा विक्रेताओ मे ही नही होता अपितु व्यापारी लोग भी आपस मे करते है। व्यापारी लोग माल का क्रय उसको लाभ पर विक्रय करने की आशा मे करते है जिससे उनको मुनाफा हो और उनके व्यापार मे वृद्धि हो माल का क्रय-विक्रय एक अन्य प्रकार से भी होता है। व्यापारी सौदा तो कर लेते है किन्तु सौदे का भुगतान आदि तत्काल न होकर एक निश्चित समय पर विशेष समझौते के अनुसार होता है। इस प्रकार के सौदे का उद्देश्य माल को खरीदने का नही होता अपितु उस समय के के अन्दर सौदा करने की तिथि तथा भुगतान की तिथि माल के मूल्य मे घटा-बढी के अन्तर का लाभ उठाने से होता है। इस तीसरे प्रकार के क्रय-विक्रय को परिकल्पना या सट्टा कहते हैं। पारिभाषिक शब्दों में हम कह सकते है कि परिकल्पना माल के अवास्तविक क्रय-विक्रय को कहते है, जिसका उद्देश्य माल के क्रय-विक्रय मे नही अथवा भविष्य मे होने वाले मूल्य के अन्तर का लाभ उठाने से है। दूसरे शब्दो मे व्यापारी जब वर्तमान मूल्य के आधार पर निर्धारित समय पर सौदा करता है और उसका भुगतान भविष्य मे होने वाले परिवर्तन के आधार पर निर्धारित समय पर करता है, उसको परिकल्पना कहते है।

उपर्युक्त परिभाषा से हम अनुमान लगा सकते है कि बाजार मे किसी की परिकल्पना के लिये यह आवश्यक है कि

(१) व्यापार के लिये कोई वस्तु (माल, सेवा) हो।

(२) कई सौदा करने वाले हो या माल की लेवा-बेची करने वाले हो।

(३) वस्तु (माल) का भुगतान तात्कालिक आवश्यक नही।

(४) सौदा मूल्यो के अन्तर द्वारा लाभ प्राप्त करने का होता है।

(५) लेवा-बेची माल की नही अपितु जोखिम की होती है।

(६) मूल्य का तात्कालिक भुगतान आवश्यक नही क्योकि इसमे केवल अन्तर ही दिया जाता है, जो कुल सौदा हो जाने के पश्चात् ही तय किया जाता है।

(Speculative Market) में वस्तु की यथार्थ लेवा बेची से कोई सम्बन्ध नहीं रहता अपितु परिकल्पनायको (Speculators) के अनुमान के अनुसार मूल्य की घटा बढ़ी की जोखिम को उठाना है। यदि कोई यह समझता हो कि भविष्य में बाजार अमुक माल में तेजी पर जायगा और इस समय उसको कम दामों पर मिल रहा तो वह खरीदना चाहेगा और दूसरा जो समझता है इस समय की अपेक्षा भविष्य में अमुक वस्तु का मूल्य गिरेगा या उसके उस प्रकार के सौदे हों, वह उसको बेचता है। अब भविष्य में क्या होगा ? यह जोखिम का प्रश्न है। जिसका अनुमान सत्य बैठ गया वह कमा लेता है और जिसका अनुमान विपरीत हुआ उसको खोना पड़ता है। इसलिये यह स्पष्ट होगया कि परिकल्पना केवल जोखिम का ही सौदा है।

परिकल्पना जुआ नहीं

उपर्युक्त विवेचना से किसी व्यक्ति को भ्रम हो सकता है कि परिकल्पना भी जुआ का ही एक रूप है। किन्तु यह असत्य है। जुआरी (gambler) अपने ऊपर अनावश्यक जोखिम ले लेता है जिससे समाज को किसी प्रकार से भी ठोस लाभ नहीं पहुँचता। इसके विपरीत परिकल्पनायक जोखिम उठाकर बाजार में प्रदाय (supply) तथा माँग (demand) का सन्तुलन करके समाज की आर्थिक उन्नति में व्यापक प्रगति करता है। उत्पादन का विवर्गीकरण, मशीनों की माँग की उपेक्षा करके अधिकाधिक उत्पादन करना तथा फैशन में समय-समय पर परिवर्तन किसी वस्तु के प्रदाय को पूर्ण रूप से रोक देता है या उसके लिए किसी भी प्रकार की माँग नहीं रहती। इसके कारण आजकल की उत्पादन-क्रिया तथा माल-संग्रह (stocking) इतना जोखिम का है कि व्यापारी का कभी भी दिवाला निकल सकता है। यहाँ पर परिकल्पनायक व्यापारियों की सहायता करके सारी जोखिम अपने कन्धों के ऊपर ले लेता है।

परिकल्पनायक, वैज्ञानिक रीति से विश्व बाजार का अध्ययन करके भविष्य के मूल्य में उतार-चढ़ाव की परिकल्पना करता है और अपने विशिष्ट अध्ययन तथा दीर्घ अनुभव के कारण ९९% जोखिम को सफलतापूर्वक वहन करता है और प्रायः उसको लाभ ही होता है। इसके विपरीत जुआरी के लिये अध्ययन करने के लिए कोई विषय नहीं रहता। घुड़दौड़ में कौन घोड़ा प्रथम आयेगा, आज वर्षा होगी या नहीं, उड़ने वाली पतंगों में कौन सी पहिले कटेगी आदि विषय ही उनकी हार-जीत के लिये पर्याप्त हैं और इन्हीं पर वे हजारों रुपये खो बैठते हैं। कभी-कभी अज्ञान परिकल्पनायक जिसको बाजार का ज्ञान नहीं होता बहुत सारा धन गँवा सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि परिकल्पना दोषी है।

अज्ञान परिकल्पनायक प्रायः कुशल परिकल्पनायकों के चंगुल में इस प्रकार से पड़ जाते हैं कि बाजार की तेजी-मन्दी का अनुमान उनके द्वारा फैलाई गई अफवाहों के अनुकूल ही लगा लेते हैं और माल की लेवा बेची कर अपना सब कुछ खो बैठते

हैं। चतुर परिकल्पनायक माल का भाव बढाने के लिए बहुत बड़ी तादाद मे वस्तु-क्रय करते हैं और भाव घटाने के लिए वस्तु-विक्रय करते हैं और दोनो अवस्थाओ मे अन्तर को कमाते हैं। इस अवसर पर अकुशल व्यापारी अति-विक्षुब्धता (Over-confidence) के कारण या अतिभय के कारण माल का क्रय-विक्रय करते है और बहुत कुछ खो बैठते हैं, इस अवस्था में हम यह नही कह सकते कि अकुशल परिकल्पनायको ने जुआ खेला। उन्होंने केवल इस आशा से, कि उनका निर्णय सत्य है तथा बाजार की स्थिति उनके ही अनुमान के अनुसार रहेगी, माल का क्रय-विक्रय किया। यदि उनको कुछ हानि हुई तो वह उनके अध्ययन की कमी है न कि परिकल्पना की।

व्यावसायिक परिकल्पनायक बाजार की अनुमानित माँग का अध्ययन करते हैं और उसके चढाव-उतार का ब्यौरा भी गम्भीरतापूर्वक रखते हैं। इस आधार पर वे अपने लाभ तथा व्यापारियों के सामयिक हित के लिये बाजार मे लेवा-बेची करते हैं। इनकी इस प्रकार की क्रियाओं से बाजार में संतुलन रहता है और सामयिक प्रगति में सहायता मिलती है। आर्थिक दृष्टिकोण से परिकल्पना पूँजी को प्रगतिशील रखने मे सहायक होती है, किन्तु जुये मे पूँजी केवल नष्ट ही होती है और समाज का बहुत सारा धन अनार्थिक धाराओ मे प्रवाहित होकर व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है।

परिकल्पना और वस्तु-मूल्य
(Speculation and Price)

सैद्धान्तिक रूप से यदि वस्तु की माँग अधिक है और प्रदाय माँग के अनुसार नही बढा तो वस्तु के मूल्य मे वृद्धि होगी और माँग के बढने रहने पर मूल्य भी बढता ही रहेगा। इसके विपरीत दशा मे जब प्रदाय अधिक और माँग कम है तो मूल्य कम होता जायेगा। (इस सिद्धान्त को मानते समय हम यह सोचकर चलते हैं कि वस्तु के *गुण तथा लक्षण मे कोई अन्तर नही और लोगों की रुचि मे भी किसी प्रकार का* परिवर्तन नहीं हुआ, अर्थात् अन्य परिस्थितियाँ सारी समान हैं) मान लीजिये हापुड मण्डी मे १०,००० मन गेहूँ है और गेहूँ की दर १५) फी मन है। लोगो ने गेहूँ खरीदना आरम्भ किया। जैसे-जैसे गेहूँ का स्टॉक कम होता जायेगा, माल के मूल्य में वृद्धि होनी जायेगी और १५) से बढकर गेहूँ का भाव २०/२५) फी मन भी हो सकता है। इसी प्रकार यदि गेहूँ का प्रदाय पुनः प्रारम्भ हो जाय जब कि लोगों ने गेहूँ खरीद कर रख दिये हों तो उनकी माँग कम हो जायेगी और लोग गेहूँ उस भाव पर खरीदना नही *चाहेंगे। फलस्वरूप मूल्य धीरे-धीरे गिरने लगेगा और १३/१४) मन तक आ सकता* है। किन्तु ज्यो ही भाव गिरा, लोग खरीदना प्रारम्भ कर देंगे और भाव बढने लगेगा। इस प्रकार हमेशा वस्तु के प्रदाय मे आधिक्य या माँग मे आधिक्य के कारण मूल्य मे घटा-बढ़ी होती रहती है। मूल्य किसी निश्चित दर पर पर उस समय आता है। जब प्रदाय और माँग बराबर हो।

हम पहिले ही पढ आये है कि परिकल्पनायक का उद्देश्य माल का असली क्रय-विक्रय नहीं, अपितु मूल्यान्तर का लाभ कमाना है । परिकल्पनायक माल उस समय खरीदेगा जब उसका भाव घट रहा हो और उस समय बेचना प्रारम्भ करेगा जब उसका मूल्य बढना प्रारम्भ हुआ हो और जब वह सोचे कि अब बढने की अपेक्षा मूल्य घट सकता है तो वह बिक्री बन्द कर देगा । जहां माल बिकना प्रारम्भ हुआ, उसकी माँग घट जायेगी और क्रेताओं की न्यूनता होने ही माल का भाव गिर जायेगा। फिर कुछ अवधि के पश्चात् माल का भाव बढ जायेगा । व्यापारिक क्रियाओं मे यह क्रम चलता ही रहता है और इसके फलस्वरूप मूल्य का सन्तुलन बना रहता है और साधारण व्यापारी भारी हानि से बच जाते है ।

मूल्य में अन्तर लाने वाले कारण

परिकल्पना क्षेत्र मे प्रविष्ट होने से पूर्व व्यवसायी परिकल्पनायकों को चाहिये कि बाजार का अध्ययन गम्भीरतापूर्वक कर ले और देखें कि कौन-कौन से कारण माल *(वस्तुओं) के मूल्य पर प्रभाव डालने वाले है । साधारणतया मूल्यों पर प्रभाव डालने* वाले निम्नलिखित कारण हो सकते है—

(१) अन्य बातो मे अन्तर न होते हुए प्रदाय और माँग के उतार-चढाव ।

(२) स्वदेश और विदेशो मे वस्तु की सांख्यिक (Statistical) तथा माननीय (Prospects) स्थिति, दूसरे शब्दों मे कुल स्टॉक तथा सम्मिलित उत्पादन ।

(३) जलवायु का प्रभाव ।

(४) सरकार का हस्तक्षेप (जैसे—कर, नियन्त्रण, आयात-निर्यात कर, व्यापारिक विधान आदि)

(५) विचारणीय वस्तु पर अन्य वस्तुओं का प्रभाव और प्रभाव डालने वाली वस्तुओं की स्थिति ।

(६) वस्तु का कुल आयात-निर्यात ।

(७) अन्य वस्तु द्वारा उस वस्तु का हस्तानापादन हो जाय ।

(८) फैशन मे परिवर्तन जिसमे वस्तु के विक्रय पर प्रभाव पडे ।

(९) विदेशी विनिमय-दर मे उतार-चढाव जिससे लेन-देन पर प्रभाव पडे ।

(१०) अन्तर्देशीय सम्बन्धो मे परिवर्तन ।

(११) युद्ध के अवसर पर उत्पन्न विशेष स्थिति ।

उपर्युक्त कारणो से वस्तु के मूल्यो मे कमी या तेजी होती है किन्तु इन सबका यदि पूर्ण विवेचन न किया जायेगा तो यकायक कोई निश्चित परिणाम नहीं निकाला जा सकता और लाभ के स्थान पर हानि हो सकती है । अज्ञान परिकल्पनायक की दशा ठीक उस अज्ञान डाक्टर की है जो रोगी के रोग का इतिहास नहीं जानता और उसको औषधियाँ देता है यह एक जुए के समान है । यदि औषधि से रोगी

ग्रारोग्य हो गया, तो.ठीक, नही तो भाग्य की बात है, किन्तु कुशल डाक्टर जो औषधि देंगे वह विचारपूर्वक दी जायेगी और उससे अनिष्ट की शंका उत्पन्न नहीं हो सकती। कुशल परिकल्पनायक भी इसी प्रकार बाजार का इतिहास, उसमें अन्तर लाने वाली बातों, प्रदाय-मांग आदि का भली प्रकार अध्ययन करके ही सौदा करते हैं, इसलिये उनको बहुत ही कम अवसरो पर क्षति सहन करने का अवसर प्राप्त होता है।

परिकल्पना और वस्तु-बाजार

पदार्थ-विपणि उस स्थान या क्षेत्र को कहते हैं जहाँ व्यक्ति या व्यवसायी लोक प्रकृतिदत्त वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिये नित्यप्रति या समय-समय पर एकत्रित होते हैं और व्यापार या सौदे करते हैं। प्रकृतिदत्त वस्तुएँ गेहूँ, कपास, जूट, दाल, तेल के बीज आदि और खानों से निकलने वाले पदार्थ, जैसे—सोना, चाँदी, शीशा, ताँबा आदि होते हैं। इन वस्तुओं से बनाई जाने वाली या उत्पादित वस्तुएँ आटा, तेल, कपड़ा, आभूषण आदि होते हैं। यहां पर पदार्थ-विपणि का अर्थ केवल प्रकृतिदत्त माल के व्यापार से ही लिया गया है।

सुव्यवस्थित मण्डियों या बाजारों में इन वस्तुओं के भाव समय-समय पर आधुनिक द्रुतगामी संदेशवाहक साधनों के द्वारा सर्वत्र पहुँचा दिये जाते हैं, जिससे व्यापारियों को अपने माल के सौदे करने में आसानी हो जाती है। व्यापारिक वस्तुओं के दैनिक भावों से *अवगत कराने के लिये, व्यापारिक पत्रिकाएँ, दैनिक समाचार-पत्र,* ट्रान्समीटर, रेडियो, केबिलग्राम आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन हैं। परिकल्पनायकों को व्यापार का अध्ययन करने के लिये इन सूचनाओं की भारी आवश्यकता होती है। इन समाचारों के द्वारा लोग भविष्य के भावों का अनुमान लगा सकते हैं और भविष्य के प्रसंविदों (Contracts) में शामिल हो सकते हैं।

वस्तु-बाजारों में अधिकतर वायदों (Futures) के सौदे होते हैं। वायदे या ग्रागाऊ सौदे का अर्थ है—भविष्य में अमुक दर से, अमुक वस्तु का, अमुक मात्रा में भुगतान करने का प्रसंविदा। यह शब्द सर्वत्र व्यापक-रूप से प्रयोग किया जाता है। भारतवर्ष में इस शब्द का प्रयोग कालान्तर में होता चला आया है। वायदा-सौदा तो आज की मिति पर होता है, किन्तु माल का यथार्थ भुगतान भविष्य की किसी निश्चित मिति में होता है। परिकल्पनायक देखता है कि यदि निश्चित तिथि पर उस भाव *से कम पर माल अन्य बाजारों में मिल रहा है तो वह वहाँ से खरीद कर माल* का भुगतान करेगा और दोनों भावों के अन्तर को कमा लेगा। इसी प्रकार परिकल्पनायक-क्रेता भी अपने खरीदे हुए माल को उस बाजार में बेच देगा जहाँ निश्चित भाव से अधिक मूल्य पर माल बिक रहा हो और वह भी अन्तर का लाभ उठा लेगा। यह

कार्य व्यापारी लोग स्वय न करके अपने दलालो द्वारा करते हैं । दलाल लोग कमीशन के साथ-साथ कभी-कभी अन्तर का लाभ भी कमा लेते है ।

वस्तु-बाजार मे दलाल या व्यापारियो के प्रतिनिधि ही परिकल्पित सौदे करते है । ये लोग नियमित रूप से वस्तु-बाजार मे किसी निश्चित स्थान पर इकट्ठे हो जाते है और वहाँ पर वस्तुओ का मूल्य लगाना प्रारम्भ करते है । वस्तुओ के भाव क्रेताओ तथा विक्रेताओ की प्रतिस्पर्द्धा के कारण बढते घटते रहते है और माल की लेवा-बेची होती रहती है । दलाल लोग समय समय पर चढने-उतरते भावो की सूचना 'दूर-भाषण-यन्त्र' द्वारा अपने स्वामियो (सेठो) को देते रहते है और उन सूचनाओ के अनुसार व्यापारी विपणि का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करके माल की निश्चित मात्रा के क्रय-विक्रय का आदेश दे देते है । उस आदेशानुसार दलाल बाजार मे माल को बेचते या खरीदते है । दलालो द्वारा की गई लेवा-बेची मे यथार्थ माल कभी भी भुगतान के लिये नही आता और मौखिक लेवा-बेची मे ही लाखो का व्यापार सम्पन्न हो जाता है । दलाल लोग उस समय की कुल लेवा-बेची क्रेता और विक्रेता, दलालो या उनके सेठो के नाम या जमा कर देते है और सट्टा समाप्त हो जाने पर अपनी बहियो मे नौध करके सम्बन्धित व्यक्तियो की बहियो मे भी यथोचित लेखा करवा देते हैं, जिससे सट्टे मे किये गये सौदे पक्के हो जाते है ।

परिकल्पनायक वस्तु-बाजार के भावो को बहुत बडी सीमा तक प्रतिबन्धित रखते हैं और एक-पक्षी उतार या चढाव को रोकते रहते है ।

परिकल्पना तथा स्कन्ध और अंश विपणि

परिकल्पनायक जिस प्रकार पदार्थ-विपणि मे महत्वपूर्ण कार्य करते है उसी प्रकार स्कन्ध (debenture), अश (Share) तथा प्रतिभूतियो (Securities) की लेवा-बेची मे भी उनका महत्वपूर्ण स्थान है । परिकल्पनायको की प्रतिक्रियाओ से इन पुर्जो का महत्व पत्र-मुद्रा (Paper Currency) के समान ही हो जाता है । वे लोग आवश्यकता तथा स्थिति के अनुसार इन पुर्जो का क्रय-विक्रय करते है, जिसके द्वारा राष्ट्रीय उद्योग-धन्धो को बडा भारी योग मिलता है और उनको आवश्यकतानुसार पूंजी उपलब्ध होती रहती है । परिकल्पनायक उपर्युक्त पुर्जो के भावो मे घटा-बढी होने पर उनकी लेवा बेची करते है और शीघ्रातिशीघ्र भावो को साधारण मूल्य पर ले आते है । इस क्रिया द्वारा कम्पनियो का आर्थिक स्तर डॉवाडोल होने से बच जाता है और उत्पादक अपनी उत्पादन क्रिया मे निरन्तर प्रगतिशील बने रहते है । जब उनको विशेष धन की आवश्यकता होती है तो परिकल्पनायको की सहायता से उनके स्कन्धो अच्छी बिक्री हो जाती है और काम को आगे बढाने के लिए उनके पास पर्याप्त धन इकट्ठा हो जाता है ।

जिस प्रकार पदार्थ-विपणि मे परिकल्पनायक पदार्थो की लेवा-बेची करते हैं

उसी प्रकार प्रतिभूतियों के लिये भी प्रतिभूति-विपणि (Stock Exchange Market) में ये लोग महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। इस बाजार में लोग अपने अंश, स्कन्ध, प्रतिभूतियाँ आदि को लेवा-बेची के लिये आते हैं और उनकी लेवा-बेची कर अपने पिछले उधार सौदों का तये या भुगतान करते है। उदाहरण के रूप में मान लो 'अ' को ५००) लेने हैं और उसके लिये उसके पास हुण्डी है। वह हुण्डी को बाजार में बेच देगा। हुण्डी कम या समान दामों में बिकेगी। यदि कम दामों में बिकेगी तो उसका अर्थ हुआ हुण्डी बट्टे (Discount) पर बिक्री और बेचने वाले को उतने रुपये की हानि रही। हुण्डी के दामों में उतार-चढाव लाने के लिये तीन मुख्य बातें हैं—

(१) जिस सस्था के द्वारा प्रतिभूतियाँ निकाली गई हैं उनकी आर्थिक स्थिति तथा व्यापारिक प्रतिष्ठा।

(२) *परिकल्पनाओं की बोली या परिकाल्पनिक क्रियायें जिससे बाजार के* वातावरण में अन्तर आता है।

(३) हुण्डी या प्रतिभूतियों की मियाद।

प्रतिभूति-विनिमय-विपणि विदेशी व्यापार करने वालों के लिए अत्यन्त हितकारी सिद्ध हुई है। इन बाजारों में देश-विदेश की हुन्डियाँ, प्रतिभूतियाँ आदि के *क्रय-विक्रय की बडी सुन्दर व्यवस्था रहती है। जिस व्यापारी को विदेशों में रुपया* देना या लेना है वह उतनी रकम की हुन्डियाँ बाजार में खरीद या बेचकर परोक्ष में ही रुपया चुका सकता है। इस प्रकार यथार्थ धन बिना भेजे हुए ही इन बाजारों की सहायता से विदेशों के बड़े-बडे लेन देन पूरे हो जाते हैं। परिकल्पनायक इस प्रकार की हुन्डियों, प्रतिभूतियों आदि की पूरी-पूरी जानकारी रखते है और उनकी उपयोगिता के अनुसार उनके भावों को घटाते-बढाते रहते है। मान लीजिए किसी देश की हुन्डियों या प्रतिभूतियों की अधिक माँग है, अर्थात् उस देश से विशेष आयात किया जा रहा है और उस देश के व्यापारी भेजने वाले व्यापारी का मूल्य चुकाना चाहते हैं तो स्वभावतः वे उनको खरीदेंगे, जिसके कारण उनका भाव तेजी पर चला जायेगा। इस बात का अनुभव करके कुशल परिकल्पनायक पहले से ही ऐसी हुन्डियों या प्रतिभूतियों को खरीद लेंगे या वायदे के सौदे कर देंगे, जिसमें उस समय वे अन्तर का लाभ कमा सकें।

जब कोई कम्पनी अपने स्कन्धों को बेचती है या स्कन्ध-स्वामी स्कन्धों का धन शीघ्र प्राप्त करना चाहते हैं, तो इस बाजार में उनका विक्रय किया जाता है। परिकल्पनायक स्कन्धों का मूल्य कम्पनी की प्रतिष्ठा, आर्थिक सम्पन्नता, म्याद तथा व्यापारिक प्रगति के आधार पर आँकते है। यदि कम्पनी उन्नतिशील होती है तो स्कन्धों का मूल्य बढ जाता है और वे प्रव्याजि (Premium) पर बिकने लगते हैं

और विपरीत अवस्था में अपहार (discount) पर बिकते है। परिकल्पनायक स्कन्धों का भाव घटा या बढ़ाकर अंशधारियों को उनके मूल्यांकन में बड़ी भारी सुविधा पहुंचाते हैं, क्योंकि इनकी सहायता से स्कन्धों का सही मूल्य निर्धारित किया जा सकता है।

अंश-स्वामियों को भी जब कभी रुपये की आवश्यकता होती है तो वे भी सुगमतापूर्वक अपने अंश इस बाजार में बेच सकते हैं। अंशों का मूल्य-निर्धारण भी स्कन्धों तथा अन्य प्रकार की प्रतिभूतियों के समान ही होता है और परिकल्पनायक बाजार को उनके पक्ष या विपक्ष में लाने में बड़े महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं।

दो प्रकार के परिकल्पनायक

प्रत्येक बाजार में दो प्रकार के परिकल्पनायक होते हैं—(१) यथार्थ-परिकल्पनायक (Genuine Speculator) और (२) अदूरदर्शी-परिकल्पनायक (Improper Speculator)

(१) यथार्थ परिकल्पनायक अपने व्यापार में अत्यन्त कुशल तथा दक्ष होते है और उनकी परिकल्पना अत्यन्त वैज्ञानिक होती है। वे परिकल्पित वस्तु की कुल मांग तथा कुल प्रदाय का पूर्व लेखा कर लेते हैं। पूर्व लेखा करने के लिये परिकल्पनायक सम्बन्धित वस्तुओं का आंकड़ा संकलन (collection of data) करके उसकी विधिवत् विवेचना करते हैं और विवेचन से निकले हुए प्रतिफल के ही अनुसार मांग तथा प्रदाय का निश्चय करते हैं। किन्तु परिकल्पनाओं का सीमित क्षेत्र होने के कारण उनके आंकड़ों पर विशेष विश्वास नहीं किया जा सकता। उनसे अधिक से अधिक उस क्षेत्र की जानकारी हो सकती है जहां के आंकड़े लिये गये हैं। इसलिये उनका प्रयोग भी सावधानी से करना चाहिये। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें तथा अखिल-राष्ट्रीय-वाणिज्य संस्थाओं के द्वारा समय समय पर (मासिक या पाक्षिक) वस्तुओं के आंकड़े प्रकाशित करके उनके द्वारा भविष्य को बताने की चेष्टा भी की जाती है। इस प्रकार के पूर्वानुमान राष्ट्रीय, राजनैतिक, सामाजिक तथा वस्तु-वाणिज्य के आधार पर किये जाते हैं और काफी प्रतिशत तक सही भी बैठते हैं। परिकल्पनायक विभिन्न देशों के आंकड़ों का मिलान करके किसी निश्चित तथ्य पर पहुंचते हैं और उसके ही अनुसार वस्तु का मूल्य निर्धारित करते है। मूल्य निर्धारण करते समय उनको क्रेता तथा विक्रेताओं की आर्थिक स्थिति का भी पूर्ण रूप से ध्यान रखना पड़ता है। इस पर परिकल्पनिक अत्यन्त विवेचनीय तथा वैज्ञानिक ढंग से वस्तु की मांग तथा प्रदाय का पूर्वानुमान करके परिकल्पित मूल्यांकन करते हैं और उसी के आधार पर बाजार में सौदे भी करते हैं।

इस प्रकार के परिकल्पनायकों को सामान्यतया कभी भी घाटा नहीं लगता और न उनको व्यापार में किसी प्रकार की असुविधा होती है। इनकी सेवाओं

द्वारा सम्बन्धित व्यापारियों को भी आर्थिक तथा व्यापारिक संकटों से मुक्ति मिल जाती है। ये लोग व्यापार में सतुलन लाने के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करते हैं।

(२) अदूरदर्शी परिकल्पनायक—कुछ लोग इस प्रकार के भी होते हैं, देशीय या राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय उतार-चढ़ावों को ध्यान में न रखकर परिकल्पित सौदे करते हैं। ये लोग क्षणिक तेजी-मन्दी देखकर बहुत बड़ी जोखिम उठा लेते हैं, जिसके कारण सफलता के बजाय उनको असफलता ही अधिक मिलती है। वे बिना सोचे-समझे सौदे करते हैं और फिर अपने लाभ के लिये बाजारों में झूठी अफवाहें फैलाकर बाजार को बिगाड़ देते हैं। इनकी अफवाहों के कारण कभी-कभी बहुत अच्छे व्यापारी भी अशुद्ध अनुमान लगा कर लाखों की सम्पत्ति खो बैठते हैं।

इस प्रकार के परिकल्पनायक 'आपते डूबे बामना ले डूबे यजमान' वाली कहावत को चरितार्थ करने वाले होते हैं। इनके द्वारा बाजार का सतुलन बिगड़ जाता है और माल की व्यापारिक प्रगति रुक जाती है।

परिकल्पना से लाभ

व्यापारिक जगत में परिकल्पना अपना निजी अस्तित्व रखती है। परिकल्पना बाजार में तो बिना इसके किसी प्रकार का कार्य होना ही सम्भव नहीं क्योंकि व्यापारियों तथा परिकल्पनायकों को भविष्य के बारे में किसी न किसी रूप से अपनी क्रिया के अनुकूल धारणा बनानी पड़ती है जिससे सुगमतापूर्वक सौदे किये जा सकें, यहाँ पर परिकल्पना से होने वाले लाभ को विशिष्ट रूप से दिया जाता है—

(१) विशाल उत्पादन, जिसमे उद्योगपति माँग का ध्यान न रखकर, बहुत बड़े परिमाण मे उत्पादन करते हैं, परिकल्पना उनके लिये बीमे का कार्य करती है। उत्पादक उत्पादन के समय इस बात का कोई ध्यान नहीं रखते कि बाजार में माल की कितनी और कहाँ तक खपत होगी। परिकल्पनायक उस माल को बेचने में बड़ी सहायता करते हैं। वे माल के बनते ही अथवा जब वह बनने में होता है, अगाऊ सौदे कर उसको एक निश्चित मूल्य मे खरीद लेते हैं, जिसके कारण उत्पादक बाजार की तेजी मन्दी के डर से मुक्त हो जाता है और वह निश्चिन्त होकर उत्पादन कार्य में लगा रहता है। इस प्रकार उत्पादन को जोखिम से काफी हद तक मुक्त रहता है।

(२) उत्पादक के कच्चे माल की माँग तथा पक्के माल की प्रदाय का संतुलन बनाये रखने मे भी परिकल्पना अधिक हितकर सिद्ध होती है। उत्पादक परिकल्पनायकों तथा व्यापारियों से भविष्य में बनाये जाने वाले माल के आदेश पहले ही प्राप्त कर लेता है और उसके ही अनुसार वह उत्पादन के उपयुक्त कच्चे माल के भाव के अगाऊ सौदे कर लेता है। इस प्रकार उत्पादक न तो अधिक माल बनायेगा और

न उसको वायदे के सौदो को पूरा करने मे कठिनाई होगी । इसमे उत्पादक को एक निश्चित लाभ भी मिलेगा, क्योंकि वह भविष्य के उतार चढाव मे किसी प्रकार प्रभावित न हो सकेगा ।

(३) **परिकल्पना से मूल्य मे स्थिरता आ जाती है**—कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि परिकल्पना बाजार को बिगाड देती है । किन्तु आजकल अर्थशास्त्रियो की आम धारणा है कि इससे मूल्य मे स्थिरता आ जाती है । जब परिकल्पनायक भविष्य मे मूल्य के बढने की आशा करते है तो वर्तमान मे वस्तुओं का अधिक क्रय करने लगता है जिसमे बाजार मे धीरे धीरे भाव बढने लगता है, किन्तु फिर भावों के बढने पर बडी संख्या (मात्रा) मे बेचना प्रारम्भ कर देते हैं जिससे भाव मे फिर शिथिलता आने लगती है और उसमे उतार-चढाव का सतुलन होता रहता है । इस प्रकार मूल्य न तो बहुत बडी सीमा तक घटता है और न बढता ही है ।

(४) **परिकल्पना से व्यापारियो को लाभ होता है**—कुशल व्यापारी परिकाल्पनिक सौदों से खूब लाभ कमाते है । वे मन्दी मे खरीद कर तेजी से बेचते है और इस प्रकार क्रय और विक्रय दोनो मे ही लाभ कमाते है । जब उनको अपने अनुमान के अनुसार वस्तु का प्रदाय तथा मूल्य नही लगता तो वे पूरक सौदे (Covering) कर लेते है, जिसमे वे भविष्य मे होने वाली जोखिम मे मुक्त हो जाते है । इसका विशेष लाभ यह है कि सौदे हाजिर होने के बजाय अगाऊ होते है, जिससे वे भुगतान के समय बाजार मे भावो के अन्तर को कमा लेते हैं ।

(५) **परिकल्पना से उपभोक्ता को लाभ होता है**—हमने ऊपर पढा है कि परिकल्पना मे मूल्य मे स्थिरता आ जाती है, जिससे सीमित आय वाले व्यक्तियों को अपना बजट ठीक रखने मे बडी सुविधा रहती है और वे अपने व्यय से अत्यधिक सन्तोष प्राप्त कर सकते हैं ।

(६) **परिकल्पना से सरकार भी लाभ कमाती है**—बाजार मे सौदो की प्रकृति को देखते हुए सरकार भविष्य की स्थिति का अनुमान लगाकर समायिक कार्यवाही कर सकती है । उसके इस कदम से आने वाले समय मे जनता को उस माल की प्राप्ति के लिये कठिनाई का सामना नही करना पडता ।

(७) **परिकल्पना मे सरकार की आय बढ़ती है**—मूल्य मे स्थिरता आने के कारण सरकार की व्यापार द्वारा होने वाली आय मे भी वृद्धि तथा स्थिरता आ जाती है और वह अपने भविष्य के बजट को सही बना सकती है ।

इस प्रकार हम देखते है कि परिकल्पना व्यापार को समुन्नत बनाने के लिये, उत्पादन मे वृद्धि तथा मूल्यो मे स्थिरता लाने के लिये तथा सारे समाज के हित के लिये अत्यन्त आवश्यक है । किन्तु इससे यह नही समझना चाहिये कि परिकल्पना दोषो से परे है । परिकल्पना के निम्नलिखित दोष है—

(१) अति-परिकल्पना बाजार को सन्देहपूर्ण बना देती है—रोज के उतार-चढ़ाव के कारण लोगो को बाजार की स्थिरता मे सन्देह हो जाता है। इससे व्यापारिक प्रगति में भारी रुकावट आ जाती है।

(२) यदि परिकल्पना अज्ञान आदमियो के द्वारा की जाय तो लाभ के स्थान पर हानि ही विशेष होती है और माल का सामान वितरण नही हो सकता। इसके कारण बाजार मे स्थिरता नही आती और फलस्वरूप उनका आपसी संतुलन रुक जाता है।

(३) अज्ञानपूर्ण परिकल्पना से साधारण व्यापारियों को भी बहुत बड़ा धक्का लगता है क्योंकि वे भी उन अफवाहो से प्रभावित हुए बिना नही रह सकते, क्योंकि परिकल्पना का अन्तिम प्रभाव तो इन्ही लोगों के ऊपर पड़ता है।

(४) दोषपूर्ण परिकल्पना से देश की आर्थिक व्यवस्था को भी भारी चोट पहुँचती है और सारा व्यापारिक संगठन अस्त-व्यस्त हो जाता है। अकुशल परिकल्पना का वहीं दोष है, जो जुए का होता है।

परिकल्पना नियंत्रित तथा संतुलित होनी चाहिए

उपर्युक्त अध्ययन से विद्यार्थी यह जान गये होंगे कि व्यापार मे परिकल्पना का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु अदूरदर्शी तथा मूर्ख परिकल्पनायक उसको सन्देहपूर्ण तथा अविश्वसनीय बना देते हैं। इसलिये अर्थशास्त्रियों ने इस पर कठिन नियंत्रण रखने की सलाह दी है। विनिमय बाजारो मे समय-समय पर और परिस्थितियों के अनुसार परिकल्पना पर नियंत्रण रखने के अनेक नियम तथा उपनियम बनाये जाते हैं। सरकार भी यथोचित विधेयकों के द्वारा उसको नियत्रित तथा सचालित करती है। परिकल्पना पर नियत्रण रखने के लिये कुछ उपक्षेप दिये जाते हैं, जिनसे विद्यार्थियों को नियत्रण रखने की रीति का कुछ बोध हो सकेगा—

(१) उसी व्यक्ति या संस्था को परिकल्पना-कार्य करने की आज्ञा होनी चाहिये जो पहले से ही उसके लिये प्रमाण-पत्र प्राप्त कर ले। उनके प्रमाण-पत्र प्रति वर्ष बदले जाने चाहिये।

(२) प्रमाण-पत्र का नवकरण करते समय उसकी गति-विधि का ब्यौरा देखा जाना चाहिये तथा उसका यथोचित विवेचन किया जाना चाहिए। परिकल्पित सौदे करने की आज्ञा केवल योग्य व्यक्तियो को ही मिलनी चाहिए।

(३) परिकल्पना-भवन मे प्रवेश करने की आज्ञा केवल प्रमाणित व्यक्तियों को ही दी जानी चाहिए, जिससे अदूरदर्शी व्यक्ति अनुचित सौदे न कर सकें।

(४) प्रतिनिधियो का भी प्रमाणित होना आवश्यक है और प्रमाणित होने के लिए यथोचित फीस होनी चाहिए। प्रत्येक नए सदस्य के लिए नई फीस होनी चाहिए।

(५) व्यापार-गृह मे व्यापार-कार्य का समय निश्चित होना चाहिए। समय को समाप्त होते ही एक निश्चित समय के अन्दर सब सदस्यों को व्यापार-भवन छोड देना आवश्यक होना चाहिए।

(६) जितने भी रोज के सौदे किये जायें प्रत्येक सौदा करने वाले को उसकी एक प्रतिलिपि व्यापार-भवन के कार्यालय मे देनी चाहिए।

(७) माल के भुगतान के लिए निश्चित नियम बनाये जाने चाहिए। और प्रत्येक भुगतान (माल अथवा मूल्य) उन नियमो के अन्तर्गत निश्चित रूप से दिया जाना चाहिए।

(८) निजी अथवा सरकारी प्रतिभूतियो के सौदे और भुगतान के लिए भी निश्चित नियम होने चाहिए और उनके ही अनुसार सारे बाजार मे लेवा बेची होनी चाहिए।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 Explain the term speculation Give the necessary factors responsible for speculation ?
2 Give the advantages and disadvantages of speculation and make a case for its control.
3 'Speculation is a bright word for gambling.' Do you agree? Give the views for and against the above statement
4 "Speculation is essential for the stability in the market if it is properly controlled" How? Explain.
5 In how many groups can you divide speculators? In what way they influence the market

---

मंडियाँ तथा स्कंध-विनिमय (क्रमशः) २६

(Mandies and Stock Exchange (Contd))

वस्तु बाजार

(Commodity Market or Commodity Exchange)

वस्तु बाजार का अर्थ (Meaning of Commodity Exchange)—उपज-वस्तु बाजार (कृषि-जन्य वस्तु बाजार अथवा खनिज वस्तु बाजार) उस बाजार को कहते हैं जिसमे प्रकृति से उत्पन्न वस्तुएँ उसी रूप मे क्रिय-विक्रय के लिए लाई जाती हैं और उनका वहां पर तात्कालिक अथवा भावी सौदा किया जाता है। ये स्थान अत्यन्त सुसंगठित होते हैं और इन वस्तुओं मे व्यापार करने वाले व्यापारी, परिकल्पक, दलाल आदि एकत्रित होकर वस्तुओं का विनिमय करते हैं। कृषि द्वारा पैदा किया जाने वाला माल—गेहूँ, चावल, कपास, जूट, चाय, तिलहन तथा खानों द्वारा निकाला जाने वाला माल—सोना, चाँदी, लोहा, शीशा, आदि का व्यापार इन बाजारों मे मुख्य रूप से किया जाता है।

सुसगठित उपज-बाजार मे केवल ऐसी ही वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया जाता है, जिनका श्रेणी विभाजन सुगमता से किया जा सके तथा ठीक-ठीक प्रकार से व्याख्या की जा सके। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि उसका बाजार बहुत व्यापक होना चाहिए। सुसगठित बाजार मे व्यापारियों के बीच प्रतिस्पर्धा का होना भी बहुत आवश्यक है तथा उसमे होने वाले सौदो से निर्धारित होने वाले मूल्य की रचनाओं का शीघ्रातिशीघ्र प्रसार होना भी नितान्त आवश्यक है। इन सूचनाओं के आधार पर ही प्रतिस्पर्धा करने वाले व्यापारी अपने भविष्य के सौदों की रूपरेखा बनाते हैं और बाजार मे सौदे करते हैं। बाजारों की इस प्रकार की गतिविधि तथा मूल्य सूचनाएँ बड़े-बड़े दैनिक समाचार पत्रों तथा विशेष पत्रों के द्वारा प्रकाशित होती रहती हैं। इनके साथ-साथ भविष्यवाणी या बाजार की भावी स्थिति क्या होगी इसका भी विशिष्ट ब्यौरा प्रकाशित किया जाता है। इस प्रकार संगठित बाजारों की हर प्रकार की गतिविधि से अवगत रहना व्यापारी के लिए कठिन नहीं रहता और वह सुविधा के साथ उनमे सौदे कर सकता है। इनके साथ साथ इन बाजारों की सूचनाएँ अत्यन्त द्रुतगामी साधनों द्वारा प्रसारित की जाती हैं। आजकल आकाशवाणी द्वारा समय-समय पर इनका प्रसार किया जाता है। उसमे व्यापारिक

अनुबन्धों का एक सुन्दर स्वरूप रहता है और उनके आधार पर श्रेणी विभाजन में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती, भुगतान की दरों का समुचित ब्यौरा रहता है तथा सौदों का निपटारा तथा झगड़ों के तय करने की भी समुचित व्यवस्था रहती है।

इस प्रकार उपज-बाजार भी अन्य सुसंगठित बाजारों की भांति सुचारु रूप से चलता है और उसका विकास भी ठीक अन्य बाजारों की भांति ही होता है।

उपज-बाजार का संगठन (Organisation of Produce Exchange)—समस्त संसार में उपज बाजारों का संगठन उस देश की संस्थाओं के नियम तथा उप-नियमों के अधीन किया जाता है। इसके साथ-साथ उन समस्त विधेयकों का भी ध्यान रखा जाता है जो इस प्रकार की संस्थाओं के लिए राष्ट्रीय सरकारों के द्वारा समय-समय पर पास किये जाते हैं। उपज-संघ प्रायः दो वर्गों में विभाजित किये जाते हैं—(१) अलाभ भाजक (Not-profit Sharing), और (२) लाभ भाजक (Profit Sharing)। अलाभ-भाजक-उत्पादक विनिमयों, जैसे—ईस्ट इन्डिया कॉटन एसोसियेशन बम्बई, मारवाड़ी चेम्बर ऑफ कॉमर्स, ईस्ट-इन्डिया जूट एसोसियेशन कलकत्ता, करांची इन्डियन मर्चेन्टस् एसोसियेशन आदि भारतीय कम्पनी एक्ट तथा भारतीय अनुबन्ध विधान के अनुसार स्थापित किये गये हैं। केवल अन्तर इतना ही है कि इस प्रकार के संघ केवल देश के आन्तरिक भागों में मिलते हैं। भारतवर्ष में इस प्रकार का महत्वपूर्ण संघ 'इन्डिया एक्सचेन्ज लिमिटेड' अमृतसर में स्थित है और उसकी स्थापना भी अन्य संघों के समान ही की गई है। जो संस्थाएँ लाभ-भाजक होती है उनकी अपेक्षा अलाभ-भाजक संस्थाएँ अधिक प्रभावशाली मानी जाती हैं और इनका स्थायित्व भी प्रथम संस्था की अपेक्षा अधिक रहता है।

इन संघों की व्यवस्था एक संचालक सभा के द्वारा की जाती है। सभा में अलग-अलग संस्थाओं के प्रतिनिधि रहते हैं और वे संसदीय ढंग से संघ के कार्यक्रम की रूपरेखा बनाते हैं। सदस्यों का निर्वाचन विनिमय में होने वाली संस्थाओं के सदस्यों द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए किया जाता है। जो सदस्य सभा के लिए एक बार निर्वाचित हो जाते हैं उनको दूसरे निर्वाचन के लिए पुनः खड़े होने का अधिकार प्राप्त रहता है। सभा के सदस्यों पर संघ के कार्य के सकुशल तथा लाभ सहित चलाने का उत्तरदायित्व रहता है। इनके साथ-साथ उनको अपने सदस्यों को आवश्यक सामयिक सूचनाएँ भेजना भी अनिवार्य होता है। इन सदस्यों का कार्य तथा उत्तरदायित्व भारतीय कम्पनी विधान की सम्बन्धित धाराओं के अनुसार प्रचलित तथा प्रतिबन्धित रहते हैं।

संघ की आर्थिक स्थिति के अनुसार विनिमय का व्यापार का स्थान रहेगा। जो संघ आर्थिक अवस्था में पूर्ण हैं, उन्होंने मुख्य नगरों में अपने निजी भवनों का

निर्माण कर लिया है और जिनकी आर्थिक स्थिति इतनी सुदृढ नही है, उनका व्यापार प्रायः खुले बाजारो या चौराहो में होता है। इस प्रकार के व्यापारिक स्थानों को 'चक्र' (Rings or Pits) कहते हैं।

सौदों की रीति (Methods of Transactions)—इन स्थानो में व्यापार दो प्रकार से किया जाता है—(१) तात्कालिक सौदे (Ready Transaction), और (२) भावी सौदे (Forward or Future Transaction)। तात्कालिक सौदे उन सौदो को कहते हैं जिनका भुगतान सौदा होने के साथ-साथ ही हो जाता है और मूल्य का भुगतान भी तुरन्त ही किया जाता है। माल का भुगतान या तो विक्रेता स्वयं अपने आप करता है अथवा किसी अन्य व्यापारी से करवाता है। कभी-कभी वस्तु का भुगतान नई फसल से भी किया जाता है। इस प्रकार के सौदों की मांग प्रायः यथार्थ व्यापारी, उद्योगपति, उपभोक्ताओं तथा मध्यस्थों के द्वारा की जाती है। भावी या वदनी के सौदे प्रायः परिकल्पकों (Speculators) के द्वारा ही किये जाते हैं इस प्रकार के सौदो तथा मूल्यो का भुगतान भविष्य में तय की जाने वाली तिथि पर किया जाता है। ये सौदे प्रायः उन्हीं वस्तुओं मे सम्भव होते हैं जिनका सरलता से विभाजन, श्रेणीकरण तथा प्रमापीकरण किया जा सकता है। भावी सौदों को वस्तु की प्रकृति के अनुसार कहा जाता है; जैसे—नव-प्रदाय,भादो जब उपलब्ध हो, आदि। इसका अर्थ यह हुआ कि भविष्य में या तो नवीन माल के आने पर (जो विदेशों से आयगा) या भादों के महीने में अथवा जब माल की प्राप्ति हो जायगी उस समय ही माल का भुगतान किया जायगा। भावी सौदे प्रायः हाजिर सौदो से अधिक होते हैं।

दलालों का कार्य (Agents' Business)—भावी सौदो मे दलालो का स्थान सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, ये लोग संघ से दलाली करने का अनुज्ञापत्र (Licence) प्राप्त कर लेते हैं और उसके लिए नकद अथवा वैधानिक जमानत संघ के कार्यालय मे जमा कर देते हैं। दलाल अपने स्वामियो की सूचनाओं के लिये अपने पास टेलीफोन या इस प्रकार के द्रुतगामी साधनों को रखते हैं और उनके द्वारा उन लोगों से निकटतम सम्पर्क स्थापित रखते हैं। छोटे-छोटे दलाल दुकानों पर जा-जा कर अपने ग्राहकों (व्यापारियों) से सम्पर्क स्थापित करते हैं। ये लोग बाजारो मे व्यापारियो के लिए बोली लगाकर क्रय-विक्रय करते हैं और उनका फिर उनके नाम संघ कार्यालय में पजीयन करवा लेते हैं।

पजीयन करवाने के लिए सर्वप्रथम दलाल को ग्राहक से आदेश प्राप्त करना होता है, और सघ द्वारा दी गई छपी नोट-बुक पर उस आदेश को लिख करके ग्राहक के हस्ताक्षर करवा लेता है। यह आदेश तीन फार्मों पर लिखा जाता है और तीनों पर ग्राहक के हस्ताक्षर करवा लिये जाते हैं। इन तीन प्रतियों मे से एक खरी-

देने वाले ग्राहक के पास , दूसरी बेचने वाले के पास , और तीसरी वह स्वयं अपने पास रखता है। इस प्रकार किये गये समस्त व्यापारों की सूचना सदस्यों को संघ कार्यालय में एक निश्चत अवधि के अन्दर भेज देनी पड़ती है। सूचना को भेजते समय दलालों द्वारा दी गई पर्चियाँ भी अपने स्थिति प्रपत्रों (Posit.n Slips) के साथ भेजी जानी चाहिये। जब सौदे का पंजीयन संघ कार्यालय में हो जाता है तो उस सौदे को पक्का मान लिया जता है।

रजिस्ट्रेशन (पंजीयन) के समय प्रत्येक सदस्य को नियमानुसार कुछ रुपया अनुबन्ध के अनुसार संघ कार्यालय में जमा करवाना होता है। इस जमा की गई रकम को अन्तर-राशि (Margin Money) कहते हैं। यह रुपया भविष्य में भावों की घटा-बढ़ी में सुरक्षा की दृष्टि से जमा किया जाता है। यदि संघ समझता है कि अमुक सदस्य ने कम रकम जमा करवाई है तो उसको अधिक रकम जमा करवाने के लिये बाध्य किया जाता है और उसको वह रकम एक निश्चित तिथि के अन्दर जमा करवानी पड़ती है।

ध्यान रखना चाहिये कि भविष्य में किये जाने वाले सौदों के लिए समस्त अनुबन्ध किसी निश्चित् आधार पर किये जाते हैं। शर्तें समस्त देश के संघों को मान्य होती हैं और उनका उल्लेख अनुबन्ध में स्पष्ट रूप से किया जाता है। नियमों का निर्धारण उपज विनिमयों द्वारा ही किया जाता है। यदि किसी सौदे में किसी प्रकार का परिवर्तन, जो उपज-विनिमयों के निर्धारित नियमों के अनुसार नहीं हैं, अनिवार्य हो तो उसका परिवर्तन पंचायत के द्वारा किया जा सकता है।

भुगतान (Delivery)—उपज-बाजार में प्राय: अगाऊ सौदे ही होते हैं और उनके भुगतान की तिथि भविष्य के किसी महीने में रखी जाती है। अलग-अलग बाजारों में एक ही वस्तु के भुगतान के भिन्न-भिन्न महीने होते हैं, जैसे कलकत्ता में मई और दिसम्बर तो बम्बई में जनवरी, मई और सितम्बर। निश्चित तिथि पर भुगतान करना तथा पाना, विक्रेता और क्रेता दोनों का अधिकार हैं। किन्तु तिथि से पहले यदि विक्रेता के पास माल आ जाता है तो वह क्रेता से प्रार्थना कर प्रदाय-आदेश (Delivery Order) प्राप्त कर उसको माल भुगतान की तिथि से पहले ही दे सकता है। इसी प्रकार क्रेता भी विक्रेता से माँग आदेश (Demand Order) प्राप्त कर उससे तिथि से पूर्व ही माल प्राप्त करने के लिए प्रार्थना कर सकता है। इन दोनों दशाओं में वे आपस में कुछ छूट दे देते हैं।

इसके ही समान यदि विक्रेता निश्चित अवधि पर माल का भुगतान नहीं कर सकता हो तो वह क्रेता से बदली (Switch Over) करवा सकता है और उसी प्रकार यदि क्रेता उस समय माल नहीं लेना चाहता तो वह भी विक्रेता से बदली या आगे ले जाना (Carry Over) करवा सकता है। इसके लिए दोनों को अपनी

अपनी स्थिति में एक-दूसरे को एक निश्चित रकम छूट के रूप में देनी होती है। यह रकम उस रकम से अधिक नहीं हो सकती जो उसको सौदे का भुगतान लेने पर नुकसान होने की सम्भावना थी।

इन सौदों को लेने में क्रेता तथा विक्रेता विकल्प (Option) का अधिकार भी रखते हैं। इसके द्वारा भुगतान के समय पर विकल्प प्राप्त किये हुए व्यक्ति को अधिकार होता है कि यदि वह उस सौदे को रद्द करवाना चाहे तो करवा सकता है। इसके लिए उसको पहले ही एक निश्चित रकम जमा कर देनी होती है। यदि वह अपने इस अधिकार का प्रयोग करता है तो वह रकम वापिस नहीं मिलती और यदि वह सौदे का भुगतान ले लेता है तो उसकी दी हुई रकम हिसाब में ठीक कर ली जाती है।

विदेशी बाजारों में सौदों की रकम १५ दिन के अन्दर जमा करनी होनी है, किन्तु भारत में इस प्रकार की व्यवस्था नहीं है।

उत्पादकों तथा निर्माताओं को लाभ
(Advantages to Producers and Manufactures)

उपज-बाजार में किये जाने वाले सौदों में उत्पादकों तथा निर्माताओं को बहुत कुछ लाभ होता है और वे असामयिक सौदों से होने वाली हानि से बच जाते हैं।

(१) इन बाजारों में तेजी तथा मन्दी वाले परिकल्पकों को क्रय-विक्रय से वस्तुओं के मूल्य हमेशा किसी निश्चित सीमा के अन्दर रहते हैं और बाजार का संतुलन बना रहता है।

(२) मंडियों के कारण क्रेता तथा विक्रेताओं को अपनी इच्छित वस्तुओं को सुगमतापूर्वक ढूँढने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। निर्माताओं को उनकी इच्छित वस्तु अपनी रुचि के अनुसार ढूँढने का सुअवसर प्राप्त होता है तथा वे उनमें छाँट कर सकते हैं।

(३) मंडियों में नियन्त्रण रहने के कारण लोग परिकल्पित भावी सौदे उस सीमा तक नहीं कर सकते जिससे बाजार के भावों में अत्यधिक उतार-चढ़ाव आ जाय।

(४) क्रेता तथा विक्रेताओं को एक निश्चित राशि संघ-कार्यालय में जमा कर देने से उनको अपने किये गये सौदों के प्रति उत्तरदायित्व का बोध होने लगता है, और इस प्रकार वे सौदे सोच-समझकर करते हैं।

(५) मंडियों में सुरक्षा के सौदों (Hedging) की व्यवस्था होने से निर्माता तथा व्यापारी अपने सौदों में होने वाली अनुमानित होने से बचने के लिए अन्य सौदे भी कर लेते हैं, जिससे एक सौदे में हुई हानि दूसरे के लाभ से पूरी हो जाती है।

इस प्रकार उनकी क्रय-विक्रय की हुई वस्तुओं का मूल्य प्रायः निश्चित हो जाता है और उन पर फिर भावों के उतार-चढाव का प्रभाव नहीं पड़ता।

(६) मंडी के प्रबन्ध मे व्यापारियों को अनुकूल प्रतिनिधित्व मिल जाने से वे अपने हितो को दृष्टि में रखते हुए समय-समय पर अपने अनुकूल नियम तथा उपनियमों को बना सकते है, और इस प्रकार व्यापार को सही दिशा दे सकते है।

(७) भावी सौदो की सुन्दर व्यवस्था होने के कारण निर्माताओं को भविष्य मे माल मिलने की निश्चितता रहती है और वे अपने काम को बराबर चलाये रखने मे अपना मन लगा सकते है। इसके साथ-साथ भुगतान के समय तक सौदे की रकम चुकाने की व्यवस्था भी सुगमता से कर सकते हे।

(८) अन्तर-मण्डियो में सौदे होने के कारण सारे देश मे वस्तुओं के भावों में यातायात आदि की व्यवस्था के देखते हुए भावो में करीब-करीब बराबरी रहती है और इस प्रकार व्यापारी को यदि किसी बाजार में हानि की आशंका हो तो वह किसी अन्य बाजार में सौदा कर अपने को हानि से बचा सकता है।

(९) निर्माताओं को उनकी आवश्यकता का माल उनके ही स्थान पर मिलने की सुविधा हो जाती है और वे सीधे किसी भी बाजार में अपना इच्छित माल खरीद सकते है।

(१०) सारे देश मे मण्डियों के साधारण नियम तथा उपनियमों में समानता होने के कारण देश की व्यापारिक प्रगति मे व्यापक वृद्धि होती है और व्यापारी तथा निर्माताओं को वस्तु के क्रय-विक्रय मे सुविधा होती है।

भावी सौदों की समाप्ति
(End of Forward Transactions)

भारतवर्ष मे भावी सौदो का विस्तार विशेषकर प्रथम महायुद्ध की परिस्थितियों के कारण विशेष रूप से बढ़ा। इसका कारण यह था कि युद्ध के कारण अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय व्यापार का सगठन बहुत कुछ समाप्त हो गया, राष्ट्रों को माल की अधिक आवश्यकता थी और माल का यातायात कठिन होने के कारण सटोरियों को परिकल्पित सौदों को करने का विशेष प्रोत्साहन मिला। अन्तर्राष्ट्रीय मन्दी तथा अमेरिका के कपास की परिकल्पना से भी भारत के परिकल्पकों को भारी प्रोत्साहन मिला। इन क्रियाओं से वस्तुओं में भारी उतार-चढाव आया। बाजार की इस अनिश्चितता मे भारतीय व्यापार को बडा धक्का लगा और अनेको व्यापारियो के दिवाले निकले। परिकल्पनाओं की इन क्रियाओं मे वस्तुओं का मूल्य इस प्रकार घटता-बढ़ता है कि सरकार तथा साधारण व्यापारी उसका पता नहीं लगा सकते। मूल्य की इस परिस्थिति का प्रभाव केवल व्यापारियों पर ही नहीं पड़ा, अपितु

भारतीय सरकार को भी अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को बहुत अधिक मूल्य देकर खरीदना पड़ा। यह सब इन परिकल्पित भावी सौदों का ही परिणाम था।

सरकार ने यह अनुभव करके कि बाजार की अनिश्चितता का कारण केवल अगाऊ सौदे ही हैं, इसकी जाँच के लिए एक समिति की नियुक्ति की। इस कमेटी ने अलग-अलग क्षेत्रों की जांच करके अपना निर्णय सरकार को दिया। बम्बई कपास-बाजार की रिपोर्ट सरकार को १६१६ में दी गई और उन सिफारिशों पर सरकार ने १६१७ में एक कपास बोर्ड की स्थापना की। फिर डिफेन्स ऑफ इन्डिया रूल्स के अन्तर्गत भी अगाऊ सौदों पर प्रतिबन्ध लगाया गया। इस प्रकार की रोक-थाम का बाजारों पर कोई विशेष आशाजनक प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु सरकार को अपनी इच्छित वस्तुएँ आसानी से प्राप्त होने लगीं। सन् १६५० में भी इस प्रकार के सौदों को रोकने के लिए भारतीय ससद में एक बिल पेश किया गया। यह बिल बम्बई के भावी अनुबन्ध विधेयक (Bombay Forward Contract Control Act) १६४७ का परिवर्तित रूप था। इसके द्वारा बाजारों के भावी सौदों पर केन्द्रीय सरकार का व्यापक नियन्त्रण हो गया तथा समस्त वस्तु बाजारों के भावी सौदे नियंत्रित होने लगे। इस दिशा में डा० थॉमस की १६४७ का वृत्तलेख भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसमें उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि इन मण्डियों का पूर्णतया वैयक्तिक रूप से कार्य करना उचित नहीं, इसलिए उन पर केन्द्रीय नियन्त्रण होना आवश्यक है। जिसके लिए एक केन्द्रीय वैधानिक नियन्त्रण बोर्ड की स्थापना की जानी चाहिए। इसके साथ साथ यह भी कहा जा सकता है (जो हमारे देश के अनुभव से स्पष्ट हो गया है) कि केवल केन्द्रीय अथवा सरकारी नियन्त्रण ही इस दिशा में पर्याप्त रोक-थाम नहीं कर सकेगा, इसलिए गैर सरकारी नियन्त्रण संस्थाओं का निर्माण भी किया जाना चाहिये।

वस्तु बाजार में प्रयोग किये जाने वाले कुछ प्राविधिक शब्द*

सुरक्षा के सौदे (Hedging)—सुरक्षा के सौदों के लिए जो शब्द अंग्रेजी में प्रयोग होता उसका अर्थ "बाड़" से है। यह बाड़ भी कटीली झाड़ियों की होनी चाहिए। बाजार में परिकल्पक इसके द्वारा अपने लाभ की रक्षा करता है। बाजार में परिकल्पक जब यह समझता है कि अमुक सौदे में उसको हानि होगी तो अपने बचाव के लिए वह प्रथम सौदे का उल्टा सौदा करता है। अर्थात् यदि उसने प्रथम क्रय सौदा किया है तो दूसरा उतने ही मूल्य का वह विक्रय सौदा कर लेगा, जिससे जो कुछ हानि उसको खरीदने में हो गई है उसकी पूर्ति वह बिक्री के सौदों में कर लेगा।

---

* विशेष जानकारी के लिये लेखक की 'विपणि वृत्त' (Market Report) पुस्तक देखिये।

विद्यार्थी साधारणतया सुरक्षा के सौदों को तथा तेजडियो के निस्तारण और मन्दडियो के पटान को एक ही समझ बैठते है, किन्तु इनमे बहुत भारी अन्तर है। सुरक्षा के सौदे लाभ की दृष्टि से न किये जाकर संभावित हानि से बचने की दृष्टि से पहले ही किये जाते है, जिससे भविष्य मे होने वाली हानि से बचा जा सके। किन्तु परिकल्पको के निस्तारण या पटान तब ही होते हैं जब तेजडिये या मन्दडिये भावो को अपने अनुकूल होने की आशा ही छोड देते है। ये लोग सुरक्षा के सौदे तब ही करते है जब उनको लगता है कि भुगतान की तिथि पर बाजार का भाव उनके पक्ष मे नही रह सकेगा। सुरक्षा के सौदे प्रायः व्यापारी लोग या उत्पादक लोग (उद्योग-पति) करते है, जिनको निरन्तर व्यापार या उत्पादन करना होता है, जैसे—उद्योग-गृह, दुकानदार आदि। किन्तु निस्तारण और पटान आदि परिकल्पको के द्वारा ही होते हैं और उनके द्वारा भी वे लाभ कमाना चाहते हैं। सुरक्षा के सौदे सर्वदा संभावित हानि से बचने के लिए ही कर लिये जाते है और उनमे लाभ कमाने का उद्देश्य कभी नही रहता।

बदली गेला या बदली ब्याज
(Contango)

जिस समय किसी अश या पत्रक के क्रेता और विक्रेता सौदे का तात्कालिक भुगतान नही चाहते और उसका भुगतान भविष्य की तिथि मे चाहते है तो वे आपस मे तय करके उस सौदे की तिथि को बदल सकते हैं, इसको बदली करना कहा जाता है। यदि बदली क्रेता की प्रार्थना पर की जाती है तो उसे विक्रेता को कुछ देना होता है, जिसे बदली का ब्याज (Contango) कहते हैं।

जब क्रेता इस प्रकार बदली चाहता है तो उसको मूल्य भुगतान की तिथि पर पहला सौदा समाप्त करके दूसरा सौदा करना पडता है, अर्थात् यह पहले सौदे और दूसरे सौदे के अन्तर को देकर अपने नये सौदे का प्रसविदा लिख सकता है। इसके लिए क्रेता को पूँजी की आवश्यकता होती है, जिस पूँजी को वह किसी भी साहूकार से ले सकता है। ऐसे समय मे साहूकार प्रायः ऊँचे ब्याज पर ही ऋण देते हैं। इसलिए क्रेता और विक्रेता साहूकार को ब्याज न देकर आपस मे ही ब्याज तय कर लेते है, और वह विक्रेता को दे दिया जाता है। इस प्रकार यह ब्याज जो बदली के अवसर पर क्रेता द्वारा दिया जाता है, उसको बदली का ब्याज (Contango) कहते है।

क्रेता बदली उसी समय करना चाहता है जबकि बदली की जाने वाली तिथि पर उसको इस प्रकार के दिये गये ब्याज से अधिक लाभ हो अथवा उसकी व्यापारिक स्थिति ऐसी न हो कि वह सौदे का निपटारा कर सके अथवा उस समय बाजार की स्थिति बिल्कुल प्रतिकूल हो।

तेजी-मन्दी लगाना
(Double Option)

कुछ लोग बाजार को तेजी-मन्दी दोनों से अपने को सुरक्षित रखना चाहते हैं जिससे कि यदि भविष्य के बारे मे उनके अनुमान में किसी प्रकार की अशुद्धि हो जाय तो वे उससे भी सुरक्षित रह सकें और अकारण घाटे बच जायें। यह सुरक्षा तेजी-मन्दी के सौदों का विकल्प करने से सम्भव हो सकती है। नजराना लगाना दोहरे अधिकार का सौदा होना है। इसमें इस प्रकार का अधिकार प्राप्त करने वाले को साधारण विकल्प के सौदों मे जमा की जाने वाली निक्षेप से लगभग दूसरी राशि जमा करानी पड़ती है। यह प्रसंविदा कभी-कभी एक ही व्यक्ति से या कभी-कभी दो व्यक्तियों से भी किया जा सकता है। एक व्यक्ति से निश्चित् भाव पर बेचने का और दूसरे के साथ खरीदने का भावी सौदा तय कर लेता है। इस प्रकार खरीदने या बेचने मे होने वाली सभावित हानि से बच सकता है।

मान लिया रमेश ने महेश से १००ऽ मन गेहूँ के लिए १४) के भाव से नजराना लगाया। यदि उस समय मे भाव १४।।) हो जाता है तो रमेश अपनी तेजी लगाने के अधिकार का प्रयोग करेगा जिससे उसको नजराने का निक्षेप का रुपया घटाकर ।।) फी मन का लाभ होगा। यदि भाव १३।।) हो जाना है तो वह अपने मन्दी लगाने के अधिकार को काम मे लायेगा और उसको ।।) फी मन का लाभ हो जायगा। इसी लाभ को जानने के लिए उसको नजराने की निक्षेप का रुपया कम कर देना होगा। यदि भाव मे कोई अन्तर नहीं पडा, अर्थात् भाव १४) मन ही रहा तो रमेश को दोनों अधिकारों का प्रयोग करने में किसी प्रकार का लाभ न होगा। इसलिए उसको अपने नजराने की निक्षेप छोड देनी पड़ेगी और उसको लाभ के स्थान पर निक्षेप के रुपयों की हानि होगी।

नजराने के विकल्प सौदों मे चूँकि साधारण तेजी लगाने और मंदी लगाने के सौदों में लगभग दुगुनी निक्षेप राशि देनी पड़ती है इसलिए उसको इसमे लाभ कम ही रहता है।

वृहत् सौदा
(Big Turn-over)

इसका व्यापार मे अर्थ दो प्रकार से लिया जाता है। पहला—जो व्यापार बहुत बडे आकार मे चल रहा हो, और दूसरा—जब व्यापार बहुत बड़ी राशि मे किया जाय। *यहाँ हम दूसरे प्रकार का ही उल्लेख करेंगे क्योंकि उसका सम्बन्ध* परिकल्पित बाजार से विशेष होता है।

वृहत् व्यापार तेजी वाले तथा मंदी वाले दोनों ही प्रकार के सटोरिये या परिकल्पक कर सकते हैं। जब तेजी वाले इस प्रकार का सौदा करते हैं तो उसको

तेजड़ियों का प्राधान्य कहा जाता है, और इस प्रकार माल बहुत बड़ी मात्रा में तेजी वालों (Bull) के हाथ में चला जाता है, जिसके फलस्वरूप वस्तु का विक्रय-मूल्य बढ़ जाता है। यदि उन्होंने कोई वस्तु खरीदी हो, उसका मूल्य नहीं चुकाया हो और न माल का ही भुगतान किया हो तो ऐसी दशा में उसका तेजड़ियों का अरक्षित प्राधान्य कहते हैं। बाजार में यह स्थिति तब पैदा होती है जब तेजड़िये माल का क्रय अधिकाधिक मात्रा में करते हैं और उस माल को खरीदने वाले यथार्थ व्यापारी कम होते हैं अथवा वे उसको खरीदने की अपेक्षा बेचने के लिये उन्मुक्त हों। दूसरी स्थिति वृहत् व्यापार में उस समय उत्पन्न होती है जब बाजार में मंदी वालों का प्राधान्य रहता है, अर्थात् बाजार में खरीदने वाले कम और बेचने वाले अधिक हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में विक्रय क्रय से अधिक बढ़ जाता है। इस प्रकार के सौदे बढ़ जाने से बाजार में मन्दड़ियों का प्राधान्य कहा जाता है। यह स्थिति उस समय उत्पन्न होती है जब विक्रय पक्ष में परिकल्पकों का प्राधान्य हो और वास्तविक विक्रय करने वाले व्यापारियों की न्यूनता हो, अथवा यथार्थ क्रय करने वाले व्यापारी अधिक हों और तेजड़िये कम हों।

इस प्रकार बाजार में अधिक्रय और अधिविक्रय के कारण जो स्थिति उत्पन्न होती है, जिसमें कि बहुत बड़ी राशि में वस्तुओं का परिकाल्पनिक क्रय विक्रय होता है, उसको वृहत् व्यापार कहते हैं।

घट-बढ़ लगाना
(Gale Option)

जायगा। विक्रेता भी विकल्प का प्रयोग उसी समय करता है जब विकल्प में दिया जाने वाला धन नुकसान होने वाले धन से कम हो।

नजराने तथा घट-बढ़ में केवल यह अन्तर है कि नजराना समय से सम्बन्धित है, जबकि घट-बढ मूल्य से। इस प्रकार घट-बढ का विकल्प हमेशा बाजार की स्थिति पर निर्भर रहता है।

लाभांश प्राप्ति
(Profit Sharing)

व्यापार मे लाभांश प्राप्ति साझेदारी तथा संयुक्त स्कन्ध कम्पनी के सदस्यों के बीच में विशेषकर प्रयोग किया जाता है। वहाँ पर साल के अथवा निश्चित पक्ष के अन्दर व्यापार मे जो लाभ प्राप्त होता है उसका समस्त भाग अथवा आंशिक भाग उनके सदस्यो मे बांट दिया जाता है। इसके अलावा व्यापार मे अन्य प्रकार के लाभांशों का वितरण भी होता है। जैसे—परिकल्पना बाजार मे मूल्यो के अन्तरो के लभांश का वितरण, जिसमें सौदो का यथार्थ भुगतान न होकर भुगतान की तिथि पर केवल बाजार के चालू मूल्यो का अन्तर लेकर या देकर सौदा समाप्त कर दिया जाता है।

लभांश वितरण दलालो तथा व्यापार के प्रमुख कार्यकर्ताओं के बीच मे भी किया जाता है यह समझौता दलाल और स्वामी के बीच मे होता है, जिसके कारण व्यापारी को दलाल के द्वारा तय किये गये सौदे पर होने वाले लाभ मे से उसको एक निश्चित रकम देनी होती है। यह रकम उसके साधारण कमीशन के अतिरिक्त रकम होती है और केवल इसलिये दी जाती है कि दलाल स्वामी का कार्य पूर्ण निष्ठा तथा रुचि के साथ करे। व्यापारिक कार्यकर्ताओं को भी यह लाभांश एक निश्चित प्रतिशत के रूप मे अथवा बोनस के रूप दिया जाता है। प्रतिशत के रूप में जो रकम दी जाती है वह कार्यकर्ता की किसी विशेष योग्यता अथवा कार्यक्षमता के आधार पर दी जाती है और बोनस प्रायः लाभ होने पर सभी कार्यकर्ताओं के वेतन के अनुसार किसी निश्चित प्रतिशत पर निर्लाभांश दिया जाता है।

एकत्रीकरण
(Cornering)

जब बाजार मे तेजड़ियों का प्राधान्य रहता है और उनको निश्चित समय मे भाव बढ जाने का पूरा-पूरा अनुमान होता है तो अत्यन्त धनाढ्य तेजड़िये बाजार की कुल वस्तु को खरीदकर उस पर अपना एकाधिकार कर लेते हैं और इसी प्रकार छोटे-छोटे तेजड़िये अपना संघ स्थापित करके माल को अपने अधिकार मे कर लेते हैं। यह आवश्यक नहीं कि उनके हाथ मे सारा का सारा माल आ जाय, किन्तु इतना निश्चय है कि माल का अधिकांश भाग उनके हाथ में आ जाता है और फिर

वे बाजार को अपनी इच्छानुसार बढा सकते है। तेजडियो की इस क्रिया को एकत्रीकरण या बाजार हथियाना कहते है। बाजार में यह स्थिति उस समय उत्पन्न होती है जब प्रारम्भ में तो माल का प्रदाय अत्यधिक हो और उसके कारण भाव नीचे आ गये हो (जैसे अनाज की फसल के अवसर पर) और भविष्य मे उनका प्रदाय न होने के कारण उनके भाव बढ गये हो (जैसे—अनाज, उसकी उपज उस मौसम मे तो नहीं होती किन्तु माँग बराबर रहती है)।

मूल्योन्नयन
(Bull Rigging)

तेजडिये माल का भाव बढाने की अफवाहो के साथ साथ आपस मे कुछ नाम के सौदे भी करते है, जिससे लोगों को पूर्ण विश्वास हो जाय कि माल के मूल्य मे अवश्य ही वृद्धि होगी। इस प्रकार लोगों का ध्यान आकर्षित करके वे मूल्य को अपने हितों मे कर देते है। तेजडिये ऐसे सौदे बडे-बडे सगठित ढग से करते है। इसके लिए वे अपनी सामूहिक सस्थाएँ बना लेते है। इन सस्थाओं के सामूहिक सौदे "मूल्योन्नयन" कहलाते है। सौदो का कार्य अत्यन्त गुप्त रूप से किया जाता है, जिसकी जानकारी केवल संस्था के लोगों को ही होती है और अन्य लोग इसका किंचितमात्र भी अनुमान नही लगा पाते। भावी सौदो के लिए "मूल्योन्नयन" का होना अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य है।

लाभांश सहित
(C. D. or Cum. Div.)

प्रतिभूति या अश बेचते समय यदि मूल्य के साथ 'लाभाश सहित' शब्द जोडा गया हो तो इसका अर्थ हुआ कि विक्रेता को ब्याज पर लाभाश मिले अर्थात् पिछली तिथि से आने वाली तिथि तक का ब्याज या लाभाश जो मूल्य मे सम्मिलित है। इस प्रकार यदि प्रतिभूतियो के साथ लाभ को प्राप्त करने का अधिकार भी बेचा जाता है, उसको "लाभाश सहित" कहते हैं।

अधिकार सहित
(C. R. or Cum. Right)

अधिकार सहित तथा सब सहित लाभाश के अतिरिक्त कभी-कभी कम्पनियो को अधिलाभाश अश (Bonus Shares) भी दिये जाते है, या अन्य प्रकार का लाभांश दिया जाता है। उस स्थिति में जब अशो को अधिकार सहित बेचा हो तो अतिरिक्त लाभाश मे भी क्रेता ही होगा। इस प्रकार के विक्रय को 'अधिकार सहित' विक्रय कहते है और मूल्य को 'अधिकार सहित' मूल्य कहते हैं। इसके साथ यदि अंशो के सारे अधिकार दे दिये जायँ तो उस विक्रय को 'सब सहित विक्रय' कहेगे और मूल्य को 'सब सहित मूल्य' कहेगे।

लाभार्थी सौदे

(Stagging)

स्कन्ध-विनिमय-विपणि में परिकल्पक अंश तथा प्रतिभूतियों का क्रय इस आशा से करते हैं कि भविष्य में उनके मूल्यों में वृद्धि होगी और वे उनके मुख्य मूल्य (**Face Value**) से अधिक मूल्य पर उनको बेच सकेंगे और उमसे होने वाले *लाभ को कमा सकेंगे। इस क्रिया में प्रतिभूतियों या अंशों को खरीदने वाले व्यक्तियों* का यह उद्देश्य कदापि नहीं होता कि वे उनको स्थायी लाभ के लिये खरीदें। उनका उद्देश्य तो केवल बाजार और मुख्य मूल्य के अन्तरों को कमाने का होता है। उनका उद्देश्य होता है कि बाजार में जो अन्तर इस प्रकार को क्रय-विक्रय से किया जा सके, उस अन्तर का लाभ कमाया जाय और इस प्रकार जब उन पत्रकों के मूल्य घटे होते हैं तो ये लोग उनको बहुत बड़ी संख्या मे हथिया लेते हैं। जब बाजार में उनकी माँग अधिक बढ़ जाती है और मूल्य में वृद्धि होने लगती है तो वे लोग इन पत्रकों को बढ़े हुए मूल्य पर निकासी करने लगते हैं, जिससे कि उनको लाभ होता है। कभी-कभी विक्रेताओं की ओर से इनका अत्यधिक प्रदाय हो जाने के कारण मूल्य में कमी आ जाती है और लाभ कमाने वाले तेजड़ियों को घाटा सहन करना पड़ता है। इस प्रकार लाभार्थी सौदों से सर्वदा लाभ की ही आशा रखना कठिन होता है, किन्तु इसका मूल उद्देश्य हमेशा वस्तु को खरीद कर उसके मूल्य का अन्तर कमाना ही होता है।

विदोहित या फँसा मंदड़िया

(Squeezed Bear)

जब बाजार में मंदड़ियों के प्राधान्य की जानकारी खरीद करने वालों को हो जाती है तो वे सारा माल खरीदकर बाजार को तेजी पर लगाने का प्रयत्न करते हैं, जिससे मंदड़ियों को भुगतान की तिथि पर सस्ते दामों में माल उपलब्ध न हो सके। जब मंदड़ियों की भुगतान की तिथि आती है और वे बाजार मे माल खरीदने जाते हैं तो उनको माल अत्यन्त ऊँचे दामों पर मिलता है। चूँकि मंदड़ियों को सौदों का भुगतान करना होता है, इसलिए माल जिस भाव पर भी मिले उन्हें भारी घाटा सहन करना पड़ता तथा माल खरीदना ही पड़ता है। मंदड़ियों को जिस समय इस कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ता है, उसको "फँसा हुआ मंदड़िया" कहते हैं।

क्लान्त तेजड़िया

(Disgrunted Bull)

इसको थका तेजड़िया (Tired Bull), पुराना तेजड़िया (Stale Bull), हताश तेजड़िया (Disappointed Bull) आदि भी कहते हैं। यदि किसी तेजड़िया को वस्तु के भाव उसके अनुमान के अनुसार बढ़ने में बहुत समय लगे और उसके

लिये उसको प्रतीक्षा करनी पडे तो उसको "क्लान्त तेजडिया" कहा जाता है। यदि वह तब तक नहीं रुक सके तो उसको बहुत हानि सहन करके माल को बेच देना पडेगा, जिससे उसका व्यापार भी समाप्त हो सकता है।

विच्छेदक
(Scalper)

यह उन परिकल्पकों मे से होता है जो व्यापार या भुगतान के दिनो मे बहुत बडी मात्रा मे क्रय-विक्रय करते है। उसका क्रय-विक्रय इस प्रकार से होता है कि अन्त मे या तो उनको लाभ होता है या लाभ बराबर हो जाता है। उसको व्यापार मे हानि होने की आशका नही रहती। यह परिकल्पक बहुत ही विवेकशील तथा अनुभवी होता है और केवल इन्ही सौदो को करता है, जिसमें वह निश्चयपूर्वक लाभ कमा सकता है। इसको "मृतक" या "गर्त वणिक" (Pit Trader) भी कहते है।

समन्वयी सौदे
(Arbitrage Operations)

इन सौदों के लिए जो अंग्रेजी शब्द प्रयोग मे लाया जाता है उसका अर्थ "निर्वाचन" से है। निर्वाचन दो व्यक्तियों के बीच के झगडे को किसी तीसरे व्यक्ति के द्वारा निपटारा कराने को कहते हैं। परिकल्पना बाजार में व्यापारी अन्तर्राष्ट्रीय बाजार भावो को समय-समय पर की गई सूचनाओं की जानकारी करते रहते है। इन सूचनाओं के द्वारा व्यापारी को मालूम हो जाता है कि अमुक माल का मूल्य किस बाजार मे अधिक और किस मे कम है। ये लोग माल कम मूल्य बाजार मे खरीदकर अधिक मूल्य वाले बाजार मे बेच देते है। इस प्रकार व्यापारी मध्यस्थ की तरह दोनो बाजारो के भावो का निर्वाचन करते है। इस प्रकार की क्रिया से व्यापारी को लाभ होता है और उधर *अलग अलग बाजार के भावों मे समन्वयता आ जाती है।*

समन्वयी सौदे करते समय व्यापारी को दो बातो का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। प्रथम तो यह है कि स्थानो मे इतना अन्तर नहीं होना चाहिए कि माल को ले जाने का व्यय अन्तर के बराबर या उससे अधिक हो, और द्वितीय यह कि साधारण सौदे तथा समन्वयी समय का विशेष अन्तर नहीं हो क्योंकि समय व्यतीत होने पर दोनों के भावो के अन्तर समाप्त हो सकते है। इस प्रकार व्यापारी को बडी सावधानी से इस प्रकार के सौदो मे प्रविष्ट होना चाहिए, जिसमें उसे लाभ हो सके।

उपर्युक्त हित के लिए व्यापारियों को विभिन्न विपणियों की सन्तुलित तालिकाएं बनानी चाहिए। उसमे विविध बाजारो का भाव ज्ञान हो सकेगा और उसी के अनुसार वह कम मूल्य वाले बाजार मे क्रय कर अधिक मूल्य वाले बाजार मे माल की बिक्री करेगा। इस तालिका को बनाने पर उसको माल पर होने वाले व्यय ; जैसे—बीमा (Insurance), वर्तन (Commission), वाहन व्यय (Carriage

Oharges), भाटक (Freight) तथा अन्य सम्बन्धित व्यय का भी पूरा-पूरा ब्यौरा ध्यान में रखना आवश्यक है। स्थान की दूरी, मार्ग की समस्या तथा भुगतान की स्थिति को भी उसे विचाराधीन रखना आवश्यक है।

उभय विकल्प या सट्टा करना
(Straddling)

इस शब्द का प्रयोग अमेरिका के बाजारों मे मन्दी और तेजी लगाने के लिए किया जाता है। इसके अनुसार परिकल्पक माल के भविष्य के मूल्य या गुण मे सट्टा करके लाभ कमाना चाहता है। जब व्यापारी यह समझता है कि भावों का अन्त अस्थायी है और भविष्य मे मूल्य उतना नही रह सकेगा, अर्थात् यदि इस समय माल कम है तो भविष्य मे अधिक होगा या विपरीत दशा में कम होगा तो वह एक तिथि के लिए सौदा करके अपने अनुकूल वाली तिथि में उसी सौदे का बिक्री सौदा कर लेगा। निश्चित तिथि पर यदि उसके अनुसार भाव आ जायेगा तो व्यापारी को लाभ होगा और यदि आशा के विरुद्ध भाव घट जायेगा तो हानि उठानी पड़ेगी।

उभय विकल्प के सौदे एक ही बाजार मे भविष्य में होने वाली भुगतान की भिन्न-भिन्न तिथियों मे या एक ही तिथि मे होने वाले भुगतान का विविध बाजारों या एक ही बाजार मे एक ही तिथि पर भुगताये जाने वाले माल के मूल्यान्तर मे किये जाते हैं।

राशि पातन
(Dumping)

जब एक स्थान वाले दूसरे स्थान के बाजार पर एकाधिकार करना चाहते हैं तो वे उस बाजार मे प्रचलित भावों से बहुत नीचे भावों में ही वहीं माल बेचना प्रारम्भ कर देते हैं, जिसके फलस्वरूप सारा बाजार उनके अधिकार में आ जाता है। स्थानीय व्यापारियों को इस प्रकार मात दे दी जाती है और "राशि पातक" फिर सारे बाजार को हथिया लेता है। राशि पातन अधिकांश रूप से विदेशी व्यापार मे किया जाता है। विदेशी व्यापारी दूसरे देश के बाजार को हथियाने के लिए कभी-कभी बाजार मे माल को घाटे पर भी बेचते हैं, जिससे बाजार मे उनसे सामना करने वाला कोई न रह जाय और फिर बाजार पर एकाधिकार प्राप्त कर वे उसमे मन-माने दामों पर माल बेच सकते हैं।

विपणि अतिप्रदाय
(Glut in Market)

बाजार में माल का प्रदाय इतना अधिक होता है कि माल का विक्रय अत्यन्त कठिन हो जाता है। बाजार की इस अवस्था को 'विपणि अतिप्रदाय' कहते हैं।

बाजारो मे यह स्थिति प्रायः फसलो के तैयार के अवसर पर आती है। किसान को अपने उत्पादन का विक्रय करके अपने कर्जो को चुकाने की रहती है। इसलिये वह बिना किसी विचार के अपना माल बाजार मे भरने लगता है, और इस प्रकार अन्य सारे किसान अपने माल को ले आते है। जिससे प्रदाय माँग के अनुसार नही रहता और भावो मे मदी आ जाती है।

बदली

(Switch Over)

जब क्रेता या विक्रेता किसी सौदे का भुगतान उसकी नियत तिथि पर नही करता या नही करना चाहता तो वह उसकी म्याद तिथि बदल देता है। किन्तु म्याद आमतौर पर उसी सौदे की नहीं बदली जाती, अपितु व्यापारी जब यह समझता है कि भविष्य मे भाव उसके पक्ष मे जायेगा, दूसरा सौदा कर लेता है और इस प्रकार वह अपने प्रथम सौदे मे हुई हानि की पूर्ति कर लेता है। मान लिया किसी व्यापारी ने ज्येष्ठ का सौदा किया, कुछ समय पश्चात् उसे ज्ञात हुआ कि उसको उसमे हानि होगी किन्तु भादो के सौदे मे लाभ होगा, इसलिये वह भादो के सौदे भी कर लेगा और भादो का लाभ कमाकर ज्येष्ठ के सौदे की हानि को पूरा कर लेगा। यह उसी सौदे में अथवा नये सौदे मे किया जा सकता है। परिकल्पकों की यह क्रिया 'सट्टा करना' या 'बदली' कहलाती है। वृन मे इस सौदे को 'जेठ के भादो की बदली' कहेगे।

मंडियो की कार्य-विधि

(Working of Mandies)

यहाँ पर कुछ मंडियो को कार्य-विधि दी जाती है, जिससे विद्यार्थियो को स्पष्ट ज्ञान हो सके।

हापुड़ मंडी

अर्थ—किसी नगर मे मंडी एक ऐसे निश्चित व्यापारिक स्थान को कहते हैं, जिसमें नित्यप्रति वस्तुओं की बोलियाँ लगाकर थोक व्यापार किया जाता है। ये मंडियाँ बाजार के किसी भी एक मुख्य भाग मे हो सकती है, जिनमे क्रेता और विक्रेता अपना व्यापार प्रारम्भ करते है। मडियाँ छोटे-बडे हर प्रकार के शहर में पाई जाती है। इनका आकार कोई निश्चित नही होता किन्तु यह आवश्यक है कि जहाँ पर मंडी हो उसके बीच मे एक चौक होना आवश्यक है। ये चौक आधुनिक मंडियो मे वर्गाकार होते हैं। किन्तु पुरानी मडियो मे इन चौको का कोई निश्चित आकार नही होता। इन मडियो में स्थानीय नगरपालिकाओ तथा मडी के व्यापारियो के सघ का नियन्त्रण रहता है। मडियाँ दो प्रकार की होती है "केन्द्रित" (Centralised), और दूसरी "विकेन्द्रित" (Decentralised)। केन्द्रित मडियाँ एक

निश्चित स्थान पर सारी थोक दुकानों का समूह कहलाता है। परन्तु इसके विपरीत विकेन्द्रित मंडियाँ नगर में फैली हुई होती हैं।

भारतवर्ष में गेहूँ की मंडियाँ उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, तथा पंजाब की प्रसिद्ध हैं। उत्तर-प्रदेश में मेरठ जिले के अन्तर्गत हापुड़ नाम के स्थान की मंडी भारतवर्ष में प्रसिद्ध है। इस क्षेत्र के आस-पास देश की सम्पूर्ण उपज का चालीस प्रतिशत गेहूँ उत्पन्न होता है और इसलिए यह मंडी बहुत विकसित हो गई है क्योंकि इस गेहूँ का क्रय विक्रय प्रायः इस मंडी के द्वारा होता है।

मंडी का संगठन (Organisation of Mandi)—हापुड़ मंडी का प्रबन्ध एक वाणिज्य मंडल (Hapur Chamber of Commerce) के द्वारा किया जाता है। इस मंडल के सदस्य प्रायः मंडी के सभी व्यापारी होते हैं; और उनकी एक चुनी हुई संस्था मंडी का प्रबन्ध करती है। यह मंडल साधारण व्यापार के परिचालन के साथ-साथ इसके द्वारा परिकल्पित सौदा करता है तो तेजड़िया तथा मंदड़िया दोनों ही मंडल के कार्यालय में एक निश्चित धन-राशि जमा कर देते हैं जो कि इस सम्बन्ध में निर्धारित किये हुए पूर्व नियमों के अधीन होती है। इसका उद्देश्य यह है कि परिकल्पक अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करें तथा व्यापार का संतुलन नष्ट न हो (भारतवर्ष की अन्य मंडियों में भी यह व्यवस्था है)। इस प्रकार धन-राशि जमा कर देने से तथा सौदों को करने के पश्चात् इन परिकल्पकों के सौदे के प्रसंविदे पक्के हो जाते हैं और मंडल का कार्यालय इस बात का ध्यान रखता है कि बाजार में जो कोई सौदे हुए हैं, उनका पूरा-पूरा निस्तारण किया जा सके। सौदे के होने पर उनका मंडल के कार्यालय में रजिस्ट्रेशन हो जाता है और क्रेता तथा विक्रेता उस सौदे के लिये बाध्य हो जाते हैं। मंडियों में व्यापारियों के बीच किसी प्रकार का मतभेद हो जाने पर उसका निर्णय मंडल के द्वारा किया जाता है। मंडल के संचालन के लिये इनके सदस्यों को एक निश्चित शुल्क देना पड़ता है।

मंडी में व्यापारियों के प्रकार (Types of Traders in Mandi)—हापुड़ मंडी में मुख्य प्रकार से दो प्रकार के व्यापारी हैं। कच्चा आढ़तिया और पक्का आढ़तिया। कच्चे आढ़तिये पक्के आढ़तियों के कर्ता (Agent) प्रारम्भिक रूप में कार्य करते हैं। इनका सम्बन्ध सीधे उत्पादक, किसानों तथा गाँवों के साहूकार और व्यापारियों से रहता है। कच्चा आढ़तिया फसल के पूर्व इन किसानों तथा व्यापारियों को आर्थिक सहायता देकर इनकी फसल को पहले ही खरीद लेते हैं और फसल के तैयार होने पर सारा माल अपने अधीन कर लेते हैं। किसान या गाँव के व्यापारी अनाज को लेकर मंडियों में जाते हैं। मंडी का ढंग कुछ इस प्रकार का होता है कि उनको इन लोगों की शरण में जाना आवश्यक हो जाता है। ऐसी दशा में कच्चे आढ़तियों की स्थिति दलाल (Broker) की सी हो जाती है और वह पक्के

आढतियो मे किसानो का प्रतिनिधि और किसानों के बीच मे पक्के आढतियो के प्रतिनिधि के रूप मे कार्य करता है। हापुड मडी मे कच्चे आढतिये किसानों का प्रतिनिधित्व व्यापारिक रूप मे बहुत कम करते हे और प्राय. पक्के आढतियों के ही आदेशों तथा सकेतो पर चलते है क्योंकि इन लोगों को उन लोगो से आर्थिक सहायता प्राप्त होती है, तथा समय-समय पर उनसे व्यवहार करना पड़ता है। इस प्रकार मडी मे किसानो की अपेक्षा पक्के आढतियों का ही बोलबाला रहता है और व्यापार मे मुक्त प्रतिस्पर्धा को स्थान नहीं रहता।

उत्तर प्रदेश बैंकिंग इनक्वायरी कमैटी का मत है कि ग्रामीण चतुर तथा अनुभवी हो गये हैं। उनको बाजार के मूल्यों की गतिविधि का पता रहता है और वे अपने माल को इस प्रकार वेचते हैं कि प्रायः उनको लाभ भी होता है। जब वे देखते हैं कि घर पर माल बेचने से लाभ नहीं है तो वे स्वयं मडी मे ले जाकर बेचने है और इस प्रकार यातायात व्यय आदि का भार भी सुगमता से सहन कर लेते है। किन्तु केन्द्रीय बैंकिंग कमैटी का मत है कि मध्यस्थ और छोटे व्यापारी कोई लाभप्रद सेवा नहीं करते और इनके प्रभार अधिक नहीं होते, यह भ्रम पूर्ण है। किन्तु अब भी देखा गया है कि ग्रामीण अज्ञान, अकुशल तथा कच्चे आढतियों और ग्राम के व्यापारियो के चंगुल मे फँसे हुए होने के कारण स्वेच्छा से मडियो मे व्यापार नहीं कर सकता है और उसे कच्चे आढतियो की ही शरण मे जाना पडता है जो उसके हित की अपेक्षा पक्के आढतियों के हित को अधिक ध्यान मे रखते है। किन्तु शनैः शनैः ग्रामीणो के संगठनो के बन जाने के कारण ग्रामीणों की शक्ति अब दिन प्रतिदिन बढती जा रही है और ये बाजार मे स्वतन्त्र रूप से व्यापार करने के लिए व्यवस्थित हो रहे है।

कच्चे आढतिये अपने आदमियो को दिन निकलते ही हापुड मंडी से दूर तथा निकट की चुङ्गियो पर भेज देते है। वहाँ पर अनाज की गाडियों को लिए हुए ग्रामीण मिलते है। उनको चुगी आदि चुकाने पर वे अनाज की गाडियो को अपने स्वामियो की दुकानो पर ले जाते हैं जहाँ पर उनको उनके माल की कच्ची पर्चियाँ दे दी जाती है। आढतियों के प्रतिनिधि गाडी वालो के लिये जो चुगी देते हैं, उनको गाड़ी का धान बिक जाने पर तथा मूल्य के प्राप्त होने पर कीमत मे से काट लिया जाता है।

जब कच्चे आढतियो के पास इस प्रकार धान पहुँच जाते है तो वे पक्के आढतियो के साथ सम्पर्क स्थापित करते हैं और माल के क्रय-विक्रय के उद्धरण प्राप्त कर लेते हैं। फिर उस मूल्य को जिस पर कि पक्के आढतियो ने माल लेना स्वीकार किया है किसानो को बता दिया जाता है और किसान उसमे अपनी अनुमति दे देते हैं। इस प्रकार पक्के व्यापारियो तथा किसानो की अनुमति के बाद माल का क्रय-विक्रय हो जाता है। किसान तथा कच्चे आढतियों का सम्बन्ध दलाल तथा कृत्यकी

कॉटन एसोसियेशन ने अपने हाथ मे ले लिया और यह सस्था इस कार्य को १६३१ तक करती रही।

उद्देश्य (Object)—एसोसियेशन के उद्देश्य निम्न प्रकार के थे—

(१) मडी के लिए भवन निश्चित करना तथा उसमे प्रवेश करने के लिए उसके सदस्यो की व्यवस्था करना और उसमें होने वाले व्यापार पर नियंत्रण करना।

(२) सौदो के लिए क्रेता व विक्रेताओं को फार्म तथा आदेश पुस्तको को देना, सौदो का निश्चय तथा रजिस्ट्रेशन करना।

(३) किसी प्रकार का झगडा होने पर पचायत की व्यवस्था करके उसका निर्णय करना।

(४) कपास के व्यापार का नियन्त्रण करके उसके भावो मे सन्तुलन करना।

(५) कपास को उचित रूप से श्रेणीवद्ध करना।

(६) मडी की गतिविधियो की सूचना व्यापारियो को देना तथा आवश्यक सूचनाओ को एकत्रित करके उनका प्रकाशन करना।

(७) व्यापार मे उत्पन्न होने वाली जोखिमो पर नियन्त्रण करना तथा जोखिम के लिये बीमा करने की व्यवस्था करना।

(८) कपास के व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिये वम्बई तथा कपास उत्पादक क्षेत्रो पूर्ण नियन्त्रण करना और इस व्यवसाय मे स्थिरता बुलाने के लिये सुविधा देना।

(९) कपास का निर्यात तथा हस्तान्तर के लिये नियम स्थापित करना और उसके लिये शोधन गृहो की स्थापना करना।

(१०) परिकल्पना पर नियंत्रण रखना तथा व्यापारिक नियमो और उप-नियमो का बनाना।

व्याख्या (Explanation)—संवरी कॉटन डिपो में इस सस्था का एक विशाल भवन है जिसमे १२१ क्रेताओ तथा ८४ विक्रेताओ के कमरे है और एक बडे हॉल मे लगभग ४०० सदस्यो के लिये स्थान है। इस सस्था की ओर से नियमित दर से बॉम्बे कॉटन मेन्यूअल प्रकाशित किया जाता है। जिसकी कपास सम्बन्धी सूचनाएँ अधिकारपूर्ण तथा विश्वमनीय समझी जाती हैं।

ईस्ट इण्डिया कॉटन एसोसिएशन यद्यपि भारतवर्ष के अधिकाश कपास व्यापार पर नियन्त्रण रखता है, किन्तु यथार्थ रूप मे उसका नियन्त्रण यथेष्ट नहीं रह सका और न वह अप्रिय परिकल्पनाओ को रोककर मूल्यो मे स्थिरता लाने मे पर्याप्त ही सफल हुआ। उसकी इस कमजोरी के कारण न तो कपास के उत्पादकों को ही विशेष लाभ हो सका और न व्यापारिक वर्ग को ही वह हानि से वचा सका है।

बम्बई कपास विनिमय के प्रकाशित मूल्यों से ज्ञात होता है कि फसल के दिनों मे कपास के मूल्य आवश्यकता से अधिक गिर जाते हैं। इसका प्रमुख कारण विदेशों मे अगाऊ परिकल्पित सौदों का करना है। इन सौदों के किये जाने से उत्पादकों को अपनी कपास गिरे हुए मूल्यों पर बेचनी पड़ती है। बड़े व्यापारी सारे बाजार को हथियाकर तथा उस पर एकाधिकार प्राप्त करके कपास के उपभोक्ता मिलों को ऊँचे दामों पर कपास बेचते हैं। जिसके फलस्वरूप निर्मित कपड़ों के मूल्य मे वृद्धि जाती है और इस प्रकार साधारण उपभोक्ताओं तथा कृषकों को हानि होती है।

बम्बई सरकार के परिकल्पना रोधक विधेयक को बनाने तथा सम्बधित व्यापारियों के विरोध करने पर भी यह परिकल्पना का सफल नियंत्रण करने में असफल रहा है। जिसके फलस्वरूप बाजार का नियंत्रण प्रायः सटोरियों के ही हाथ मे रहता है। एसोसिएशन की बैठकों मे परिकल्पकों की अधिकता होने के कारण अन्य व्यापारी तथा निर्माणकर्ता अपने अनुकूल नियम तथा उपनियमों को नही बनाने पाते जिसके कारण उनको अपने अधिकारो से वंचित रहना पड़ता है। इसलिए यह आवश्यक है कि एसोसियेशन के केन्द्रीय मंडल के विधान को बदल देना चाहिए। जिससे व्यापार में भाग लेने वाले प्रत्येक सदस्य को उचित प्रतिनिधित्व मिल सके तथा वोटों का समान वितरण हो सके। एसोसियेशन तथा सरकार के बीच में इस प्रकार के सम्बन्ध होने चाहिए, जिसके कारण समय पर सरकार व्यापारियों के हितों की रक्षा कर सके। इसके साथ-साथ परिकल्पना पर भी उचित रोक लगाने के नियम तथा उपनियम बनाये जाने चाहिए।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 What is a produce market ? Write a note on it. Discuss its usefulness to the manufacturers and producers.

2 Give a detailed note on the organization of a produce market. How the business is transacted in the produce market.

3 Account for the following event that took place in this country. —'Abolition of forward trading on certain commodity markets'.

4 Write a short not on—Hedging, Contango, Teji-Mandi-ka Sauda, double option, big turnover, gale option, cartel, profit-sharing.

5 Explain the following with proper illustrations.— Cornering, stagging, bull rigging, Cum. div. or C. D , quotations.

6 Explain the following —
Squeezed bear, disgruntled bull, scalper, arbitrage, straddling, dumping.

7 Explain the working and organisation and working of any mandi or market you are familiar with

8 Describe briefly the organisation and working of the E. I. C. A or any other produce exchange in India

स्कन्ध विनिमय या पूँजी बाजार ३०

(Stock Exchanges or Capital Market)

अर्थ का महत्व
(Meaning and Importance)

स्कन्ध विनिमय (Stock Exchange) उस बाजार को कहते हैं जहाँ किसी देश के सयुक्त स्कन्ध प्रमण्डलों, सरकारी तथा गैर सरकारी संस्थाओं तथा विदेशो के विभिन्न प्रकार के अंशो, ऋण पत्रों तथा प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय तात्कालिक तथा भावी भी सौदों के आधार पर होता है। स्कन्ध *विनिमय बाजार को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिभूति विपणि कहा जा सकता है,* क्योकि इनमें बिकने वाली प्रतिभूतियाँ प्रायः संसार भर में अपना मूल्य रखती है अर्थात् हम कह सकते हैं कि इस इसमे व्यापारो का व्यापार किया जाता है। स्कन्ध विनिमय के द्वारा किसी भी देश का व्यापारिक स्तर ज्ञात किया जा सकता है, क्योकि इसमे देश की जितनी प्रतिभूतियाँ होती हैं, उनका विस्तृत रूप से व्यापार होता है तथा उस देश की राजनैतिक तथा आर्थिक उन्नति का प्रादुर्भाव इसके ही द्वारा सम्भव हो सकता है। इसके द्वारा ही किसी देश की औद्योगिक तथा व्यापारिक स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। इन बाजारों के अभाव में किसी भी देश को औद्योगिक तथा व्यापारिक उन्नति तथा कुशलता का अवसर नही मिलता है। क्योकि वैयक्तिक श्रोतो से यथेष्ट पूँजी की प्राप्ति सम्भव नही होता और उसके फलस्वरूप उनकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। सरकार को अपनी योजनाओ की पूर्ति के लिए पर्याप्त धन सग्रह करने के लिये इन्ही बाजारो की शरण मे जाना पडता है, क्योकि उनमे उसकी प्रतिभूतियों को बिकने का सरल मार्ग बन जाता है। धन लगाने वाले लोगो तथा अधिकोषों को अपनी पूँजी लगाने के लिए अच्छा क्षेत्र मिल जाता है और वे अनेक प्रकार की प्रतिभूतियों मे सबसे उत्तम प्रतिभूति का चुनाव कर सकते हैं। इस प्रकार विनियोगकर्ता अपने धन का विनियोग करके धन बढाने की आशा से, *व्यापारी अपने व्यापार का विकास करने की दृष्टि से उद्योगपति अपने उद्योग को* बढाने तथा नवीन उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए, आविष्कारों को बढाने के लिये, अधिकोष अपनी *सचित राशि द्वारा अन्य समय मे लाभ कमाने की दृष्टि से तथा* राष्ट्रीय सरकार अपनी योजनाओं के लिए धन एकत्र करने के लिये स्कन्ध विनिमय

विपणि का आश्रय लेते है। इस प्रकार यह बाजार विनियोग तथा परिकल्पना का मुख बाजार है जहाँ पर सौदे करने वाले व्यक्ति विनियोक्ताओं तथा परिकल्पित सौदे करने वालो से अपना सम्बन्ध बनाये रखते हैं, जिससे प्रतिभूतियों को स्वतन्त्र बाजार आसानी से प्राप्त हो जाता है। कोई भी व्यक्ति अपने धन को तब तक नही लगाता जब तक उसको इस बात का पूर्ण विश्वास न हो कि उसकी लगी हुई पूँजी सुरक्षित रहेगी और आवश्यकता पड़ने पर वह उसको पुन. किसी सरल उपाय से वापिस प्राप्त कर कर सकेगा। विनियोक्ता स्कन्ध विनिमय की उत्तम से उत्तम प्रतिभूति पर अपने धन को लगाने मे सकोच करेगा यदि उसे इस बात का विश्वास न हो कि अपनी खरीदी हुई प्रतिभूतियों को आवश्यकता पड़ने पर इन बाजारों मे बेचकर फिर अपने धन को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार इन बाजारों से पूँजी का निर्गमन बडी आसानी से होता है तथा पूँजी अनुत्पादक श्रोतो से उत्पादक श्रोतो मे बिना किसी कठिनाई के चली जाती है। वह बहुत बड़ी सीमा तक इन्ही का कार्य है कि राष्ट्र की महान् योजनाओं को बहुत-सा धन बिना किसी कठिनाई के प्राप्त हो जाती है। व्यापार की वर्तमान संयुक्त-स्कन्ध प्रमण्डल पद्धति का आधार स्कन्ध बाजार ही है, क्योंकि इन प्रमण्डलों को सबसे अधिक धन इन्हीं बाजारों से प्राप्त होता है।

इस प्रकार वर्तमान स्कन्ध-विनिमय बाजारो के महत्व को जानने के लिए बिस्मार्क की वह बात नही भुलाई जा सकती जो उसने लन्दन की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करने वाले जर्मन युवको को कही थी कि "यदि तुम ब्रिटेन के बारे मे यह जानना चाहते हो कि उसकी दशा कैसी है, तो हाउस ऑफ कामन्स (House of Commons) का अध्ययन करके तुम्हे लन्दन स्कन्ध विनिमय (London Stock Exchange) का अच्छी प्रकार अध्ययन करना चाहिए।" यदि उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् हम कहे कि स्कन्ध विनिमय किसी देश की उन्नति का माप यन्त्र है, तो अत्युक्ति न होगी।

आधुनिक व्यापार व्यवस्था मे विनिमय का स्थान इतना महत्वपूर्ण हो गया है कि बिना उसके किसी भी प्रकार के व्यापारिक अथवा परिकाल्पनिक सौदों का सुचारु रूप से प्रबन्ध किया जाना कठिन है। यद्यपि इसका शाब्दिक अर्थ किसी भी प्रकार की निधि का विनिमय करना है, किन्तु इस शब्द का प्रयोग मुख्य रूप मे अश, स्कन्ध, प्रतिभूतियो तथा अन्य विनिमय साध्य पत्रको के क्रय विक्रय के स्थान से सम्बन्ध रखता है। संयुक्त पूँजी वालो कम्पनी के प्रादुर्भाव के पूर्व सरकार की प्रतिभूतियाँ बाजार की वस्तु सन्निधियाँ ही उनकी प्रतिभूति होती थी, किन्तु उन बाजारों मे और आज के बाजारो मे एक व्यापक अन्तर है। जैसे ही दुनिया मे विविध वस्तुओ का उत्पादन बढा वैसे ही राष्ट्रीय ऋणो मे वृद्धि हुई और स्कन्ध विनियम उन ऋणों के निस्तारण के

लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुए है। ये संस्थाएं रुपया लगाने वाले तथा बाजार मे ऋण देने वाले (चाहे वे सरकारी अथवा गैर सरकारी संस्थाएं हो, दोनो के लिये ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं)।

इन संस्थाओ के द्वारा बाजार में पूंजी का पर्याप्त प्रचलन रहता है तथा उसके लिए एक अच्छा बाजार स्थापित हो जाता है जिससे कि ऋण लेने वाले तथा ऋण देने वाले दोनो का ही आर्थिक लाभ हो। स्कन्ध विनिमय बाजार राष्ट्र के लिए एक पूंजी लगाने का तथा धन संचय करने का एक अच्छा साधन बनाये रखते हैं। इनके ही द्वारा पूंजी लगाने वाले व्यक्तियो को विविध प्रकार की प्रतिभूतियों तथा अंशो की स्थिति अध्ययन करने का अवसर प्राप्त होता है और वे बिना किसी जोखिम के अपने धन को लगा सकते हैं। उद्योग-धन्धों तथा बड़े-बड़े व्यापार गृहो को भी इन बाजारो द्वारा समय-समय पर आर्थिक लाभ प्राप्त होता रहता है और बाजार मे अविराम पूंजी का प्रवाह बना रहता है। इस साथ-साथ अनेक योग्य तथा कुशल विशेषज्ञो को भी अपनी सलाह देने का तथा बाजार के अध्ययन करने का अवसर मिलता है।

विनिमय बाजारो मे जहां प्रदाय और मांग मे स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा रहती है वहां पर अंश प्रतिभूतियो, ऋण पत्रो आदि का यथार्थ मूल्य आंकने मे किसी भी प्रकार की कठिनाई नही होती। जो मूल्य इन बाजारो मे आंके जाते हैं उससे केवल उन पत्रको की ही असलियत का ज्ञान नही होता, अपितु उनका प्रसार करने वाली व्यापारिक एवं औद्योगिक संस्थाओ की स्थिति का अनुमान भी लग जाता है। इन बाजारो मे साधारण आर्थिक वित्तीय, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं राजनैतिक समस्याओं का प्रभाव भी प्रतिभूतियों के मूल्यो पर पडे बिना नही रह सकता। इसका अनुमान केन्द्रीय बजट के पेश होने पर तथा विदेशो में भी किसी प्रकार युद्ध के वातावरण के कारण जो प्रभाव प्रतिभूतियो तथा अशों के मूल्य पर पड़ता है, उससे भली प्रकार लगाया जा सकता है। मार्शल के कथनानुसार इसलिए यह सत्य है कि "स्कन्ध विनिमय केवल व्यापारिक सौदो के मुख्य नाट्य गृह नही है, वह 'वायुदाब मापक यंत्र' भी हैं जो कि व्यापारिक वातावरण की आम अवस्था को बताता है।"

बिना स्कन्ध विनिमय के किसी भी देश का व्यापारिक तथा औद्योगिक जीवन आज की प्रगति को नही पहुँच सकता, क्योकि परोक्षा रूप से ये इन दोनो की पूंजी व्यवस्था मे सहायता प्रदान करता है तथा व्यापार के प्रसार तथा नये व्यापार के प्रचलन मे अधिकोषों को अपने धन के लगाने मे तथा सरकार की आर्थिक योजनाओ की पूर्ति मे, अत्यन्त सहायक सिद्ध होते हैं। एक शब्द मे यह कहा जा सकता है कि इन बाजारो मे सब व्यापारो का व्यापार होता है। यदि इस बाजार मे इस प्रकार की सहायता न मिलती तो धन लगाने वाले उत्तम प्रतिभूतियो को भी खरीदने मे संकोच करते और इस प्रकार पूंजी का प्रभाव अवरुद्ध हो जाता। यदि यह संस्था न होती

तो सरकार को भी जनता से ऋण लेना कठिन हो जाता। अत. महान राष्ट्रीय व्यापारिक तथा औद्योगिक योजनाओं की प्रवृत्ति धन न मिलने के कारण कुंठित हो जाती। इस प्रकार स्कन्ध विनिमय सारे संसार की प्रगति के लिए दृढ सहायक है और यही कारण है कि इसका क्षेत्र आज राष्ट्रीय बढकर अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है।

पूँजी बाजार मे इसका महत्व
(Importance of Money Market)

ऊपर विनिमय स्कन्ध का महत्व बताते हुए यह कहा गया है कि व्यापारिक तथा औद्योगिक उन्नति के लिए इसका होना अनिवार्य है, क्योंकि इसके द्वारा ही उनको यथेष्ट पूँजी की प्राप्ति होती है। पूँजी बाजार मे बैंक, साहूकार, वित्तीय नियमो (Finance Corporations) आदि के द्वारा धन की लेवा-बेची करते है। विनिमय स्कन्ध बाजार के द्वारा, पूँजी बाजार को एक विशेष सहायता मिलती है। इसमे ऋण लेने वाली सस्थाएँ अपने अश तथा प्रतिभूतियो का निर्गमन एवं प्रसार करके अपने लिए यथेष्ट पूँजी प्राप्त कर लेती है। इसी प्रकार सरकारी तथा अर्ध सरकारी संस्थाएँ भी अपनी प्रतिभूतियो को इन बाजारो मे लाकर यथेष्ट धन की प्राप्ति कर लेते हैं। जिन लोगों अथवा संस्थाओं के पास धन रहता है वे स्कन्ध विनिमय के बाजारो मे दृढता देखते हुए उसमे अपना धन लगाना उचित समझते हैं।

स्कन्ध विनिमय बाजारो मे केवल राष्ट्रीय ही नहीं, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिभूतियो तथा पत्रको का विनिमय होता है, जिसके द्वारा विदेशो से भी पूँजी सुगमता से प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार स्कन्ध विनिमय बाजार मे पूँजी का प्राप्त होना बहुत सरल होता है और किसी राष्ट्र के पूँजी बाजार को एक बहुत बडी सहायता मिलती है।

मूल्यों पर प्रभाव डालने वाले तत्व
(Factors Affecting Security Prices)

प्रदाय तथा माँग मे संघ के नियम तथा उपनियमों के अधीन तथा सरकारी विधानो के अन्तर्गत खुले रूप मे स्वतन्त्र स्पर्धा रहती है, जिसके कारण प्रतिभूति के मूल्यो पर अनिवार्य रूप से प्रभाव पडता है। विनिमय बाजार मे मूल्यो पर प्रभाव डालने वाले कारण (Factors) निम्नलिखित है—

(१) अन्य बातों मे अन्तर न होते हुए प्रदाय और माँग के उतार-चढाव।

(२) स्वदेश और विदेश मे प्रतिभूतियो को सांख्यिक तथा माननीय स्थिति। दूसरे शब्दो में स्टॉक, जो बाजारो में उपलब्ध है।

(३) सरकार का हस्तक्षेप, जैसे कर, नियन्त्रण, सरकारी विधेयक आदि।

(४) प्रतिभूति को प्रसारित करने वाली संस्था की व्यापारिक तथा आर्थिक स्थिति।

(५) विचारणीय प्रतिभूति के ऊपर प्रभाव डालने वाली अन्य प्रतिभूतियाँ तथा उनकी स्थिति।

(६) प्रतिभूतियों का कुल क्रय-विक्रय, विदेशी विनिमय दर मे उतार-चढाव, जिससे लेन-देन पर प्रभाव पड़े।

(७) अन्तर्देशीय सम्बन्धों मे परिवर्तन।

(८) युद्ध के अवसर पर उत्पन्न विशेष स्थिति।

(९) पंजीयन किये जाने पर प्रतिशत के मूल्य पर प्रभाव।

(१०) बाजार मे तेजी वालो तथा मदी वालो की गतिविधि।

(११) मुद्रा की दरें तथा मुद्रा में स्फीति या विस्फीति।

(१२) समाचार-पत्रों के मत तथा बाजार की मनोवृत्ति।

यदि किसी प्रतिभूति को प्रसारित करने वाली संस्था की आर्थिक तथा व्यापारिक स्थिति समान रहे, बाजार मे कोई विशेष परिवर्तन न हुआ हो, आर्थिक नियन्त्रण उसी प्रकार का रहे, किन्तु जब प्रतिभूति के लिए माँग बढ जाय और उसके अनुसार प्रदाय न हो सके तो निश्चित ही वस्तु का मूल्य बढ जायगा और विपरीत दशा मे वस्तु का मूल्य गिर जायगा। इस प्रकार माल के प्रदाय में उतार-चढाव आने के कारण माल के मूल्य मे, यद्यपि शेष स्थिति सब पूर्ववत ही हो, घटा-बढी होना तो स्वाभाविक ही है।

प्रतिभूतियों के मूल्य पर प्रतिभूतियों का बाजार मे कुल स्टॉक तथा देश-प्रदेश मे उसकी क्या स्थिति है, इसका भी प्रभाव पड़ेगा। यदि बाजार मे प्रतिभूतियों को बहुत बडी संख्या है तो मूल्य मे कमी आना स्वाभाविक है। इसी प्रकार यदि विदेशों मे माल की प्रतिभूतियों की प्रतिष्ठा घट गई हो तो उसका मूल्य घटेगा और यदि उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी हो तो मूल्य मे अवश्य वृद्धि होगी। बाजार में स्टॉक का निश्चित परिमाण जानने के पश्चात् तथा उसके लिए कुल माँग का अनुमान लगा देने पर उसके मूल्य पर क्या प्रभाव पडेगा, यह जानना कठिन नहीं है।

मूल्यों पर सरकार के हस्तक्षेप का भी व्यापक प्रभाव पडता है। जो प्रतिभूतियाँ कर से मुक्त रहती है, उनका वास्तविक मूल्य कर वाली प्रतिभूतियों के वास्तविक मूल्य से अधिक होगा, क्योंकि जिन प्रतिभूतियों पर कर लिया जाता है उनके मूल्यों में कर के सम्मिलित हो जाने से वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार उसका मूल्य अधिक होने हुए भी यथार्थ मूल्य मे परिवर्तन हो जाता है। सरकारी विधेयकों के द्वारा बधन तथा प्रतिबधन लग जाने से भी प्रतिभूतियों पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। सरकार की अर्थ-नीति की उद्घोषणा का प्रभाव भी प्रतिभूति के मूल्यों पर व्यापक रूप से पड़ता है।

प्रतिभूति अश आदि के क्रय-विक्रय मे मूल्य लगाने वाले लोग सबसे पहले यह

जानने का यह प्रयत्न करते हैं कि प्रतिभूति अंश आदि को प्रसारित करने वाली संस्था की व्यापारिक अथवा आर्थिक अवस्था क्या है ? यदि संस्था की व्यापारिक प्रतिष्ठा, साख, आर्थिक स्थिति आदि सतोषजनक हो तो उन प्रतिभूतियों में वृद्धि होगी और विपरीत दशा में मूल्य गिर जायेंगे। किन्तु कभी-कभी अफवाह के फैल जाने के कारण बाजार में कुछ शंका या अविश्वास पैदा हो जाता है और यह सिद्धान्त सत्य नहीं प्रतीत होता। किन्तु इस प्रकार की स्थिति असाधारण स्थिति कही जायगी और उसका सिद्धान्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। यही कारण है कि टाटा, बिरला आदि के द्वारा प्रसारित किए हुए अंश तथा ऋण-पत्र अत्यधिक प्रव्याजि (Premium) पर बेचे जा रहे हैं और फिर भी उनकी मांग वैसी हो बनी रहती है।

कभी-कभी विनिमय बाजारों में अनेक प्रकार की प्रतिभूतियाँ आ जाने के कारण उनके प्रदाय में स्पर्धा हो जाती है, जिसके फलस्वरूप मूल्य में कमी आ जाती है। किन्तु यह कमी स्थायी रूप से तभी रह सकती है जब प्रभाव डालने वाली प्रतिभूति की बाजार में दृढ़ स्थिति हो और उसके लिए एक स्थायी मांग बन सके; अन्यथा एक अन्तरिम परिवर्तन के पश्चात् मूल्य में स्थिरता आ जायगी।

जिन प्रतिभूतियों का अन्तर्राष्ट्रीय बाजार होता है उनके मूल्यों पर विश्व के किसी भी बाजार के महत्व का पहला प्रभाव पड़ सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि भारतवर्ष में उस प्रतिभूति में किसी प्रकार का अन्तर न हुआ हो। उदाहरणार्थ, यदि अमेरिका में उसके मूल्य घट गये हैं तो हिन्दुस्तान में नहीं घटे हों। विश्व के क्रेता-विक्रेता विभिन्न बाजारों में समन्वय सौदे करके अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में एकसी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं।

युद्ध के अवसरों पर अथवा राष्ट्र के आपसी व्यापारिक तथा राजनैतिक संबंधों के विच्छेद होने पर उन देशों के बीच होने वाले स्कन्ध-विनिमयों का होना असंभव हो जाता है और उस अवस्था में यदि किसी को विपरीत देश का भुगतान प्रतिभूति द्वारा करना हो तो उसको निस्सदेह साधारण मूल्य से अधिक मूल्य देना पड़ेगा। उस स्थिति में जब सरकार प्रतिभूतियों के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दे अथवा विदेशी प्रतिभूतियों को किसी प्रकार की मान्यता न दे तो ऐसी अवस्था में उनका मूल्य गिर जायेगा।

जिन प्रतिभूतियों का सूचीयन कर दिया जाता है, अथवा जिनको विनिमय-संघ द्वारा प्राथमिकता दे दी जाती है, उनके मूल्य साधारण प्रतिभूतियों की अपेक्षा बढ़ जाते हैं।

प्रतिभूतियों के मूल्यों पर व्यापार में ऋण पर लिए या दिए जाने वाले ब्याज का भी व्यापक प्रभाव पड़ता है। यदि ब्याज की दर कम होगी तो लोग अधिक से अधिक ऋण लेकर प्रतिभूतियों को खरीदेंगे और इस प्रकार उनका मूल्य

बढ जायगा। यदि ब्याज की दरें प्रतिभूतियों से होने वाले लाभ से अधिक हों तो प्रतिभूतियों के खरीददार भी कम हो जायेंगे, जिसके फलस्वरूप उनके मूल्यो मे कमी आ जायेगी।

इसी प्रकार यदि मुद्रा मे स्फीति या विस्फीति आ जाती है तो उसके अनुसार बाजार मे प्रतिभूतियों के मूल्यों मे भी चढाव-उतार आ जाता है।

प्रतिभूतियों पर पत्रो मे छपने वाली आलोचना का भी बहुत बडा प्रभाव पड़ता है। यदि किसी प्रतिभूति की समाचार-पत्रों मे बहुत अधिक प्रशंसा की गई है तो बाजार मे लोगों की मनोवृत्ति उसको खरीदने की ओर जाती है और वे प्रतिभूतियों को अधिक मूल्य पर भी खरीदने के लिए तत्पर हो जाते हैं। इसी प्रकार यदि कोई या कुछ व्यक्ति एक प्रकार की प्रतिभूति को अधिक संख्या मे खरीदना प्रारम्भ करते हैं तो और लोग भी यह समझ कर कि उनमे लाभ होगा खरीदना प्रारम्भ कर देते हैं, जिससे उसके मूल्य का बढ जाना निश्चित है। विपरीत दशा मे मूल्यों पर भी विपरीत प्रभाव पडता है।

सौदा पद्धति (Method of transaction)—सौदे दो प्रकार के किये जाते है : नकद सौदे (dealings for money) तथा उधार सौदे (dealings for the account)। पहले सौदो मे मूल्य भुगतान तुरन्त किया जाता है और उधार मे मूल्य आगे की किसी निश्चित तारीख पर चुकाया जाता है, प्रारम्भ मे बम्बई मे सौदों का भुगतान तीन प्रकार से किया जाता था। (१) भुगतान सौदे के ही दिन अथवा उसके दूसरे दिन (२) मूल्य का भुगतान एक सप्ताह के अन्दर तथा (३) मूल्य भुगतान एक महीने के अन्दर। सौदे करने के लिए दलालों या सदस्यों का ही सहारा लेना पड़ता है।

यदि कोई व्यक्ति विनिमय मे अपने धन का उपयोग करना चाहे तो उसको निम्नलिखित पद्धति ही अपनानी होगी :

(१) दलाल का चुनाव (Selection of broker) विनिमय भवन में केवल अधिकृत लोगों को ही भाग लेने का अधिकार होता है किन्तु नियमानुसार उसमे भाग लेने वाले सदस्यों को अपना विज्ञापन करने का अधिकार नहीं होता इसलिये चुनाव करने मे कठिनाई पड़ सकती है और इसके लिये अपने मित्रों की सहायता अथवा अपने ही अनुभव से सदस्यों की लिस्ट से चुनाव करना चाहिये। सदस्यों की सूची बड़ी महत्वपूर्ण होती है और उसमे उनके बारे मे पूर्ण जानकारी प्राप्त हो जाता है।

यदि दलालो का चुनाव कठिन हो तो सबसे उत्तम अपने बैंक के द्वारा सौदा करना है। बैंक अपने दलालों द्वारा ग्राहक के लिये कार्य करते हैं और इससे सौदो मे सुरक्षा भी आ जाती है तथा वे बैंक में सुरक्षित भी रख ली जाती है किन्तु इससे हानियाँ भी हैं जैसे—

(१) लाभदायक समय पर प्रतिभूनियाँ फिर वापस बाजार मे जाने मे समय लगना ।

(२) बैंक अपने ग्राहक को विनिमय को पूर्ण जानकारी नही दे सकता, किन्तु दलाल हमेशा ही विनिमय-भवन मे रहता है इसलिये उसमे अधिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है ।

(३) बैंक द्वारा सौदे करने से 'व्यक्तिगत-तत्व' नहीं रह पाता और इससे विनिमय कर्ता को कभी-कभी हानि भी उठानी पड सकती है ।

(४) जहाँ तक बैंक में प्रतिभूतियो को रखने की सुरक्षा का प्रश्न है वह बिना उसके द्वारा सौदा किये हुए भी प्राप्त हो सकती है ।

(५) बैंक की दलाली के कार्य के लिए कभी-कभी अतिरिक्त कमीशन देना पडता है और इस प्रकार सौदा मँहगा हो जाता है ।

बैंक के इन दोषों के कारण उत्तम यही है कि अच्छे दलाल का चुनाव किया जाय तथा तथा उससे लिखित अनुबन्ध कर दिया जाय ।

(२) दलाल द्वारा पूछताछ (Enquiry by Broker)—दलाल किसी विनियोग कर्ता के लिये तभी सौदा करने को तैयार होगा जब उसकी आर्थिक स्थिति को सही रूप से जान जाय । विनियोगकर्ता की स्थिति की जानकारी बैंक के द्वारा अथवा अन्य अच्छी आर्थिक स्थिति तथा प्रतिष्ठा वाले व्यक्ति के द्वारा की जा सकती है ।

(३) आदेश प्रेषण (Placing Order)—दलाल तथा प्रतिभूतियों की जाँच कर देने के पश्चात् दलाल को रुचि वाली प्रतिभूति को खरीदने के लिए आदेश दिया जाता है । आदेश निम्नलिखित आधारो पर दिया जाता है—

(अ) निश्चित मूल्य पर जिसमे दलाल को विकल्प नहीं दिया जाता, इसमे ग्राहक पहले ही मूल्य निर्धारित कर देता है ।

(आ) *अलग-अलग मूल्यों के आधार* पर जिसमे ग्राहक या तो उस समय बाजार मे उचित मूल्य पर अथवा मूल्यों को नीची तथा ऊँची कीमत निर्धारित करके जिसके अन्दर दलाल खरीद सकता है, अथवा हानि मे बचने के लिए एक निश्चित मूल्य सीमा के बाद सौदा रोक देने के लिए दलाल को आदेश दिया जाता है और दलाल तभी सौदा करेगा जब मूल्य उस निश्चित सीमा पर पहुँच जाय,* अथवा

---

* मान लिया दलाल को आदेश है कि वह अंशो की निश्चित सख्या को एक निश्चित मूल्य पर रोक दे, तो उस मूल्य तक आने तक दलाल खरीद के सौदे करता रहेगा किन्तु उस सीमा पर आते ही वह ग्राहक से आदेश लेकर उन अंशों को बेचना प्रारम्भ कर देगा । इस क्रिया से ग्राहक की होने वाली हानि एक सीमा में ही रुक जायगी ।

दलाल को उसकी इच्छा पर सौदे करने का अधिकार दिया जा सकेगा जिससे वह अपनी रुचि या वृद्धि के अनुसार उस समय सौदे करेगा जब बाजार पूर्ण रूप में अनुकूल होगा और उसमें स्थिरता आ गई हो।

(इ) इसमें उसको खुला आदेश (Open Order) भी दिया जाता है और इस प्रकार जब तक ग्राहक अपने आदेश को रद्द न कर दे तब तक दलाल ग्राहक के लिये अपनी बुद्धि के अनुसार उचित मूल्य पर सौदे कर सकता है।

(४) **आदेश लेखन** (Recording of Order) आदेश लिखित, मौखिक या टेलीफोन के द्वारा ही दे दिये जाते हैं, पहले उनको कच्ची बही (rough memo) पर दर्ज कर दिया है और फिर आदेश बही (Order book) में, आदेश पुस्तक में लिखने में समय लगता है। जब आदेश अधिक होते हैं तो उनको उनकी प्राथमिकता तथा प्रतिभूतियों के अनुसार कमबद्ध किया जाता है और दलाल फिर उसी के अनुसार कार्य करता है।

(५) **सौदे का सम्पादन** (Execution of transaction)—विनिमय भवन में सौदे करने का अधिकार केवल अधिकृत-लेखकों (authorised Clerks) को ही होता है, इसलिए दलाल अपने सौदों को उनके सुपुर्द कर देते हैं और वे अलग-अलग 'बाजारों' में* जाकर इच्छित प्रतिभूतियों में सौदा कर देते हैं। भारतवर्ष में लन्दन की भाँति प्रतिभूतियों के दो मूल्यों का उद्धरण नहीं किया जाता। यहाँ पर अधिकृत लेखक ही प्रतिभूतियों के मूल्यों का उद्धरण करते हैं।

उद्धरण में सैकड़ा या हजार के अंकों को नहीं लिखा जाता। सौदे शब्दों या संकेतों से ही हो जाते है और उनको एक चौपनी पर पेन्सिल में लिख दिया जाता है। ये सौदे क्रेता तथा विक्रेता दोनों के प्रतिबन्धित कर देते हैं। सौदे नक्द तथा उधार हो सकते हैं। अंश 'लौट' में खरीदे बेचे जाते हैं।

(६) **अनुबन्ध** (Contract)—जब लेखक सौदा सम्पन्न कर देता है तो उसको फिर कच्ची-सौदा-बही (Kaccha-Transaction book) में लिख देता है और इस बही से फिर सौदे 'रोकड' अथवा 'अगाऊ' के आधार पर अलग-अलग रूप में पक्की सौदा बही (Pacca-Transaction book) में लिख दिये जाते हैं और इसमें दलाली, पार्टियों के नाम आदि का विवरण भी दे दिया जाता है, दलाल फिर रोकड तथा अगाऊ सौदों के लिए अलग-अलग अनुबन्ध (जो निर्धारित फार्मों में किये जाते

---

* **बाजार में स्कन्ध विनिमय भवन में प्रचलित अलग-अलग प्रकार की प्रतिभूतियों के नाम से अलग-अलग विभक्त हो जाते हैं और यदि किसी को किसी विशेष प्रकार की प्रतिभूति में सौदा करना हो तो उसको विनिमय के उस (बाजार) में जाकर सौदा करना होता है।**

है) लिख लेता है तथा उन पर निश्चित दर से टिकट लगा दिये जाते हैं, दूसरे दिन सम्बन्धित पार्टियो के लेखक अनुबन्धो की जांच करके एक दूसरे को बहियों पर हस्ताक्षर कर देते हैं। इससे अनुबन्ध की शुद्धता को प्रमाणित किया जाता है। यदि सौदो मे कुछ तात्विक अशुद्धता रह जाती है तो समान्य रूप से उसका वहन दोनो पक्ष समान रूप से कहते हैं।

(७) **कमीशन** (Commission)—दलाल कमीशन उसी समय लेता है जब सौदा पूर्ण सम्पन्न हो जाता है, कमीशन के लिए विनिमय मे दर निर्धारित रहती है और उससे अधिक कमीशन ग्राहक तथा दलाल की इच्छा पर निर्भर होता है, न्यूनतम कमीशन से नीचे ५% तक लेने की व्यवस्था केवल बम्बई बाजार में है किन्तु हाजिर सौदो मे इस प्रकार का नियम लागू नही होता।

(८) **भुगतान** (Settlement)—सौदों का भुगतान हाजिर तथा अगाऊ सौदो मे अलग-अलग प्रकार से किया जाता है। हाजिर सौदो की प्रतिभूतियों को दो भागो मे बाँटा जाता है—(१) शुद्ध प्रतिभूतियाँ (Cleared Securities) जिनका भुगतान निकासी ग्रह (Clearing House) के द्वारा होता है। भुगतान के दिन विक्रेता द्वारा दो निकासी टिकट (Clearance tickets) बनाये जाते हैं और विक्रेता उन पर अपने हस्ताक्षर कर देता है। विक्रेता इनको निकासी ग्रह मे प्रस्तुत करता है और भुगतान के दिन बेची हुई प्रतिभूति तथा हस्तातरण संलेख आदि निकासी ग्रह के द्वारा क्रेता के मूल्य चुकाने पर ये उसके सुपुर्द कर दी जाती है।

(२) **अनिकासित प्रतिभूतियां** (Non-cleared Securities)—इनका भुगतान क्रेता तथा विक्रेता आपस के समझौते से ही सम्पन्न कर लेते है। इसको उनके दलाल ही सम्पन्न कर लेते है और निकासी टिकट पर भी उन्ही के हस्ताक्षर होते हैं, इन टिकटों का नाम 'कापली' होता है। भुगतान का ढंग सामान्य ही रहता है।

बम्बई मे 'अगाऊ सौदों' का भुगतान मासिक होता है और इसलिए उनको महिनों के ही नाम से पुकारा जाता है। इसमे सौदे का असली भुगतान न होकर केवल अन्तरों का चुकारा करके ही पूर्ण कर दिया जाता है। इसमे भी भुगतान की म्याद तीन दिन तक रहती है। इन तीनो दिनो को बढौती दिन (days of grace) कहते है। बढौती दिन का पहला दिन पूरक दिन (Marking up day) कहलाता है और इस दिन यदि बदलो (Carry over) करना हो तो दूसरे पक्ष को कुछ रुपया देकर यह सम्पन्न किया जाता है। दूसरा दिन 'टिकट-दिन' (Name of ticket day) कहलाता है। इस दिन क्रेता तथा विक्रेता के नाम दलाल की रसीद सहित भुगतान को दे दिया जाता है। तीसरे दिन को भुगतान-दिवस (Settlement day) कहते है, इस दिन सौदा पूर्ण रूप से सम्पन्न हो जाता है।

जब भुगतान की तिथि पर भुगतान नही किया जाता तो उसको किसी अगले

दिन के लिये निश्चित किया जाता है। यदि क्रेता भुगतान की असमर्थता प्रगट करे तो उसको विक्रेता को कुछ मुआवजे के रूप में देना पड़ता है इसको कोन्टेंगो (Contango) या बदली गैला (Budli-gala) कहते हैं और यदि विक्रेता असमर्थ रहता है तो उसको क्रेता को मुआवजा देना पड़ता है, इसको पृष्टागमन (Backwardation) कहते हैं।

सरकारी प्रतिभूतियों का सौदा (Transaction in Govt. Securities)—सरकारी प्रतिभूतियाँ भारतीय विनिमयों में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं उनमें विनियोग करने वाली संस्थायें सरकारी तथा गैर-सरकारी सभी होती हैं जिनको अपने धन का स्वस्थ विनियोग करना होता है। सामान्य आय वाले व्यक्ति भी इन्हीं प्रतिभूतियों को लेना पसन्द करते हैं। सरकारी प्रतिभूतियां अनेक प्रकार तथा नामों की हैं।

प्रतिभूतियों पर दिया जाने वाले ब्याज का हिसाब सौदों में नहीं किया जाता। इसका हिसाब भुगतान वाले दिन पर करके उनको भुगतान में समामेलित (Adjustment) कर दिया जाता है। सरकारी प्रतिभूतियों का उदाहरण १००) प्रति प्रतिभूति किया जाता है।

इनके भुगतान की पद्धति भी अन्य प्रकार की प्रतिभूतियों के ही समान है।

अमेरिकी स्कन्ध विनिमय (American Stock Exchange)—क्रान्ति युद्ध के पूर्व अमेरिका में स्कन्ध विनिमय नहीं थे क्योंकि अधिकांश पूंजी की अर्थ व्यवस्था लन्दन के ही बाजार में होती थी और सर्वप्रथम फिलाडेल्फिया में सन् १७५४ में धनियों की सुविधा के लिये 'लन्दन कॉफी हाउस' का प्रारम्भ किया गया। युद्ध ने लन्दन के बाजार को समाप्त कर दिया और नये अमेरिका की प्रथम कांग्रेस ने ८० करोड़ डॉलर के बाण्ड बेचकर तथा नवीन बैंकों के अंशों को बेचकर प्रारम्भ किया। सही रूप से पहला स्कन्ध विनिमय १७९० में फिलाडेल्फिया तथा दूसरा १७९२ में न्यूयॉर्क की वाल स्ट्रीट में खुला। धीरे-धीरे इनके नियम तथा उपनियम बनाये गये। यहां पर वहां के कुछ प्रमुख स्कन्ध विनिमयों का वर्णन किया जाता है।

न्यूयार्क स्कन्ध विनिमय (New York Stock Exchange)—इसमें कुल विनिमय व्यापार का ८५% व्यापार होता है और इसमें १५०० स्कन्ध निर्गमन (Stock Issues) तथा ९०० बन्द निर्गमन (Bond Issues) से भी अधिक का सूचीयन (Listing) किया जा चुका है।

इसका स्वतन्त्र संगठन है जिसमें १३७५ सदस्य हैं। सदस्यता अमेरिका निवासियों को ही प्राप्त है और कोई भी बालिग (२१ वर्ष) दो सदस्यों की सिफारिश तथा संचालक सभा (Board of Governors) की स्वीकृति पर नियुक्त किया जाता है। सदस्यता प्रवेश कमेटी (Admission committee) के अनुमोदन पर किसी को

भी बेची जा सकती है, इसका मूल्य घटता बढता रहता है । सदस्य की आर्थिक हीनता पर विनिमय उसकी सदस्यता को बेच सकता है । विनिमय का प्रबन्ध अपने ही विधान के अनुसार सचालक सभा के द्वारा किया जाता है । इसके नियम कठोर तथा जटिल है जिसके कारण इसकी अच्छी प्रगति हुई है ।

अमेरिकन स्कन्ध विनिमय (The American Stock Exchange)—पहले इसको न्यूयॉर्क कर्ब एक्सचेज कहते थे, और इसका व्यापार गलियो मे होता था किन्तु १६१६ मे वह भी न्यूयार्क विनिमय के समान भवन के अन्दर होने लगा। इसके नियम एवं व्यवस्था भी न्यूयार्क विनिमय के ही समान है । इसकी विशेषता विदेशी प्रतिभूतियो में अधिक विनिमय करना है और देशी प्रतिभूतियों मे यह अधिकाश रूप मे नवीन कम्पनियो का योग देने के लिए उन प्रतिभूतियो का सूचीयन करता है जिनको अन्यत्र स्थान नही मिलता ।

मिडवेस्ट स्टाक एक्सचेंज (Midwest Stock Exchange)—यह अमेरिका का तीसरा बडा विनिमय है और इसका निर्माण १६४६ मे शिकागो मे, शिकागो, क्लबलैण्ड, मिलौकी केन्ट पोल, तथा सेन्ट लूइस विनिमय के सदस्यो द्वारा प्रारम्भ किया गया । यह देश के पश्चिमी भाग की कम्पनियो की सहायतार्थ प्रारम्भ किया गया है । इसमे व्यापार लाभदायक रहता है । मिडवेस्ट एक्सचेंज ने सूचीयन का बहुत ऊँचा स्तर रखा है और इसकी तुलना न्यूयार्क से सुविधा के साथ की जा सकती है, इसके ४०० सदस्य है तथा ५०० कम्पनियो की प्रतिभूतियो मे व्यापार करता है ।

सेनफ्रासिस्को का विनिमय भी प्रगति पर है और अपने नाम की कम्पनियों को सहायता पहुँचा रहा है ।

ग्रोवर दी काउन्टर मार्केट (Over the Counter market)—अमेरिका मे प्रतिभूतियो का व्यापार स्कन्ध विनिमयो के बाहर भी होता है । अमेरिका मे १००० के लगभग मे विनियोगकर्त्ता अपने सौदो का निर्णय निजी बैंको मे करते रहे हैं, आज यद्यपि इस पद्धति को विशेष प्रोत्साहन नही मिलता फिर भी इस पद्धति से बहुत अधिक व्यापार होता है । आजकल इनका स्थान बैंको से प्रतिभूति ग्रहों (Securities Houses) ने ले लिया है और इस प्रकार वहाँ पर इस प्रकार के अनेक क्रमिक बाजार है जो किसी निश्चित स्थान पर नही पाये जाते । इनके सौदे नीलाम की अपेक्षा समझौता से तय किए जाते है । प्रतिभूति ग्रह प्रतिभूतियो को व्यापार ग्रहो (dealer houses) से खरीद कर उनको अपनी ओर से अपने ग्राहकों को बेच देते हैं । प्रतिभूति ग्रह अनेक शहरों में प्रतिभूतियों को नीचे दामो पर खरीदने के समझौते करते है और फिर खरीद के प्रस्ताव के लिए कमीशन या छूट लेना का समझौता करते है । यह छूट समझौते के अनुसार तय की जाती है । जो व्यापारी प्रतिभूति ग्रह किसी-किसी प्रतिभूति के लिये मूल्य की घोषणा कर देता है वह उस मूल्य पर प्रतिभूति

खरीदने या बेचने के लिये कभी भी तैयार रहता है और फिर उसके बेचने पर लाभ कमाता है। ये लोग प्रायः नये अंशों के लिये बाजार बनाकर उनको अन्य प्रतिभूतिग्रहों, व्यापारियों या अपने ग्राहकों को बेचते हैं। ये माँग और प्रदाय मे भी सन्तुलन बनाये रखते हैं। आज भी इसमे बैंक प्रचुर मात्रा मे भाग लेते हैं।

अमेरिका के स्कन्ध विनिमय संसार मे लन्दन स्टॉक एक्सचेंज के समान अत्यन्त व्यवस्थित है।

लन्दन स्कन्ध विनिमय (London Stock Exchange)—स्कन्ध विनिमय का कार्य सर्वप्रथम इगलैंड मे ही प्रारम्भ हुआ। वहाँ का सबमे महत्वपूर्ण एव प्रमुख विनिमय लन्दन स्कन्ध विनिमय है। इसका इतिहास अत्यन्त रोचक है। १७वीं शताब्दी में स्कन्ध विनिमय का कार्य प्रायः कॉफी ग्रहों (Coffee House) मे होता था और वहाँ पर संगठन कार्य नहीं होता था, किन्तु १७७३ मे एक कॉफी हाउस को कुछ दलालों ने खरीदकर तथा 'स्कन्ध विनिमय' का बोर्ड लगाकर उसको विनिमय का एक रूप दे दिया। सन् १८०१ मे लन्दन स्कन्ध विनिमय की नीव पडी तथा १८०२ मे जो प्रन्यासी (Trusties) तथा प्रबन्धकों (Managers) की नियुक्ति कर दी गई, यह समिति विनिमय का विधिवत् कार्य करने लगी।

सन् १८७७ मे लन्दन विनिमय के प्रारम्भ उद्देश्यों, उपयोग, विधान आदि की जाँच के लिए एक आयोग नियुक्त किया गया। आयोग ने विनिमय की पूर्ण जांच के पश्चात् १८७८ में सिफारिश की कि वितरण मे पूर्व अंशों के सौदे पूर्ण रूप मे बन्द हो जाने चाहिये। विनिमय की उपसमिति बनाकर सदस्यता के आवेदनो की जाँच की जानी चाहिये, सदस्यों की अनावश्यक परिकल्पना पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाने चाहिये, जो व्यक्ति किसी प्रकार का अनुचित कार्य करे उसको विनिमय मे सौदे करने का अधिकार नही दिया जाना चाहिये, बन्द होते भावो (Closing quotations) की जाँच तथा औचित्य के लिये एक समिति नियुक्त की जानी चाहिए तथा विनिमय के सभी दलाल प्रमाणित होना चाहिए, इनमें से बहुतों को विनिमय ने स्वयम् स्वीकार किया किन्तु उसके लिए किसी प्रकार का अधिनियम नहीं बनाया गया।

लन्दन विनिमय किसी भी कानून के अन्तर्गत नहीं बना है, इसका केवल अपना डीड (Deed) है, जिसके अन्दर दोहरे प्रबन्ध की व्यवस्था है—नौ प्रन्यासी तथा प्रबन्धक तथा तीस सदस्यों की एक आम सभा इसका प्रबन्ध करती है। यों यह विनिमय एक संयुक्त स्कन्ध कम्पनी की सम्पत्ति है। प्रबन्धकों का कार्य विनिमय भवन को व्यवस्थित रखना तथा उसके लिये सदस्यता एवं लिपिकों का शुल्क एवं अन्य निधि प्राप्त करना है जिससे भवन की मरम्मत की जा सके। पहले प्रन्यासी आजीवन

व्यापार करता है तो वह सबसे पहले सम्बन्धित कृत्यकी के पास जाकर उससे उद्धरण मांगता है। कृत्यकी अपने क्रय और विक्रय के दोनो मूल्य उसको दे देता है और इस प्रकार मूल्यों को बताकर अपने खरीदने की इच्छा प्रकट करता है। बाजार मे उसके उद्धरित मूल्यो तथा बाजार-मूल्यो का अन्तर उसका लाभ या हानि कहलाता है।

कृत्यको में आपस मे प्रतिस्पर्धा होने के कारण कभी-कभी उनके लाभ का अन्तर बहुत कम रहता है। इसलिये इन लोगो को बहुत अधिक सचेष्ट तथा अनुभवी होने की आवश्यकता रहती है और यही कारण है कि उनको किसी विशेष प्रतिभूति मे विशिष्टता प्राप्त करनी होती है।

लन्दन स्कन्ध-विनिमय बाजार मे होने वाले प्रत्येक सौदे पर न तो दलाल ही हस्ताक्षर करता है और न कृत्यकी ही। वही दोनों को अपनी नोट बुक मे लिख देते हैं और सौदा पक्का मान लिया जाता है तथा दोनों को उसके लिये बाध्य होना पड़ता है। दूसरे दिन दलालों के लेखक पिछले दिन के हुए सौदो की परीक्षा करने के लिये इकट्ठे होते है, जिससे कि यह स्पष्ट हो जाता है कि अंश तथा प्रतिभूतियो के हस्तान्तरण मे कोई बाधा न होगी। किन्तु विशेष अवस्थाओ मे भूल हो जाना संभव है।

सौदो के भुगतान या तो नकद होते है या पन्द्रहवें दिन। दूसरी पद्धति के द्वारा खरीदने और बेचने वाले को अपने सौदे के पन्द्रहवें दिन तक भुगतान कर देने का प्रबन्ध करना होता है, जिससे कि सौदो के करने मे सुविधा रहती है। इससे सदस्य-दलालों के कार्य में सुविधा आ जाती है और अपने उस समय को वे अधिक व्यापार करने में लगाते हैं तथा परिकल्पको को बिना धन लगाये ही शीघ्र लाभ प्राप्त हो जाता है।

स्कन्ध विनिमय गृह मे केवल सदस्य-दलाल, लेखक तथा कृत्यको को ही जाने की आज्ञा होती है। इसलिये अन्य व्यक्ति इसका निरीक्षण बिना इन लोगों की सहायता के नही कर सकते।

स्कन्ध-विनिमय गृह के बन्द हो जाने पर दलाल तथा कृत्यकी वीथिका-व्यापार (Street Transaction) करते है। लन्दन मे यह व्यापार थ्रोग मार्टन स्ट्रीट (Throg Marton Street) मे होता है और यहां पर कृत्यकी तथा दलाल दिन भर व्यापार करते रहते हैं।

भारतवर्ष में स्कन्ध विनिमयों का संगठन एवं प्रबन्ध

(Organisation and Management of Indian Stock Exchanges)

भारतवर्ष मे सन् १९५६ के पूर्व कोई इस प्रकार का अखिल भारतीय विधान नही था जिसके द्वारा समस्त स्कन्ध विनिमयो को एक नियम मे बांधा जा सके इसलिये यहां के स्कन्ध विनिमयो का संगठन भिन्न-भिन्न है। यहां के संगठन भी प्रायः

स्वतंत्र ही हैं और उनका कार्यक्रम अपने ही लिखित नियमों के अनुसार चलता है, भारतवर्ष में विनिमयों का प्रारम्भ १८८७ में नेटिव शियर एण्ड स्टाक एक्सचेंज' पड़ा, कलकत्ता के बाजार में 'कलकत्ता स्टॉक एक्सचेंज की स्थापना के बहुत पहले से ही सरकारी प्रतिभूतियों का विनिमय किया जाता था, किन्तु सन् १९०८ में वहां पर भी उपर्युक्त विनिमय की स्थापना की गई, नेटिव शियर एन्ड स्टाक एसोसियेशन तथा अहमदाबाद शियर एन्ड स्टॉक बोकर्स एसोसियेशन (१८९३) सरकार द्वारा स्वीकार किये गये थे।

यहां पर अधिकांश विनिमयों का प्रारम्भ कम्पनी कानून १९१३ के बाद हुआ और उनमें से सबका निर्माण सीमित दायित्व वाली सार्वजनिक या निजी कम्पनी के आधार पर हुआ है, इसके उदाहरण इण्डियन स्टॉक एक्सचेंज बम्बई, मद्रास स्टॉक एक्सचेंज, देहली कानपुर कलकत्ता आदि के विनिमय हैं, इनको सरकार से मान्यता प्राप्त नहीं है। इनमें से कुछ का प्रबन्ध उनके लिखित नियमों के द्वारा चलता है। किन्तु कुछ के नियम लिखित या मान्य हैं, सन् १९२५ से बम्बई सरकार ने प्रतिभूति अनुबन्ध (नियमन) अधिनियम (Securities Contract act) बनाकर बम्बई के विनिमय को नियन्त्रित किया। अन्य स्थानों में इस प्रकार का कोई प्रयास नहीं किया गया।

श्री० पी० जे० थॉमस ने भारतवर्ष के विनिमयों का गतिविधि का विवेचन करके उनकी स्थिति का निम्नलिखित तालिका में तुलनात्मक अध्ययन किया है, इसमे विभिन्न विनिमयों की सूचीयित कम्पनियों का विवरण दिया गया है*—

भारत में स्कन्ध विनिमयों में सूचीयन; कम्पनियों की संख्यायें¶

स्कन्ध विनिमयों के नाम	सूचीयित कम्पनियां	निर्गमन संख्या	कम्पनियों की संख्या जिनके अंक प्राप्त हैं	प्रदत्त पूंजी (करोडों में)
कलकत्ता स्टॉक एक्सचेंज	५७६	८०७	५७६	१४७
बम्बई स्टॉक एक्सचेंज	१६७	२७१	१६७	१२३
मद्रास स्टॉक एक्सचेंज	१६२	२६८	१६२	४१
अहमदाबाद स्टॉक एक्सचेंज	८१	८२	५६	१५
दिल्ली स्टॉक एक्सचेंज	७३	६२	६०	७३
यू० पी० स्टॉक एक्सचेंज	४०	४०	३७	४६
नागपुर स्टॉक एक्सचेंज	४०	४३	३५	४२

* Report on the Regulation of the Stock market in India.

¶ आधार डा० जे० पी० थामस की रिपोर्ट

इस समय उपर्युक्त विनिमयो मे १,१२५ कम्पनियो का सूचीयन किया गया है तथा उनकी प्रतिभूतियो की निर्गमन स्थिति १५०६ है। इन कम्पनियो की प्रदत्त पूँजी २७० करोड़ रुपया है। ऊपर दी गई तालिका से ज्ञात होगा कि देश मे बम्बई तथा कलकत्ता विनिमय सबसे महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। कलकत्ता विनिमय मे विदेशी प्रतिभूतियो का व्यापार भी प्रचुरता मे किया जाता है। अहमदाबाद और मद्रास विनिमयो मे कम्पनियो की सख्या तो अधिक है किन्तु दिल्ली, यू० पी० तथा नागपुर विनिमयो की अपेक्षा उनकी कम्पनियो की प्रदत्त पूँजी कम है। भारतीय विनिमयो मे क्षेत्रवादी आधार पर ही अधिक व्यापार होता है और इस प्रकार कलकत्ता विनिमय मे चाय, कोयला, जूट, बम्बई मे सूती वस्त्र, बिजली, बैंक, बीमा तथा मद्रास मे वनस्पति, सूती वस्त्र, बिजली आदि उद्योगो की प्रतिभूतियो का ही व्यापार बहुतायत से होता है।

प्रबन्ध व्यवस्था (Management System)—भारतवर्ष के सभी विनिमयो का प्रबन्ध प्रबन्ध-समितियो के द्वारा किया जाता है। प्रति वर्ष विनिमय की आम सभा अपने सदस्यो मे से संचालक सभा का चुनाव करती है और यही विभिन्न समितियो के रूप मे विनिमय की नीति के अनुसार कार्य संचालन करती है।

बम्बई मे विनिमय के प्रबन्ध मे वाह्य प्रतिनिधित्व का विचार भी किया गया था और डा० थॉमस ने न्यूयॉर्क विनिमय के अनुरूप वाह्य प्रतिनिधित्व की सिफारिश की किन्तु एटले तथा मोरिसन कमेटियो के विचार से वाह्य प्रतिनिधित्व उचित नही और उन्होंने लन्दन स्टॉक एक्सचेंज की पद्धति अपनाने की सिफारिश की। हैदराबाद के विनिमय मे वाह्य प्रतिनिधित्व अधिक है। वहाँ पर दस में से सात सदस्य सरकार, स्टेट बैंक, चेम्बर आदि के है। अन्य स्थानों मे वाह्य सदस्यता को प्रोत्साहित नही किया गया। गोरवाला कमेटी ने भी वाह्य प्रतिनिधित्व को अधिक उचित नही समझा। उसका विचार है कि विनिमयो मे अधिक से अधिक रिजर्व बैंक का प्रतिनिधित्व रहना चाहिये अन्य सस्था का उचित नही।

विनिमयो की व्यवस्था एव प्रबन्ध समितियों तथा उपसमितियो के द्वारा की जाती है, बम्बई मे सबसे अधिक उप-समितियाँ है। पच फैसले के लिये एटले कमेटी के अनुसार विनिमयो के प्रतिनिधियो की अपेक्षा ख्याति प्राप्त वकीलो को नियुक्त किया जाना चाहिये। जहाँ तक संचालक सभा के अध्यक्ष का प्रश्न है वह या तो संचालक सभा अपने मे से ही चुनती है अथवा आम सभा द्वारा चुना जाता है। कही पर वह प्रति वर्ष चुना जाता है किन्तु कही पर यह अवधि अधिक भी हो सकती है। इसके लिये एटले कमेटी ने सिफारिश की कि उसका अवधि काल एक वर्ष होना चाहिये। मोरिसन के अनुसार उसको पाँच वर्ष होना चाहिये तथा डा० थॉमस के

अनुमार अध्यक्ष की एक निश्चित अवधि होनी चाहिए और उसको सारे समय के अधिकारी होना चाहिये जो अश दालाली आदि मे भाग नही ले सके।

विनिमयो को गतिविधियों को पूर्ण रूप से नियत्रित रखने के लिए, विनिमयो को अमेरिका या इगलैंड की भाँति परिकल्पना आदि को नियंत्रित करने के लिए उपनियम बनाने चाहिये तथा गोरवाला कमेटी के अनुमार 'स्कन्ध विनिमय आयोगों (Stock Exchange Commissions) का निर्माण किया जाना चाहिये। आयोग को व्यापक अधिकार होने चाहिये तथा इसको विनिमय को नियत्रित करने एव केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो को सुझाव देने का अधिकार भी होना चाहिये।*

सदस्यता (Membership)— सदस्यता के लिये अधिकाश विनिमयो मे बडे कठोर नियम है। बम्बई मे सदस्य होने के लिए उसके दो व्यक्तियों (पुराने सदस्यों) द्वारा अनुमोदित होना चाहिये तथा उसको प्रबन्ध सभा का $\frac{3}{4}$ बहुमत प्राप्त होना चाहिये। उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी होनी चाहिए तथा उसको सदस्यता कार्ड या तो अपनी वपौती के आधार पर प्राप्त होना चाहिए या खरीद कर प्राप्त होना चाहिए। कार्ड का मूल्य व्यापारिक स्थिति के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है। देश के अन्य विनियोगों मे भी प्रायः यही पद्धति अपनाई जाती है।

संयुक्त स्कन्ध कम्पनियो वाले विनिमयो मे भी सदस्यता को प्राप्त करने के लिए अंश या तो सचालक सभा से खरीदने होते है या किसी बहिर्गन्तुक सदस्य से, इनका क्रय भी बम्बई विनिमय के क्रय के ही समान होता है।

नये सदस्य को सामान्यतया कुछ रुपया जमानत (Security) के रूप मे जमा करना पडता है। बम्बई मे अगाऊ सौदे करने वालों को २०००० रु० की जमानत देनी पडती है। इस जमानत को ३०००० या पुराने दो सदस्यों द्वारा १००००) तक भी सुझाया गया है। जमानत के लिये जाँच समितियो के विचारों में काफी मतभेद मिलता है। किन्तु जमानत का होना प्रायः सभी दशाओं मे उपयुक्त है। जमानत की राशि विनिमय के सदस्य आवश्यकतानुसार उसकी प्रकृति तथा स्थिति को देखते हुए निश्चित कर सकते हैं।

बम्बई विनिमय मे एटले कमेटी की सिफारिशों पर १९२६ के बाद बनने वाले सदस्यों को अन्य प्रकार के व्यापार करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया किन्तु इसने वहाँ पर एक अन्य प्रतिद्वन्द्वी इण्डियन स्टॉक एक्सचेंज का निर्माण कराया, किन्तु मोरिसन कमेटी ने कहा कि सदस्यो को अन्य व्यापार से रोकना आवश्यक है और १९२६ के पहले वाले सदस्यो की मृत्यु हो जाने पर उनके वारिसो को इस पूर्व अधिकार से वचित रखा जाना अत्यन्त आवश्यक है। कलकत्ता तथा यू० पी० की

* विशेष वर्णन आगे किया जायगा।

विनिमय कम्पनियों ने भी अपने सदस्यों को अन्य व्यापारो में सम्मिलित होना प्रबंध कर दिया है। यह सारे भारतवर्ष में लागू किया जाना चाहिये।

सदस्य साझेदारी में भी विनिमयो मे आ सकते हैं। बम्बई तथा अहमदाबाद मे केवल ही सदस्य साझेदारी मे आ सकते हैं जिनको सदस्यता का अधिकार प्राप्त हो, यदि दलालों की संस्थाओं के व्यक्ति सदस्यता मे शामिल हों तो उनको किसी भी प्रकार का अनुबन्ध करने का अधिकार केवल अपनी दलाल संस्था के ही लिये होना चाहिये इससे दलाल संस्था मे अपने दायित्व से मुक्त नहीं हो सकेंगी।

सदस्यों को अपने लिये अधिकृत लेखको (Authorized Clerks) को विनिमय मे नियुक्त करने का अधिकार है। एटले कमेटी के अनुसार व्यक्ति को तीन तथा संस्था को पाँच अधिकृत लेखकों को नियुक्त करने का अधिकार होना चाहिए। मोरिसन ने यह संचालक सभा की इच्छा पर छोड़ा है कि वह आवश्यकता के अनुसार अधिकृत लेखको की संख्या नियुक्त कर सकती है। किन्तु उनको लन्दन विनिमय के ही आधार पर नियुक्त किया जाना चाहिए और उनको कमीशन मे हिस्सा नहीं मिलना चाहिये, इनके अलावा सदस्यों को उप-दलाल (Sub-brokers) या रेमिसाइर्स (Remisiers) को नियुक्त करने का अधिकार भी होता है। इन लोगों को सदस्य के लिए आधा कमीशन दिया जाता है किन्तु इनके परिकल्पनायक सौदो तथा व्यवहार के कारण एटले कमेटी ने इनके अधिकारों को नियंत्रित करने की सिफारिश की है। मोरिसन कमेटी ने भी इन पर कठोर प्रतिबन्ध लगाने का सुझाव दिया है।

दलाल (Brokers)—भारतवर्ष मे इंगलैंड या न्यूयॉर्क की भाँति दलालो को बिलकुल अलग नही रखा गया है। यहाँ पर दलाल सदस्य व्यापारी भी हो सकता है। इसके कारण वे अपनी सुविधा के अनुसार कभी दलाल बन जाते हैं तथा कभी सदस्य बन जाते हैं। एटले कमेटी ने इसके नियत्रण के लिये इनको प्रति वर्ष अपनी स्थिति स्पष्ट करने की सिफारिश की किन्तु मोरिसन कमेटी ने इसका अनुमोदन नहीं दिया और डा० थॉमस के समान यही सिफारिश की कि उनको दलालों के ही अनुबंध करने चाहिए। व्यापारियो के नही, और साथ ही वे जिस किसी अनुबन्ध को करें उनके लिये उनको अपने ग्राहक की लिखित स्वीकृति प्राप्त होनी चाहिये, जब उनके पास यह स्वीकृति हो तभी वे व्यापारी के नाम पर सौदे कर सकते है। 'तारनीवाला' ये दूसरे प्रकार के दलाल होते हैं जो बाहर के लोगों से व्यापारिक सौदे नहीं करके सौदे केवल दलालों के ही साथ करते हैं। वे अपने सौदे केवल कुछ ही प्रतिभूतियो के परिकाल्पनिक सौदों तक सीमित रखते हैं और उनके मूल्यान्तर से लाभ कमाते हैं। इनका अधिकाश कार्य बाजार मे परिकल्पित गतिविधि को प्रगति मे रखना होता है और इससे सौदे कुछ ही प्रतिभूतियों मे सीमित हो जाते हैं। इनकी गतिविधियों

को सभी कमेटियो ने प्रतिबन्धित करने का सुझाव दिया है।*

दलाली के अलग-अलग नियमो के कारण उसको निश्चय करना भी कठिन होता है, इस पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए भी अनेक सुझाव दिये गये है मोरिसन कमेटी ने अगाऊ बाजार में १००००) तथा नकद सौदो के लिये ५०००) का सुझाव दिया। डा० थॉमस ने 'न्यूनतम' तथा गोरवाला कमेटी ने 'उचित' दलाली का सुझाव रखा है।

भारतवर्ष में स्कन्ध विनिमय की कार्य प्रगति§

(Progress of Stock Exchange Working in India)

भारतवर्ष मे स्कन्ध विनिमयों की प्रगति अमेरिका के गृह युद्ध से प्रारम्भ होती है। सन् १८६१ से १८६४ तक तो अच्छी प्रगति रही किन्तु १८७५ के बाद की मन्दी के कारण उनकी प्रगति मे बाधा आ गई और १९१४ तक उनकी गति-विधि केवल कुछ ही कपड़ा उद्योगो की प्रतिभूतियो तक सीमित रही। यह स्थिति प्राय देश मे सर्वत्र दिखाई दी। परिकल्पित सौदो के नियन्त्रण के लिये किसी प्रकार के नियमो के अभाव के कारण प्रथम विश्वयुद्ध के पहले तथा बाद को बाजार हथियाने (Cornering) की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। युद्ध काल मे इस व्यापार को अधिक प्रोत्साहन मिला और फलस्वरूप अधिक विनिमयों को प्रोत्साहन मिला। सभी विनिमयो के सदस्यता शुल्क बढ गये तथा इस क्षेत्र मे अधिक से अधिक लोगो ने प्रवेश करना आरम्भ कर दिया। फलस्वरूप बम्बई विनिमय के ५१) रु० की सदस्यता शुल्क १९१४ मे २८००) तथा १९२६ मे ४८००) हो गया, सरकार ने १९२५ मे विनिमय को नियन्त्रित करने के लिये बम्बई प्रतिभूति अनुबन्ध नियन्त्रण अधिनियम (Bombay Securities Contract Control Act) पास किया।

सन् १९२५ से १९२९ तक देश को भयकर मन्दी का सामना करना पड़ा। सन् १९३४ मे विनिमयों की स्थिति मे किंचित सुधार हुआ और १९३५-३६ मे फिर उनमे प्रगति दिखाई देने लगी, किन्तु फिर १९३७ मे कलकत्ता विनिमय मे बड़ी तीव्र गति से परिकल्पना के हो जाने के कारण और प्रायः फिर सब स्थानों पर मन्दी के

---

* गोरवाला कमेटी ने कहा है कि (१) तारवानी सौदे केवल कार्ड धारको को ही करने चाहिये (२) अधिकृत लेखक तथा उप-दलाल ये सौदे नहीं कर सकते (३) इनका पालन न होने पर दोषो को विनिमय से हटा दिया जाना चाहिये (४) सदस्यो को बताना पड़ेगा कि वे केवल दलाल रहना चाहेगे या दोनो तारनीवाला तथा दलाल। मोरिसन ने इनके सौदों की १०००० हजार रुपये की सीमा रखी गई है।

§ Reserve Bank of India Bulletin के आधार पर।

स्पष्ट लक्षण दिखाई देने लगे। बम्बई मे '१६३४' मे मोरिसन कमेटी बिठाई गई और उसके आधार पर विनिमयों मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। डा० थॉमस ने भी विनिमय बाजारों के नियन्त्रण के लिये महत्वपूर्ण सुझाव दिये। द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारम्भ होते होते देश मे सात विनिमयों का निर्माण हो चुका था।

द्वितीय विश्व युद्ध मे फ्रान्स के हारने पर बम्बई अगाऊ बाजार पर बडा भारी धक्का लगा और जून १६४० मे वहां पर अगाऊ सौदे बिलकुल बन्द हो गये। कलकत्ता बाजार मे छः सप्ताह तक बाजार बिलकुल बन्द कर दिया गया। सन् १६४२ मे बम्बई बाजार मे अगाऊ सौदे अनिश्चित काल तक के लिये बन्द कर दिये गये। १६४१ मे जापान के युद्ध मे प्रवेश करने पर यहां के विनिमय बाजारो की स्थिति बडी अनिश्चित हो गई थी। क्योकि ब्रिटिश सरकार हर मोर्चे पर हार कर वापिस लौट रही थी किन्तु १६४३ मे युद्ध की स्थिति अंग्रेजों के पक्ष में आने के समाचारो के कारण बाजार फिर मजबूती की ओर आने लगा और सरकारी प्रतिभूतियों के भाव तेजोन्मुखी दिखाई देने लगे। बैंकों ने साख सम्बन्धी सुविधाएं देना प्रारम्भ कर दिया। बाजारों मे वस्तुओं की दिनः स्थिति बिगड़ती जा रही थी इसलिए सरकार ने वस्तु बाजार की परिकल्पना पर पूर्ण नियंत्रण का निश्चय किया और डिफेन्स ऑफ इण्डिया रूल ६४ सी को भी लागू कर दिया गया किन्तु उसको कार्यान्वित करने मे अनेक खामियां रह जाने के कारण विनिमयों के बाहर प्रचुर मात्रा में सौदे होने लगे।* किन्तु जैसे ही युद्ध का परिणाम मित्र राष्ट्रों के पक्ष मे स्पष्ट दिखाई देने लगा बाजारों मे अचानक भारी तेजी आ गई और १६४१-४६ मे और उसका उच्चतम शिखर अगस्त १६४६ मे दिखाई दिया, जैसा कि प्रत्येक युद्ध के बाद होता है सन् १६४५ से १६४६ तक प्रायः मन्दी के लक्षण तथा साफ-साफ दिखाई देने लगे। इसके अनेक कारण थे देश के विभाजन तथा साम्प्रदायिक दंगे, चीन के परिवर्तन, अनिश्चित औद्योगिक नीति, सरकारी क्षेत्र के विस्तार की आशा पूंजी की कमी आदि अनेक कारणों से मंदी का आना स्वाभाविक था। फलस्वरूप टाटा स्थगित अंश जिनकी कीमत १६४६ मे ३६४०) थी १६४६ मे ११५२) हो गई, विमको की ३२७७) से घटकर ६२३) हो गई, ए० सी० सी० की २२७) से घटकर १२३) तथा केन्द्रीय बंक की १६२) से ७५ रु० हो गई।† इसी प्रकार इस अवधि मे

---

* बम्बई मे इनका नाम 'ग्रे मारकेट' तथा अहमदाबाद मे 'कटनी बाजार' कहा जाता था।

† टाटा स्थगित अंशों का मुख मूल्य ३०) विमको का १००) ए० सी० सी० का १००) तथा केन्द्रीय बैंक का २५) रु० है। सन् १६३६ में इनका मूल्य क्रमशः १३२०) ७६७) २२७) तथा १६२) था।

कम्पनियों की प्रदत्त पूँजी में भी व्यापक कमी आ गई अंशधारियों को काफी हानि हुई।

सन् १९४९ की जुलाई के बाद फिर विनिमय बाजारों में मजबूती प्रारम्भ होने लगी। सरकार ने इस दिशा मे बडा अच्छा कदम उठाया। अगस्त १९४९ में छीजत के नियमो मे उदार घोषणा, वस्त्र उद्योग मे सुधार की योजना वित्त मंत्री का आश्वासन कि सरकार कम्पनी कानून मे सुधार, सरकारी व्यापार, विदेशी मुद्रा के विनियोग मे उदारता तथा स्पष्टवादिता रखेगी बाजारों मे दृढता लाने के लिये पर्याप्त थे। १९४९ के मुद्रा अवमूल्यन (Devaluation) मे भी बाजार मे सहारा बन्धा, किन्तु फिर १९५० के भारत पाकिस्तान विवाद खाद्यान्न समस्या, वस्त्र उद्योगो के लिये कच्चे माल की समस्या के कारण फिर बाजार मे विषमता दिखाई दी। भारतवर्ष के निर्यात मे वृद्धि हुई, इसी समय हमारे लोह, कागज, सीमेन्ट उद्योगो के उत्पादन मे वृद्धि हुई, रेल यातायात मे विकास हुआ, योजना आयोग मे की नियुक्ति की गई, अमेरिका मे पुनः शस्त्रीकरण होने लगा, कोरिया का युद्ध, पश्चिमी यूरोप का शस्त्रीकरण, कोलम्बो योजना तथा योरुप की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए चार-सूत्री योजना (Four point Policy) आदि के कारण भारत का व्यापार सन्तुलन उसके पक्ष मे आने लगा और अनेक प्रतिभूतियो की मूल्य अनुक्रमणिका मे भी वृद्धि हुए। जनवरी १९५० मे अनुक्रमणिका ११८ ८ थी और दिसम्बर तक वह बढकर १२५·४ हो गई, यह वृद्धि १९५१-५२ मे भी उसी प्रकार रही अनुक्रमणिका का मई १९५१ तक १३८·८ तक बढ गई, इसके कारण जून उत्पादन में वृद्धि, रुपये के मूल्यन मे किसी प्रकार के परिवर्तन न करने का विचार आदि थे, किन्तु कोरिया युद्ध समाप्त होने के कारण, कम्पनी कानून मे परिवर्तन, उद्योगो का नियंत्रित एव विकसित करने का अधिनियम, वस्त्र निर्यात पर प्रतिबन्ध, मजदूरो को अनिवार्य प्रोवीडेन्ट फण्ड का सरकारी निर्णय, बैंक की दर आदि के कारण फिर अनुक्रमणिका मे गिरावट दिखाई दी और वह मार्च १९५२ तक ११५·५ हो गई, मार्च १९५३ में यह घटकर १०७·० हो रह गई और कम्पनियो के लाभाश मे कमी के कारण आगामी वर्षों मे और अधिक कमी का स्पष्ट भान होने लगा, किन्तु बजट के प्रकाशन के पश्चात् स्थिति मे सुधार हुआ और १९५४ के प्रारम्भ से ही मूल्यो मे वृद्धि के लक्षण दिखाई देने लगे। सरकार के जूट कपास आदि की अधिक माँग के कारण तथा प्रथम योजना मे वृद्धि कर देने से बाजार की स्थिति तेजोन्मुखी हो गई।

इसी बीच विदेशों मे बैंक की दर मे कमी आ गई और उसका भारतवर्ष पर प्रभाव पडे बिना नही रहा। इसका फल यह हुआ कि सन् १९५४-५५ मे प्रतिभूतियो के भाव फिर ऊँचे जाने लगे और अनुक्रमणिका १३८·८ से भी ऊपर चली गई, घाटे की अर्थ व्यवस्था, बैंक की दरों मे कमी की खबरें तथा सरकारी मांग

मे वृद्धि का बाजार की मजबूती पर बहुत बड़ा हाथ था, सरकार ने निजी उद्योगो को प्रोत्साहित करने की नीति को अपना कर तथा टाटा लोहा कम्पनी को १० करोड रुपये का ऋण देकर बाजार की स्थिति को और अधिक मजबूत बना दिया।

सन् १९५४ के अक्टूबर तथा नवम्बर मे टैक्सेशन इनक्वायरी कमीशन के सिफारिशो तथा १९४८ की औद्योगिक नीति को समाजवादी व्यवस्था की व्यापकता के कारण प्रतूभूति-बाजार तथा घिसाई तथा छिजाई के लिये उदार नियम बन जाने से तथा आबकारी कर (Excise duty) मे कमी आ जाने के कारण फिर बाजार में मजबूती आ गई। सन् १९५५ के अन्त में बाजार मे फिर सुस्ती और जून तक प्रतिभूतियो की अनुक्रमणिका १११·९ तक चली गई, इसका प्रमुख कारण योजना की आर्थिक समस्या तथा प्रतिभूतियां पर कम लाभाश बांटा जाना था, किन्तु वर्ष के अन्त तक भावो में फिर वृद्धि हो गई और अनुक्रमणिका १३१·९ तक चढी। इसका कारण कम्पनियो के लाभाश मे वृद्ध तथा प्रथम योजना की समाप्ति तथा द्वितीय योजना का प्रारम्भ माना जाता है जिसमे समाजवादी व्यवस्था (Socialistic pattern) की घोषणा के बाद भी निजी क्षेत्र को उन्नति के पर्याप्त अवसर रह गये। इस वर्ष कम्पनी कानून मे सशोधन करके कम्पनी के प्रबन्ध पर नियन्त्रण प्रायः सभी क्षेत्रों मे संतोष के साथ स्वीकार किया गया। प्रबन्ध अभिकर्ताओं के अधिकारों पर नियंत्रण हो जाने से लोग कम्पनियो पर नियंत्रण रखने के लिये अंशो को खरीदने लगे।

सन् १९५६ की औद्योगिक नीति तथा १९५६-५७ के बजट के करो मे वृद्धि का प्रतिभूतियो के मूल्यो पर फिर अच्छा प्रभाव नही पडा और अनुक्रमणिका मे मूल्य १२४·६ तक नीचे चले गये, किन्तु सितम्बर १९५६ मे फिर भावों में स्थिरता आने के कारण अनुक्रमणिका १२६·९ तक चली गई।

सन् १९५७ के अन्त मे अनुक्रमणिका मे अक्टूबर तथा नवम्बर की अपेक्षा २·५% की कमी आ गई किन्तु यही कमी १९५६ मे ११% से भी अधिक थी, ६३ दिसम्बर के वित्तमंत्री के उद्घोषण से बाजारो मे (मुख्यतः बम्बई मे) कुछ आशा बँधी किन्तु इसी बीच जीवन-बीमा निगम (Life Insurance Corporation) तथा मूँदड़ा काण्ड की लोक सभा की चर्चा ने बाजारो में तीव्र गिरावट कर दी। इसका कारण यह था कि लोगो ने समझा कि अब जीवन-बीमा-निगम पहले के समान क्रय नही करेगा और यही कारण था कि कलकत्ता के बाजार की स्थिति बिलकुल ढीली रही।

जनवरी १९५८ मे अनुक्रमणिका मे २·० की वृद्धि दिखाई दी और मद्रास तथा बम्बई मे मजबूती आई हालांकि कलकत्ता का बाजार ढीला ही बना रहा। बाजार में दृढता के कारण जमशेदपुर मे लोह उत्पादन मे वृद्धि, टाटा कम्पनी को

स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष मे बोनस निर्गमन, वस्त्र निर्यात मे वृद्धि केन्द्रीय बजट में कुछ कर मुक्ति की सम्भावनायें थी किन्तु फिर काश्मीर समस्या एव अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी मे मुहारी अधिवेशन के प्रस्तावों के कारण बाजार मे शान्ति आ गई। इसी बीच भारत को यू० एस० ए० से २२५ मिलियन डालर का ऋण मिला था। टाटा कम्पनी ने अपना बोनस बाँटा। बाजार में इससे फिर आशा बँधी किन्तु फरवरी १९५८ मे वित्त मत्री के त्याग-पत्र से फिर गिरावट आ गई, रिजर्व बैंक की अनुक्रमणिका के अनुसार फरवरी मे (आधार १९४९-५०-१००) मे लाभाश ९७·० मे घटकर ९५·४ हो गया। इसका एक कारण प्रधान मत्री का इण्डियन मर्चेन्ट्स चेम्बर मे दिया गया भाषण भी था जिससे लोगो को बजट मे दी गई छूट को प्राप्त करने की आशा नहीं रही, इस काल मे टाटा कम्पनी ही बाजार मे मजबूती लाने मे सहायक रही और मार्च का केन्द्रीय बजट फिर बाजार को बढाने मे सहायक हुआ। बजट मे कपडे की आवकारी कर मे छूट, विदेशी सहायता के अच्छे आसार तथा कम्पनियों के आशाप्रद समाचार मजबूती लाने मे सहायक हुए, इसका प्रभाव लाभाश अनुक्रमणिका पर अच्छा पड़ा और वह बढकर १०९·२ तक चली गई, यह स्थिति बढती ही रही और जुलाई १९५८ तक १३३·२ तक बढ गई।

भारतीय स्कन्ध विनिमय बाजारों की दशा*

(Condition of Indian Stock Exchange)

यद्यपि किसी भी देश के औद्योगिक संतुलन के लिये उसमे विनियोगो का होना अत्यन्त आवश्यक है किन्तु भारतवर्ष के विनियोगों से एक नई दिशा मिलती है। यहाँ के स्कन्ध विनिमयों मे स्वस्थ विनिमय की अपेक्षा अस्वस्थ परिकल्पना या सट्टे को ही अधिक प्रोत्साहन मिला है, कुछ लोगो ने इस सट्टे मे अत्यधिक धन प्राप्त किया है और साधारण विनियोग कर्ताओ को भारी हानि सहन पड़ी है। सामान्यतया इन सौदों के कारण राष्ट्र की बहुत अधिक पूँजी व्यर्थ मे ही नष्ट हुई है और उद्योग को समय पर आवश्यक पूँजी नही मिल पाई।

भारतीय स्कन्ध विनिमयो मे सबसे बड़ा दोष भावी परिकल्पित सौदो के कारण उत्पन्न हुआ है, इन सौदो को कठोरता से नियन्त्रित करने के लिये इस देश मे बहुत पहिले से आवाज उठाई जाती रही है, बम्बई मे मोरिसन तथा एटले कमेटियो ने अपने-अपने ढंग से विनिमयों को नियंत्रित करने के सुझाव दिये है और उसके बाद बाद फिर डा० थॉमस ने भी भारतीय विनिमयो का अध्ययन करके सरकार को अपनी

* विशेष जानकारी के लिये लेखक की 'व्यापारिक तथा औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्ध' नामक पुस्तक पढ़ें।

रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसके फलस्वरूप सरकार ने केन्द्रीय आधार पर एक अधिनियम बनाने का प्रयत्न किया किन्तु उसमें फिर सुधार करने के लिए श्री गोरवाला की अध्यक्षता में समिति बनाई गई और उसने भी अनेक महत्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये हैं। यहाँ पर डा० थॉमस तथा गोरवाला कमेटी की सिफारिशों को दिया जाता है।

डा० थॉमस के सुझाव
(Suggestions of Dr. Thomas)

(१) **रोकड़ सौदे**—भावी सौदों को न्यूयार्क तथा लन्दन के समान (लन्दन में द्वितीय महायुद्ध के समय रोकड सौदे ही होते थे) पूर्णतया रोकड़ी होना चाहिये।

(२) **केन्द्रीय नियन्त्रण**—स्कन्ध विनिमयों का वैयक्तिक स्वभाव न रहकर उन पर केन्द्रीय नियंत्रण होना चाहिये।

(३) **केन्द्रीय बोर्ड**—इन पर नियत्रण करने के लिये सरकार को केन्द्रीय बोर्ड की स्थापना करनी चाहिये। मंडियों में व्यापार करने वाले सब व्यक्तियों को बोर्ड के द्वारा सरकार से इनमें व्यापार करने के लिए अनुज्ञा-पत्र प्राप्त करना आवश्यक होगा। केन्द्रीय सरकार को नियम, उपनियम तथा उनमें समय समय पर संशोधन करने का अधिकार रहना चाहिये। स्कन्ध बाजारों में सूचीयन की गई प्रतिभूतियों का रजिस्ट्रेशन केन्द्रीय सरकार में होना आवश्यक होगा।

(४) **विनियोग आयोग की स्थापना**—यू० एस० ए० के प्रतिभूति तथा विनिमय आयोग (Securities and Exchange Commission) की ही तरह भारत में भी राष्ट्रीय विनियोग आयोग (National Investment Commission) की स्थापना की जानी चाहिये। इस आयोग का कार्य विनिमय के दुर्व्यवहारों पर रोक तथा गतिविधि पर नियंत्रण रखना होगा।

(५) **अखिल भारतीय आधार**—इनका नियत्रण तथा संचालन अखिल भारतीय ढंग पर होना चाहिए, जिससे देश के सारे बाजारों में समानता रहे।

(६) **सूचीयन तथा रजिस्ट्रेशन**—प्रतिभूतियों के सूचीयन तथा रजिस्ट्रेशन का कार्य अत्यन्त कठोरता के साथ किया जाना चाहिये।

(७) **नगर में एक ही विनिमय**—एक नगर में केवल एक ही स्कन्ध विनिमय विपणि होनी चाहियें तथा उसको राज्य सरकार की ओर से एक अनुज्ञा पत्र प्राप्त होना चाहिये।

(८) **अन्तर-राशि निक्षेप**—इस बाजार में सौदे करने वाले व्यक्तियों को निश्चित रूप से संघ के कार्यालय में एक निश्चित अन्तर-राशि को जमा कराने की व्यवस्था होनी चाहिये। प्रतिशत का निर्धारण राष्ट्रीय विनियोग बोर्ड तथा रिजर्व बैंक के द्वारा किया जाना चाहिये।

(६) **सभा पर प्रभाव**—स्कन्ध विनिमय के प्रबन्ध के लिये जो सभा रहती है, उस पर बाह्य प्रभाव रहना चाहिये और अध्यक्ष को इतने अधिकार प्राप्त होने चाहिये कि वह विनियोक्ताओं तथा साधारण व्यापार करने वाले सदस्यों के हितों की रक्षा कर सके।

(१०) **सदस्य की योग्यता**—विनिमय संघ का सदस्य बनने के लिये प्रत्येक व्यक्ति की कुछ योग्यताएँ निर्धारित कर देनी चाहिये तथा सदस्य को उचित शिक्षा देनी चाहिए, जिससे वह स्कन्ध विनिमय को समझ सके।

(११) **छुट्टियों में कमी**—बाजार में होने वाली छुट्टियों की संख्या कम कर दी जानी चाहिए तथा कार्य के घंटे बढ़ जाने चाहिए।

(१२) **सदस्यों का वर्गीकरण**—यदि विपणि के सदस्यों का वर्गीकरण अन्य देशों के समान नहीं हो सके तो कम से कम यहाँ पर ग्राहक, स्वामी तथा मध्यस्थ आदि नामों से वर्गीकरण किया जाना चाहिए और उन पर पूर्ण नियंत्रण रहना चाहिये।

(१३) **कम्पनी अधिनियम में सुधार**—कुछ सुधार कम्पनी अधिनियम में भी किए जाना आवश्यक है, जिससे संचालक अपनी विशेष जानकारी का दुरुपयोग न कर सकें।

(१४) **समाशोधन गृह का निर्माण**—प्रत्येक स्कन्ध विनिमय बाजार में एक एक समाशोधन गृह (Clearing House) का निर्माण अवश्य किया जाना चाहिए, जिससे भुगतान सम्बन्धी समस्त सुविधाएँ आसानी से प्राप्त हो सकें।

(१५) **निरंक हस्तांतरण पर रोक**—खाली या निरंक हस्तांतरण (Blank) Transfer) पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिये तथा विधान द्वारा उसकी अवधि निर्धारित कर दी जानी चाहिए।

डा० थॉमस द्वारा दिए गए सुझावों को ध्यान में रखकर वाणिज्य मंत्री ने सन् १६५० में संसद में एक बिल पेश किया। जिसका प्रमुख उद्देश्य भावी सौदों पर प्रतिबन्ध लगाना तथा अस्वस्थ परिकल्पना को रोकना था। किन्तु संसद में विरोध होने के कारण उसको फिर 'संभावित अधिनियम कमेटी' (या गोरवाला कमेटी) के सुपुर्द किया गया। कमेटी के अपने सुझाव १४ जुलाई १६५१ को पेश किये, जिसके आधार पर प्रतिभूति संविदा नियंत्रण विधान (Securities Contract Control Act) पारित किया गया और उसे लागू कर दिया गया। (गोरवाला कमेटी की सिफारिश 'भारतीय स्कन्ध विनिमय बाजारों की दशा' शीर्षक में दी गई है)।

नियंत्रण के उपाय तथा गोरवाला कमेटी के सुझाव

(Way to Control and the Recommendations of the Gorwala Committee)

स्कन्ध-विनिमयों से परिकल्पनात्मक व्यवहारों का अन्त करना कठिन है,

किन्तु निम्नांकित उपायो द्वारा इसको नियंत्रित किया जा सकता है। वे उपाय इस प्रकार हैं—

(१) परिकल्पना मे बढ़ावा देने मे सर्वाधिक हाथ अग्रिम व्यवहारो (Forward Transactions) का रहता है। इसके सिवाय व्यवहारो मे बदले ढग के कारण ही उत्तेजना मिलती है। इस प्रकार परिकल्पना बद करने के लिये भावी सौदों को समाप्त कर देना चाहिये, किन्तु भावी सौदों को बंद कर देने से व्यापार की प्रगति रुक जाने का भय है। इसलिये बन्द करने की अपेक्षा इनको पूर्ण रूप से नियंत्रित कर देना चाहिये।

(२) परिकल्पको की गति-विधि के रोकने के लिए प्रत्येक व्यक्ति का रजिस्ट्रेशन किया जाना आवश्यक है। इससे अनिच्छित व्यक्तियों को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा।

(३) भावी सौदे उसी अवस्था में होते हैं जब व्यापार नगद न होकर उधार होता है। इसीलिये कुछ लोगो की मान्यता है कि समस्त सौदे रोकड होने चाहिये। किन्तु इससे स्कन्ध विनिमय का बाजार पूर्ण रूप से नष्ट हो जायगा। इसीलिये भावी सौदों को बन्द करने की अपेक्षा उन पर पूर्ण नियन्त्रण किया जाना चाहिये। लन्दन स्टॉक एक्सचेंज में भी भावी सौदों पर किसी प्रकार का नियंत्रण किया गया है। भारतवर्ष में, जहाँ कि औद्योगिक विकास अभी पूर्ण नही हुआ है वहाँ पर, इस प्रकार का प्रतिबन्ध घातक सिद्ध होगा, क्योंकि यहाँ पर इसके साथ-साथ धन का भी अभाव है।

(४) भावी व्यापार को नियंत्रित करने के लिये राष्ट्रीय स्तर पर बोर्ड की स्थापना कर देनी चाहिये। अभी तक सरकार की ओर से जो प्रयोग किये गये हैं उनमे उसको विशेष सफलता नही मिली है। मई सन् १९५० मे भारत सरकार के वाणिज्य मंत्रालय द्वारा परिकल्पना को रोकने के लिये बिल रखा गया था, जिसमे वैकल्पिक सौदों (Optional Transactions) को पूर्णतया नियंत्रण करने का सुभाव रखा था। इसमे बताया गया है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद कुछ वस्तुओ पर 'डिफेन्स ऑफ इण्डिया रूल' के अंतर्गत निषेध लगा दिया गया। कुछ पर १९४६ के 'आवश्यक प्रदाय विधेयक' के अन्दर नियंत्रण था। किन्तु ये सब अस्थायी और असफल सिद्ध हुई। इसलिए सरकारी नियन्त्रण जैसा कोई अन्य स्थायी कार्य प्रारम्भ होना चाहिये, जो विनिमयों की कार्यवाही पर पूरा-पूरा नियंत्रण रखे तथा उसके सदस्यो की रक्षा कर सके। इससे सरकार तथा जनता को पर्याप्त लाभ होगा।

(५) जो लोग यथार्थ मे दलाल तथा सदस्य नहीं होते, किन्तु उनकी तरह ही कार्य करते हैं, उनसे व्यापार को बहुत बडा नुकसान होता है, क्योंकि उनके कारण वस्तुओं के भाव मे अविचारणीय उतार-चढ़ाव आते हैं। अस्तु इनकी रोक-थाम के

लिये प्रति वर्ष सदस्य तथा दलालों का पुनः बिना किसी शुल्क के रजिस्ट्रेशन किया जाना चाहिये तथा उनसे प्रतिज्ञा करवानी चाहिए कि वे स्कन्ध विनिमय के नियमों का पूर्व रूप से पालन करेंगे। यदि वे इस प्रकार का पालन न करेंगे तो उनके साथ कठोर कार्यवाही की जानी चाहिये। 'बम्बई स्कन्ध विनिमय' बाजार में इस प्रकार के लोग, जो 'तरावनी वाले' के नाम से पुकारे जाते है, बहुत है और ये लोग जुआरियों के ही समान कार्य करते है। इसलिए इन पर पूर्ण रूप से प्रतिबन्ध लगा दिया जाना चाहिये। इन पर प्रतिबन्ध लगाने के लिये बम्बई प्रान्त मे बॉम्बे भावी अनुबन्ध नियंत्रण अधिनियम (Bombay Forward Contracts Control Act) १९२५ मे बनाया गया, जिससे वहाँ के विनिमय बाजारो की गति विधि पर व्यापक नियंत्रण हुआ। इस प्रकार का नियंत्रण समस्त भारत के लिये बनाया जाना हितकर होगा। बम्बई का सन् १९४७ का तथा केन्द्रीय १९५० का अधिवेशन भावी सौदो पर नियंत्रण का एक व्यापक कदम थे। १९५६ के कानून से नियंत्रण और भी दृढ हो गया है।

(६) प्रत्येक भावी तथा हाजिर सौदे के लिये विनिमय बाजार में पेशगी अन्तराशि (Margins) का जमा किया जाना आवश्यक होना चाहिये और व्यापारी को व्यापार करने से पूर्व कुछ राशि सघ-कार्यालय में जमा कर देनी चाहिये। उस राशि की एक निश्चित प्रतिशत से कम नही होने देना चाहिए। उन अवस्थाओं में पंचायन द्वारा या व्यापारी के पिछले लंबे व्यवहार द्वारा कुछ सुविधाओं का दिया जाना आवश्यक हो ऐसी अवस्था मे रियायत देने का भी प्रबन्ध होना चाहिए।

(७) रिक्त हस्तातरण पद्धति पर भी अनुशासन होना आवश्यक है। इस पद्धति के द्वारा विक्रेता प्रतिभूति के साथ क्रेता को रिक्त हस्तान्तरण पत्र देता है और क्रेता भी अपने नाम रजिस्ट्रेशन न करके उसका पुनः हस्तान्तरण कर देते हैं जिससे परिकल्पना को अनावश्यक प्रोत्साहन मिलता है। इसलिये यह पद्धति भी पूर्ण रूप से बन्द कर देनी चाहिये। पर साथ-साथ मुद्रक शुल्क (Stamp Duty) अधिक न लगा कर कम ड्यूटी लगानी चाहिए। वम्बई बाजारो मे यद्यपि कपट पूर्ण व्यापार के लिए कड़े दंड की व्यवस्था है, किन्तु उनका शक्ति से पालन न होने के कारण परिकल्पना मे अधिक वृद्धि हुई है। वहाँ की 'अपराध निरोधक समिति' ने भी इस दिशा में कोई कार्य नहीं किया। वहाँ पर व्यक्तिगत समझौते होने के कारण बाजार की वैज्ञानिकता को बहुत बड़ा आघात लगा है। इसलिये इस प्रकार के नियम बनाये जाने चाहिए, जिससे इस प्रकार के व्यक्तियों को अनुचित लाभ उठाने का अवसर न मिले और वे बाजार में निकाले जा सकें।

(८) यद्यपि अधिकृत लेखकों को अपने नाम का सौदा करने का अधिकार

नही होता है, किन्तु उनको इस प्रकार के सौदे करते हुए देखा गया है। इसलिये उनकी इस गति-विधि पर पूर्ण रूप से नियंत्रण रखा जाना चाहिए।

(६) जितने अंश तथा प्रतिभूतियाँ बाजार मे आये उनका संघ कार्यालय मे रजिस्ट्रेशन हो जाना आवश्यक है। यह व्यवस्था बम्बई के बाजार में पाई जाती है। इसके विरोध मे लोगो का कहना है कि इससे प्रतिभूतियो का क्षेत्र नही बढेगा। इसलिए समस्त कम्पनियों को इन बाजारो मे रजिस्टर्ड कर देना चाहिए, जिससे कि वे भी इन बाजारो का लाभ उठा सकें।

(१०) स्थगित अंशो का व्यवहार बाजारों में पूर्ण रूप से बंद कर देना चाहिए, क्योकि उनके द्वारा परिकल्पना को अधिक प्रोत्साहन मिलता है (भारतीय नवीन कम्पनी अधिनियम १९५६ में स्थगित अंशों को पूर्ण रूप से हटा दिया गया है। इसलिये अब इन अंशो का भावी व्यापार स्कन्ध विनिमयों से संभव नही हो सकेगा)।

(११) भावी सौदो पर बिक्री कर लगा देने से भी परिकल्पना में पर्याप्त सुधार की संभावना की जा सकती है।

(१२) ऊंचे मूल्यों वाली प्रतिभूतियों का विभाजन कम मूल्य वाली प्रतिभूतियों मे कर देने से उनके विनिमय मे सुगमता आ सकेगी तथा साधारण स्थिति वाले व्यक्ति भी व्यापार कर सकेंगे जिससे परिकल्पना को विशेष प्रोत्साहन मिलेगा।

(१३) प्रायः देखा गया है कि परिकल्पक अपने व्यापार के लिये ऋण लिया करते हैं। इसलिये इस प्रकार के लोगो का ऋण देने पर पूर्ण रूप से प्रतिबन्ध लगा दिया जाना चाहिए, जिससे उनकी गति-विधि पर नियंत्रण किया जा सके।

इसमे संदेह नही कि अस्वस्थ परिकल्पना को विधेयकों द्वारा रोकना बहुत आवश्यक है, किन्तु यह ध्यान मे रखना चाहिये कि केवल विधेयक ही सुधार कर सकेंगे यह अधिक लाभप्रद नही हो सकता। इसलिए जितनी भी संस्थाएँ हैं, उनको "अलाभ-भाजक-पद्धति" से कार्य करना चाहिये। इन संस्थाओं का रजिस्ट्रेशन होना आवश्यक है। रजिस्ट्रेशन करने के पूर्व उनकी आर्थिक स्थिति का विवेचन किया जाना अनिवार्य है तथा यह देखा जाना चाहिए कि उस बाजार मे उनके सौदे करने के पर्याप्त अवसर हैं या नहीं। विनिमयों का प्रबन्ध निर्देशकों की सभा (Board of Directors) तथा स्थायी समितियों (Standing Committees) द्वारा किया जाता है। इनका विधान एक-दूसरे से प्रायः भिन्न होता है, इसलिए समस्त देश मे एक ही स्टैण्डर्ड, एक ही आदेश, बनाने के लिये यह आवश्यक है कि उनमें समन्वयता लाई जाय। गोरवाला कमेटी के सुझावों के अनुसार अब 'स्कन्ध-विनिमय अधिनियम' पास हो गया है और आशा की जाती है कि बहुत बडी सीमा तक स्कन्ध-विनिमय की बुराइयां दूर हो जायेंगी।

समिति का निर्माण किया गया।* इस समिति ने स्कन्ध विनिमयों की अन्तरिक तथा वाह्य स्थितियों की जांच करके भारत सरकार को अखिल भारतीय आधार पर विनिमयों को नियंत्रित करने का सुझाव दिया तथा अनुरूप प्रतिभूतियों के नियन्त्रण के लिये 'बिल' तैयार किया। इसने प्रत्येक क्षेत्र में एक ही विनिमय स्थापित करने की राय दी तथा सौदों का स्वीकृत बाजारों मे किया जाना ही वैध माना। इसने सरकार को विनिमयों के नियम तथा उपनियमो मे सुधार करने का भी अधिकार दिया।

कमेटी के सुझावों पर दिसम्बर १९५४ मे प्रतिभूति-अनुबन्ध (नियमन) बिल (Securities Contract (Regulation) Bill) प्रस्तुत किया गया। कमेटी ने कुछ बातो पर सरकार को अपनी इच्छा से कार्य करने का सुझाव दिया था जिसमे लोक सभा ने नवम्बर १९५५ में बिल को संसद की संयुक्त समिति को सौंपने का प्रस्ताव स्वीकार किया तथा राज्य सभा ने दिसम्बर मे इसका अनुमोदन कर दिया। इस अवसर पर लोक सभा मे अपने विचार प्रस्तुत करते हुए वित्त मन्त्री ने भारतीय विनिमयों की स्थिति तथा विधान की रूपरेखा प्रस्तुत की यद्यपि केवल अच्छा विनिमय ही प्रतिभूतियों के विपणन तथा मूल्य मे गति रख सकता है, उनके क्रय विक्रय मे सुरक्षा ला सकता है, मांग तथा पूर्ति का संतुलन करके प्रतिभूति के यथार्थ मूल्य का निश्चय कर सकता है तथा मूल्य का निश्चय करके वह विभिन्न प्रकार के प्रतिद्वन्द्वी विनियोग में उचित विभाजन कर देता है किन्तु यह तभी संभव हो सकता है जब बाजार तथा उसमे किये जाने वाले सभी प्रकार के सौदे पूर्ण रूप से नियन्त्रित तथा नियमित हों। इसके लिये सब से आवश्यक यह है कि परिकल्पना तथा बदले के सौदे इस प्रकार से नियन्त्रित हो कि वे किसी भी प्रकार से जुये मे परिवर्तित न हो सकें। सरकार ने इस दृष्टि से नियम तथा उपनियम बनाने या बनवाने का अधिकार अपने पास रखा जिससे भविष्य में समय तथा आवश्यकता के अनुसार विनिमयो की गतिविधियां पर नियन्त्रण किया जा सके तथा उनको सही दिशा दी जाय।

गोरवाला कमेटी के स्कन्ध विनिमय-आयोग (Stock Exchange Commission) की स्थापना के सुझाव का विनिमयों तथा वाणिज्य चैम्बरो द्वारा घोर विरोध किया गया कि उससे उनकी आन्तरिक स्वतंत्रता समाप्त हो जायगी सरकार ने किसी सीमा तक स्वीकार किया और वर्तमान विभागीय पद्धति को और मजबूत बनाने का निश्चय किया। इस विभाग को सलाह देने के लिये सभी पक्षो के प्रति-

* इसमें प्रायः सभी क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व था। स्कन्ध विनिमय, बैंक, बीमा कम्पनी अंशधारी हिसाब अविलेखक आदि सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व किया गया।

निधियों की एक सलाहकार परिषद् (Stamping Advisory Council) बनाने का निश्चय किया गया।

पर्याप्त समोधनों के पश्चात् सितम्बर ४, १९५६ को दोनों सदनों द्वारा पास किये बिल पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर होकर उसको अधिनियम का स्थान मिल गया। अधिनियम की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(१) अधिनियम हाजिर सौदों के अलावा सौदों पर लागू होता है। हाजिर सौदे का अर्थ इस प्रकार दिया गया है—"हाजिर सौदे का अर्थ वह अनुबन्ध है जिसके द्वारा प्रतिभूति तथा उसके मूल्य का भुगतान या तो उसी दिन हो जाय अथवा अनुबन्ध के दूसरे दिन हो जाय। यदि प्रतिभूति या उसके मूल्य का भुगतान डाक द्वारा करना हो तो उपर्युक्त समय का हिसाब लगाने में डाक वाले दिनों का उचित समामेलन किया जायगा।"* किन्तु अधिनियम की १८वीं धारा में आवश्यकता पड़ने पर सरकार को हाजिर सौदों के नियमन का अधिकार है। अन्य सौदों में सरकार या तो स्कन्ध विनिमयों की गतिविधियों को अथवा प्रमाणित करके स्कन्ध तथा अंशों में सौदा करने वालों को नियन्त्रित कर सकती है।

यदि इन स्कन्ध विनिमयों में प्रमाणित व्यक्तियों के अलावा अन्य लोग भी किसी प्रकार से सौदे कर रहे हों तो सरकार विशेष अधिघोषणा के द्वारा उन सौदों के उस राज्य या क्षेत्र में अवैधानिक घोषित कर सकती है (धारा १३)।

(२) इस अधिनियम के लागू हो जाने के बाद केवल वही विनिमय कार्य कर सकते हैं जिनको केन्द्रीय सरकार की अनुमति प्राप्त हो। विनिमय को अनुमोदन प्राप्ति प्रार्थना पत्र (Application for recognition) में अपने नियम-उपनियम, विधान, प्रबन्ध के अधिकार तथा व्यापार पद्धति, विनिमय के अधिकारियों के कर्त्तव्य तथा दायित्व विनिमय में सदस्यों के प्रवेश के नियम तथा योग्यतायें आदि का धारा ३ के के अधीन उल्लेख करना पड़ेगा। यदि सरकार को यह सन्तोष हो जाता है कि नियम-उपनियम विनियोगकर्ता की सुरक्षा के लिये सरकार द्वारा चाहे नियमों के

---

* Spot delivery contract means a contract which provides for the actual delivery of securities and the payment of a price therefor either on the same day ...or on the next day, the actual period taken for the despatch of the securities or the remittance of money therefor through the port being excluded from the compulation of the period aforesaid if the parties to the contract do not reside in the same town or locality (Sec. 2 (i))

अनुमोदित विनिमय मे प्रस्तुत करने तथा उसके नियमो का पूर्ण पालन करने के लिये बाध्य कर सकती है, किन्तु उस समय जब किसी कम्पनी के अशो, ऋणपत्रो आदि को स्कन्ध विनिमय मे स्थान नही दिया जाय तो कम्पनी सरकार के पास अपील कर सकती है।

(७) रिक्त हस्तातरण (Blank Transfer) को नियत्रित करने के लिये भी अधिनियम मे व्यवस्था की गई है। धारा २६ मे व्यवस्था की गई है कि जब तक कोई अंशो का धारक लाभाश (Dividend) की म्याद के म्याद के १५ दिन पूर्व हस्तान्तरण की समस्त कार्यवाही अपने नाम पर नही कर लेता अशो के हस्तातरक को उन पर लाभाश लेने का पूरा अधिकार है। यह अवधि विशेष परिस्थितियो मे बढा दी जा सकती है।

संयुक्त समिति ने भी इस दिशा मे विशेष सुझाव न देकर केवल इतना ही कहा है कि रिक्त हस्तातरण की अवधि छः मास से अधिक नही होनी चाहिए, और सरकार ने भी इसको स्वीकार किया है। उसका विचार है कि सामान्य व्यापार को कोई क्षति पहुँचाये बिना यह अवधि छः माह तक की की जा सकती है।

(८) अनुमोदित स्कन्ध विनिमयों के अलावा अन्य विनिमयों मे किसी प्रकार के सौदे करना या उनकी स्थापना करना अथवा स्थापना मे किसी प्रकार की सहायता पहुँचाना अवैध घोषित किया गया है। धारा १६ के अनुसार कोई भी व्यक्ति बिना केन्द्रीय सरकार की अनुमति के अवैध विनिमयो का संस्थापन नही कर सकता तथा उनमे होने वाले सौदों मे भाग नही ले सकता।

(६) जहाँ तक दलालो या व्यापारियो को लाइसेन्स देने का प्रश्न है इस कानून मे विधिवत् उल्लेख नहीं किया गया है। धारा १७ के अनुसार उन क्षेत्रो मे, जहाँ अनुमोदित विनिमय (Recognized Exchanges) नहीं है, बिना केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति के कोई भी व्यक्ति प्रतिभूतियो मे व्यापार अथवा दलाली नहीं कर सकता, किन्तु अनुमोदित विनिमयो के सदस्यों पर उन क्षेत्रो मे भी व्यापार करने पर कोई प्रतिबन्ध नही है।

सरकार को लाइसेन्स देने के नियमों को बनाने तथा उनमे परिवर्तन करने का पूरा-पूरा अधिकार है। धारा ३० के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार लाइसेन्स के लिए आवेदन पत्र का फॉर्म, लाइसेन्स प्राप्त व्यापारियो तथा दलालो द्वारा रखे जाने वाले रजिस्टरो, दस्तावेजो आदि के नियम, इन लोगों के द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले सामयिक प्रत्यायों के विवरण, आवश्यक पड़ने पर किसी को लाइसेन्स को रद्द करने के नियम आदि के लिये नियम बनाने का अधिकार है।

(१०) यदि विनिमयो मे कार्य करने वाले लोग अथवा कम्पनियो के अधिकारी किसी प्रकार का अनुत्तरदायित्वपूर्ण कार्य करे या किसी भी प्रकार की धोखेबाजी

करें तो धारा २३, २४ मे उनके लिये दण्ड का विधान है। लेकिन यह सुरक्षा भी की गई है कि यदि किसी व्यक्ति (जो उस संस्था के लिए उत्तरदायी है) की जानकारी के बिना ही वह कार्य हो गया हो अथवा वह यह सिद्ध कर दे कि उसने वह कार्य अच्छे विश्वास (Good Faith)' पर ही किया है तो विधान मे उसकी सुरक्षा का बन्दोवस्त भी है।

प्रतिभूति अनुबन्ध (नियमन) अधिनियम अखिल भारतीय स्तर पर स्कन्ध विनिमयों को नियन्त्रित करने का पहला ही प्रयास है और इसमें अभी तक केवल इस प्रकार के नियम अथवा विधान बनाये गये हैं जो भावी विनिमयो की सही रूप-रेखा को स्थिर करने मे सहायता करेगा, यह एक प्रकार से प्रयोग है जिसके आधार पर भविष्य मे कोई ठोस नीति बनाई जा सकेगी, किन्तु इससे एक बात बहुत स्पष्ट है कि अब देश मे विनिमयों की वह स्थिति नही रहेगी और न उस रूप मे अब अवस्थ परिकल्पना को ही प्रोत्साहन मिल सकेगा। इसके साथ ही कम्पनी अधिनियम का पूर्ण नवीनीकरण ने भी इस निष्कर्ष की पुष्टि की है। इस बिल को प्रस्तुत करते समय वित्त मन्त्री के शब्दो से भी स्पष्ट है कि प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय को इस रूप से नियंत्रित करने का विचार है जिससे सरकार देश मे अपनी स्वीकार की हुई समाजवादी व्यवस्था की सुविधा से ला सकें, उनके विचार से यह कार्य शीघ्र ही सम्भव हो सकेगा क्योंकि कानून के पास होते हैं उसके अनुकूल सभी विनिमयो मे उचित तंत्री की स्थापना कर दी गई है और ज्यों उसका अनुभव बढता चलेगा नियंत्रण और कठोर होता जायगा।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 What is Stock Exchange? Give history and constitution of stock exchange market.
2 'Stock Exchange is a barometer of country's prosperity'. Justify the statement.
3 Discuss the following terms fully—
Margin, Tant, Lame duck, Remisier, Authorised clerk, Tarawani wala, Blank transfer.
4 Discuss the beneficial as well as adverse influences of the Stock Exchange upon the industry and trade.
5 Discuss in details, in the light of Thomas Committee Report, the way to improve the Indian Stock Exchange market.
6 Discuss the part played by the Stock Exchange in the economic development of a country with special reference to its importance in the money market.

7 Mention and explain some of the factors that rule the fluctuations in prices on a Stock Exchange How is business transacted there ?

8 Explain fully the functions and services of the Brokers and *Jobbers on the London Stock Exchange Is it possible to* have this division of functions in Indian Stock Exchange ? Give reasons

9 'The evil of speculation can be controlled in India' Give your suggestions with a particular reference to the Bombay Stock Exchange market

———

राज्य तथा उद्योग

राज्य तथा उद्योग ३१

(State and Industries)

राज्य का दृष्टिकोण
(State Attitude)

धार्मिक एव औद्योगिक परिवर्तनो तथा विकास के अनुसार कालान्तर से इनके प्रति राज्य के दृष्टिकोण मे अनेक परिवर्तन आते गये। सर्वप्रथम राज्य केवल उसकी सुरक्षा के लिये ही कार्य करता था और सामाजिक तथा व्यापारिक क्षेत्र मे एक तटस्थ दर्शक के रूप में ही कार्य करता था। इस प्रकार बहुत समय तक उद्योग तथा व्यापार मे अहस्तक्षेप (Non interference) की नीति हो रही और यह समझा जाता रहा कि मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार जिस प्रकार से भी हो व्यापार तथा व्यवसाय करने के लिए स्वतंत्र है तथा उस पर सरकार का किसी प्रकार का व्यवधान अनैतिक तथा अवाछनीय है। किन्तु धीरे-धीरे पूँजीवाद के प्रादुर्भाव ने सरकार के अहस्तक्षेप की नीति को असत्य सिद्ध कर दिया, क्योंकि स्वेच्छा के सिद्धात को मानने वाले व्यक्ति पूँजीवाद की जटिलताओं मे औद्योगिक एव व्यापारिक क्षेत्र मे राष्ट्रोन्नति तथा सुरक्षा की व्यवस्था नहीं कर सके। अतः सरकार का व्यवधान प्रायः हर क्षेत्र मे वाह्य तथा आतरिक प्रतिद्वन्द्विता को मिटाने तथा राज्य के कोष को बढाने के लिए आवश्यक हो गया।

इग्लैण्ड मे 'औद्योगिक क्रान्ति' के बाद उद्योग तथा व्यवसाय मे स्पष्ट रूप से दो दल (पूँजी तथा श्रम) सामने आ गये, जिसमे उनके आपस के संघर्ष को मिटाने के लिए सरकार को आवश्यक विधानों का सृजन करना पडा। व्यापार तथा व्यवसाय मे भी अनेक प्रकार के सगठनो का जन्म हुआ और उनमे भी व्यापारिक एकता एवं सुरक्षा के लिए अनेक प्रकार की संगठन शक्तियों का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। इन समस्त कारणों से राज्य ने धीरे-धीरे औद्योगिक तथा व्यापारिक क्षेत्र मे सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ कर दिया और अब राज्य की ओर से उद्योग तथा व्यापार के समस्त अंगो पर पूर्ण नियत्रण आवश्यक समझा जाने लगा है, जिससे वह एक निश्चित योजना के अनुसार बढ सके और इसके आन्तरिक तथा वाह्य सघर्षों मे न्यूनता आये तथा इनकी समृद्धि राष्ट्र की आर्थिक योजना के अनुसार होती रहे। इस

राज्य द्वारा नियन्त्रण के प्रकार
(Types of Government Control)

उद्योग तथा व्यापार को सहायता देने के लिये तथा इनकी क्रियाओं पर नियन्त्रण करने के लिये सरकार निम्नलिखित पद्धतियों को अपना सकती है—

(१) प्रत्यक्ष सहायता (Direct Aid)—उद्योग में कुछ कार्य इस प्रकार होते हैं, जिनमें विनियोगकर्ता हाथ डालने में संकोच करते हैं। इसलिए ऐसे उद्योगों में राज्य के द्वारा सहायता दी जानी आवश्यक है। यह सहायता आर्थिक योग देकर की जा सकती है अथवा उनके लाभ को एक निश्चित आधार पर रक्खा जा सकता है। भारतवर्ष में रेलवे यातायात में इसी प्रकार की सहायता दी गई थी। भारतीय वायुयान यातायात में भी सरकार द्वारा सहायता दी गई। इसके साथ-साथ कुछ कार्यों में निश्चित वर्षों के लिये पट्टा (Lease) देकर उद्योगपतियों की सुरक्षा की जा सकती है तथा उनको जोखिम के कार्यों में प्रोत्साहन दिया जा सकता है।

(२) रक्षा का कार्य (Defence)—अपने उद्योगों को बढ़ाने के लिये तथा उनके साथ की जाने वाली विदेशी प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त करने के लिए सरकार अनेक कार्य कर सकती है। प्रोत्साहन के लिये आर्थिक पारितोषिक (Subsidies) तथा रक्षा के लिये प्रशुल्क (Tariff) लगा सकती है। विदेशी माल पर आयात कर तथा प्रशुल्क लगाए जाते हैं, जैसे, जापानी माल पर तथा जावा की चीनी पर भारतीय व्यापार तथा चीनी उद्योग की रक्षा के लिए अनेक आयात कर तथा प्रशुल्क लगाये गये थे। चीनी के संरक्षण के कारण ही हमारा देश चीनी उत्पादन में आत्मनिर्भर नहीं रह सका है। जिन देशों में औद्योगिक विकास पूर्ण नहीं हुआ हो, उनमें इस पद्धति का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है।

(३) समझौते (Agreement)—सरकार अपने उद्योग को बढ़ाने के लिये विदेशी सरकारों के साथ अनेक व्यापारिक समझौते करती है, जिससे राष्ट्र का व्यापार एवं अनेक व्यवसाय एक निश्चित प्रमाण पर बढ़ जाता है और उत्पादित माल की खपत होने से वह व्यापार में उन्नति कर सकता है। भारतवर्ष में इस प्रकार के समझौते प्रायः सभी देशों में प्रायः सोचे किये जा रहे हैं। इन समझौतों के कारण केवल अपने उत्पादित माल की खपत का ही अनुमान नहीं लगता, अपितु अपनी आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति का अनुमान भी लग जाता है। इसके द्वारा क्रय-विक्रय का प्रमाण निश्चित किया जा सकता है तथा आदान-प्रदान की रीतियाँ भी बनाई जा सकती हैं।

(४) व्यापार कमिश्नरों की नियुक्ति (Appointment of Trade Commissioners)—दूसरे देशों में रुचिकर व्यापारिक सम्बन्ध बनाये रखने के

लिए सरकार अलग-अलग देशों में अपने व्यापारिक प्रतिनिधि या (Trade Commissioners) की नियुक्ति करती है, जिसके द्वारा उस देश में होने वाले प्रत्येक व्यापारिक सम्बन्धों का नियन्त्रण किया जाता है। इसके द्वारा किस देश से कौनसा माल आयात किया जाय तथा वहाँ पर कौनसा माल किस परिमाण में भेजा जाय, निश्चित किया जाता है।

(५) **आर्थिक सहायता** (Financial Aid)—उद्योग धन्धों की आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए सरकार उनको समय-समय पर आर्थिक सहायता प्रदान करती है। यह सहायता सीधा ऋण देकर, उद्योगों के ऋण-पत्रों को खरीद कर अथवा अंशों का क्रय विक्रय कर दे सकती है। साथ ही साथ किसी अन्य साहूकार को उसके ऋण को प्राप्ति का विश्वास दे सकती है। भारत सरकार ने श्रमिकों की गृह-समस्या को सुलझाने के लिये उद्योगों को कितने ही प्रकार के ऋण दिये हैं। राजस्थान के शीशा उद्योग को भी सरकार ने समय-समय पर आर्थिक सहायताएँ प्रदान की है। अन्य उद्योगों में भी इस प्रकार की सहायताएँ दी जाती रही है।

(६) *वस्तुक्रय* (*Purchase of Goods*)—सरकार उद्योगों का उत्पादन बढ़ाने के लिए तथा उनको प्रोत्साहन देने के लिए उनसे अपने सरकारी कार्यालय तथा कर्मचारियों के लिये सामूहिक रूप से बहुत सामान खरीद लेती है। इससे सरकार तथा उद्योगपति दोनों को ही लाभ होता है। सरकार उद्योग का विकास करने के साथ-साथ ही उसको आर्थिक सहायता भी प्रदान करती है तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति भी सुगमता से कर सकती है। युद्धकालीन समय में भारतीय कपड़ा तथा लोह उद्योग को इस नीति से बहुत प्रोत्साहन मिला। सरकार आजकल खादी उद्योग में भी इस नीति को अपना रही है।

(७) **परोक्ष नियन्त्रण** (*Indirect Control*)—सरकार केवल प्रत्यक्ष रूप में ही उद्योगों की सहायता नहीं करती, अपितु परोक्ष रूप से भी अनेक सहायताएँ देती है। उद्योग तथा व्यापार में साझेदारों तथा कम्पनी के अंशधारियों के कर्त्तव्य तथा अधिकारों का निश्चय करके वह अनेक व्यापारिक झगड़ों का अन्त करती है। साथ-साथ सौदों के भुगतान सम्बन्धी नियम, मुद्रा की सुदृढ़ नीति, अधिकोषों का प्रबन्ध, सरकारी अकेक्षक तथा निरीक्षकों की नियुक्ति करके उद्योग तथा व्यापार को बहुत बड़ा लाभ पहुँचाती है तथा अनेक सम्बन्धित विधेयकों के द्वारा उनकी क्रियाओं पर नियन्त्रण रखती है।

(८) **आर्थिक नियन्त्रण** (Financial Control)—उद्योगों के बढ़ते हुए आर्थिक शोषण पर नियन्त्रण करने के लिये सरकार अनेक प्रकार की व्यवस्था करती है ताकि उद्योगपति श्रमिकों की दुर्बलता का लाभ उठाकर उनका शोषण न कर

सकें। कभी-कभी श्रमिक संघों के बलशाली हो जाने के कारण भी उद्योगों में शोषण चलता है। इसलिए सरकार अनेक अनुकूल विधेयकों को पास करके इस शोषण को रोकने का प्रयत्न करती है। भारतवर्ष में फैक्टरी एक्ट, विनिमय बेजेज एक्ट, वर्कमेन्स इन्श्योरेन्स एक्ट, लेबर कम्पेनसेशन एक्ट आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। जो उद्योग अव्यवस्थित होते हैं, जिन उद्योगों के उत्पादित मूल्यों में स्थिरता नहीं रहती, जिनमें औद्योगिक सम्बन्ध अच्छे नहीं रहते तथा जिनकी शोषण-नीति रहती है, उनमें सरकार का आर्थिक नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है।

(६) योजनायें (Plans)—औद्योगिक तथा व्यापारिक प्रगति के लिए तथा राष्ट्रीय आय को बढ़ाने के उद्देश्य से सरकार को समस्त देश की व्यापारिक तथा औद्योगिक योजनायें बनानी चाहिए। इन योजनाओं को पूर्ण रूप से संचालित करने के लिए सरकार उद्योग तथा व्यापार पर अनेक प्रकार से नियंत्रण कर सकती है। जैसे कुछ उद्योगों को केवल सरकारी अधिकार में रखना, कुछ को आरम्भ किए जाने से पूर्व उद्योगपतियों को सरकारी योजना के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य करना, कुछ अवसरों पर अलग-अलग क्षेत्रों के औद्योगिक विकास के लिए औपचारिक सहायता देना, आदि। भारतवर्ष में प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाएं देश की औद्योगिक नीति में व्यापक स्थान रखती हैं।

(१०) राष्ट्रीयकरण (Nationalisation)—उद्योग को समस्त राष्ट्र के लिए उपयोगी बनाने के लिये उस पर व्यक्तिगत प्रभाव मिटाने के लिए सरकार का अन्तिम शस्त्र उस उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर देना है। इसमें उद्योग का स्वामित्व जन विशेष के हाथों में न रहकर सरकार के हाथों में चला जाता है। इस प्रकार इसमें किसी व्यक्ति विशेष को लाभ न मिलकर समस्त लाभ सरकार के हाथों में चला जाता है। भारतवर्ष में मूल-उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की योजनाएं बनाई जा रही हैं। भारतवर्ष में लगभग सम्पूर्ण जन-हित उद्योग सरकार के अधीन हैं।

नियन्त्रण अथवा राष्ट्रीयकरण
(Control or Nationalisation)

उद्योग के राष्ट्रीयकरण तथा उसमें सरकारी हस्तक्षेप का प्रश्न भारतवर्ष में ही नहीं, सारे संसार में एक जटिल प्रश्न है। प्रो. कीन्स ने राष्ट्रीयकरण को अनुचित बताते हुए कहा है कि इससे समाज में धन का समान विभाजन नहीं हो सकेगा, और सारी शक्ति कुछ ही सरकारी अधिकारियों के हाथ में जाकर जनता का पूर्ण रूप से शोषण होने लगेगा। किन्तु इसके विरुद्ध साम्यवादी देशों में उद्योग तथा व्यापार का पूर्ण रूप से राष्ट्रीयकरण ही उचित माना गया है और उन्होंने सफलतापूर्वक अपने उद्योग तथा व्यापार का राष्ट्रीयकरण कर लिया है। भारतवर्ष में भी

पिछले ११ १२ वर्षों से इस दिशा में पर्याप्त चर्चा हुई है तथा भारतीय अर्थशास्त्री इस विषय पर दो मतों में विभाजित होगये है। राष्ट्रीयकरण का समर्थन करने वालो मे प्रो० के० टी० शाह का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने भारतीय उद्योग के राष्ट्रीयकरण के लिए अनेक तर्क दिये है (उनका यथास्थान विवेचन किया जायेगा)। किन्तु भारतीय समस्त उद्योगपति तथा सरकार के अधिकाश कांग्रेसी सदस्यों ने उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की पद्धति को अभी अनुपयुक्त बताया है। अतः प० नेहरू के अनुमोदन पर इस योजना को स्थगित कर दिया गया। सूक्ष्म रूप मे इन दोनों के पक्ष तथा विपक्ष मे निम्नलिखित दलीलें दी जा सकती है—

राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे (In Favour of Nationalisation)—भारत सरकार के योजना आयोग के समक्ष यह प्रश्न आया था कि भारत में उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाय, या न किया जाय। सरकार राष्ट्र का सर्वाङ्गीण विकास करना चाहती है, किन्तु साथ ही साथ वह सामाजिक न्याय, लोगों को समुचित अवसर, काम करने का अधिकार, उचित मजदूरी प्राप्त करने का हक, आदि भी देना चाहती थी। इसमें लोगों को अलग अलग विचारधाराएं थी। प्रो० के० टी० शाह ने राष्ट्रीयकरण का समर्थन करते हुए उसके लिए निम्नलिखित आधार दिए है: राष्ट्रीयकरण के द्वारा सरकार तथा श्रमिकों में अच्छा सामन्जस्य रहेगा तथा मितव्ययता रहेगी, समस्त देश मे विकेन्द्रीयकरण हो जायगा, जिससे लोगों को अधिक काम मिलेगा तथा कच्चे माल का पूर्ण रूप से उपयोग किया जा सकेगा। इस प्रकार उद्योगों मे होने वाला लाभ जनता के हित के लिए व्यय किया जा सकेगा। इनके द्वारा लाभ की ओर विशेष ध्यान न देकर सेवा की ओर ध्यान दिया जा सकेगा। श्रमिकों का शोषण सम्भव नही हो सकेगा।

व्यक्तिगत व्यापार मे केवल उस व्यक्ति की बुद्धि के अनुसार ही व्यापारिक परिवर्तन किये जा सकते है, किन्तु राष्ट्रीयकरण होने के पश्चात् अनेक अनुभवी विशेषज्ञों की सेवाओं से अत्यन्त महत्वपूर्ण परिवर्तन किये जा सकते हैं, जिससे व्यापारिक प्रगति प्रायः निश्चित सी रहती है।

राष्ट्रीयकरण किये जाने पर यह आवश्यक नहीं कि उसका प्रबन्ध किसी सरकारी विभाग के अनुसार किया जाता है। उसका प्रबन्ध करने के लिये व्यापार के योग्य एव अनुभवी संचालकों की सेवा का उपयोग किया जा सकता है तथा उनको निश्चित अवधि के लिये रखा जा सकता है। इनकी सेवायें निष्पक्ष सेवायें होने के कारण उद्योग को विशेष लाभ पहुँचा सकती हैं। यही नहीं, उद्योग मे एकाधिकार भी जनसाधारण के हित के लिये हो रहता है। इसलिये जो अतिरिक्त लाभ होता है उसका उपयोग किसी व्यक्ति विशेष के लिये नहीं, अपितु जन कल्याण के लिये होता है।

राष्ट्रीयकरण से निश्चित रूप से समस्त राष्ट्र को लाभ होता है। उद्योग के व्यक्ति विशेष के हाथों में रहने से यह आशा नहीं की जा सकती। यदि देश में समाजवादी व्यवस्था लानी है तो सरकार की अहस्तक्षेप की नीति हर दशा में समाप्त होनी ही चाहिये, क्योंकि हम अपने देश को शक्तिशाली बनाना चाहते हैं और उसका आर्थिक विकास उस सीमा तक पहुँचाना चाहते हैं, जिससे देश के समस्त प्राणियों का जीवन-स्तर उस सीमा तक बढ सके, जैसी हमारी कल्पना है। आज तक की योजनाओं में जो व्यक्तिगत आय का अनुमान किया गया है, वह बहुत संकुचित ही कहा जा सकता है। इसलिये वर्तमान औद्योगिक तथा व्यापारिक सकट को समाप्त करने तथा जनता को अपनी उन्नति आप करने का अवसर देने के लिये समाजवादी पद्धति पर प्रमुख उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया जाना चाहिए।

राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में (Against Nationalisation)—ऊपर हम राष्ट्रीयकरण को अपनाने के विषय में पढकर आये है, किन्तु उसके विरोध में भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। पंचवर्षीय योजना में इस विषय पर काफी वाद-विवाद हुआ और अन्त में यही निष्कर्ष निकाला गया कि देश की वर्तमान स्थिति को देखते हुए राष्ट्रीयकरण की नीति अधिक लाभदायक नहीं हो सकती, क्योंकि सरकार के पास इतनी पूंजी नहीं है कि वह उसका आर्थिक नियन्त्रण कर सके तथा उपयुक्त समय पर उसके लिए धन का प्रबन्ध कर सके। इसके अतिरिक्त देश का पूंजी बाजार बहुत बडी सीमा तक अभी भी पूंजीपति तथा प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के हाथ में है। इसलिए राष्ट्रीयकरण की योजना तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक सरकार के पास यथेष्ट पूंजी न हो।

आज की शासन-प्रणाली में जनता के चुने हुए सदस्य शासन करते हैं। इन लोगों का निर्वाचन अधिकांशतः योग्यता के आधार पर न होकर, दल के प्रभाव, अधिक व्यय, तथा जनता को धोखा देकर किया जाता है, जिससे तान्त्रिक योग्यता के व्यक्ति इसमें नहीं आ सकते। फलस्वरूप व्यापारिक एवं औद्योगिक नीतियाँ सुन्दर नहीं बन सकती इसलिए निजी व्यक्तियों की अपेक्षा राष्ट्रीयकरण से देश को लाभ नहीं हो सकता।

यह कहा जा सकता है कि सरकार उद्योगों के सचालन के लिए अनुभवी कार्यकर्ताओं की नियुक्ति कर सकती है, किन्तु यह मानना पडेगा कि वह २४ घण्टे इस व्यापार के उत्थान के विषय में नहीं सोच सकती, जिस प्रकार निजी व्यापारी सोचता है, क्योंकि इसमें अधिक नौकरशाही आ जाती है।

यही नहीं, सरकारी कामों में तात्कालिक निर्णय अत्यंत कठिन होते है किन्तु उद्योग तथा व्यापार में तात्कालिक निर्णयों की सबसे अधिक विशेषता है और इसी

आधार पर उसकी सफलता आँकी जा सकती है। जहाँ तक गोपनीयता का प्रश्न है, सरकारी कार्यों मे उसका रहना अत्यन्त कठिन है और यदि किसी प्रकार से गोपनीयता रखी जाय तो सम्बन्धित अधिकारी उससे अपनी स्वार्थ-सिद्धि बडी कुशलता से कर सकता है, जिसके कारण समाज मे भ्रष्टाचार फैलना स्वाभाविक हो जाता है। यदि निजी उद्योगपति किसी बात को गुप्त रखता है तो उससे एक ही व्यापार पर प्रभाव पडेगा, किन्तु सरकारी अधिकारी उस गोपनीयता का लाभ उठाकर समस्त उद्योग को हानि पहुँचा सकता है।

राष्ट्रीयकरण कर देने से सरकारी औद्योगिक नीति स्थायी नहीं रह सकती, क्योंकि निर्वाचन के बाद अलग-अलग विचारधारा वाले दल आकर अपनी निश्चित नीतियों के अनुसार उसमे परिवर्तन करते रहते है। इसीलिये निश्चित योजना न होने के कारण अधिक विकास नही किया जा सकता। निजी कम्पनियो मे औद्योगिक एवं व्यापारिक नीति प्रायः स्थायी होती है।

हमारे विधान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को काम करने का अधिकार है। इसलिए किसी उत्साही व्यक्ति को किसी उद्योग विशेष मे वंचित रखना न्याय-विरुद्ध माना जायगा।

किन्तु आज सभी आर्थिक तथा राजनैतिक दृष्टिकोण वाले व्यक्ति यह मानने लगे है कि उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया जाना आवश्यक है। जैसे श्री कीन्स ने हस्तक्षेप का विरोध करते हुए कहा है कि "दुनिया ऊपर से इस प्रकार प्रशासित नहीं होती कि व्यक्तिगत तथा सामाजिक हितों का सामन्जस्य हो सके। अर्थशास्त्र मे यह जोडना गलत है कि जानकार व्यक्तिगत हित, जन हित के लिये कार्य करता है। यह भी सत्य नही कि व्यक्तिगत हित आमतौर से जानकार एवं सभ्य होता है। वह तो अधिकाशतः दूसरों की भूल से लाभ उठाकर अपने स्वार्थ की सिद्धि करता है। अनुभव बताता है कि ऐसे व्यक्ति जब आपस मे मिलते है तो उनका दृष्टिकोण प्रायः वैसा ही रहता है जैसा पहले था"। इसी प्रकार राजनैतिक दृष्टिकोण से भी राष्ट्रीयकरण तथा समाजीकरण की एक व्यवस्था है, जिसके द्वारा व्यक्तिगत हितो के ऊपर सामाजिक हितों की रक्षा की जा सके।

यदि राज्य की ओर से केवल नियन्त्रण ही रखा जाय और व्यक्तियो को उद्योग तथा व्यापार से लिए स्वतन्त्र छोडा जाय तो इस देश मे पूँजीवाद के समस्त दुर्गुण उत्पन्न हो जायेंगे और जो राष्ट्र समाज मे सामाजवाद लाने के बात सोचते है वे सफल नही हो सकेंगे। सरकारी नियन्त्रण मे प्रायः अनेक इस प्रकार की स्थितियाँ पैदा हो जाती है, जिससे सरकारी अधिकारियों पर पूँजीपति हावी हो जाते हैं और सरकारी अधिकारी भ्रष्टाचार करने लगते हैं। नियन्त्रण के द्वारा सरकार चाहे कठोर से कठोर विधेयक बना दे, व्यक्तिगत व्यवस्थाओं की बुराइयों को नहीं मिटा

सकती। उनको मिटाने का प्रश्न नैतिक प्रश्न है, जो अपने स्वार्थों में लीन पूँजीपति नहीं समझ सकते, किन्तु उस अवस्था में, जबकि सरकार अपने को इतना योग्य न समझती हो कि वह व्यापारिक आधार पर लाभसहित उद्योग धन्धे को चला सकेगी, उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर सकेगी, तो उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने के लिए एक धीमी ही नीति अपनाई जानी आवश्यक है।

भारत में राष्ट्रीयकरण

(Nationalisation in India)

प्रत्येक राष्ट्र में जनोपयोगी तथा महत्वपूर्ण उद्योग प्रायः सरकार के ही अधीन रहते हैं। भारतवर्ष में रेल्वे, रेडियो, डाक, केन्द्रीय अधिकोषों का बहुत पहले से ही राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है। साथ-साथ अस्त्र-शस्त्रों का उत्पादन भी सरकार के अधीन रहा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देश में औद्योगिक विकास के लिए राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी योजना आयोग के अनुसार भारतीय आर्थिक नीति बहुत पहले से ही कठिनता का अनुभव करती आई है। लड़ाई में सामाजिक क्षेत्रों का बहुत शोषण किया जाता है। स्वतन्त्रता मिलने पर तथा देश के विभाजन पर भारत की आर्थिक स्थिति और भी डाँवाडोल हो गई है। इसके कारण सरकार को देश के आर्थिक एवं औद्योगिक क्षेत्र में सक्रिय भाग लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। सन् १९४६ में इस दिशा में एक औद्योगिक नीति का प्रस्ताव (Industrial Policy Resolution) पास किया गया, जिसके अनुसार भारत सरकार को देश के औद्योगिक विकास में अपनी सीमाओं के अनुसार सक्रिय भाग लेने के लिए उत्तरदायी बनाया गया। भारतीय संविधान में भी सरकार को जनता के कल्याण तथा सुरक्षा के लिए सक्रिय भाग लेने के लिये कर्तव्ययुक्त माना गया। अतः वह राष्ट्र के आवश्यक उद्योगों पर नियन्त्रण कर सकती है। अपनी औद्योगिक नीति के अनुसार सरकार ने उद्योगों को तीन भागों में बाँटा है—(१) वे उद्योग, जो केन्द्रीय सरकार के हाथ में ही रहने चाहिए ; जैसे डाक, रेल्वे, बाँध, योजनाएँ, अणुशक्ति का उत्पादन तथा नियन्त्रण, तथा राष्ट्र की रक्षा के लिये आवश्यक उद्योग। (२) बड़े उद्योग जो सरकारी उत्तरदायित्व में रहें ; जैसे कोयला, लोहा, बिजली, रेलवे के इंजन बनाना, जहाज बनाना आदि। यद्यपि इनका पूरा भार सरकार पर होना है, फिर भी निजी कम्पनियों की सहायता ली जा सकती है और एक निश्चित समय तक कार्य करने के पश्चात् यदि सरकार परिस्थिति के अनुसार उचित समझे तो अपने उत्तरदायित्व के उद्योगों को अपने हाथ में ले सकेगी। (३) अन्य प्रकार के सामान्य उद्योग सरकार वैधानिक नियन्त्रण में रह कर व्यक्तिगत उद्योगपतियों से चलाये जा सकेंगे। इनमे सूती, ऊनी, कागज, सीमेंट, चीनी, इन्जीनियरिंग, मशीन, औजार, चॉक, कपड़ा आदि उद्योग सम्मिलित हैं। इन

उद्योगों के असन्तोषजनक संचालन पर सरकार उनका सचालन अपने हाथ में ले सकती है।

इस दिशा मे सन् १६४६ के फिस्कल कमीशन ने निम्नलिखित सुझाव दिये थे—

(१) सरकार को ऐसा कदम उठाना चाहिए, जिसमे इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था हो कि लोगों को समानता तथा न्याय का अवसर मिल सकें।

(२) लोगों का शीघ्रातिशीघ्र जीवन-स्तर बढ़ सके।

(३) सरकार को उद्योग मे मिश्रित आर्थिक व्यवस्था अपनानी चाहिए, जिसमे निजी विभाग तथा जन विभाग हो। प्रारम्भ में सरकार को वही उद्योग हाथ मे लेने चाहिए, जो अभी तक न चलाए गए हों तथा आवश्यकता के अनुसार व्यक्तिगत उद्योगों को सर्वसाधारण के हित के लिये सरकार अपने हाथ मे ले सके। इसके लिए कम से कम १६६० तक सरकार को रुकना चाहिए।

(४) सरकारी उद्योगों का प्रबन्ध जन कॉरपोरेशन के द्वारा किया जाना चाहिए, जिसमे श्रमिकों का पूर्ण प्रतिनिधित्व हो तथा वह केन्द्रीय सरकार के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में हो।

(५) ग्रामोन्नति तथा शरणार्थियों को बसाने के लिए बडे उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण किया जाना चाहिए।

(६) सरकारी नीति मे सामाजिक न्याय, प्रबन्ध तथा श्रम से सुखद सम्बन्ध आदि की स्थापना की जानी चाहिए।

(७) सरकार की प्रशुल्क नीति (Tariff Policy) राष्ट्रीय उद्योग की सुरक्षा तथा प्रतिद्वन्द्विता को रोकने वाली होनी चाहिए।

(८) विदेशी पूँजी तथा तान्त्रिक योग राष्ट्रीय हित के अनुसार प्रचालित तथा नियन्त्रित किया जाना चाहिए। इस दिशा मे भारत सरकार की स्पष्ट नीति है, जिसमे निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार विदेशी पूँजी तथा सहायता प्राप्त की जायगी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सरकार देश के औद्योगिक विकास के लिए हर प्रकार से प्रयत्नशील है और वह आवश्यकता पड़ने पर उद्योगों का प्रबन्ध एवं नियन्त्रण अपने हाथों मे ले सकती है।

सन् १६५१ उद्योग अधिनियम के अनुसार केन्द्रीय सरकार को प्रत्येक उद्योग की उत्पादन क्रियाएँ, औद्योगिक कुशलता तथा प्रबन्ध पर पूर्ण नियन्त्रण करने का अधिकार दिया गया है।* इस कानून में निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

---

* इस अधिनियम में समय-समय पर आवश्यक सुधार किये गये हैं जिनका विवेचन 'सरकार की औद्योगिक नीति' नामक अध्याय में किया गया है।

(१) जिन ४५ उद्योगो में यह लागू किया गया है, उनका निश्चित अवधि के अन्दर पंजीयन आवश्यक है।

(२) कोई भी नया उद्योग तथा नवीन उत्पादन सरकार से लाइसेन्स लिए बिना नही प्रारम्भ किया जा सकेगा।

(३) सरकार उद्योगों की असन्तोषजनक व्यवस्था समझकर उनकी जाँच करा सकती हैं।

(४) यदि कोई उद्योग जनहित विरुद्ध नियन्त्रित किया जा रहा हो तो सरकार उसको पूर्ण अथवा आंशिक रूप से अपने नियन्त्रण मे ले सकती है।

इसके लिए सरकार ने एक केन्द्रीय सलाहकार परिषद की स्थापना की है, जिसमे फ्रांस तथा इंगलैंड के समान उपभोक्ता, उद्योगपति तथा कर्मचारी होंगे। इसके साथ-साथ विकास समितियो (Development Councils) की स्थापना की गई है, जो जन सम्पर्क स्थापित करेगी। इन समितियो का कार्य उत्पादन का निश्चय करना, मितव्ययी तथा कुशल योजनाओं को बनाना, उद्योगो का काम मितव्ययी तथा कुशल बनाना, बड़े उद्योगों का विवेकीकरण तथा घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन देना तथा वैज्ञानिक खोज एवं औद्योगिक आँकड़े संग्रह करना है। इन समितियों का प्रबंध केन्द्रीय सरकार के द्वारा किया जायेगा तथा इसका व्यय भी सरकार के द्वारा ही किया जायेगा।

सरकारी राष्ट्रीयकरण व्यवस्था (Government Nationalised Industries)—ऊपर किये गये विवेचन से यह स्पष्ट है कि सरकार देश मे उद्योग को *पूर्ण रूप से नियन्त्रित करके राष्ट्रीयकरण की ओर ले जाना चाहती है। यह या* तो सीधे सरकारी प्रबन्ध से या कॉरपोरेशन के द्वारा या जनसंस्था द्वारा या उद्योगो के वर्त्तमान कम्पनी अधिनियम मे सचालक मडलो द्वारा हो सकता है।

सरकार तार, टेलीफोन, सुरक्षा उद्योग, रेलवे आदि की व्यवस्था तो कर ही रही है। इसके साथ-साथ उसने सिन्दरी खाद उद्योगशाला, चित्तरंजन लोकोमोटिव, दिल्ली मे डी. डी. टी. फैक्टरी, बम्बई मे पेनिसिलीन फेक्टरी, कलकत्ता मे राष्ट्रीय औजार फैक्टरी, साँभर मे नमक आदि, बगलौर मे टेलीफोन निर्माण फैक्टरी तथा औजार सस्था के उद्योग अपने हाथ मे ले लिये है। इसके साथ-साथ नदियो की बाँध योजनाएँ भी सरकार के अधीन है। सन् ५३ मे सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय वायु यातायात (Air India International Service) भी अपने हाथ मे ले ली है। कुछ उद्योग जो वर्तमान कम्पनी विधान के अनुसार संचालको द्वारा चलाये जा रहे है, उसमे मुख्य विजगापट्टम मे ; हिन्दुस्तान शिपयार्ड लिमिटेड, नई दिल्ली मे ; हिन्दुस्तान हाउसिंग फैक्टरी लिमिटेड, बंगलौर मे; हिन्दुस्तान केबल्स लिमिटेड तथा हिन्दुस्तान मशीन टूल्स लिमिटेड, ईस्टर्न शिपिंग कारपोरेशन, इण्डियन

एयर लाइन्स लिमिटेड, तथा इण्डियन टेलीफोन इन्डस्ट्रीज लिमिटेड आदि है। जन-प्रबन्ध के अन्तर्गत दामोदर वेली कॉरपोरेशन, १६४८ तथा एयर कॉरपोरेशन, १६५३ मुख्य हैं।

सरकारी उद्योगों के संगठन की सिफारिश (Recommendations on the organisation of Nationalised industries)—ममद की अनुमान समिति ने सरकारी उद्योगो के सगठन के लिये निम्नलिखित सिफारिशें की है—

(१) सरकार द्वारा नियुक्त सचालक मडल की विशेष आवश्यकता नहीं है क्योंकि इनका विशेष कार्य नहीं रहता। सारे काम को यदि छोटे-छोटे भागो मे बाँट दिया जाय तो प्रत्येक का सचालन प्रबन्ध सचालक की देख-रेख मे किया सकता है। और उनके सचालन के लिये विशेषज्ञों की एक सलाहकार समिति बनाई जा सकती है। यदि सचालक मडल को रखना ही हो तो उसकी सख्या ३/४ कर दी जानी चाहिए।

(२) प्रत्येक उद्योग की व्यवस्था के लिए एक सलाहकार समिति बनाई जानी चाहिए। इसमें पूँजी, श्रम, उपभोक्ता, व्यवसाय, संसद आदि सबका प्रतिनिधित्व रहना चाहिये। इन समिति को सचालक मडल के कार्यो मे राय देने का अधिकार होना चाहिए।

(३) इन उद्योगों का सम्बन्ध सीधा उद्योग मत्री से रहना चाहिये, क्योंकि वह उनकी प्रगति के लिये उत्तरदायी है। किन्तु यह लोकतंत्रीय सिद्धान्तो के विरुद्ध है और डर है कि मत्री अपने स्वार्थो को प्रधानता देने लगे।

(४) उद्योगो का उनके कार्यो एव प्रकृति के अनुसार वर्गीकरण कर दिया जाना चाहिये और उसके ही अनुरूप उनको अलग-अलग मंत्रालयों के अधीन चला जाना चाहिये।

(५) इन उद्योगो मे निजी पूँजी को भी स्थान दिया जाना चाहिये जिससे उद्योग मे लगे लोगों का सीधा अनुभव प्राप्त किया जा सके तथा व्यवस्था सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने मे सरलता हो। यह पूँजी २५% तक रहनी चाहिये।

(६) अखिल भारतीय स्तर पर व्यावसायिक एवं औद्योगिक सेवा आयोग की स्थापना की जानी चाहिये जिसमें लोक क्षेत्र के लिए अनुभवी विशेषज्ञों की सेवायें प्राप्त की जा सकें। सरकार ने इस प्रकार के आयोगों की स्थापना अलग-अलग प्रकार के उद्योगों के अनुसार की है और उनका कार्य लाभप्रद माना जा रहा है।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद सरकार का औद्योगिक योग

(Industrial Aid by Government After II World War)

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भारतीय उद्योग तथा व्यापार की स्थिति अत्यन्त

गम्भीर हो गई थी। इसलिए सन् १९१७ मे सरकार ने भारतीय उद्योग में युद्ध से उत्पन्न समस्याओं का हल करने के लिए "भारतीय शस्त्र बोर्ड" का *निर्माण किया*, किन्तु यह विशेष लाभदायक सिद्ध नही हुआ। क्योंकि युद्धकालीन उद्योगो का युद्ध के समाप्त होते ही विलयन हो गया, किन्तु सन् १९२१ के बाद उद्योगों का प्रान्तीय विषय बन जाने से उनके विकास के लिए ठोस कार्य किये जाने लगे।

सरकार ने अपनी हस्तक्षेप की नीति मे परिवर्तन किया तथा सन् १९१८ के *औद्योगिक आयोग के सुझावों पर उद्योगो मे विकास लाने के लिए तान्त्रिक शिक्षा*, खोज, नवीन प्रयोग आदि का प्रारम्भ किया तथा सन् १९२१ के बाद उद्योगो की सुरक्षा की ओर ध्यान दिया जाने लगा तथा उद्योग का विकास केवल सैन्य महत्व के आधार पर ही नहीं किया जाने लगा, अपितु व्यापारिक विकास के लिए भी इस ओर ध्यान दिया जाने लगा और फलस्वरूप भारतीय सरकार ने चीनी, कपडा, कागज, लोहा आदि उद्योगों मे संरक्षण की नीति को अपनाया। सन् १९२२ में स्टेट एड टू इन्डस्ट्रीज एक्ट (*State Aid to Industries Act*) पास किया गया, जिसके द्वारा कुटीर उद्योगो को आर्थिक योग देने की व्यवस्था की गई। सन् १९२४ में सरकार ने सरकारी क्रय-भंडार (Govt. Purchase Store) को स्थापित करने की घोषणा की है और उसमें भारतीय उद्योगों की वस्तु को खरीदने का आयोजन *किया गया*। सरकारी आर्थिक सहायता के लिए बंगाल, मध्यभारत, यू० पी० आदि मे सन् १९३१-३४ तथा ३५ मे अधिवेशन पास किये गये, किन्तु इनमे विशेष आर्थिक सहायता सम्भव नही हो सकी।

इसी बीच १९३४ मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के खुल जाने के कारण औद्योगिक आर्थिक सहायता की सम्भावना प्रतीत होने लगी। किन्तु इस दिशा में भी *प्रारम्भ मे विशेष सन्तोषपूर्ण योग नहीं मिल सका*। इसका *प्रमुख कारण* देश की प्रबन्ध-अभिकर्ता पद्धति थी, जो उद्योग पर अपना पूर्ण आर्थिक नियन्त्रण रखना चाहती थी।

औद्योगिक प्रशिक्षा की दिशा मे सरकार ने कितने ही आयोग तथा समितियो की स्थापना की, जिनके सुझावों मे अनेक विश्वविद्यालयो में तान्त्रिक शिक्षाओं का प्रबन्ध किया गया। इनमे मुख्य धनवाद, इण्डियन स्कूल ऑफ माइनिंग, टेक्सटॉयल टेक्नॉलोजी बॉम्बे, हौजरी इन्सटीट्यूट लुधियाना; सिल्क इन्स्टीट्यूट, भागलपुर हैं। इसके अलावा बहुत सारे लोग विदेशों मे इस हेतु भेजे गये।

औद्योगिक अनुसन्धान के लिए अनेकों अनुसन्धानशालाएं खोली गईं, जिनमे इन्डस्ट्रियल रिसर्च ब्यूरो की स्थापना सन् १९३५ मे हुई। साथ-साथ अनेक समितियों की स्थापना भी की, जो उद्योग को अनेक प्रकार से तान्त्रिक एवं प्रबन्ध सम्बन्धी योग देती रही। इसके पश्चात् द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ होने से उत्पादन की माँग बढ़

गई। अतः सरकार को अपनी औद्योगिक नीति में अपने परिवर्तन करने पड़े। जैसे ही यह ज्ञात हुआ कि लड़ाई अधिक समय तक चलेगी, भारतीय अर्थ-व्यवस्था में सरकारी नियन्त्रण भी उसी अनुपात से बढ़ता चला गया और युद्ध काल में औद्योगिक नियन्त्रण से लेकर लोगों के राशन पर भी नियन्त्रण कर दिया गया। इससे सरकार को तो अवश्य लाभ हुआ, किन्तु व्यापार तथा उद्योग में भ्रष्टाचार तथा अनिश्चितता विशेष रूप से बढ़ गई।

भारतीय राजनैतिक असहयोग के कारण तथा औद्योगिक विकास की मांग ने सरकार को औद्योगिक सहायता देने के लिए विवश कर दिया और उसको उद्योगों में आर्थिक योग, तान्त्रिक सहायता, औद्योगिक संगठन आदि की पूर्ण व्यवस्था करनी पड़ी। इसके साथ-साथ औद्योगिक सम्बन्धों को आनन्दयुक्त बनाने के लिए भी इसको कार्य करने पड़े, किन्तु इससे विशेष लाभ सम्भव नहीं हो सका।

स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् देश में महत्वपूर्ण कार्य किये गये। सन् १९४८ में राष्ट्रीय सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा की, जिसमें उसने अपने औद्योगिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए श्रम, पूँजी, नियन्त्रण नीति आदि का स्पष्टीकरण किया। श्रमिकों के कल्याण के लिए अनेक योजनाएँ बनाई गई तथा क्रान्तिकारी विधेयक पास किये गये। पूँजी नियन्त्रण के लिए १९४७ में पूँजी निर्गमन अधिनियम बनाया गया, जिसका वर्णन "कम्पनी" में किया जा चुका है। इसके साथ-साथ नवम्बर, १९५६ में नवीन कम्पनी अधिनियम को पास करके सरकार ने उद्योग तथा व्यापार पर व्यापक नियन्त्रण के लिए कदम उठाया है।* इसके द्वारा उद्योग तथा व्यापार में साधारण अंशधारियों को संचालन में आनुपातिक अधिकार प्राप्त होगा तथा व्यापार में साधारण अंशधारियों को सचालन में आनुपातिक अधिकार प्राप्त होगा तथा प्रबन्ध-अभिकर्त्ता एवं संचालकों पर उनका विशेष अधिकार रह सकेगा। इस अधिनियम के द्वारा सरकार को बहुत व्यापक अधिकार प्राप्त हो गये हैं, जिनसे १९६० या कुछ अवस्थाओं में उससे पहले ही वह अपने अधिकारों का प्रयोग कर सकी है। सरकार ने कम्पनियों की व्यवस्था पर नियन्त्रण रखने के लिए हाल ही में दिल्ली में कम्पनी लॉ डिपार्टमेन्ट की स्थापना की है तथा प्रत्येक प्रान्त में कम्पनी निरीक्षकों की नियुक्ति की जायगी, जिनको कम्पनियों की अव्यवस्था होने पर हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त होगा।

नवीन कम्पनियों को अधिक नियंत्रण में रखने के लिए वित्त मंत्री ने

*** कम्पनी अधिनियम में १९५९ में आवश्यक संशोधन किये गये हैं और सम्भवतः १९६१ में शास्त्री समिति के सुझावों के अनुसार नवीन संशोधन अधिनियम पास हो जायेगा। इन सबके विषय में यथास्थान लिख दिया गया है।**

१३ दिसम्बर १९६० को सुझाव दिया है कि उनके अंशों पर एक प्रव्याजि ली जानी चाहिए, जिससे पूंजी का नियंत्रण हो सके। इस क्रिया से कम्पनियों को पूंजी प्राप्त करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती और न उनके कार्य पर ही किसी प्रकार विषम प्रभाव पड़ता है।

औद्योगिक विकास के लिए सरकार ने देश में २५ अनुसंधानशालाओं से अधिक का निर्माण किया है, जिसका वर्णन वैज्ञानिक सम्बन्ध में किया जा चुका है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी देश के आर्थिक विकास को बढ़ाने के लिए पूरे प्रयत्न किये गये हैं और उसमें उद्योगों की आवश्यकता के लिए प्राकृतिक स्रोतों का पूर्ण शोषण आवागमन के साधनों को व्यापकता, पूंजी का विकास, सरकार का मुख्य उत्पादन से ऊपर व्यापक अधिकार, निजी उद्योगों को प्रोत्साहन आदि अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाये गए हैं। इसके अतिरिक्त सरकार ने अपने औद्योगिक सलाहकार परिषदों के अनुसार अनेक नवीन उद्योगों को प्रारम्भ किया है, जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है। विद्युत शक्ति तथा सिंचाई के लिए सरकार ने अनेक योजनाएं अपनाई हैं, जिनमें मुख्य भाखरा नंगल योजना, हीराकुण्ड, तुङ्गभद्रा, मक्स कुण्ड, मयूराक्षी आदि अनेक योजनाएं चलाई गई हैं, जिनमें उनको किसी सीमा तक सफलताएं भी मिली हैं।

सरकार ने अपनी अर्थव्यवस्था की नीति के अनुसार एक जन-संख्या का निर्माण किया है, जिसके अन्तर्गत राज्य उद्योगों का नियन्त्रण किया जायगा। इसके अनुसार प्रबन्ध-कार्य में कठोरता नहीं आयेगी। उसमें सरकारी ढीली नीति को कम किया जा सकेगा तथा वह ससदीय नियन्त्रण में रहेगी और राष्ट्रीय नीति के अनुसार चलाई जा सकेगी। इसके प्रबन्ध के लिए बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स की नियुक्ति की जायगी, जो कि सरकार, व्यापारी तथा कार्यकर्ताओं के सामूहिक प्रतिनिधित्व से स्थापित किया जावेगा और उसका दृष्टिकोण जनहित की सुरक्षा होगी। वह नीति बनाने वाली ही संस्था रहेगी और यथार्थ प्रबन्ध, आम प्रबन्ध तथा प्रबन्ध संचालक के हाथ में रहेगा।

स्वतन्त्रता के बाद
(After Independence)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार ने व्यापारिक क्षेत्र में भी व्यापक महत्व प्राप्त कर लिया है। सरकार ने सुरक्षा तथा राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनेक राष्ट्रों में राजकीय व्यापार प्रारम्भ किया है, जिसके लिए १९४६ में स्टेट ट्रेडिंग कमेटी की नियुक्ति की गई। समिति ने अपनी १९५० की वृत में व्यापार पर सरकारी अधिकार तथा निजी अधिकार की विवेचना करते हुए उसमें संतुलन रखने का प्रयत्न किया है।

इस सतुलन को प्राप्त करने के लिए सरकारी व्यापार निगम (State Trading Corporation) का निर्माण किया गया, जिनकी अधिकृत पूंजी १० करोड रु० तथा प्रारम्भिक पूंजी २ करोड रु० है। पूंजी का ५१% केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारे व निजी व्यापारियो ने दी। केन्द्रीय सरकार ने उनको लाभ का विश्वास दिया है तथा उससे अपना प्रतिबन्ध रखा है इसका प्रबन्ध योग्य प्रबन्ध-संचालक के अधिकार में होगा तथा इसका कार्यक्रम बोर्ड के आदेशानुसार चलाया जाता है।

सरकार सौदे प्राय: वस्तु विनिमय के द्वारा करेगी। वे व्यापार, जो सरकार के हाथ मे है, पूर्णरूप से सरकारी नियन्त्रण मे हो रहेगे। सरकार ने कुछ प्रकार के कपासों पर अपना पूर्ण नियन्त्रण तथा कुछ मे विदेशी बाजारो मे स्वामी तथा प्रतिनिधि के रूप में माल की लेवा-बेची करती है। कुटीर उद्योगो मे सरकार व्यापार को निजी व्यापारियो के ही हाथ में रखना चाहती है। देश की व्यापारिक नीति मे मध्यवर्ती मार्ग अपनाया गया है, जिससे राष्ट्र की व्यापारिक प्रगति मे दिनो-दिन शक्ति आती रहे।

भारतवर्ष ने रूस, चीन, अमेरिका, मुसलमानी देशों आदि से राजकीय स्तर पर अनेक व्यापारिक समझौते किये है।

विवेचन योग्य प्रश्न

1 "*The old conception of Govt. non-interference in business and* industrial economy of a country has outlived to day." Explain.

2 Should the Government intervene in industries or not ? Discuss the *system of Governmental control.*

3 Differentiate betwen control and nationalisation. Discuss the arguments for and against nationatisation.

4 *Write an essay on Nationalisation in India*

5 What help has the Government rendered in the industrialisation of the country (India) after the World War II.

राज्य तथा उद्योग (क्रमशः) ३९

(State and Industries (contd))

सरकार की औद्योगिक नीति

(Industrial Policy of Government)

भारतवर्ष अपनी चिरदासता से मुक्त होने के लिये निश्चय कर चुका था। द्वितीय युद्ध के प्रारम्भिक चरण में असहयोग आन्दोलन तथा छोटे मोटे विद्रोह अपनी चरम सीमा पर पहुँचते जा रहे थे। भारतीय मानस यह समझ चुका था कि देश का विकास स्वाधीनताप्राप्ति में ही निहित है। हमारे स्वाधीनता संग्राम का एक लम्बा इतिहास है। सन् १९३५ में प्रान्तीय स्वाधीनता (Provincial Autonomy) मिली और अनेक प्रान्तों में भारतीय सरकारें बनीं। तत्काल ही श्री नेहरू के सभापतित्व में राष्ट्रीय योजना समिति का निर्माण किया गया, जिसने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा सामाजिक पुनर्संस्थान की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किये, किन्तु प्रारम्भ में यह प्रान्तीय आधार पर ही सीमित रहे, क्योंकि सरकार की अखिल भारतीय औद्योगिक नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं दिखाई दिया। द्वितीय विश्व युद्ध ने परिस्थिति को बदला और सरकार को भारतीय औद्योगीकरण की दिशा में सक्रिय कदम उठाने पड़े। फ्रांस की हार, ब्रिटिश उद्योगों तथा जहाजों का विध्वंस, दक्षिणी प्रशान्त महासागर में जापानियों का प्रभुत्व आदि ने राष्ट्र संघ (United Kingdom) में खतरा पैदा कर दिया। इसलिये भारत तथा आस्ट्रेलिया को सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति का केन्द्र चुना गया और इससे सम्बन्ध रखने वाले अनेक उद्योगों का निर्माण किया तथा उद्योग अधिक से अधिक केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण में चले गये। किन्तु रोवर कमीशन की रिपोर्ट ने फिर सरकार की नीति में परिवर्तन किया, जिससे पुनः भारतीय उद्योगों का विकास रुक गया।

भारतीय जनता ने ब्रिटिश सरकार की नीति को देख लिया था। इसलिये द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान में उसका तीव्र विरोध किया गया। "भारत छोड़ो आंदोलन", नौ सेना की क्रान्ति तथा अन्य विद्रोहों ने अंग्रेज सरकार को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित कर दिया कि अब भारतीय जनता उसके शासन से ऊब गई है। जनता को शान्त करने के लिये प्रोफेसर अरदेशीर दलाल की अध्यक्षता में प्लानिंग एण्ड डेवलप-

(१) छः उद्योगो को सरकार ने अपने अधिकार में लिया—कोयला, लोहा तथा इस्पात, हवाई जहाजो का निर्माण, पानी के जहाजो का निर्माण, द्रुतगामी संदेशवाहन यंत्रों का निर्माण तथा खनिज तेल। इसके अतिरिक्त सरकार ने आवश्यकता के समय किसी भी उद्योग को अधिकार मे लेने का अपना अधिकार भी सुरक्षित रखा।

(२) सरकार ने निजी क्षेत्र के उद्योगों की वर्तमान स्थिति की जांच करने के लिये दस वर्ष नियत किये कि किस उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया जाय और किसका नहीं। इसमें यह भी स्पष्ट किया गया कि राष्ट्रीयकरण की स्थिति में उद्योगपतियों के आधारभूत अधिकारों की रक्षा की जायगी और उन्हें उचित मुआवजा दिया जायगा।

(३) सरकारी क्षेत्र मे आने वाले उद्योगों का प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार के वैधानिक नियंत्रण मे जन निगमों (Public Corporations) द्वारा किया जायेगा।

(४) सरकार ने निजी क्षेत्र मे रहने वाले उद्योगो पर नियंत्रण करने का अधिकार भी सुरक्षित रखा और इसमे यह भी स्पष्ट किया गया कि सरकार इन उद्योगों मे सक्रिय भाग लेगी।

(५) सरकार ने घोषित किया कि औद्योगिक विकास के लिये औद्योगिक शान्ति का होना आवश्यक है और इसके लिए न्यायानुकूल पारितोषिक वितरण को योजना आवश्यक है। इसके लिये प्रबन्ध मे श्रमिकों का योग, लाभ-विभाजन नीति का अपनाया जाना हितकार है।

(६) कुटीर उद्योगों के विकास का दायित्व यद्यपि राज्य सरकारों पर रखा गया, फिर भी केन्द्रीय सरकार ने उनके विकेन्द्रीकरण, विकास आदि के लिये अनुकूल प्रशिक्षा, आवश्यक आंकड़े आदि का प्रबन्ध अपने ऊपर लिया।

(७) सरकार के केन्द्रीय, क्षेत्रीय तथा इकाई के आधार पर उद्योगों को नियंत्रण करने के लिये विशाल तन्त्र की स्थापना की, जिसके अनुसार केन्द्रीय सलाहकार परिषद तथा उनकी विभिन्न समितियां, प्रांतीय सलाहकार बोर्ड, प्रांतीय वृहत समितियां तथा उत्पादन समितियां आदि बनाई गई। इन समितियों मे सरकार, उद्योगपति, मजदूर आदि का प्रतिनिधित्व स्वीकार किया गया।

(८) विदेशी पूंजी तथा विदेशी औद्योगिक प्राविधिकता (Industrial Technical Help) के विषय में भी स्पष्ट नीति की घोषणा की गई कि विदेशी पूंजी भारतवर्ष मे उन्हीं नियम तथा उपनियमों के अनुसार स्वीकार की जायगी जो भारतीय विनियोनाओं पर लागू होंगे तथा विदेशी विशेषज्ञ एवं कारीगर भी साधारण नियमों के अनुसार ही रखे जा सकेंगे। इसका स्पष्टीकरण प्रधानमंत्री नेहरू ने ६ अप्रैल, १९४९ को पार्लियामेण्ट मे किया।

(६) सरकार ने दस वर्षों के अन्दर श्रमिकों की सुविधा के लिये गृह-निर्माण आदि का दायित्व भी अपने ऊपर लिया।

सरकार की इस नीति की अत्यन्त तीव्र आलोचनाएँ हुईं और कहा गया कि यह नीति सन् १६४५ की नीति से भिन्न नहीं है। नीति में यह स्पष्ट नहीं किया गया कि सरकार इनको पूरा भी कर सकेगी अथवा नहीं। इसको कमजोर तथा यथार्थवादी कहा गया। दूसरे शब्दों में सरकार ने स्पष्ट नहीं किया कि वह उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना चाहती है, अथवा नहीं। यद्यपि औद्योगिक (विकास तथा नियंत्रण) अधिनियम, १६५१ में सरकार को अनेक अधिकार प्राप्त हो गये, किन्तु नीति का स्पष्टीकरण उससे भी नहीं हुआ और निजी क्षेत्र के विनियोक्ताओं को असमंजस ही रहा। १० वर्ष की जाँच की अवधि का भी तीव्र विरोध हुआ, क्योंकि किसी उद्योग के निर्माण में दस वर्ष अत्यन्त कम होते हैं। इसलिए सरकार से निजी उद्योग पतियों की सुरक्षा का वचन माँगा गया।

नीति के विरोध में जितने भी विवाद प्रस्तुत किये गये हैं वे इसलिये गलत हैं कि किसी भी समाजवादी व्यवस्था में सरकार के सीधे हस्तक्षेप तथा नियन्त्रण के बिना समाज में आम हित के लिये औद्योगिक विकास सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए उद्योगों के विकास को सामाजिक जाँच, औद्योगिक संस्थाओं की सुरक्षा, मजदूरों के हितों की न्यायानुकूल रक्षा, विनियोगकों के आनवश्यक विनियोग पर नियन्त्रण आदि सरकार के प्रमुख कार्य होने ही चाहिए। इस दिशा में सरकार ने अत्यन्त सफल प्रयत्न किये हैं। यह नहीं है कि सरकार को अपनी आर्थिक स्थिति के अनुरूप ही उद्योगों के हाथ में डालना चाहिए, किन्तु निजी क्षेत्रों की अपेक्षा सरकार अधिक सुदृढ होती है। इसलिए देश के हितकारी उद्योगों का विकास उसी के द्वारा संभव है।

यह एक खेद का विषय है कि सरकारी तन्त्री अभी भ्रष्टाचार से उपर नहीं उठ सकी है और न उसमें औद्योगिक प्रबन्ध करने की कुशलता तथा क्षमता ही आ पाई है। इसके लिए सरकार निश्चित रूप से प्रयत्नशील है और उनके प्रशिक्षण के लिये उचित केन्द्रों के निर्माण करने की योजनायें बनाई जा रही हैं। सरकार को चाहिए कि आई सी एस तथा आई ए एस के चक्कर में न पड़कर वाणिज्य एवं औद्योगिक प्रबन्ध के योग्य छात्रों को इसका अवसर दिया जाय तथा प्रशासन में इसके लिए एक नवीन शाखा खोली जाय।

नीति के कार्यान्वित करने में चाहे कितने ही दोष हों, किन्तु यह मानना पड़ेगा कि इसके पीछे जो नीति है वह अत्यन्त स्वस्थ तथा देश की आर्थिक असमानता को दूर करने के लिये एक सामाजिक कदम है। इस दिशा में अनेक सक्रिय कदम उठाये गये हैं। योजना आयोग का निर्माण किया गया है तथा अभी अभी प्रथम पंचवर्षीय योजना समाप्त होकर द्वितीय पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ हुई है। ३० अप्रेल,

सन् १९५६ में सरकार ने पुरानी नीति के प्रयत्नों का विवेचन करते हुए नई नीति की घोषणा की है।

औद्योगिक नीति, १९५६
(Industrial Policy, 1956)

सन् १९४८ की नीति के पश्चात हमारे देश मे अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन तथा विकास कार्य किये गये हैं। हमारे संविधान मे आधारभूत अधिकारो की सुरक्षा के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त बनाये गये हैं, व्यवस्थित ढंग से योजनाएं चल रही हैं और सन् १९४६ मे हमने अपनी प्रथम पचवर्षीय योजना सफलतापूर्वक समाप्त कर दूसरी प्रारम्भ की है, सरकार ने समाजवादी व्यवस्था के सिद्धान्त को स्वीकार कर दिया है तथा इन समस्त क्रियाओं को ध्यान मे रखते हुए नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा ३० अप्रेल, १९५६ को की।

यह नीति १९४८ की नीति के आधार पर तथा सविधान की धारा ३८, ३९, ४३ आदि के अनुसार बनाई गई है। इसमे सिद्धान्ततः निम्नलिखित आधार माने गये हैं—

(१) न्याय—सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक ;

(२) विचार, अभिव्यक्ति, मान्यता, विश्वास, तथा धर्म की स्वतन्त्रता ;

(३) अवसर तथा स्तर की समानता ;

(४) देश की एकता तथा व्यक्तिगत समानता का ध्यान रखते हुए भ्रातृत्व-भावना का प्रसार ;

(५) *नागरिकों की आजीविका, सम्पूर्ण स्वामित्व, आर्थिक नीति की क्रिया*-शीलता, समान कार्य के लिए समान वेतन, जन शक्ति का सदुपयोग, बाल शक्ति की सुरक्षा, सरकारी नीति के आधार होंगे ; तथा

(६) सामाजिक तथा आर्थिक नीति का उद्देश्य समाजवादी व्यवस्था होगी।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आधारभूत तथा भारी उद्योगों पर पर्याप्त बल दिया गया है, जिसमें देश की आर्थिक स्थिति सुदृढ हो, नौकरी के अवसर प्राप्त हों, तथा श्रमिकों एवं जनता का जीवन-स्तर ऊँचा हो। इस नीति का उद्देश्य निजी एकाधिकारों को समाप्त करना है, जिनके लिए सरकार नवीन उद्योगों के विकास तथा प्रवर्तन के लिए अधिक से अधिक दायित्व लेगी तथा समाज के हित को ध्यान मे रखते हुए निजी क्षेत्र मे व्यापारियों तथा उद्योगपतियों का सहयोग प्राप्त करेगी।

नई औद्योगिक नीति मे सरकार ने सुरक्षा के महत्व वाले उद्योगों, समाज उपयोगिता वाली सेवाओं तथा वे उद्योग जिनकी पूँजी केवल सरकार ही लगा सकती है, अपने दायित्व में ले लिये हैं। दूसरे शब्दों में सरकारी क्षेत्र का विस्तार अधिक

व्यापक कर दिया गया है तथा आवश्यकता पड़ने पर किसी भी उद्योग को हस्तगत करने का अधिकार भी सुरक्षित रखा है।

उद्योगों की चार श्रेणियाँ

सरकार ने उद्योगों को चार श्रेणियों में विभाजित किया है।

प्रथम श्रेणी में सत्रह उद्योग सम्मिलित किये गये हैं—(१) अस्त्रशस्त्र, (२) अणुशक्ति, (३) लोह तथा स्पात, (४) लोहे की गलाई तथा ढलाई, (५) स्थल प्लाट तथा मशीनरी जो आधारभूत उद्योगों के लिये आवश्यक है, (६) भारी विद्युत यन्त्र (७) कोयला तथा लिगनाईट, (८) खनिज-तेल, (९) सोना, चूना, गन्धक, हीरा आदि की खानों का शोधकार्य, (१०) ताँबा, शीशा, जस्त आदि का निकालना तथा निर्माण करना, (११) अणुशक्ति, विद्युत, आदेश १९५३ के परिशिष्ट में स्पष्ट किये गये खनिज (१२) हवाई-जहाज उद्योग, (१३) हवाई यातायात, (१४) रेल यातायात, (१५) जहाज निर्माण उद्योग, (१६) टेलीफोन, टेलीग्राम तथा वायरलेस आदि के समान का निर्माण, तथा (१७) विद्युत उत्पादन एवं वितरण। इन सबको प्रारम्भ करने, चलाने तथा विकसित करने का उत्तरदायित्व सरकार पर होगा, किन्तु जो उद्योग पहले से निजी क्षेत्र में हैं, उनको सरकारी योग मिल सकेगा।

दूसरी श्रेणी में निम्नलिखित १२ उद्योग है—(१) छोटे खनिजों के अतिरिक्त सारे खनिज, (२) अल्यूमिनियम तथा अन्य नोन-फेरस पदार्थ, (३) मशीन तथा औजार, (४) भरत तथा इस्पात के औजार, (५) रासायनिक रंग, प्लास्टिक आदि, (६) पेनसिलीन तथा सम्बन्धित औषधियाँ, (७) खाद, (८) नकली रबड़, (९) कोयले की सफाई; रासायनिक लुग्दी, (११) सड़क यातायात, एवं (१२) सामुद्रिक यातायात। इन उद्योगों में सरकार तथा निजी क्षेत्र का पूर्ण सहयोग रहेगा, किन्तु सरकार धीरे धीरे इनमें अपना स्वामित्व बढ़ायेगी।

तीसरी श्रेणी के विषय में नीति में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किन्तु इसमें ५ उद्योग—(१) सूती वस्त्र उद्योग, (२) उपवन उद्योग, (३) इन्जीनियरिंग उद्योग, (४) रासायनिक एवं सम्बन्धित उद्योग, तथा (५) खाद्य उद्योग, सम्मिलित किये जा सकते हैं। यद्यपि सरकार इन पर भी अधिकार कर सकती है, किन्तु साधारणतः वह औद्योगिक (विकास एवं नियन्त्रण) अधिनियम के अनुसार उन पर सम्पूर्ण नियन्त्रण रखेगी और वे उद्योग, जो निजी तथा सरकारी दोनों क्षेत्रों में होंगे, उनका नियन्त्रण निष्पक्ष रूप से किया जायगा।

चौथी श्रेणी कुटीर, ग्राम तथा लघु उद्योगों की है, जिनके विकास के लिये राज्य सरकारें तथा केन्द्रीय सरकार मिलकर प्रयत्न करेंगी। उनको उचित रूप से संगठित करना, उनकी प्रतिद्वन्द्विता शक्ति को बढ़ाना, उनके कार्यक्रमों को प्रतिक्षित करना तथा सहकारिता की भावना पैदा करना, आदि सरकार का प्रयत्न होगा।

उद्योगों का संगठन एवं नियन्त्रण सफलतापूर्वक करने के लिये सरकार ने सिविल सर्विस के अनुरूप एक नवीन श्रेणी के निर्माण का निश्चय किया है तथा उनके कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण की सुविधाएँ देने का भी निश्चय किया है।

जहाँ तक विदेशी पूंजी का प्रश्न है, उनका आधार सन् १९४९ मे प्रधान मंत्री के द्वारा दिया गया वक्तव्य माना गया है।

नीति की समालोचना
(Criticism of the Policy)

१९५६ की औद्योगिक नीति की अत्यन्त तीव्र आलोचनाएँ निम्निलिखित आधार पर हुई हैं—

(१) जब सरकारी क्षेत्र में कार्य संतोषप्रद नहीं है तो इतने उद्योगों को सरकार के अधीन करना न्यायपूर्ण नहीं है।

(२) इसके द्वारा सरकारी अधिकारियों के हाथों में इतनी अधिक शक्ति जा पहुँची है कि वे हमारी स्वाधीनता पर कुठाराघात कर सकते हैं।

(३) निजी क्षेत्र को किसी प्रकार की प्रेरणा नहीं दी गई है।

(४) इस नीति से उद्योग तथा व्यापारी असमंजस में पड़ गये हैं कि कौन उद्योग सरकारी क्षेत्र मे तथा कौन निजी क्षेत्र मे हैं। इससे देश का औद्योगिक विकास रुकेगा।

(५) इस नीति से कृषि तथा औद्योगीकरण से सरकारी पूंजीवाद के दोष पैदा हो जायेंगे।

(६) नीति बनाने वालों के अनुभवहीन होने के कारण यथार्थ शक्ति सरकारी अधिकारियों के पास चली जायेगी।

(७) आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण राजनीतिज्ञों के हाथों में होना उद्योगपतियों की अपेक्षा अधिक भयंकर है।

(८) मजदूर संस्थाओं ने भी इस नीति का स्वागत नहीं किया है।

इसी प्रकार से इस नीति के विरुद्ध मे अनेक प्रश्न पूछे जा सकते हैं, किन्तु नीति की भावना तक पहुँचने पर यह स्पष्ट होगा कि बहुत सारे आरोप केवल आलोचना की दृष्टिमात्र से ही लगाये गये हैं। इसीलिये अनेक विचारशील उद्योगपतियों ने भी इस नीति की सराहना की हैं। यदि हम देश का विकास चाहते हैं; जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना चाहते हैं, देश का औद्योगीकरण वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लाना चाहते हैं तथा देश में सही रूप से समाजवादी व्यवस्था चाहते हैं तो सरकारी नियन्त्रण तथा हस्तक्षेप आवश्यक है। हम किसी व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों

के लिये सारे समाज का अहित नही कर सकते। फिर नवीन औद्योगिक नीति मे निजी क्षेत्र के विकास के लिये भी पर्याप्त अवसर दिये गये है।

सरकार निजी उद्योगो को समुचित सहायता भी दे रही है। इसमे सन्देह नही कि सरकारी प्रशासन तन्त्री इस क्षेत्र मे अभी अकुशल तथा दोषपूर्ण है, किन्तु सरकार इस ओर जागरूक है और सभवतः दोष दूर किये जा सकते है। जहाँ तक सरकारी एकाधिकार का प्रश्न है, जनतन्त्रीय सरकार मे यह बाधा उपस्थित नही होती। फिर जब उद्योगो का प्रबन्ध निगम पद्धति (Corporation System) पर किया जा रहा है तो एकाधिकार सम्भव नही हो सकता। सरकार ने यह भी निश्चय किया है कि प्रबन्ध मे मजदूरो का भी पूर्ण प्रतिनिधित्व रहेगा और इसको कार्यान्वित भी किया जा रहा है।

विदेशी वित्त व्यवस्था मे सरकार की नीति स्थिर नही रह पाई है। १६५६ तथा ६० मे जिन शर्तो पर विदेशी ऋण लिया जा रहा है उसमे नीति की अस्थिरता का स्पष्ट बोध हो जाता है। सरकार को चाहिए कि अपनी वित्तीय नीति से इसलिये नही हटे कि हमारी योजनायें शिथिल पड जायगी। योजनाओ के लिये ऋण देश के भावी विकास को गिर्वी रख कर नहीं लिये जाने चाहिये।

सुझाव
(Suggestions)

नीति के पक्ष तथा विपक्ष मे चाहे कुछ भी कहा जाय, किन्तु उसकी सफलता हमारी पचवर्षीय योजनाओ की सफलता पर निर्भर करेगी। हमको इसके लिए सही आँकडो का सकलन करना होगा जो कार्य महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालयो के अधीन किये जाने चाहिये। उद्योगो का सगठन इस आधार पर किया जाना चाहिये, जिससे उनकी प्रत्येक गतिविधियों की जानकारी जनता को हो सके। सरकारी कम्पनियो ने प्रबन्ध के लिए सिविल सर्विस के अधिकारियो की अपेक्षा उचित तात्रिक योग्यता प्राप्त किये हुए अधिकारियो को नियुक्त किया जाना चाहिये तथा उसके लिये समुचित रूप से प्रशिक्षण केन्द्रों की व्यवस्था होनी चाहिये। जहाँ तक प्रबन्ध मे श्रमिको के प्रतिनिधित्व का प्रश्न है, उसका आधार यूरोप के समाजवादी देशो की पद्धति के अनुसार (भारतीय परिस्थितियो के अनुकूल) होना चहिये। कुटीर उद्योगो के सम्बन्ध मे यद्यपि इसमे दो मत नहीं है कि उनका सर्वांगीण विकास होना चाहिये, किन्तु वह विकास वृहत् उद्योगो के लिये बाधक न हो और उन पर किसी प्रकार का अनुचित प्रतिबन्ध न लगाया जाय। इसलिये सरकार को इस सम्बन्ध मे अपनी औद्योगिक नीति मे पर्याप्त संशोधन करने आवश्यक हैं। यह सब-कुछ तभी सफल हो सकता है जब केन्द्रीय तथा प्रातीय स्तर पर स्थाई योजना आयोगो को स्थापित किया जाय और जिस प्रकार केन्द्रीय आयोग है, उसको सहायना

तथा उसके अन्तर्गत स्वतन्त्र रूप से कार्य करने के लिये प्रान्तों में भी आयोग स्थापित किये जायें। अन्त में यह कहा जा सकता है कि यह सब प्राप्त करने के लिये सारे समाज में उचित शिक्षा का प्रसार, नैतिक उत्थान तथा राष्ट्र निर्माण की भावनाएँ जागृत होना आवश्यक है।

औद्योगिक नीति और पंचवर्षीय योजनाओं से पाठ

(Industrial Policy and lesson from Plans)

सरकार को औद्योगिक नीति का सही विश्लेषण देश की पचवर्षीय योजनाओं के मूल्याकन से दिया जा सकता है। इसमे सन्देह नही कि प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजना से जो प्राप्ति हुई है वह पर्याप्त महत्वपूर्ण है किन्तु अनुमान की कमी तथा तथा दूरदर्शिता का अभाव बहुत बड़ी सीमा तक स्पष्ट दिखाई देता है। द्वितीय पचवर्षीय योजना मे योजना आयोग ने निम्नलिखित उद्योगों के विकास को प्राथमिकता दी थी—लोह तथा इस्पात, भारी रासायनिक खाद, इन्जीनियरिंग आदि को सबसे अधिक महत्व दिया उसके पश्चात एल्यूमिनियम, सीमेन्ट, रासायनिक लुब्दी, रगाई का सामान, आवश्यक दवाइयों को दूसरा स्थान, राष्ट्रीय उद्योग जैसे जूट, सूती वस्त्र, चीनी आदि को तीसरा स्थान; वर्तमान उद्योगों को उनकी पूर्ण क्षमता पर लाने को चौथा स्थान तथा उपभोग उद्योगों को अन्तिम स्थान दिया था। किन्तु इन उद्योगों के सर्वेक्षण से ज्ञात होगा कि सरकार अपनी प्राथमिकताओं का अनुमान लगाने मे पूर्ण असफल रही है।

उद्योग जिनमें लक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ

(Industries Where targets not achieved)

यह उद्योग इस्पात, एल्यूमिनियम, भारी रासायनिक आदि हैं।

इस्पात उद्योग मे सन् १९५५-५६ के १०'३ लाख टन से सन् १९६०-६१ मे ६० लाख टन के उत्पादन का अनुमान था और औद्योगिक नीति मे यह स्पष्ट किया गया था कि इस उत्पादन का उत्तरदायित्व राज्य पर ही होगा, किन्तु दो उद्योग जो नीति क्षेत्र मे कार्य कर रहे हैं उनको अपनी क्षमता को दुगना करने की आज्ञा दे दी गई। इस प्रकार यदि १९६०-६१ तक वे अपने लक्ष्य तक भी पहुँच जायँ तो भी उत्तरदायित्व मे विभाजन हो जायगा। किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि सन् १९६१ तक सभवतः इस्पात का उत्पादन २०.५ टन तक ही हो सकेगा! और दूसरे लक्ष्य की पूर्ति अधिक से अधिक तीसरी योजना के दूसरे वर्ष के अन्त तक हो पायगी। सरकार के अनुमान के अनुसार ही देश को इस स्पात की वार्षिक आवश्यकता करीब ४० लाख टन की है।

लोहे की मशीनों तथा अन्य औजारों को भी प्राथमिकता दी गई थी। किन्तु जिन उद्योगों मे इनका निर्माण होना था वे अभी अपनी योजना के ही काल मे चल

रहे हैं और यहाँ भी सरकार को नीति क्षेत्र की शरण मे आना पड़ा है। यदि सरकार अभी पूर्ण एव सामूहिक परिवर्तन करे तब भी लक्ष्य की प्राप्ति तीसरी योजना के तीसरे वर्ष के अन्त तक ही सभव है।

यही स्थिति एल्युमिनियम के उत्पादन की भी है। सन् १९५५-५६ तक इसकी शक्ति ७,५०० टन की थी, द्वितीय योजना मे इसको ३०,००० टन निश्चित करके १९६०-६१ में २५,००० टन निश्चय किया था किन्तु १९६०-६१ मे उत्पादन केवल १७,५०० टन ही सम्भव हो सकेगा। देश मे कच्चे माल की बाहुल्यता है किन्तु शक्ति के अभाव के कारण इस लक्ष्य की भी पूर्ति नहीं की जा सकी। यह उद्योग भी सरकार के स्वामित्व मे ही रखा जाने को था किन्तु इसमें कनाडा, अमेरिका, इटली आदि देशों के उद्योगपतियों के नियन्त्रण मे अनेक नीति क्षेत्र के उद्योगपतियों को इसके उत्पादन कार्य मे सम्मिलित कर दिया गया है।

रासायनिक खाद एव भारी रासायनिको को भी इसी प्रकार बहुत अधिक महत्व दिया गया था किन्तु आँकडो को देख कर पता चलता है कि उसमे बहुत बड़ी सीमा तक कमी रही है। और बहुत अधिक उद्योग अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है। नीति क्षेत्र मे सार्वजनिक क्षेत्र की अपेक्षा अधिक विनियोग हुआ है और इस प्रकार सरकार की औद्योगिक योजना का सम्पूर्ण लक्ष्य ही बदल गया।

कुछ उद्योगों मे उत्पादन लक्ष्य से बहुत अधिक बढ़ गया है इसका उदाहरण रॉयन उद्योग जिसमे १९५६-५७ मे २२० लाख पौण्ड से दूसरी पचवर्षीय योजना में १० करोड़ पौण्ड पहुँच गया है। इसी प्रकार सरकार विदेशी सहायता कार्य का सुविधा मे अनुमान नहीं लगा सकी।

तान्त्रिक ज्ञान एवं औद्योगिक विकास के लिये बहुत बडी सीमा तक विदेशों मे सहायता प्राप्त की जा रही है तथा कई सीमाओं मे लोगों को तब तक लाईसेन्स नहीं प्राप्त होता जब तक इन सस्थाओं का तान्त्रिक योग प्राप्त न हो। इस प्रकार इस दिशा मे दिनो दिन विदेशो का प्रभाव बढ़ता जा रहा है और इस प्रकार के उद्योगों मे भी जिनमे देश पूर्ण दक्षता प्राप्त है, विदेशो की तान्त्रिक सहायता ली जा रही है। इसके उदाहरण सीमेन्ट तथा साईकल उद्योग है। आश्चर्य तो इस बात का है कि स्याही, दाँतों का ब्रश, दन्त मन्जन आदि के उत्पादन मे विदेशी सहायता आवश्यक बताई जा रही है। इसका एक महत्वपूर्ण भाग यह है कि जो उत्पादन इस प्रकार से किये जा रहे हैं उनके निर्यात पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया है।

विदेशों पर निर्भरता घातक

(Foreign reliance—a danger)

औद्योगिक नीति मे यद्यपि सरकार ने विदेशी सहायता के लिये अपनी नीति स्पष्ट कर दी थी किन्तु तान्त्रिक सहायता के नाम पर देश मे जो विदेशी प्रभुत्व बढ

रहा है उसको देश की स्वतंत्र औद्योगिक एवं व्यापारिक नीति के लिये घातक ही माना जायगा। क्योंकि इस प्रकार की सहायता केवल उत्पादन की दिशा में ही दी जा रही है, और उसके आधार भूतों को नहीं समझाया जा रहा है जिससे उद्योगों पर विदेशी प्रभुत्व बना रहे। फलस्वरूप उनके तान्त्रिक योग को स्वतन्त्र रूप से नहीं अपनाया जा सकता। भारतीयों को न तो स्वतन्त्र रूप से तान्त्रिक ज्ञान की प्रारम्भिक शिक्षा ही दी जाती है और न उनको आगे के विकास में ही योग मिलता है। इन सुविधाओं के कारण देश में स्वतन्त्र शोध एवं प्रयोगात्मक कार्य भी नहीं हो रहे हैं। इसमें देश का पर्याप्त धन विदेशों में जा रहा है और उसका जो लाभ मिलना चाहिये था वह नहीं मिल रहा है।

इसलिये आज सरकार के लिये अपनी औद्योगिक नीति में पुनः विचार करने की आवश्यकता हो गई है। उसके सामने आज एक ही विकल्प है या तो अपनी समाजवादी नीति को समाप्त करके देश का औद्योगिक नियंत्रण पूँजीपतियों के हाथों में सौंप दे अथवा योजना को दृढ़ता के साथ कार्यान्वित करके लक्ष्यों की प्राप्ति करें।

देश में यदि तान्त्रिक ज्ञान में वृद्धि करनी है तो आज की नीति को छोड़ कर देश में हर उद्योग के साथ स्वतंत्र तान्त्रिक प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिये जिससे कि औद्योगिक इकाइयाँ सुविधा से नवीनीकरण की ओर बढ सकें।* सरकार को चाहिये कि वह तीसरी और चौथी योजना में वास्तविक एवं व्यवहारिकता से काम ले और अलग अलग क्षेत्रों में उद्योगों का इस प्रकार से विभाजन करे जिससे देश में उद्योगों का सर्वांगीण विकास हो सकें। नवीन उद्योगों के संस्थापन तथा विकास में पूँजी निर्गमन नियंत्रण को अधिक सतर्कता से अपनाया जाय तथा श्रम सम्बन्धी नियमों में यथोचित सुधार किये जायें। कम्पनी अधिनियम के प्रशासन में भी सरकार को सतर्कता वर्तनी चाहिये और सन् १९६१ में जो संशोधित कम्पनी अधिनियम पारित हो रहा है उसमें प्रबन्ध अभिकर्ताओं पर पूर्ण नियंत्रण करके औद्योगिक विकेन्द्रीकरण सम्भव किया जाय।

अन्त में सरकार को चाहिये कि वह औद्योगिक प्रशासन तन्त्री में भाई भतीजा वाद समाप्त करके योग्य, अनुभवी व्यक्तियों को ही नियुक्त करे जो कुशलता, उत्सुकता तथा विवेकशीलता के साथ औद्योगिक जटिल समस्याओं का समाधान कर सकें।

---

* टाटा लोह उद्योग, जिसको इस उद्योग में आधी शताब्दी का अनुभव है आज भी अपने स्टील प्लान्ट की क्षमता को बढ़ाने के लिये उसकी स्थापना तथा डिजाइन के लिये संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के केसर्स की सहायता लेनी पड़ती है! तांत्रिक ज्ञान का अभाव इससे स्पष्ट जाना जा सकता है।

औद्योगिक (विकास तथा नियन्त्रण) अधिनियम, १९५१

[Industrial (Development & Regulation) Act, 1951]

यह अधिनियम १२ अक्टूबर, १९५१ को पास किया गया। इसके मुख्य उद्देश्य उद्योगों को संगठित करना तथा स्वस्थ स्थिति में ले आना है। इसके अनुसार सरकार को अनेक अधिकार मिल गये हैं। उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक विकास परिषद की स्थापना का निश्चय किया गया, जिसमें उद्योगपतियों, कार्यकर्ताओं तथा उपभोक्ताओं का प्रतिनिधित्व स्वीकार किया गया। अनुसूचित उद्योगों (Scheduled Industries) के लिये तान्त्रिक समितियों की स्थापना करने का भी निश्चय हुआ। अधिनियम की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

(१) ३७ उद्योगों को अनुसूचित किया गया तथा ऐसे उद्योगों का पंजीयन भी आवश्यक कर दिया गया।

(२) ऊपर लिखे आधार पर केन्द्रीय सलाहकार परिषद (Central Advisory Council) की स्थापना की गई।

(३) अनुसूचित उद्योगों के विकास के लिए विकास परिषदों (Development Councils) की स्थापना की गई।

(४) अनुसूचित उद्योगों पर, उनके विकास के लिये, विशेष 'कर' (Cess) लगाया गया।

(५) अनुसूचित उद्योगों को लाईसेंस देने की व्यवस्था की गई।

(६) विशेष अवसरों पर सरकार को उद्योगों को आदेश देने का अधिकार दिया गया।

(७) सरकार को किसी भी उद्योग के आन्तरिक तथा बाह्य तथा आतरिक गतिविधियों की जाँच तथा नियन्त्रण करने का अधिकार दिया।

(८) विशेष परिस्थिति में सरकार किसी भी उद्योग को अपने अधीन कर सकती है।

(९) औद्योगिक नीति को कार्यान्वित करने के लिये सरकार नियम तथा उप-नियम बना सकती है।

(१०) असंतोषप्रद कार्य करने पर सरकार किसी भी उद्योग का लाईसेंस समाप्त कर सकती है।

१९५३ का संशोधन

(Modifications of 1953)

१९५१ के अधिनियम में निम्नलिखित संशोधन तथा परिवर्तन किये गये—

(१) अनुसूचित उद्योगों की संख्या ४३ कर दी गई।

(२) एक लाख से कम पूंजी के उद्योगों पर भी अधिनियम लागू कर दिया गया।

(३) इस नियम के अनुसार सरकार बिना केन्द्रीय सलाहकार परिषद की सलाह के किसी भी उद्योग की जाँच तथा उसको हस्तगत कर सकती है।

(४) जो उद्योग सरकार के पास चले जायेंगे, सरकार को उनके अन्तर्नियमों तथा स्मरणपत्रों का पालन करना आवश्यक नहीं होगा।

(५) हस्तगत किये गये उद्योगों को सरकार ५ वर्ष से अधिक रख सकेगी।

१९५६ तथा बाद के संशोधन

(Modifications of 1956 and afterwards)

इसके अनुसार सरकार ने ३१ और उद्योगों को अनुसूचित उद्योगों की सूची में ले लिया है। १ मार्च,१९५७ को सरकार की एक विशेष उद्घोषणा (Declaration) के द्वारा इस अधिनियम को लागू कर दिया गया है। इसके द्वारा जो उद्योग ५० मजदूरों को विद्युत शक्ति के सहारे तथा सौ को बिना शक्ति के सहारे चलाते हों, सम्मिलित कर दिया गया है। इसमें उद्योगों का श्रेणीकरण भी एक निश्चित आधार पर कर दिया गया है। भारी उद्योग मन्त्रालय की प्रेस विज्ञप्ति के अनुसार उनको पंजीयन प्रमाणपत्र तथा लाइसेंस आदि प्रसारित किये जायेंगे। इसके पश्चात् १९५७-५८ तथा १९५९-६० में भी छोटे बड़े संशोधन हुए है जिनसे अनुसूचित उद्योगों की संख्या बढ़ गई है और अब प्रायः सभी प्रकार के उद्योगों पर नियन्त्रण कठोर किया जा रहा है।

लाइसेंस समिति

(License Committee)

उद्योगों के साथ समुचित न्याय किया जाय। इसके लिए एक प्रतिनिधि लाइसेंस समिति का निर्णय किया गया है, जो निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखेगी।

(१) उद्योगों की वर्तमान स्थिति क्या है तथा उसके भविष्य के विकास की क्या योजना है?

(२) उस उद्योग के उत्पादन की माँग तथा प्रदाय क्या होगी?

(३) उसके कच्चे माल तथा आवश्यक मशीनों आदि की क्या व्यवस्था है?

सरकार के अधिकार तथा दायित्व

(Rights and Duties of the Government)

लाइसेंस समिति की सिफारिश पर अथवा सीधे आवेदन-पत्रों की माँग कर वाणिज्य तथा उद्योग मंत्रणालय लाइसेंस प्रसारित कर सकता है। जिन उद्योगों को लाइसेंस दिए जायेंगे, उनकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबन्ध सरकार को करना होगा तथा वह उनको हर प्रकार की सहायता देगी। इसके लिए उद्योगों को

समय-समय पर अपनी गतिविधि का विवरण सरकार को प्रस्तुत करना पड़ेगा। आवश्यकता पड़ने पर सरकार उद्योगों को नियंत्रित करने के लिए उचित कार्यवाही कर सकेगी। इस कानून में सरकार को व्यापक अधिकार दिये गये हैं।

केन्द्रीय औद्योगिक सलाहकार परिषद

(Central Industrial Development Council)

औद्योगिक अधिनियम के अन्तर्गत, जैसा पहले बताया जा चुका है, इस परिषद का निर्माण किया गया है। सरकार निम्नलिखित बातों में इससे सलाह लेगी—

(१) यदि औद्योगिक (विकास एवं नियन्त्रण) अधिनियम में किसी प्रकार के परिवर्तन तथा परिवर्धन करने हों, तथा नियम व उपनियम बनाने हो।

(२) यदि नये उद्योगों को कोई आदेश दिये जाने हों अथवा उनको कार्यान्वित करने के अधिकार दिये जाने हों।

(३) यदि किसी निजी कम्पनी को हस्तगत किया जाना हो।

(४) यदि उद्योग तथा सरकार के मध्य कोई भ्रम तथा मतभेद हो।

उपर्युक्त कार्यो के अलावा परिषद अनुसूचित उद्योगों के आँकड़ा संकलन, आन्तरिक गतिविधियों की जाँच, उपयुक्त उद्योगों को लाइसेंस देने की व्यवस्था, लाइसेंस देने तथा रद्द करने के कार्य, विकास बोर्डों की सहायता करने तथा संगठनों को मार्ग-प्रदर्शन करने में संलग्न है।

परिषद में तीस सदस्य होंगे, जो सरकार को अनुसूचित उद्योगों के सम्बन्ध में सलाह देंगे। इसके अतिरिक्त उद्योग के निर्माण, आर्थिक सहायता, नवीनीकरण की सम्भावना, आदि के विषय में भी सक्रिय योग देंगी। इसका एक महत्वपूर्ण कार्य योजना आयोग को सहायता देना भी है।

औद्योगिक विकास परिषद

(Industrial Development Council)

इस परिषद की स्थापना भी औद्योगिक अधिनियम के अनुसार हुई है। इसका कार्य अनुसूचित तथा सरकारी उद्योगों के कार्यों तथा उत्पादन को व्यवस्थित तथा नियंत्रित करना है।

परिषद में प्रायः सभी दलों के विशेषज्ञ प्रतिनिधि सम्मिलित किये गये हैं, जो उद्योगों के प्रचलन में तान्त्रिक योग देंगे। परिषद बाजार तथा उत्पादन की खपत के विषय में भी पूर्ण अध्ययन करेगी तथा अपने वार्षिक आलेख, सलाहकार परिषद के द्वारा केन्द्रीय सरकार को देगी। इसके व्यय के लिए अनुसूचित उद्योगों के उत्पादन मूल्य पर दो आना प्रतिशत 'कर' लगाया गया है।

परिषद के निम्नलिखित कार्य हैं—उत्पादन का सीमान्त निर्धारण करना,

अकुशल इकाइयों को कुशल बनाना, विक्रय तथा वितरण की उपभोक्ताओं के अनुकूल व्यवस्था करना, वस्तु प्रमापीकरण करना, कच्चे माल की व्यवस्था करना, कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, छूटे हुए लोगों को काम दिलाना, उत्पादन तथा सेवा-सम्बन्धी अन्वेषण करना, एक सीमा तक हिसाब-किताब को रखना, श्रमिकों की दशा सुधारना, आँकड़ा सकलन करना, उद्योगों का विकेन्द्रीकरण करना, सरकारी उद्योगों की जाँच करना।

सितम्बर १९६० को औद्योगिक केन्द्रीय सलाहकार समिति ने उद्योगों का मूल्याकन किया। उसके अनुसार द्वितीय योजना में प्रायः सभी क्षेत्रों में लक्ष्यों की पूर्ति हुई है और आधारभूत उद्योगों को विशेष प्रोत्साहन मिला है। इसके फलस्वरूप अनेक नये उद्योग सामने आ रहे हैं। १९५९ में ९९७ नये उद्योगों के आवेदन पत्र स्वीकृत किये गये (औद्योगिक आय नियम के अन्तर्गत)। पिछले वर्षों क्रम से ७३३ तथा ५४२ आवेदन-पत्र स्वीकार किये गये थे, नये अधिनियम में आवेदक उद्योगों की पूँजी १० लाख रुपया तथा श्रमिक सख्या १०० कर दी गई थी।

तीसरी योजनाओं में औद्योगिक प्रगति की ओर अधिक सम्भावना है। उसमें नवीन भारी उद्योग तथा बिजली के उद्योगों के बढने की सम्भावना है। पेरिस में हुई मीटिंग में सितम्बर १९६० में अनेक मित्री देशों ने भारतवर्ष की तीसरी योजना में योग देने का निश्चय किया है और योजना के योग्य मशीनों तथा कच्चा माल देने का वचन भी दिया है। इसी प्रकार निर्यात में भी वृद्धि हुई है। श्री शास्त्री, वाणिज्य मंत्री ने कहा है कि हमारा देश औद्योगिक तथा व्यापारिक प्रगति कर रहा है। इस बात को हम केवल एक छोटी सीमा तक ही स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि अर्थ तक व्यापारिक सतुलन देश के पक्ष में नहीं आ सका और यह कहना कि योजनाओं के लिए आयात अधिक हो जाता है, मूल प्रश्न को कम नहीं कर देता।

औद्योगिक विकास परिषद को चाहिए कि औद्योगिक विकास की प्राथमिकता के अनुसार उद्योगों की लिस्ट बनायें और उसी रूप से उनका विकास किया जाय।

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम

(National Industrial Development Corporation)

सन् १९४८ की औद्योगिक नीति के समय ही सरकार अपने नियंत्रण में इस निगम की स्थापना करना चाहती थी। अतः सितम्बर, १९५४ में वाणिज्य तथा उद्योग मंत्रालय के अन्तर्गत इसकी स्थापना कर दी गई है।

कॉरपोरेशन एक करोड की अधिकृत पूँजी के साथ भारतीय कम्पनी नियम के अन्तर्गत स्थापित किया गया है। इसके सचालन मण्डल में सरकार द्वारा बीस सदस्य नियुक्त किये गये हैं, जिनमें सभी शाखाओं के विशेषज्ञ सम्मिलित हैं।